संस्कृति के चार अध्याय

लेखक
रामधारीसिंह दिनकर

उदयाचल

प्रकाशक
उदयाचल
आर्यकुमार रोड, पटना-४

(सभी स्वत्व लेखक के अधीन)

प्रथम संस्करण, मार्च, १९५६ ई
द्वितीय संस्करण, दिसंबर, १९५६ ई
तृतीय संस्करण, सितंबर, १९६२ ई.

मुद्रक . ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता—७

समर्पण

सामासिक संस्कृति की साकार प्रतिमा
राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी
के पुनीत कर-कमलों में

पूज्यवर !

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन।

नयी दिल्ली
२६ जनवरी, १९५६

विनीत
दिनकर

धर्मं यो बाधते धर्मः, न स धर्मः, कुधर्म तत्,
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।

तृतीय संस्करण की भूमिका

पहले संस्करण के वक्तव्य में मैंने यह संकेत दिया था कि यह पुस्तक अपूर्ण है, अगले संस्करण में वह पूर्ण कर दी जायगी। लेकिन, दूसरा संस्करण इतनी जल्दी में निकाला गया कि पुस्तक पर मैं कोई काम नहीं कर सका। तीसरा संस्करण भी, प्रायः, अचानक ही सिर पर आ धमका। किन्तु, इस बार यह उचित जान पड़ा कि नये संस्करण में विलंब चाहे जो हो, लेकिन, इस बार, अपनी सूझ-बूझ और अधुनातन अनुसंधानो के अनुसार, इस ग्रन्थ का संशोधन कर देना आवश्यक है। मेरा ख्याल है, संशोधन के बाद अब यह पुस्तक पहले की अपेक्षा अधिक स्वच्छ, अधिक रोचक, अधिक सुसंबद्ध और अधिक पूर्ण हो गयी है, यद्यपि, अपूर्ण यह अब भी है।

पहले संस्करणो में आर्य-द्राविड़-समस्या का वृत्तान्त बहुत ही संक्षिप्त था। इस बार वह अधिक विस्तृत और अधिक पूर्ण मिलेगा। इसी प्रकार, "आर्य और आर्येतर संस्कृतियो का मिलन" नामक प्रकरण भी फिर से लिखा गया है। स्थापना तो इस प्रकरण की अब भी वही है जो पहले थी, किन्तु, अनेक नये प्रमाणो और नयी युक्तियों के आ जाने से यह स्थापना अब अधिक प्रभावशालिनी हो गयी है। बौद्ध धर्म के प्रसंग में "बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव" भी बिलकुल नया अध्याय है। पहले संस्करणों में तंत्र-साधना का वृत्तान्त था ही नहीं। इस बार भी वह संक्षेप में ही दिया गया है। लेकिन, उतने से भी पाठको को यह समझने में आसानी होगी कि धर्म और काम को समन्वित करने में मध्यकालीन साधको को कितनी कठिनाई हुई थी और बाद के साहित्य और संस्कृति पर इस प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ा।

इस्लाम-खंड तो पूरा का पूरा दुबारा लिखा गया है। इस क्रम में बहुत-सी सामग्रियाँ एक जगह से उठा कर दूसरी जगह डाली गयी हैं और अनेक नयी युक्तियो, नयी शंकाओं, नये अनुमानों और नये प्रसंगों का समावेश यथास्थान किया गया है। बीसवीं सदी में आकर भारत का जो बँटवारा हुआ, उसका बीज मोगल-काल में ही शेख अहमद सरहिन्दी के प्रचार में था, इस उद्भावना को मैंने, विशेष रूप से, रेखांकित किया है। आशा है, भारत की सांप्रदायिक समस्या के समझने में पाठकों को उससे सहायता मिलेगी।

सब से कम परिवर्त्तन ग्रन्थ के चौथे अध्याय में किया गया है। कंपनी-सरकार की भाषानीति के बारे में जो दो-चार बातें कही गयी हैं, इजाफा केवल वे ही हैं। बाकी सब का सब वही है जो पहले के संस्करणो में था, यद्यपि, उपशीर्षक लगा देने से यह अंश भी अधिक आकर्षक और कम बोझिल हो गया है। हाँ, ग्रन्थ का उपसंहार पहले नहीं लिखा गया था। वह इसी संस्करण में सम्मिलित किया गया है।

ये कुछ खास प्रसंग हैं, जिन पर ध्यान आसानी से जा सकता है। किन्तु, इनके सिवा भी, ग्रन्थ में, जगह-जगह, अनेक नयी बातें जोड़ी गयी हैं, अनेक बातें काट कर हटा दी गयी हैं और अनेक अंश फिर से लिखे गये हैं। अपने जानते मैंने इस महल को झार-बुहार कर स्वच्छ कर दिया है। आशा है, अब विद्वानों को नाक सिकोड़ने की जरूरत जरा कम पड़ेगी।

हिन्दी-भाषी भारतीय काफी जागरूक हैं, यह बात मैंने 'कुरुक्षेत्र' के प्रकाशन के समय भी देखी थी और आजकल "उर्वशी" के प्रकाशन के बाद भी देख रहा हूँ। किन्तु, "संस्कृति के चार अध्याय" का जितना प्रबल समर्थन और जैसा कठिन विरोध हुआ, उससे भी हिन्दी-भाषियों की जागरूकता का बहुत अच्छा प्रमाण मिलता है। लगभग छह वर्षों के भीतर इस ग्रन्थ के लेखक को कोई तीन सौ पत्र प्राप्त हुए जिनमें से अधिकांश पत्रों में ग्रन्थ-परिमार्जन के सुझाव थे। कुछ पत्र ऐसे भी थे जिनमें ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी थी अथवा यह कहा गया था कि लेखक अज्ञानी और मूर्ख है।

इस ग्रन्थ से प्रेरित पुस्तकों, प्रचार-पुस्तिकाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों में जो कुछ लिखा गया अथवा मंचों से इस ग्रन्थ के बारे में जो भाषण दिये गये, उनसे यह पता चला कि मेरी स्थापनाओं से सनातनी भी दुःखी हैं और आर्यसमाजी तथा ब्राह्म-समाजी भी। उग्र हिन्दुत्व के समर्थक तो इस ग्रन्थ से काफी नाराज हैं। नाराजगी का एक पत्र मुझे, अभी हाल में, एक मुस्लिम विद्वान ने भी लिखा है। ये सब अप्रिय बातें हैं। नाराज मैं किसी को भी नहीं करना चाहता। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मेरी शिक्षा-दीक्षा और चिन्तन का परिणाम है। मेरा यह विश्वास है कि यद्यपि, मेरी कुछ मान्यताएँ गलत साबित् हो सकती हैं, लेकिन, इस ग्रन्थ को उपयोगी माननेवाले लोग दिनोदिन अधिक होते जायेंगे। यह ग्रन्थ भारतीय एकता का सैनिक है। सारे विरोधों के बीच वह अपना काम करता जायेगा।

लेकिन, तमाम कोलाहल के बीच यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी कि जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गयी थी, उन्हें यह खूब पसन्द आयी है; नापसन्द यह उन्हें हुई जिनके लिए, शायद, यह है ही नहीं। खास दिलचस्पी की बात तो यह है कि सांस्कृतिक एकता की बातें जनसाधारण ही सुनना चाहता है ; पण्डित और विशेषज्ञ ऐसी बातों से बिदक जाते हैं।

मैंने पहले भी कहा था और आज फिर दुहराता हूँ कि यह महल साहित्य और दर्शन का है। इतिहास की हैसियत यहाँ किरायेदार की है। किरायेदार का आदर तो मैं करता हूँ, किन्तु, महल पर उसे कब्जा देने की बात मैं नहीं सोच सकता। मैं कोई पेशेवर इतिहासकार नहीं हूँ। इतिहास की ओर मैं शौक से गया हूँ और शौक से ही मैं उसकी सामग्रियों का उपयोग भी करता हूँ।

साहित्य की ताजगी और बेधकता जितनी शौकिया लेखक में होती है, उतनी पेशेवर में नहीं होती। कृति में प्राण उँड़ेलने का दृष्टान्त बराबर शौकिया लेखक ही देते हैं। थरथराहट, पुलक और प्रकंप, ये गुण शौकिया की रचना में होते हैं। पेशेवर लेखक अपने पेशे के चक्कर में इस प्रकार मशगूल रहते हैं कि क्रान्तिकारी विचारों को वे खुल कर खेलने नहीं देते। मतभेद होने पर भी वे हुक्म, आखिर तक, परंपरा का ही मानते हैं।

संस्कृति का इतिहास शौकिया शैली में ही लिखा जा सकता है। इतिहासकार, अक्सर, एक या दो शाखाओं के प्रामाणिक विद्वान् होते हैं। ऐसे अनेक विद्वानों की कृतियों में पैठकर घटनाओं और विचारों के बीच सम्बन्ध बिठाने का काम वही कर सकता है जो विशेषज्ञ नहीं है, जो सिक्कों, ठीकरों और ईंटों की गवाही के बिना नहीं बोलने की आदत के कारण मौन नहीं रहता। सांस्कृतिक इतिहास लिखने के, मेरे जानते, दो ही मार्ग हैं। या तो उन्हीं बातों तक महदूद रहो जो बीसों बार कही जा चुकी हैं और, इस प्रकार, खुद भी बोर होओ और दूसरों को भी बोर करो ; अथवा आगामी सत्यों का पूर्वाभास दो, उनकी खुल कर घोषणा करो और समाज में नीमहकीम कहलाओ, मूर्ख और अधपगले की उपाधि प्राप्त करो।

अनुसन्धानी विद्वान् सत्य को तर्क से पकड़ता है और समझता है सत्य, सचमुच, उसकी गिरफ्त में है। मगर, इतिहास का सत्य क्या है ? घटनाएँ मरने के साथ फोसिल बनने लगती हैं, पत्थर बनने लगती हैं, दन्तकथा और पुराण बनने लगती हैं। बीती घटनाओं पर इतिहास अपनी झिलमिली डाल देता है जिससे वे साफ-साफ दिखायी न पड़ें, जिससे बुद्धि की उँगली उन्हें छूने से दूर रहे। यह झिलमिली बुद्धि को कुंठित और कल्पना को तीव्र बनाती है, उत्सुकता में प्रेरणा भरती और स्वप्नों की गाँठ खोलती है। घटनाओं के स्थूल रूप को कोई भी देख सकता है, लेकिन, उनका अर्थ वही पकड़ता है जिसकी कल्पना सजीव हो। इसीलिए, इतिहासकार का सत्य नये अनुसंधानों से खंडित हो जाता है, लेकिन, कल्पना से प्रस्तुत चित्र कभी भी खंडित नहीं होते।

जिन सीधे-सादे पाठकों के मन पर पूर्वग्रहों की छाया नहीं है, उन्हें कल्पक की कृति सचाई का उससे ज्यादा हाल बतायेगी जितना इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थों से जाना जा सकता है। प्रामाणिक ग्रन्थों के तथ्य, शायद ही, कभी गलत पाये जायँ, लेकिन, उनका विवरण हमेशा गलत और निर्जीव होता है।

आर्यकुमार रोड, पटना-४
३ अगस्त, १९६२ ई०

रामधारीसिंह दिनकर

लेखक का निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

एक समय मैं इतिहास का विद्यार्थी अवश्य था, किन्तु, जब से कविता और निबंध में लगा, तब से इतिहास के साथ मेरा संपर्क, एक प्रकार से, छूट-सा गया। तब सन् १९५० ई० में मैं छात्रों को साहित्य पढ़ाने के लिए कालेज भेजा गया। वहाँ साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने के क्रम में मुझे इतिहास की पुस्तकें फिर से उलटनी पड़ीं और, धीरे-धीरे, मैं फिर से इतिहास की गहराई में उतरने लगा। मेरी पहली जिज्ञासा यह थी कि हमारा आधुनिक साहित्य हमारे प्राचीन साहित्य से किन-किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है। कारण की खोज करता हुआ मैं ढूँढ़-ढूँढ़ कर १९वीं शती के सांस्कृतिक जागरण का हाल पढ़ने लगा। फिर जिज्ञासा कुछ और विस्तृत हो गयी और मन ने जानना चाहा कि भारतीय संस्कृति का संपूर्ण इतिहास कैसा रहा है।

लगभग दो वर्षों के अध्ययन के पश्चात् मेरे सामने यह सत्य उद्भासित हो उठा कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रांतियों का इतिहास है। पहली क्रांति तब हुई जब आर्य भारतवर्ष में आये अथवा जब भारतवर्ष में उनका आर्येतर जातियों से संपर्क हुआ। आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वही आर्यों अथवा हिन्दुओं का बुनियादी समाज हुआ और आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। इस बुनियादी भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिये हुए हैं और उसका दूसरा आधा आर्येतर जातियों का अंशदान है।

दूसरी क्रांति तब हुई जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिंताधारा को खींच कर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गये। इस क्रांति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, किन्तु, अन्त में, इसी क्रांति के सरोवर में शैवाल भी उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गँदलापन आया, वह, काफी दूर तक, इन्हीं शैवालों का परिणाम था।

तीसरी क्रांति उस समय हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत पहुँचा और इस देश में हिंदुत्व के साथ उसका संपर्क हुआ। और चौथी क्रांति हमारे अपने समय में हुई, जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके संपर्क में आकर हिन्दुत्व एवं इस्लाम, दोनों ने नव-जीवन का अनुभव किया।

इस पुस्तक में इन्हीं चार क्रांतियों का संक्षिप्त इतिहास है। पुस्तक का उचित नाम कदाचित्, 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' होना चाहिए था, किन्तु, वह नाम मन में

आकर फिर लौट गया और मुझे यही अच्छा लगा कि इस पुस्तक को मैं 'संस्कृति के चार अध्याय' कहूँ।

पुस्तक लिखते-लिखते इस विषय में मेरी आस्था और भी बढ़ गयी कि भारत की संस्कृति, आरंभ से ही, सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिंदू और मुसलमान हैं, जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किन्तु, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा संपन्न किया जाना चाहिए। इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे-बड़े प्रयत्न हो चुके हैं। वर्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुन कर तैयार की गयी है, किन्तु, इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है। असल में, यह उनके काम की चीज है जो खोजपूर्ण ग्रन्थों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं, किन्तु, जिनके पास सैकड़ों ग्रन्थों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसंधान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। संक्षेप में, इसके मुख्य पाठक जन-साधारण होंगे, ऐसी मेरी कामना है। इसके आकार को देख कर उन्हें घबराना नहीं चाहिए। जिस अथाह विषय का इस पुस्तक में आख्यान है, उसके लिए ऐसी-ऐसी सौ जिल्दें भी, शायद ही, काफी हों। संस्कृति का विषय अपार है। एक व्यक्ति के लिए तो यह संभव ही नहीं है कि अपने सारे जीवन में भी वह उसके साथ पूरा न्याय कर सके। मैंने जो इस काम में हाथ डाला, वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि, इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लगाये जा रहे हैं, किन्तु, जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का, प्रायः, अभाव है जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आयी है और आगे वह कौन रूप ले सकती है।

इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री अँगरेजी की पुस्तकों से ली गयी है, किन्तु, दुर्भाग्यवश, अँगरेजी में भी कोई पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें भारतीय संस्कृति के संपूर्ण इतिहास की झाँकी एक ही जिल्द में उतार दी गयी हो। और अँगरेजी में कोई ऐसी पुस्तक होती भी तो उससे उन पाठकों का तो काम नहीं ही चलता जिनके लिए मैंने यह ग्रंथ लिखा है।

इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ। फिर भी, पूरी संभावना है कि इसकी प्रामाणिकता पर प्रहार होंगे और विद्वानों के पास उठने-बैठने वाले लोग कहेंगे कि अमुक स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है और लेखक की अमुक उक्ति

केवल अर्ध-सत्य है। किन्तु, उसके बाद भी कट-छँटकर जो बच रहेगा, वह काफी प्रामाणिक होगा और हमारे देश का उतने से भी कल्याण होगा। अर्ध-सत्य और अनुमान चाहे जितने हो, किन्तु, जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गयी है वह निर्जीव नहीं है। मेरी आशा है कि पाठक जब इस पुस्तक को हाथ में लेंगे, हमारी सामासिक संस्कृति की प्रतिमा उनसे अंत तक बात करती चली जायगी।

मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर ही निर्भर करता है। किन्तु, जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठको से यह कभी भी अनुरोध नहीं किया कि वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु, इस ग्रथ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सब से करता हूँ।

मेरे जानते यह ग्रंथ अभी भी अपूर्ण है। किन्तु, पाँच वर्ष तक परिश्रम करते-करते मैं कुछ थक गया हूँ और अब इसे पाठको के पास इस आश्वासन के साथ भेज रहा हूँ कि कुछ थोड़ी अपूर्णता अगले संस्करण में दूर कर दूँगा। यों अपूर्णता तो ऐसी पुस्तको का नित्य धर्म है।

आर्यकुमार रोड, पटना-४
५ जनवरी, १९५६ ई०

रामधारीसिंह दिनकर

प्रस्तावना

मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है जिससे, अक्सर, मेरा अपना मन भी ओत-प्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप, आप-से-आप, पड़ गयी है। अक्सर मैं अपने आप से सवाल करता हूँ, भारत है क्या ? उसका तत्त्व या सार क्या है ? वे शक्तियाँ कौन-सी हैं जिनसे भारत का निर्माण हुआ है तथा अतीत और वर्त्तमान विश्व को प्रभावित करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उनका क्या संबंध है ? यह विषय अत्यंत विशाल है, और उसके दायरे में भारत और भारत से बाहर के तमाम मानवीय व्यापार आ जाते हैं। और मेरा ख्याल है कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह इस संपूर्ण विषय के साथ अकेला ही न्याय कर सके। फिर भी, इसके कुछ खास पहलुओं को लेकर उन्हें समझने की कोशिश की जा सकती है। कम-से-कम, यह तो संभव है ही कि हम अपने भारत को समझने का प्रयास करें, यद्यपि, सारे संसार को अपने सामने न रखने पर भारत-विषयक जो ज्ञान हम प्राप्त करेंगे, वह अधूरा होगा।

संस्कृति है क्या ? शब्दकोष उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" "यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि" है। यह "सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना" है। इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

इस नक्शे में भारत का स्थान कहाँ पर है ? कुछ लोगों ने हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति और ईसाई-संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि, यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है, कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहंजोदरो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आनेवाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से [illegible]

लोगो से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार, हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने, धीरे-धीरे, बढकर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नय उपकरणो को पचा कर आत्मसात् करने की अद्‌भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह सस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद को आकर इसकी गतिशीलता जाती रही, जिससे यह सस्कृति जड हो गयी और उसके सारे पहलू कमजोर पड गये। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वद्वी शक्तियो को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणो को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं जो केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव को बढ़ावा देती हैं।

अतएव, आज हमारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल सैद्धांतिक नहीं है, उसका संबंध हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया से है और उसके समुचित निदान और समाधान पर ही हमारा भविष्य निर्भर करता है। साधारणतः, ऐसी समस्याओ को सुलझाने में नेतृत्व देने का काम मनीषी करते हैं। किन्तु, वे हमारे काम नहीं आये। उनमें से कुछ तो ऐसे है जो इस समस्या के स्वरूप को ही नहीं समझते। बाकी लोग हार मान बैठे हैं। वे विफलता-बोध से पीडित तथा आत्मा के सकट से ग्रस्त हैं और वे जानते ही नहीं कि जिन्दगी को किस दिशा को ओर मोडना ठीक होगा।

बहुत-से मनीषी मार्क्सवाद और उसकी शाखाओं की ओर आकृष्ट हुए और इसमें कोई संदेह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपस्थित करके समस्याओ पर सोचने और उन्हें समझने के काम में हमारी सहायता की। लेकिन, आखिर को, वह भी सकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति के रूप में उसका चाहे जो भी महत्त्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओ का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है। यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है; लेकिन, जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती। वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धातो को काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धांत है और दूसरा परिवर्त्तन का। ये दोनो सिद्धांत परस्पर-विरोधी-से लगते है, परन्तु, ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्त्तन का अंश है। इसी प्रकार, परिवर्त्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिये रहता है। असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्त्तनो पर जाता है जो हिंसक क्रांतियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्त्तन होते है,

उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प से होनेवाले परिवर्त्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं। इसी तरह, क्रांतियाँ भी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्त्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर, स्वयं परिवर्त्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जो परंपरा के आवरण में लगातार चलती रहती है। बाहर से अचल दीखनेवाली परपरा भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्त्तित हो जाती है।

इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब परिवर्त्तन की प्रक्रिया और उसकी तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन, साधारणतः, बाहर से उसकी गति दिखायी नहीं देती। परिवर्त्तन का बाहरी रूप, प्रायः, निस्पंद ही दीखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उनकी शक्ति दिनोदिन छीजती जाती है, उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियो का क्षय हो जाता है। तथा, अक्सर, वे राजनैतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं।

संभावना यह है कि भारत में संस्कृति के सबसे प्रबल उपकरण आर्यों और आर्यो से पहले के भारतवासियो, खास कर, द्रविड़ों के मिलन से उत्पन्न हुए। इस मिलन, मिश्रण या समन्वय से एक बहुत बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई, जिसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत करती है। संस्कृत और प्राचीन पहलवी, ये दोनो भाषाएँ एक ही माँ से मध्य एशिया में जनमी थीं, किन्तु, भारत में आकर संस्कृत ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो गयी। यहाँ संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण, दोनो ने योगदान दिया। सच तो यह है कि आगे चलकर संस्कृत के उत्थान में दक्षिणवालो का अंशदान अत्यन्त प्रमुख रहा। संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, बरन, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई। बुद्ध के समय से लेकर अब तक संस्कृत यहाँ की जनता की बोली जाने वाली भाषा कभी नहीं रही है, फिर भी, सारे भारतवर्ष पर वह अपना प्रचुर प्रभाव डालती ही आयी है। कुछ दूसरे प्रभाव भी भारत पहुँचे और उनसे भी विचारों और अभिव्यक्तियों को नयी दिशाएँ प्राप्त हुईं।

काफी लम्बे इतिहास के अन्दर, भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा देश बन गया जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। समुद्र और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण, बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। कई सहस्राब्दियों के भीतर, बाहर से लोगो के बड़े-बड़े झुण्ड भारत में आये, किन्तु, आर्यो के आगमन के बाद से कभी भी ऐसा नहीं हुआ, जब बाहरी लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत आये हों। ठीक इसके विपरीत, एशिया और यूरोप के आर-पार मनुष्यों के अपार आगमन और निष्क्रमण होते रहे ; एक जाति दूसरी जाति को खदेड़ कर वहाँ खुद बसती रही और, इस प्रकार, जनसंख्या की बुनावट में बहुत बड़ा परिवर्त्तन होता रहा। भारत में, आर्यों के आगमन के बाद, बाहरी लोगो के जो आगमन हुए, उनके दायरे बहुत ही सीमित थे।

उनका कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ा, किन्तु उससे यहाँ की बुनियादी जनसंख्या के स्वरूप में कोई बडा परिवर्त्तन नहीं आया। लेकिन, फिर भी, याद रखना चाहिए कि ऐसे कुछ परिवर्त्तन भारत में भी हुए है। सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत आनेवाली कुछ अन्य जातियो के लोग यहाँ आकर राजपूतो की शाखाओ में शामिल हो गये और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियो की सतान है। बहुत दिनो तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशो से भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये जो अपने आप में घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजो का चलन हो गया, जिन्हें बाहर के लोग न तो जानते है, न समझ ही पाते है। जाति-प्रथा के असंख्य रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण है। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छुआछूत क्या चीज है तथा दूसरो के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को लेकर, किसी को क्या उज्र होना चाहिए। इन सब बातो को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गयी। आज भी भारतवासियो को दूसरे लोगो से खुल कर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते है, तब वहाँ भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगो से अलग रहना चाहते है। हममें से बहुत लोग इन सारी बातो को स्वयंसिद्ध मानते है और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातो से दूसरे देशवालो को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनो बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारो और सिद्धांतो में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धात और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध सघर्ष कर रहे है। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतो और रिवाजो की कमजोरियो को हम यह कह कर नजर-अन्दाज कर देना चाहते है कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थ और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले है। लेकिन, पूर्वजो से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा रह जायगा।

जिन दिनो जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनो सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध उतना उग्र नहीं दिखायी देता था। लेकिन, ज्यो-ज्यो राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनो की रफ्तार तेज होती गयी, इस विरोध की उग्रता भी अधिक से अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खडे है। इस युग की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल है कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पडेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गये तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयो को भी खो बैठेंगे जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये है।

जैसे हम बड़ी-बडी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिए। भारत में औद्योगिक क्रांति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे सामाजिक परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं; अन्यथा समन्वय न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनैतिक परिवर्त्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु, हम यह मान कर बैठे रह जायें कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई परिवर्त्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुसार समाज को परिवर्त्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम वर्दाश्त नहीं कर पायेंगे, उसके नीचे हम टूट जायेंगे।

ईसा के जन्म के बाद की पहली सहस्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है, वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद को मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बड़े जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना संदेश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची से ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यंत उच्च कोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहाँ उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का संदेश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण, दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्रि शक्ति दिनोदिन क्षीण होने लगती है। शरीर और मन, दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाजे चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शांति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धांत तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन, भाव हमारा यह होता है

कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हम से भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मो के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन, काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनो ही क्षेत्रो में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र के पार से यहाँ आये, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के, धीरे-धीरे, इस देश में प्रविष्ट हो गयी। नये भावो और नये विचारो ने हम पर हमला किया और हमारे बुद्धिजीवी अंगरेज-बुद्धिजीवियो की तरह सोचने का अभ्यास करने लगे। यह मानसिक आन्दोलन, बाहर की ओर वातायन खोलने का यह भाव, अपने ढंग पर अच्छा रहा, क्योकि इससे हम आधुनिक जगत् को थोड़ा-बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये, क्योंकि जनता विचारो की इस नयी लहर से अप्रभावित थी। परंपरा से भारत में चिन्तन की जो पद्धति चली आ रही थी, वह टूट गयी। फिर भी, कुछ लोग उससे इस ढंग से चिपके रहे, जिसमें न तो प्रगति थी, न रचना की नयी उद्भावना और जो पूर्ण रूप से नयी परिस्थितियो से असंबद्ध थी।

पाश्चात्य विचारो में भारत का जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रहा है। नतीजा यह है कि हमारे पास न तो पुराने आदर्श है, न नवीन; और हम बिना यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को या कहाँ जा रहे हैं। नयी पीढ़ी के पास न तो कोई मानदण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज, जिससे वह अपने चिन्तन या कर्म को नियंत्रित कर सके।

यह खतरे की स्थिति है। अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रो में संक्राति की अवस्था से गुजर रहे हैं। संभव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम हो। लेकिन, आणविक युग में किसी देश को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे। और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।

यह संभव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही है, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सकें, लेकिन, इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है; उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन-से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है। भारत में बसनेवाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारो पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम

भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। और यदि भारत को हम नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सबके सब अधूरे रह जायेंगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों के समझने में, एक हद तक, सहायक होगी। इसलिए, मैं इसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसे पढ़कर अनेक लोग लाभान्वित होंगे।

नयी दिल्ली
३० सितम्बर १९५५ ई०

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
तृतीय संस्करण की भूमिका	४—७
लेखक का निवेदन	८—१०
प्रस्तावना : श्रीजवाहरलाल नेहरू	११—१७

प्रथम अध्याय

(भारतीय जनता की रचना और हिन्दू-संस्कृति का आविर्भाव)

प्रकरण १

भारतीय जनता की रचना

भारतीय जनता की रचना ३ ; आदमी की नस्ल पहचाननेवाले शास्त्र ४ ; जनविज्ञान की कसौटी और भारतीय जनता ६ ; भाषा की कसौटी और भारतीय जनता ७ ; नीग्रो-जाति-विषयक अनुमान ८ ; औष्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन ९ ; द्राविड जाति का आगमन ११।

प्रकरण २

आर्य-द्राविड़ समस्याएँ

द्रविड़ कौन हैं ? १५ , आर्य और द्राविड़ संज्ञाएँ २० ; आर्यों का मूल-स्थान २२ , देवासुर-संग्राम का भूगोल २७ ; ऋग्वेद का रचना-काल २९ ; लेखन-कला और लिपि ३० , किरात जाति ३० ; पारसी जाति ३२।

प्रकरण ३

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन

वैदिक संस्कृति के कुछ युग्म ३५ , आर्य-द्रविड-संबंध ४० ; आर्य और द्राविड भाषाएँ ४३ ; आर्य और द्राविड स्वभाव ४७ , वर्णव्यवस्था और जातिभेद ५० , जाति-प्रथा जनमी कैसे ? ५५ , अन्तर्जातीय विवाह ५९ ; ब्राह्मण, शूद्र और नारी का स्थान ६१ , समन्वय की प्रक्रिया ६४ ; भौगोलिक एकता का भाव ६७ , समन्वय के कुछ दृष्टान्त ६९ , शैव धर्म ७० ; कार्तिकेय और गणेश ७३ , शिव के आर्य और द्राविड नाम ७५ , वैष्णव-धर्म ७६ ; कृष्ण नाम की प्राचीनता ७८ , राधा नाम पर विचार ८० ;

रामकथा की प्राचीनता ८१, रामकथा की व्यापकता ८३, रामावतार ८४, रामको लेकर समन्वय ८५, हिन्दू-संस्कृति का रचयिता ८६, आग्नेय जाति की देन ८८, कुछ स्फुट उदाहरण ९०; हिन्दू नाम का इतिहास ९१, भारत मे आनेवाली अन्य जातियाँ ९६, हिन्दू-सस्कृति की पाचन-शक्ति ९६।

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह)

प्रकरण १

बुद्ध से पहले का हिन्दुत्व

वैदिक वाङमय १०२, वेदाग १०३, उपनिषद १०४, वेदो और उपनिषदो की विचारधारा १०५, बहुदेववाद १०६, उपनिषदो की विशेषताएँ १११, मत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-युग ११५; उपनिषदो का प्रभाव ११७, बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण ११८।

प्रकरण २

जैन धर्म

विद्रोह के कारण १२०, नास्तिकता की परपरा १२२, अहिंसा की परपरा १२४, पूर्वी भारत मे क्रान्ति के बीज १२६, अहिंसा और क्षत्रिय-जाति १२८, जैन धर्म की विशेषताएँ १२९, जैन दर्शन के सिद्धान्त १३३, कैवल्य या मोक्ष १३४, अनेकान्तवाद १३५, स्याद्वाद १३७, धर्माचरण के सिद्धान्त १३८, जैन मत और बौद्ध मत १४०, जैन धर्म का इतिहास १४२, वैदिक धर्म पर प्रभाव १४३।

प्रकरण ३

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म और आचार १४८, अव्याकृत विषय १५०, वैदिक धर्म से समानता १५२, क्या बुद्ध नास्तिक थे ? १५३, आत्मा और निर्वाण--१५५, हिन्दुत्व का बौद्धीकरण १५८, बुद्ध का व्यक्तित्व १६१, कर्म की महत्ता १६३, बौद्ध धर्म की सीमाएँ १६४, पौराणिक समन्वय १६६, हिन्दुत्व का खरल १७१।

प्रकरण ४

वैदिक बनाम बौद्ध मत

महायान की उत्पत्ति १७४; नागार्जुन का शून्यवाद १८०; वैदिक मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव १८२; निवृत्ति का प्रचार १८२, आचार पर प्रभाव १८३, जाति-प्रथा को चुनौती १८४; सास्कृतिक उपनिवेशो की स्थापना १८५, श्रीमद्भगवद्गीता १८६, मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण-१८८।

प्रकरण ५

प्राचीन भारत और बाह्य विश्व

बाहरी दुनिया से सपर्क १९५; गणित, ज्योतिष् और विज्ञान २००, बृहत्तर भारत से सबन्ध २०३; बालीद्वीप २०५; यवद्वीप २०५, सुमात्रा २०७; बोर्नियो २०८, हिन्दचीन २०८; चीन के साथ संबन्ध २१०; बुद्ध और कनफ्युसियस २१२; बर्मा और श्याम २१४; जापान मे बौद्ध मत २१५।

प्रकरण ६

बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव

क्रान्ति की गगा मे शैवाल २१६, शाक्त धर्म का परिचय २१८; योग-शास्त्र २१९, तत्र-मार्ग २२१, शाक्त दर्शन २२२, उलटी धारा की साधना २२४; तत्र-साधना की परपरा २२७, गुह्य-समाज-तत्र की विशेषताएँ २२८; वज्रयान और मत्रयान २२९, सहज यान २३०; कामयोग २३३, वैष्णव-सहजिया-सप्रदाय २३३; मार का प्रतिशोध २३५, बाद के सतो पर सहजयान का प्रभाव २३९।

प्रकरण ७

बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक प्रसंग

चिनगारी जो बुझी नही २४२, वेद-विरोधी आन्दोलन २४३; नय और आचार के बीच दरार २४५, बौद्ध मत पर पुराणो के आक्रमण २४६, जैनो और बौद्धो पर शैवो का प्रहार २४८; इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सप्रदाय २५१, बौद्ध धर्म का लोप २५३।

तृतीय अध्याय

(हिन्दू संस्कृति और इस्लाम)

प्रकरण १

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की भूमिका

इस्लाम से हिन्दुओ की अनभिज्ञता २६१, मुसलमानो का भारत-विषयक अज्ञान २६१; रास्ता क्या? २६४; इस्लाम का क्षिप्र प्रसार २६५; इस्लाम का आरभिक रूप २६८, इस्लाम से भारत का आरभिक सपर्क २७१, कुछ ऐतिहासिक विश्लेषण २७३, कुछ मनोरजक बातें २७६ ।

प्रकरण २

इस्लाम-धर्म

कुरान की शिक्षा २८०; मृत्यु के परे २८२, ईमान और कुफ २८५, जिहाद और जिजिया २८६, सुन्नी-शिया-सप्रदाय २८७, कुछ अन्य विशेषताएँ २८८, तसव्वुक या इस्लामी रहस्यवाद २८९; यूनानी और भारतीय प्रभाव २९४; सूफियो के विश्वास २९९, मौलिक इस्लाम से भेद ३०१ ।

प्रकरण ३

मुस्लिम आक्रमण और हिन्दू-समाज

अचरज की बाते ३०३, हिन्दू हारे क्यो? ३०४, राजनैतिक चेतना का अभाव ३०५, सर्वनाशी अधविश्वास ३०७, धर्म की बाधा ३१०, जाति से बडी जात ३१२, ब्राह्मण-बौद्ध-विद्वेष ३१४ ।

प्रकरण ४

हिन्दू-मुस्लिम-संबन्ध

अत्याचार का दुष्परिणाम ३१६, साप्रदायिक राज्य ३१८, सास्कृतिक प्रतिशोध ३२१, एकता-आन्दोलन का आरभ ३२२, अमीर खुसरो की भारत-भक्ति ३२५; सतो, राह दोऊ हम दीठा ३२७, तसव्वुफ का भारतीयकरण ३३३, हिन्दू-सस्कृति के समझने का प्रयास ३३५; असाप्रदायिक व्यवहार के दृष्टान्त ३३६; समकालीन कवियो का दृष्टिकोण ३३९, हिन्दी के मुसलमान कवि ३४३ ।

प्रकरण ५

इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव

सतही असर ३४७, इस्लामी प्रभाव का अतिरजन ३४७, शंकराचार्य और इस्लाम ३५१; हिन्दुत्व का गढ दक्षिण देश ३५४; वर्णाश्रम का विरोध ३५५; गुरु-परपरा ३५७; आलवार सत ३५८; वीर शैव और इस्लाम ३६०, भौगोलिक एकता और मुक्त चिंतन ३६२ ।

प्रकरण ६

भक्ति-आन्दोलन और इस्लाम

भक्ति की प्राचीनता ३६५, गीता का महत्त्व ३६८, अतिरंजनवादियों की भ्रान्ति ३६९; आलवार भक्त ३७०, रामानुज की देन ३७२, स्वामी रामानन्द ३७५, शैवाचार्य ३८१, रहस्यवाद ३८२ ।

प्रकरण ७

अमृत और हलाहल का संघर्ष

तौहीदे-इलाही ३८५, हलाहल का विस्फोट ३८८, शेख अहमद सरहिन्दी ३८८, अमृत की पराजय ३९०; एकता के दुर्बल प्रहरी ३९१, पराजित पीयूष दारा शिकोह ३९२; क्रान्तिकारी का साथी कोई नही ३९३, धर्मान्धता का परिणाम ३९४, अकबर और औरंगजेब ३९५ ।

प्रकरण ८

सिक्ख धर्म

गुरु नानक ३९७, सिक्ख मत, हिन्दुत्व और इस्लाम ३९८; गुरु और ग्रन्थ ३९९, इस्लाम से टक्कर ४००, गुरु गोविन्द का अवतार ४०१; सिक्ख मत और हिन्दुत्व ४०४ ।

प्रकरण ९

कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव

कला की भारतीय परपरा ४०७, मुस्लिम-आगमन के बाद ४१२, मोगल-शैली ४१४, राजस्थानी शैली ४१६, पहाड़ी कलम ४१७; हिन्दू और मुस्लिम कलाओ की विशेषताएँ ४१८, राजपूत और मोगल कलमो के भेद ४२२, रीति-काव्य और राजपूत कलम ४२३, स्थापत्य या वास्तुकला पर प्रभाव ४२४, विश्वकर्मा और जौहरी का मिलन ४२६ ।

प्रकरण १०

साहित्य और भाषा पर प्रभाव

अनाध्यात्मिक काव्य ४२८; दर्द की नयी अदाएँ ४३१; प्रेम-पीडा की नयी भगिमा ४३३, जिन मरने थै जग डरै ४३७, सतो का वहुरियावाद ४४१, भाषा पर प्रभाव ४४३, हिन्दी कवियो की भाषा-नीति ४४५, हिन्दी में अरबी और फारसी शब्द ४४७ ।

प्रकरण ११

उर्दू का जन्म

खडी बोली में साहित्य-रचना ४५०, उर्दू के आरभिक कवि ४५३, मतरूकात या वहिष्कार की नीति ४५६, हिन्दी से उर्दू या उर्दू से हिन्दी ? ४६१, साधु हिन्दी की परपरा ४६२, हिन्दी और उर्दू का गद्य ४६४, विवाद का समाधान ४६९ ।

प्रकरण १२

सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप

तन से भारतीय, मन से ईरानी ४७१, हिन्दुत्व का प्रभाव ४७२, अहिंसा और मुसलमान ४७५, स्त्रियो की स्थिति ४७६, शिक्षा और भाषा की स्थिति ४७७, अन्य आदान-प्रदान ४७९ ।

चतुर्थ अध्याय

(भारतीय संस्कृति और यूरोप)

प्रकरण १

भारत में यूरोप का आगमन

पुर्तगाल ४८५, हालैण्ड का आगमन ४८८, पुर्तगाल का सास्कृतिक प्रभाव ४८९, फ्रास का आगमन ४९०, अगरेजो का आगमन ४९१, ईसाइयत के प्रचारक ४९३, बनियाँ राज ४९५ ।

प्रकरण २

शिक्षा में क्रान्ति

शिक्षा की भारतीय परपरा ४९८, अगरेजी का पाँव फैलाना ४९९, मिशनरियो की आशा ५०३, अगरेजी के गुण और दोष ५०४, कपनी-सरकार की शिक्षा-नीति ५०६; शिक्षा के माध्यम का प्रश्न ५०८, एक ही समय मे अनेक प्रयोग

५०८; माध्यम भारतीय भाषाएँ हों ५०९, मराठी में शिक्षा ५११; हिन्दी में प्रयोग ५११, भारत-भक्त अंगरेजों की भाषा-नीति ५१२; अंगरेजी और शराब ५१२; सन् १८५४ का डिस्पैच ५१३, भारतीय अतीत का अनुसन्धान ५१४, प्राचीन भारत और नवीन यूरोप ५१५, यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन पर भारतीय प्रभाव ५१८; भारतीय प्रभाव पर शंका ५२० ।

प्रकरण ३

ईसाई धर्म और भारतीय जनता

ईसाई धर्म और भारतीय जनता ५२२, सौभाग्य की बात ५२६; ईसाइयत और हिन्दुत्व का संघर्ष ५२६; हिन्दुत्व में कंपन ५२८; नव-शिक्षित युवक ५२९, ईसा का ऐशियाई रूप ५३४ ।

प्रकरण ४

हिन्दू-नवोत्थान

अवतार अपने काल का स्वर ५३६; नवोत्थान का स्वरूप ५३६; नवोत्थान की रीढ ५३८; निवृत्ति का त्याग ५३९ ।

प्रकरण ५

ब्राह्म समाज

राममोहन राय ५४१, सुधार के कार्य ५४२, ईसाइयत पर विचार ५४३, विश्ववादी और भारतीय ५४३, विज्ञान और वेदान्त का मेल ५४५, ब्राह्म समाज के जन्म की वेदना ५४५, ब्राह्म समाज का जन्म ५४६, राममोहन की उदार दृष्टि ५४७; महर्षि देवेन्द्रनाथ ५४८, केशवचन्द्र सेन ५४८; शरमाये हुए शूरमा ५५० ।

प्रकरण ६

महाराष्ट्र में नवोत्थान

परमहंस-समाज और प्रार्थना-समाज ५५२, महादेव गोविन्द रानाडे ५५२; रानाडे, आगरकर और तिलक ५५३, तिलक और गोखले ५५५; परशुराम और राम ५५५, प्रार्थना-समाज का रूप ५५६, १९वीं सदी और मध्यकाल ५५७ ।

प्रकरण ७

आर्य समाज

स्वाभिमान का उदय ५५९, आक्रामकता की ओर ५६०, किसी का भी पक्षपात नही ५६१, सुधार नही, क्रान्ति ५६२, आर्य-समाज की स्थापना ५६३, थियोसाफी और स्वामी दयानन्द ५६३, आर्य-समाज की विशेषता ५६४, आर्यवाद का एक दुष्परिणाम ५६५, हिन्दुत्व की वीर भुजा ५६६ ।

प्रकरण ८

थियोसाफिकल सोसायटी या ब्रह्मविद्या-समाज

सोसायटी का जन्म ५६८, एनी बीसेंट ५६९, एनी बीसेंट की भारत-भक्ति ५७०, अखड हिन्दुत्व का समर्थन ५७१, राजनीति के क्षेत्र मे ५७२, धर्म नही, धर्म की सजीवनी ५७३ ।

प्रकरण ९

धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज की सीमाएँ ५७५, पडित और सन्त का भेद ५७७, फिलासाफी नही, दर्शन ५७८; पथ नही, अनुभूति ५७९, धर्म की साकार प्रतिमा ५८०, कचन से विरक्ति ५८१, कामिनी के प्रति अनासक्ति ५८२, तर्क बनाम अनुभूति ५८४, सत-पद्धति से उपदेश ५८४, विनोद-प्रियता ५८६, मनीषियो द्वारा अभिनन्दन ५८७ ।

प्रकरण १०

कर्मठ वेदान्त · स्वामी विवेकानन्द

गगा के भगीरथ ५८९, तन से राजसी, मन से जिज्ञासु ५८९, श्रद्धा और बुद्धि का मिलन ५९१, निवृत्ति की परपरा ५९१, सास्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता ५९३, शिकागो-सम्मेलन ५९४, यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा ५९५, भारत को प्रवृत्ति का उपदेश ५९७, मातृ-जाति के प्रति उदारता ५९९, ब्राह्मणरूपी सर्प ६००, एकता का मत्र ६०१, यह अकरणीय है ६०२, पश्चिम से विनिमय ६०३, इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण ६०४, धार्मिक एकता पर विचार ६०५, भारत पर अशेष ऋण ६०६ ।

प्रकरण ११

प्रवृत्ति का उत्थान : लोकमान्य तिलक

प्रवृत्ति-निवृत्ति ६०८, जीवन-जय का मार्ग ६०९, गीता पर निवृत्ति के बादल ६१०, कर्त्तव्याकर्त्तव्य ६१३; तिलक और गांधी ६१४; योग का अर्थ ६१५।

प्रकरण १२

स्वर्ग का भूमीकरण : महायोगी अरविन्द

काल की पृष्ठभूमि ६१६; रामकृष्ण और अरविन्द ६१७; सारे जगत् की एक समस्या ६१८, बुद्धि की अराजकता ६१९; अतिमानस की कल्पना ६१९; बुद्धि नही, संबुद्धि ६२०; भोग और वैराग्य से परे ६२१; विज्ञान की सीमा ६२२, व्यष्टि-समष्टि ६२३; स्वर्ग का भूमीकरण ६२३, अतिमानव का स्वप्न ६२५; सश्लिष्ट योग ६२५ ।

प्रकरण १३

भूमि का स्वर्गीकरण : महात्मा गांधी का प्रयोग

अहिंसा भारत मे ही क्यो ? ६२७, जैसा चिंतन वैसा कर्म ६२९, नय नही, आचार ६३०, धर्म सभी क्षेत्रो के लिए ६३१, अहिंसा ६३४, अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ६३६; गांधी और अरविन्द ६३८; नारी और वैराग्य ६४०, धर्म की अनुभूति ६४५ ।

प्रकरण १४

विश्वदर्शन के प्रवर्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मिशनरियो की आलोचनाओ से ठेस ६५३; पूर्व और पश्चिम का मिलन ६५५; दर्शन की उत्पत्ति जीवन से ६५७, विज्ञान पर विचार ६५८; धर्म जीवन से एकाकार हो ६५९, अरविन्द के प्रसग मे ६६०; आत्मा का धर्म ६६२, इनटुइशन या सबुद्धि ६६४, निवृत्ति और हिन्दू-धर्म ६६६; व्यष्टि-समष्टि ६६८, रहस्यवाद ६६९, प्रवृत्ति-निवृत्ति ६७१, सभ्यता का शाप ६७२।

प्रकरण १५

मुस्लिम-नवोत्थान

इस्लाम का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ६७४, वहाबी आन्दोलन ६७७; भारत मे वहाबी आन्दोलन ६८०; इस्लाम और अगरेजी राज ६८२, अगरेज और अगरेजियत

से प्रेम ६८४, सर सैयद अहमद खाँ ६८५; सर सैयद के सहयोगी ६९१, मौलाना हाली ६९३, मौलाना शिवली नौमानी ६९४, स्वाभिमान का उदय ६९५।

प्रकरण १६

सर मोहम्मद इकबाल

नवोत्थान के कवि ६९८, राष्ट्रीयता का स्वर ७०१, मुस्लिम राष्ट्रीयता के भाव ७०४, इकवाल का जीवन-दर्शन ७०५, खुदी का सिद्धान्त ७०९, महामानव की कल्पना ७११, विफलता-बोध की पीडा ७१४, दलितो के कवि ७१५, यूरोप पर शका ७१७, भावात्मक सामाजवाद ७१८, पान-इस्लामी राष्ट्रीयता ७१९, इस्लामी एकता के कारण ७२० ।

प्रकरण १७

भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान

एकता की राह् ७२५, अगरेजो की भेद-नीति ७२६, मुस्लिम लीग ७२७, एकता की तरग ७२९, साम्प्रदायिकता का विस्फोट ७२९, मुस्लिम लीग की बढती ७३१, राष्ट्रवादी मुसलमान ७३३, मुस्लिम कवियो की राष्ट्रीयता ७३४ ।

उपसहार पृ० ७३८
अनुक्रमणिका पृ० ७५१

प्रथम अध्याय

(भारतीय जनता की रचना और हिन्दू-संस्कृति का आविर्भाव)

प्रकरण १

भारतीय जनता की रचना

मनुष्य पहले-पहल कहाँ उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न मनोरंजक तो है, लेकिन, इसका ठीक-ठीक उत्तर अब तक नही दिया जा सका है। बाइबिल को अपना धर्मग्रंथ मानने वाले लोगो का ख्याल है कि आदमी पहले-पहल सीरिया में जनमा था। इसी तरह, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, बर्मा, अफ्रीका और उत्तरी ध्रुव के पास के प्रांत, इन सारे भूभागो के बारे मे, समय-समय पर, अटकल लगायी गयी है कि, हो न हो, आदमी इन्हीं में से किसी एक देश मे सर्व-प्रथम उत्पन्न हुआ होगा। पीकिंग मे जो नर-कंकाल मिला है, वह तीस हजार वर्ष पुराना है, अतएव, यह अनुमान भी चलता है कि आदमी पहले-पहल चीन मे जनमा होगा। एक अन्दाजा यह भी है कि आदमी चूकि, प्रधानत, लोमहीन प्राणी है, इसलिए, उसकी उत्पत्ति किसी गर्म देश में हुई होगी। इस विचार के लोग अफ्रीका, भारतवर्ष अथवा उससे भी दक्षिण-पूर्व के भागों को आदि मनुष्य का जन्म-स्थान मानते है। एक अनुमान यह है कि आदमी दक्षिण भारत में जनमा होगा। एक दूसरा अनुमान यह है कि भारत-समुद्र में पहले जो बड़ा स्थल-भाग था, आदमी वहीं जनमा था। अफ्रीका के पक्ष में एक दलील यह दी जाती है कि वहाँ चिंपंजी और गोरिल्ला बन्दर, बहुतायत से, पाये जाते है। इसके सिवा, अफ्रीका में बहुत-सी हड्डियाँ भी पायी गयी है, जिनके बारे में यह अनुमान है कि वे आदि मानवो की हड्डियाँ होगी।

भारतीय इतिहास-कांग्रेस के ग्वालियर वाले अधिवेशन में (१९५२ ई०) सभापति के पद से भाषण देते हुए डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी ने यह कहा था कि आदि मनुष्य पंजाब और शिवालिक की ऊँची भूमि पर विकसित हुआ होगा, इस बात के प्रमाण मिलते है। मुखर्जी महोदय का मत यह दीखता है कि मनुष्य भारत मे ही उत्पन्न हुआ था और इसी देश में उसकी सभ्यता भी विकसित हुई। पंजाब मे हिमालय के पास मनुष्य का आदि जन्म, फिर सिन्धु की तराई में कृषि-सभ्यता का विकास और सिन्धु के पठार में भारत की प्राचीनतम सभ्यता का अवशेष पाया जाना, ये सारी बातें आपस मे एक-दूसरे को पुष्ट करने वाली है और, अजब नही, कि अध्ययन और खोज करने पर मुखर्जी महोदय का अनुमान सत्य ही प्रमाणित हो।

किन्तु, सब से युक्तिसंगत अनुमान यह है कि आदमी यदि पहले-पहल भारत मे उत्पन्न हुआ तो वह उत्तर नही, दक्षिण भारत में जनमा होगा। भारत की सबसे पुरानी धरती वह नही है जो विन्ध्याचल के उत्तर में पड़ती है, प्रत्युत, वह जो विन्ध्य से फैलती हुई दक्षिण

को चली गयी है। आज से लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व दक्षिण भारत मे मनुष्य रहा होगा, इस अनुमान को पडित साधार मानते हैं। सन् १९३५ ई० मे बडोदा राज्य के वादनगर स्थान मे लघु मानव का एक तीस इच लवा ककाल मिला था, जिसे वैज्ञानिक आदि नीग्रो का ककाल समझते हैं।

इग्लैड के एक वैज्ञानिक, मिस्टर डारविन ने जब से यह सिद्ध कर दिखाया कि आदमी बन्दर से बढकर आदमी हुआ है, तब से, विकासवाद के सिद्धान्त पर यह मानने की प्रथा चल पडी है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर की ही योनि से निकले थे। लेकिन, सभी पडित अभी यह भी मानने को तैयार नही हैं कि आदमी, निश्चित रूप से, बन्दर से ही विकसित हुआ है। फिर भी, जो लोग विकासवाद के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से मान चुके है, उनका ख्याल है कि एप, गिब्बन, ओरगउत्तान और चिंपजी, बन्दरो की इन्ही चार जातियो का विकास मनुष्य के रूप में हुआ है। और जिन पडितो का ऐसा विश्वास है, वे घूम-फिर कर अफ्रीका को ही मनुष्य के जन्म का आदि स्थान मानना चाहते हैं। लेकिन, कुछ दूसरे पडितो का विचार है कि आदमी जिस जीव से बढकर आदमी हुआ है, वह बन्दर तो नही था, हाँ, वह बन्दरो के समान ही कोई अन्य स्थलचारी जीव था। एक दूसरा अनुमान यह भी है कि आदमी, शुरू से ही, आदमी था और उसकी पैदाइश, एक साथ, अनेक देशो में हुई।

इस अनिश्चय के बीच अधिकाश पडित यह मानते है कि भारत में जो भी लोग मौजूद है, उनके पूर्वज इस देश मे अन्य देशो से आये और अन्य देशो से आकर ही उन्होने, आपस में मिश्रित होकर, इस देश मे उस जन-समूह की रचना की जिसे हम भारतीय जनता कहते हैं। और भारत की मिट्टी पर, अनन्त काल से, कितनी विभिन्न जातियो, कितने प्रकार के लोगो का समागम होता रहा है, यह किस्सा भी काफी मजेदार है। अगर ईसाइयो और मुसलमानो को छोड दें, तब भी, इस देश में एक के बाद एक, कम-से-कम, ग्यारह जातियो के आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है, जिन्होने इस देश को ही अपना देश मान लिया और जिन का एक-एक सदस्य यहाँ की सस्कृति और समाज में भली-भाँति पच-खप कर आर्य अथवा हिन्दू हो गया। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मगोल और मुस्लिम-आक्रमण के पूर्व आनेवाले तुर्क, इन सभी जातियो के लोग कई झुडो में इस देश में आये और हिन्दू-समाज में दाखिल होकर सब-के-सब उसके अग हो गये। असल मे, हम जिसे हिन्दू-सस्कृति कहते है, वह किसी एक जाति की देन नही, बल्कि, इन सभी जातियो की सस्कृतियो के मिश्रण का परिणाम है।

आदमी की नस्ल पहचानने वाले शास्त्र

हजारो वर्षों से एक ही भू-भाग मे, एक ही तरह की जलवायु तथा एक ही सामाजिक ढांचे और एक ही आर्थिक पद्धति के भीतर जीते रहने के कारण भारतीय समाज के सभी

लोगो के रूप-रग, वेश-भूषा, रहन-सहन, भाव-विचार और जीवन-विषयक दृष्टिकोण मे जो अद्भुत एकता आ गयी है, उसे देखते हुए एक नस्ल के लोगों को दूसरी नस्ल के लोगों से अलग करने का काम अस्वाभाविक और जरा मुश्किल भी मालूम होता है। लेकिन, तब भी ऐसी कुछ कसौटियाँ मौजूद हैं जिनके आधार पर बिलगाव किया जा सकता है। दुनिया में जितनी भी जातियाँ बसती हैं, उनकी मूल-नस्लों की पहचान भाषा और शरीर के गठन को देखकर की जाती है और इस विषय का अध्ययन अब अलग-अलग शास्त्रो के रूप में विकसित हो गया है जिनके प्रयोग से मानव-जाति के बहुत पुराने इतिहास की रचना में बहुत सहायता मिली है। भाषा का अध्ययन करनेवाले शास्त्र को भाषा-विज्ञान (Philology) कहते हैं। साहित्य से सम्बद्ध रहने के कारण इस विषय के जानकार अब काफी लोग हो गये हैं। किन्तु, रूप-रग और कद-ढाँचे की कसौटी पर भी मनुष्य-जाति का अध्ययन एक दूसरे शास्त्र के द्वारा किया जाता है, जिसे मानुषमिति (Anthropometry) या जनविज्ञान (Anthropology) कहते हैं। भाषा-भेद को देखकर मनुष्य की नस्ल का पता लगाना अपेक्षाकृत कुछ सरल कार्य हो गया है, मगर, रग-रूप और शरीर के ढाँचे को देखकर आदमी के मूल-खान्दान का पता लगाना उतना आसान नहीं है, क्योंकि जल-वायु के प्रभाव और विवाहादि के द्वारा रक्त के मिश्रण के कारण इस क्षेत्र मे बड़ी-बड़ी उलझनें पैदा हो जाती हैं। फिर भी, जनविज्ञान ने जो कसौटियाँ बनायी हैं, उन पर आदमी की नस्ल की पहचान, बहुत दूर तक, सही-सही कर ली जाती है।

जनविज्ञान की पहली कसौटी रंग की है। जन-विज्ञानियों का एक साधारण विश्वास है कि गोरे रग के लोग आर्य वश के हैं और जिनका रग पक्का काला है, वे आर्येतर हैं अथवा आर्यों और आर्येतर जातियो के बीच जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसका उन पर काफी प्रभाव है। खोपडी की लम्बाई-चौडाई देखकर भी नस्ल की पहचान की जाती है। इसी तरह, नाक की ऊँचाई, चौडाई, उसका खड़ा या चिपटा होना भी आदमी की नस्ल को इंगित करता है; फिर, आदमी का कद या डील, उसके मुँह या जबड़े का आगे बढा या न बढा होना भी उसकी नस्ल की पहचान है।

जनविज्ञान ने ससार की सभी जातियो को, मुख्यत, तीन नस्लो मे बाँट रखा है। पहली नस्ल गोरे लोगो की है, जिन्हें हम कौकेसियन कहते हैं; दूसरी नस्ल के वे लोग हैं, जिनका रग पीला होता है और जो मगोल-जाति के हैं, तथा तीसरी नस्ल उन लोगों की है, जिनका रग काला है और जो इथोपियन परिवार के हैं। कौकेसस रूस से दक्षिण, प्राय, एशिया-यूरोप के बीच का भूभाग है और इथोपिया अफ्रीका मे है। यह विभाजन, मुख्यत, रगो के आधार पर किया गया है, क्योंकि रग की दृष्टि से ससार मे तीन प्रकार के लोग हैं—गोरे, काले और पीले। बाकी रग इन्हीं रगो मे से किसी-न-किसी की, कम या ज्यादा, छाँह लिये हुए हैं और वे, अक्सर, दो रगों के मिश्रण से अथवा जलवायु के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए हैं।• भारतीय जनता मे इन तीनो रगो के प्रतिनिधि मौजूद हैं और

रगो की दृष्टि से भी भारतीय मानवता विश्व-मानवता का अद्‌भुत प्रतीक मानी जा सकती है।

जनविज्ञान की कसौटी और भारतीय जनता

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर भारतवर्ष में चार प्रकार के लोग मिलते है। एक तरह के लोग वे है जिनका कद छोटा, रग काला, नाक चौडी और बाल घुँघराले होते है। इस जाति के लोग, अक्सर, जगलो में बसते है। ये ही लोग उन आदिवासियो की सतान है जो आर्यों और द्रविडो के आगमन के पूर्व इस देश मे आकर बसे थे और जो, शायद, जगली जीवन के आदी होने के कारण अब तक भी शहरो से दूर जगलो मे ही रहने मे सुख मानते है।

एक दूसरी तरह के लोग है जिनका कद छोटा, रग काला, मस्तक लबा, सिर के बाल घने और नाक खडी और चौडी होती है। रग और कद में ये, प्राय, आदिवासी लोगो से थोडी समानता रखते है, किन्तु, ये उनसे बिल्कुल भिन्न है। विन्ध्याचल के नीचे, सारे दक्षिण भारत में इन्ही लोगो की प्रधानता है। ये द्राविड जाति के लोग है जिनके पूर्वज, कदाचित्, आर्यो से भी पूर्व इस देश में आये थे और जिन्होने पहले-पहल भारत में नगर-सभ्यता की नीव डाली थी।

तीसरी जाति के लोगो का कद लबा, वर्ण गेहुँआँ या गोरा, दाढी-मूँछ घनी, मस्तक लबा तथा नाक पतली और नुकीली होती है। ये आर्य-जाति के लोग है। आरभिक आर्यो के जिस रग-रूप का वर्णन पुराने साहित्य में मिलता है, वह अब बहुत-कुछ बदल गया है। कारण, शायद, यह है कि भारत की जलवायु उष्ण है और कहा जाता है कि उष्णता से रग काला पड जाता है। फिर द्रविडो और आदिवासियो के साथ उनका जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसके चलते भी आर्यों का पहले का रग अब फीका पड गया है।

एक चौथे प्रकार के लोग बर्मा, असम, भूटान और नेपाल में तथा उत्तर प्रदेश, पजाब, उत्तरी बगाल और कश्मीर के उत्तरी किनारे पर पाये जाते है। इनका मस्तक चौडा, रग काला-पीला, आकृति चिपटी तथा नाक चौडी और पसरी हुई होती है। इनके चेहरे पर दाढी-मूँछ भी कम उगती है। ये मगोल-जाति के लोग है जो भारत में तिब्बत और चीन से उस समय आये जब आर्य यहाँ पुराने हो चुके थे और जब नीग्रो, औष्ट्रिक, द्राविड और आर्य जातियो की सस्कृतियो के मेल से भारत मे आर्य या हिन्दू-सभ्यता की नीव भली-भाँति डाली जा चुकी थी।[1]

---

१ इण्डो-एशियन कलचर (अप्रेल, १९५४ ई०) मे प्रकाशित अपने एक निबन्ध मे डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह अनुमान लगाया है कि मगोल-जाति के लोग आर्यों के आगमन के पूर्व भारत मे बस चुके थे, क्योकि किरात नाम आर्यों के प्रारभिक साहित्य में ही मिलने लगता है।

इस प्रकार, अत्यन्त प्राचीन काल मे आर्य, द्राविड, आदिवासी और मंगोल, इन चार जातियो को लेकर भारतीय जनता की रचना हुई थी। हम जिन्हे आदिवासी कहते है, उनके बीच नीग्रो और औष्ट्रिक नामक उन दोनो जातियो के लोग शामिल है जो जातियां द्रविडो से पूर्व इस देश मे आयी थी। नीग्रो और औष्ट्रिक जातियो के मिश्रण से बने हुए लोग मुंड या शवर भी कहे जाते है। इसी प्रकार, मगोल जातिवालो का भी प्राचीन नाम किरात है।

भाषा की कसौटी और भारतीय जनता

भाषा की दृष्टि से देखने पर इस देश मे "७६·४ फी सदी आर्यभाषी, २०·६ फी सदी द्राविड-भाषी तथा ३ फी सदी शवर-किरात-भाषी है।" (जयचन्द्र)। मगोल-जाति के लोगो की भाषा तिब्बती - चीनी परिवार की भाषा है, यद्यपि, उस पर आर्य-भाषाओं का भी बहुत प्रभाव है। द्राविड़ परिवार की भाषाएँ तमिल, मलयालम, कन्नड़ी और तेलुगु है। इन भाषाओ के अनेक शब्द और प्रयोग आर्य-भाषाओ मे आ गये है और सस्कृत के भी बहुत-से शब्द द्राविड भाषाओ मे मिल गये है, लेकिन, तब भी दक्षिण भारत की ये चार भाषाएँ दक्षिण मे ही प्रचलित है। दक्षिण भारत से बाहर दो-एक जगहो पर इनके निशान मिलते है, जो इस बात की यादगार है कि, कदाचित्, द्रविड़ लोग कभी भारत-भर मे फैले हुए थे। उदाहरणार्थ, बलूचिस्तान की ब्रहुई भाषा द्राविड़ भाषा है और विहार के आदिवासियो की ओराँव जाति जो भाषा बोलती है, वह भी द्राविड़ी से मिलती-जुलती है। लेकिन, अब पडित इस विषय मे सदेह करने लगे है कि ब्रहुई तथा मुण्ड भाषाएँ, सचमुच ही, द्राविड परिवार की भाषाएँ है या नही। आदिवासियो के बीच और भी कई बोलियाँ प्रचलित है, जो वर्गीकरण की दृष्टि से औष्ट्रिक अथवा आग्नेय भाषा-समूह मे रखी जाती है।

हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, पजाबी, असमी, गुरखाली और कश्मीरी आदि भाषाएँ आर्य-भाषाएँ है जो सस्कृत की परपरा मे उत्पन्न हुई है। भारत से बाहर आर्य-भाषाओ का सम्बध हिन्द-जर्मन-भाषा-समूह से है। कहते है, हिन्द-जर्मन-भाषाएँ बोलनेवाले लोग किसी समय एक ही जगह रहते थे और उसी कबीले की भाषा से ससार की समस्त आर्य भाषाएँ निकली है। "प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी, केल्ट, त्युतनी, जर्मन और स्लाव, आदि भाषाओ के साथ हमारी सस्कृत का बहुत निकट का सबध था और वह नाता उनके आजकल के वशजो के साथ भी चला आता है। लातीनी प्राचीन इटली की भाषा थी और अब इटली, फ्रास और स्पेन मे उसकी वशज भाषाएँ मौजूद है। प्राचीन केल्ट की मुख्य वंशज आजकल की गैलिक अर्थात् आयरलैंड की भाषा है। जर्मन, ओलन्देज (डच), अग्रेजी, डेन, स्वीडिश, आदि भाषाएँ जर्मन या त्यूतनी परिवार की है। आधुनिक रूस तथा पूर्वी यूरोप की भाषाएँ स्लाव परिवार की है। इन सब भाषाओ का परिवार आर्य-वश कहलाता है।" (जयचन्द्र)। हिन्द-जर्मन-परिवार

की भाषाओं में जो समानता है, उसी से यह अनुमान किया गया है कि, प्राय, समस्त यूरोप के लोग उसी परिवार से निकले हैं, जिस परिवार के भारतीय आर्य थे और भारतीय आर्यों का ऋग्वेद केवल भारतीय आर्यों की ही नहीं, बल्कि, विश्व भर के आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक है। वेद सारी मनुष्य-जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ है। १९ वी सदी में जब इस सत्य का प्रचार हुआ, तब विश्व भर के अनेक विद्वान संस्कृत का अध्ययन करने लगे और इसी अध्ययन के परिणामस्वरूप आर्यवंश के विस्तृत इतिहास की रचना की जाने लगी। संस्कृत को सभी आर्यों की मूल भाषा सिद्ध करते हुए मैक्समूलर ने लिखा था कि संसार भर की आर्य भाषाओं मे जितने भी शब्द है, वे संस्कृत की सिर्फ पाँच सौ धातुओं से निकले है।

विभिन्न भाषाओं के आधार पर भारत में जातियों की जो पहचान की गयी है, उसका उल्लेख करते हुए डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय जनता की रचना जिन लोगों को लेकर हुई है, वे, मुख्यत., तीन भाषाओं मे विभक्त किये जा सकते है, अर्थात् ऑस्ट्रिक अथवा आग्नेय, द्राविड और हिन्द-यूरोपीय (हिन्द-जर्मन)। नीग्रो से लेकर आर्य तक जो भी लोग इस देश में आये, उनकी भाषाएँ इन भाषाओं के भीतर समायी हुई है। असल में, भारतीय जनता की रचना आर्यों के आगमन के बाद ही पूरी हो गयी और जिसे हम आर्य या हिन्दू-सभ्यता कहते है, उसकी नींव भी तभी बाँध दी गयी। आर्यों ने भारत मे जातियों और संस्कृतियों का जो समन्वय किया, उसी से हमारे हिन्दू-समाज और हिन्दू-संस्कृति का निर्माण हुआ। बाद को, मंगोल, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण और तुर्क, जो भी आये, उन्हें इस समन्वय मे दस्तदाजी करने की हिम्मत नही हुई और वे, समर्पण के भाव से, इस समन्वय के सामने सिर झुकाते और उसमे विलीन होते चले गये। इस स्थिति को देखते हुए श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने एक सूक्ति कही है कि "भारतवर्ष की जनता, मुख्यत, आर्य और द्राविड नस्लों की बनी हुई है और उसमें थोडी-सी छौंक शबर और किरात (मुंड और तिब्बत-बर्मी) की है।" सच तो यह है कि रक्त, भाषा और संस्कृति, सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है।

नीग्रो-जाति-विषयक अनुमान

अटकल और अनुमान से जो बातें अभी तक सामने लायी जा सकी है, उनके आधार पर, साधारणत, यह समझा जाता है कि भारत मे पहला आगमन नीग्रो जाति का था। यह जाति भारत में अरब-ईरान के किनारे-किनारे चल कर पश्चिम से अथवा, संभवत, अफ्रीका से आयी थी। इसकी एक शाखा भारत से निकलकर आस्ट्रेलिया भी गयी जहाँ उसके वंशज अबतक मौजूद है। भारत से आस्ट्रेलिया जाते हुए रास्ते में इण्डोनेशिया, पोलीनेशिया और मलेनेशिया में भी इस जाति की टुकडियाँ रह गयी। मलाया, फिलीपाइन, न्यूगिनी और अंडमन में भी जो नीग्रो है, वे भारत से ही गये हुए है। लेकिन

भारत में नीग्रो लगभग खत्म हो चुके हैं। अनुमान यह है कि या तो वे अपने पीछे आने वाले आग्नेय लोगो के द्वारा मार डाले गये अथवा उनमें मिलकर एक हो गये और उनकी अपनी अलग सत्ता नही रह गयी। अब इनके थोडे-से निशान दक्षिण भारत की आदिम जातियों मे अथवा असम की नागा जाति मे बचे हुए हैं। नीग्रो लोग सभ्यता के आदि सोपान पर थे। वे अपना भोजन खेतो से उत्पन्न न करके, जगलों में घूमते हुए फल-फूल तोड कर या जीवो को मार कर प्राप्त करते थे। जब आर्य इस देश में आये, उस समय नीग्रो जाति समाप्त हो चुकी थी। नीग्रो जाति का काल विद्वान् आज से सात हजार वर्ष पूर्व मानते हैं, किन्तु, संभव है, यह काल आज से दस हजार वर्ष पूर्व रहा हो।

भारत के दक्षिणतम भाग मे बसनेवाले काडार और उरली लोग, कदाचित्, नीग्रो सस्कृति से सवद्ध थे। इस अनुमान का एक क्षीण आधार यह भी है कि मलाया मे सेमाङ् नामक जो जगली जाति है, वह बाँस की कघी का प्रयोग करती है। इन कघियों के डिजाइन ठीक वे ही हैं, जैसे डिजाइन काडार जाति की औरतों की कघियो के होते हैं।

इतिहासकार इस जाति के लोगों को प्राचीन प्रस्तर-कालीन मनुष्यों में गिनते हैं। उनकी भाषा का नमूना अब सिर्फ अडमन में ही शेष है। बाकी जगहो पर ये अपने पडोसियो की ही भाषाएँ, कुछ विगडे रूपो मे, बोलते हैं।

नीग्रो जाति के बाद आग्नेय, आग्नेय के बाद द्राविड़ और द्राविड़ के बाद आर्य जाति के आने के बाद, इस देश में सास्कृतिक समन्वय का काम शुरू होता है। किन्तु, नीग्रो और आर्य, इन दो जातियो के बीच समय की काफी दूरी पड़ती है। इसलिए, आर्यो ने हमें जो सभ्यता दी, उस पर नीग्रो सभ्यता का कहाँ, क्या प्रभाव है, यह आसानी से जाना नही जा सकता। फिर भी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि बादुड़ शब्द (जिसका प्रयोग बगाल और बिहार मे एक प्रकार से चमगादड़ के अर्थ मे होता है) नीग्रो भडार का होगा। एक अन्य विद्वान् का अनुमान है, धनुष चलाने की कला नीग्रो जाति की देन है। नीग्रो जाति असभ्य होती हुई भी बडी साहसी रही होगी, अन्यथा, नावो के सहारे वह भारत-समुद्र की सैर करने की हिम्मत नही करती।

औष्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन

सामान्यत, यह समझा जाता है कि हिन्दुस्तान की जनसख्या का एक प्रमुख भाग औष्ट्रिक जाति की देन है। इनका औष्ट्रिक या आग्नेय नाम इसलिए पडा कि ये लोग यूरोप के अग्निकोण मे पाये जाते हैं। इस वग के लोग मादागास्कर और विन्ध्यमेखला से लेकर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक फैले हुए हैं। इनका भारत मे आगमन नीग्रो जाति के बाद हुआ और इस जाति के लोग भारत से होकर कई बार गुजरे थे। इस क्रम मे नीग्रो और मगोल जातियो के साथ उनका वैवाहिक मिश्रण हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही। भारतवर्ष के कोल और मुडा जाति के लोग, असम, वर्मा और हिन्दचीन की मौन-खमेर

जाति, निकोबर द्वीप के निकोबरी तथा इडोनेशिया, मलेनेशिया, और पोलीनेशिया के बहुत-से काले लोग इसी औष्ट्रिक वश की मिश्रित सतान हैं। असल मे, कश्मीर से लेकर प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीप-समूह तक जो भी पक्के काले और वनवासी लोग हैं, उन्हें औष्ट्रिक जाति का ही उत्तराधिकारी समझना चाहिए।

आग्नेय जाति कोई स्वतत्र जाति थी अथवा वह द्रविडो की ही किसी शाखा से निकली थी, इस विषय में भी कभी-कभी प्रश्न उठाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, श्री रत्नस्वामी ने अपनी पुस्तक 'इडिया फ्राम द डान' में यह विचार व्यक्त किया है कि आग्नेय लोग (वनवासी जातियाँ) भी द्रविडो की ही सतान है।[१] इनके पूर्वज कभी इस देश के शासक थे, जिसका प्रमाण यह है कि मारवाड़ के राजा राज्याभिषेक के समय किसी भील के अँगूठे से रक्त लेकर उसका तिलक लगाते थे। कुछ ऐसी ही प्रथा जयपुर में भी प्रचलित थी और क्योझर (उडीसा) के राजा का राजतिलक भी पेरिया जाति के ही लोग सपन्न करते थे। दक्षिण मे तजोर जिले के तिरुवल्लुर मदिर के शैव-उत्सव के समय जिस हाथी पर शिवजी की मूर्ति निकलती है, उस पर चवढरिया (चँवर डुलानेवाला) के रूप में परिया जाति के लोग चढाये जाते हैं।

अब तो केवल कोल और मुडा जाति की ही भाषा ऐसी भारतीय भाषा है जो औष्ट्रिक परिवार की समझी जाती है तथा असम और बर्मा की भी केवल मौन-ख्मेर भाषा ही औष्ट्रिक है। किन्तु, जब आर्य आये थे, तब औष्ट्रिक भाषा इस देश मे खूब प्रचलित थी और उस भाषा के अनेक शब्दो ने आर्य-भाषा-भाण्डार मे प्रवेश पा लिया। विशेषत, वन और वन-जन्तु (Flora and Fauna) सबधी आर्य-भाषाओ मे ऐसे कितने ही शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति औष्ट्रिक धातुओ से बतलायी जाती है।

केवल वनवासी ही नही, गाँवो के पास रहनेवाली अनेक निम्न जातियो के लोगो का जो अत्यन्त विशाल समुदाय है (जैसे डोम, भुइयाँ, मुसहर आदि) वह आग्नेय भडार से आया है। रक्त-मिश्रण के कारण इनके रग-रूप और ढाँचे बिलकुल बदल गये हैं और उनमे से, प्राय, सबने अपने मालिको की भाषा सीख ली है अथवा कजरो के समान कुछ घुमक्कड जातियाँ हैं, जिनकी भाषा मे अनेक भाषाओ का मिश्रित रूप है।

कहा जाता है कि जब आर्य आये, आग्नेय लोग सिन्धु की तराई मे भी विद्यमान थे। आर्यों ने उन्ही का नाम निषाद रखा तथा उनके काले रग और चिपटी नाक की हँसी भी उडायी। निषाद-वश के लोगो के अन्य नाम कोल और भील भी मिलते हैं। ईसा से

---

१ डाक्टर नीलकठ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आव् साउथ इडिया' में लिखा है कि महजोदरो में नर्तकी की जो मूर्त्ति मिली है वह आग्नेय जाति की है। आग्नेय जाति के लोग द्राविड जाति की सतान हैं, ऐसा न कह कर उन्होंने इस सभावना पर विचार किया है कि द्रविड लोग आग्नेय भडार से विकसित हुए है या नही। किन्तु, उनका भी विचार है कि द्रविड बाहर से ही इस देश मे आये हैं।

लगभग १५०० वर्ष पूर्व ही उत्तर भारत के बहुत-से आग्नेय लोग आर्य हो गये, यद्यपि, बौद्ध काल में भी चांडालो की बस्ती और उनकी स्वतन्त्र भाषा के जीवित होने के प्रमाण मिलते हैं। इन चार हजार वर्षों के मिश्रण और समन्वय के बाद भी, हमारे देश में जो भी वनवासी जातियाँ हैं, संभावना यही है कि वे आग्नेय खान्दान की हैं और उनकी भाषाओं का भी कुछ-न-कुछ संबंध आग्नेय भाषा-समूह से है। कहते हैं, जब आर्य भारतवर्ष में आये थे, उस समय द्राविड़ और आग्नेय लोग पड़ोसी के समान रहते थे।

द्राविड़ जाति का आगमन

जैसे पंडितो में इस बात को लेकर मतभेद है कि आर्य, मूलत., भारतवासी थे अथवा भारत मे वे बाहर से आये, वैसे ही, यह बात भी निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती कि द्रविड इस देश के मूल-निवासी हैं अथवा इस देश में वे किसी और देश से आये हैं। आर्य और द्रविड़, दोनों प्रकार के लोग, इस देश में अनन्त काल से रहते आये हैं और हमारे प्राचीनतम साहित्य में इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि ये दोनो जातियाँ बाहर से आयी अथवा इन दोनो के बीच कभी लड़ाइयाँ भी हुई थी। आर्यों का संघर्ष दास और असुर जाति के लोगो से हुआ था,[1] इसका थोड़ा-बहुत प्रमाण है, किन्तु, ये दास और असुर कौन थे, इस विषय में हमारे पास सुनिश्चित प्रमाण नही है।[2] आर्यों ने अपने शत्रु को अनास भी कहा है, किन्तु, अनास से कौन जाति संकेतित होती है, इसका निर्धारण सरल नही है।[3] प्रजाति या रेस (Race) के सिद्धान्त हमारे देश में अंगरेजो के आगमन के बाद प्रचलित हुए, अन्यथा इस बात का कोई भी प्रमाण नही है कि आर्य और द्राविड़ जातियो के लोग एक-दूसरे को विजातीय समझते थे। मैथिल, गौड, कान्यकुब्ज, आदि की तरह, द्रविड शब्द भी यहाँ भौगोलिक अर्थ देनेवाला था। अतएव, जाति के अर्थ में आर्य और द्रविड शब्दो के चलन को बिल्कुल अर्वाचीन मानना चाहिए।

पीछे की ओर दृष्टि डाल कर इतिहास की अतल गहराइयो मे जाने पर भी हम यही

---

१. आरभ में दास शब्द का अर्थ निन्दित नही था। धर्मानन्द कोसम्बी ने 'भगवान बुद्ध' नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि "वेदो में दास तथा दास्, दोनों धातुओं का प्रयोग 'देना' अर्थ मे होता है।" असुर शब्द भी पहले शक्तिशाली के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अवेस्ता मे असुर देवता को कहते थे, जिससे पारसियो का अहुर (ईश्वर) शब्द निकला है।

२ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि आर्यों ने द्रविडो को ही दास, आग्नेय जाति वालो को कोल, भील और निषाद तथा मंगोल-जाति के लोगो को किरात कहा है।

३. सायणाचार्य ने अनास का अर्थ आस्य-रहित अर्थात् वाणी-विहीन किया है। इससे यह आशय लिया जा सकता है कि अनास वे थे, जिनकी बोली आर्यों की समझ मे नही आती थी।

देखते हैं कि आर्य और द्रविड नाम से अभिहित किये जानेवाले भारतवासियो का धर्म एक है, सस्कार एक है, भाव और विचार एक हैं तथा जीवन के विषय मे उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन और बौद्ध, ये आर्य भी थे और द्रविड भी। इसी प्रकार, साहित्य-रचना में भी, शैली और भाव मे, इन दोनो प्रकार के लोगो में पूरी समानता मिलती है। इसके सिवा, उत्तर और दक्षिण मे जो प्राचीन मन्दिर और मूर्त्तियाँ, सगीत और वाजे मिलते हैं, उनमें स्थानीय विशेपताएँ तो है, किन्तु, जाति या सस्कार-गत भेद बिलकुल नही है। भेद है तो सिर्फ यह कि द्रविडो की अपेक्षा आर्यो में गौर वर्णवाले लोग कुछ अधिक हैं तथा जो लोग द्राविड भाषाएँ बोलते है, वे दक्षिण में रहते हैं। बिहार में ओरांव जाति की भाषा और बलूचिस्तान मे ब्रहुई जाति की बोली, उत्तर भारत मे ये दो ही बोलियाँ हैं जिनका द्राविड भाषा-समूह से कुछ साम्य बताया जाता है। यदि इस बात पर विचार करें कि आर्यो के साहित्य मे धर्म का जो रूप वर्णित है, सस्कृति की जो व्याख्या विद्यमान है, उसका वास्तविक प्रमाण कहाँ है, तब तो उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अब द्रविडों मे ही मिलेंगे और इस अनुमान के लिए बहुत बडा आधार निकल आयेगा कि यदि द्रविड भारत के आर्यपूर्व निवासी हैं, तो हिन्दू-सस्कृति भी, अधिकाश में, आर्यो से पूर्व की वस्तु है। आर्य सस्कृति की दीक्षा द्रविडो को आर्यो से मिली, किन्तु, गुरु तो उसे पूरी पवित्रता से जुगा नही सका, हाँ, शिष्य उसे भली-भाँति जुगाये हुए हैं, यह अनुमान उतना प्रबल नहीं होगा जितना यह अनुमान कि द्रविडो के बीच प्रचलित धर्म को आर्यो ने अपने भीतर पचा लिया।

आर्यो और द्रविडो का सास्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता से हुआ कि उसके बिलगाव का प्रयत्न कठिन है। मुख्य कठिनाई यह दीखती है कि जब से हमें लिखित प्रमाण मिलने लगते हैं, इन दोनो जातियो के पारस्परिक मिश्रण की प्रक्रिया उसके पहले ही सम्पन्न हो चुकती है। अतएव, आर्य कहाँ से आये और द्रविड कौन थे, इस सबध में जो कुछ भी कहा जाता है, उसे, मुख्यत, अनुमान ही अनुमान मानना चाहिए। यदि दक्षिण भारत का आर्यो से पहले का इतिहास कुछ ज्ञात होता तो कठिनाई इतनी नही रहती। किन्तु, जैसा डाक्टर नीलकठ शास्त्री ने लिखा है, जैसे उत्तर भारत का इतिहास आर्यो के आगमन के साथ आरम्भ होता है, वैसे ही, दक्षिण भारत का इतिहास भी आर्यो के दक्षिण-आगमन के बाद से ही मिलने लगता है।

महजोदरो (सिंध), हरप्पा (पजाब) तथा नाल (बलूचिस्तान) की खुदाइयो में जिस सभ्यता के अवशेष मिले है, उनके सबंध में अभी तक भी यह नही कहा जा सकता कि वह सभ्यता आर्यो की थी अथवा द्रविडो की या दास और असुरो की। केवल अनुमान है कि यह सभ्यता आर्यपूर्व भारतीय सभ्यता रही होगी इस अनुमान पर से दूसरा अनुमान यह लगाया जाता है कि तब यह सभ्यता द्रविडो की ही रही होगी और उन्ही के बीच दास और असुर जातियाँ रही होगी, जिनसे आर्यो की मुठभेड हुई थी। किन्तु, सिन्धु-सभ्यता

तथा सुमेर-सभ्यता में समानता पायी गयी है।[1] इसलिए, विद्वानों का तीसरा अनुमान यह है कि, हो न हो, द्रविडो के पूर्वज इस देश मे पश्चिमी एशिया से आये थे, जहाँ सुमेर-सभ्यता के प्रमाण मिलते है। इसी अनुमान की पुष्टि में यह कहा जाता है कि जब द्रविड़ बलूचिस्तान के दर्रों से भारत मे प्रवेश करने लगे, तब उनकी एक टोली बलूचिस्तान मे छूट गयी। ब्रहुई बोली और ब्रहुई जाति द्रविड़ों की इसी टोली की यादगार है। किन्तु, कुछ दूसरे विद्वान् यह भी कहते है, कि संभव है, सुमेर-सभ्यता वालों के पूर्वज भारत से ही पश्चिम की ओर गये हो और उन्ही की टोली बलूचिस्तान मे छूट गयी हो। अब कुछ अन्य विद्वानो ने यह अनुमान चलाया है कि द्रविडो के पूर्वज, असल में, भूमध्यसागर के किनारे रहते थे और वही से ये लोग भारतवर्ष में आये। यह मत, इधर हाल में, इतनी बार दुहराया गया है कि अब एक प्रकार से उसे स्वीकृति-सी प्राप्त हो गयी है। ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ये लोग भूमध्यसागर से भारत की ओर चले। रास्ते मे इनकी शाखाएँ ईराक और ईरान मे भी रह गयी, जिन्होने, कदाचित्, सुमेर-सभ्यता की नीव डाली। जो लोग भारत पहुँचे, उन्होने महजोदरो आदि के पास सिन्धु-सभ्यता की स्थापना की। यही कारण है कि सुमेर एवं सिधु सभ्यताओ मे इतना साम्य दीखता है।

किन्तु, यह सोच कर आश्चर्य होता है कि यदि द्रविड पजाब तक फैले हुए थे, तो आज द्राविड भाषाएँ सिमटकर विंध्य के दक्षिण में ही क्यो सीमित है? क्या आर्यो और द्रविडो के बीच इतनी भयकर लडाइयाँ हुई कि एक-एक करके सभी द्रविड विंध्य के दक्षिण में चले गये और उत्तर में अपनी भाषाओ का उन्होंने कही कोई निशान ही नही छोडा? इस विस्मय से एक अन्य अनुमान निकलता है कि भारत मे आर्य पहले आये और द्रविड बाद को। जब आर्य-धर्म भली-भाँति स्थापित हो चुका, तब द्रविड़ लोग समुद्र की राह से आये तथा भारत के नैऋत भाग में बस गये। उन्होने विंध्य के उत्तर जाने की कभी चेष्टा ही नही की। हाँ, भारत के कटि-प्रदेश पर जो मराठे लोग है, उनके यहाँ विवाहादि की रस्मो मे थोडा द्राविड प्रभाव जरूर है। बाकी सारी द्रविड-सस्कृति दक्षिण मे ही सीमित है। इन लोगो के मतानुसार, द्रविडो का भारत में आगमन ई० पू० ५०० मे हुआ है।[2]

यह अनुमान आसमान से टपका-जैसा लगता है। इसके सत्य माने जाने की कोई

---

१. ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व भूमध्य सागर से लेकर सिन्धु की घाटी तक जो सभ्यता फैली हुई थी, वह बहुत-कुछ समान थी। द्रविडो में जो मातृमूलक परम्परा है, वह इमेलाइट लोगो मे भी थी। इसी प्रकार, सर्पपूजा और देवी-माता की पूजा भी उन लोगो में प्रचलित थी। सुमेरिया में देवदासी-जैसी भी कोई प्रथा थी। सुमेरिया में एक ऐसे देवता की भी पूजा चलती थी, जिनका वाहन बैल था।

२ दे० इडो-एशियन कलचर (जनवरी, १९५४ ई०) में प्रकाशित फुरर हैमेन्दोर्फ (Furer Hamendorf) का निबन्ध।

आशा नही है क्योकि यदि द्रविडो का आगमन आर्यो से पूर्व नही माना जाय तो उत्तर और दक्षिण मे प्रचलित ऐतिहासिक परपराओ मे कोई मेल ही नही बैठेगा।

अब सभी इतिहासकार मानने लगे हैं कि द्राविड जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरभ इसी जाति ने किया था। जब द्रविड इस देश में आये, यहाँ आग्नेय जाति वालो की प्रधानता थी और कुछ नीग्रो जाति के लोग भी वर्त्तमान थे। अत, अनुमान किया जाता है कि नीग्रो और आग्नेय लोगो की बहुत-सी बातें पहले द्राविड सभ्यता में आयी और पीछे, द्रविड-आर्य-मिलन होने पर, आर्य-सभ्यता में भी। द्रविडो ने इस देश मे कृपि का विकास किया, समुद्र-यात्रा की परपरा आरभ की, सिंचाई के लिए नदियो को बाँधने की प्रथा चलायी, बडे-बड़े मन्दिरो और भवनो का निर्माण किया तथा नगर-सभ्यता की नीव डाली। वे समाज की मातृ-मूलक व्यवस्था के भी प्रवर्तक हुए और शैव तथा शाक्त धर्म तथा भक्तिवाद का भी उन्ही ने विकास किया।

प्रकरण २

आर्य-द्राविड़ समस्याएँ

द्रविड़ कौन हैं ?

उन्नीसवी सदी मे जब प्रजाति का सिद्धान्त (रेस-थियरी) भारत पर लागू किया जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि आर्य और द्रविट, ये अलग-अलग प्रजातियों के लोग है, तब इतिहास लिखनेवालो के इस प्रयास से राष्ट्रीय भारत को चोट पहुँची थी। भारतवासियो के कान में यह बात पहले ही पहल पड़ी थी, अतएव, वे चौंके और खिन्न भी हुए। इस विस्मय की निश्छलतम अभिव्यक्ति हम स्वामी विवेकानन्द मे पाते है। "अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्यो की एक खास प्रजाति थी जिसका नाम द्रविड़ था और जो दक्षिण भारत मे रहती थी और वह उत्तर भारत मे रहनेवाली आर्य नामक प्रजाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में जो ब्राह्मण है, केवल वे ही थोडे-से आर्य है जो उत्तर भारत से दक्षिण को गये थे। दक्षिण भारत में बाकी जितने लोग है, उनकी जाति और प्रजाति ब्राह्मणो की जाति और प्रजाति से भिन्न है। श्रीमान् भापाशास्त्री जी! आप क्षमा करेंगे, ये सारी बाते निराधार है।"[1]

ये भ्रान्तियाँ जहाँ से उत्पन्न हुई, स्वामी जी ने ठीक उसी विन्दु पर उँगली रखी है। आर्यो और द्रविड़ों को परस्पर भिन्न बताने का एक मात्र कारण यह है कि आर्य और द्राविड भाषाएँ दो अलग परिवारो की भापाएँ मानी जाती है। किन्तु, भापा भिन्न होने मात्र से आदमी किसी अलग जाति का हो जाता है, यह अनुमान असत्य है। स्वयं भापा-शास्त्री भी उसे अब सदिग्ध मानने लगे है। अँगरेजी और फ्रेंच अब अफरीका मे भी बोली जाती है। लेकिन, अफरीकी लोग उस नृवंश के नही है जिससे अंगरेज और फ्रांसीसी लोग निकले है। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच की एकता इतनी सघन है कि कही दोनो भागो की भापाएँ एक ही परिवार की हुई होती तो आर्यो और द्रविड़ो के दो होने की बात किसी को सूझती भी नही।

प्रस्तर-युग भारत से बाहर नहीं, भारत में भी बीता था। प्राचीन प्रस्तर-युग के निशान भारत में भी मद्रास, बबई, उडीसा, पजाब, गुजरात आदि क्षेत्रों के, कम-से-कम, दस स्थानो में मिले है जो इस बात के प्रमाण है कि इस देश में मनुष्य अत्यन्त प्राचीन काल में भी रहते थे। यदि पौराणिक परंपरा को ले तो इस देश की यह मान्यता रही है कि आदमी पहले-पहल भारत मे ही जनमा था और सभ्यता का आरभ भी इसी देश में

---

१. द फ्युचर आव् इंडिया—स्वामी विवेकानन्द

हुआ। पठानो के समय तक यह विश्वास भारतीयो के भीतर इतना बद्धमूल था कि अमीर खुसरो ने, मुसलमान होते हुए भी, बडे ही जोर के साथ यह बात लिखी है कि आदम और हौवा जब स्वर्ग से निकाले गये, तब वे आकाश से इसी भारत-भूमि मे उतरे थे। लेकिन, आधुनिक इतिहासकारो का चक्र इस तेजी से चला कि अब भारतीय विद्वान् भी यही मानते हैं कि नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड और आर्य, ये सारे के सारे लोग इस देश में बाहर से ही आये और इस देश की धरती, लाखो वर्ष तक, आदमी की आबादी से खाली, यो ही, बजर पडी हुई थी। यूरोपीय तर्क आधुनिक बुद्धि का सम्मोहनास्त्र है। इसका उपयोग वे तो करते ही है जिनका उद्देश्य काटना है, पसन्द यह उनको भी आता है जो काटे जाते है।

हम हुए, तुम हुए कि 'मीर' हुए,
एक ही जुल्फ के असीर हुए।

यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि आदमी भारत में जनमा ही नही था, तब हम इस स्थापना को कबूल कर सकते हैं कि द्रविड इस देश में बाहर से आये होगे। किन्तु, तब भी यह बात किसी भी प्रकार बुद्धि में नही आती कि द्रविड एक समय सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे और आर्यो ने उन्हें इस प्रकार खदेड कर दक्षिण पहुँचा दिया कि उत्तर में उनका कोई भी चिह्न बाकी नही रहा। उन दिनो लडाइयो मे जोश-खरोश या प्रतिशोध की मात्रा बहुत अधिक नही रहती होगी। यह वह समय था जब लोग बसने की जगह भर चाहते थे और बैठने की जगह मिल जाने पर धक्कमधुक्की तो चलती होगी, किन्तु, शत्रुता भयानक रूप नही लेती होगी। और यदि यही माने कि आर्यो ने प्रतिशोधपूर्वक द्रविडो को खदेड कर विन्ध्य के पार पहुँचा दिया तो आरभिक आर्य-साहित्य में दक्षिण देश का उल्लेख क्यो नही है? वेद और ब्राह्मण सप्त-सैन्धव का नाम लेकर रह जाते हैं। उससे बाद के साहित्य से ब्रह्मावर्त तक का भूगोल समझा जा सकता है। मध्य देश का भूगोल कुछ और बाद को उभरता है। स्वय पाणिनि (सातवी सदी ई० पू०) को दक्षिण देश का पता था या नही, यह सन्देह का विषय है। ऐसी स्थिति में कल्पना यही ठीक लगती है कि यदि द्रविड बाहर से आये तो वे समुद्र की राह से आये होगे और उत्तर भारत में बहुत कम रहे होगे। अन्यथा वे दक्षिण भारत में आरभ से ही रहते आये होगे और आर्यो के साथ उनका सम्बन्ध आक्रमण के क्रम में नही, आर्यो के भारत मे बस जाने पर, धीरे-धीरे ही, बढा होगा।

इस सम्बन्ध मे दक्षिण भारत के दो विद्वानो के मत, प्रमुख रूप से, उल्लेखनीय है। श्री पी०टी०श्रीनिवास आयगार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री आव् द तमिल्स" में यह विचार प्रकट किया है कि प्राचीन काल मे उत्तर भारत को दक्षिण भारत का ज्ञान नही था, ऐसा मानना बिलकुल निराधार है। आयगार मानते है कि वैदिक ऋचाओ में मोती का उल्लेख

मिलता है और ये मोती, अवश्यमेव, दक्षिण भारत से ही जाते होगे। सस्कृत मे मोती का एक नाम मुक्ता भी है। आयगार महोदय का मत है कि मुक्ता शब्द, कदाचित्, तमिल शब्द 'मुत्तम' का सस्कृत रूप है जिसका अर्थ मोती होता है।

डाक्टर भण्डारकर ने भी सुत्तनिपात का हवाला देकर यह प्रमाणित किया था कि उत्तर और दक्षिण भारत का सपर्क बुद्ध के जीवन-काल मे भी था। बावरी नामक ब्राह्मण गोदावरी के तट पर रहता था। उसने बुद्ध की अभ्यर्थना के लिए अपने सोलह शिष्यो को उत्तर भेजा था। भण्डारकर के मतानुसार दक्षिणापथ से सपर्क के, उन दिनो, दो मार्ग थे। एक तो सिन्धु मुहाने के पास से समुद्र होकर, दूसरा अवन्ती की माहिष्मती नगरी होकर जो नर्मदा पर अवस्थित थी।

श्रीरामचन्द्र दीक्षितर ने इस प्रश्न पर बिलकुल नये ढग से विचार किया है। सबसे पहली शका उन्होने यह उठायी है कि जब यह सिद्ध बात है कि भूगर्भ-शास्त्रीय युगो मे मानव-प्राणी दक्षिण भारत मे मौजूद थे, तब यह क्यो नही माना जाय कि द्रविड उसी भाण्डार से विकसित हुए है। प्राचीन प्रस्तर-युग से जब मानव-प्राणी नवीन प्रस्तर-युग मे पहुँचा, तब जीवन-निर्वाह के लिए उसने अलग-अलग रास्ते अपनाये। कुछ लोग पशुपालन और कृषि मे लग गये, कुछ लोग मछली मारकर जीवन यापन करने लगे और कुछ लोगो ने जगलो मे और पहाडो पर रहकर, पहले की भाँति, शिकारी जीवन बिताना ही पसन्द किया। तमिलनाड मे आदिम जातियो के लिए 'विल्लवर' और 'मीनवर', इन दो विशेषणो का प्रयोग चलता है। विल्लवर वे थे जो तीर-धनुष लेकर शिकार करते थे और मीनवर वे थे जो मछली मारकर खाते थे। विल्लवर से उत्तर भारत के भीलो का सम्बन्ध माना जा सकता है। वे सभी लोग जो वनो मे और पर्वतो पर रहकर कुछ खेती और कुछ शिकार से जीवन यापन कर रहे है, उनकी सस्कृति इन्ही विल्लवरो की सस्कृति है।

जिन्होने मछली मारना और खेती करना पसन्द किया, वे समुद्र-तट पर रह गये अथवा समतल मे। केवल शिकारी-सप्रदाय भारत के विभिन्न जगलो मे फैल गया। समुद्र के समीप होने से इन लोगो ने नौका खेने मे दक्षता प्राप्त की और बाद को दूर-दूर तक की समुद्र-यात्रा भी वे करने लगे। आगे चलकर हिन्द-एशिया की ओर जानेवालो मे दक्षिण भारत और कलिंग के ही लोग प्रधान थे। प्रागैतिहासिक काल मे भारत का पश्चिमी देशो के साथ व्यापार का जो सम्बन्ध था, उसमे भारत के प्रतिनिधि दक्षिण भारत के ही लोग थे। अवश्य ही, नौविद्या अथवा जहाजरानी का अनुभव भारत मे सबसे अधिक दक्षिणवालो को ही था, क्योकि समुद्रतटवासी होने के कारण यह विद्या उन्ही ने विकसित की थी। पश्चिमी विद्वानो ने यह बताने की कोशिश की है कि मेसोपोटामिया और मिश्र मे तथा भूमध्यसागर के किनारे जो सभ्यता प्रचलित थी, उसके साथ द्राविड सभ्यता की यत्किंचित् समानता देखी जाती है। इस समानता का कारण

दीक्षितर यह बताते हैं कि द्रविड ही भारत से वहाँ जल और स्थल मार्गों से गये होगे और, अजब नही कि, इसी क्रम मे उन्होने उन लोगो से सपर्क स्थापित किया हो, जिनकी सभ्यता के निशान मोहजोदरो और हरप्पा में पाये गये हैं।

द्रविड कौन हैं, इस प्रश्न का विवेचन करने को जितने भी सिद्धान्त बनाये गये, वे सब के सब गोल-मटोल और अनुमान पर आधारित हैं तथा उनमे से कई ऐसे हैं जो परस्पर ही एक दूसरे का खडन करते हैं। इलियट स्मिथ और पेरी का कथन है कि सारी सभ्यता मिस्र से फैली है, अतएव, द्रविड मिस्र से ही भारत गये होगे। कर्नल होल्डीच का ख्याल है कि द्रविड मेसोपोटामिया के पास रहते थे और वही से वे भारत गये। होल्डीच का यह भी कहना है कि ब्रहुई लोग मगोल जाति के थे। उन्होने द्रविडो को पराजित किया था और बाद को उन्होने द्रविडो की भाषा अपना ली। एक अन्य सिद्धान्त यह है कि द्रविड सामी जाति के थे। एक सिद्धान्त के अनुसार वे तूरानी भडार से निकले हैं। यह भी कहा जाता है कि ब्रहुई जाति द्रविड की ही एक शाखा थी, जो बाहर से भारत आयी थी। कुछ विद्वान् यहाँ तक गये हैं कि द्रविड लोग मगोल-भडार के हैं।

इन सब अनुमानो के विरुद्ध जो नया सिद्धान्त आया है कि द्रविड दक्षिण भारत के ही मूल निवासी हैं, उसका आधार भी बहुत ठोस नही है। किन्तु, यह सिद्धान्त भारतीय परपरा को उलट-पुलट होनें से बचाता है। यह इसकी बहुत बडी विशेषता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में मुख्य बाधाएँ चार हैं —

१—यदि द्रविड दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुए और वही उन्होंने अपनी सभ्यता का विकास किया तो भूमध्यसागर के किनारे द्राविड सभ्यता का प्रभाव क्यो है ?

२—ब्रहुई जाति की भाषा द्राविड भाषा से क्यो मेल खाती है ?

३—छोटानागपुर और मध्य भारत के मुडा लोगो की भाषा का द्राविड भाषा से मेल क्यो है ?

४—सिन्धु-घाटी की सभ्यता किस जाति की सभ्यता थी ?

पाश्चात्य पण्डित, बहुत सोच-विचार कर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राचीन यूरोप मे जो लोग बसे, उनकी तीन शाखाएँ थी, आलपाइन, नार्डिक और भूमध्यसागरीय। भारतीय जनता के साथ इन तीन शाखाओ की समता उन्हें पहले भाषा को लेकर दिखायी पडी। बाद मे उनका मत बन गया कि भारतवासियो के पूर्वज इन्ही तीनो शाखाओ के प्राचीन लोग थे। एफ० जे० रिचार्ड्स ने लिखा है कि "द्राविड भारत और भूमध्य-सागरीय क्षेत्र के बीच समानता की इतनी अधिक बाते हैं कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती।" यही मत इलियट स्मिथ और डाक्टर स्लेटर[1] का भी है। श्री रामचन्द्र दीक्षितर निश्चयपूर्वक मानते हैं कि इस समानता का कारण यह नही है कि अत्यन्त प्राचीन

१. Dravidian elements in Indian culture—by Gilbert Slater

काल मे भूमध्यसागरीय लोग ही भारत आये (और उत्तर भारत के सभी अंगो को छोड़कर) सीधे दक्षिण चले गये। वल्कि, अधिक सभावना इस वात की है कि दक्षिण के लोग ही समुद्र-मार्ग से अथवा स्थल-मार्ग से क्रेटान और एजियन तक पहुँचे होंगे। उन्ही मे से कुछ लोग वलूचिस्तान की ओर भी गये होगे, जिनका प्रभाव मोहनजोदरो मे दिखायी पड़ता है। यह अनुमान केवल दीक्षितर का ही नहीं है, प्रत्युत, वर्षों पूर्व हर्बर्ट रिजले ने भी यही वात कही थी। द्राविड़ सभ्यता का, भाषा-शास्त्र और नृवंश-शास्त्र के अनुसार, अध्ययन करने के बाद सबसे पूर्व रिजले ने ही यह स्थापना रखी थी कि द्रविड भारत मे वाहर से नही आये, प्रत्युत, वे दक्षिण भारत के मूल निवासियों की संतान है।[1]

ब्रहुई भाषा का गठन और रूप तो अपना है, किन्तु, शब्द उसमें आर्य, ईरानी और द्राविड भाषाओं के पाये जाते हैं। द्राविड भाषा के शब्द, वैसे तो कम है, किन्तु, जो है वे अत्यन्त प्रमुख है। मुँह, कान, आँख, दिमाग आदि अर्थ देनेवाले शब्द ब्रहुई मे द्राविड़ भडार के है। किन्तु, इससे इतना ही सिद्ध होता है कि द्राविड और ब्रहुई जातियाँ कभी आपस मे साथ-साथ रही होगी। वे एक वश की सतानें नही है। वाशिक दृष्टि से ब्रहुई लोग ईरानी मालूम होते हैं, अतएव, यह अनुमान गलत है कि वे द्राविड खान्दान के है।

द्राविड और मुडारी भाषाओ के वीच साम्य दिखाकर यह कहा जाता रहा है कि मुण्डा और द्रविड, ये दोनो एक खान्दान के हैं। किन्तु, डाक्टर ग्रियर्सन का निश्चित मत है कि द्राविड और मुण्डारी भाषाओ के बीच कोई भी साम्य नहीं है। और यही मत डाक्टर काल्डवेल का भी है। सभव है, बहुत प्राचीन काल मे द्राविड भाषा की कुछ थोडी छौंक मुण्डारी भाषा मे भी पड़ी हो, जैसी छौक स्लाव भाषाओ मे अब संस्कृत की दिखायी देती है; किन्तु, इतने से ही दो भाषाएँ एक परिवार की नही मानी जा सकती। मुण्डारी भाषा का साम्य यदि किसी अन्य भाषा से दिखाया जा सकता है तो वह भाषा तिव्वत-वर्मी अथवा मान-खमेर भाषा ही हो सकती है। यह भी ध्यान देने की वात है कि कोल लोगो के वारे में एक अनुमान यह भी रहा है कि वे भारत में ईशान कोण से आये थे, जबकि द्रविडो के वारे मे लोग मानते आये है कि उन्होने भारत के भीतर प्रवेश वायव्य कोण से किया था। यही कुछ देखकर स्टेन कोनो ने यह मत रखा है कि द्राविड़ भाषाएँ एक अलग परिवार की भाषाएँ है, उनका मुण्डारी अथवा मान-खमेर भाषाओ से कोई मेल नही है।[2] नीग्रो और मुण्ड लोग विन्ध्य से दक्षिण कभी बसे थे या नही, यह वात निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती। अतएव, द्राविड और मुण्ड भाषाओ का साम्य और भी सदिग्ध हो जाता है।

सिन्धु-सभ्यता के रचयिता कौन थे, इस विषय मे तीन मत प्रचलित है। सर जान

---

१. Peoples of India by Herbert Risley

२. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका १४ वाँ सस्करण, जिल्द १५

मार्शल का अनुमान था कि इस सभ्यता के निशान द्राविड सभ्यता के निशान मालूम होते है। कुछ दूसरे लोगो ने यह अनुमान लगाया है कि, हो न हो, सिन्धु-सभ्यता के निर्माता आर्य थे। एक तीसरा मत यह भी है कि यह सभ्यता न तो आर्यों की थी, न द्रविडो की। उसके कर्त्ता कोई और लोग थे जिनका पता लगाना तव तक कठिन है, जब तक मोहजोदरो और हरप्पा में पाये गये अभिलेख पढे नही जाते हैं। इस दृष्टि से अभी निश्चयपूर्वक यह भी नही कहा जा सकता कि यह सभ्यता वेदो से पूर्व की है अथवा उनके वाद की।

इस विपय मे एक साधारण अनुमान यह है कि वहुत प्राचीन काल मे पजाव से लेकर ईरान की खाडी तक कोई एक ही सभ्यता प्रचलित थी, जिसका प्रसार पश्चिम में सुमेर, वैबिलोन और मिश्र तक हुआ था। यदि दीक्षितर महोदय[1] की यह स्थापना स्वीकार कर ली जाय कि द्रविड दक्षिण में थे और साहसिक होने के कारण उन्होंने ही सिन्धु घाटी और वैविलोन जाकर वहाँ रहनेवालो को अपनी सभ्यता से प्रभावित किया था, तो सारी समस्याओ का समाधान मिल जाता है। टूटी कडियो को जोडने और खाली जगहो को अनुमानो द्वारा पूर्ण करने से जो चित्र सामने आता है, वह यह है कि सिन्धु-सभ्यता वेद-पूर्व सभ्यता थी और उसके भीतर भारत की वेद-पूर्व सस्कृति के असख्य उपकरण समाहित थे। आर्यों का सघर्ष इसी सभ्यतावालो से हुआ था और आर्य जब कश्मीर से नीचे उतर कर भारत मे फैले, तव उन्होने इसी वेद-पूर्व सभ्यता को भारतीय सभ्यता का आधार बनाया।

आर्य और द्राविड़ संज्ञाएँ

"पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि आलपाइन, नार्डिक और भूमध्यसागरीय लोग एक खान्दान के थे। अतएव, आर्यों और द्रविडो को भी, दूर पर, वे एक ही खान्दान के मानते हैं। किन्तु, भारत में वे उन्हे एक नही मानते। श्री बी० एस० गुहा की छोटी-सी पुस्तिका "रेस अफीनिटीज आव् द पीपुल्स आव् इडिया" की समीक्षा करते हुए सर आर्थर कीथ ने सन् १९३६ ई० मे लिखा था कि सीमा-प्रान्त के पठानो और त्रावणकोर की वन्य जातियो को मिलानेवाला सेतु अभी भी मौजूद है। लेकिन्, सभी विद्वान् यही कहते जा रहे है कि भारत में प्रजाति-गत जो भिन्नताएँ है, वे इस कारण कि भारत के सभी लोग भारत के वाहर से आये हैं। यह देखने की किसी ने कोशिश ही नही की कि भारत की वे जातियाँ कौन-कौन है, जिनका उद्भव और विकास भारत मे ही हुआ है।"[2]

जब यूरोप को प्रजातिवाद से उत्पन्न कालकूट से पाला पडा, तव सन् १९३९ ई० में

---

१ दे० रामचद्र दीक्षितर की दो पुस्तके (1) Origin and spread of the Tamils और (2) Pre-historic South India

२ Man (लदन, १९३६, भाग २९)

जूलियन हक्सले[1] ने कहा था कि "प्रजातिवाद का सिद्धान्त झूठा भी है और खतरनाक भी।" आर्य शब्द का प्रयोग अँगरेजी मे पहले-पहल सन् १८५३ ई० मे मैक्समूलर ने किया था और १९३९ ई० मे आकर हिटलर ने प्रमाणित कर दिया कि आर्यों को प्रजाति मानने का सिद्धान्त, सचमुच, खतरनाक है। भारत को भी यह नही मानना चाहिए कि आर्य और द्रविड नाम दो प्रजातियो के नाम है। मैक्समूलर को जब अपनी गलती मालूम हुई, उन्होने स्वय घोषणा करके कहा था, "जब मै एरियन शब्द कहता हूँ, तब मेरा अभिप्राय न रक्त से होता है, न अस्थि, बाल और खप्पर से। मेरा तात्पर्य केवल उन लोगो से है जो आर्य भाषा बोलते है।" बस, आर्य शब्द का इतना ही अर्थ भारत के लिए भी ठीक है।

इसी प्रकार, द्रविड़ शब्द भी भारत मे प्रजाति-वाचक नही, स्थान-वाचक ही रहा है। यदि प्रजाति की यूरोपीय परिभाषा की दृष्टि से देखा जाय तो गुजरात और महाराष्ट्र में प्रधानता आर्य-वंश की होनी चाहिए। किन्तु, प्राचीन भारतवासी यह नही मानते थे। द्रविड़ स्थान का विशेषण था और "पचद्रविडा." में पुराणकार द्रविड़, आन्ध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुजरात—इन पाँचो को गिना करते थे। और भाषाओं को लेकर भी आर्यो और द्रविडो के बीच कोई मतभेद नही था। द्रविड ऋषि यज्ञ के पुरोहित होते थे। उन्होंने शास्त्रो और पुराणो की भी रचनाएँ की है। इसी प्रकार, तमिल के सगम-साहित्य की रचना में बहुत-से ब्राह्मण ग्रन्थकारो का भी योगदान था।

द्रविड़ शब्द सस्कृत का शब्द है, जिसका निर्माण तमिड़ के वजन पर किया गया था। मनु ने द्रविड़ शब्द का प्रयोग उन लोगो के लिए किया है जो द्राविड़ देश मे बसते थे। कुमारिल भट्ट ने उसका प्रयोग भाषा की सूचना देने को किया है, यथा, आन्ध्र-द्रविड-भाषा। हमारे पूर्वजो ने द्रविड शब्द का अर्थ प्रजाति नही रखा था और हमारे लिए भी यही उचित है कि हम यूरोप से आये हुए प्रजातिवाद का जहरीला अर्थ अपने शब्दो में न ठूँसे।

भाषा-भिन्नता से घबरा कर अलग प्रजातियो की कल्पना को सत्य मान लेना अयोग्य है। सस्कृत की जितनी समानता यूरोपीय भाषाओ से है, उससे अधिक समानता भारत की आज की उत्तरी और दक्षिणी भाषाओ मे देखी जा सकती है। शब्द के स्थान पर शब्द बैठाकर भी हम भारत की एक भाषा के साहित्य को भारत की दूसरी भाषा मे ले जा सकते है। किन्तु, यूरोप की जो भाषाएँ संस्कृत की बहने कही जाती है, उनका साहित्य, इसी आसानी से, भारतीय भाषाओ मे नही लाया जा सकता।[2]

---

१. Race In Europe—आक्सफोर्ड पैम्फलेट नं० ५

२ It is surmised, not incorrectly, that all the languages of India could be traced to one original family of languages and this family cannot be Indo-Germanic as is assumed, but native to the soil, having its birth in neolithic times, if not earlier. This is

आर्यों का मूल-स्थान

आर्य भारत में बाहर से नही आये, यह मानने का मुख्य आधार यह है कि आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद, जो मानव मात्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है, भारत में ही मिलता है। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि यदि आर्य भारत में अन्य देशो से आये तो वेद मे उन स्थानो के नाम क्यो नही मिलते अथवा आर्य उन देशो की याद क्यो नही करते है जहाँ से चलकर वे भारत आये थे। एक तीसरा कारण और है जो पहले से सम्बद्ध है। पश्चिमी विद्वान् यह कहते है कि आर्य पहले मध्य एशिया अथवा रूस के दक्षिण भाग में रहते थे और वही से फैलकर वे यूरोप और भारत गये। यदि यही बात ठीक है तो आर्यो ने वेद के समान कोई प्रामाणिक साहित्य अपने मूल-स्थान मे क्यो नही छोडा ? यह भी कि यदि आर्यो का मूल-निवास भारत से बाहर था तो ऐसा क्यो है कि सस्कृत के शब्द भारत की सभी भाषाओ में तो बहुतायत से मिलते है, किन्तु, यूरोप की भाषाओं में उनकी सख्या अत्यन्त न्यून है ? एक चौथे प्रमाण के रूप में यह बात भी काफी जोर से कही जाती है कि 'भारतीय आर्यो की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परपरागत आख्यानो में उनके उत्तर-पश्चिम से आने की बात कही नही है। उलटा, उसमें ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती के काँठे से, भारत के अन्य भागो की तरह, उत्तर-पश्चिम की ओर भी फैले।"[1] यह भी कहा जाता है कि वेदो के अनुसार सोम-लता मुजवन्त पर्वत पर पायी जाती थी जो पजाब के उत्तर मे अवस्थित है। अतएव, आर्यों का मूल-अभिजन पजाब ही रहा होगा। सहिताओ मे जिस सप्त-सैन्धव देश का उल्लेख मिलता है, वह इसी पजाब में था।

यह ठीक है कि वैदिक सहिताओ से यही विदित होता है कि आर्य जहाँ रहते थे, उस देश को वे सप्त-सैन्धव[2] कहते थे। बाद को वे अपने देश को ब्रह्मावर्त कहने लगे और उसके भी बाद चलकर मध्य देश। ये तीनो नाम यह सकेत देते है कि आर्य पहले सिन्धु नदी और उसकी शाखाओ के पास थे, उसके बाद वे दक्षिण-पूर्व की ओर बढे और अपनी भूमि को ब्रह्मावर्त कहने लगे और उसके बाद कुछ और आगे बढने पर उनका क्षेत्र मध्य देश कहलाने लगा। आर्यों के प्रसार की दिशा प्रयाग से पजाब की तरफ नही थी, वे

---

certainly true if we make a comparative study of the North Indian and South Indian vernacular dialects, for, in both we see the same fundamental grammatical structure By substituting one word for another it is easy to translate these languages from one to another

(V R. Ramchandra Dikshitar in Pre-historic South India)

१. इतिहास-प्रवेश

२ सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु, इन सात नदियो से सेवित भू-भाग

पंजाब से ही फैलकर प्रयाग पहुँचे थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि आर्य यदि, आरम्भ से ही, सप्त-सैन्धव में रहते आये थे तो उनके साहित्य से यह क्यों जाहिर होता है कि सप्तसिन्धु के किनारे उन्हें शत्रुओं का सामना करना पड़ा था, दस्युओं और निषादों में लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं और भारत में आगे बढ़ने में उन्हें काफी मशक्कत हुई थी?

द्रविड़ों और आर्यों के मूल-स्थानों के बारे में जितने भी सिद्धान्त प्रचलित हैं, वे सब अनुमान और अटकल पर आधारित हैं। किन्तु, तब भी, आर्यों के मूल-अभिजन की समस्या उतनी उलझी हुई नहीं है जितनी उलझन द्राविड़ समस्या में दिखायी पड़ती है। उदाहरणार्थ, आर्य उन देशों की याद क्यों नहीं करते जहाँ से वे भारत आये थे, इस प्रश्न का समाधान इस अनुमान से मजे में हो जाता है कि उन दिनों भारत और ईरान के बीच सीमा नाम की कोई चीज नहीं थी। अब, प्राय., यह मत बहुग्राह्य हो गया है कि आर्यों का मूल-अभिजन रूस के दक्षिण में था और वहीं से आर्यों की कुछ शाखाएँ पश्चिम की ओर चलकर यूरोप पहुँच गयीं और कुछ शाखाएँ ईरान चली आयीं। उस समय न तो देश बने थे, न मानवों की टोलियाँ एक भाग से दूसरे भाग तक दौड़ कर जाती थीं। लोग, धीरे-धीरे, फैलते हुए आगे बढ़ते थे और जहाँ जीवन-यापन की सुविधाएँ उपलब्ध होतीं वहाँ वे सदियों तक रुके रहते थे। इस क्रम में दक्षिणी रूस से ईरान तक जाने में उन्हें कई सौ वर्ष लगे होंगे और ईरान से भारत आने में भी शताब्दियाँ लग गयी होंगी। अतएव, यदि भारत को आर्यों ने अपने लिए सर्वथा नया देश नहीं समझा तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

इस बीच आर्यों की मूल-भाषा कहाँ उत्पन्न हुई अथवा उसका मूल-रूप क्या था, यह सब जानने का हमारे पास कोई आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में इतना अनुमान यथेष्ट समझा जाना चाहिए कि जो आर्य मध्य एशिया से यूरोप गये, उनके साथ मूल आर्य भाषा का वही रूप गया जिसे लेकर ईरान जानेवाले आर्य ईरान पहुँचे थे। बाद को इन दो शाखाओं के आर्य परस्पर कभी मिले नहीं, अतएव, उनकी भाषा स्थानीय प्रभावों से भीगते-भीगते, अन्त में, बहुत भिन्न हो गयी।

जब आर्य ईरान में थे, उस समय संस्कृत और ईरानी भाषाएँ दो नहीं, एक ही भाषा थीं। जेन्दावेस्ता के श्लोक संस्कृत श्लोकों में आसानी से परिवर्तित किये जा सकते हैं। किन्तु, यही समानता आज की फारसी और हिन्दी में नहीं पायी जाती, यद्यपि, हिन्दी और फारसी, दोनों ही भाषाएँ एक ही खान्दान की हैं। यह भेद इस कारण हुआ कि विशेष प्रकार की ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ईरान में प्रचलित संस्कृत बदलते-बदलते फारसी हो गयी और भारत में संस्कृत से उत्पन्न नयी भाषाएँ फारसी से बहुत भिन्न हो गयीं। तब भी ध्यान खींचनेवाली सबसे बड़ी बात यह है कि आर्यों की मूल-भाषा, संस्कृत की रक्षा केवल भारतवर्ष में हुई। और देशों में संस्कृत के कुछ थोड़े-से शब्द बचे हैं, जो कठिनाई से पहचाने जाते हैं। भारत में वे अपने मूल-रूप में विद्यमान

है।[1] और देशो में आर्यो की मूल भाषा रूपान्तरित होकर नयी-नयी भाषाओ में बदल गयी। केवल भारत में सस्कृत ने नयी भाषाओ को जन्म देकर भी अपने अस्तित्व को कायम रखा है। उसमें आज भी पत्र निकलते है, नया साहित्य लिखा जाता है और बौद्धिक विषयो पर शास्त्रार्थ चलता है।

आर्यो की शाखाएँ जब यूरोप और ईरान की ओर चली, तब आर्यो को लेखन का ज्ञान था या नही, यह अज्ञात है। किन्तु, यह माने बिना नही चल सकता कि आर्य ईरान से पजाब ईसा से तीन हजार वर्ष पहले पहुँच चुके थे अथवा उस समय ईरान से पजाब तक वे सर्वत्र भरे थे। वेदो की रचना का आरभ उन्होने, कदाचित्, बाद को पजाब आने पर किया, किन्तु, अपनी सभ्यता का विकास वे उससे पहले से करते आ रहे थे। वेद की ऋचाएँ किसी असभ्य या अर्ध-सभ्य जाति की रचना नही है। उनसे सकेतित सभ्यता अत्यन्त पुष्ट और परिमार्जित दिखायी देती है तथा वेदो की शैली साहित्य की सुविकसित शैली मानी जाती है। सोचने की एक बात यह भी है कि वेदो के सूक्त समाचार-पत्रो के स्तभ नही है जिनमे शाम की घटनाएँ सुबह को छप जाती है, न वे दैनन्दिनी के पृष्ठ है जिनमें ऋषि हर रोज की घटनाएँ लिखा करते थे। वेद साहित्य है और साहित्य मे, मुख्यत, ऐसी घटनाएँ ही प्रवेश पाती है जो परपरा में समा चुकी हो। इस दृष्टि से वेदो को यदि १५०० ई० पू० की रचना माने, तब भी यही समझना चाहिए कि उनमें उल्लिखित घटनाएँ हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व की घटनाएँ रही होगी।

जो लोग यह मानते है कि आर्य ब्रह्मावर्त देश के वासी थे और वही से वे ईरान और यूरोप की ओर गये, उनके विरुद्ध दो युक्तियाँ अत्यत प्रबल है। पहली तो यह की भारत की भूमि इतनी सुखदायिनी रही है कि जो जाति यहाँ एक बार बस गयी, वह फिर कभी

---

१ शब्द-साम्य की खोज बडी ही अद्भुत और मनोरजक प्रक्रिया है। पेटर, फादर, पितृ और ब्रदर, बिरादर, भ्रातृ में जो साम्य है, वह अत्यत स्पष्ट है। किन्तु, साम्य कुछ ऐसे शब्दो मे भी खोजा जा सकता है जहाँ उसकी कोई आशा नही दीखती। उदाहरणार्थ, भाषाशास्त्रियो के अनुसार अगरेजी का tooth शब्द सस्कृत के दन्त से निकला है और hand शब्द हन् धातु से। nose का उत्पत्ति स्थान नस् है और cup का उद्गम कुप्य। इसी प्रकार, station शब्द स्था से, कही न कही, जुडा हुआ है और sound स्वन का वशज है। मन से mind, भण् से phone और ध्वनि से tone का जन्मे हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य नही। सस्कृत का सूनु शब्द पुत्र, सूर्य और अनुज का अर्थ देता था। यूरोप में अनुज अर्थ तो लुप्त हो गया, लेकिन, son और sun विद्यमान है जो, क्रमश, पुत्र और सूर्य का अर्थ देते है। donation शब्द की अगरेजी मे कोई धातु नही है। लातीनी में डोयरे धातु मिलती है। इस पर से मेरे एक मित्र, प० भवानीशकर त्रिवेदी ने यह अनुमान लगाया है कि डोयरे शब्द सस्कृत की दा धातु से निकला होगा। त्रिवेदी जी यहाँ तक जाते है कि अगरेजी का garage शब्द सस्कृत के गृहास से निकला है, जिसका अर्थ कभी तो गृह-समूह और कभी बडा घर होता था।

बाहर जाने का नाम नही लेती है। यूची, शक, हूण, तुर्क और मोगल, ये भारत आकर फिर भारत से बाहर नही गये। वे मध्य एशिया से आये थे जहाँ की जमीन पथरीली और अनुर्वर थी। फिर वे इस स्वर्ग को छोडकर बाहर जाते क्यो ? ऐसी स्थिति मे आर्य अपने देश को छोडकर बाहर चले गये हो, यह मानने की बात नही है। यदि यह कहे कि वे अपनी सस्कृति का प्रचार करने को भारत से बाहर गये, तो यह युक्ति भी ठोस नही दीखती। क्योकि उस समय सारे भारतवर्ष ने आर्य सस्कृति को स्वीकार नही किया था और सस्कृति-प्रचारक आर्यों के लिए इस देश मे ही बहुत बडा कर्म-क्षेत्र खुला हुआ था।

ऋग्वेद के अनुसार आर्यों का देश सप्त-सैन्धव था। यही वह भू-भाग है, जहाँ मह-जोदरो-सभ्यता के प्रमाण पाये गये हैं। आर्य सस्कृति से संबद्ध जातियो के अब तक जितने भी पुराने निशान मिले है, उनमे से कोई भी उतना पुराना नही है जितना महंजोदरो और हरप्पा का प्रमाण। यदि किसी प्रकार यह साबित किया जा सके कि महजोदरो की सभ्यता आर्यो की सभ्यता थी, तभी यह कहने का एक ठोस आधार मिल सकता है कि आर्यो का मूल-अभिजन मध्य एशिया नही, भारतवर्ष था। किन्तु, जब तक यह नही होता, हम इस निष्कर्ष से भाग नही सकते कि महजोदरो की सभ्यता आर्य-भिन्न सभ्यता थी। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि महजोदरो-सभ्यता में शिव की पूजा प्रचलित थी और यह पूजा आर्यो के यहाँ विलब से गृहीत हुई और वह भी ऋषियो की इच्छा के विरुद्ध।

अठारहवी सदी तक भारत मे किसी को भी इसका अनुमान नही था कि आर्य इस देश के मूल-निवासी नही हैं अथवा यह कि आर्य और द्रविड़ दो है और दोनो के पूर्वज इस देश में बाहर से आये थे। तब सन् १७८६ ई० मे सर विलियम जोन्स ने यह स्थापना रखी कि यूनानी, लातीनी, गोथिक, केल्टिक, फारसी और सस्कृत, ये सभी भाषाएँ किसी एक ही भाषा से विकसित हुई है। इस पर से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का आरभ हुआ और विश्व की विद्वन्मण्डली इस अनुसधान से सानन्द चकित रह गयी कि उत्तर भारत की सभी भाषाएँ, पश्चिमी एशिया की जेन्द, फारसी, पश्तो, बलूची, कुर्द और आरमीनियन भाषाएँ तथा यूरोप की इटालियन, फ्रेच, स्पेनिश, यूनानी, केल्टिक, जर्मन, अगरेजी, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लातीनी, अलबेनियन आदि भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से निकली हैं। इन सभी भाषाओं के बोलनेवाले लोगो को पडितो ने हिन्द-जर्मन, हिन्द-यूरोपीय, हिन्द-ईरानी अथवा केवल आर्य कहना आरभ किया और वे इस सधान मे लग गये कि आर्यो का मूल-स्थान कौन-सा था। चूंकि अन्य भाषाओ की अपेक्षा फारसी और सस्कृत का सामीप्य बहुत अधिक था, इसलिए, अनुमान यह हुआ कि आर्य जब अपना मूल-स्थान छोडकर अलग जाने लगे, तब उस शाखा के लोग (जो शाखा ईरान और भारत की ओर चली थी) परस्पर अधिक दिनो तक साथ रहे थे। आर्यो का हिन्द-ईरानी नाम इसी शाखा की प्रमुखता के कारण पड़ा। और यही कारण है कि सस्कृत और फारसी मे अधिक निकट का सम्बन्ध है।

जब यह विचार-धारा चल निकली, सारे ससार के पुरातत्वविदो, नृवश-शास्त्रियो और भाषा-तत्त्वो के बीच एक कोलाहल-सा मच गया और तरह-तरह के अनुमानो से यह सिद्ध किया जाने लगा कि आर्यो का मूल-अभिजन कहाँ था। ऋग्वेद के ऊषा-सूक्त में ऊषा के लिए ऋषियो ने जो भक्ति दिखलायी है, उस पर से यह अनुमान निकला कि अवश्य ही, यह भक्ति उस ऊषा के लिए है जो उत्तरी ध्रुव के पास उदित होकर महीनो तक ठहरी रहती है। भारत मे ऊषा का सौन्दर्य क्षणस्थायी होता है, अतएव, उसे देखकर ऐसे भक्तिपूर्ण उद्गार नही प्रकट किये जा सकते थे। इसलिए, निश्चित है कि आर्यों का मूल-स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। ऋग्वेद मे एक मन्त्र आया है, "तरेम तरसा शत हिमा" अर्थात् हम सौ हिम (सौ वर्ष) जियें। इस पर से यह मत चल निकला कि आर्य शीत-प्रधान देश में रहते थे। महाभारत मे वर्णन है कि सुमेरु पर्वत पर एक दिन और एक रात एक वर्ष का होता है। इससे इस कल्पना को पुष्टि मिली कि आर्य उत्तरी ध्रुव पर ही रहते थे। अपनी "ओरायन" नामक अगरेजी पुस्तक मे लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने भी ज्योतिष के आधार पर यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि उत्तरी ध्रुव ही आर्यो का मूल-अभिजन था।

मिश्र के अल-अमर्ना (El-Amarna) नामक स्थान की खुदाई से यह पता चला कि ईसा से १५०० वर्ष पूर्व वहाँ जो राजे थे, उनके नाम सस्कृत नामो से मिलते-जुलते है, यथा आर्त्तमन्य, यशदत्त, सुत्तर्ण इत्यादि। इससे भी अधिक रोचक बात यह हुई कि एक सधि-पत्र की प्रति मिली जो हित्ती और मितन्नी राज्यो के बीच की गयी सधि का सूचक है। इस सन्धि का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस सन्धि-पत्र में इन्द्र, वरुण और नासत्यौ (अश्विनीकुमार), इन तीन वैदिक देवताओ का उल्लेख है। इससे यह तो प्रमाणित नही हुआ कि ई० पू० १४०० तक आर्य भारत नही आये थे, किन्तु, यह सिद्ध हो गया कि उस समय मिश्र, मेसोपोटामिया, सीरिया आदि में आर्य-भाषा और आर्य-सभ्यता वर्तमान थी, भले ही, वहाँ के लोग आर्य-वश के नही रहे हो। यह इलाका उन लोगो का है, जिन्हे अब हम सामी कहते है।

इस प्रकार, ई० पू० १५०० के आसपास आर्य-भाषा रूस से दक्षिण-पूर्व की ओर सामी इलाको, ईरान और भारतवर्ष तक पहुँच चुकी थी और उत्तर में, कदाचित्, वह लिथुएनिया तक फैल चुकी थी। लिथुएनियन भाषा की प्रकृति विचित्र है। उसका प्राचीनतम रूप १५०० ई० से पहले का नही मिलता। किन्तु, जो रूप मिलता है, वह सस्कृत के अत्यन्त समीप है, बल्कि, वह आर्य-भाषा का वह रूप है जो वैदिक सस्कृत से पहले रहा होगा। कोई कारण हुआ जिससे लिथुएनिया पहुँच जाने पर आर्यो की प्रारभिक भाषा अपने प्राचीनतम रूप मे, ज्यो की त्यो, बनी रह गयी।

आर्य-भाषा के इस भौगोलिक विस्तार का कारण क्या था? कैसे यह भाषा एक ओर तो लिथुएनिया मे दिखायी देती है और दूसरी ओर सामी इलाको में? अवश्य ही,

आर्यो का मूल-स्थान रूस के दक्षिण अथवा दक्षिणी रूस में था, जहाँ से उनकी भाषा ने एक ओर तो लिथुएनिया मे प्रवेश पाया, दूसरी ओर वह मिश्र, ईरान और मेसोपोटामिया तक फैल गयी।

अनुमान होता है कि आर्य-भाषा का जब इतना प्रसार हो चुका, तब आर्य लोग भारत पधारे। सस्कृत भाषा इस देश मे आर्यों के साथ ही आयी और जिस उत्कृष्ट सस्कृति, साहित्य और सभ्यता के कारण आर्य सारे विश्व के इतिहास मे प्रख्यात है, उसकी रचना उन्होने इसी भारतवर्ष में की। अतएव, मूल-अभिजन उन का चाहे जहाँ भी रहा हो, किन्तु, उनका अपना देश भारतवर्ष हुआ। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति ऋ धातु से बतायी जाती है जिसका अर्थ गति होता है। आर्य, कदाचित्, गत्वर (घुमक्कड़) लोग थे। एशिया के रेगिस्तानी इलाको से निकल कर जब वे भारत पहुँचे, यहाँ की उर्वरा धरती ने उनके घुमक्कड स्वभाव को बदल दिया और वे यहाँ जमकर उन विचारो को वास्तविकता का जामा पहनाने लगे जो उनके भीतर हजारो वर्ष से उमड़ते आ रहे थे। भारत मे कश्मीर, पश्चिमोत्तर भारत और पजाब, ये उनकी आरंभिक वास-भूमि और उनके पौरुष के प्रथम क्रीडा-क्षेत्र थे। इस इलाके मे रहकर उन्होने जिस सस्कृति का निर्माण किया वह, कालक्रम में, सारे भारत की सपत्ति बन गयी।

देवासुर-संग्राम का भूगोल

वेदो मे भारत-बाह्य स्थानो का उल्लेख नही होने के कारण यह निष्कर्ष सही मालूम होता है कि साहित्य-रचना का काम आर्योने भारत में बस जाने के बाद आरभ किया। किन्तु, आर्य जनता के बीच उन दिनो जो कहानियाँ प्रचलित रही होगी, जो भाव चलते होंगे, वे भी क्या, सब के सब, वे ही रहे होगे जो भारत आने पर उत्पन्न हुए थे? दक्षिण रूस से ईरान और अफगानिस्तान तक आर्यो ने हजारो वर्ष तक जो सघर्ष झेला था, उस सघर्ष की कहानी वे भूल गये होगे, किन्तु, उसका कुछ-न-कुछ अमिट सस्कार उनके भीतर अवश्य शेष रहा होगा और इस सस्कार की बहुत-सी बाते आर्यो के साहित्य में लिखी भी गयी होंगी, जिन्हे भारत-बाह्य घटनाओ की छाया बताने का अब कोई मार्ग नहीं है। उदाहरणार्थ, महा प्लावन की जो कथा हमारे पुराणो में मिलती है, वही कथा भारत से बाहर सामी लोगो मे भी प्रचलित है। भारत में इस प्लावन के नायक मनु है और सामी देशो में हजरत नूह। कही ऐसा तो नही है कि जिन दिनो यह प्लावन आया था, उन दिनो सामी लोगो के पूर्वज और प्राचीन आर्य एक ही स्थान पर रह रहे थे?

इसी प्रकार, देवासुर-सग्राम की जो कथा हम अपने पुराणो में पढते है, उसके पीछे वास्तविकता क्या है? वे असुर कौन थे जिनसे देवो का युद्ध हुआ था? लगता है, यह घटना भी तभी घटी थी जब आर्य भारत नही आये थे, जब वे भारत से बाहर अभी ईरान अथवा उसकी पूर्वी सीमा के पास थे।

प्राचीन आर्य-साहित्य में उल्लिखित घटनाएँ ऐसी नही है कि वे, सब की सब, भारत मे ही घटित हुई हो। उस समय भारत और ईरान दो देश नही थे। असल मे, पश्चिमोत्तर भारत से लेकर ईरान तक का भूभाग उस समय एक ही देश के समान लगता होगा। हमारा अनुमान है कि हमारे पुराणो में वर्णित कुछ घटनाएँ वे है, जिनका लीला-क्षेत्र ईरान से लेकर भारत के पश्चिम तक का यही भूभाग था।

आर्यो की हिन्द-ईरानी शाखा दक्षिण रूस से निकल कर जब ईरान की ओर बढी, तब ईरान पहुँचते-पहुँते, कदाचित्, उसकी भी दो शाखाएँ हो गयी। इनमें से एक शाखा ने भारत आकर वेदो की रचना की और दूसरी शाखा ने ईरान में रहकर जेन्दावेस्ता ग्रन्थ का निर्माण किया। जेन्दावेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। यह समानता केवल तत्सम शब्दो को ही लेकर नही है, प्रत्युत, दोनो भाषाओ के व्याकरण भी बहुत कुछ समान हैं। एक विचित्र बात यह है कि प्राचीन जेन्द भाषा में असुर का अर्थ देवता और देवता का अर्थ राक्षस होता है। जेन्द की वारिस-भाषा फारसी में भी देव प्रेत अथवा राक्षस को ही कहते हैं। किन्तु, भारत मे असुर का अर्थ राक्षस और सुर का अर्थ देव या देवता रहा है। अजब नही कि जिस देवासुर-सग्राम की गाथा ने पुराणो में विकास पाया, वह आर्यो की इन्ही दो शाखाओ के बीच लडा गया हो। जेन्द-भाषा-भाषियो का प्रधान देवता "अहुर मज्द" था जो 'असुर महत्' का रूपान्तरण मालूम होता है। जेन्दभाषी आर्यो का मतभेद सस्कृतभाषियो से इस कारण हुआ कि देवताओ के बारे मे उनकी कल्पनाएँ भिन्न हो गयी थी। "जेन्दावेस्ता मे मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओ की तो सत्ता है, पर, इन्द्र को कही उपास्य नही माना गया है। जेन्दावेस्ता में इन्द्र का समावेश उन देवो मे किया गया है जो असुर नही है, जो असुर के विरोधी हैं और इस कारण घृणायोग्य हैं।"[१] इस सग्राम मे आर्यो के विरुद्ध केवल आर्य ही थे अथवा और लोग भी, यह कहना कठिन है। यदि मोहजोदरो वाली सभ्यता के लोग वहाँ थे तो अजब नही कि आर्यो से सघर्ष उनका भी हुआ हो। जिन लोगो को आर्यो ने दास, दस्यु, निषाद, अनास और शिश्नदेवा कहा है, उनसे आर्यो की मुठभेड केवल भारत आकर हुई, यह बात बहुत समीचीन नही दीखती। वेद और पुराण कुछ दैनन्दिनी नही है कि हम यह समझें कि उनमे वर्णित घटनाएँ ठीक उसी काल की घटनाएँ है जब वैदिक साहित्य लिखा जा रहा था। साहित्य के नियम से घटनाओ को तो प्राचीन ही होना चाहिए। और पौराणिक रूप धारण करने में तो घटनाओ को सहस्राब्दियाँ लग जाती है।

देवासुर-सग्राम की जो कल्पना बाद को विकसित हुई, उसमें विष्णु बराबर देवताओ की ओर और शिव सदैव असुरो की ओर थे। इसका कारण क्या था? शिव की पूजा

---

१ सत्यकेतु विद्यालकार-कृत 'भारत का प्राचीन इतिहास'

के चिह्न महजोदरो मे मिले है। उस सभ्यता के निर्माता (यदि द्रविड थे तब भी, यदि द्रविड नही थे तब भी) पजाव से लेकर मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। इन इलाको में कई प्रकार के अन्य लोग भी रहे होंगे, जिनका अब इतिहास नही मिलता। आर्यों का सघर्ष इन सभी लोगो से हुआ था, जिसकी प्रतिध्वनि वैदिक साहित्य मे अत्यन्त परिवर्तित रूप में सुनायी देती है।

ऋग्वेद का रचना-काल

ऋग्वेद आर्यों का ही नही, समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके काल-निर्णय का प्रश्न भी इतना विलक्षण है कि कोई तो इसे पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानता है और कोई ईसा से सिर्फ दो सौ वर्ष पूर्व की चीज। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोवी ने ऋग्वेद के बाद रचित कल्पसूत्रो का रचना-काल ईसा से ४७०० वर्ष पूर्व और ऋग्वेद का रचना-काल लगभग ६५०० साल पूर्व माना था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ब्राह्मण-ग्रन्थो का रचना-काल ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व माना था। उनके मत मे "सारे मंत्र एक साथ नही बने। ऋषियो और उनके वशधरो ने, समय-समय पर, हजारो वर्षो मे मत्र बनाये। इस तरह, कुछ ऋचाएँ दस हजार वर्षों की हैं, कुछ साढे आठ हजार वर्षो की और कुछ सात-साढे-सात हजार वर्षो की। सभी प्राचीनतम ऋचाएँ ऋग्वेद की ही है।" (हिन्दी ऋग्वेद)। इस सम्बन्ध मे, सबसे उत्साहयुक्त दृष्टिकोण डा० अविनाशचन्द्र दत्त का है जो ऋग्वेद को पचास से पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानते हैं। प० रामगोविन्द त्रिवेदी का मत है कि "ऋग्वेद मे ऐसे अनेकानेक मंत्र हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का निर्माण-काल १८ हजार वर्ष से लेकर ५० हजार वर्ष के बीच का है।" मैक्समूलर के मतानुसार, ऋग्वेद ईसा से १२००-१००० वर्ष पूर्व बना था। इसके विपरीत, विण्टरनिज का मत है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से २५०० वर्ष पूर्व हुई थी।

श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने, प्राय., विंटरनिज के मत को स्वीकार किया है। वेदो का एक नाम श्रुति भी है, जिससे यह अनुमान होता है कि वेदो की रचना मौखिक ही हुआ करती थी और मौखिक ही, लोग उन्हे याद भी रखते थे। जब मत्रो की सख्या बहुत हो गयी, तब उन्हे सहिताओ में विभाजित करना आवश्यक हो गया। भारत मे लेखन का प्रचार ई० पू० ३००० वर्ष मे भी था, यह प्रमाणित बात है। मत्र लिखे जाते थे या केवल कठस्थ किये जाते थे, इसका अनुमान हम, जो चाहे लगा सकते हैं। किन्तु, कृष्ण द्वैपायन बोलकर लिखाते थे, यह सदिग्ध बात नही है।[1] वेद जिन सहिताओ मे हमे मिलते है, उनका सपादन कृष्णद्वैपायन व्यास ने किया जो महाभारत-काल मे जीवित थे। महाभारत का युद्ध ईसा से १४०० साल पूर्व हुआ था, इस मत का भी भारतीय परम्परा से

---

१. व्यास के लिपिक गणेश थे

मेल नही बैठता। भारतीय परम्परा के अनुसार कलियुग का आगमन राजा परीक्षित के राज्यकाल मे हुआ। परीक्षित के पिता अभिमन्यु महाभारत युद्ध में मारे गये थे। अतएव, महाभारत की लडाई ईसा से कोई ३००० वर्ष पूर्व हुई होगी। और उससे चार सौ साल पूर्व सहिताएँ लिखी गयी। उससे भी सात सौ वर्ष पूर्व से वेदो की रचना होती आ रही थीं। इस प्रकार, हम कह सकते है कि ऋचाएँ ई पू २५०० से बनने लगी और ई पू १८०० अर्थात् सात सौ वर्ष तक बनती रही। ई पू १८०० के आसपास वेद सहिता मे लिखे जाने लगे तथा वेद-व्यास-कृत सहिताओ का निर्माण ई पू १४०० में सपूर्ण हो गया।

लेखन-कला और लिपि

सिन्धु-सभ्यता मे लिखावट के जो नमूने मिले है, उनसे यह प्रत्यक्ष है कि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत में लेखन-कला का प्रचार था। यह मानने का कोई आधार नही हो सकता कि जब आर्य आये, उन्होने लेखन की इस प्रणाली को छोड दिया और भारत से सदियो के लिए लेखन-कला का प्रचार बिलकुल उठ गया। मान्य बात यही हो सकती है कि लेखन का प्रचार सिन्धु-सभ्यता मे भी था और वह बाद की सभ्यताओ मे भी जारी रहा होगा। तब भी, सिन्धु-सभ्यता की लिखावट (जो अब तक पढी नही गयी है) के बाद हम लिखावट का दूसरा प्रमाण भारत मे ई पू तीसरी सदी मे सम्राट अशोक के अभिलेखो मे पाते हैं। इन अभिलेखो की लिपि ब्राह्मी लिपि है। इसी ब्राह्मी लिपि से भारत की सभी भाषाओ की लिपियाँ उद्भूत हुई है। अपवाद केवल उर्दू भाषा है जो आज भी फारसी लिपि मे लिखी जाती है। मौर्य-युग और उसके बाद की दो-एक सदियो मे ब्राह्मी के साथ-साथ एक खरोष्ठी नामक लिपि भी प्रचलित थी, जिसका उपयोग पश्चिमोत्तर भारत के लोग करते थे। यह लिपि फारसी-अरबी लिपियो के ही समान दायी से बायी ओर को लिखी जाती थी। किन्तु, यह लिपि भारत में फैलने मे असमर्थ रही और उसका प्रयोग ईसा के जन्म के पूर्व ही भारत में अवरुद्ध हो गया।

किरात जाति

सस्कृत-भाषी आर्यो ने एक और जाति के लोगो का उल्लेख किया है, जिनका रग पीला और आकृति चीनी लोगो के समान थी। इस वर्ग के लोगो को आर्य किरात कहते थे। महाभारत के विख्यात योद्धा राजा भगदत्त पूर्वी भारत के थे और उनकी सेना म्लेच्छो और किरातो से बनी हुई थी। अर्जुन से शिव का जब युद्ध हुआ, तब शिवजी किरात-वेश मे थे। चित्रागदा, कदाचित्, किरात-वश की ही राजकुमारी थी।

किरातो का मूल-अभिजन पूर्वी चीन में था। वही से ये लोग तिब्बत, नेपाल, बर्मा, असम, उत्तरी बगाल और उत्तरी बिहार मे आये। भारत मे किरातो का आग-

मन कब हुआ, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में किरातो का उल्लेख है। उस समय के अन्य प्रमाणो से भी यह अनुमान निकलता है कि किरात ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भारत पहुँच गये थे और वे हिमालय की दक्षिणी तराई तथा पूर्वी भारत में आवाद थे। नेपाल के नेवार और किरन्ती लोग, कश्मीर के लद्दाखी, दारजिलिंग के लेपचा, त्रिपुरा और मणिपुर के क्षत्रिय, उत्तर असम के अनका, मीरी, अवोर और मिश्मी लोग किरात-वंश के है। कहा तो यह भी जाता है कि लिच्छवी और शाक्य वंश भी किरात-भंडार से निकले थे। उत्तर विहार मे, विशेषत, तिरहुत में जो गौर वर्ण के लोग है, कही-कही, उनका भी सवन्ध किरात-रक्त से रहा होगा। इसी प्रकार, नेपाल के गुरखा लोगो मे भी किरात-रक्त का, कुछ-न-कुछ, अंश है।

ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के एक हजार वर्ष बाद तक किरात लोग हिन्दू-वृत्त मे दाखिल होते रहे। वंगाल और असम के वोदो लोगो ने तो अपनी भाषा भी छोड दी। नेवारों ने भारतीय लिपि मे अपनी ही भाषा का विकास किया।

पन्द्रहवी सदी मे आकर किरात जाति हिन्दू-राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हो गयी और उसने, अन्त तक, मुस्लिम विजेताओ के खिलाफ युद्ध को जारी रखा। त्रिपुरा और मणिपुर के क्षत्रियो ने वंगाल के मुस्लिम शासको से कई लडाइयाँ लड़ी।

किरात जाति ने हिन्दू-संस्कृति को स्वीकार कर उसकी बडी सेवा की। पालयुगीन भारतीय कला का तिव्वत में और तिव्वत से वाहर प्रचार नेपाल के नेवारो ने किया। इसी प्रकार, वैदिक और वौद्ध सस्कृतिकी वहुत-सी वातो का वर्मा और हिन्द-चीन की ओर प्रचार वंगाल, असम, कुमिला, चटगाँव और आराकान के किरात-वंशी हिन्दुओं के कारण हुआ।

किन्तु, किरातो की सब से वडी देन शाक्त-मत के विकास मे है। योगिनी-तंत्र का दावा है कि असम का धर्म किरात लोगो की साधना से निकला था। वाममार्गी शाक्त-धर्म का मुख्य पीठ कामाख्या का मन्दिर माना जाता है। इस मन्दिर की स्थापना सन् १५६४ ई० मे हुई थी। किरात-समाज मे नारियाँ उतनी पराधीन कभी नही थी जितनी आर्यो के समाज मे। समझा यह जाता है कि, कदाचित्, यह भी एक कारण था कि वामाचार का व्यापक प्रचार पहले असम मे ही हुआ और वही से यह साधना वंगाल मे प्रचलित हुई। किन्तु, सोलहवी सदी मे मणिपुर का राज्य-वंश वैष्णव हो गया और, तब से, वैष्णव-धर्म की कृष्णचैतन्याश्रयी शाखा का प्रचार किरात-क्षेत्र में भी खूब हुआ है। नागा और कुकी लोगो के वीच हिन्दू-सस्कृति का जो प्रचार है, उसके भी माध्यम किरात-वंशी हिन्दू ही रहे हैं।

किरात-वंशी हिन्दू अब भी नृत्य, गान और कलाओ मे, विशेष रूप से, रस लेते है। उनकी सस्कृति आज भी कृत्रिम और तर्क-पीड़ित कम, स्वाभाविक और भाव-प्रवण अधिक है।

पारसी जाति

भारत मे एक और जाति के लोग है जो बबई और गुजरात मे बसे हुए है। इनका नाम पारसी है। उनकी सख्या आज तक भी, शायद, लाख-दो लाख से अधिक नही है, किन्तु, शिक्षा, सस्कृति, वैभव और सामाजिक उत्कर्ष मे वे और लोगो से बहुत आगे है। ये भारत मे दसवी सदी के आरभ में आये थे, किन्तु, उनका आख्यान यही लिखा जाना चाहिए, क्योकि पारसी-धर्म और आर्य धर्म किसी समय एक ही मूल धर्म से निकले थे। आर्यो का एक प्रसिद्ध नाम हिन्दू-ईरानी भी चलता है। आर्य अपनी एक शाखा को ईरान में छोड कर आये थे। लगभग तीन हजार वर्ष बाद उसी शाखा के लोग शरण खोजते हुए भारत आ गये। यह बिछुडो के पुनर्मिलन का दृष्टान्त था।

आर्यो की जो शाखा ईरान मे रह गयी थी, उसके सदस्य भी भारतीय आर्यो के समान प्रकृति के दिव्य तत्त्वो (सूर्य, अग्नि, चद्रमा, वायु, जल आदि) की पूजा करते थे। किन्तु, उन्हें यह ज्ञात था कि इन सभी दृश्य तत्त्वो के परे कोई एक सूक्ष्म और सर्वोच्च अदृश्य तत्त्व (ईश्वर) है, जिसे वे अहुर (असुर) कहते थे। अवेस्ता इस जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। ऋग्वेद मे जिन उच्च गुणो का नाम 'ऋत' कहा गया है, उन गुणो के लिए अवेस्ता मे 'अशा' शब्द का प्रयोग है। ऋतसपन्न व्यक्ति ही भारत मे ऋषि कहलाता था। अवेस्ता मे अशा गुण से सवेत व्यक्ति को रतु कहते थे, जो बहुत कुछ ऋषि शब्द का ही पर्याय था।

इस जाति मे भी भारतीय आर्यो के समान चार जातियो या वर्गों का विधान था, जिनके नाम अवेस्ता मे १ आथ्रवन (=ब्राह्मण), २ रथैस्तार (=क्षत्रिय), ३ वास्त्र्योष (=वैश्य) और ४ हुतोक्ष (=शूद्र, दास) है। जैसे भारतीय आर्यों में द्विजो का उपनयन-सस्कार प्रचलित है, वैसे ही, पारसियो मे भी नवजोत (=नवजात) सस्कार पुराने समय से चला आता है। फर्क यह है कि जहाँ द्विज यज्ञोपवीत धारण करते है, वहाँ पारसी लोग कुस्टी (मेखला), पवित्र कुरता और टोपी पहनते है।

कालक्रम में, दोनो जातियो (अथवा शाखाओ) की भाषा मे भेद पडने लगा। अहुर (असुर) पारसियो के यहाँ तो ईश्वरवाचक बना रहा, किन्तु, भारतीय आर्य उसका अर्थ दानव करने लगे। बदले में, पारसियो ने भी देव शब्द का अर्थ अपनी भाषा में दानव कर दिया। पुराने सस्कार धुँधले पड गये एव नयी परिस्थितियो मे देवताओ के भी रूप परिवर्तित हो गये। अवेस्ता से मालूम होता है कि पारसी लोग भी इन्द्र, नासत्य, विधातृ आदि देवताओ को जानते थे, किन्तु, उनके यहाँ ये नाम देवो के नही, दानवो के हो गये। तब भी, दोनो शाखाओ मे माओघा (मास, चाद्र मास) मिथ्र (मित्र) यिम (यम) आदि एक ही अर्थ मे पूजित होते रहे है।

फिर ऐसा हुआ कि ईरानी शाखा के आर्यो मे धीरे-धीरे कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गयी एव धर्म का रूप कलुषित हो गया। तब पृथ्वी ने गौ का रूप धारण कर (आर्यो की

पौराणिक कथाओ के ही समान) अत्याचार से परित्राण के निमित्त अहुर मज्द से प्रार्थना की और अहुर मज्द ने, मानवो के उद्धार के लिए, पृथ्वी पर जरथुस्त्र (अर्थ, कनकाभ) को भेजा।

जरथुस्त्र की वाणी ही गाथा कहलाती है, जो शुद्ध सस्कृत नाम है। गाथाएँ पाँच है और इन्ही गाथाओ पर जरथुस्त्री धर्म आधारित है। भाषा और भाव, दोनो ही दृष्टियों से, गाथा और ऋग्वेद के आरभिक मत्र समान है एव दोनो में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। यही नही, गाथा के मत्र ऋग्वेद के मत्रो की भाषा में आसानी से बदले जा सकते है, जैसे प्राकृत के श्लोक लौकिक सस्कृत के श्लोक मे बदल दिये जाते है। गाथा और ऋग्वेद के पारिभाषिक शब्दो मे भी समानता है। ऋग्वेद मे जो सोम है, वह गाथा में होम हो गया है। वेद मे जो सर्वतत् (सपूर्णता) है, वह गाथा मे हौर्वतत् हो गया है तथा शक्ति के अर्थ मे क्षात्र शब्द का प्रयोग गाथा और वैदिक सस्कृत, दोनो मे मिलता है।

जरथुस्त्र ने सारे जीवन और जगत् को पुण्य और पाप के बीच चलनेवाले भीषण द्वन्द्व के रूप मे देखा और इसी केन्द्रीय विचार पर उन्होने अपना सिद्धात बनाया। भारत से बाहर उस समय जो भी आर्य थे, वे सब जरथुस्त्र के धर्म के नीचे आये हुए थे। कहते है, ईसाइयत और इस्लाम मे भगवान् और शैतान की जो कल्पना उदित हुई, वह जरथुस्त्र-धर्म की देन थी। जरथुस्त्र के अहुर मज्द ही भगवान् और अहिर्मन ही शैतान है।

जरथुस्त्र-धर्म मे दीक्षित ईरानियो ने ही ईरान में वह उन्नतिशील साम्राज्य स्थापित किया था, जो रोमन साम्राज्य का जवाब था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने ईरानी राज्य पर चढाई की थी और सन् ६५१ ई० में अरब के नये मुसलमानो ने। पिछली चढाई के दिनो मे ईरानी साम्राज्य विलास मे डूबा हुआ था। अतएव, वह अरब के मुसलमानो के प्रहारो के आगे नही टिक सका। ईरानी हारे और, प्राय, दो-तीन सौ वर्ष में सब-के-सब मुसलमान हो गये। फिर, ईरानी सस्कृति ने अरबो पर ऐसा धावा किया कि पारसी, ईरानी या फारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा हो गयी और इस्लाम को लोग ईरानी सस्कृति का पर्याय मानने लगे।

इसी मुसलमानी आक्रमण से घबराकर अपने धर्म की रक्षा करनेवाले कुछ पवित्र पारसी लोग सन् ९३६ ई० मे ईरान से भागकर भारतवर्ष चले आये और यहाँ आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पारसी अग्निपूजक होते है, जैसा कि आरभ मे सभी आर्य थे। भगवान् जरथुस्त्र को परमात्मा ने ही अग्नि दी थी, जो तब से लेकर ईरान छोडने के समय तक ईरान में जल रही थी। यह अग्नि भी पारसी लोग अपने साथ भारत ले आये और उसे उन्होने बम्बई के उत्तर उदवाद नामक स्थान में मन्दिर बनाकर स्थापित कर दिया। यह अग्नि आज भी जल रही है।

इतिहास में भी कितना उलट-फेर होता है। इस्लाम के आगमन के बाद, बहुत-सी ऐसी बाते और बहुत-से ऐसे नाम भारत पहुँचे, जिन्हें लोग, भ्रम के कारण ही, इस्लाम से

सवद्ध मानते है। वस्तुत, वे उन ईरानियो के नाम है जो मुसलमान नही, जरथुस्त्रवादी थे। शाहपुर और न्यायी नौशेरवाँ ईरान के बादशाह थे, किन्तु, वे मुसलमान नही थे। शीरी और फरहाद, ये भी जरथुस्त्र-धर्मावलवी प्रेमी हुए है। शीरी ईरान के बादशाह खुसरु परवेज की पत्नी थी और फरहाद उसी देश का मूर्त्तिकार।

जब पारसी लोग भारत पहुँचे, गुजरात के राजा यादव राणा ने उनका प्रेम से स्वागत किया, और तब से, ये धर्मप्राण लोग सचाई से भारतवासियो के साथ रह रहे है।

आने को तो मुसलमान भी भारत मे आठवी सदी मे आये और पारसी उससे भी बाद, किन्तु, भारत और ईरान का सवध इससे कही पुराना था। जब आर्य इस देश मे नये-नये आये थे, उस समय भारत और ईरान की सीमाएँ मिली हुई थी एव धर्म और रीति-रिवाज मे भी दोनो देशो के लोग एक थे। धर्म मे भिन्नता तब हुई, जब जरथुस्त्र ने अपना नया धर्म चलाया। मौर्यो से पूर्व गान्धार और भारत के कुछ अन्य पश्चिमोत्तर भाग ईरानी साम्राज्य के अग थे। मौर्यो के समय मे ईरानी राज्य के ही कुछ भाग भारत मे मिला लिये गये। तक्षशिला मे ईरान के विद्यार्थी नही आते रहे होगे, यह मानने की बात नही है। मौर्यो के बाद शको के शासन-काल मे भी ईरान और भारत के कुछ भूभाग एक ही राज्य के अन्तर्गत थे। भविष्य-पुराण मे कहा गया है कि श्रीकृष्ण के पुत्र, साम्ब को जब कुष्ट हो गया, तब उन्होने चद्रभागा नदी के तीर पर एक सूर्य-मन्दिर बनवाया, जिसके लिए उन्हे वहाँ कोई पुरोहित नही मिला। निदान, पौरोहित्य के निमित्त उन्होने शकद्वीप से मग-जाति के ब्राह्मण बुलाये जो जरशब्द या जरशस्त के अनुयायी थे। सर चार्ल्स इलियट[1] का अनुमान है कि ये ब्राह्मण ईरान के मागी (Magis) रहे होगे और जरशब्द या जरशस्त नाम जरथुस्त्र का है।

१. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जिल्द, ३

प्रकरण ३

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन

वैदिक संस्कृति के कुछ युग्म

हिन्दू-सस्कृति का आविर्भाव आर्य और आर्येतर सस्कृतियो के मिश्रण मे हुआ तथा जिसे हम वैदिक सस्कृति कहते है, वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियो के मिलन से उत्पन्न हुई थी, यह अनुमान कई प्रकार की युक्तियो पर आधारित है। भारतीय सस्कृति के विवेचन में हमारे सामने कुछ ऐसी शकाएँ खडी होती है, जिनका समाधान न तो इस स्थापना से हो सकता है कि हिन्दू-सस्कृति सोलह आने आर्यो का निर्माण है, न इस स्थापना से कि वैदिक सस्कृति केवल प्राग्वैदिक सस्कृति का विकास मात्र है। डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने ऐसी कई शकाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक[1] मे किया है।

पाणिनि का समय हम लोग ई० पू० सातवी सदी मानते है। पाश्चात्यो के मतानुसार उनका काल ई० पू० पाँचवी सदी से इधर नही माना जा सकता। पाणिनि ने श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष का उल्लेख "शाश्वतिक विरोध" के उदाहरण के रूप मे किया है। अवश्य ही, शाश्वत शब्द सौ-दो-सौ वर्षो का अर्थ नही देता, वह इससे बहुत अधिक काल का सकेत करता है। अतएव, यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमण-सस्था भारत मे आर्यो के आगमन के पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस सस्था को हेय समझते थे। श्रमणो और ब्राह्मणो के बीच सर्प-नकुल-सबध का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य मे बहुत अधिक हुआ है, किन्तु, पाणिनि के उल्लेख से यह स्पष्ट भासित होता है कि श्रमण-ब्राह्मण-सघर्ष बौद्ध मत से कही प्राचीन है।

पौराणिक हिन्दू-धर्म निगम और आगम, दोनो पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक विधान है। आगम प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। पुराण और पौराणिक धर्म उतने नवीन नही है, जितना नवीन उन्हे पश्चिम के विद्वानो ने सिद्ध किया है। "यह कहना सम्भव है कि इतिहास-पुराणो का आरम्भ अथर्व-वेद के काल मे हुआ। अथर्व-वेद मे कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, पुराणो के साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए (११।७।२४)। शतपथ-ब्राह्मण के (११।५।७।९) ब्रह्म-यज्ञ मे इतिहास तथा पुराणो के पठन का फल बतलाया गया है और कहा गया है कि अश्वमेध मे (१३।४।३।१३) पुराण तथा वेद का पठन किया जाय[2]।"

---

१. भारतीय सस्कृति का विकास , वैदिक धारा
२ वैदिक सस्कृति का विकास लक्ष्मण शास्त्री जोशी

पुराणो का उल्लेख धर्मसूत्रो मे भी है तथा मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एव ऋग्विधान में भी। रामायण और महाभारत तो पुराणों के नाम कई बार लेते हैं। इन सारे प्रमाणो से यह अनुमान अत्यधिक सुदृढ हो जाता है कि पुराणो की परम्परा वेदो की परम्परा से कम प्राचीन नही है।[1] निगम वेदो के सुनिश्चित विधान हैं और आगम परम्परा से आते हुए ज्ञान के समवाय, इस प्रकार का कोई अस्पष्ट भाव प्राचीनो का भी रहा होगा। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब वेदों का पठन-श्रवण केवल पुरुषो और द्विज-वर्ग तक सीमित किया जाने लगा, तब भी, पुराणों पर ऐसी कोई रोक नही लगायी गयी। ब्राह्मणो ने पूरी कट्टरता से पहरा केवल वेदो पर दिया। पुराण आर्येतर जनता के भावो और विचारो से ओतप्रोत थे, अतएव, ब्राह्मणो ने पुराणो को केवल अपना आविष्कार नही माना, न उन्हे जनता की पहुँच मे जाने से रोक रखने की कोशिश की।

पुराणो मे यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग, किरात आदि लोगों का जो उल्लेख है, वह, स्पष्ट ही, आर्येतर जातियो के अस्तित्व की सूचना देता है। पुराणो के अनुसार देवो की अपेक्षा असुरो का प्राचीन होना अधिक सभव दीखता है। इससे भी सूचित होता है कि भारत मे आर्यो से भिन्न और भी बहुत-से लोग थे, जिनके मौखिक साहित्य का समावेश पुराणो मे हुआ है।

जनता मे एक अनुश्रुति चलती है कि आगम भी निगम से ही निकले हैं, निगम मे जो बाते प्राचीन मुहाविरो मे कही गयी हैं, आगम उन्ही का आख्यान आधुनिक भाषा में करते हैं। किन्तु, दोनो की भिन्नता भी स्पष्ट है। निगम अपौरुषेय हैं, उन्हे किसी ईश्वर ने नही बनाया है, क्योकि ईश्वर भी, आखिर को, पुरुष ही है। किन्तु, आगम शिव, शक्ति अथवा विष्णु के मुख से उद्गीर्ण माने जाते हैं। आगमो की पूर्ण परिणति भक्ति मे हुई। भक्ति और वेदान्त में भेद है। वेदान्त केवल ब्रह्म को मानते हैं। भक्ति तत्त्वत्रय (ईश्वर, जीव और प्रकृति) मे विश्वास करती है। वैदिक धर्म चार वर्णो में विश्वास करता है और शूद्र को वह वेद-वेदान्त पढने का अधिकार नही देता। वैदिक धर्म के अनुसार सन्यास का भी अधिकार केवल ब्राह्मण को है। किन्तु, भक्ति ऐसे बन्धनो मे विश्वास नही करती। भक्ति-मार्ग मे चाडाल को भी यह अधिकार है कि वह चाहे तो शिव, शक्ति या विष्णु की प्रतिमा का पूजा कर सकता है। वैसे, वेदान्त-दर्शन के अनुसार वर्णभेद की सत्ता नही ठहरती। फिर भी, पारिभाषिक दृष्टि से, वेदान्त भी वेद ही है। इसलिए, शूद्रो के लिए वे वर्जित कर दिये गये।

देवता भी पुराणो मे, कम-से-कम, तीन प्रकार के है। कुछ देवता वे है जिनकी कल्पना वेदो ने की और कुछ वे हैं जो प्राग्वैदिक भारत मे पूजे जाते थे और, बाद को, वैदिक धर्म मे

---

१. वायुपुराण के अनुसार "ब्रह्मा से पहले पुराण (विषय की दृष्टि से) की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् वेदो की।"—म० दे० शास्त्री

प्रवेश पा गये। तीसरे प्रकार के देवता वे हैं जो आर्य-द्रविट-मिश्रण के बहुत बाद, बाहर से आनेवाली नयी जातियो के साथ, आये होंगे और जिनकी प्रधानता इधर हाल के पुराणो में दिखायी देती है। वैदिक देवताओ में प्रधान इन्द्र, अग्नि, ऊषा, वरुण, अश्विनीकुमार, पूषन्, ब्रह्मा इत्यादि थे, जिनकी पूजा का प्रचलन अब, प्रायेण, अवरुद्ध हो गया है। प्राग्वैदिक और वैदिक धाराओ को सपृक्त बनानेवाले देवताओ में से मुख्य देवता शिव और उमा हैं। और जो देवता आर्यो के आगमन के बहुत पश्चात् आनेवाली जातियो के साथ आये, उनमे गणना, कदाचित्, राधा की की जा सकती है।

डाक्टर मगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय सस्कृति मे जो कई परस्पर-विरोधी 'युग्म' हैं, उनका भी कारण यही है कि यह सस्कृति, आरम्भ से ही, सामासिक रही है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज मे एक द्वन्द्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच तथा तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। यह विषय, सचमुच, विचारणीय है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओ में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य यह है कि हम बाधाओ पर विजय प्राप्त करके जीवन में जय लाभ करे एव मानव-बन्धुओ का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओ को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनो लोको में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु, दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करे, किन्तु, हमे रोग और शोक से छुटकारा नही मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म नही लिया था। जन्म के कारण ही हम वासनाओ की जजीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखो को पीठ दे दे जो हमें ललचा कर ससार में बाँधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोडकर सन्यास ले लेना चाहिए और देह-दंडनपूर्वक वह मार्ग पकडना चाहिए जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास मे से कर्म, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से, वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त, अधिकाश मे, प्राग्वैदिक मान्यताओ से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु, आश्चर्य की बात है कि भारतीय अध्यात्म-शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तो का नही है। अथवा आश्चर्य की इसमें कोई बात नही है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व देता है, दु खो से भाग खडा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यो का यह स्वभाव कई देशो मे बिलकुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषत, यूरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नही आयी। किन्तु, कई देशो की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियो ने आर्यो के भीतर भी पस्ती डाल दी एव उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति ने आर्यो

की वैदिक संस्कृति के चारो ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय सम्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र मे टापू के समान है।"

वैदिक और आगमिक तत्वो के बीच संघर्ष, कदाचित्, वेदो के समय भी चलते होगे, क्योकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञ मे हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमो मे अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिए। हाँ, जब गीता रची गयी, तब उसका रूप भागवत आगम का रूप हो गया। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास मे भगवान् कृष्ण का चरम महत्त्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होने भागवतो की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित्, महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वही से, शायद, यह शका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नही है, और जीवन का ध्येय सामारिक विजय नही, प्रत्युत, मोक्ष होना चाहिए। महाभारत की लडाई पहले हुई, उपनिषद्, कदाचित्, बाद को बने है।

ससार को सत्य मान कर जीवन के सुखो मे वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारो से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्त्व देने लगता है, तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष-साधना के साथ, भीतर-भीतर, यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय-तर्पण का दड परलोक मे नरक-वास होगा। यह विलक्षण बात है कि वेदो में नरक और मोक्ष की कल्पना, प्राय, नही के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान् डा० मगलदेव शास्त्री ने लिखा है कि "बहुत-से विद्वानो को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओ में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दु ख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नही मिला।" अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि "नरक शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्ल-यजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नही आया है। अथर्व-वेद-संहिता में 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।"

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म-शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्त्व थी। किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य में निवृत्ति-विरोधी विचार इतने प्रबल है कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येतर माने बिना चल नही सकता।

इसी प्रकार, ऋषि और मुनि शब्दो का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मत्रद्रष्टा है, किन्तु, मत्रो के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नही था। पुराणो मे ऋषि और मुनि शब्द, प्राय, पर्यायवाची समझे गये है, फिर भी, विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि

गृहस्थ नही होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बन्ध था। ऋषि और मुनि, दो भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। "मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओ मे बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई सम्बन्ध नही है[१]।" पुराणो मे ऋषि और मुनि के, प्राय, पर्यायवाची होने का एक कारण तो यही मानना होगा कि पुराणो का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियो का समन्वित रूप है। अतएव, पुराणकार प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पण्डित को, प्रसगानुसार, ऋषि या मुनि कहने मे कोई अनौचित्य नही मानते थे। जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खडे हुए, बौद्धो और जैनो ने प्रधानता ऋषि शब्द को नही, मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ होता है कि मुनि-परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी। "ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे, सक्षेप मे, हम इतना ही कहना चाहते है कि दोनो की दृष्टियो मे हमे महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मासाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहाँ दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमे से एक, मूल मे, वैदिक और दूसरी, मूल मे, प्राग्वैदिक प्रतीत होती है[२]।" इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि महजोदरो की खुदाई मे योग के प्रमाण मिले है और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे, कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानो का यह मानना अयुक्ति-युक्त नही दीखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद-पूर्व है।

पण्डितो ने एक और युग्म पर विचार करके यह बताने की चेष्टा की है कि हिन्दू-सस्कृति के कुछ उपकरण वैदिक और कुछ अवैदिक है। वह युग्म ग्राम और नगर का युग्म है। वैदिक सहिताओ में 'ग्राम' शब्द अनेक बार आया है, किन्तु, 'नगर' शब्द का प्रयोग उनमे कही भी नही मिलता।[३] सम्भव है, वेदो के समय ग्राम और नगर का भेद बहुत प्रत्यक्ष नही रहा हो और दोनो के लिए आर्य एक ही शब्द का प्रयोग करते रहे हो। किन्तु, यह सम्भावना अधिक टिकाऊ नही है। वैदिक सहिताओ और धर्मसूत्रो मे वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है और पुराणो मे नगरो के निर्माता मय-वशीय लोग माने गये है जो दानव जाति के होते थे। अतएव, अनुमान यही ठीक ठहरता है कि आर्य नगरो के निर्माता नही थे, यह कला उन्होने भारत आकर सीखी। इन्द्र का पुरन्दर (नगर-भजक) नाम इस अनुमान को और भी सबल बनाता है। आर्यों का सामना इस देश मे उन लोगो से हुआ था, जो लोह-निर्मित पुरी (आयसी पुर.) में निवास करते

---

१. डा० मगलदेव शास्त्री
२ वही
३ वही

थे। ऐसे नगरो का ध्वस करने के कारण ही इन्द्र ने पुरन्दर उपाधि प्राप्त की थी। आश्चर्य है कि महजोदरो की खुदाई में लोहे के निशान नही मिले है।

कहते है, आर्यों के समाज मे ग्राम-सस्कृति की प्रधानता होने के कारण ही जाति-प्रथा रूढ हो गयी। अपने पूर्वजो के धन्धो को छोडकर कोई नया धन्धा सीखना या ग्रहण कर लेना नगरो में जितना आसान होता है, ग्रामो मे वह उतना आसान नही होता। नगरो पर परिवर्तन का प्रभाव अधिक पडता है। ग्राम ऐसे प्रभावो का अवरोध करते है। आर्यो की अर्थ - व्यवस्था ग्रामो पर आधारित थी। इसीलिए, उनकी जाति-व्यवस्था उतनी टिकाऊ हो सकी। "सिधु-सस्कृति के विध्वस के उपरान्त भारत-वर्ष मे नगर-सस्कृति को प्रधानता किसी भी समय नही मिली। ग्राम या देहात से सवद्ध अर्थशास्त्र का निरन्तर वने रहना जाति-भेद की उत्पत्ति में सहायक हुआ है।[1]"

इस प्रसग मे ध्यान इस बात पर भी जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनमे से किसी का भी सम्वन्ध शिल्प या कला-कौशल से नही है। शिल्पी और कारीगर आर्यो के यहाँ शूद्र माने जाते थे। शिल्प और कला-कौशल तथा उद्योग नागरिक सभ्यता के लक्षण है। आर्य ग्रामो के भक्त थे। इसलिए, कला-कौशल को उन्होने ईषत् हेय माना। इसीलिए, त्रिवर्ण में से किसी के लिए भी उन्होने शिल्प या कारीगरी को विहित नही वताया। आरभ में शिल्पी और कारीगर, कदाचित्, आर्य-रक्त के नही थे। इसलिए, परम्परा चल पडी कि शिल्प करनेवाले लोग त्रिवर्ण में नही गिने जायँगे।

पौराणिक हिन्दुत्व के मुख्य निर्माता और भारत के सबसे बडे पुराणकार महर्षि व्यास का जन्म एक धीवर-कन्या की कुक्षि से हुआ था। वर्तमान प्रसग मे कुछ प्रकाश इस कथा से भी छिटकता है। कही ऐसा तो नही है कि आर्य और आर्येतर, दोनो ही प्रकार के रक्त से सवद्ध होने के कारण एव वैदिक-प्राग्वैदिक, दोनो ही सस्कृतियों का उत्तराधिकारी होने के कारण, व्यास दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे विश्वास करते थे? "पुराण शब्द का अर्थ ही प्राग्वैदिक सस्कृतियो की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक ऋषि-मुनियो ने किया होगा, जिनमें से अनेको की धमनियो में, व्यास के सदृश ही, दोनो सस्कृतियो का रक्त वह रहा था और, प्राय, इसीलिए उनका विश्वास दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे था।[2]"

आर्य-द्रविड़-सम्बन्ध

ऋग्वेद में कही कण भर भी ऐसा प्रमाण नही है, जिससे यह कहा जा सके कि आर्यो ने भारत पर आक्रमण किया अथवा इसे जीता था। किन्तु, सस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से यह वात अवश्य लक्षित होती है कि सस्कृत-भाषी आर्य, आरम्भ मे, विंध्य के

---

१ लक्ष्मण शास्त्री जोशी वैदिक सस्कृति का विकास
२ डा० मगलदेव शास्त्री

उत्तर तक ही सीमित थे, विन्ध्य के दक्षिण वे लोग बसते थे, जिनकी भाषा संस्कृत नही थी। प्राचीन तमिल साहित्य मे भी संस्कृत-भाषियो को 'वडवर' (उत्तरवाला) कहा गया है और प्राचीन तो नही, अपेक्षया नवीन संस्कृत-साहित्य मे दाक्षिणात्य शब्द द्रविडो के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुँचे थे। वैदिक साहित्य में दक्षिण भारत का उल्लेख नही है। भास की कल्पना का देश हिम और विन्ध्य पर्वतो के बीच पडता था। बौद्ध धर्म तमिलनाडु में कब पहुँचा, इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नही है। केवल सुत्तनिपात की बावरीवाली कथा से यह अनुमान होता है कि बुद्ध का सुयश उनके जीवन-काल में ही दक्षिण पहुँच चुका था। कृष्णस्वामी आयगार का तो ख्याल है कि तमिलनाडु मे बौद्ध धर्म को कभी प्रश्रय मिला ही नही था।[1] अशोक की राज्य-सीमा मैसूर पहुँच कर समाप्त हो गयी थी। किन्तु, दक्षिण भारत का ज्ञान उत्तरवालो को बहुत प्राचीन काल मे भी रहा होगा, यह अनुमान हम रामायण से लगा सकते है। मेगास्थनीज ने पाण्ड्य-राज्य का उल्लेख किया है और अर्थशास्त्र मे भी ताम्रपर्णिक मोतियो का उल्लेख है, जो मन्नार की खाडी से निकाला जाता था। बौधायन ने अपने धर्मसूत्र मे दक्षिण के पाँच रिवाजो का उल्लेख किया है, जिनमे से एक मामा की बेटी से ब्याह का भी रिवाज है और श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र के रचयिता आपस्तम्ब ई० पू० ३०० के आस-पास गोदावरी-तट पर रहते थे।[2]

स्पष्ट रूप से उल्लिखित प्रमाण तो ऐसे ही मिलते है, किन्तु, हमारा ख्याल है कि उत्तर-दक्षिण का सम्बन्ध इससे कही प्राचीन है और उसके सबसे बडे प्रमाण दक्षिण मे प्रचलित जनश्रुतियाँ और परपराएँ है। परपराओ का तिथि-निर्धारण निश्चयपूर्वक नही किया जा सकता, किन्तु, उनके भीतर जो सत्य गूंजता है, वही जातियो का वास्तविक इतिहास होता है।

तमिल-परम्परा बताती है कि अगस्त्य के दक्षिण-गमन के पूर्व तमिल-देश जगलो से भरा था और आबादी वहाँ बहुत कम थी। रामायण के अनुसार भी रामचन्द्र का अगस्त्य से साक्षात्कार दडकारण्य में हुआ था और राम-अगस्त्य-सवाद से इस अनुमान को यत्किचित् बल प्राप्त होता है कि दक्षिण भारत को बसाने का काम अगस्त्य ने किया था। चेर देश मे आर्य-संस्कृति परशुराम के समय पहुँच चुकी थी। केरल मे यह जनश्रुति भी चलती है कि केरल और कोकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परशुराम ने किया था।

तमिल-परम्परा की कथा यह है कि शिव और उमा के विवाह के समय दक्षिण के सभी

---

१. Contribution of South India to Indian Culture.

२ A history of South India—नीलकठ शास्त्री

विद्वान् मानने लगे हैं। तमिल में र को ल और ल को र कर देने का रिवाज है। यह रीति संस्कृत में भी 'रलयोरभेदः' के नियम से चलती है। काडवेल (Caldwell) का कहना है कि संस्कृत ने यह पद्धति तमिल से ग्रहण की है।

बहुत प्राचीन काल में भी तमिल और संस्कृत के बीच शब्दों का आदान-प्रदान काफी अधिक मात्रा में हुआ था, इसके प्रमाण यथेष्ट संख्या में उपलब्ध हैं। किटेल ने अपनी कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी में ऐसे कितने ही शब्द गिनाये हैं जो तमिल-भाण्डार से निकल कर संस्कृत में पहुँचे थे।[1] बदले में संस्कृत ने भी तमिल को प्रभावित किया। संस्कृत के कितने ही शब्द तो तमिल में तत्सम रूप में ही मौजूद हैं। किन्तु, कितने ही शब्द ऐसे भी हैं जिनके तत्सम रूप तक पहुँच सकना बीहड़ भाषा-तत्त्वज्ञों का ही काम है। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने बताया है कि तमिल का 'आइरम' शब्द संस्कृत के सहस्र का रूपान्तरण है। इसी प्रकार संस्कृत के स्नेह शब्द को तमिल भाषा ने केवल नें (नी) बनाकर तथा संस्कृत के कृष्ण को 'किरुट्टिनन' बनाकर अपना लिया है। तमिल भाषा में उच्चारण के अपने नियम हैं। इन नियमों के कारण बाहर से आये हुए शब्दों को शुद्ध तमिल प्रकृति धारण कर लेनी पड़ती है।

द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा, अशोक ने अपने अभिलेख दक्षिण में भी, ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते। दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया जिनमें से एक लिपि ब्राह्मी हुई।

वेदों की रचना आर्यों ने की, यह सत्य है, किन्तु, वैदिक धर्म केवल आर्यों का निर्माण नहीं है। उत्तर की तरह दक्षिण भारत का भी इतिहास आर्यों के आगमन के बाद आरम्भ होता है। अगस्त्य के समय से दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भागों के लोग एक ही धर्म को मानते आये हैं और उनकी संस्कृति भी एक ही रही है। वैदिक धर्म के ग्रन्थ भी केवल

---

१. रेवरेंड किटेल (Kittel) की कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी पहले-पहल सन् १८९४ ई० में निकली थी। उसमें किटेल ने संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ऐसे चार सौ शब्द गिनाये हैं जो तमिल-भाण्डार के हैं। उनमें से कुछ शब्द ये हैं:—अक्ष (आँख), कुन्तल (सिर के बाल), गंड (गला) पक्ष (बगल), भाल (ललाट), एण (हरिन), चिंचा (इमली), मुकुल (कली), व्रीहि (चावल), तीर (तट), खल (दुष्ट), मल्ल (पहलवान), कान्तार (वन), ओदन (भात), अलं (यथेष्ट), तथा मोर, कुक्कुट, कोकिल, गरुड, मर्दन, मर्कट, मीन, एरण्ड, पुष्प, वेणु, कनक, कंकण, नील, निशानी, नीड, नीवी, कुठार तथा पण्डित भी। डाक्टर आर० काल्डवेल (काम्पैरेटिव ग्रामर आव् ड्रैविडियन लैंग्वेजेज में) तथा डाक्टर एच० गुंडर्ट ने भी (जर्मन ओरियंटल सोसायटी के जर्नल में) यह प्रमाणित किया था कि द्राविड़ धातुओं से बने अनेक शब्द संस्कृत में, तद्भवरूप में, गृहीत हुए हैं।

उत्तर में नही लिखे गये, उनमे से अनेक की रचना दक्षिण मे हुई थी। चिंतको, विचारको और विशिष्ट समाज की भापा दक्षिण मे भी सस्कृत ही थी तथा दक्षिण की भापाएँ भी सस्कृत के स्पर्श से ही जाग्रत और विकसित होकर साहित्य-भापा के धरातल पर पहुँच सकी हैं।

यजुर्वेद-सहिता की दो शाखाएँ हैं जो, क्रमग., शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद के नाम से विख्यात हैं। उत्तर भारत मे अधिक प्रचार शुक्ल का और दक्षिण भारत मे विशेप प्रचलन कृष्ण-यजुर्वेद का है। कृष्ण-यजुर्वेद मे कार्त्तिकेय, स्कन्द और गौरी, इन पौराणिक देवताओ का उल्लेख होने के कारण डाक्टर मगलदेव शास्त्री उसे वैदिकेतर धारा से प्रभावित मानते हैं। शास्त्रीजी का यह भी अनुमान है कि कृष्ण-यजुर्वेद शुक्ल की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, प्रत्युत, वे यह भी समझते हैं कि कृष्ण-यजुर्वेद की पौराणिक प्रवृत्ति के विरोध मे ही 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपातियो ने शुक्ल-यजुर्वेद का आरभ किया होगा और, कदाचित्, 'शुद्ध' धारा के कारण ही 'शुक्ल' और 'कृष्ण' नामो का प्रचलन हुआ। इस पर से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि कृष्ण-यजुर्वेद की रचना या तो दक्षिण भारत मे हुई होगी अथवा उन ऋपियो के द्वारा जो द्राविड देश के रहे होंगे।

श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रो के रचयिता आपस्तम्ब दक्षिण मे रहते थे। आपस्तम्ब के अनुकरण पर एक नवीन धर्मसूत्र के रचयिता सत्यापाढ हिरण्यकेशी भी, कदाचित्, मालावार के थे। वैखानस-सप्रदाय का गृह्य-सूत्र (जिसमें द्राविड भापा के मुहाविरो के भी निशान हैं) दक्षिण मे ही रचा गया था। वेदो को पुनरुज्जीवित करनेवाले महान् पण्डित सायणाचार्य दक्षिण मे हुए थे। सद्गुरुशिष्य भी दक्षिण के ही थे, जिन्होंने आश्वलायन-श्रौत-सूत्र एव आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र पर टीकाएँ लिखी। पुराणो में से सर्वाधिक लोकप्रिय भागवत पुराण की रचना दक्षिण में हुई थी। विष्णु-पुराण की विशिष्टाद्वैतवादी व्याख्या लिखनेवाले विष्णुचित्त स्वामी भी दक्षिण के ही विद्वान थे। रामायण पर विवेक-तिलक लिखनेवाले विद्वान् उदालि भी दाक्षिणात्य थे। उनका असली नाम आत्रेय वरदराज वताया जाता है। कहाँ तक गिनाया जाय, वेदो के वाद से हिन्दू-धर्म और सस्कृति पर जो असख्य ग्रन्थ लिखे गये, उनके लेखको मे से दाक्षिणात्य पडितो के नाम भी असख्य ही माने जा सकते हैं। उत्तर का चिंतन, आज के ही समान, पहले भी तुरन्त दक्षिण पहुँच जाता था और, इसी प्रकार, दक्षिण मे उत्पन्न विचारो और चिंतनाओ से उत्तर के विद्वान् प्रेरित हो उठते थे। केरल (यानी कन्याकुमारी) के शकराचार्य ने जब शारीरक भाष्य लिखा, तव उस पर भामती टीका मिथिला मे लिखी गयी जो हिमालय की तराई मे है। विचित्र वात यह है कि वाचस्पति मिश्र की भामती टीका ने ही शकर के शारीरक-भाष्य का सर्वाधिक प्रचार किया।

दक्षिण मे हिन्दू-धर्म के केवल दर्शन और शास्त्र ही नही लिखे गये, सस्कृत और प्राकृत काव्य-साहित्य की रचना मे भी दाक्षिणात्य कवियो और कलाकारो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

योगदान है। गाथा-सप्तशती के विश्राट रचयिता हाल शातवाहन महीप थे। जानकी-हरण काव्य के कर्त्ता महाकवि कुमार दास (६०० ई०) लका मे रहते थे। एक प्रसिद्ध गर्वोक्ति[1] की रचयित्री विज्जिका दक्षिणदेश-वासिनी थी। भारवि (७वी सदी) दक्षिण के थे, जिन्होने किरातार्जुनीयम् लिखा। भवभूति वरार में जनमे थे और कहते है कि विद्याभ्यास उन्होंने कुमारिल भट्ट के चरणो मे किया था। मुकुन्दमाला नामक काव्य के कर्त्ता कुलशेखर कवि (९ वी सदी) केरल देश के राजा थे। नलोदय, त्रिपुरदहन, युधिष्ठिर-विजय आदि चार यमक-काव्यो के रचयिता कवि वासुदेव दक्षिण के थे और राजा कुलशेखर के सरक्षण में केरल मे रहते थे। इसी प्रकार, सुप्रसिद्ध नल-चपू काव्य के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट (दसवी सदी) राष्ट्रकूट नरेश राजा इन्द्र द्वितीय के समकालीन थे और उन्ही के दरबार मे रहते थे। बृहत्कथा अब विलुप्त ग्रन्थ है, किन्तु, उसके रचयिता गुणाढ्य दक्षिण के थे। इसके सिवा, अप्पय दीक्षित, भट्टोजी दीक्षित, मल्लिनाथ, मल्लिनाथसुत और पडितराज जगन्नाथ, ये सबके सब महातेजस्वी चिंतक दक्षिण में ही जनमे थे। इस सूची को भी ज्यादा लम्बा बनाना व्यर्थ है। सस्कृत-साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालो का है, उतना ही ऋण दाक्षिणात्यो का भी है। उत्तर-दक्षिण का प्रश्न अभी हाल मे उठा है। प्राचीन काल मे सारा भारत सस्कृत को ही अपनी साहित्य-भाषा मानता था।

प्रत्येक प्राचीन जाति का सस्कार, उसकी आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी भाषा में बसते है। भारत की आत्मा और भारत के सूक्ष्म सस्कारो का निवास सस्कृत मे है। सस्कृत इस देश मे बसनेवाले लोगो की सेवा, और नही तो, तीन-चार हजार वर्ष से करती आयी है। भारत की सभी भाषाएँ सस्कृत के घाट पर पानी पीकर जीती आयी है और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है। भारत की आधुनिक भाषाओ मे नये शब्द बनाने की शक्ति समाप्त है। अब भारत की जो भी भाषा नया शब्द खोजती है, उसके सामने सस्कृत की ओर जाने के सिवा और कोई राह नही है। इसी सस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएँ एक है, क्योकि उनके शब्द एक है, उनकी तर्जे, भगिमा और अदाएँ एक है तथा वे एक ही सपने का आख्यान अलग-अलग लिपियो मे करती है।

उत्तर भारत की सभी भाषाएँ सस्कृत से निकल कर विकसित हुई है। ये भी परस्पर भिन्न है, किन्तु, सस्कृत ने हिन्दी को, एक खास ढग से, विकसित करके उत्तर भारत को

---

१ नीलोत्पलदलश्यामा विज्जिका मामजानता,
वृथैव दण्डिना प्रोक्त सर्वशुक्ला सरस्वती।

दुर्भाग्यवश, विज्जिका की कविताएँ विलुप्त हो गयी। किन्तु, जो थोडी-बहुत मिलती है, उनके आधार पर राजशेखर की यह सम्मति अतिरजित नही लगती कि यह कवयित्री कालिदास के ठीक बादवाले सोपान की अधिकारिणी रही होगी।

एक ऐसी भाषा दे दी जो थोडी बहुत सभी भाषा-क्षेत्रो मे समझ ली जाती है। तेलुगु, कन्नड और मलयालम भी प्राचीन तमिल मे ही निकली हैं। लेकिन, द्रविड-क्षेत्र में उस परिवार की कोई ऐसी भाषा उत्पन्न नही हुई जो चारों भाषा-क्षेत्रों में समझी जा सके। उत्तर की एक विलक्षणता यह भी है कि वहाँ की सभी भाषाएँ (संसार की अन्य भाषाओं के समान) किसी-न-किसी क्षेत्र के लोगों की मातृभाषाएँ हैं, केवल हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो, सही माने मे, किसी भी क्षेत्र की मातृभाषा नहीं है। कदाचित्, यही कारण है कि सारा देश उसे अपनी भाषा के रूप मे अपना रहा है। इसी प्रकार, सस्कृत भी भारत के किसी एक क्षेत्र की मातृभाषा नही थी।

आर्य और द्राविड़ स्वभाव

आर्य और द्राविड साहित्य की प्रकृति एक है। उम्र की दृष्टि से सस्कृत बड़ी, भारत की अन्य सभी भाषाएँ उससे छोटी, बहुत छोटी है। यहाँ तक कि तमिल, जो भारत की अर्वाचीन भाषाओ मे सबसे प्राचीन है, सस्कृत उससे भी, कम-से-कम, दो हजार वर्ष अधिक पुरानी भाषा है। अतएव, भारत को जो कुछ भी कहना था, उसने पहले सस्कृत मे कहा। बहुत बाद को जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, उनमे भी भावानुभूति और चिंतन की वही प्रक्रिया उद्भूत हो गयी, जो सस्कृत मे विकसित हुई थी। अतएव, हिन्दू-संस्कृति की मूल-भाषा सस्कृत रही। बाकी भाषाओ का एक लंबा-सा इतिहास केवल सस्कृत की उद्धरणी का इतिहास है।

इस दृष्टि से देखने पर आर्य और द्राविड स्वभाव को परस्पर भिन्न बताना निराधार लगता है। परन्तु, एकाध विद्वान ने यह कल्पना करने का साहस किया है कि आर्यों और द्रविडो के स्वभाव मे, किसी-न-किसी समय, थोड़ी भिन्नता अवश्य रही होगी अन्यथा यह कैसे सम्भव हुआ कि कर्मकाण्ड और आशावाद के प्रेमी आर्य निवृत्ति के चक्कर मे आ गये और जो लोग प्रकृति के सौन्दर्य पर न्योछावर होना ही अपना परम धर्म मानते थे, उनकी सततियो ने देह-दडन और कृच्छ्र साधना को अपना कर्तव्य मान लिया? मिलते-मिलते आर्य और द्रविड परस्पर इस प्रकार मिल गये कि उनमें मे एक का विश्वास दूसरे का भी विश्वास बन गया और एक की आदते दूसरे की आदतो में समा गयी। नदियो के समान ही प्राचीन सस्कृतियो का उद्‌गम निश्चयपूर्वक नही जाना जा सकता। विशेषत., हिन्दू-सस्कृति तो महानद के समान है। उसके भीतर अनेक नदियो का जल समाहित हुआ है। तभी वह इतना विस्तृत और अथाह दीखता है। फिर भी, इस महानद को विशेष रूप से पुष्ट बनानेवाली दो महाधाराएँ अवश्य है, जिन्हे हम आर्य और द्राविड़ विशेषणो के साथ जानते है।

औसत मुसलमान कवि और औसत हिन्दू विचारक होता है। इसी न्याय से हम कह सकते है कि आरभिक आर्य आरभिक द्रविडो की अपेक्षा भावुक अधिक थे। सभ्यता

ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, आदमी की चिंतनशीलता उसके कवित्व को दबाती जाती है। द्रविड़, सभ्यता में, आर्यों से आगे थे यानी आर्यों की अपेक्षा वे अधिक प्राचीन थे। अतएव, उनकी कल्पना में चिंतन की रीढ़ पैदा हो चुकी थी। आर्य भारत पहुँचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मौजी जीव रहे थे, अतएव, उनके भीतर यह उत्साह वर्त्तमान था कि प्रकृति के सौंदर्य पर वे चकित हो सकें। किन्तु, द्रविडों का चिंतन कवित्व से आगे निकल चुका था। सूर्योदय के साथ-साथ, कादाचित्, वे सूर्यास्त भी कई बार देख चुके थे जिसके कारण जीवन की निस्सारता का बोध उन्हें होने लगा था।

सभ्यता यदि संस्कृति का आधिभौतिक पक्ष है तो भारत में इस पक्ष का अधिक विकास आर्यों ने किया है। इसी प्रकार, भारतीय साहित्य के भीतर भावुकता की तरंग, अधिकतर, आर्य-स्वभाव के भावुक होने के कारण बढ़ी। किन्तु, भारतीय संस्कृति की कई कोमल विशिष्टताएँ, जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य-भावना, द्रविड़-स्वभाव के प्रभाव से विकसित हुई हैं। यह देश आर्यों के आगमन के पूर्व से ही अहिंसक, अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने आकर यहाँ जीवन की धूम मचा दी, प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु, जब उनका यज्ञवाद भोगवाद का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीव-हिंसा को धर्म मानने लगे, इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीव-घात, दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी सनातन संस्कृति के उद्‌घोष थे। अति का उत्तर बराबर अति तक पहुँच कर रुकता है। यदि आर्यों का यज्ञवाद, खुल्लमखुल्ला, जीव-हिंसा को औचित्य प्रदान नहीं करता अथवा ब्राह्मण यदि धर्म को अपनी भोग-लोलुपता का साधन नहीं बनाते अथवा यदि उन्होंने यह भाव कायम रखा होता कि जन्मना श्रेष्ठ होने के लिए भी ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व पर आरूढ़ रहना चाहिए, तो वैदिक धर्म के प्रति उठनेवाले विद्रोह कटुता तक नहीं पहुँचते, न निवृत्तिवादी विचार-धारा को उतनी शक्ति प्राप्त होती, जितनी शक्ति उसे जैन और बौद्ध मतों से प्राप्त हुई।

वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित नहीं थे, न वे संसार को असार मान कर उससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएँ ऐसी हैं, जिनसे पस्त से पस्त आदमियों के भीतर भी उमंग की लहर जाग सकती है। उन्हें ऋत का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके मनुष्य जो भी चाहे, प्राप्त कर सकता है। किन्तु, बराबर उनकी प्रार्थना लंबी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए ही की जाती थी। वैदिक प्रार्थनाएँ प्रार्थनाएँ भी हैं और सबल, स्वस्थ, प्रफुल्ल जीवन को प्रोत्साहन देनेवाले मंत्र भी।

हम सौ वर्षों तक जियें।
हम सौ वर्षों तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें।

हम सौ वर्षों तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।
हम सौ वर्षों तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

* *

हम सौ वर्षो तक अदीन होकर रहें।

* *

जो स्वयं उद्योग करता है, इन्द्र उसी की सहायता करते हैं।
जो श्रम नही करता, देवता उसके साथ मित्रता नही करते।

* *

भगवन्! जीवन-यात्रा मे हमें समुन्नत कीजिये।
हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

* *

मैं इन्द्र हूँ, मेरी पराजय नही हो सकती।

* *

मेरे आराध्य देव!
आप तेज:स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिये।
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।
आप ओज:-रूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

* *

मेरे पुत्र शत्रु का हनन करनेवाले हो।
हमारे पुत्र सुवीर हो और उनके साथ हम शत्रुओ पर विजय प्राप्त करें।

* *

तू न तो भयभीत हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

* *

मेरे लिए सभी दिशाएँ झुक जायें।[1]

जो आर्य ऐसी जीवन्त प्रार्थनाओं के अभ्यासी थे, वे ही जैन और बौद्ध मतो के उत्थान के समय, भरी जवानी मे सन्यास लेने लगे, रक्तपात से घबरा कर युद्ध-विमुख होने लगे और खेती करने से कही कीट-पतग न मर जायें, इस चिंता से कातर होकर कोई और रोजगार ढूँढने लगे। किन्तु, बौद्ध और जैन मतो के मत्थे हम यह दायित्व क्यों मढे? सन्यास, मोक्ष और निवृत्ति की भावना तो उपनिषदो में ही प्रकट होने लगी थी। आर्यों की मौलिक भावनाएँ ऋग्वेद तक ही अक्षुण्ण रही। उपनिषद् मूल-आर्यों के ग्रन्थ नही हैं,

१ भारतीय सस्कृति का विकास, वैदिक धारा

वे उन भारतीय आर्यों की रचनाएँ है, जो स्थानीय प्राग्वैदिक सस्कृति से भलीभाँति प्रभावित होने लगे थे।

कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कर्म (कर्मकाण्ड) तो सोलह आने आर्यों की देन है, किन्तु, ज्ञान और भक्ति का विकास प्राग्वैदिक सस्कृति के प्रभाव से हुआ। अचरज की बात है कि कर्म तो समाप्तप्राय है, सारे देश के धर्म-साधको में अब ज्ञान और भक्ति, विशेषत, भक्ति का ही अधिक प्रचार है।

निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परम्परा मे विद्यमान थे। आर्यों के आने के बाद यहाँ उत्साह की एक प्रवल तरग अवश्य उठी, किन्तु, वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रवलता चिरस्थायी नही हो सकी। जो लोग उत्साह की ऋचाएँ रचते थे, स्वय वे ही अवसाद का गीत गाने लगे। भारतीय सस्कृति में कोई अजेय शक्ति है, जिसने पराजय नही जानी है। इसी शक्ति के कारण भारत, सब को स्वीकार करने के बाद भी, भारत ही बना रहता है और जब हम भारत कहते है, तब हमारा लक्ष्य वह भारत होता है, जिसका मूल प्राग्वैदिक काल की अतल गहराइयो में छिपा हुआ है। इस भारत ने केवल उन्हें ही नही पचाया जो आर्यों के बाद आये थे, उसने आर्यो को भी पचा कर उन्हें प्राग्वैदिक भारत का अग बना दिया। भारतीय सस्कृति के प्राग्वैदिक तत्त्व आज भी उसके वैदिक तत्त्वो से अधिक प्रबल और प्रसार-पूर्ण हैं। आर्यों का अपना धार्मिक कृत्य होम था, किन्तु, होम और यज्ञ अब कितने लोग करते हैं ? आज घर-घर में हवन नही, पूजा का प्रचार है जिसमे धूप, दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते है। एक समय यह समझा जाता था कि पूजा सस्कृत शब्द है जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किन्तु, यह मान्यता अब नही चलती। अब लोग समझते है कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओ, पू और जै (शइ) के योग से बना है। तमिल में पू का अर्थ पुष्प होता है और जै का अर्थ कर्म। अतएव, पू और जै के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहाँ फिर अहिंसा की परम्परा, मूल में, द्राविड दिखायी देती है, क्योकि हवन पशु-कर्म था। पीछे, आर्यो के यहाँ भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पडा। पूजा के प्रेमी, कभी-कभी, हवन भी करते है, किन्तु, अहिंसक ढग से। इसी प्रकार, भारतीय सस्कृति, नूतन अवदानो को ग्रहण करने के बाद भी, अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती आयी है।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद

आर्य जब भारत मे आये, तब जाति-प्रथा भारत मे थी या नही, इसका निश्चय नही हो पाया है। स्वय आर्यों के भीतर यह प्रथा उस समय किस सीमा तक विकसित हो चुकी थी, यह विषय भी काफी सदिग्ध है। किन्तु, प्राचीन काल मे समाज को, धन्धो के आधार पर, चार भागो मे विभक्त करने का रिवाज कई देशो मे था। ईरानी समाज

मे चार जातियाँ थी, इसका उल्लेख पारसी-प्रसंग में किया जा चुका है। इसी प्रकार, यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी मनुष्यो की चार जातियो का उल्लेख किया है।

भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और 'जाति' शब्द का बहुत बाद मे मिलता है।[1] इस पर से यह अनुमान लगाया गया है कि वर्णों की उत्पत्ति रग-भेद के कारण हुई होगी। किन्तु, यह बात सत्य नही है। ब्राह्मणो का वर्ण श्वेत, क्षत्रियो का लाल, वैश्यो का पीत और शूद्रो का वर्ण श्याम होता है, यह बात केवल महाभारत मे कही गयी है। अन्यत्र "चातुर्वर्ण्य-विचार मे वर्ण का रगवाला अर्थ, क्वचित्, ही मिलता है। अतएव, रग-भेद पर आधारित चातुर्वर्ण्य की कल्पना, यथार्थ मे, अत्यन्त दुर्बल और निराधार है।"[2] धर्मशास्त्रो मे जाति और वर्ण का प्रयोग समानार्थक है और उसका आधार बीज-क्षेत्र-विचार ही ठहरता है। डाक्टर अम्बेडकर ने शोधपूर्वक यह मत निरूपित किया है कि वेदो से यह प्रमाणित नही होता कि आर्यो का रंग दासो के रंग से भिन्न था। वर्ण का निर्धारण पहले व्यवसाय, स्वभाव, सस्कृति आदि के आधार पर ही हुआ था। पीछे जातिवाद के प्रकट होने पर वर्ण का आधार भी बीज-क्षेत्र-विचार हो गया।

ऋग्वेद मे भारतीय प्रजा के लिए सर्वत्र 'विश' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ बसनेवाला होता है। वैश्य शब्द ऋग्वेद में नहीं है। अनुमान है कि जातिप्रथा के विकास-काल मे इस 'विश' शब्द से वैश्य शब्द निकल पड़ा। "मूल वैदिक काल मे आर्य जनता (विश) में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नही हुआ था। यह भी ध्यान देने की बात हैकि समस्त ऋग्वेद-सहिता मे 'शूद्र' और 'राजन्य' शब्द केवल एक-एक बार आये हैं।"[3] शूद्र शब्द का यह उल्लेख केवल पुरुष-सूक्त मे हुआ है। किन्तु, पुरुष-सूक्त ऋग्वेद में बाद को जोडा गया प्रतीत होता है। कोलब्रुक और मैक्समूलर, दोनो ही विद्वान् यह मानते हैं कि पुरुष-सूक्त, शैली और भाषा, दोनो ही दृष्टियों से ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत नवीन है। डाक्टर मगलदेव शास्त्री का भी विचार है कि "पुरुष-सूक्त, स्पष्टतया, अन्तिम वैदिक काल की रचना है।" डाक्टर मंगलदेव का यह भी कथन है कि 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दो का प्रयोग भी 'ब्रह्मन' और 'क्षत्र' शब्दो की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है और, स्पष्टतया, वह अपेक्षाकृत पिछले काल का है।"

इस प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियो के उद्गमो के सकेत (ब्रह्मन, क्षत्र और विश) तो ऋग्वेद में मिलते है, किन्तु, पुरुष-सूक्त को पीछे का जोड मानने पर, यह बताना असम्भव हो जाता है कि शूद्रो का उद्गम क्या था। शायद, डाक्टर अम्बेडकर

---

१ "हमें अभी तक वैदिक सहिताओ मे 'जाति' नही मिला है। ब्राह्मण-ग्रन्थो में भी शतपथ-ब्राह्मण (१।८।३।६) के एक सदिग्ध स्थल को छोडकर वर्ण के अर्थ मे प्रयुक्त जाति शब्द हमको नही मिला है।"—मगलदेव शास्त्री.

२. लक्ष्मणशास्त्री जोशी

३ मगलदेव शास्त्री

की यह स्थापना गलत नही है कि शूद्र उसी भाण्डार के है जिसकी मुख्य शाखा क्षत्रिय जाति के रूप मे विकसित हुई।[1] परम्परा से हम कुछ वन्शो को शूद्रो से सम्बद्ध मानते आये है। यदि इस आधार पर विचार किया जाय तो कई प्राचीन उदाहरण ऐसे है, जिनसे यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद-काल मे शूद्र तिरस्कृत नही थे। छान्दोग्य-उपनिषद मे कथा आयी है कि रैक्व ने जनश्रुति को वेद पढाया था, किन्तु, रैक्व गाडीवान, अत, शूद्र थे। डाक्टर अम्बेडकर ने कवष ऐलूष को शूद्र बताया है, यद्यपि, ऐलूष ऋग्वेद के दशम मडल के कई मत्रो के रचयिता थे। महाऐतरेय उपनिषद के अनुसार भी कावषेय लोग दासी-पुत्रो के वशज थे, किन्तु, वे यज्ञो के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन करते थे। भरद्वाज-और-कात्यायन-श्रौत-सूत्रो में सकेत है कि कई धर्मशास्त्र यज्ञ का अधिकार शूद्रो को भी देते थे। अश्विनीकुमारो को इन्द्र सोमपान का अधिकारी नही समझते थे, क्योकि वे शूद्र थे। किन्तु, महर्षि च्यवन ने इन्द्र से वैर ठानकर अश्विनीकुमारो को सोम अर्पित किया था।[2]

वेदकालीन राजा सुदास शूद्र थे। वैदिक परम्परा के अनुसार वे राजर्षि विश्वामित्र के सरक्षक थे। सुदास का राज्याभिषेक वशिष्ठ ने किया था और राजा सुदास ने अश्वमेध-यज्ञ किया था, इसका भी उल्लेख है।

ऋग्वेद मे तीन ही वर्ण है, शूद्र को चौथे वर्ण के रूप में वहाँ गिना नही गया है। शतपथ-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-ब्राह्मण भी तीन ही वर्णो की स्थिति बतलाते है। ऐसी अवस्था मे यह मानने का क्या आधार हो सकता है कि इन तीन वर्णो के सिवा, आर्यों के समाज मे बहुत-से ऐसे भी लोग थे, जिन्हें आर्यो ने कोई नाम नही दिया था? इससे अधिक युक्ति-युक्त सम्भावना यही हो सकती है कि शूद्र भी, किसी न किसी प्रकार के, द्विज थे और उनका स्थान, घट-बढकर, क्षत्रियो के ही समान था। इस समावना को कुछ अतिरिक्त बल इस बात से भी मिलता है कि "कर्म-सादृश्य या स्वभाव-साम्य के आधार पर चातुर्वर्ण्य-परिधि के बाहर के (भारत मे अथवा भारत के बाहर विद्यमान्) राष्ट्र, गण या समूह मनुस्मृति, महाभारत तथा पुराणो में क्षत्रिय जाति के रूप में निर्दिष्ट है"।[3]

आर्य-वृत्त से बाहर रहनेवाले सुसभ्य लोग क्षत्रिय समझे जाते थे, तब फिर आर्य-समाज के भीतर बसनेवाले लोग, जिनकी गणना त्रिवर्ण में नही है, तिरस्कृत शूद्र की स्थिति मे क्यो रहे होगे? शूद्रत्व का विधान ऋग्वेद-काल के बाद जाकर हुआ होगा। मनुस्मृति और महाभारत मे वृषल उन्हे कहा गया है जो आर्य-वृत्त से बाहर थे जैसे शक,

---

१. Who were the Shudras?

२ अश्विनीकुमार देवताओ के वैद्य थे। यह विचारणीय अवश्य है कि वे सोम के अधिकारी क्यो नही समझे जाते थे। वैद्यक के क्रम मे उन्हें कुछ घृणित कार्य करने पडते होगे। अतएव, वे शूद्र मान लिये गये हो तो कोई आश्चर्य नही।

३ लक्ष्मण शास्त्री जोशी

यवन, पारद, चीन, किरात, दारद, पौंड्र, चोड्र आदि जातियों के लोग। वृषलों के द्वारा यज्ञ करवा कर उन्हें आर्य-वृत्त में सम्मिलित कर लेने की प्रथा महाभारत-काल में विद्यमान् थी।[1] द्विज-वृत्त से बाहर के लोग, कर्मशुद्धि के द्वारा, द्विज-वृत्त में प्रवेश पा सकते थे और अधिकतर वे क्षत्रिय-जाति की दीर्घा में स्थान ग्रहण करते थे। इधर भारत में जब से यह आन्दोलन उठा है कि द्विजेतर जातियों के लोग भी द्विजत्व प्राप्त करें, तब से, प्राय, जो भी लोग शूद्र जाति से उठकर द्विजत्व का दावा करते है, वे और किसी जाति मे न जाकर, अपने को क्षत्रिय कहना ही अधिक पसन्द करते हैं।

प्रत्येक जाति को, सदा के लिए, किन्ही खास धन्धों से बाँध देने का रिवाज वैदिक युग के बाद प्रचलित हुआ, जिसका स्पष्टतम उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है।

वरं स्वधर्मो विगुणो, न पारक्यः स्वनुष्ठितः,
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः।

अपना विगुण धर्म भी (यानी पैतृक परम्परा से प्राप्त कठिन धन्धा भी) दूसरों के धर्म से श्रेष्ठ है। दूसरो का सुविधाजनक धन्धा अपना कर जीने वाला मनुष्य जाति से च्युत हो जाता है। "किन्तु, अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे वर्ण-व्यवस्था में काफी लचीला-पन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे आना-जाना असम्भव नही था। इतिहास-पुराण मे सैकडो उदाहरण वर्ण-परिवर्तन के दिये हुए मिलते है।"[2]

पुरूरवा क्षत्रिय राजा थे। गाधि उन्ही के वंश मे जनमे थे। किन्तु, गाधि की कन्या सत्यवती से परशुराम के पितामह ऋचीक ने विवाह किया। इस प्रकार, एक ही गाधि के पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय और जामाता ऋचीक ब्राह्मण कहे गये है।

कृष्ण-द्वैपायन व्यास की माता सत्यवती धीवर-जाति की थी, किन्तु, व्यास क्षत्रिय और ब्राह्मण, सब के पूजनीय थे। इसी प्रकार, जाबाला का पुत्र सत्यकाम ब्रह्मविद्या का अधिकारी ब्राह्मण समझा गया, यद्यपि, जाबाला इतना भी नही जानती थी कि सत्य-काम किस पुरुष के ससर्ग से जनमा था। लक्ष्मण शास्त्री जोशी और डाक्टर अविनाश चन्द्र दत्त ने अपने ग्रन्थो में इस बात के अनेक प्रमाण उपस्थित किये है कि वेदो के आरंभिक युग मे सभी प्रकार की श्रेणियों से उठकर लोग ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते थे। जाति-परि-वर्तन का रिवाज पजाब मे, कदाचित्, महाभारत-काल मे खूब चल रहा था जिसकी निन्दा करते हुए कर्ण शल्य से कहता है कि "वाल्हीक देश मे ब्राह्मण ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नापित बनते हैं और फिर ये ही लोग ब्राह्मण बन जाते है।"

मनु ने प्रत्येक जाति के लिए निर्दिष्ट धन्धो को अटल बनाने का जो विधान किया,

---

१. महाभारत के शान्तिपर्व मे इन्द्र ने मान्धाता को उपदेश दिया है कि "अपने राज्य के इन दस्युओ को वैदिक धर्म की दीक्षा दो और उनसे यज्ञ करवा लो।"
२. मगलदेव शास्त्री

वैसी कोई भी बात ऋग्वैदिक समाज में नही थी। ऋग्वेद के एक सूक्त (नवम मडल, ११२) का ऋषि कहता है, "मै कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता पिसान करती है।" ऋग्वेद मे ही (मडल १०, सूक्त १०२) ऋषि मौद्गल्य का उल्लेख है, जिन्होने गाय चुरानेवाले दस्युओ का पीछा शस्त्र उठा कर किया था। परशुराम ब्राह्मण होकर भी भयानक योद्धा के रूप मे प्रसिद्ध है। भृगुओ का उल्लेख ऋग्वेद मे रथ बनाने वाले बढई के रूप मे हुआ है। देवताओ में से ऋभुगण धातु-शिल्प और लकडी के काम में उस्ताद थे।

पता नही, बाद को शिल्प जाननेवाले लोगो की गणना, प्रायेण, शूद्रो में क्यो कर दी गयी। कदाचित्, द्विजो ने अपने आभिजात्य को अक्षुण्ण रखने की चिन्ता मे शिल्पकारो को अपनी पक्ति मे आने नही दिया। क्षत्रिय राजा और योद्धा होते थे तथा ब्राह्मण पुरोहित और मत्री तथा राजगुरु। इन दोनो के बीच परस्पर-आश्रयी सम्बन्ध था। वैश्य, दीर्घा में, दोनो से हीन अवश्य थे, किन्तु, कृषि और वाणिज्य पर एकाधिपत्य होने के कारण राजा और ब्राह्मण, दोनो ही वैश्यो का सत्कार करते थे। किन्तु, इन तीनो जातियो के लोग शिल्प और कला-कौशल को हीन व्यवसाय एव शूद्रो के योग्य समझते थे। "जो वर्ग सुसस्कृत थे, जिनकी बुद्धि का भरसक विकास हुआ था, वे साधारणतया औद्योगिक कलाओ से दूर ही रहे। इस बात का भारतीयो के बौद्धिक और आर्थिक विकास पर विपरीत एव अनिष्टकारी परिणाम हुआ।"[1]

डाक्टर अविनाशचन्द्र दास और महामहोपाध्याय काणे, दोनो का मत है कि जिन दस्युओ और दासो को जीत कर आर्यो ने अपने समाज में सम्मिलित कर लिया, वे ही शूद्र हुए। किन्तु, विजित समुदाय के लोग आर्यों के यहाँ क्षत्रिय वर्ण मे भी सम्मिलित होते थे। अतएव, समझना चाहिए कि शूद्र, अधिकाश में, वे लोग हुए होगे जिनका सास्कृतिक धरातल निम्न कोटि का रहा होगा। इसी प्रकार, आर्यो के अपने वृत्त के भीतर के जो द्विज वृषलत्व को प्राप्त होते थे, वे भी ऊपर से लुढक कर शूद्र-जाति मे आ मिलते होगें। विशेषत, शूद्रो की सख्या उन लोगो के कारण बढी है, जिनका जन्म अनुलोम और प्रतिलोम, दोनो ही श्रेणियो के गर्हित विवाहो से होता रहा है।

उच्च वर्ण के पुरुषो का हीन वर्ण की स्त्रियो से विवाह अनुलोम विवाह कहलाता है और हीन वर्ण के पुरुषो का उच्च वर्ण की स्त्रियो से विवाह प्रतिलोम विवाह। प्रतिलोम विवाह तो, आरम्भ से ही, गर्हित समझा जाता था, अनुलोम विवाह की पहले निन्दा नही थी। किन्तु, आगे चलकर अनुलोम और प्रतिलोम, दोनो ही प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सततियाँ वर्ण-सकर मानी जाने लगी और वे, सबकी सब, शूद्र-जाति मे प्रविष्ट हो गयी। "अनुलोम विवाह का प्रतिषेध बडा ही अर्वाचीन है। सम्राट् हर्षवर्धन (सातवी सदी)

---

१. वैदिक सस्कृति का विकास

के काल तक असवर्ण विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण पाये जाते है। जाति-भेद का आज के जैसा दृढ प्रभाव एक हजार वर्ष पहले नही था।"[1]

डाक्टर अम्बेडकर की मान्यता है कि शूद्र पहले उपनयन और यज्ञ, दोनो के अधिकारी थे। किन्तु, "वेद तथा यज्ञ के बारे मे शूद्र का अधिकार तैत्तिरीय-संहिता के समय मे ही अस्वीकृत कर दिया गया था।" "शूद्र का धर्म द्विजो की सेवा करना है, यह मान्यता उसी समय प्रचलित हुई।" 'ऐतरेय-ब्राह्मण मे शूद्र को 'यथाकामप्रेष्य' और "यथाकामवध्य" माना गया है।"[1] यथाकामप्रेष्य का अर्थ यह है कि द्विज शूद्र को जहाँ भी चाहते, भेज सकते थे, और यथाकामवध्य का अभिप्राय यह कि द्विज शूद्रों का जो भी ताड़न करना चाहते, कर सकते थे।

खैरियत सिर्फ इतनी हुई कि शूद्र कभी भी उस निस्सहायता मे नही पडे जो पश्चिमी जगत् की दास-सस्था का लक्षण थी। धार्मिक दृष्टि से शूद्र द्विजो के अधीन थे, प्रायः, उनके दास भी थे, किन्तु, वे सामी अथवा यूरोपीय इतिहास के गुलाम नही थे। "शूद्र अपनी देहो, अपने श्रमो, अर्थोत्पादक आयुधो तथा भूम्यादि सपत्ति के स्वामी थे। शूद्रो की आजीविका के कई ऐसे स्वतन्त्र व्यवसाय थे जो त्रैवर्णिकों के तनिक भी अधीन नही थे। शूद्र ही, प्रधान रूप से, पशुपालन, धातु-कर्म, बुनाई, बढइगिरी, लुहार, कुम्हार और चर्मकार के काम तथा रसोई आदि हीन तथा उच्च व्यवसायो को अपनाते थे।"[2] शोषण तो भारत में शूद्रो का भी हुआ और खूब हुआ, किन्तु, द्विजों के वे क्रीत दास कभी भी नही रहे। "आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का कथन है कि यदि अपने लिए, अपनी भार्या अथवा अपने पुत्र के लिए आर्थिक कठिनाई महसूस हो तो कोई हर्ज नही, परन्तु, दासो और मजदूरो का वेतन पहले देना चाहिए।"[3]

स्पष्ट ही, यह दास अरस्तू की कल्पना के दास से भिन्न है। भारत में दासो को यह भी अधिकार प्राप्त था कि वे अर्थ का सचय करे और चाहे तो द्रव्य देकर दासत्व से छूट कर आर्य बन जायें। महाभारत तो इस बात की कल्पना मे भी विश्वास करता है कि यह कोई आवश्यक नही है कि शूद्र दूसरो की सेवा पर ही अवलबित रहे। "वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पोपजीवित्व की परम्परागत वृत्ति के अभाव मे शूद्र को शुश्रूषा पर निर्भर रहना चाहिए", ऐसा उल्लेख महाभारत मे मिलता है। यदि चतुराश्रम की दृष्टि से विचार करे तो महाभारत के शान्तिपर्व मे यह भी कहा गया है कि संन्यास को छोड कर शूद्र बाकी तीन आश्रमो मे, विधिवत्, जीवन यापन कर सकता है।

जाति-प्रथा जनमी कैसे ?

ऋग्वेद में केवल त्रिवर्णों का उल्लेख है। जब शूद्रो का आविर्भाव हुआ, तब से

---

१. लक्ष्मण शास्त्री जोशी। २. वही। ३. वही

वैदिक समाज चार वर्णो का समाज माना जाने लगा। चातुर्वर्ण्य निन्दित सस्था नही थी, न आज हम उसकी निन्दा करते यदि वर्णाश्रम के भीतर से अगणित जातियो का जन्म नही हो गया होता। गीता मे भगवान ने बडे ही सतोष से कहा है, "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुण-कर्म-विभागश।" वर्णाश्रम का समर्थन स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने भी किया है। किन्तु, विलाप की बात इतनी ही है कि वर्णाश्रम के भीतर से अनेक जातियाँ निकल पडी, ऊँच-नीच का भेद बेतहाशा बढ गया और मनुष्य केवल शूद्र ही नही, अन्त्यज और अस्पृश्य माना जाने लगा। आज हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा अभिशाप यही जाति की प्रथा है और बडे से बडे लोग जाति-प्रथा की, वाणी से, निन्दा करने पर भी, कर्म मे उसकी अवहेलना नही कर सकते। हिन्दू-धर्म अपने अनुयायियो को चिन्तन की पूरी छूट देता है, उनकी वाणी पर भी वह कोई अकुश नही लगाता, किन्तु, आचरण की छूट देना उसके स्वभाव मे नही है। हिन्दुओ के यहाँ अपनी जाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध करने के लिए आदमी में, प्राय', उसी साहस की आवश्यकता होती है जिस साहस से लोग विधर्मियो के यहाँ विवाह करते है। नगरो मे ईसाई और मुसलमान के साथ सहभोज करनेवाला हिन्दू-क्रान्तिकारी भी अपने गाँव जाकर वहाँ हिन्दू-हरिजनो के साथ बैठकर खाने का साहस नही कर सकता। और भारत के कम्युनिस्ट सिक्ख भी दाढी और बाल इसलिए नही मुँडाते कि ऐसा करने से ग्रामो का वातावरण उनके विरुद्ध हो जायगा।

जाति की शाखाओ-प्रशाखाओ की वृद्धि अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो के कारण हुई, यह सत्य है, किन्तु, आरम्भ में जाति-प्रथा की बात आर्यो को सूझी कैसे, यही समझ में नही आता है।

एक अनुमान यह है कि जाति-प्रथा का आश्रय आर्यों ने इसलिए लिया कि जब वे इस देश में आकर बस गये, तब यहाँ अनेक जातियो के लोग बस रहे थे और आर्यो को ऐसा मालूम हुआ कि विभिन्न जातियो की रचना के द्वारा वे इन तमाम लोगो को एक समाज मे समेट कर बाँध सकते है। यहाँ द्राविड जाति के लोग थे जो धर्म-कर्म और सभ्यता-सस्कृति मे बहुत ऊँचे थे। तब औष्ट्रिक और, शायद, नीग्रो जाति के भी लोग थे, जिनका अधिकाश जगलो मे अथवा गाँवो के बाहर या उनके किनारो पर बसता था और इन लोगो की सभ्यता भी अविकसित थी। और इन सबके ऊपर आर्य थे, जो अपने को श्रेष्ठ समझते थे और जिन्हे अपनी सस्कृति और मेधा पर नाज था। फिर, बहुत-से ऐसे लोग भी रहे होगे जो इन जातियो के बीच वैवाहिक मिश्रण से उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार, उन दिनो भारत मे ऐसे लोगो की भरमार थी, जिनमे से कुछ तो पूर्णरूप से सभ्य और कुछ केवल अर्ध-सभ्य, कुछ धनी और कुछ गरीब थे; कुछ ऐसे थे जो ऊँची बातें समझ सकते थे और कुछ ऐसे, जिन्हे ऊँची बातो से कोई सरोकार नही था। साथ ही, इनमें से प्रत्येक जाति के पास अपनी कथा-कहानियाँ, अपने देवी-देवता, अपने रस्म-रिवाज और अपने

धर्म थे। इन्ही नाना प्रकार के लोगो को एक समाज मे बाँधने का भारी काम आर्यो के आगे था, जिसे पूरा करने के लिए उन्होने जाति-प्रथा का आश्रय लिया।

जातियों का जो रूप हम आज देखते है, वह आरम्भ मे नही था। फिर भी, आज हम जो कुछ देखते ह, उससे भी यह अन्दाजा लगाना कठिन नही है कि जातियाँ सिर्फ पेशो या व्यवसायो पर ही नही बनी है, उनके भीतर सभ्यता और सस्कृति के अनेक स्तर भी छिपे हुए है। ऊँची जाति की सस्कृति ऊँची और नीची जाति की सस्कृति नीची होती है, क्योकि ऊँची जातिवालो के पुरखे कुछ अधिक धनी थे, उन्हे पढने-लिखने और महीन काम करने का मौका कुछ अधिक मिला था। इसलिए, उनके खान्दान में ऊँची संस्कृति की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार, एक ही जाति मे कुछ गोत्रो के लोग अपने को औरो से अधिक ऊँचा समझते है। अछूत जातियो मे भी कुछ लोग कम अछूत और कुछ लोग ज्यादा अछूत समझे जाते है। असल मे, समाज के भीतर सस्कृतियो के जो ऊँचे-नीचे अनेक धरातल है, उन धरातलो पर भी जातियो का विभाजन देखा जा सकता है।

आर्यो ने जातिप्रथा का आश्रय इसलिए लिया कि उन्हे इस देश के अनेक वर्गो और लोगो को एक ही समाज के अन्दर, अपनी-अपनी सभ्यता और सस्कृति के अनुसार, उचित स्थानो पर बिठाना था। असल मे, जातिवाद के रूप मे आर्यो ने समाज के भीतर एक दीर्घा खडी कर दी, जिसमे नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियो के लोग, अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार, आसानी से बैठ सकते थे।

अगर भारत का आर्यीकरण आर्यो का ध्येय रहा हो, तो जाति की प्रथा ने इसमे उनकी भरपूर सहायता की होगी, क्योकि जातिवाद का नेतृत्व ब्राह्मणो के हाथ मे था, और पुरोहित की मजूरी के बिना जाति बदलना कठिन होता होगा। जो लोग आर्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और उनके सामाजिक आचार आदि सीख लेते थे, जाति की दीर्घा मे उनकी तरक्की आसानी से हो जाती थी। यह बात इससे भी सिद्ध है कि सुयोग्य द्रविड, आरम्भ से ही, ब्राह्मण मान लिये गये थे, और आरम्भ से ही, उनमे से अनेक लोग केवल द्रविडो के ही नही, आर्यो के भी पुरोहित का काम करने लगे थे। जातिप्रथा के चालू करने मे आर्यो का यह उद्देश्य नही था कि वे दविड़, औष्ट्रिक अथवा नीग्रो समाज की छूत से बचे, बल्कि, यह कि इन तमाम जातियो के लोगो को वे आर्य-सभ्यता मे रँगना चाहते थे और जो भी उनकी सभ्यता सीख लेता था, समाज मे उसकी उन्नति आसानी से हो जाती थी। यह प्राचीन संस्कार आज भी हिन्दू समाज में अपना काम कर रहा है और हम आये दिन देखते है कि जो हीन जातियाँ ऊपर उठना चाहती है, वे अखाद्य खाने और अपेय पीने की आदत तथा अन्य कुरीतियो को छोडकर जनेऊ धारण कर लेती है तथा कोशिश करने लगती है कि समाज उनकी गिनती द्विजो मे कर ले।

आरम्भ मे जाति-परिवर्तन पर कड़ी रोक नही थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि "जात-पाँत की ठीक जात-पाँत के रूप में स्थापना

दसवी शताब्दी ई० मे आकर हुई है और, उसके बाद भी, मिश्रण पूरी तरह बन्द नही हो गया। शहाबुद्दीन गोरी के समय तक हम हिन्दू जातो में बाहर के लोगो को सम्मिलित होते देखते हैं। सन् ११७८ ई० मे गुजरात के नाबालिग राजा मूलराज द्वितीय की माता से हारकर गोरी की मुस्लिम-सेना का बहुत बडा अश कैद हो गया था। उन कैदियो की दाढी-मूंछ मुंडवा कर विजेताओ ने सरदारो को तो राजपूतो में शामिल कर लिया था और साधारण सिपाहियो को कोलियो, खाँटो, बाब्रियो और मेडो में।"[1]

आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं कि "पुराने जमाने मे इतना बँधेज नही था। कलि के पहले असवर्ण विवाह भी चलता था और शूद्र के हाथ से पक्वान्न भी ब्राह्मण लोग ग्रहण करते थे। कलियुग में यह निषिद्ध कैसे हुआ? शाम शास्त्री कहते हैं कि बौद्ध और जैन धर्म का वैराग्य-प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इसके कारण हैं। ऊँचे वर्ण के लोगो ने जीव-हिंसा छोडी, शूद्रो ने नही छोडी, इसलिए, इनके हाथ का अन्न निषिद्ध हुआ। राजा राजेन्द्रलाल मित्र कहते हैं कि बौद्ध पड़ोसियो के अनुरोध से हिन्दुओ ने गोमास खाना छोडा।"[2] जिन्होने गोमास खाना नही छोडा, समाज की दीर्घा में वे नीचे लुढक गये।

जाति की प्रथा ने हिन्दू-समाज की सेवा इसी रूप में की है। इस प्रथा का उद्देश्य ही यहाँ आनेवाली हर एक जाति को भारतीय सस्कृति के ढाँचे में कस लेना था। मगोल, यूनानी, शक, आभीर, युची और हूण तथा मुस्लिम आक्रमण से पहले आनेवाले तुर्क, जाति-प्रथा के जन्म के बाद, जो भी लोग इस देश मे आये, उन्हे भारतीय समाज के अन्दर पचाने मे सबसे अधिक योगदान इसी प्रथा ने दिया, क्योकि इस देश में यह समस्या ही नही थी कि नवागन्तुक-जाति के लोग समाज में कहाँ पर रखे जायें। जातियो की श्रेणियाँ अनेक थी और वे दिनो-दिन बढती ही जा रही थी। अतएव, नवागन्तुक लोगो में से हर एक को अपनी वैयक्तिक अथवा पारिवारिक सस्कृति के अनुसार जाति के ढाँचे में उपयुक्त स्थान आसानी से मिल जाता था।

अब तो जाति-प्रथा बिलकुल निन्दित हो गयी है और वह टूटने भी लगी है, किन्तु, प्राचीन काल में उससे भारतीय सस्कृति को एक लाभ अवश्य हुआ। जब कोई जाति अपने से भिन्न किसी अन्य जाति पर विजयी होती है, तब उसके सामने सवाल यह आता है कि हारी हुई जाति से क्या सलूक किया जाय। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जब यह समस्या खडी हुई, तब गोरो ने कालो को चुन-चुन कर मार डाला और स्वय निष्कटक होकर उन देशो मे बस गये। आज भी अफ्रीका मे गोरे और काले का जो सवाल पेश है, उसे सुलझाने का रास्ता गोरो का वही है जिसे उन्होने किसी समय अमेरिका और आस्ट्रेलिया

१. इतिहास-प्रवेश २ भारतवर्ष में जाति-भेद

में अपनाया था। लेकिन, आर्यो का मार्ग अहिंसा और प्रेम का मार्ग था। उन्होंने अपने से भिन्न लोगों को मारा नहीं, बल्कि, जाति-प्रथा की विशाल दीर्घा के किसी न किसी सोपान पर बिठा कर उन्हें अपने समाज में मिला लिया।

अन्तर्जातीय विवाह

अन्तर्जातीय विवाह की बात सुनकर आज का औसत हिन्दू नाक-भौं सिकोटने लगता है, किन्तु, प्राचीन काल मे ऐसी बात नही थी। जो द्विज थे, उनके भीतर तो अन्तर्जातीय विवाह चलता ही था, द्विज और शूद्र के बीच भी विवाह पर रोक नहीं थी। हाँ, ऐसे विवाहो से उत्पन्न सततियो को समाज में कुछ निम्न पद दिया जाता था। किन्तु, धर्मशास्त्र इन सतानो को समाज से बाहर नही समझते थे।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न होनेवाली सतानो की जातियाँ क्या हों, इस विषय में धर्मशास्त्र बराबर चिन्तन करते रहे एव, समय-समय पर, जो निर्णय शास्त्र-कारो ने दिये, उनसे भी जाति की सख्या में बहुत वृद्धि हुई। उदाहरणार्थ, धर्मशास्त्रो के अनुसार, ब्राह्मण या क्षत्रिय पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न सतान नापित कहलाती है; द्विज पिता और शूद्र माता की संतान उग्र कहलाती है, वैश्य-क्षत्रिय से उत्पन्न पिता और शूद्र-वैश्य से उत्पन्न माता की सतान करन होती है; शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सतान शूनिक, निषाद या व्रात्य कहलाती है। महामहोपाध्याय श्री पी० वी० काणे ने अपने "धर्मशास्त्रो का इतिहास" नामक ग्रन्थ में तथा श्री शैलेन्द्रनाथ सेनगुप्त ने पश्चिमी बगाल की १९५१ ई० वाली जनगणना-रिपोर्ट मे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न होनेवाली जातियो का सुस्पष्ट वर्गीकरण किया है। श्री सेनगुप्त ने ऐसी २०९ जातियो की गणना की है, जो आर्येतर जातियाँ थी और जिनका आर्य-समाज मे प्रवेश प्रतिलोम या अनुलोम विवाहो के द्वारा हुआ है।

यह अवस्था ई० पू० ५०० या उससे इधर की है। यदि इस काल से और पीछे चलें तो महाभारत के समय विवाहो मे और भी उदारता बरती जाती थी एवं आर्येतर नारियाँ आर्यो के गृह मे पूर्ण आदर का स्थान, आसानी से, प्राप्त कर लेती थी। स्वय कृष्णद्वैपायन व्यास का जन्म सत्यवती या मत्स्यगधा की कुक्षि से हुआ था, जो धीवर जाति की कन्या थी। भगवान् कृष्ण की माता देवकी असुर वश की (कस की बहन) कन्या थी, यद्यपि, कृष्ण के पिता वसुदेव आर्य-क्षत्रिय थे। भीम ने हिडिम्बा नाम की राक्षसी (आर्येतर) से विवाह किया था। अर्जुन का एक ब्याह उलूपी से हुआ था, जो नाग-जाति की कन्या थी। श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा नागकन्या के गर्भ से उत्पन्न महातपस्वी, स्वाध्यायसंपन्न और तपोवीर्यसभूत थे। जरत्कारु ऋषि का जब कहीं ब्याह नहीं हो सका, तब नागराज वासुकी (आर्येतर) ने अपनी बहन का ब्याह उनके साथ कर दिया। इसी दपति के पुत्र आस्तीक हुए, जिन्होने जनमेजय से अनुरोध किया था कि वे नागो का नाश

न करें। नाग जाति की कन्याएँ अतीव रूपवती हुआ करती थी और, बहुधा, आर्य उनसे प्रसन्नतापूर्वक व्याह करते थे। आर्य-समाज में नागो से विवाह की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गयी थी कि ऐसे विवाहो से उत्पन्न सतान, अनायास, पिता की जाति में मान ली जाती थी। जरत्कारु के समान मन्दपाल ऋषि ने भी अन्यत्र विवाह की सभावना न देखकर एक तिर्यक्कन्या (आर्येतर) से व्याह किया था, जिसकी कुक्षि से चार पुत्र जनमे और चारो ब्रह्मवेत्ता हुए। और तो और, जिस वीर के नाम पर हमारा देश भारत कहलाता है, दुष्यन्त का वह यशस्वी पुत्र भरत भी किसी आर्य-कन्या की नही, अपितु, अप्सरा मेनका की बेटी शकुन्तला की कोख से जनमा था। और भगवान बुद्ध के विषय मे यह अनुमान है कि उनके वश में भी आर्य और मगोल रक्त का मिश्रण था। इसी प्रकार, प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा उदयन की एक रानी कुरु ब्राह्मण की बेटी थी। स्वय भगवान रामचद्र की दो माताएँ कौशल्या और कैकेयी तो राजवश की कन्याएँ थी, किन्तु, सुमित्रा का जन्म ब्राह्मण पिता और कर्णी माता के सयोग से हुआ था। कर्णी जाति आर्य-वृत्त से बाहर थी। मनुस्मृति में उसकी गणना झल्ल-मल्ल आदि जातियो के साथ व्रात्य क्षत्रियो में की गयी है। रामायण मे स्पष्ट उल्लेख है, "सुमित्रा वामदेवस्य बभूव कर्णीसुता।"

अनुलोम-क्रम से असवर्ण विवाह महाभारत-युग मे खूब प्रचलित था। आरभ के पौराणिक युग तक भी वह निन्दित नही हुआ था। निन्दा इसकी पिछले पौराणिक काल मे आकर होने लगी। पहले उच्च वर्णवालो को अपनी जाति से नीचे की जातियो में से कन्या लेने में कोई आपत्ति नही थी। जब आपत्ति की बात सामने आयी, तब पहले उन्होंने शूद्र-कुल को छोडा और पीछे वैश्य एव क्षत्रिय कुलो को भी।

नारी रत्न मानी जाती थी और रत्नो का सचय कुठौर से भी करना आर्यो के यहाँ सत्कर्म समझा जाता था। वेदो की कई ऋचाएँ नारियो की रचनाएँ है, फिर भी, यह कैसे हुआ कि नारी और शूद्र को वेद पढने का अधिकार नही रहा? इस सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "जब आर्य लोग इस देश मे आये होंगे तब, स्वभावत ही, उनके साथ स्त्रियो की सख्या कम रही होगी। इसीलिए, आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में उन्हे आपत्ति नही रही होगी। अन्त में, इन आर्येतर जाति की स्त्रियो की सख्या ही अधिक हो उठी होगी और उनकी प्रवृत्ति भी पतिकुल के यज्ञ-यागादि की अपेक्षा पितृकुल की पूजा-पद्धति की ओर ही अधिक रही होगी। इसलिए, वे स्वय भी, शायद, यज्ञादि कृत्यो में विशेष उत्साहशील नही रही होगी। इसलिए, अन्त में, स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल दिया गया होगा।"[1]

आर्यो को अपने रक्त की पवित्रता को बनाये रखने का ध्यान अवश्य था, किन्तु,

१ सस्कृति-सगम

रक्त की पवित्रता बची नही। अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा आर्य और आर्येतर रक्त का काफी सम्मिश्रण हुआ और इसी सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप, आर्यो और द्रविडो का वाशिक भेद नि शेष हो गया। नारियाँ सर्वत्र सस्कृति की पालिका समझी जाती है। भारत में उन्होंने सास्कृतिक समन्वय को भी सभव बना दिया।

ब्राह्मण, शूद्र और नारी का स्थान

वैदिक युग मे नारियो का बडा ही पूजनीय स्थान था। पत्नी के बिना आज भी हिन्दुओ का कोई धार्मिक संस्कार पूर्ण नहीं होता। किन्तु, वैदिक युग में तो स्त्रियां कुलदेवी मानी जाती थी। विवाह के अवसर पर वधू को आशीर्वाद देने के लिए ऋग्वेद में जो मत्र है, उसमें वधू से कहा गया है कि सास, ससुर, देवर और ननद की तुम "सम्राज्ञी" बनो। स्त्रियाँ गृहस्वामिनी तो होती थी, किन्तु, उनका कर्मक्षेत्र केवल घरो तक ही सीमित नही था। "खास कर क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न नारियो को युद्ध में सारथ्य करने का भी अधिकार प्राप्त था।" वे असाधारण विचारिका और पडिता भी होती थी। वेद की कितनी ही ऋचाएँ नारियो की रची हुई है।

विवाह उन दिनो उभय पक्षो के माता-पिताओ की मर्जी से नही, वर-कन्या की अपनी पसन्द से किये जाते थे। स्वयवर की पद्धति प्रचलित थी और स्वयवर-समारोह का आयोजन केवल कन्या-पक्षवाले ही नही, वर-पक्षवाले भी करते थे। यही नहीं, प्रत्युत, वर और कन्या विवाह से पूर्व भी परस्पर हेलमेल बढा लेते थे। "विवाह-पूर्व प्रेमी के लिए 'जार' शब्द प्रयुक्त होता था। 'जार' का अनैतिक अर्थ ऋग्वेद में नही पाया जाता, वहाँ उसका अर्थ केवल 'प्रणयी' है।"[1] दहेज का रिवाज वैदिक युग मे भी था, किन्तु, दहेज, अक्सर, वरपक्ष को ही देना पडता था। 'कतिपय अविवाहित नारियो के जीवन भर पिता के गृह में रहने के भी कुछ उदाहरण ऋग्वेद (२।१७।७) मे पाये जाते है।"[2]

पुत्र के अभाव मे पिता की सपत्ति का उत्तराधिकार पुत्री को प्राप्त होता था। पत्नी की हैसियत से भी वह पति की सपत्ति की अधिकारिणी होती थी। "आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।२९।३) में कहा गया है कि पति तथा पत्नी, दोनो समान रूप से धन के स्वामी है।"[3] नारियो के प्रति अन्याय न हो, वे शोक न करें, न वे उदास होने पाये, यह उपदेश मनुस्मृति ने बार-बार दिया है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा।

---

१. वैदिक सस्कृति का विकास २. वही ३. वही

जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही विनाश हो जाता है। जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न नहीं रहती, उस कुल की सर्वदा उन्नति होती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ नारियों की पूजा नहीं होती, वहाँ के सारे कर्म व्यर्थ हैं।

वैदिक युग की इस शुभ परंपरा की अनुगूंज हम पुराणों में भी सुनते हैं।

नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भववारिधौ।

संसार-समुद्र में डूबते हुए नर का उद्धार नारी करती है।

यः सदारः स विश्वास्यः तस्माद् दारा परा गतिः।

जो सपत्नीक है, वही विश्वसनीय है। अतएव, पत्नी नर की परा गति होती है।

लगता है, जब आर्येतर पत्नियों की संख्या आर्यों के यहाँ बहुत अधिक हो गयी, तभी उन्होंने उनके लिए वेदों का पढना रोक दिया, तभी, कदाचित्, जनेऊ पहनने का अधिकार भी उनका जाता रहा। इसी प्रकार, शूद्रों से भी यज्ञोपवीत धारण करने और वेद पढने का अधिकार तभी छिना होगा जब शूद्र-समाज में अधिकता आर्येतर लोगों की हो गयी होगी। सम्भव है, आर्य-समाज के आर्येतर सदस्यों में वेदों के प्रति ईषत् विरक्ति भी रही हो अथवा वे अपने प्राग्वैदिक धर्म तथा रीति-रिवाज और अभ्यास को अधिक महत्त्व देते रहे हों।

धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों का स्थान इतना अप्रतिम और अमोघ माना गया है कि उसे देख कर आश्चर्य होता है। शास्त्रकार सब के सब ब्राह्मण ही होते थे, अतएव, अपने स्थान को अमोघ बनाने की इच्छा उनमें प्रबल रही हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। धर्मशास्त्रों में, बार-बार, समाज को सावधान किया गया है कि वह ब्राह्मण को रुष्ट होने का अवसर नहीं दे।

क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम्।

कुपित ब्राह्मण संपूर्ण राष्ट्र का विनाश कर देता है।

मन्युप्रहरणा विप्राः न विप्राः शस्त्रयोधिनः
निहन्युर्मन्युना विप्राः वज्रपाणिरिवासुरान्।

ब्राह्मण शस्त्र उठाकर युद्ध नहीं करता, उसका हथियार उसका क्रोध है। क्रोध के द्वारा ब्राह्मण वैसा ही विनाश करता है, जैसा विनाश असुरों का इन्द्र करते हैं।

किन्तु, ब्राह्मणों के शील, स्वभाव और चरित्र की कल्पना जिस ऊँचे धरातल पर की गयी है, उसे देखते हुए उनका सर्वोपरि अमोघ स्थान उचित ही था। ब्राह्मण समाज के

नैतिक प्रहरी थे। वे समाज के विवेक के प्रतिनिधि होते थे, अतएव, उनका धर्म था कि, और तो और, स्वय राजा भी कुमार्ग पर चले तो उसे टोक दे। स्पष्ट ही, यह कर्तव्य वही पाल सकता है, जिसे किसी भी वस्तु का लोभ नही हो। निर्धनता को ब्राह्मण का सर्वस्व बता कर शास्त्रो ने उसके धन-लोभ को समाप्त कर दिया। किन्तु, जैसे धन के लोभ से मनुष्य भ्रष्ट होता है, वैसे ही, वह कीर्त्ति के लोभ में पड़कर भी अपने कर्तव्य से च्युत हो सकता है। अतएव, मनुस्मृति ने बार-बार ब्राह्मणो को सावधान किया है कि वे कीर्त्ति के लोभ से दूर रहें, प्रत्युत, उसे विप-तुल्य त्याज्य माने।

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः।

असम्मान पाने से तपस्या मे वृद्धि होती है; सम्मान पाने से तप का विनाश होता है।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विपादिव
अमृतस्यैव चाकांक्षेत् अवमानस्य सर्वदा।

सम्मान से ब्राह्मण उसी प्रकार भागे, जैसे मनुष्य जहर से भागता है और अपमान की कामना वह उसी प्रकार करे, जैसे लोग अमृत की कामना करते है।

अर्चितः पूजितो विप्रः दुग्ध गौरिव सीदति।

अर्थात् अर्चित-पूजित विप्र दुही हुई गौ के समान सूख जाता है।

ब्राह्मणो का जितना अधिक सत्कार था, उनके लिए उतने ही कठोर जीवन की भी व्यवस्था थी।

वैसे तो वर्णभेद का प्रसार बीज-क्षेत्र-विचार से ही हुआ, फिर भी, यह शका शास्त्रों और पुराणों मे मँडराती रही कि वर्ण का निर्धारण जन्म से होना चाहिए अथवा कर्म से।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

इस श्लोकार्द्ध से यह ध्वनि ली जा सकती है कि वर्ण-निर्धारण कर्म से होना चाहिए। किन्तु, अत्रिसहिता मे यही बात ठीक विपरीत ढग से कही गयी है।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।

अर्थात् ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण होता है; सस्कारो से उसे द्विजत्व की प्राप्ति होती है।

यह शका महाभारतकार महामुनि व्यास के भी मन मे थी, जिसे उन्होंने वनपर्व में वर्णित युधिष्ठिर-सर्प-सवाद मे प्रत्यक्ष किया है। वहाँ सर्प ने युधिष्ठिर से पूछा है कि ब्राह्मण कौन है। इस पर युधिष्ठिर कहते है कि ब्राह्मण वह है जिसमे सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव तथा तपस्या और दया, इन सद्गुणो का निवास हो। इस पर सर्प शका करता है कि ये गुण तो शूद्र में भी हो सकते है, तब ब्राह्मण और शूद्र मे अन्तर क्या है।

शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर।

अर्थात् हे युधिष्ठिर, सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरता का अभाव, दया तथा अहिंसा आदि गुण तो शूद्रो में भी हो सकते हैं।

इस पर युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया है, वह किसी भी अभिनव मनुष्य का उत्तर हो सकता है। युधिष्ठिर ने कहा,

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते,
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृत.
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत।

अर्थात् यदि शूद्र मे सत्य आदि उपयुक्त लक्षण है और ब्राह्मण में नही है, तो वह शूद्र शूद्र नही है, न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है। हे सर्प, जिसमे ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हो, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमे इन लक्षणो का अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिए।

इस प्रसग का अन्तिम निष्कर्ष सर्प घोषित करता है। वह खुले शब्दो में कहता है कि यदि आचार से ही ब्राह्मण की परीक्षा की जाय, तब तो जब तक उसके अनुसार कर्म न हो, जाति व्यर्थ ही है।

यह व्यास की आत्मा का स्वर है। यह जाति-प्रथा पर एक ऐसे मनीषी का मत मत है जो अपने समय मे देवता के समान पूज्य थे। क्या व्यास ने यह सम्मति इसलिए दी कि शूद्रा माता से उत्पन्न होने के कारण शूद्रो के प्रति उनकी सहानुभूति थी? अथवा इसलिए कि उस युग की भी मनीषा जाति-प्रथा को शका से देखती थी? स्थिति चाहे जो हो, किन्तु, बाद को बुद्ध ने जाति-प्रथा को जो चुनौती दी, उसके बीज वैदिक चिंतको में भी मौजूद थे।

समन्वय की प्रक्रिया

भारत की अन्य जातियो ने आर्यो के द्वारा चलायी गयी जाति-प्रथा को स्वीकार कर लिया, यह हमारे देश में सस्कृति-समन्वय की ओर पहला कदम था। इससे इतना हुआ कि आर्य, द्रविड, औष्ट्रिक और नीग्रो तथा सभी मगोल खान्दानो के लोग एक समाज के सदस्य हो गये, जिसका नाम आगे चलकर हिन्दू-समाज पडा। लेकिन, समन्वय की बातें यही नही रुकी और न यही हुआ कि आर्यो ने अपनी सस्कृति बाकी लोगो पर लाद दी। आर्य अपनी सस्कृति का प्रचार करने को उत्सुक थे, यह ठीक है, लेकिन, सभी जातियो का जब एक समाज हो गया, तब सबकी आदतें, सब के रस्म-रिवाज और सबके धर्म एक-दूसरे

को प्रभावित करने लगे तथा इस प्रभाव से आर्य भी नही बच सके। बल्कि, अचरज तो यह है कि आर्य जिन बातो पर खास तौर से जोर देते थे, वे बाते पोथियों और पडितो तक ही सीमित रह गयी और विशाल जनता ने, अधिकांश मे, उन बातो को अपना लिया जो बाते द्रविड-समाज मे प्रचलित थी अथवा जो रिवाज अन्य आर्येतर जातियों के लोगो मे चले आ रहे थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का आज जो रूप है, उसके भीतर प्रधानता उन बातो की नही है, जो ऋग्वेद मे लिखी मिलती है, बल्कि, हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ और हमारे धर्म के बहुत-से अनुष्ठान ऐसे है जिनका उल्लेख वेदो में नही मिलता। और जिन बातो का उल्लेख वेदो मे नही मिलता, उनके बारे मे विद्वानो का मत है कि या तो वे आर्येतर सभ्यता की देन है अथवा उनका विकास आर्यो के आने के बाद आर्य और आर्येतर, दोनो संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू-संस्कृति के आधे मे अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आये है।[1]

विद्वानो ने हिन्दू-संस्कृति का अब तक जो अध्ययन किया है, उसमें उनका तरीका यह रहा है कि वे हिन्दू-धर्म के किसी एक रूप को लेकर पीछे की ओर चलने लगते है और जाते-जाते वेदो मे उसका मूल खोजते है। किन्तु, वेदो मे हमारी संस्कृति के कई रूपो के केवल बीज ही मिलते है।[2] इन बीजो का विकास कैसे हुआ, यह कथा अधूरी रह जाय, अगर हम यह विश्वास करके नही चले कि आर्य-संस्कृति के बहुत-से बीजो का विकास द्राविड संस्कृति के सम्पर्क मे आकर हुआ।

केवल वेदो से हिन्दू-धर्म के विकास की सारी समस्याएँ हल नही होती। उदाहरण के लिए, शिव की पूजा हिन्दू-समाज मे जिस रूप में प्रचलित है, शिव का वह रूप वेद मे नही मिलता। वेद के रुद्र-शिव प्रकृति के उग्र रूपो (आँधी, तूफान, बाढ, बिजली, वज्रपात, महामारी, भूकम्प आदि) की कल्पना पर आधारित है। किन्तु, वे भाँग और धतूरा क्यो खाने लगे, गजाजिन और मुडमाल क्यो पहनने लगे, श्मशान की धूल अगो मे क्यों लगाने लगे, बैलो की सवारी क्यो करने लगे, साँपो को शरीर में क्यो लिपटाने लगे और उनके नाम पर लिंग की पूजा क्यो चल पडी, इन शकाओ का समाधान हमे वेदो मे

---

१. "हिन्दुत्व ने कुछ गिने हुए सिद्धान्तो में कट्टरता से विश्वास करने के बदले, अत्यन्त व्यापक उदारता का विकास किया। आदिवासी जनता के पास जो अनेक देवी-देवता थे तथा बाद को जो देवता दूसरी जातियो के साथ आर्यावर्त्त मे बाहर से आये, उन सबको हिन्दुत्व ने स्वीकार कर लिया एवं, कालक्रम में, उसने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ये देवी-देवता हिन्दुत्व के ही है।"—डाक्टर राधाकृष्णन् (हिन्दू विउ आव् लाइफ)

२ "प्राचीन काल मे भी दर्शन, धर्म और संस्कृति के मूल उपकरणो की खोज लोग वेदो के मन्त्रद्रष्टा ऋषियो की वाणी मे करते थे और यह बात गलत भी नही थी, क्योंकि बाद को विकसित होनेवाली सारी भारतीय आध्यात्मिकता के बीज वेदो में उपलब्ध है।" —महर्षि अरविन्द

नही मिलता। अतएव, शिव-भावना के विकास की कथा को समझाने के लिए हमें आर्यो के समाज से बाहर द्राविड और औष्ट्रिक समाजो की ओर देखना ही पडता है। इसी प्रकार, उमा की, परमेश्वरी के रूप मे, कल्पना उपनिषद् में मिलती है। सिर्फ यही समझ में नही आता कि उनके चामुडा, काली आदि कराल रूपो की कल्पना कैसे चल पडी। साँपो की पूजा, भूत, प्रेत और पिशाच का भय, नाना प्रकार के टोटके और ऐसी ही अन्य अनेक बातें हिन्दू-धर्म मे कई हजार साल से चिपकी हुई हैं, जिनका मूल हम वेद में नही पाते तथा जिनके बारे मे यह अनुमान है कि वे आर्येतर समाज से, प्रधानत, औष्ट्रिक और नीग्रो सस्कृतियो से, आकर हिन्दू-धर्म में मिल गयी हैं।

आर्यो की जाति भावुक और प्रकृति-पूजक थी। उसके प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषण, सोम, ऊषा और पर्जन्य थे। यह कैसे हुआ कि वेदों के इन देवताओ की पूजा रुक गयी और हिन्दू-समाज के प्रधान देवता विष्णु और शिव बन बैठे तथा उनके नेतृत्व मे तैंतीस करोड देवता आ जुटे? और जैसे ऋग्वेद के थोडे-से देवताओ की जगह पर हिन्दू-धर्म मे तैंतीस करोड़ देवताओ को स्थान मिल गया, वैसे ही, हिन्दू समाज मे ऐसे सैकड़ो व्रत, आचार, अनुष्ठान और रिवाज भी चल पडे जिनका उल्लेख वेदो मे नही मिलता है। इसी प्रकार, वेदो के बाद, जब पुराणो का जमाना आया, तब पुराणो में अद्भुत कथाओ और कहानियो का अम्बार खडा हो गया। ये कथाएँ और कहानियाँ केवल आर्यो के मस्तिष्क की उपज नही थी, बल्कि, द्राविड, औष्ट्रिक एव नीग्रो समाज में तथा बाद को आनेवाली मगोल, यूनानी, शक, आभीर आदि जातियो के यहाँ दन्तकथाओ के रूप मे जो कहानियाँ प्रचलित थी, वे आर्यो के साहित्य में भी घुस पडी और ऋषियो ने आवश्यकतानुसार, उन्हे जब-तब कुछ नया रूप भी दे दिया। इसका एक प्रमाण यह भी है कि पुराणों की बहुत ज्यादा कहानियाँ ऐसी हैं जो, किसी-न-किसी रूप मे, दक्षिण के प्राचीन साहित्य मे भी मिलती हैं तथा जिनका समावेश बौद्ध जातको मे भी पाया जाता है। अगर वनवासी लोगो की दन्तकथाओ का सग्रह किया जाय तो उनसे भी इस अनुमान का समर्थन मिल सकता है।

यह समन्वय कैसे सम्भव हुआ, इसका एक कारण तो यह है कि एक समाज के सदस्य हो जाने पर लोगो के रीति-रिवाज, आपस में, एक-दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नही रह सकते। दूसरे, आर्यो का उद्देश्य अन्य जातियो के सम्पर्क से बचना नही, बल्कि, उनके समाज में आर्य-सस्कृति का प्रचार करना था और वे लोगो की अपनी सास्कृतिक विरासत तो बिलकुल तोड़ना नही चाहते थे। अगर आर्य इस मिश्रण को रोकना भी चाहते तो, शायद, नही रोक सकते थे। क्योकि शादी-विवाह के द्वारा जब आर्येतर स्त्रियाँ आर्यो के घर आने लगी, तब उनके साथ कुछ पैतृक देवता और धार्मिक रिवाज भी आर्यो के घरो मे प्रवेश पा गये। इस प्रकार, आर्यो के यहाँ बहुत-से ऐसे रिवाज आ गये, जिन्हें आर्य हृदय से पसन्द नही करते थे। साथ ही, जब आर्य और द्रविड का सघर्ष मिट गया,

तब द्राविड़ राजे और पडित भी आर्यों से एकाकार हो गये और उनके बीच कोई बडा भेद नही रह गया। फिर जो आर्य स्त्रियाँ द्रविड़ो के घर गयी, उनके साथ आर्य-संस्कार भी द्रविडो के परिवारो मे पहुँचे और, धीरे-धीरे, आर्यों और द्रविडो के बीच वे बातें प्रमुखता पाने लगी जो उनकी भिन्नता को घटाने और उनकी एकता को बढानेवाली थीं। कालक्रम में, यह सबध इतना प्रगाढ हो गया कि सारे देश में आर्य और द्रविड़ एक-से दिखायी देने लगे और उनका रस्म-रिवाज, इतिहास-पुराण, साहित्य और संस्कृति, सब-कुछ एक हो गया। आर्य बहुत मात्रा मे द्रविड और द्रविड बहुत मात्रा में आर्य हो गये। और इन्ही दोनो जातियो ने मिलकर उस सस्कृति, जाति या समाज का निर्माण किया, जिसे हम हिन्दू-समाज कहते है। विदेशियो ने हमे जो हिन्दू नाम दिया, हमारी एकता उस नाम से भी बढी है, क्योंकि अब हम ससार में आर्य या द्रविड नही, बल्कि हिन्दू नामक एक ही नाम से विख्यात हैं। ऋग्वेद, केवल आर्यो का ही ग्रथ था, लेकिन उसके बाद उपनिषदो, पुराणो, स्मृतियो और दर्शनो का जो निर्माण हुआ, उनके पीछे केवल आर्य ही नही, द्राविड सस्कृति का भी जबर्दस्त प्रभाव काम करता था और इस विशाल हिन्दू-साहित्य पर द्रविडो का भी उतना ही अधिकार है, जितना आर्यो का।

विन्ध्य के उत्तर को हम, सामान्यत, आर्य एव उसके दक्षिण को द्राविड देश कहते है। आर्य और द्राविड सस्कृतियो के मिलने के बाद भी, आरम्भ मे, हिन्दुत्व का नेतृत्व उत्तर भारत के हाथ रहा। लेकिन, बौद्ध युग के बाद में, विशेषत, शकराचार्य के समय से यह नेतृत्व, निश्चित रूप से, दक्षिण चला गया और तब से हिन्दू-धर्म के प्रधान नेता, दार्शनिक और महात्मा, अधिकतर, दक्षिण में ही उत्पन्न होते रहे है।

भौगोलिक एकता का भाव

आरम्भ से ही हमारे तीर्थ देश के किसी एक भाग मे नहीं, प्रत्युत, सर्वत्र स्थापित होने लगे। राम-कथा मे प्रसिद्ध स्थान (अयोध्या, जनकपुर, पचवटी, रामेश्वरम् आदि) उत्तर और दक्षिण, दोनो भागों की धार्मिक जनता के द्वारा पवित्र गिने जाने लगे। देश की एकता की अभिवृद्धि कृष्ण-कथा से अधिक राम-कथा को लेकर हुई है। रामेश्वरम्, बालाजी, विष्णुकाची आदि तीर्थ रामाश्रयी वैष्णवो के कारण विख्यात हुए और उत्तर की जनता उनकी ओर बहुत कुछ उसी भाव से देखने लगी, जैसे मुसलमान मक्का अथवा ईसाई जेरूसलेम की ओर देखते हैं। इसी प्रकार, दक्षिण की धार्मिक जनता भी राम और कृष्ण के उत्तरवाले लीलास्थलो पर जाकर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए, आरम्भ से ही, उत्सुक रहती आयी है।

उत्तर को आर्यो का देश और दक्षिण को द्रविडो का देश समझने का भाव यहाँ कभी भी नही पनपा, क्योकि आर्य और द्रविड नाम से दो जातियो का विभेद यहाँ हुआ ही नही

था। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिणवाला भूभाग यहाँ हमेशा से एक देश माना जाता रहा है। पुराणो मे भारत की यह भौगोलिक एकता स्पष्ट रूप से वर्णित है।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्तति।
(वायुपुराण)

धर्म और सस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करनेवाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत की विभिन्न नदियो के नाम एक साथ लेते है।

गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निध कुरु।

यही नही, प्रत्युत, देश की मोक्षदायिका नगरियो की सूची मे भी उत्तर और दक्षिण, दोनो भूभागो की नगरियाँ सम्मिलित है, जिनका धार्मिक भाव मे नामोच्चार उत्तर और दक्षिण, दोनो भागो की जनता करती है·

अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-कांची-अवन्तिका
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैते मोक्षदायिका।

इस धार्मिक एव सास्कृतिक एकता का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पडा। यह ठीक है कि, आवेश में आकर, प्रातो के क्षत्रिय राजे बहुधा अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने को केन्द्रीय सत्ता से विद्रोह कर उठते थे। किन्तु, उससे अधिक सत्य यह बात है कि भारत के राजाओ के सामने चक्रवर्ती-पद पाने का उद्देश्य सबसे बडा था। चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने के लिए यहाँ अश्वमेध के घोडे छोडे जाते थे अथवा अकारण पडोस के राजाओ से युद्ध ठान दिया जाता था। किन्तु, इन लडाइयो का उद्देश्य केवल धन या प्रभुता की ही वृद्धि नही थी। कुछ यह कारण भी था कि सारे भारत को एक राज्य के अधीन लाने की प्रेरणा देश के भूगोल की सबसे बडी शिक्षा थी। भारत की प्राकृतिक सीमा के बाहर जाकर अन्य देशो पर आक्रमण करने की बात यहाँ के राजाओ को कभी सूझी ही नही। कदाचित्, ऐसे आक्रमणो को यहाँ के राजे व्यर्थ की हिंसा समझते थे और ऐसी हिंसा मे वे पडना नही चाहते थे। किन्तु, देश के भीतर, अधिक-से-अधिक भागो को, अपनी अधीनता मे लाकर बडी-से-बडी राजनीतिक एकता की सृष्टि करने का भाव हमारे सभी बडे राजाओ में मौजूद रहा है।

तीर्थों को लेकर भारतवासी सारे देश में घूमते थे। शास्त्रार्थ अथवा नये विचारो का प्रचार करने को सभी भागो के सस्कृत-विद्वान् सारे भारत में भ्रमण करते थे। सारे देश के श्रेष्ठ साहित्य की भाषा सस्कृत थी। पीछे, जब आधुनिक देश-भाषाओ का समय आया, तब भी विभिन्न भाषाओ में भारत की वही मानस-धारा प्रवाहित होने लगी, जो सस्कृत में बहती थी।

भारत का मन, हमेशा से, राष्ट्रीय कम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिक रहा है। प्राचीन काल मे यहाँ राष्ट्रीयता के जो भाव विकसित भी हुए, उनका आधार राजनीति और अर्थशास्त्र नही, प्रत्युत, संस्कृति और धर्म थे। भारतवासी अपने राष्ट्र पर अभिमान तो करते थे, किन्तु, इस कारण नही कि वह बली और समृद्ध देश था, प्रत्युत, इसलिए कि उसकी संस्कृति महान् थी, वह अध्यात्म की कर्मभूमि थी और देवता वहाँ देह धर कर प्रकट होने के लिए लालायित रहते थे। भारत-देश की इस विशिष्टता पर जितना गर्व उत्तरवासी भारतीयों को था, उतना ही गौरव और अभिमान दक्षिणवाले भी रखते थे। उत्तर भारत में विरचित विष्णुपुराण मे निम्नलिखित श्लोक आता है —

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(विष्णुपुराण २।३।२४)

देवगण भी गान करते हैं कि भारतभूमि में जन्म लेनेवाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग-कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़कर मनुष्य-योनि में जन्म लेना चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण भारत में हुई थी, किन्तु, उस पुराण में भी यही भाव और भी अधिक विलक्षण रूप में दुहराया गया है।

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहा हि नः।
(श्रीमद्भागवत ५।१९।२१)

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हुए कहते हैं, अहा! इन लोगों ने, न जाने, कौन-से ऐसे शुभ कर्म किये थे जिनके फलस्वरूप इन्हें भारतभूमि के प्रांगण में मानव-जन्म सुलभ हुआ है! लगता है, भगवान स्वयं इन पर प्रसन्न हो गये थे। भगवान की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

और अत्यन्त प्राचीन काल में भगवान रामचन्द्रजी ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेष्ठतर माना था।

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण,
जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।
(वाल्मीकि-रामायण)

समन्वय के कुछ दृष्टान्त

जैसा कि ऊपर संकेत किया चुका है, यह सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है कि हिन्दू-संस्कृति की कौन-सी बात द्राविड़ सभ्यता से आयी है और कौन-सी बात आर्य-सभ्यता से।

किन्तु, बहुत-से लक्षण ऐसे मिलते है, जिनसे हम कुछ अनुमान लगा सकते है। हमारे देवी-देवताओ मे से अनेक ऐसे है जिनके विकास में केवल आर्य ही नही, द्राविड एव अन्य आर्येतर कल्पनाओ का भी हाथ है और हमारे व्रतो और अनुष्ठानो मे से भी कइयो का विकास दोनो ही सभ्यताओ के योग से हुआ है। नीचे जो थोडे-से उदाहरण दिये जा रहे है, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शैव धर्म

विद्वानो मे यह मत प्रचलित हो गया है कि शैव धर्म प्राग्वैदिक अथवा द्रविड-सस्कृति की देन है। ऐसा मानने का मुख्य कारण यह है कि ऋग्वेद मे 'बाण की तरह चमकते आनेवाले' जिस रुद्र का उल्लेख है, वे रुद्र मरुतो के स्वामी है और उनका ठीक-ठीक मेल हिन्दुओ की आज की शैव भावना से नही बैठता। आर्य बडे ही भावुक और प्रकृति-पूजक लोग थे। उन्होने प्रकृति के प्रिय और रमणीय रूपो पर से जैसे ऊषा देवी की कल्पना की थी, उसी प्रकार, प्रकृति के भयानक रूपों पर से उन्होंने रुद्र की कल्पना उतारी। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय मे रुद्र के साथ शिव और गिरीश का भी उल्लेख मिलता है और उसके बाद, श्वेताश्वतरोपनिषद् मे रुद्र की कल्पना बहुत-कुछ ब्रह्म का स्थान ले लेती है। लेकिन, ये शैव भावना की सीढियाँ है, जो आर्य और आर्येतर सस्कृतियो के मिलन के बाद बढती गयी है। विचारने की मुख्य बात यह है कि महजोदरो और हरप्पा की खुदाई मे योगस्थ शिव की मूर्तियाँ भी मिली है, जिनसे यह अनुमान होता है कि आर्यो के आगमन से पूर्व इस देश मे शिव की पूजा प्रचलित थी। फिर यह बात भी है कि शिव-पुराण में यह स्पष्ट कथा आती है कि ऋषियो ने शिव पर क्रोध किया और उन्हे शाप दे डाला, जिससे उनके लिंग के नौ टुकडे हो गये। शिवपुराण के आधार पर ही हिन्दू शिव का प्रसाद खाना निषिद्ध मानते है। एक कथा यह भी है कि दक्ष-प्रजापति के यज्ञ मे शिव को स्थान नही दिया गया था। इन सारी बातो से विद्वान् यह अनुमान लगाते है कि आर्यो के यहाँ शिव-भावना की स्वीकृति, जरा विलब से, हुई है और, आरभ मे, समाज के धार्मिक नेता इस बात के लिए तैयार नही थे कि लोग शिव को आर्य-देवता के रूप में ग्रहण करे। सभवत, जब आर्यो का द्रविडो के साथ विवाह-सबध होने लगा, तब द्राविड स्त्रियो के साथ शिव की भावना आर्यो के घरो में पहुँची और, यद्यपि, आर्य पडित और पुरोहित इस भावना के प्रसार को अनेक उपायो से रोकना चाहते थे, तथापि, गृहो मे नारियो की प्रधानता होने के कारण, आर्य-परिवारो मे भी यह भावना बढती ही गयी।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक "सस्कृति-सगम" मे इस विषय का बहुत ही विशद विवेचन किया है। स्कन्द-पुराण, लिंग-पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुराण, शिव-पुराण और पद्म-पुराण से उद्धरण और हवाले देकर उन्होंने यह बतलाया है कि कैसे

शिवजी अश्लील व्यभिचारियों की तरह आचरण करते थे, कैसे उनके आचारों को देखकर मुनि-पत्नियाँ काम-मोहित हो जाती थी और कैसे मुनिगण शिवजी पर कुपित होकर मुष्टि-प्रहार करते थे, उन्हे अपशब्द कहते और शाप देते थे।[१] इन उद्धरणों मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुनि-पत्नियो मे शिव की पूजा के लिए अदम्य उत्साह था और मुनि-गण, यद्यपि, अपनी पत्नियो को शिव से अलग रखना चाहते थे, किन्तु, इस कार्य मे उन्हें सफलता नही मिलती थी। आचार्यजी लिखते है, "मुनि-पत्नियों का शिव-पूजा के प्रति जो यह उत्साह दिखायी पड़ता है, उसका कारण पुराणों मे उनकी कामुकता बतायी गयी है। पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है? सभवत, उन दिनों मुनि-पत्नियाँ अधिकतर आर्येतर शूद्र-कुलोत्पन्ना थी इसीलिए, वे अपने पितृ-कुल-देवता की पूजा करने के लिए इतनी व्याकुल थी। यही व्याख्या अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है।"

शिव-सबधी कल्पना के विकास मे औष्ट्रिक और नीग्रो संस्कृतियो की भी कुछ देन है, यह मत डाक्टर भडारकर का है। उनका कहना है कि रुद्र-शिव का सबध, आरभ मे, जगली जातियो से भी रहा होगा या यह भी सभव है कि जगली जातियो के बीच प्रचलित देवताओं के भी गुण, बाद को चलकर, रुद्र-शिव की कल्पना मे आ मिले। शिव का भाँग-धतूरा खाना और श्मशान मे वास करना तथा उनके साथ शव, सर्प, खप्पर एव हाथी

---

१ "महादेव नग्न वेश मे नवीन तापस का रूप धरकर मुनियो के तपोवन मे आये। (वामन-पुराण, ४३ अध्याय, ५१-६२ श्लोक)। मुनि-पत्नीगण ने देखकर उन्हे घेर लिया (वही ६३-६९ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रम मे मुनि-पत्नियों की ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर "मारो, मारो" कहकर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड पड़े —

क्षोभं विलोक्य मुनयः आश्रमे तु स्वयोषिताम्।
हन्यतामिति संभाष्य काष्ठपाषाणपाणयः॥

(वामन-पुराण ४३।७०)

यह कहकर उन्होने शिव के भीषण ऊर्ध्व लिंग को निपातित किया —

पातयन्तिस्म देवस्य लिंगमूर्ध्व विभीषणम्।

(वही ७१)

कूर्म-पुराण, उपरिभाग, अध्याय ३७, मे कथा है कि पुरुष-वेषधारी शिव नारी वेषधारी विष्णु को लेकर सहस्र-मुनिगण-सेवित देवदारु-वन मे विचरण करने लगे। उन्हें देखकर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने लगी (१३-१७ श्लोक)। मुनिगण मारे क्रोध के शिव की अतिशय निष्ठुर वाक्य से भर्त्सना करने और अभिशाप देने लगे।—

अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम्।
शेपुश्च शापैर्विविधैः मायया तस्य मोहिताः।"

(कूर्म-पुराण ३७।२२)

के चमडे का सबध, ये सारी बातें जगली लोगो के ही सस्कारो से आयी होगी, जो सर्प-पूजक रहे होगे तथा जिनके देवता भी जगली गुणो से युक्त रहे होगे। हाथी के चमडे (गजाजिन) वाली बात खुद मे एक प्रमाण है, क्योकि हाथी मध्य एशिया मे नही होते। फिर यह कैसे सभव है कि मध्य एशिया से आनेवाले आर्यो ने भारत मे आने से पहले ही अपने देवता के लिए गजाजिन के लिबास की कल्पना कर ली ? डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी एक और नया प्रमाण देते है कि द्रविड लोग भारत मे रोमसागर (मेडिटेरेनियन) के पास से आये थे तथा, सभवत , शिव एव शक्ति-विषयक दार्शनिक भाव भी वे वही से साथ लाये थे। द्रविडो का मूल निवास कही एजियन समुद्र के पास पडता था, जहाँ सिंह पर चढनेवाली देवी-माता और साँड पर चढनेवाले देव-पिता की कल्पना पहले से ही प्रचलित थी। यहाँ भी यह बात ध्यान मे आती है कि महजोदडो मे जो शिव की मूर्त्ति और बैल की प्रतिमा मिली है, उसका सबध द्रविडो की शिव-पूजा से अवश्य रहा होगा।

धर्मानन्द कोसम्बी ने शैव-धर्म के विकास पर एक विचित्र दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका ख्याल है कि वेद के रुद्र और बाद के शिव एक ही है। हाँ, जब इन्द्र की पूजा प्रचलित थी, तब शिव नही पूजे जाते थे। यजुर्वेद के समय आते-आते स्थिति बहुत बदल गयी और एक ही रुद्र ब्राह्मणो को कई रूपो मे दिखायी देने लगे। यजुर्वेद की तैत्तिरीय-सहिता से उद्धरण देकर उन्होने बताया है कि कैसे ऋषि रुद्र को "चोरो का, डाकुओ का, व्रात्यो का अधिपति" समझते थे। फिर आश्वलायन-गृह्य-सूत्र से उद्धरण देकर उन्होने यह सिद्ध करना चाहा है कि रुद्र की प्रसन्नता के लिए उन दिनो शूलगाव-यज्ञ करने की भी प्रथा थी, जिसमे ऊँचे स्कन्धवाले बैलो की बलि दी जाती थी। उनका कहना है कि वेद-काल से लेकर शको के समय तक महादेव अत्यन्त क्रूर देवता थे। महादेव से महेश्वर वे पाणिनि के समय बने और तभी से अहिंसक भी। श्वेताश्वतरोपनिषद् के बारे मे उनका ख्याल है कि इसकी रचना श्वेताश्वतर नाम के किसी पडित ने, शक राजाओ की प्रसन्नता के लिए, की थी, क्योकि ये राजे कट्टर शैव थे।

सबसे विचित्र बात यह है कि लिंग-पूजा का आविर्भाव कोसम्बीजी जैन और बौद्ध श्रमणो की दुर्दान्त काम-भावना से मानते है। जब अविवाहित बच्चे श्रमण बनाये जाने लगे और स्त्रियो का स्पर्श तक उनके लिए वर्जित कर दिया गया, तब इन तरुण सन्यासियो की प्रवृत्ति वाम-मार्ग की ओर हुई। "हस्तस्पर्शादि न कर केवल नग्न स्त्री को देखने से कोई नियम-भग नही होता था और काम-भावना, अशत , तृप्त भी हो जाती थी। इसी तरह से, यह लिंग-पूजा भी निकली होगी।"[1]

किन्तु, यह निरी कपोल-कल्पना है। लिंग-पूजक तो आर्यो के आगमन के पूर्व ही, इस देश में वर्त्तमान थे, जिन्हे आर्यो ने "शिश्नदेवा" कहा है। अवश्य ही, ये शिश्नदेवा

१. भारतीय सस्कृति और अहिंसा

आर्येतर जाति के लोग रहे होंगे। हाँ, विविध आचार-बन्धनों से ग्रस्त श्रमणों को वाम-मार्ग की ओर जाने की प्रेरणा लिंग-पूजा से मिली हो, यह हो सकता है।

शैव धर्म, अपने मूल में, प्राग्वैदिक धर्म है, यह अनुमान इससे भी बल प्राप्त करता है कि पुराणों में सर्वत्र शंकर असुरों के पक्षपाती बताये गये हैं। शंकर ही असुरों को वरदान देकर उन्हें शक्तिशाली बनाते थे और तब असुर देवताओं को सताने लगते थे। शिव के प्रति ऋषियों की अनिच्छा का यह स्मृति शेष है। भगवान कृष्ण ने जब बाणासुर से युद्ध किया था, तब शंकर अपने पुत्र को साथ लेकर कृष्ण के विरुद्ध और बाणासुर की ओर से लड़े थे। इस युद्ध में जब शंकर पराजित हो गये, तब उन्होंने कृष्ण से प्रार्थना-पूर्वक यह अनुरोध किया कि वे बाणासुर को प्राण-दान दे दें।

काशी का राजा पौंड्रक नकली वासुदेव बना था। उसका छद्म फाड़ने को भगवान कृष्ण काशी गये और उसे मारकर द्वारका लौट गये। तब पौंड्रक के पुत्र ने शंकर की आराधना की और उनसे यह वरदान प्राप्त किया कि कृष्ण के वध के लिए कृत्या की उत्पत्ति हो। कृत्या शंकर की जटा से उत्पन्न हुई और वह कृष्ण का ध्वंस करने को द्वारका पहुँची। किन्तु, कृष्ण ने उसे मार डाला।

बाणासुर के समान रावण को भी शंकर का वर प्राप्त था। प्रायः सारे-के-सारे दैत्य पुराणों में शैव दिखाये गये हैं। इस परंपरा का कुछ न-कुछ अर्थ होना चाहिए और सब से युक्तियुक्त अर्थ यही हो सकता है कि शंकर आर्येतर देवता थे और आर्य ऋषियों ने उन्हें अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया।

कार्तिकेय और गणेश

शिव की पूजा के साथ द्रविड़ों का अधिक पुराना और निकट का संबंध है, इस अनु-मान का एक आधार यह भी माना जा सकता है कि जबकि उत्तर भारत में, मुख्य रूप से, शिव और उमा की ही पूजा प्रचलित है, तब दक्षिण में शिव के पूरे परिवार की पूजा का बड़ा ही व्यापक प्रचार है और शिव तथा उमा के साथ वहाँ कार्त्तिकेय और गणेश की पूजा भी बड़े ही उत्साह से की जाती है। उत्तर भारत में कार्त्तिकेय की मूर्ति विजया-दशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनायी जाती है और गणेश, अक्सर, शुभ और लाभ के बीच दुकानों पर विराजा करते हैं, लेकिन, दक्षिण के मन्दिरों में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी विशाल मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं, जिनकी बनावट से वीरता टपकी पड़ती है। दक्षिण में कार्त्तिकेय-विषयक अनेक धार्मिक गाथाएँ भी प्रचलित हैं और उनके नाम भी अनेक हैं। कुमार, कार्त्तिकेय, षडानन और स्कन्द के अलावा, कार्त्तिकेय का एक नाम सुब्रह्मण्यम् भी दक्षिण में खूब प्रचलित है।

पण्डितों का विचार है कि द्रविड़ों के यहाँ यौवन, युद्ध और वीरता के एक अलग देवता थे, जिनका नाम मुरुकन था। कालक्रम में यही शिवजी के पुत्र कुमार स्कन्द हो

गये, जिनका चरित उत्तर के हिन्दू सिर्फ पुराणो मे पढते हैं, किन्तु, दक्षिण में जो उत्साह के साथ सत्कृत और पूजित होते आ रहे है।

गणेश की कल्पना भी आरम्भ मे विघ्नेश के रूप मे चली थी और जैसा कि मनुष्य की देह पर हाथी का मस्तक लगाये हुए उनका भयानक रूप है, वैसे ही, लोग उन्हें डरकर ही पूजते थे। कहते हैं, जब बौद्ध धर्म की महायान-शाखा का जन्म हुआ, ये विघ्नेश ज्यो-के-त्यो उसमें आ विराजे और प्रत्येक अनुष्ठान के आरम्भ मे उनकी प्रसन्नता के लिए पूजा की जाने लगी। किन्तु, धीरे-धीरे ब्राह्मणो ने उन्हे विघ्नहर बना डाला और विघ्न-हर-रूप मे ही वे हमारे पौराणिक धर्म के साथ रहे है। गणेश के गजमस्तक होने की बात पर विचार करे तब तो, स्पष्ट ही, गणेश की कल्पना शुद्ध भारतीय मालूम होगी, क्योकि आर्य जिस देश से यहाँ आये थे, उस देश मे हाथी होते ही नही हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि गणेश की ॐ-मयी व्याख्या सातवी सदी मे ज्ञानेश्वरजी ने की और महाराष्ट्र में शारदा गणेशजी की पत्नी मानी जाती है, यद्यपि, दक्षिण भारत मे गणेशजी को लोग अविवाहित और ब्रह्मचारी ही समझते हैं।

कार्त्तिकेय पर अब तक अनुसन्धान का कोई काम नहीं हुआ है। किन्तु, गणेश के सम्बन्ध मे डा० सपूर्णानन्दजी वर्मा ने जो विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि गणेश आर्येतर देवता हैं। यजुर्वेद में जो यह मंत्र आता है कि—"गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे, प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे, निधीनान्त्वा निधिपतिं हवामहे वसोमम। अहमजानि गर्भधमात्वम जासि गर्भधम्" उसे देखकर पडितो को भ्रम होता था कि, हो न हो, गणेश की कल्पना भी, बीज-रूप मे, वेद मे विद्यमान थी। किन्तु, अब यह बात निश्चित हो गयी है कि "इस मन्त्र में अश्वमेध के अश्व को गणपति कहा गया है।" सपूर्णानन्दजी लिखते हैं, "वेदो में तो गणेशजी हमको नहीं मिले, परन्तु, पुराणो मे उनकी सर्वत्र चर्चा है। तन्त्रो मे तो उनके ऐसे-ऐसे विग्रह देखने को मिलते हैं, जिनके सामने चकित रह जाना पड़ता है। पुराणो की रचना गुप्त-काल के लगभग मानी जाती हैं। कुछ तन्त्र-ग्रन्थ अथवा तन्त्र-ग्रन्थो का कुछ अश भी लगभग उतना ही पुराना है। जब पुराणो में गणेशजी की पूजा का विधान है तो ऐसा मानना ही चाहिए कि उनकी रचना के पहले यह पूजा स्थापित हो चुकी थी। अत, ऐसा मानना अयुक्त नही जँचता कि विक्रम की पाँचवी या छठी शती में भारत गणपति-पूजन से परिचित था। बुद्धदेव के समय गणपति देव-सूची में थे या नही, यह कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि बुद्धदेव ने ब्रह्मा, इन्द्र तथा कुछ और देवो के नाम लिये है, परन्तु, गणेश का नाम नही लिया है। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का भी, प्राय, वही समय था। उन्होने भी गणेश का नाम नही लिया है। प्रश्न यह है कि श्रुति-काल के पीछे और पुराण-निर्माण-काल के पहले, गणेशजी कहाँ से आकर देव-श्रेणी मे सम्मिलित हुए?"

इसका उत्तर यह है कि "आर्य लोग गणेश का अस्तित्व नही जानते थे। जब वे पूर्व की ओर बढे (स्मरण रहे कि संपूर्णानन्दजी आर्यो का मूल-निवास सप्तसिन्धु देश मानते है) तो उनका अनार्यो से सपर्क बढा और बहुत-से अनार्य आर्य वस्तियो मे वस गये। विजित पर तो विजेता की सस्कृति का रंग चढा ही, परन्तु, विजेता भी अछूता नही बच सका। उसकी सस्कृति और आचार-विचार पर अनार्य प्रभाव पड कर रहा। विद्वानो के विरोध करते रहने पर भी निम्न कोटि के लोगो ने कुछ नये देव-देवियो को अपनाया। ऐसे देव-देवी असभ्य जगली लोगो मे सर्वत्र पूज्य है। इनकी आकृति पशु-पक्षियो की-सी होती है या प्रेत-पिशाच जैसे मुँह और दांत होते है। आज भी, बहुत-से गांवो मे ऐसे ग्रामदेवो की मिट्टी या लकडी की मूर्त्तियां देख पडती है। प्राय, सभी क्रूरकर्मा होते है। भाँति-भाँति की पूजा करके इनको शात किया जाता है। अपने अनार्य पडोसियो से आर्यो ने नाग, गधे पर सवार होनेवाली शीतला और कुत्ते पर चढनेवाले भैरव के साथ मूपकवाहन, हस्तिमुख विनायक को भी लिया। विनायक विघ्नकर्त्ता थे, अच्छे कामो मे भी वाधा डालते थे। इसलिए, प्रत्येक शुभ कर्म के आरम्भ मे उनको मनाना पड़ता था।" जब आर्यो ने उन्हे ग्रहण किया, उनका रूप वदलने लगा और वे विघ्नेश से विघ्न-हर वन गये। "जब देव हो गये तब उनकी पूजा की पद्धति भी बनी, ढूंढ़-ढांढ कर दो एक वेद-मत्र भी उनको दिये गये और उनके नाम पर उपनिपद् की भी रचना की गयी।" धीरे-धीरे, वे बौद्ध धर्म मे भी प्रवेश पा गये और उसी के साथ भारत से बाहर भी पहुँचे, जहाँ उनके अत्यन्त विचित्र ध्यान प्रचलित हो गये। भारत मे तो वे घर-घर पूजित हैं ही।

गणपति कोई विरूप देवता थे, जिन्हें इस देश की जनता पूजती थी। आर्यो ने या तो इन देवता का प्रताप देखकर अथवा इनके भक्तो को प्रसन्न करने के लिए इन्हें स्वीकार कर लिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन पिछले भाव को ही प्रधान मानते हैं। उनका कहना है कि "अनेक अनार्य देवताओ को आर्य लोग स्वीकार नही कर सके। आसपास के चतुर्दिक् प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असंभव है। प्राचीन आर्यगण भी समझ सके थे कि गणचित्त को प्रसन्न किये बिना (इस देश मे) वास करना कठिन है। इसलिए, सब यज्ञो मे पहले गणदेवता गणपति की पूजा की व्यवस्था की गयी।"[1]

शिव के आर्य और द्राविड़ नाम

शिव-सम्बन्धी आर्य और द्राविड नामो की तुलना से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि शिव की कल्पना, अधिकाशत, आर्येतर कल्पना है और, मुख्यत, वह द्राविड सस्कार से आयी है। शिव का तमिल नाम सिवन् है, जिसका अर्थ लाल या रक्त वर्ण होता है।

---

१. सस्कृति-सगम

प्राचीन काल में, शिव का एक आर्य नाम भी 'नील-लोहित' मिलता है, जिसके भीतर शिव की गरल पानवाली कथा का संकेत है। रामचंद्र दीक्षितर के अनुसार ऋग्वेद में भी रुद्र का अर्थ लाल ही होता है। इसी प्रकार, संस्कृत के शंभु शब्द की तुलना तमिल के 'सेम्बू' शब्द से की जाती है, जिसका तमिल में अर्थ ताँबा या लाल धातु होता है। इसलिए, अनुमान है कि द्रविडों के यहाँ जो ताम्रवर्ण के प्रतापी देवता थे, वही आर्यों के मरुत-स्वामी रुद्र से मिल गये तथा औस्ट्रिक जातिवालों के पास जो अनेक जंगली देवता थे उनके भी गुण, धीरे-धीरे, आकर रुद्र-शिव की भावना के साथ जुड़ने लगे। इस तरह, बहुत काल के बीत जाने पर, शिव का रूप अत्यन्त विकसित हो गया और उसके एक छोर पर तो आर्यों की रुद्र-संबंधी दार्शनिक भावना प्रतिष्ठित हुई, जिसे आर्य और द्रविड, दोनों जातियों के शिष्ट वर्ग ने अपनाया और दूसरे छोर पर शिव के पारिवारिक रूप, उनके अवढर और दयालु होने की बात तथा उनके योगेश्वर, भूतेश और फक्कड एवं अघोर होने की कथाएँ आ जुडीं, जिनसे जन-साधारण को सन्तोष मिलने लगा।

वैष्णव धर्म

शैव धर्म के भीतर द्राविड प्रभाव के जितने प्रमाण मिलते हैं, वैष्णव धर्म के भीतर उस प्रभाव के उतने अधिक प्रमाण नहीं मिलते। मगर, यहाँ भी कई शंकाएँ हैं, जिनका समाधान केवल यह मान लेने से नहीं हो सकता कि वैष्णव मत में, सब-का-सब, सिर्फ, आर्यों का दिया हुआ है। उदाहरण के लिए, पंडितों को यह शंका होती है कि गौर वर्ण के आर्यों ने काले रंग के विष्णु की कल्पना क्यों की ? यह ठीक है कि ऋग्वेद में विष्णु शब्द का उल्लेख मिलता है, मगर, वह 'सूर्य' के अर्थ में है।[1] तो जो देवता सूर्य के समान उज्ज्वल और चमकीला था, वह काला कैसे बन गया ? इससे भी बडी शंका की बात यह है कि गोपाल-कृष्ण का उल्लेख आर्यों के प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता और राधा का उल्लेख, जो वैष्णव धर्म में इतनी पूजित हैं, वैष्णव मत के अत्यन्त प्रमुख पुराण, श्रीमद्भागवत में नहीं है। अगर वैष्णव धर्म आर्यों का बिलकुल अपना आविष्कार होता तो इस धर्म के सभी पहलुओं के बीज आरम्भ के आर्य-साहित्य (वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि) में अवश्य मिलते। मगर, बात वैसी नहीं है। इसलिए, यह मानना अधिक युक्तिसंगत है कि यह धर्म भी भारत की प्राग्वैदिक धार्मिक परंपराओं के योग से विकसित हुआ है।

वैष्णव धर्म को अवैदिक मानते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसीने विष्णु के वक्ष स्थल पर भी पदाघात किया। "जान पडता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक भृगु

१. द्वारकापुरी का कृष्ण-मन्दिर, प्राचीन काल में, सूर्य-मन्दिर था, यह बात लेखक ने द्वारका में बसनेवाले पंडितों से सुनी है।

के उस पदाघात से लाछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ। इन्द्र के बाद होने के कारण ही विष्णु का नाम "उपेन्द्र इन्द्रावरजः" (अमरकोष) पड़ा। इन दोनो ही नामो का अर्थ है इन्द्र का परवर्त्ती।" इस प्रसंग मे, इस बात पर भी ध्यान गये बिना नही रह सकता कि भगवान् कृष्ण के संबंध मे यह कथा प्रचलित है कि उन्होंने इन्द्र-पूजा का विरोध किया था और इन्द्र के नाम पर अर्पित पकवानों को वे स्वयं ही खा गये थे।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत मे आकर द्रविडो के एक आकाश-देव से मिल गये, जिनका रंग, द्रविडों के अनुसार, आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तमिल भाषा में आकाश को 'विन्' भी कहते है, जिसका विष्णु शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।

डा० भण्डारकर के अनुसार प्राचीन काल में वैष्णव धर्म, मुख्यतः, तीन तत्त्वो के योग से उत्पन्न हुआ था। पहला तत्त्व तो यह विष्णु नाम ही है, जिसका वेद में उल्लेख, सूर्य के अर्थ मे मिलता है। दूसरा तत्त्व नारायण-धर्म का है, जिसका विवरण महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में है। और तीसरा तत्त्व वासुदेव-मत का है। यह वासुदेव-मत वसुदेव नामक एक ऐतिहासिक पुरुष (समय ६०० ई० पू०) के इर्द-गिर्द विकसित हुआ था।[1] इन्ही तीन तत्त्वों ने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया। लेकिन, उसमें कृष्ण के ग्वाल रूप की कल्पना और राधा के साथ उनके प्रेम की कथा बाद में आयी और ये कथाएँ, शायद, आर्येतर जातियो मे प्रचलित थी।

बहुत प्राचीन काल मे नर नामक अपने मित्र के साथ नारायण ऋषि बदरीनाथ मे रहते थे और नारद उन दोनो की सेवा करते थे। इसी कारण बदरीनाथ को नारदीय क्षेत्र भी कहते है। नारद ने यही पाचरात्र-मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसके आराध्य नारायण ऋषि थे। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव धर्म हुआ, जिसमें वासुदेव और संकर्षण, लक्ष्मी और नारायण, राम और सीता तथा कृष्ण और राधा की पूजा की जाती है। पुराणों में यह भी कथा आयी है कि जब सहस्रकवच नामक दैत्य देवताओ को बहुत त्रास देने लगा, तब उसका वध करने के लिए स्वयं विष्णु ही नारायण और नर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। द्वापर मे नारायण तो कृष्ण हुए और नर अर्जुन।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान (उत्तर भारत की संत परंपरा मे) है कि उपनिषदो के युग में जो यज्ञ-विरोधी आन्दोलन उठे, उनमें सबसे अधिक प्रचार भक्ति-साधना का था। "उपनिषदो में कहा गया मिलता है कि आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नही होती और न वह उपदेशो से, अध्ययन मे अथवा मेधा से ही साध्य है। वह जिस किसी को स्वयं वरण कर लेता है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है और उसी के समक्ष

१. वसुदेव को ई० पू० ६०० के आसपास मानना ठीक नही है। जो काल महाभारत-युद्ध का माना जाता है, वही काल वसुदेव का भी मानना होगा।

वह अपने स्वरूप को प्रकट वा प्रदर्शित भी करता है। अतएव, आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना या सेवा मे प्रसन्न कर लेना परमावश्यक समझा गया। और इस प्रकार, एकमात्र हरि में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करनेवाली साधना का भी 'एकान्तिक धर्म' के रूप मे उदय हुआ। उसकी पूजन-पद्धति 'सात्वत-विधि' कहलाने लगी, जिसके प्रधान अग भक्ति, आत्म-समर्पण एव अहिंसा के भाव थे और जिसे अपना कर प्रचार करनेवालो में वासुदेव कृष्ण-जैसे महान् व्यक्ति की भी गणना की जाती थी। इस कारण, आगे चलकर इसका नाम भी 'वासुदेव-धर्म' पड गया और हरि का स्थान, क्रमश, वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। अन्त में, विक्रम सवत् के पूर्व, तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि 'पाचरात्र-पद्धति' में परिणत हो गयी और इसका नाम "भागवत-धर्म" के रूप में परिवर्तित हो गया।"

कृष्ण नाम की प्राचीनता

कृष्ण नाम के साथ गाय, चरवाहे, खेती और किसानी की कथाएँ देखकर तथा यह देखकर कि उनके भाई बलराम हल लेकर चलते हैं, पश्चिम के विद्वानों ने यह अनुमान लगाया था कि पहले कृष्ण फसल और वनस्पति के देवता रहे होंगे। मगर, भारतीय पडित इस अनुमान को नही मानते। कृष्ण नाम बहुत प्राचीन है। पाणिनि (सातवी सदी ई० पू०) ने एक जगह कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख धार्मिक नेता के रूप में किया है।[1] मेगस्थनीज (ई० पू० तीसरी सदी) कहता है कि मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण की पूजा होती थी। महानारायण उपनिषद् (ई० पू० २००) का प्रमाण है कि कृष्ण उस समय विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। पतजलि (ई० पू० १५० के लगभग) के भाष्य मे भी वासुदेव का उल्लेख आर्य-जाति के देवता के रूप में मिलता है। बेसनगर-शिलालेख (ई० पू० तृतीय या द्वितीय सदी) से मालूम होता है कि भागचन्द्र महाराज के समय हेल्योिदोर ने वासुदेव की पूजा के लिए, गरुडध्वज के रूप में, उस स्तभ की स्थापना की थी। इस लेख में वासुदेव को देवों का देव कहा गया है।

कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष है, इसमें सन्देह करने की कोई गुजाइश नही दीखती और वे अवतारके रूपमे पूजित भी बहुत दिनोसे चले आ रहे है। उनका सम्बन्ध फसल और गाय से था, यह भी विदित बात है। प्राचीन ग्रन्थो मे उनके साथ जो प्रेम की कथाएँ नही मिलती, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नही, बल्कि देश और धर्म के बहुत बडे नेता थे। अवश्य ही, गोपाल-लीला, रास और चीर-हरण की कथाएँ तथा उनका रसिक-रूप बाद के भ्रात कवियो और आचारच्युत् भक्तो की कल्पनाएँ हैं,

१ "वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्" (४-३-९८)। इस सूत्र का अर्थ यह है कि वासुदेव मे जिनकी भक्ति है, उन्हे 'वासुदेवक' और अर्जुन मे जिनकी भक्ति है, उन्हे 'अर्जुनक' कहते हैं।

जिन्हें इन लोगों ने कृष्ण-चरित में जबर्दस्ती ठूँस दिया। "शकों के ह्रास-काल में, जिस प्रकार, महादेव का रूपान्तर लिंग में हुआ, उसी प्रकार, गुप्तों के अवनति-काल में वासुदेव का रूपान्तर व्यभिचारी गोपाल में हुआ।" (कोसम्बी)।

प्राचीनतम भारतीय साहित्य और शिल्प में श्रीकृष्ण की शृंगार-लीलाओं का प्रमाण नहीं मिलता, इस विषय की विशद विवेचना करते हुए पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने अपनी पुस्तक "मध्यकालीन धर्म-साधना" में लिखा है कि "श्री कृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं। दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी-जन-वल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान-शालि-वनमालि' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है। पर, दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे वह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया और पहला रूप गौण। विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपाल-कृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है— 'ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः।' कालिदास ने 'गोप-वेषस्य विष्णोः' की चर्चा की है। महाभारत के सभापर्व (६८वें अध्याय) में द्रौपदी ने वस्त्राकर्षण के समय भगवान् को जिन अनेक नामों से पुकारा, उनमें 'गोविन्द द्वारका-वासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय' भी है। किन्तु, कुछ लोग इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु, हरिवंश में तो कृष्ण गोपाल की चर्चा में लगभग बीस अध्याय लिखे गये हैं। तब भी, श्रीकृष्ण के दुष्ट-दमन-रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। विष्णु-पुराण में भी लगभग ये ही बातें हैं। भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों को जोड़ा गया है।" आगे द्विवेदीजी कहते हैं, "मूर्त्ति-शिल्प में भी आरम्भ में शृंगार-लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दीखता। कहा जाता है कि ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी से पहले की कोई भी मूर्त्ति या उत्कीर्ण भित्ति-चित्र श्रीकृष्ण-चरित से सम्बद्ध नहीं मिला है। मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है, जो संपूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी से श्रीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएँ बहुत लोकप्रिय हो गयी थीं, ऐसा जान पड़ता है। मन्सोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, जिनमें गोवर्द्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकट-भंग, धेनुक-वध और कालिय-दमन की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण-काल ईस्वी-सन् की चौथी या पाँचवीं शताब्दी होगा। संभवतः, चौथी शताब्दी की एक और गोवर्द्धनधारी मूर्त्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्द्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्त्ति मिली है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्द्धन-धारण श्रीकृष्ण-चरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी। इस प्रकार, शिल्प और साहित्य, दोनों ही गवाही से यही पता चलता है कि, आरम्भ में, श्रीकृष्ण की वीर-चर्चा ही प्रधान थी।"

कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख पहले छान्दोग्य उपनिषद् में और तब महाभारत में मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में कृष्ण के रसिक रूप की चर्चा है ही नहीं।

राधा नाम पर विचार

वैष्णवो के तीन प्रसिद्ध पुराण हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत है। लेकिन, इनमें से किसी मे भी राधा नाम का उल्लेख नही है। भागवत में कथा आयी है कि कृष्ण ने सभी गोपियो को छोडकर एक गोपी मे अलग मुलाकात की। बस, भक्तगण इसे ले उडे, और उसी गोपी को राधा मानने लगे। पडितों का यह भी विचार है कि कृष्ण-चरित के साथ बाल लीला की कथा पहले शुरु हुई, राधा तथा अन्य गोपियों के साथ उनकी प्रेम-लीला की कहानियाँ बहुत बाद में आयी है।[1]

राधा का नाम कैसे चला, यह गहरे विवाद का विषय है। नारद-पाच-रात्र-सहिता मे लिखा है कि एक ही भगवान पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट होते है। सभव है, इस दार्शनिक कल्पना से ही बाद के कवियों ने, जैसे शिव के साथ पार्वती और विष्णु के साथ लक्ष्मी है, वैसे ही, कृष्ण के साथ एक जोडी मिलाने के लिए राधा की कल्पना कर ली हो। लेकिन, यह राधा नाम आया कहाँ से? और फिर यह क्यो हुआ कि बालक कृष्ण के साथ युवती राधा की अनमेल जोडी मिला दी गयी? भागवत सम्प्रदाय और माध्व सम्प्रदाय राधा को नही मानते है। असम में भी वैष्णवों के बीच राधा की पूजा का चलन नही है। पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "मध्यकालीन धर्म-साधना" मे यह भी लिखा है कि प्रेम-विलास और भक्ति-रत्नाकर के अनुसार "नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गयी, तो उन्हे यह देखकर बडा दु ख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ राधा नाम की मूर्त्ति की कही पूजा नही होती थी। घर लौटकर उन्होंने नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्त्तियाँ बनवायी और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्त्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयी और तब मे श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी।"

दूसरी ओर, जो भी सम्प्रदाय भागवत के बादवाले पुराणो को मानते है, वे राधा को भी स्वीकार करते है। इसलिए, यह बहुत संभव दीखता है कि आर्यों के वैष्णव धर्म मे

---

१. "विष्णु-पुराण मे गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर भागवत-पुराण मे वह बहुत विस्तृत रूप में है। रास-पचाध्यायी भागवत का सार कहा जाता है। इस पुराण में राधा का नाम नहीं आता। गाथा-सप्तशती में, पचतत्र में और ध्वन्यालोक में 'राधा' का नाम आया है, पर, कृष्ण की सर्वाधिक प्रिया गोपी के रूप में उनका नाम भागवतोत्तर साहित्य में ही अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी है। रा० ब० योगेशचन्द्र राय का अनुमान है कि ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण १६वीं शताब्दी में पश्चिम बगाल में लिखा गया और उसके लेखक का गीतगोविन्द से परिचय था। पद्म-पुराण में वृन्दावन की नित्य-लीला की चर्चा है, राधा का नाम आता है, पर यह पुराण बहुत पुराना नही कहा जा सकता और जिस अश में राधा-कृष्ण के नित्य-विहार की चर्चा है, वह तो निस्सदेह परवर्ती है।"—हजारीप्रसाद द्विवेदी (मध्य-कालीन धर्मसाधना)

कृष्ण की बाल-लीला और राधा से उनके प्रेम की कल्पना किसी आर्येतर जाति से आयी हो। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि बाल-लीला की कल्पना आभीर-जाति के किसी बाल-देवता से मिली है और राधा भी, सम्भवत:, दक्षिण के किसी आर्येतर समाज की कोई प्रेम की देवी रही होगी। कालक्रम में ये दोनों कथाएँ वासुदेव धर्म से आ मिलीं और धीरे-धीरे, बदल कर कृष्ण का वह रूप हो गया, जिसे हम आज देखते हैं। इस अनुमान को एक समर्थन तो इस बात से भी मिलना चाहिए कि राधावाद के प्रचारक निम्बार्क महाराज दक्षिण के ही थे और उत्तर भारत में फैलने के पहले कृष्ण-भक्ति के सिलसिले में राधा-भक्ति का भी प्रचार दक्षिण में ही हुआ, जिसके प्रचारक आलवार भक्त थे। दक्षिण की भगतिन ओन्दाल, जो मीरा से बहुत पहले हुई, अपने-आपको राधा मानती थी। इसके विपरीत, डा० फरकोहार यह कहते हैं कि "कोई आधार नहीं मिलने से अनुमान यही होता है कि राधा की कल्पना भागवत की खास गोपी को लेकर वृन्दावन में उठी और वहीं से वह सर्वत्र फैली है।"

राम-कथा की प्राचीनता

राम-कथा का मूल स्रोत क्या है तथा यह कथा कितनी पुरानी है, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान अभी नहीं हो पाया है। इतना सत्य है कि बुद्ध और महावीर के समय जनता में राम के प्रति अत्यंत आदर का भाव था, जिसका प्रमाण यह है कि जातकों के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्व जन्म में एक बार राम होकर भी जनमे थे और जैन-ग्रंथों में तिरसठ महा-पुरुषों में राम और लक्ष्मण की भी गिनती की जाती थी। इससे यह अनुमान भी निकलता है कि राम बुद्ध और महावीर, दोनों के बहुत पहले से ही समाज में आदृत रहे होंगे। विचित्रता की बात यह है कि वेद में राम-कथा के अनेक पात्रों का उल्लेख है। इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, कैकेयी, जनक और सीता, इनके नाम वेद और वैदिक साहित्य में अनेक बार आये हैं, किन्तु, विद्वानों ने अब तक यह स्वीकार नहीं किया है कि ये नाम, सचमुच, राम-कथा के पात्रों के ही नाम हैं। विशेषत, वैदिक सीता के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि यह शब्द लांगल-पद्धति (खेत में हल से बनायी हुई रेखा) का पर्याय है, इसीलिए, उसे इन्द्र-पत्नी और पर्जन्य-पत्नी भी कहते थे।[१] सीता खेत की सिरोर

१ 'राम-कथा' नामक पुस्तक में फादर कामिल बुल्के ने पारस्कर गृ० सू० से एक मंत्र (२-११-४) उद्धृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—"इन्द्र-पत्नी सीता का मैं आह्वान करता हूँ जिसके तत्त्व में वैदिक और लौकिक (दोनों प्रकार के) कार्यों की विभूति निहित है। वह (सीता) सब कार्यों में निरंतर मेरी सहायता किया करे। स्वाहा।"

(हल-रेखा)[1] का नाम था, इसका समर्थन महाभारत से भी होता है, जहाँ "द्रोणपर्व जयद्रथ-वध के अन्तर्गत ध्वजवर्णन नामक अध्याय में (७ १०५) कृषि की अधिष्ठात्री देवी, सब बीजों को उत्पन्न करनेवाली सीता का उल्लेख हुआ है।" हरिवंश के भी द्वितीय भाग मे दुर्गा की एक लम्बी स्तुति में कहा गया है कि "तू कृषकों के लिए सीता है तथा प्राणियो के लिए धरणी" (कर्षुकाना च सीतेति भूताना धरणीति च)। इससे पडितो ने यह अनुमान लगाया है कि राम-कथा की उत्पत्ति के पूर्व ही, सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे वैदिक साहित्य में पूजित हो चुकी थी। पीछे, जब अयोनिजा सीता की कल्पना की जाने लगी, तब उस पर वैदिक सीता का प्रभाव, स्वाभाविक रूप से, पड गया।

राम-कथा का उद्गम खोजते-खोजते पडितो ने एक अनुमान लगाया है कि वेद मे जो सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी थी, वे ही, बाद में, अयोनिजा कन्या बन गयी, जिन्हे जनक ने हल चलाते हुए खेत मे पाया। राम के सम्बन्ध में इन पडितो का यह मत है कि वेद में जो इन्द्र नाम से पूजित था, वही व्यक्तित्व, कालक्रम मे, विकसित होकर राम बन गया। इन्द्र की सब से बडी वीरता यह थी कि उसने वृत्रासुर को पराजित किया था। राम-कथा मे यही वृत्रासुर रावण बन गया है। ऋग्वेद (मडल १, सूक्त ६) में जो कथा आयी है कि पणियो ने गायो को छिपा कर गुफा मे बन्द कर दिया था और इन्द्र ने उन गायो को छुडाया, उससे पडितो ने यह अनुमान लगाया है कि यही कथा विकसित होकर राम-कथा में सीता-हरण का प्रकरण बन गयी।

किन्तु, ये सारे अनुमान, अतत, अनुमान ही हैं और उनसे न तो किसी आधार की पुष्टि होती है, न किसी समस्या का समाधान ही। राम-कथा के जिन पात्रो के नाम वेद मे मिलते हैं, वे निश्चित रूप से, राम-कथा के पात्र हैं या नही, इस विषय में सदेह रखते हुए भी यह मानने मे कोई बडी बाधा नही दीखती कि राम-कथा ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। अयोध्या, चित्रकूट, पचवटी, रामेश्वरम्, अनन्त काल से राम-कथा से सपृक्त माने जाते रहे हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नही है कि दाशरथि राम, सच-मुच, जनमे थे और उनके चरित्र पर ही वाल्मीकि ने अपनी रामायण बनायी? इस सभा-वना का खण्डन यह कहने से भी नही होता कि वाल्मीकि ने आदि रामायण में केवल अयोध्या-काण्ड से युद्ध-काण्ड तक की ही कथा लिखी थी, बाल-काण्ड और उत्तर-काण्ड बाद में अन्य कवियो ने मिलाये।

अनेक बार पडितो ने यह सिद्ध करना चाहा कि रामायण बुद्ध के बाद रची गयी और वह महाभारत से भी बाद की है। किन्तु, इससे समस्याओ का समाधान नही होता।

---

१ "इन्द्र सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका सचालन करे। वह पानी से भरी (सीता) प्रत्येक वर्ष हमें धान्य प्रदान करती रहे।" (ऋग्वेद मडल ४, सूक्त ५७ मत्र ६)। 'राम-कथा' में उद्धृत।

भारतीय परम्परा, एक स्वर से, वाल्मीकि को आदि कवि मानती आयी है और यहाँ के लोगो का विश्वास है कि रामावतार त्रेता युग मे हुआ था। इस मान्यता की पुष्टि इस बात से होती है कि महाभारत मे रामायण की कथा आती है, किन्तु, रामायण मे महाभारत के किसी भी पात्र का उल्लेख नही है। इसी प्रकार, बौद्ध ग्रन्थ तो राम-कथा का उल्लेख करते है, किन्तु, रामायण मे बुद्ध का उल्लेख नही है। रामायण के एक सस्करण मे जावालि-वृत्तात के अन्तर्गत बुद्ध का जो उल्लेख मिलता है (यथा हि चौर स तथा हि बुद्ध) उसे अनेक पडितो ने क्षेपक माना है। यह भी कहा जाता है कि सीता का हिंसा के विरुद्ध भाषण तथा राम के शान्त और कोमल स्वभाव की कल्पना के पीछे "किंचित् बौद्ध प्रभाव" है। किन्तु, यह केवल अनुमान की बात है। अहिंसा की कल्पना बुद्ध से बहुत पहले की चीज है। उसका मूल भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति में रहा होगा। बुद्ध ने सिर्फ उस पर जोर दिया है। बुद्ध के पहले के हिन्दुत्व में ऐसी कोई बात नही थी जो रामायण के वातावरण के विरुद्ध हो। रामायण प्राग्-बौद्ध काव्य है, इस निष्कर्ष से भागा नही जा सकता।

राम-कथा की व्यापकता

रामायण और महाभारत भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। महाकाव्यो की रचना तब सभव होती है, जब सस्कृतियो की विशाल धाराएँ किसी सगम पर मिल रही हो। भारत मे सस्कृति-समन्वय की जो प्रक्रिया चल रही थी, ये दोनो काव्य उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। रामायण मे इस प्रक्रिया के पहले सोपान है और महाभारत मे उसके बादवाले। रामायण की रचना तीन कथाओ को लेकर पूर्ण हुई। पहली कथा तो अयोध्या के राजमहल की है, जो पूर्वी भारत मे प्रचलित रही होगी , दूसरी रावण की, जो दक्षिण मे प्रचलित रही होगी , और तीसरी किष्किधा के वानरो की, जो वन्य जातियो मे प्रचलित रही होगी। आदि कवि ने तीनो को जोडकर रामायण की रचना की। किन्तु, उससे भी अधिक सम्भव यह है कि राम, सचमुच ही, ऐतिहासिक पुरुष थे और, सचमुच ही, उन्होने किसी वानर-जाति की सहायता से लका पर विजय पायी थी। हाल से यह अनुमान भी चलने लगा है कि हनुमान नाम एक द्रविड शब्द "आणमन्दि" से निकला है, जिसका अर्थ "नर-कपि" होता है। यहाँ फिर यह बात उल्लेखनीय हो जाती है कि ऋग्वेद में भी "वृषाकपि" का नाम आया है। वानरो और राक्षसो के विषय मे भी अब यह अनुमान, प्राय , ग्राह्य हो चला है कि ये लोग प्राचीन विन्ध्य-प्रदेश और दक्षिण भारत की आदिवासी आर्येतर जातियो के सदस्य थे , या तो उनके मुख वानरो के समान थे, जिससे उनका नाम वानर पड गया अथवा उनकी ध्वजाओ पर वानरो और भालुओ के निशान रहे होगे।

रामायण में जो तीन कथाएँ हैं, उनके नायक, क्रमश, राम, रावण, और हनूमान हैं, और ये तीन चरित्र तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं जिनका समन्वय और तिरोधान वाल्मीकि ने एक ही काव्य में दिखाया है। सभव है, यह बात सच हो कि "राम, रावण तथा हनुमान के विषय मे पहले स्वतन्त्र आख्यान-काव्य प्रचलित थे और इनके सयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है।"[1] जिस प्रकार, आर्य और आर्येतर जातियों के धार्मिक सस्कारो से शैव धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, वैष्णव धर्म की रामाश्रयी शाखा में भी आर्येतर जातियों के योगदान हैं।

रामावतार

कृष्णाश्रयी वैष्णव धर्म की विशेषता यह थी कि उसमें कृष्ण विष्णु पहले माने गये एव उनके सम्बन्ध की कथाओं का विस्तृत विकास बाद में हुआ। राम-मत के विषय में बात यह है कि राम-कथा का विकास और प्रसार पहले हुआ, राम विष्णु का अवतार बाद में माने गये। भडारकर साहब ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी थी कि विष्णु के अवतार के रूप में राम का ग्रहण ग्यारहवी सदी मे आकर हुआ। किन्तु, अब यह मत खण्डित हो गया है। अब अधिक विद्वान् यह मानते हैं कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व वासुदेव-कृष्ण-विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे और उनके अवतार होने की बात चलने के बाद, बाकी अवतार भी विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे, तथा उन्ही दिनो राम का अवतार होना भी प्रचलित हो गया। वैसे, अवतारवाद की भावना ब्राह्मण-ग्रथो में ही उदित हुई थी। शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति ने (विष्णु ने नही) मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। तैत्तिरीय-ब्राह्मण मे भी प्रजापति के वराह रूप धरने की कथा है। बाद मे, जब विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध हो गयी, तब मत्स्य, कूर्म और वराह, ये सभी अवतार उन्ही के माने जाने लगे। केवल वामनावतार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वामन, आरम्भ से ही, विष्णु के अवतार माने जाते रहे हैं। वामन के त्रिविक्रम रूप का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मडल, द्वितीय अध्याय के बारहवें सूक्त में है।

राम-कथा के विकास पर रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के ने जो विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है, उसके अनुसार वेद मे रामकथा-विषयक पात्रों के सारे उल्लेख स्फुट और स्वतन्त्र हैं। रामकथा-सम्बन्धी आख्यान-काव्यो की वास्तविक रचना वैदिक काल के बाद, इक्ष्वाकु-वश के राजाओं के सूतो ने आरम्भ की। इन्ही आख्यान-काव्यो के आधार पर वाल्मीकि ने आदि-रामायण की रचना की। इस रामायण मे अयोध्या-काण्ड से लेकर युद्ध-काण्ड तक की ही कथावस्तु का वर्णन था और उसमे सिर्फ बारह हजार श्लोक

---

१ राम-कथा, कामिल बुल्के

थे। किन्तु, इस रामायण का समाज में बहुत प्रचार था। कुशी-लव उसका गान करके और अभिनेता उसका अभिनय दिखाकर अपनी जीविका कमाते थे। काव्योपजीवी कुशी-लव अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखकर रामायण के लोकप्रिय अश को बढाते भी थे। इस प्रकार, आदि-रामायण का कलेवर बढ़ने लगा। ज्यो-ज्यो राम-कथा का यह मूल-रूप लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यो, जनता को यह जिज्ञासा होने लगी कि राम कैसे जनमे? सीता कैसे जनमी? रावण कौन था? आदि-आदि। इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए बाल-काण्ड और उत्तर-काण्ड रचे गये। इस प्रकार, राम की कथा रामायण (राम-अयन अर्थात् राम का पर्यटन) न रहकर, पूर्ण रामचरित के रूप मे विकसित हुई। इस समय तक रामायण नरकाव्य ही था और राम आदर्श क्षत्रिय के रूप मे ही भारतीय जनता के सामने प्रस्तुत किये गये थे। इसका आभास भगवद्गीता के उस स्थल से मिलता है, जहाँ कृष्ण अर्जुन से कहते है कि शस्त्र धारण करने वालो मे मैं राम हूँ—राम शस्त्रभृतामहम्।

रामचरित, ज्यो-ज्यो, लोकप्रिय होता गया, त्यो-त्यों, उसमे अलौकिकता भी आती गयी। अन्तत, ईसा के सौ वर्ष पूर्व तक आकर राम, निश्चित रूप से, विष्णु के अवतार हो गये। किन्तु, यह कोई निश्चयात्मक बात नहीं है। क्योकि राम की, बोधिसत्व के रूप में, कल्पना ई० पू० प्रथम शती के पूर्व ही की जा चुकी थी। इसलिए, सम्भव है, अवतार भी वे पहले से ही माने जाते रहे हों।

किन्तु, बाद के साहित्य मे तो राम की महिमा अत्यन्त प्रखर हो उठी तथा पूरे भारतवर्ष की सस्कृति, दिनो-दिन, राममयी होती चली गयी। बौद्ध और जैन साहित्य को छोडकर और सभी भारतीय साहित्य मे राम विष्णु के अवतार के रूप मे सामने आते है। हाँ, बौद्ध धर्म के साथ राम-कथा का जो रूप भारत से बाहर पहुँचा, उसमे वे विष्णु के अवतार नही रहे, न उनके प्रति भक्ति का ही कोई भाव रह गया।

राम को लेकर समन्वय

भारत मे सस्कृतियो का जो विराट् समन्वय हुआ है, राम-कथा उसका अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीक है। सबसे पहले तो यह बात है कि इस कथा से भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है। एक ही कथासूत्र मे अयोध्या, किष्किधा और लका, तीनो के बँध जाने के कारण, सारा देश एक दीखता है। दूसरे, इस कथा पर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं मे रामायणो की रचना हुई, जिनमे से प्रत्येक, अपने-अपने क्षेत्र मे, अत्यन्त लोकप्रिय रही है तथा जिनके प्रचार के कारण भारतीय संस्कृति की एकरूपता मे बहुत वृद्धि हुई है। सस्कृत के धार्मिक साहित्य मे राम-कथा का रूप, अपेक्षाकृत, कम व्यापक रहा, फिर भी, रघुवश, भट्टिकाव्य, महावीर-चरित, उत्तर-रामचरित, प्रतिमा-नाटक, जानकी-हरण, कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण, हनुमन्नाटक, अध्यात्म-रामायण,

अद्‌भुत-रामायण, आनन्द-रामायण आदि अनेक काव्य इस बात के प्रमाण है कि भारत-वर्ष के विभिन्न क्षेत्रो के कवियो पर वाल्मीकि-रामायण का कितना गम्भीर प्रभाव पडा था। जब आधुनिक देश-भाषाओ का काल आया, तब देश-भाषाओ में भी रामचरित पर एक-से-एक उत्तम काव्य लिखे गये और आदि कवि के काव्य-सरोवर का जल पीकर भारत की सभी भाषाओ ने अपने को पुष्ट किया। कवन-कृत तमिल रामायण (१२वी सदी), तेलुगू द्विपाद रामायण (१२वी सदी), मलयालम् रामचरितम् (१४वी सदी), कन्नडी तोरावे रामायण (१६वी सदी), बँगला कृतिवासी रामायण (१५वी सदी), हिन्दी रामचरित मानस (१६वी सदी), उडिया वलरामदास रामायण (१५वी सदी) और मराठी भावार्थ रामायण (१६वी सदी),[1] यह तालिका अगणित रामकाव्यो को छोडकर बनायी गयी है, किन्तु, फिर भी इससे यह बात सरलता मे सिद्ध हो जाती है कि राम-कथा ने इस देश की सस्कृति की कितनी गभीर सेवा की है और कैसे इस कथा को लेकर सारा देश, लगभग, एक आदर्श की ओर उन्मुख रहा है। इसके साथ अगर तिब्बत, सिहल, खोतान, हिन्द-चीन, श्याम, ब्रह्मदेश, कश्मीर और हिन्देशिया मे प्रचलित रामकाव्यो की सारिणी मिला दें तो, सचमुच ही, यह मानना पडेगा कि राम-कथा न केवल भारतीय, वरन्, एशियाई सम्कृति का भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गयी थी।

राम-कथा की एक दूसरी विशेपता यह है कि इसके माध्यम मे शैव और वैष्णव मतो का विभेद दूर किया गया। आदि-रामायण पर शैव मत का कोई प्रभाव नही रहा हो, यह सभव है, किन्तु, आगे चलकर राम-कथा शिव की भक्ति से एकाकार होती गयी। राम का, युद्धारम्भ के पूर्व, रामेश्वरम् में शिव की प्रतिष्ठा करना तथा हनुमान का एकादश रुद्र का अवतार माना जाना यह बतलाता है कि वैष्णव एव शैव मतो की दूरी को यहाँ के कवि कम करना चाहते थे और यह उचित भी था, क्योकि शैव मत आर्येतर मत था तथा राम-कथा के भी अनेक अग आर्येतर सस्कृतियो से आये थे। काल-क्रम मे, राम-कथा का ऐसा विकास और विस्तार हुआ कि शैव और वैष्णव मतो की भिन्नता, बिल्कुल, जाती रही। राम एक ऐसे चरित्र है जो ब्राह्मण-धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्ध-धर्म मे बोधि-सत्त्व तथा जैन-धर्म में आठवे बलदेव के रूप मे प्रतिष्ठित हुए तथा आगे चलकर जिनकी भक्ति मे शिव-भक्ति भी समाहित हो गयी।

हिन्दू-संस्कृति का रचयिता

हजरत ईसा ने जैसे ईसाइयत को और हजरत मुहम्मद ने जैसे इस्लाम को जन्म दिया, हिन्दू-धर्म ठीक उसी प्रकार, किसी एक पुरुष की रचना नही है। यही कारण है कि अगर आप किसी हिन्दू से यह पूछें कि तुम्हारा धर्म-ग्रथ कौन-सा है, तो वह

---

१ राम-कथा

सहसा कोई एक नाम नही बता सकेगा। इसी प्रकार, अगर आप उससे यह प्रश्न कर दे कि तुम्हारा अवतार, मुख्य धार्मिक नेता, नबी या पैगम्बर कौन है, तब भी किसी एक अवतार या महात्मा का नाम उससे लेते नही बनेगा। और यही ठीक भी है। क्योंकि हमारा धर्म न तो एक महात्मा से आया है, न किसी एक सम्प्रदाय से।

सच तो यह है कि हिन्दू-धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नही है, प्रत्युत, यह अनेक विश्वासो का समुदाय है। जिस प्रकार, भारतीय जनता की रचना उन अनेक जातियो को लेकर हुई जो समय-समय पर इस देश में आती रही, उसी प्रकार, हिन्दुत्व भी इन विभिन्न जातियो के धार्मिक विश्वासो के योग से बना है। यह भी है कि शिक्षित व्यक्ति हिन्दू-धर्म के दार्शनिक पक्ष मे विश्वास करता है, किन्तु, जो अशिक्षित हैं, उनमें अधविश्वासो और रूढियो के लिए भी मोह है; फिर भी, अपढ-से-अपढ हिन्दुओं में भी एक प्रकार की दार्शनिकता पायी जाती है, जो इस देश की छह हजार साल पुरानी संस्कृति का परिणाम है।

जब आर्य यहाँ आये, उसके पहले ही सभ्यता का विकास यहाँ हो चुका था और धर्म तथा सस्कृति के अनेक अग रूप ग्रहण कर चुके थे। आर्यो ने इन सबको लेकर आर्य-धर्म का सगठन किया। इसके बाद जो जातियाँ भारतवर्ष में आयीं, वे यद्यपि, भारतीय सस्कृति के समुद्र में विलीन हो गयी, फिर भी, हमारी सस्कृति को उनकी भी कुछ-न-कुछ देन है। यह देन कभी तो हमारे धर्म मे चिपक गयी, कभी हमारी पोशाक मे और कभी हमारे खान-पान अथवा रहन-सहन के दूसरे ढगो में। हिन्दुओं ने उनको भी अपना पूज्य अवतार मान लिया, जो किसी समय हिन्दू-धर्म के खिलाफ बगावत करने को उठे थे। हमारे दर्शनो में नास्तिक दर्शनो की भी सख्या काफी है, और समाज मे उनका भी आदर है। हमारे आदि-कवि ने रावण का भी उल्लेख, अक्सर, महात्मा विशेषण के साथ आदरपूर्वक किया है। ये सारी बाते बतलाती है कि इस देश मे, आरभ से ही, धर्म के विषय में बडी ही सहिष्णुता और उदारता बरती गयी है। हिन्दू-सस्कृति ने अपने को कूप-मण्डूक नही बनाया और इसे जहाँ से भी कोई अच्छी चीज मिलनेवाली थी, उसे इसने आगे बढकर स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में हम विश्व के तमाम धर्मो के असली तत्त्वो का निचोड पाते हैं। यही नही, बल्कि, भारतवर्ष के लम्बे इतिहास मे जब भी कोई अद्भुत धार्मिक चिन्तन किया गया, हिन्दुत्व ने उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इसलिए, अब हमारी सस्कृति वही नही है, जो वेद-कालीन आर्यो की थी, और शुद्ध-शुद्ध वह भी नही, जिसकी रचना आर्यो और द्रविडो ने मिलकर की थी। आर्यो और द्रविडो के मिलन के बाद भी अनेक जातियाँ इस देश मे आयी और उन सबने हमारी सस्कृति को कुछ-न-कुछ अशदान दिया है। हमारे अपने देश मे बुद्ध और महावीर के नेतृत्व मे प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई और उस क्रान्ति की भी पूरी छाप हमारे धर्म और सस्कृति पर मौजूद है।

अनेक जातियो के देवी-देवताओ के आ मिलने के कारण बहुदेववाद हिन्दुत्व का अनिवार्य अग बन गया। अतएव, सब हिन्दू किसी एक देवता को नही पूजते है। अनेक देवी-देवताओ के आने से उनके माहात्म्य की भी अनेक कथाएँ पुराणो मे आ मिली, जिससे पुराण भी किसी एक दिशा मे इगित नही करते। जिन विभिन्न नृवशो की सन्ततियो को लेकर हिन्दू-जाति की रचना हुई, उनके विभिन्न उपासना-मार्ग भी हिन्दुत्व के अपने अग बन गये, अतएव, हम नही कह सकते कि हिन्दुत्व की अपनी उपासना-पद्धति कौन-सी है। इस स्थिति को देखकर ही लोकमान्य तिलक ने धर्म की यह नवीन परिभाषा बनायी थी, जो व्यगवत् दीखने पर भी, व्यग नही, सत्य है ,

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमं एतद्धर्मस्य लक्षणम्।

वेदो को प्रमाण मानना, साधनो की अनेकता मे विश्वास रखना तथा उपासना मे किसी एक देवता का नियम नही रखना, यह धर्म का लक्षण है।

आग्नेय जाति की देन

जिस हिन्दू अथवा भारतीय सस्कृति के हम लोग भक्त है, उसकी नीव पडे हजारो वर्ष हो गये। अब यह पता लगाना बहुत कठिन है कि इस सस्कृति के उत्थान मे किस जाति ने क्या योगदान दिया था , फिर भी, अनुमान के बल पर, इस योगदान की खास-खास बातो का थोडा बहुत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चन्द्रमा को देखकर तिथि गिनने का रिवाज आग्नेय सभ्यता की देन है एव पूर्ण चन्द्र के लिए 'राका' और नये चाँद के लिए 'कुहू' शब्द भी आग्नेय भाडार से आये है। कहते है, चावल की खेती भी यहाँ उसी जाति के लोगो ने शुरू की थी और पुनर्जन्म की कल्पना भी फसल को देखकर उन्होने ही आरम्भ की थी जो आगे चलकर आर्य चिन्तको के द्वारा विकसित की गयी। पत्थर के खड को देवता मानने की प्रथा भी यहाँ उसी जाति ने चलायी थी। और तो और, सुनीति बाबू का अनुमान है कि 'गगा' शब्द भी आग्नेय शब्द-भाडार से आया है। आग्नेय परिवार की जो अनेक भाषाएँ भारत से लेकर दक्खिनी चीन तक फैली हुई है, उनमे से कोई तो नदी को गग कहती है, कोई खोग और दक्खिनी चीन की आग्नेय भाषाओ में नदी के लिए 'कियाग, कग या घघ' शब्द चलता है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि अनेक ग्रामो की जनता मे आज भी गगा शब्द नदी शब्द का पर्याय माना जाता है। मध्य भारत और मालवा से बिहार तक ऐसे बहुत-से गाँव है, जहाँ के लोग किसी भी नदी में नहाने को गगा नहाना कहते है। असल मे, इस अनुमान के लिए बहुत बडा आधार है कि हमारी निम्न कोटि की जनता का विशाल समुदाय आग्नेय भाण्डार से आया है और उसके भीतर जो अन्धविश्वास, रूढि-प्रियता, भीरुता और अन्य विचित्र-

विचित्र आदते है, वे सब-की-सब आग्नेय सभ्यता की यादगार है। पक्षी-पालन और हस्ति-पालन का समारभ भी भारत मे इसी जाति के लोगो ने किया था।

कथा-किंवदन्तियो का जो विशाल भाण्डार हिन्दू-पुराणो में जमा है, उसका भी बहुत बडा अंश आग्नेय सभ्यता से आया हुआ है। किसी-किसी पडित का यह भी अनुमान है कि राम-कथा की रचना करने मे आग्नेय जाति के बीच प्रचलित कथाओ से सहायता ली गयी है तथा पपापुर के वानरों और लका के राक्षसो के सबंध मे जो विचित्र कल्पनाएँ रामायण में मिलती है, उनका आधार आग्नेय लोगो की ही लोक-कथाएँ रही होगी। किंवदन्तियाँ और लोक-कथाएँ पहले देहाती लोगो के बीच फैलती है और बाद में चलकर साहित्य मे भी उनका प्रवेश हो जाता है। आर्य, द्राविड़ और कोल तथा किरात वंश के लोग जब आपस मे मिले होंगे, तब परस्पर उनकी लोक-कथाएँ भी एक-दूसरे के घर में प्रवेश पाने लगी होगी। पडितो का कहना है कि बौद्ध-जातकों में जो कथाएँ है, वे भी लोक-कथा के स्तर से उठकर साहित्य में पहुँची है और फिर वहाँ से उन्होंने पुराणो मे प्रवेश किया है। यही कारण है कि पुराणो और जातको की कितनी ही कथाएँ एक समान लगती है अथवा उनमें थोडा ही फेर-फार है। यह भी हुआ कि वीरों और देवी-देवताओं की बहुत-सी ऐसी कथाएँ जो द्राविड और आग्नेय समाजो मे प्रचलित थी, आर्यों के आगमन के बाद भी जीवित रही। बाद मे चलकर जब समन्वय की प्रक्रिया गहरी हो गयी, तब ये कथाएँ आर्य-भाषा मे पहुँच गयी और उनका उपयोग आर्य-वीरो और आर्य-देवी-देवताओं का गौरव बढाने के लिये किया जाने लगा।

देवर और देवरानी तथा जेठ और जेठानी की प्रथा भी, शायद, आग्नेय लोगो से आयी है। सिन्दूर का प्रयोग और अनुष्ठानो में नारियल और पान रखने के रिवाज भी, सभवत, आग्नेय रिवाजो की यादगार है। आग्नेय जाति के लोग देवता के सामने बलिदान किये गये पशु का रक्त मस्तक मे लगाना शुभ मानते थे। वही रिवाज सिन्दूर लगाने में बदल गया।

सिन्दूर के विषय मे आचार्य क्षितिमोहन सेन का भी यह मत है कि यह उपकरण आर्यो ने आर्येतर जातियो से लिया। "विवाहादि के अवसर पर सिन्दूर एक अपरिहार्य पदार्थ है। इसके बिना विवाह पूर्ण ही नही होता। किन्तु, सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य के 'पुरोहित-दर्पण' के कई स्थान उलट कर देखने से ही पता चल जायेगा कि यह सिन्दूर का आचार भी आर्यो नें किसी आर्येतर जाति से ग्रहण किया था। सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न सिन्दूर-दान का कोई मत्र। सिन्दूर, मूलत, नाग लोगो की वस्तु है। उसका नाम भी नाग-गर्भ और नागसभव है। शख और कबु आदि नाम भी वेद-बाह्य है।"

हितोपदेश, पचतत्र और जातको मे जो पशु-पक्षी-विषयक कहानियाँ है, उनमे से अनेक आग्नेय जाति के भाण्डार से आयी हुई हैं। अवतारो मे से मत्स्य, कच्छ और

वराह अवतारो की कल्पनाएँ भी यदि आग्नेय कल्पना से आयी हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही। आग्नेय जाति के लोग अण्डे से सृष्टि के आरभ की वात सोचते थे। हिन्दुओ के ब्रह्माण्ड शब्द मे अण्डा विद्यमान है।

कुछ स्फुट उदाहरण

आर्येतर जातियो से आर्यों ने इतनी अधिक वाते ली है कि उनकी ठीक से गिनती नही की जा सकती और यह स्वाभाविक भी था, क्योकि आर्य यदि भारत मे वाहर से आये तो वे थोडी ही सख्या मे आये होगे। वाद को यह देश जिन आर्यों से भर गया, वे तो विदेशी नही, स्वदेशी लोग ही रहे होगे, जिनका आर्यीकरण हुआ होगा। किन्तु, आर्यीकरण की प्रक्रिया मनुष्य की आदतो और रस्म-रिवाजो अथवा धार्मिक विश्वासो को कहाँ तक मिटा पाती ? निदान, जो लोग आर्य-वृत्त मे आये, वे अपने सभी विश्वासो को साथ लेते आये। यही कारण है कि हिन्दू-सस्कृति में हम आर्य और आर्येतर, दोनो ही प्रकार के उपकरणो का ऐसा सम्मिश्रण देखते हैं, जो विलकुल स्वाभाविक लगता है और जिसमे विलगाव करने का कोई रास्ता नही मिलता। चीजे कैसे-कैसे वढी, यह जानना आसान नही है। किन्तु, विद्वानो को इसका थोडा-वहुत आभास अवश्य मिल जाता है कि कौन-सी वस्तु आर्य-भाण्डार की और कौन आर्येतर भाण्डार की है।

क्षिति वावू के मतानुसार "देवी-पूजा और तन्त्र-मन्त्र भी वैदिक मत के पास वाहर से आकर खडे हुए है। असल मे, वैदिक मतवादी आचार्यगण उसे शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे है। मूल आर्य-भूमि मे, क्रमश, दूर जाकर इन वस्तुओ के साथ आर्य लोगो का परिचय हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतो को ग्रहण करने के सिवा, उनके पास कोई चारा नही था।"

शास्त्रानुसार, ग्राम-देवता की पूजा निपिद्ध है। ग्राम देवता और देवियो के पूजको को मनु ने नाना स्थानो पर पतित कहा है। किन्तु, गाँवो में अव ब्राह्मण भी भूत-प्रेत और ग्राम-देवता की पूजा करते है। अवश्य ही यह प्रेत-पूजा आग्नेय सभ्यता की देन होगी। आरम्भ मे, इन देवताओ के पुरोहित भी शूद्र ही रहे होगे, किन्तु, आमदनी का रास्ता देखकर ब्राह्मणो ने उन्हे अपदस्थ कर दिया होगा।

यही नही, अव तो वहुत-से हिन्दू वृक्षो को भी पूजते है और नदियो को भी। तुलसी, वट, अश्वत्थ (पीपल) और वेल, ये वृक्ष पवित्र माने जाते है। नदियो मे अस्थियाँ नही वहायी जायँ तो आत्मा को शान्ति नही मिलती। कही-कही पीपल के पेड से घट वाँधने का भी रिवाज है। ये वाते वेद में तो नही थी। फिर हिन्दुओ ने इन्हें लिया कहाँ से ? उत्तर स्पष्ट है कि ये रिवाज आर्येतर लोगो में रहे होगे। "जिन देवताओ से सवद्ध माने जाकर तुलसी, वट, अश्वत्थ, विल्वादि वृक्ष पवित्र माने गये है, उन देवताओ का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध 'देवता' के रूप में ही मिलता है। धीरे-धीरे वृक्षो की पूजा

भी, निश्चय ही, आर्यों ने आर्य-पूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी। बहुत संभव है, नदी की पूजा भी उन्होंने वहीं से ग्रहण की हो।"[1]

होली या वसन्तोत्सव-जैसे बहुत-से उत्सव भी आर्येतर जातियों की देन हैं। इन उत्सवों का मदिरा, नशा, अपशब्द और अश्लीलता से संबद्ध होना बतलाता है कि उनका आरंभ अर्धसभ्य समाज में हुआ होगा। "इनका प्रचलन भी नीची श्रेणियों में ही अधिक है, इसीलिए, बहुत-से लोग इन्हें शूद्रोत्सव भी कहते हैं। होलिका-दाह के लिए जो आग जलायी जाती है, वह अनेक स्थानों पर अन्त्यज के घर से मँगायी जाती है।"[2]

हिन्दू-समाज में आज जिन देवताओं, तीर्थों और उत्सवों का प्रचार है, उनमें से अधिकांश आर्येतर मूल के हैं। ध्यान देने की बात तो यह है कि आर्यों का चिन्तन हमेशा थोड़े लोगों में रहा है। बाकी अपार जनता आर्येतर उपकरणों का आनन्द उत्साह से लेती रही है। होली या वसन्तोत्सव इसका सब से उज्ज्वल प्रमाण है।

हिन्दू नाम का इतिहास

नीग्रो, आग्नेय, द्रविड, आर्य और किरात, ये नाम जिस नये अर्थ में अब समझे जाते हैं, उस अर्थ में से वे पहले नहीं समझे जाते थे। नीग्रो और आग्नेय तो बिलकुल नये शब्द हैं, जिनका प्रचलन पिछली शताब्दी में यूरोप में आरंभ हुआ। प्रजाति अथवा 'रेस' के अर्थ में द्रविड और आर्य शब्दों का प्रचलन भी सर्वथा नवीन है। किरात शब्द का भी प्रयोग संस्कृत-भाषी भारतवासी प्रजाति के अर्थ में नहीं करते थे। किन्तु, आधुनिक प्रसंग में यह विचिकित्सा बिलकुल निस्सार है, क्योंकि भारत के लोग अब नीग्रो, आग्नेय आदि नामों से नहीं जाने जाते। यहाँ के जो लोग ईसाई या मुसलमान हो गये, वे ईसाई और मुसलमान कहलाते हैं, बाकी सभी लोग जो हिन्दू-धर्म में विश्वास करते हैं, अब सर्वत्र हिन्दू ही कहे जाते हैं। असल में, भारतवर्ष हिन्दुओं का ही देश है और इस देश की संस्कृति अपनी व्यापक विशिष्टताओं के साथ हिन्दू-संस्कृति ही समझी जाती है। भारतीय संस्कृति की जो विशिष्टताएँ उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से विभक्त करती हैं, वे केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं, बल्कि, उनका पूरा प्रभाव भारतवासी मुसलमानों और ईसाइयों पर भी है।

इस हिन्दू-संस्कृति का आरंभ कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। बहुधा लोग हिन्दू-संस्कृति को वैदिक संस्कृति का पर्याय मान लेते हैं जो बहुत अंशों में ठीक है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं वैदिक संस्कृति भी सोलह आने आर्यों की देन है। उसकी बहुत-सी बातें आर्य-भाण्डार से निकली हैं और बहुत-सी ऐसी हैं जो आर्यों के आगमन के पूर्व से ही इस देश में मौजूद थीं। आर्य, द्रविड और अन्य जातियों के लोग

---

१ संस्कृति-संगम

२. वही

जब एक समाज के अंग बन गये, तब उनकी आदतें और विश्वास भी परस्पर एकाकार हो गये। विभिन्न प्रकार के लोगों के समघट्ट हो जाने से जो जनता तैयार हुई, वही हिन्दू-जाति की बुनियादी जनता हुई और विभिन्न जातियों की आदतों, विश्वासों, दन्तकथाओं, विचारों, भावनाओं और रीति-रिवाजों के मिल जाने से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही वैदिक या हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार हुई। तब से जो लोग भी इस देश में आये (जैसे यूनानी, पार्थियन, मंगोल, यूची, शक, आभीर, हूण और मुस्लिम आक्रमण से पूर्व आनेवाले तुर्क) वे, सब-के-सब, इसी हिन्दू-संस्कृति के महासमुद्र में विलीन होते गये और कालक्रम में वे हिन्दू हो गये।

उन्नीसवीं सदी में जब भारत में नवजागरण की लहर फैली, तब बहुत-से लोग हिन्दू नाम छोडकर अपने को आर्य कहने लगे थे। हिन्दू नाम उन्हें इसलिए नापसन्द था, क्योंकि उनके मतानुसार यह नाम मुसलमानों का दिया हुआ है और फारसी में इसका अर्थ अच्छा नहीं है। वह प्रवृत्ति थोडी-बहुत आज भी कायम है। किन्तु, बात, सचमुच में, ऐसी नहीं है। देश के अर्थ में हिन्दू शब्द का चलन इस्लाम के जन्म से कोई हजार-डेढ़-हजार वर्ष पहले ही शुरू हो गया था। ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, अतएव, 'सिन्धु' को उन्होंने 'हिन्दु' कहा। इसी विकृति से आगे चलकर हिन्दू और हिन्दुस्तान, दोनों शब्द निकले। यूनानियों के मुख से 'ह' के बदले 'अ' निकलता था, अतएव, हिन्दू को उन्हों ने इन्दो (Indo) कहना शुरू किया। इसी दूसरी विकृति से 'इंडिया' नाम निकला है। इटली के कवि वर्जिल ने इंडिया के बदले केवल 'इंड' लिखा है और मिल्टन ने भी भारत का नाम 'इंड' ही लिखा है।

प्राचीन संस्कृत और पालि-ग्रन्थों में हिन्दू नाम कहीं भी नहीं मिलता। किन्तु, भारत से बाहर के लोग भारत अथवा भारतवासियों को हिन्दू या 'इंडो' कहा करते थे, इसके प्रमाण हैं। भारत से बाहर हिन्दू शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अवेस्ता में मिलता है। डेरियस (५२२-४८६ ई० पू०) के शिलालेख में भी हिन्दू शब्द का उल्लेख है।

किन्तु, भारतवर्ष को हिन्दुस्तान और भारतवासियों को हिन्दू कहना इतिहास और भूगोल, दोनों ही दृष्टियों से युक्ति-संगत है। कारण यह कि सभी भारतवासी आर्य-भांडार के नहीं हैं। भारतवासियों में अनेक प्रजातियों के लोग हैं। जब तक आर्य इन अनेक जातियों से अपने को अलग रखे हुए थे, तब तक उनका अपने को आर्य मानना ठीक था। किन्तु, विवाह - सम्बन्धों द्वारा जब सभी जातियों के लोग परस्पर मिश्रित हो गये, तब आर्य से वे हिन्दू हो गये। इसी प्रकार, आर्यावर्त का भौगोलिक अर्थ सारा भारतवर्ष नहीं था। वह दक्षिण में, अधिक-से-अधिक, विंध्य पर्वत तक पहुँचता था। किन्तु, भारत विंध्याचल पर समाप्त नहीं होता। वह कन्या कुमारी तक फैला हुआ है। इसलिए, आर्यस्थान, आर्यावर्त आदि नाम गलत हैं। इस देश का सही नाम भारतवर्ष, हिन्दुस्तान या इंडिया ही हो सकता है। इसी प्रकार, हिन्दू नाम बहुत

व्यापक और आर्य नाम संकीर्ण है। और अब यह दावा कौन कर सकता है कि वह शुद्ध आर्य, शुद्ध द्रविड, शुद्ध कोल अथवा शुद्ध किरात है ? ये नाम अब इतिहास के प्रागण में पडी क्षीण-धूमिल रेखाओ की छाया मात्र है। असल मे, भारत के निवासी हिन्दू है और उनका देश आर्यस्थान नही, हिन्दुस्तान है।

ईरानियो के द्वारा दिया हुआ हिन्दू नाम संस्कृत-भाषियों के द्वारा सपूर्ण भारतवासी जनता के समुच्चय-नाम के रूप मे स्वीकृत हो गया था, इसके भी प्रमाण मिलते है। उत्तर मे जब बौद्ध मत की प्रबलता हुई, तभी से हिन्दू-धर्म अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए दक्षिण को अपना गढ मानने लगा। पीछे जब विदेशियो के आक्रमण आरम्भ हुए, तब बहुत-से धर्म-प्राण हिन्दू दक्षिण की ओर खिसकने लगे थे। इस स्थिति का उल्लेख कालिका-पुराण (आठवी से दसवी सदी तक) मे मिलता है।

> बलिना कलिनाच्छन्ने, धर्मे कवलिते कलौ,
> यवनैरवनी क्रान्ता, हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्।

जब बलवान् कलि-काल ने सब को प्रच्छन्न कर दिया और धर्म उसका ग्रास बन गया तथा पृथ्वी यवनो से आक्रान्त हो गयी, तब हिन्दू खिसककर विन्ध्य की ओर चले गये।

इसी भाव की आवृत्ति शार्ङ्गधर-पद्धति के भी एक श्लोक मे मिलती है—

> यवनैरवनी क्रान्ता, हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्
> बलिना वेदमार्गोऽय कलिना कवलीकृतः।

मुसलमानो के आने के बाद जब लोगो को यह पता चला कि मुस्लिम-कोष मे हिन्दू शब्द का अर्थ दूषित है, तब भी, पडितो ने हिन्दू शब्द का बहिष्कार नही किया, बल्कि, उसके भीतर उन्होने अपनी पसन्द का नया अर्थ बिठा दिया। रामकोष मे लिखा है,

> हिन्दुः दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः
> सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः।

हिन्दू न तो दुष्ट होता है, न विदूषक, न अनार्य। वह सद्धर्मपालक, वैदिक धर्म को माननेवाला विद्वान् होता है।

अद्भुत-कोष मे हिन्दू नाम की जो परिभाषा दी गयी है, वह वीरता-व्यंजक है। सम्भवत, हिन्दू जाति के भीतर शौर्य जाग्रत करने को यह परिभाषा गढी गयी होगी।

> हिन्दुर्हिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विघर्षणे।

हिन्दु और हिन्दू, ये दोनो शब्द दुष्टो को विघर्षित करनेवाले अर्थ मे प्रसिद्ध है।

इधर वृद्धस्मृति नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक और श्लोक उद्धृत किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि हिन्दू नाम उसका है जो हिंसा से दुःख मानता हो।

हिंसया दूयते यश्च सदाचारणतत्परः
वेदगो प्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक् ।

जो सदाचारी, वैदिक मार्ग पर चलनेवाला, प्रतिमापूजक और हिंसा से दु ख मानने वाला है, वह हिन्दू है।

शब्दकल्पद्रुम-कोष के अनुसार "हीन दूपयति इति हिन्दू ", जो हीनता को स्वीकार न करे, वह हिन्दू है।

पारिजातहरण नामक किसी प्राचीन नाटक से एक और श्लोक उद्धृत किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि हिन्दू वह है जो शस्त्र और शास्त्र, दोनो मे निष्णात है।

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्
हेतिभिः शत्रुवर्गंच स हिन्दुः अभिधीयते।

जो अपनी तपस्या से दैहिक पापो तथा चित्त को दूपित करनेवाले दोपो का नाश करता है तथा जो शस्त्रो से अपने शत्रु-समुदाय का भी सहार करता है, वह हिन्दू है। स्पष्ट ही, यह परशुरामवाद की अवतारणा है। परशुराम की भी प्रतिज्ञा थी,

अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरो धनुः,
इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्रं, शापादपि शरादपि।

लगता है, यह परिभाषा तव बनी होगी जव विदेशी आक्रमणो से अपने धर्म और धन, दोनो की रक्षा के लिए हिन्दू-समाज कटिवद्ध हो उठा था। जनक और परशुराम, दोनो हिन्दू-इतिहास के प्रवलतम पुरुष थे और हिन्दुओ की श्रद्धा दोनो पर रही है। मुस्लिम-आगमन के वाद कवीर और नानक ने, व्याजातर से, जनक-मार्ग को श्रेष्ठ माना और परशुराम के नये अवतार गुरु गोविन्द सिंह हुए। भोग और वैराग्य के बीच द्वन्द्व छिडने पर भारत जनक-धर्म का आश्रय खोजता है। इसी प्रकार, जव हिंसा और धर्म- साधना के वीच सघर्प उत्पन्न होता है, तव भारतवासी परशुराम की याद करते है।

भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त नही, हिन्दुस्तान होना चाहिए, यह अनुभूति भी नवीन नही है। वृहस्पति-आगम मे एक श्लोक आया है,

हिमालयं समारभ्य यावद् इन्दुसरोवरम्
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते।

इन्दु सरोवर से अभिप्राय यहाँ कुमारी अन्तरीप से है। यह भी ध्यान देने की वात है कि सस्कृतभापी भारतवासी विद्वान् हिन्दुस्तान के वदले 'हिन्दुस्थान' लिखना पसन्द करते थे।

हिन्दू शब्द के भीतर जो अर्थ पहले कुछ धीमा था, वह आधुनिक युग मे आकर भली-भाँति सुस्पष्ट हो गया।

हिन्दू-महासभा का आदर्श-वाक्य (श्लोक) वीर सावरकर द्वारा रचा गया है। सावरकरजी के अनुसार वे सभी लोग हिन्दू है जो सिन्धु नदी से लेकर आसमुद्र विस्तृत भूभाग मे बसते है एव जो भारत को अपनी पितृभूमि तथा तीर्थ मानते है।

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।

विनोवाजी के अनुसार हिन्दू का मुख्य लक्षण उसकी अहिंसा-प्रियता है।

हिंसया दूयते चित्त तेन हिन्दुरितीरितः।

हिंसा से घृणा करनेवाला व्यक्ति हिन्दू है, ऐसा मत केवल विनोवाजी का ही नही है, पहले भी लोग हिन्दू का प्रधान लक्षण उसकी अहिंसा-प्रियता को ही मानते थे। माधवदिग्विजय मे उल्लेख है,

ओंकारमूलमंत्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः
गोभक्तो भारतगुरुः हिन्दुर्हिसनदूषकः।

ओंकार जिसका मूल-मत्र है, पुनर्जन्म मे जिसकी सुदृढ आस्था है, भारत ने जिसका प्रवर्तन किया है, तथा हिंसा की जो निन्दा करता है, वह हिन्दू है।

वहुत प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो मे हिन्दू शब्द का उल्लेख नही मिलने के कारण, इस अनुमान से भागना कठिन है कि भारतवासियो का यह नाम ईरानियो के उच्चारण-दोष से उत्पन्न हुआ। किन्तु, भारतीय सस्कृति के जो मुख्य लक्षण है, वे, सस्कृत-नियम से भी, हिन्दू शब्द मे भर दिये गये। अतएव, यह नाम आर्य शब्द से अधिक व्यजक हो उठा और उसके वृत्त मे वे सभी लोग आ गये जो भारत मे वसते और उसके धर्म को स्वीकार करते है, भले ही, वे आर्य अथवा द्राविड़ भाण्डार से नही आये हो।

भारतवासी अपना हिन्दू नाम उस समय भी जानते थे, जव मुसलमान इस देश मे नही आये थे। हुएन साङ् के समय मे यह शब्द भारत मे प्रचलित था, किन्तु, हुएन साङ् ने यह लिखा है कि हिन्दू शब्द, असल मे, चीनी शब्द 'इन्तु' का रूपान्तरण है, जिसका अर्थ चन्द्रमा होता है। सितारो के वीच चाँद की जैसी प्रतिष्ठा होती है, ससार मे उसी प्रकार प्रतिष्ठित होने के कारण भारत को चीन के लोग 'इन्तु' या 'हिन्दु' कहने लगे। भारत पर प्रवल रूप से मुस्लिम-आक्रमण महमूद गजनी ने किया। अलवरूनी उसी विजेता की सेना के साथ भारत आया था। उस समय यहाँ के लोग हिन्दू कहलाते थे। अलवरूनी ने हिन्दुओ की प्रशसा लिखी है। इससे यह वात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भारतवासियो का हिन्दू नाम मुसलमानो ने नही रखा, न यह नाम कुत्सित अर्थ की व्यजना करनेवाला था।

भारत में आनेवाली अन्य जातियाँ

भारत मे बाहर मे आनेवालो में मबसे आखिरी गिरोह आर्यो का ही रहा हो, यह बात नही है। ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत पर सिकन्दर की चढाई हुई। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद, पश्चिम से यूनानियो का बडा दल इस देश मे आया। ईसा से, प्राय., एक सौ वर्ष पूर्व युची और शक जातियो के लोग हिन्दुस्तान आये। चौथी शताब्दियो में यहाँ हूणो का बहुत बडा दल आया। शायद, ईसा से एक-दो सौ वर्ष पूर्व आभीर जाति भी इस देश मे आकर बसी थी। मगर, जब मुसलमान इस देश मे आये, तब यहाँ केवल हिन्दू जाति का ही निवास था। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड और आर्य, मगोल, यूनानी, युची, शक और आभीर तथा हूण और तुर्क, इनका कही कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा था और ये, सब-के-सब, हिन्दू-समाज के चारो वर्णो में बँटकर भली भाँति पच-खप चुके थे। कई प्रकार की औषधियो को कडाह में डालकर जब काढा बनाते है, तब उस काढे का स्वाद हरएक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। असल में, उस काढे का स्वाद सभी औषधियों के स्वादो के मिश्रण का परिणाम होता है। भारतीय सस्कृति भी इस देश में आकर बसनेवाली अनेक जातियो की सस्कृतियो के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता लगना बहुत मुश्किल है कि उसके भीतर किस जाति की सस्कृति का कितना अश है। चूंकि काढा औटने का काम आर्यो ने किया, इसलिए, भारतीय सस्कृति पर आर्यो के नाम का बौद्धिक लेबुल साफ पढा जा सकता है। लेकिन, इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि औषधियाँ आर्यो ने अनेक जातियो से ली और सबका उन्होने उचित मात्रा मे परिपाक किया।

हिन्दू-संस्कृति की पाचनशक्ति

हिन्दू-सस्कृति की पाचनशक्ति बडी ही प्रचड मानी गयी है। इसका कारण, शायद, यह है कि जब आर्य इस सस्कृति का निर्माण करने लगे, तब उनके सामने अनेक जातियो को एक सस्कृति मे पचाकर समन्वित करने का सवाल था, जो उनके आगमन के पहले से ही इस देश में बस रही थी। अतएव, उन्होने, आरभ से ही, हिन्दू-सस्कृति का ऐसा लचीला रूप पसन्द किया, जो प्रत्येक नयी सस्कृति से लिपटकर उसे अपनी बना सके। नीग्रो से लेकर हूणो तक, इस देश मे आनेवाली सभी जातियाँ इसी लचीलेपन के कारण हिन्दू-समाज में खप गयी। कालक्रम में, हिन्दू-धर्म के भीतर से ही उसके विरुद्ध एक प्रचड सास्कृतिक विद्रोह उठा, जिसे हम बौद्ध धर्म के नाम से जानते है। किन्तु धीरे-धीरे, वह विद्रोह भी लौटकर उसी धर्म में समा गया, जिससे उसका जन्म हुआ था। हिन्दू-सस्कृति ने अनेक सस्कृतियो को पीकर अपनी ताकत बढायी है—यहाँ तक कि इस्लाम, जो अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखने का मसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्तित हो गया। यद्यपि, भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी सत्ता को

स्वतन्त्र रखने मे वहुत दूर तक कामयाव हुए, लेकिन, संस्कृति की दृष्टि मे वे भी अव भारतीय है।

हिन्दू या भारतीय सस्कृति की इस विशेषता को लोग वडे विस्मय से देखते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर डाडवेल ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं।" मुसलमानी आक्रमण से पूर्व जो तुर्क लोग इस देश में आये थे, उनका क्या हाल हुआ, इसका रहस्य वतलाते हुए एक अन्य इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है कि "इन विदेशी लोगों ने भी, अपने पहले आने वाले शकों और युचियो के समान ही, हिन्दू-धर्म की पाचन-शक्ति के सामने घुटने टेक दिये और वडी ही शीघ्रता मे वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये।" आर्यों और द्रविडो के मिलन से भारतीय सस्कृति ने जो रूप धारण किया, यह उसी की ताकत थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियाँ इस देश में आयी, वे भारतीय सस्कृति के समुद्र मे एक के वाद एक, विलीन होती चली गयी। जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा हैं—"ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और वैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आनेवाले तुर्क और ईसा की आरभिक सदियो मे आनेवाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सव-के-सव, एक के वाद एक, भारत मे आये और उनके आने से समाज ने एक हल्के कपन का भी अनुभव किया, मगर, अन्त में आकर वे सव-के-सव भारतीय सस्कृति के महासमुद्र मे विलीन हो गये। उनका कही कोई अलग अस्तित्व नही वचा।" एक अन्य विचारक मिस्टर सी ई एम जोड ने लिखा है कि "मानव-जाति को भारतवासियों ने जो सवसे वडी चीज, वरदान के रूप मे, दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियो के लोगो और अनेक प्रकार के विचारो के वीच समन्वय करने को तैयार रहे हैं। और सभी प्रकार की विविधताओ के वीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाव रही है।" मिस्टर जोड ने भारत की इस अपूर्व क्षमता की जो प्रशसा की है, वह इसलिए कि ससार के सामने आज जो सवसे वडा सवाल पेश है, वह यह है कि दुनिया की अनेक जातियो, अनेक वादों और विचारो तथा अनेक सस्कृतियों के वीच समन्वय स्थापित करके हम विश्व-सस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं। स्पष्ट ही, ससार को उसी मार्ग को अपनाना पडेगा, जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहाँ की विभिन्न सस्कृतियो के वीच एकता या मेल विठाता रहा है। इसीलिए, मिस्टर जोड ने भारत की इस योग्यता को विश्व-मानवता के लिए सवसे वडा वरदान कहा है।

अनेक सस्कृतियो और जातियो के मिलन से भारतीय सस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह ससार के लिए, सचमुच, वरदान है और पिछले दो सौ वर्षों से सारा ससार उसका प्रशसक रहा है। १९वी सदी में अपनी अपूर्व भारत-भक्ति से सारे यूरोप को चौंका देनेवाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है कि "अगर मैं अपने-आपसे यह पूछूँ कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओ एव विचारो पर पलनेवाले हम

यूरोपीय लोगों के आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनीन, सक्षेप में, अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाति के साहित्य मे मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उँगली हिन्दुस्तान की ओर उठ जायगी।" इसी प्रकार, बीसवी सदी के अद्भुत चिंतक और विश्व-मानवता के अपूर्व उपासक स्वर्गीय रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है कि "अगर इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है, जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनो से ही मनुष्यो के सारे सपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं, तो वह जगह हिन्दुस्तान है।"

यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियो को एक महाजाति के साँचे मे ढालने का यह अद्भुत प्रयास और अनेक वादो, विचारो और धर्मों के बीच एकता लाने का यह निराला ढग सभी युगो में भारतीय समाज की विशेषता रहा है।

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह)

प्रकरण १

बुद्ध से पहले का हिन्दुत्व

हिन्दुत्व का स्वभाव है कि वह जितना ही परिवर्तित होता है, उतना ही अपने मूल स्वरूप के अधिक समीप पहुँच जाता है। पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर ने हिन्दुत्व मे जो सुधार किये वे, प्राय, धीरे-धीरे, एव एक प्रकार की नि शब्दता के साथ आये। किन्तु, बहुत-कुछ वैसा ही सुधार महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों ने यथेष्ट कोलाहल के साथ किया और उनके सुधारो के परिणामस्वरूप हिन्दू-धर्म का रूप परिवर्तित भी हुआ। किन्तु, वह इतना परिवर्तित नही हुआ कि उसका आज का रूप बुद्ध से पहलेवाले रूप से बिलकुल भिन्न हो जाय। वैदिक आर्य यज्ञ के प्रेमी थे, किन्तु, आज भी यज्ञ जहाँ-जहाँ होते रहते हैं। वैदिक आर्य ऊपा, इद्र, सूर्य और अग्नि, आदि को देवता मानते थे, किन्तु, आज भी ऐसे नैष्ठिक हिन्दू विद्यमान है, जिनके हृदय मे इन देवताओं के लिए श्रद्धा और भक्ति है। वैदिक आर्यो का विश्वास था कि स्वर्ग में भी आत्मा इसी जीवन के समान सुख और आनन्द भोगती है, और आज भी ऐसे हिन्दुओ की कमी नही जो स्वर्ग मे सुख पाने के लिए धरती पर दान दें।

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय सस्कृति का जो रूप था, आज भी, मूलत, वह वैसा ही है। मिश्र, बेबिलोन और यूनान मे भी प्राचीन सभ्यताएँ उठी थी। किन्तु, काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नही। वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढकर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और, कदाचित्, आगे भी जीवित रहेगा।

किन्तु, एक बात है जिसमे काफी अन्तर पड़ा है और वह बात यह है कि नास्तिको एव भौतिकवादियो को छोडकर आज ऐसे हिन्दू कम है जो परलोक का भय नही मानते हो। यह वैदिक काल की भावना से भिन्न भावना है। वैदिक ऋषि नास्तिक या भौतिकवादी तो नही थे, किन्तु, मृत्यु से डरने की बात उन्हे नहीं सूझी थी, न उनमे यही भाव जगा था कि स्वर्ग के साथ-साथ कही कोई नरक भी हो सकता है जहाँ आत्मा को यातनाएँ झेलनी पड सकती है। वस्तुत, आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय मे वैदिक ऋषियो ने अधिक नही सोचा था। इन सिद्धान्तो के बीज कोई खोजे तो वेदो में खोज सकता है। किन्तु, इनका विकास आगे चलकर उपनिषदो मे हुआ-सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, इस सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओ मे मिलता है, किन्तु, आत्मा का आवागमन क्यों होता है,

इसकी खोज वेदो मे नही मिलती। वेदो का वातावरण आनन्द और उल्लास का वातावरण है। उसमे भय अथवा शोक की छाया नही है। इससे यह नही समझना चाहिए कि वैदिक जनता इसी ससार पर भूली हुई थी और उसे जीवनोपरान्त आनेवाले जीवन का ध्यान ही नही था। ध्यान था और ऋषियो ने कभी-कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है। किन्तु, इसे हम विचार ही कहेंगे, भय या चिन्ता नही। अपनी समस्त सीमाओं के साथ सासारिक जीवन वैदिक ऋषियो का प्रेय था। प्रेय को छोडकर श्रेय की ओर बढने की आतुरता उपनिषदो के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ-जीवन नि स्सार हो गया एव जब लोग जीवन से आनन्द लेने के बदले उससे पीठ फेरकर सन्यास लेने लगे। हाँ, यह भी हुआ कि वैदिक ऋषि जहाँ यह पूछकर शान्त हो जाते थे कि "यह सृष्टि किसने बनायी ?" और "कौन देवता है जिसकी हम उपासना करे ?" वहाँ उपनिषदो के ऋषियो ने सृष्टि बनानेवाले के सबध मे कुछ सिद्धान्तो का निश्चयन कर दिया और उस "सत्" का भी पता पा लिया जो पूजा और उपासना का, वस्तुत, अधिकारी है। वैदिक धर्म का पुराना आख्यान वेद और नवीन आख्यान उपनिषद है।

वैदिक वाङमय

काव्य-मीमासा के लेखक राजशेखर ने माना है कि वेद तीन ही हैं, ऋक्, यजुष् और साम। अथर्व चौथा वेद है, किन्तु, उसमे अधिक अश इन्ही तीन वेदो के है। इसके सिवा, उसमे मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन, आदि विद्याओ का ही वर्णन है। सामवेद मे ऋग्वेद के ही गेय मत्रो का प्राधान्य है। यजुष् गद्य मे है। यज्ञो मे मत्र और गीत गाये जाते थे तथा यजुषो का पाठ होता था।

वेदो का पूरा सबध यज्ञो से था। यज्ञ की विधियाँ लिखी जाने लगी। इस प्रकार, एक नया वाङमय उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ब्राह्मण पडा। ब्राह्मण प्रत्येक वेद के मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ, यह नाम ही निर्देश करता है कि इन ग्रन्थो की रचना ब्राह्मण, पुरोहित, यज्ञ आदि के कारण हुई होगी। आर्यो का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ था। यज्ञो की विधियाँ समझाने तथा उनके अनुष्ठानो का निर्धारण करने को ब्राह्मण-ग्रन्थ बने। यज्ञ मे प्रत्येक वेद के मत्र पढे जाते थे, इसलिए, वेदी के पास प्रत्येक वेद के विशेषज्ञ बैठा करते थे।[1] अतएव, यज्ञ के विषय मे प्रत्येक वेद की कहाँ क्या उपयोगिता है, इसे समझाने के लिए प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण बन गये। ब्राह्मण, मुख्यत, कर्मकाण्ड के ग्रन्थ है और स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक काल मे कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था।

---

१ मत्र का नाम पहले ब्रह्म था। पीछे, ब्रह्मा उसे कहने लगे जो वेदी के समीप विठाया जाता था। और भी पीछे चलकर ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया।

ब्राह्मण अत्यत नीरस ग्रन्थ हैं। उनके भीतर विधि और अर्थवाद, ये दो प्रकार के विषय हैं। विधियाँ यज्ञो के नियम हैं और अर्थवाद उनकी व्याख्या का प्रयास। अर्थ-वाद के अन्दर ही इतिहास, पुराण और आख्यायिकाओं के प्रसग आते हैं जिनमे पुराण-साहित्य का मूल है। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक महत्त्व यह भी है कि वे वेद और वेदोत्तर साहित्य के बीच की कडिया सूचित करते हैं। ब्राह्मणों मे निरूपित यज्ञ-नियम जब असीम जाल बन गये, तब उन्हे सक्षिप्त और व्यावहारिक बनाने के प्रयास से श्रौत-सूत्रो का विकास हुआ। ब्राह्मण-युग में ही यास्क ने निरुक्त लिखा जिसका उद्देश्य वेद के अर्थ को सुनियोजित करना था। और जब ब्राह्मण-ग्रन्थो ने यज्ञ को बहुत अधिक प्रधानता दे डाली, तब ब्राह्मणों के विरुद्ध एक नये चितन का आरभ हुआ जिसका आरभिक रूप आरण्यको मे दिखायी देता है। जो चिंतक पुरोहितवाद और यज्ञ को यथेष्ट श्रद्धा से नही देखते थे, उनमें जीवन के प्रति एक प्रकार का वैराग्य उदित होने लगा, वे घर-बार छोडकर अरण्यो मे रहने लगे और उनका चिंतन इस प्रश्न को लेकर चलने लगा कि यज्ञों का वास्तविक अर्थ क्या है, उनके भीतर कौन-सा रहस्य है तथा वे धर्म के किस रूप के प्रतीक हैं। आश्रमों के विकसित हो जाने पर आरण्यक उनके प्रिय ग्रन्थ बन गये जो वानप्रस्थी थे। सभी प्राचीन उपनिषद् (बृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, ऐतरेय, कौषीतकी और तैत्तरीय) या तो आरण्यको के अग अथवा उनके परिशिष्ट ग्रन्थ थे।

वेदांग

यज्ञो में वेदो का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ-भेद से विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनो में, विविधताएँ भर जाती थी। इन अशुद्धियो को दूर करने तथा पठन और गायन में होनेवाली विविधताओं मे व्यवस्था लाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदाग कहे जाते हैं। ये वेदों के अग इस लिए माने गये कि इनका सबध वेदो के उच्चारण, उनके गान तथा अर्थबोध से है।

१. शिक्षा—यह आजकाल का फोनेटिक्स या उच्चारण-शास्त्र था। सामवेद की शिक्षा का नाम नारद-शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य-शिक्षा। इसी प्रकार, पाणिनीय-शिक्षा भी है।

२. छन्द—छन्द-शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बना था। अब इसका एक ही ग्रन्थ "पिगल" मिलता है, जिसमे वैदिक और लौकिक, दोनो प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

३. निरुक्त—वैदिक शब्दो की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था। निघटु नामक एक ग्रन्थ मे कठिन वैदिक शब्दो की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि ने (समय ई० पू० ७००) भाष्य बनाया, जो निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ने ही, पहले-पहल, यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।

४. व्याकरण—पाणिनि की अष्टाध्यायी ईसा से ७०० वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि से पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भरद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु, उनके ग्रन्थ अब नही मिलते। पाणिनि से पूर्व के वैदिक व्याकरण को प्रातिशाख्य कहते थे। शौनक-प्रातिशाख्य और कात्यायन-प्रातिशाख्य अब भी मिलते हैं।

शिक्षा, छन्द, निरुक्त और व्याकरण, असल में, ये ही चार वेदाग हैं, जिनका सबध वेद के भाषा-विषयक विज्ञान से है। किन्तु, दो और विद्याओ को मिलाकर वेदाग छह कहे जाते हैं।

५. ज्योतिष—यह आर्यो का एकमात्र भौतिक शास्त्र था। जयचन्द्रजी का कहना है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

६ कल्पसूत्र—जिस प्रकार, वेदो के कर्मकाण्ड-पक्ष के नियमन के लिए ब्राह्मण ग्रन्थो का निर्माण हुआ, उसी प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थो की व्याख्या के लिए कल्पसूत्र बने। कल्पसूत्रो मे, व्याजान्तर से, आर्यों का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं। एक तो श्रौतसूत्र, जिनमे आर्यों के यज्ञो का वर्णन है तथा जिनसे भारतीय यज्ञ-पद्धति का मूल-स्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा स्मार्तसूत्र जिसके दो भेद है। (१) गृह्य-सूत्र मे षोडश-सस्कारो का वर्णन है। (२) धर्मसूत्र मे राजा तथा प्रजा के धर्म, धार्मिक नियमो और वर्णाश्रम-विधान का वर्णन है।[1]

उपनिषद्

वैदिक साहित्य मे, वेदाङ्गो के बाद, उपनिषदो का स्थान आता है। मुक्तिक उपनिषद् के अनुसार, सभी उपनिषदो की सख्या १०८ है, किन्तु, पडित इनमे से सबको समान महत्त्व नही देते। ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषद महत्त्वपूर्ण समझे जाते है, जिनकी रचना बुद्धदेव के आविर्भाव के पहले हो चुकी थी। उपनिषदो की रचना बहुत बाद तक होती रही, यह असदिग्ध बात है और इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि अल्लोपनिषद (अल्ला का उपनिषद) की रचना अकबर के समय में हुई। इन १०८ उपनिषदो में प्रमुख कौन-कौन माने जायँ, इस विषय मे सामान्य मत यह है कि शकराचार्य ने जिन उपनिषदो की टीका लिखी है, वे सबसे प्रमुख हैं। शकराचार्य ने जिन उप-

---

१ इन्ही सूत्रो से, बाद मे, स्मृतियाँ निकली। काल-क्रम मे, वेद विस्मृति और विकृति की धूलो के नीचे दब गये थे। १४ वी सदी में वेदो का उद्धार सायण ने किया। सायण विजयनगर राज्य मे रहते थे। इन्ही के भाष्य के प्रकाश मे हम वेदो को आज देख और समझ सकते है। मैक्समूलर और राममोहन राय ने भी वेदो की सेवा इसी भाष्य के आधार पर की। सूत्र-शैली का जन्म वेदागो के जन्म के, प्राय, साथ ही हुआ। अनुमान है कि धर्मसूत्रो की रचना ई० पू० ५०० से ३०० तक होती रही। किन्तु, ये ग्रन्थ बहुत दिनो मे बने, अतएव, उनमे इस अवधि से पहले की भी बातें मिलती है।

निषदो की टीका लिखी, उनके नाम हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुंडक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक और (११) नृसिंहपूर्वतापनी। इनके सिवा, शंकराचार्य ने पाँच-छह अन्य उपनिषदों से भी उद्धरण दिये हैं। श्री रामानुजाचार्य ने सभी उपनिषदों की टीका तो नहीं लिखी, किन्तु, उन्होंने भी, प्राय., इन्ही उपनिषदों का हवाला दिया है।

उपनिषद वेदो के बाद बने या उनके साथ ही, इस बात पर भी विवाद है। अनुमान यह है कि उपनिषदो की भी रचना पहले मौखिक ही की गयी थी और लिखे वे पीछे को गये हैं।[1] इसलिए, कहीं-कही वे वैदिक संहिताओ मे भी सम्मिलित मिलते हैं। ईशोपनिषद यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है; छान्दोग्य उपनिषद सामवेद के एक ब्राह्मण के अन्तर्गत मिलता है। और बृहदारण्यक शतपथब्राह्मण का एक भाग है। उपनिषद शब्द का अर्थ कोई-कोई पंडित "पास बैठना" लगाते हैं (उप=निकट; निषद=बैठना) जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि शिष्य गुरु के पास बैठकर वेद का तत्त्व समझा करते थे। इस शिक्षण के सिलसिले में जो ज्ञान निकला, वही उपनिषदों में संचित है।

वेदों और उपनिषदों की विचार-धारा

अपने देश मे एक परम्परा है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास की खोज करते है, तब उसके मूल, उत्स, जड़ या बीज की खोज वेदों मे जरूर करते हैं। भारत मे नाटक का विकास कैसे हुआ, इसकी खोज करते-करते हम वेदों के संवाद-सूक्तों में नाटकों के बीज देखते है। वैष्णव-धर्म का उत्स हम वेद में प्रयुक्त विष्णु (सूर्य के अर्थ मे) शब्द मे देखते है तथा शैव-धर्म की जड हमें वेदों की रुद्र-भावना मे मिलती है। और यह ठीक भी है, क्योंकि वेदो मे बीज-रूप मे जो चिन्तन है, उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य मे हुआ है।

इस प्रकार देखने पर, हम उपनिषदो को वेदो के विकास की कड़ी कहेंगे। यूरोपीय विद्वानों ने वेदो पर तो थोडी भी श्रद्धा नही दिखलायी, किन्तु, उपनिषदों पर वे एक समय (उन्नीसवीं शती मे) आनन्द से टूट पड़े थे। किन्तु, उपनिषद कोई आकस्मिक वस्तु नही थे। असल मे, वेदो मे जो बातें थीं, उन्ही पर विचार करते-करते ऋषियों ने उपनिषदो की रचना की।

वेदो मे हम जिस धर्म का बखान पाते हैं वह प्रकृति के तत्त्वो को सजीव माननेवाले भावुक मनुष्य का धर्म है। इन्द्र, वरुण, अग्नि और सविता, ये सभी वैदिक देवता ऐसे हैं, जिनका रूप और चमत्कार हम, थोड़ा-बहुत, चर्मचक्षु से भी देख सकते हैं। वेद-कालीन

---

१ केनेथ सौंडर्स का विचार (ए पैजेंट आव् एशिया नामक ग्रन्थ में) है कि उपनिषदो की रचना ई० पू० ९०० से ई० पू० ७०० तक हुई है। लेखन-कला का प्रचलन उससे बहुत पूर्व ही हो चुका था।

मनुष्य का विश्वास था कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन काम करती है और उस देवता की पूजा करने से मनुष्य का कल्याण होता है। अतएव, अधिकाश मे, वैदिक आर्य देवताओ की स्तुति करते है कि उनके (आर्यो के) बैल मोटे हो, घोडे बलवान हो, फसल की उन्नति हो और शत्रुओ पर उन्हे विजय मिले। यही नही, बल्कि, स्वर्ग की कामना भी वे इसी भाव से करते है कि स्वर्ग मे भी उन्हे उसी प्रकार का उत्तम सुख मिले जिस प्रकार के सुखो का भोग इस पृथ्वी पर उपलब्ध है।

बहुदेववाद

प्रकृति के प्रत्येक रूप मे एक देवता की कल्पना करते रहने के कारण वैदिक आर्य बहुदेववादी हो गये थे, यह बात वैदिक साहित्य से प्रमाणित होती है। ऋग्वेद ३३ देवताओ का अस्तित्व मानता है। शतपथ-ब्राह्मण मे भी ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा आकाश और पृथ्वी, इन ३३ देवताओ का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी ११ प्रयाजदेव, ११ उपयाजदेव और ११ अनुयाजदेव, ये ३३ देवता है। ऋग्वेद के दो मत्रो मे ३३३९ देवताओ के होने का उल्लेख मिलता है। किन्तु, सायणाचार्य ने लिखा है कि देवता तो ३३ ही है, केवल उनकी महिमा दिखाने के लिए ३३३९ देवताओ का उल्लेख कर दिया गया है।

किन्तु, इन विभिन्न देवो को पूजते रहने पर भी, आर्य यह मानते थे कि ये सभी देवता, मूलत, एक ही है। निरुक्तकार का कहना है कि "तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामो से पुकारे जाने पर भी देव एक ही है।" यास्क ने उदाहरण दिया है "नरराष्ट्रमिव" अर्थात् व्यक्ति-रूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे, असख्य मनुष्य राष्ट्र-रूप मे एक है, वैसे ही, विविध रूपो मे प्रकट होने पर भी देवो मे एक ही परमात्मा व्याप्त है। इन्ही परमात्मा को याज्ञिको और ब्राह्मण-ग्रन्थो ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्ही प्रजापति के विशिष्ट अग माने गये है।

वैदिक सहिताओ मे सबसे अधिक (कोई साढे तीन हजार) मत्र इन्द्र के सम्बन्ध मे है। इन्द्र का सबसे बडा पराक्रम यह था कि उन्होने वृत्रासुर का बध किया, जो आर्यो का प्रचण्ड शत्रु था। इन्द्र ने वज्र द्वारा शम्बरासुर के ९९ नगरो को नष्ट किया, शरत् नामक असुर की सात पुरियो को विध्वस्त किया, इसीलिए, उनका नाम पुरन्दर पडा।

अग्निदेव के सम्बन्ध मे वैदिक सहिताओ में कोई ढाई हजार मत्र है।

इन्द्र और अग्नि के बाद, वेद में सर्वाधिक मत्र सोम के सम्बन्ध मे मिलते है। सोम पेय द्रव्य था, जिसमे आर्यो को देवत्व के दर्शन हुए थे। मत्रो मे आया है, "सोम! तुम्हें पीकर हम अमर होगे, अनन्तर प्रकाशमान स्वर्ग में जायेगे और देवो को जानेगे", "सोम मदकर, स्वादुतम, रसात्मक, अरुणवर्ण और सुखकारी है," "सोम लोहे से पीसे जाकर

और ३२ सेर वाले कलश से युक्त होकर अभिमवन स्थान में बैठते हैं", "सोम पर्वत से उत्पन्न और मद के लिए अभिपुत हैं ;" "सोम के शोधक मेषचर्म और गोचर्म है।"

अश्विनीकुमारों के सम्बन्ध में भी वेद में बहुत-से मन्त्र हैं। अश्विनीकुमार दो थे, और दोनो वैद्य थे, इस कारण, उनकी पूजा होती थी। मन्त्रों में आया है, "वृद्ध कलि-नामक स्तोता को तुमने यौवन में युक्त किया था। तुम लोगों ने लँगडी विश्वपला को लोहे के चरण देकर उसे गति-समर्थ बना दिया था।" विश्वपला खेल-ऋषि की पत्नी थी, जो युद्ध में भी जाती थी।

यास्क का मत है कि वायु आर्यों के अत्यन्त प्राचीन देवता है। "मरुतों के प्रभाव से द्यावा-पृथ्वी चक्र की तरह घूमने लगी थी।"

अश्विनीकुमारो की तरह, ऋभुगण भी शिल्पी और वैद्य थे और इनकी पूजा भी आर्य श्रद्धा से करते थे। इन्ही प्रकार, मित्र, वरुण, ऊषा और पूषा, इनकी स्तुति में भी अनेक मन्त्र हैं। यास्क ने निरुक्त में पूषा का अर्थ सूर्य किया है। मन्त्र में आया है, "प्रकाशमान् पूषन्, कृपण को दान देने के लिए प्रेरित करो और उसके हृदय को कोमल करो।"

यमराज और पितरो के सम्बन्ध मे भी वेद मे अनेक मन्त्र हैं। कहा गया है, "यम के ही पास सारा मानव-समुदाय जाता है।" "जिस पथ मे हमारे पूर्वज गये हैं, उसी पथ से सारे जीव जायेंगे।" "जहाँ हमारे पितामहादि गये है, उसी प्राचीन मार्ग से हे मृत पित, जाओ।" "श्मशान-घाट के पिशाचादिको, यहाँ से हटो, दूर जाओ।" "साधु-स्वभाव पितर देवों के साथ हवि भक्षण करते थे और इन्द्र के साथ रथ पर चढते थे।" "जो पितर जलाये गये हैं और जो नही जलाये गये है, वे सब स्वर्ग मे स्वधा के साथ आनन्द करते हैं।"

वेदो मे परमात्मा की कल्पना बहुत सुस्पष्ट तो नही मिलती, किन्तु, उसकी सत्ता सुस्पष्ट है और इस कल्पना की नीव "नासदीय सूक्त"-जैसे सूक्तो मे पडी थी। "सर्वप्रथम केवल परमात्मा थे। वे सबके अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होने पृथ्वी और आकाश को यथास्थान स्थापित किया।" "परमात्मा से सभी देव उत्पन्न हुए।"

उपनिषदो मे जो सूक्ष्म चिन्तन मिलता है, उसका मूल नासदीय सूक्त मे था। इस सूक्त को लोकमान्य तिलक ने मनुष्य-जाति की सबसे बडी स्वाधीन चिन्ता कहा है, जो ठीक है। ऐसा लगता है कि जिन प्रश्नो को लेकर उपनिषद जूझे और जिन्हे लेकर चिन्तक आज भी जूझ रहे है, उन सभी प्रश्नो के बीज इस सूक्त मे निहित थे। इस सूक्त में आया है, "सृष्टि के प्रथम, अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय (वा अविभक्त) था। अविद्यमान् वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ।" "प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उत्पादन-कारण से हुई?

किस निमित्त-कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं ? क्या देवता लोग इन सृष्टियो के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं ? कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है ? ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं ? किसने सृष्टियाँ की और किसने नही की, यह सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परम धाम में रहते हैं। हो सकता है कि वे भी यह सब नहीं जानते हों।"

उतने प्राचीन काल में ऐसा प्रचण्ड चिंतन ! सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है। उपनिषदो के समय भारत मे जो बौद्धिक व्यग्रता आरंभ हुई, उसके कारण नासदीय सूक्त मे मौजूद थे, इसमें कोई सन्देह नही।

अवतारो की कल्पना तो वेद मे नही मिलती, हाँ, "विष्णु के वामनावतार की कथा का अंकुर ऋग्वेद के अनेक मंत्रो में पाया जाता है। परलोक वा देवयान और पितृयान का विवरण जिन सूक्तो मे है, उन्ही मे आत्मा और पुनर्जन्म का भी कथन है। अन्यत्र भी है। १२३२।३ में कहा गया है, "व्यक्ति का एक अंग जन्म-रहित और शाश्वत है।" एक अन्य मंत्र मे जीवात्मा को कर्मफल-भोक्ता बताया गया है।

ये सारे विचार वैदिक युग मे अंकुरित हो चुके थे, किन्तु, धर्म के नाम पर अत्यन्त विशाल वृक्ष यज्ञो का ही था और यज्ञ ही आर्यो का प्रधान कर्म था। "विश्व की उत्पत्ति का स्थान यज्ञ है।" "सभी कर्मो में श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है।" "यज्ञ के कर्मफल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।" "वृष्टिकामो यजेत" (वर्षा चाहनेवाला यज्ञ करे), ऐसे वाक्य वेद मे बहुत होगे। यज्ञ आर्यो का मुख्य धर्म था और यज्ञ में पशु-हिंसा काफी की जाती थी। इसलिए, आर्य-धर्म के विरुद्ध उठनेवाली क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य यज्ञ हुआ।[1]

ऋग्वेद में जिस समाज का चित्र है, वह समाज अत्यन्त सुखी और संपन्न था और कही भी यह संकेत नही मिलता कि उस समाज से लोग तनिक भी असन्तुष्ट थे। यह संसार दुःख का आगार है अथवा जीवन नश्वर और क्लेशपूर्ण है, इस भावना पर ऋग्वेद ने कही भी जोर नही दिया है। यह सच है कि मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले जीवन की बड़ाई वैदिक ऋषि भी उत्साह से करते हैं, किन्तु, उनका यह भाव नही है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन दुःखी है, इसलिए, भागकर उसे स्वर्ग मे समा जाना चाहिए। उलटे, वे इस जीवन को सुन्दर तथा सुखपूर्ण मानते थे और विश्वास करते थे कि देवता अगर अनुकूल रहे तो मनुष्य पुण्य के रास्ते पर चलकर अपनी जिन्दगी बहुत ही आनन्द के साथ बिता सकता है। मनुष्य मे जो पाप हैं और जिनके कारण वह दुःख में पड़ता है, उनका वर्णन भी ऋग्वेद मे नही के समान है। असल में, वैदिक साहित्य (संहिता-भाग) उद्दाम आशावाद से ओत-प्रोत है और निराशा की उसमे कही गन्ध भी नही मिलती। उसका सबसे प्रधान स्वर यह है कि यह जिन्दगी आनन्द से जीने के योग्य है और देवताओ

---

१ इस प्रसंग के सारे उद्धरण पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी के "हिन्दी ऋग्वेद' और उसकी भूमिका से लिये गये है। —लेखक

को प्रसन्न रखकर हम मर कर भी ऐसा लोक प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द होगा। वेद में इस लोक का वर्णन है, इस जीवन के बाद मिलनेवाले स्वर्ग का वर्णन है, किन्तु, वैदिक ऋषि नरक के बारे में अधिक नहीं जानते हैं। वे कोई ऐसी बात नहीं कहते, जिससे मनुष्य को भय हो, उसका उत्साह दबे अथवा जीवन में उसका आनन्द कम हो जाय।

लेकिन, यह नहीं समझना चाहिए कि वैदिक काल के भारतीय भोगवाद में बिलकुल अन्धे हो रहे थे और इन्द्र, वरुण तथा अग्नि के जो दृश्य रूप हैं, उनसे ऊपर उठकर सूक्ष्म परम सत्ता को वे नहीं देख पाये थे। वे जानते थे कि सृष्टि का स्वामी कोई एक ही शक्ति है और उसी का प्रकाश सूर्य, अग्नि, वरुण और इन्द्र में झलकता है। किन्तु, वे जब जिस देवता की स्तुति करते थे, तब उसी को सृष्टि का स्वामी मान लेते थे और उसकी प्रशंसा इस प्रकार करने लगते थे, मानो, वही देवता सर्वशक्तिमान् हो। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मरने के बाद वे केवल उसी लोक की कामना करते थे, जिस लोक में उन्हें सासारिक सुखो के समान सुख और दैहिक भोगो के समान भोग मिल सकें। शतपथ-ब्राह्मण में यजुर्वेद का एक मन्त्र आता है, जिसमें ऋषि प्रार्थना करते हैं कि "हे अग्नि! तुम व्रतपति हो, मैं व्रत करूँगा, ऐसी शक्ति दो कि यह व्रत सिद्ध हो; क्योंकि मैं अनृत (असत्य) को छोडकर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ।" स्पष्ट ही, यह इशारा स्वर्ग नहीं, स्वर्ग से किसी ऊँची स्थिति की ओर है।

ऐसा लगता है कि ऐसी ही सूक्ष्म स्थिति की कल्पना में मोक्ष की कल्पना उद्भूत हुई होगी और जब मोक्ष की धुंधली कल्पना ऋषियों के सामने आयी, तभी उन्होंने ज्ञान-मार्ग पर सोचना आरम्भ किया। ज्ञान और कर्म, वेदो में ये दोनो ही मार्ग हैं। कर्मकाण्ड की प्रधानता संहिता और ब्राह्मण में है, जो यज्ञ को मनुष्य का प्रधान कर्म मानते थे, और जिनका विश्वास था कि यज्ञ करने से ही देवता प्रसन्न होते हैं, जिनकी कृपा से मनुष्य को इस जीवन में विजय और मरने के बाद स्वर्ग मिलता है। किन्तु, वेदों में ज्ञान-मार्ग की जो स्फुट बातें जहाँ-तहाँ विकीर्ण थी, उन्हीं को लेकर उपनिषदो का विकास हुआ। फिर भी, वेदो के प्रभुत्व के समय ज्ञान और कर्म के बीच झगडा नहीं बढा, क्योंकि उपनिषद् भी वेद के प्रमाण पर चलते हैं, और यह भी कहते हैं कि यज्ञ से सुख और स्वर्ग जरूर मिलते हैं, किन्तु, दोनो नाशवान् हैं। अतएव, मनुष्य को सच्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिए। उपनिषदो ने सच्चे सुख की जो कल्पना की, वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने स्वर्ग-सुख को उपनिषदो ने हीन बताया और, इसी प्रकार, लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को भी हीन मानने लगे। अतएव, भारतीय दर्शन में निराशावाद की एक हल्की परंपरा का आरंभ उपनिषदो में ही होता है और यही परंपरा उपनिषदो के पूर्ण विकास के युग में आकर पुष्ट और जैन तथा बौद्ध दर्शनो में जाकर प्रचंड हो उठी। संहिताओं और ब्राह्मणो में हम

वैराग्य और सन्यास की बात नही पाते, यद्यपि, वानप्रस्थ-धर्म का आख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों मे उपलब्ध है। लेकिन, उपनिषदो मे वैराग्य और सन्यास, दोनो, हमारे सामने बार-बार आते हैं।

वैदिक भारतीय यज्ञों के बडे प्रेमी थे। उनका सारा जीवन ही यज्ञमय था। वे वर्षा के लिए यज्ञ करते थे, महामारी से बचने के लिए यज्ञ करते थे, शत्रुओ पर विजय पाने के लिए यज्ञ करते थे, पशुओ की तन्दुरुस्ती के लिए यज्ञ करते थे और परलोक मे सुख पाने के लिए यज्ञ करते थे। जीवन मे यज्ञ की इसी व्यापकता के कारण, उस समय के भारतीय समाज मे पुरोहितो और ब्राह्मणो का महत्त्व अत्यधिक बढ गया और यज्ञो की विधियो को निर्धारित करनेके लिए जो ग्रन्थ बने, उनका नाम ही ब्राह्मण पड गया। जैसा कि इस वर्णन से समझा जा सकता है, वैदिक भारतीयो के यज्ञ का उद्देश्य सासारिक सुखो की वृद्धि था और ऐसे ही सुख वे स्वर्ग मे भी पाना चाहते थे। इसके साथ ही, यज्ञो में पशु-हिंसा भी बहुत होती थी। इन सारी बातों के कारण यज्ञ बहुत ही स्थूल समझे जाने लगे, कर्मकाण्ड ऋषियो को काफी नही जँचने लगा और वे सोचने लगे कि धर्म का यह स्थूल रूप घटना चाहिए और मनुष्य को इससे ऊपर उठकर किसी सूक्ष्म धर्म की खोज करनी चाहिए।

समाज मे जो बातें व्यापक रूप से प्रचलित रहती है, उनमे अगर दोष हो तो वे दोष पहले दो-चार या दस-बीस आदमियो को ही दिखायी देते है और पहले ये ही लोग उनके खिलाफ सोचने और बोलने भी लगते हैं। यह आलोचना धीरे-धीरे बढती है और जब वह खूब बढ जाती है, तब सारा समाज उस पर ध्यान देने लगता है। यही धर्म या समाज में क्रान्ति है। मगर, स्मरण रहे कि इस आलोचना के बीज समाज के हृदय में पहले से ही वर्त्तमान रहते है।

वेदो ने यज्ञ का प्रतिपादन किया था और लोगो को यह शिक्षा दी थी कि अगर हर तरह से सुखी, सपन्न और विजयी रहना चाहते हो तो देवताओ की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करो। यही नही, बल्कि, अगर मरने के बाद भी सुख भोगने की इच्छा हो तो स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करो। यह एक प्रकार का भोगवादी उपदेश था जिसे समाज ने बडे ही उत्साह से ग्रहण किया था। लेकिन, वेदो के ऋषि यही तक नही रुके थे, ऊँची-ऊँची बातें सोचते हुए उन्होंने, जब-तब, यह सकेत भी किया था कि स्वर्ग से ऊपर भी कोई स्थिति हो सकती है। इसके सिवा, निरी सासारिकता से ऊपर उठकर उन्होंने यह भी विचार किया था कि यह सृष्टि कहाँ से निकली है तथा इसका मालिक कौन है। जब ऋषियो में से कुछ लोगो को यज्ञ अयथेष्ट मालूम होने लगे, तब उनका ध्यान वेद के उन अशो पर गया, जिनमे स्वर्ग से ऊपर की स्थिति की ओर इशारा किया गया था, जिन मे यह प्रश्न उठाया गया था कि सृष्टि की रचना कैसे हुई और इसका अध्यक्ष कौन है। इसी चिन्ता से उपनिषदो का जन्म हुआ। असल में, उपनिषद वेद के उन स्थलो की

व्याख्या है, जिनमें यज्ञों से अलग हटकर ऋषियों ने जीवन के गहन तत्त्वों पर विचार किया है।

उपनिषदों की विशेषताएँ

उपनिषद वेद का अनादर नहीं करते, मगर, वे मानते हैं कि वेदों ने यज्ञ के जो रास्ते बताये, उनसे मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग के विषय में भी उपनिषद यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसका पुण्य शेष हो। पुण्य समाप्त होते ही, उसे फिर जन्म लेना पड़ता है और फिर उसकी मृत्यु होती है, जो दुःख है।

उपनिषदों के अनुसार, मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति है जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म लेना न पड़े, क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं।

सृष्टि के विषय में उपनिषदों का यह मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु, इन पाँच तत्त्वों से बनी हुई है। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महत्तत्व है, जिसमें ये पाँचों तत्त्व विद्यमान् रहते हैं। काल पाकर यह महत्तत्व (जिसे हम प्रकृति का मूल तत्त्व भी कह सकते हैं) फैलने लगता है। महत्तत्व के उसी फैलाव को हम सृष्टि का जन्म, रचना और विकास कहते हैं। फिर एक समय आता है जब यह फैलाव सिमटने लगता है और सिमट कर वह महत्तत्व में केन्द्रित हो जाता है। सिमटने की इसी प्रक्रिया को सृष्टि का विनष्ट होना या प्रलय कहते हैं। इस बात को समझाने के लिए उपनिषदों में मकड़े की जाली की उपमा दी गयी है। मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा जाती है। यही सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमट कर मकड़े के भीतर चली जाती है, यही सृष्टि का विनष्ट होना है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह मकड़ा प्रकृति है या ब्रह्म ? यानी सृष्टि की रचना ब्रह्म करता है या वह आप-से-आप होती है ? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दो प्रकार से दिया है। एक तो यह कि यह मकड़ा ब्रह्म ही है और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा यह कि मकड़ा, असल में, प्रकृति के मूल तत्त्व अथवा महत्तत्व की उपमा है। ब्रह्म सृष्टि की रचना नहीं करता। सृष्टि इस महत्तत्व से निकलती है और उसी में वापस भी चली जाती है।

इन्हीं दो प्रकार के उत्तरों में आगे चलकर भारत में द्वैतवाद और अद्वैतवाद के सिद्धान्त निकले। जिन्होंने यह माना कि महत्तत्व तो जड़ है, उससे चेतन सृष्टि कैसे निकल सकती है, इसलिए, सृष्टि की रचना ब्रह्म ने की वे द्वैतवादी हुए। इसके विपरीत, जिनके सामने यह प्रश्न आया कि सृष्टि में अच्छे लोग भी है और बुरे लोग भी, पाप भी है और पुण्य भी, सुख भी है और दुःख भी, फिर यह कैसे माना जाय कि पाप, दुःख

और दुराचार भी ब्रह्म से ही निकले हैं और ब्रह्म मे भी दुःख और पाप का निवास है,[1] उन्होंने अद्वैतवादी मार्ग पकडा और यह कहा कि ब्रह्म निराकार, निर्विकार और चेतन है। उसमे किसी प्रकार की भी इच्छा नही होती (क्योकि इच्छा का होना भी विकार है), इसलिए, न तो सृष्टि रचने की उसे इच्छा हुई, न उसने सृष्टि की रचना की। सृष्टि प्रकृति के मूल तत्वो से (महत्तत्व) से निकली है और वह उसी मे समा जाती है। जब यह प्रश्न अद्वैतवादियो के सामने आया कि सृष्टि में हम चेतना क्यो देखते है, तब उन्होंने यह कहा कि चेतन-स्वरूप केवल ब्रह्म है, किन्तु, उस चेतना से व्याप्त रहने के कारण हमें जड प्रकृति भी चेतन दिखायी देती है।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक युग मे इसी अद्वैतवाद का जोर था। द्वैतवाद का उत्थान तब हुआ जब भक्ति की लहर उठी और लोग यह मानने लगे कि भगवान हमारी प्रार्थना सुनकर हमारे पापो को क्षमा कर देते है तथा हमें मुक्ति भी देते हैं।

उपनिषद या वेदान्त, यद्यपि, द्वैतवाद के पक्ष की भी दलीलें उपस्थित करते है, लेकिन, परपरा से हम उन्हे अद्वैतवादी मानते आये है, क्योकि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि दृश्य देवताओ से हटाकर मनुष्यो का ध्यान निराकार ब्रह्म की ओर उपनिषद ही ले गये और उपनिषदो ने ही इस बात को, जोर से, घोषित किया कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग पाना नही, बल्कि, जीवन और मृत्यु के बधन से छूटकर मोक्ष पाना अथवा ब्रह्म मे लीन हो जाना है। वेदो में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ था, उपनिषदो मे आकर वह गौण हो गया और मुख्यता आत्मविद्या तथा तप को दी जाने लगी।[2]

उपनिषदो का विचार है कि जसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है (आदमी, जानवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, पत्थर, यहाँ तक कि एक-एक अणु के बाहर ही नही, बल्कि, उसके भीतर भी आकाश है), उसी प्रकार, ब्रह्म भी सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। आत्मा और परमात्मा को उपनिषद एक मानते है। जब कुम्हार कोई घडा बनाता है, तब आकाश का एक खड उस घटे में भी व्याप्त हो जाता है। घडा शरीर है और घडे के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घडा फूट जाता है (यानी जब आदमी का शरीर छूट जाता

१. इस शका का समाधान परमहस रामकृष्ण यह कहकर करते थे कि विष सर्प के मुख मे रहने पर भी सर्प को असर नहीं करता। इसी प्रकार, दुःख और पाप भी ब्रह्म में ही है, किन्तु, ब्रह्म पर उनका प्रभाव नही है।

२ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥ (मुंडकोपनिषद)

भावार्थ—अठारह प्रकार के जो यज्ञ कहे गये हैं, वे, वस्तुतः, छोटी-छोटी कमजोर नावो के समान है (जिनसे समुद्र के पार जाना असभव है)। इन यज्ञो को जो व्यक्ति श्रेय मान कर उनका अभिनन्दन करता है, वह मूढ है और वह फिर-फिर वृद्धत्व और मरण को प्राप्त होता है।

है) तब उसमे बँधा हुआ आकाश फिर बडे आकाश मे मिल जाता है। जिस घडे का आकाश कर्म की गध से दूषित है, उस आकाश-खड (आत्मा) को फिर किसी दूसरे घटे मे समाना पडेगा (यानी पुनर्जन्म लेना पडेगा)। मगर, जिसका आकाश निर्मल है (अर्थात् जिस मनुष्य की आत्मा निर्मल है), उस घटे के फूट जाने पर उसका आकाश फिर घडे मे वापस नही आता (अर्थात् निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन मे नही पड़ती)।

उपनिषद कहते है कि कर्मफलवाद का सिद्धान्त सही है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिए, मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्म को सुधारे। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म मे भी जब वह अच्छे कर्म करेगा, तब उसका तीसरा अगला जन्म और भी अच्छा होगा। इस प्रकार, जन्म-जन्मान्तर तक साधना करते-करते उसकी मुक्ति हो जायगी अर्थात् वह जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायगा।

ये सारी बाते उपनिषदो के निचोड के रूप मे उपस्थित की जा रही है। असल में, उपनिषदो मे सारी बाते सुलझा कर एक स्थान पर नही रखी गयी है। उपनिषदो की बहुत-सी बाते परस्पर-विरोधी है। उपनिषद कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते है और कभी यह कहते है कि उसी ने सृष्टि की रचना की, वे कभी तो आत्मा और परमात्मा मे अभेद मानते है और कभी यह कहते है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् और आत्मा सीमित है, परमात्मा आनन्दस्वरूप और आत्मा दु ख से पीडित है। आत्मा और परमात्मा एक है, आत्मा और परमात्मा अलग-अलग है तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी है और एकाकार भी, ये तीन तरह के मत है और तीनो का समर्थन उपनिषदो मे खोजा जा सकता है। आगे चलकर इन्ही तीन प्रकार की बातो से तीन मतवाद चले, जिनमें से अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक शकराचार्य, द्वैतवाद के मध्वाचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद के रामानुजाचार्य हुए।[1]

मगर, यह ध्यान रखना चाहिए कि दर्शन के इन विभिन्न वादो मे से कोई भी ऐसा नही है जो किसी एक ऋषि या दार्शनिक का आविष्कार हो। उपनिषदो मे ऋषियो ने

---

१. "वेदान्त-सूत्रो मे मायावाद का विकास नही देख पडता। पहले-पहल शकराचार्य के गुरु (गोविन्दाचार्य) के गुरु गौडपाद की कारिकाओ मे माया का कुछ वर्णन मिलता है जिसे शकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् मे बहुत ऊँचा स्थान दे दिया। एक तरह से, वही अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होने प्रस्थानत्रयी (वेदान्त सूत्र, उपनिषदो और गीता) का अद्वैत-प्रतिपादक भाष्य लिख कर दार्शनिक मडली मे इस सिद्धात का बहुत प्रचार किया। शकराचार्य-प्रतिपादित वेदान्त ही आजकल का वेदान्त है।"
—गौरीशकर हीराचन्द ओझा (मध्यकालीन भारतीय सस्कृति)।

अपनी जो अनेक अनुभूतियाँ लिखी थीं, उन्ही अनुभूतियों का विकास हिन्दू-दर्शन के अनेक वादो में हुआ है। हिन्दुओं के यहाँ फिलासाफी का नाम और कुछ नही होकर 'दर्शन' है, यह स्वय अर्थपूर्ण बात है। हम दर्शन उस विद्या को कहते है जो सोचकर नही, देखकर लिखी गयी थी। और हमारे सभी दर्शनो का मूल, सारा उपनिषत्साहित्य ही ऋषियो के देखकर ही लिखने का परिणाम है। ज्ञान के अनेक साधनो में से एक जबर्दस्त साधन सहज ज्ञान अथवा सबुद्धि (या इनटुइशन) भी है। सबुद्धि मे प्रमाणो की जरूरत नही होती, तर्क और दलील देने की आवश्यकता नही होती। सबुद्धि से प्राप्त होनेवाला ज्ञान मनुष्य के मन की आँखो के आगे बिजली-सा कौंध उठता है। सबुद्धि से हम जो भी अनुभूति प्राप्त करते है, उसकी सचाई को हमारी सभी इद्रियाँ ग्रहण कर लेती है, मानो, वह सचमुच ही, आँखों देखी बात हो। ऊँची कविता सबुद्धि से लिखी जाती है, ऊँची कला का निर्माण सबुद्धि से किया जाता है और दर्शन में भी उच्चतम सत्य बराबर सबुद्धि से ही उपलब्ध होते है। बुद्धि और प्रयोग से जो सत्य बहुत दिनो के बाद प्राप्त होता है, सहज ज्ञान से वही सत्य तुरन्त पकड मे आ जाता है। प्राचीन भारत और नवीन यूरोप मे यह भेद है कि यूरोप की पद्धति वैज्ञानिक रही और उसने प्रयोग तथा बौद्धिक छान-बीन के बिना किसी भी बात को स्वीकार नही किया। किन्तु, भारत के मनीषियो का मार्ग, प्रधानत, सहज ज्ञान का मार्ग था। इसीलिए, सभ्यता के बाहरी उपकरण बढाने के बदले, भारत मे बराबर इस बात पर जोर दिया जाता रहा है कि अपनी आत्मा को शुद्ध करो, अपनी दृष्टि को बाहर से फेर कर अन्तर्मुखी बनाओ तथा एकान्त और समाधि का सेवन करो, क्योंकि सहज ज्ञान के ये ही मार्ग है।

उपनिषदो मे जो विरोधी बाते मिलती है, उनका भी कारण यही है कि ऋषि सहज ज्ञान के बल पर जब जो कुछ देखते, तब उसी को लिख देते थे। उपनिषदो को हम हिन्दू-धर्म का पद्धति-बद्ध दर्शन नही मान सकते। वे हिन्दू-धर्म की अनुभूतियो के कोष है, जिनमे ऋषियो की अनुभूतियाँ ठीक उसी रूप मे दर्ज मिलती है, जिस रूप मे वे उन्हे प्राप्त हुई थी। वस्तुत, उपनिषदो को आधा दर्शन और आधा काव्य कहना चाहिए।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर हम यह भी कह सकते है कि उपनिषत्कारो का उद्देश्य दर्शन की रचना नही, बल्कि, अनेक उपायो से उस समाज का ध्यान धर्म के सूक्ष्म तत्त्वो की ओर ले जाना था, जिस समाज के लोग धर्म के बाहरी आचारो में उलझे हुए थे, पशु-हिंसा और यज्ञवाद को अपना परम धर्म मान रहे थे और, पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक सर्वत्र, भोगो के लिए बेचैन थे। इस समाज के सामने, उपनिषदो के द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया जा रहा था, वह यह था कि जीवन का सच्चा सुख भोग मे नही, त्याग में है। सारी सृष्टि के ब्रह्ममय होने से किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नही है कि वह किसी अन्य मनुष्य को दुख दे या किसी भी जीव की हिंसा करे। मनुष्य की असली समस्या जन्म-मरण की समस्या है और इस समस्या का समाधान मोक्ष है।

मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद-युग

आर्य-दर्शन का आरम्भ ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओ मे हुआ, जिनमे ऋषि प्रकृति के रूपो मे देवत्व की झाँकी देखते हैं। यह अनुसन्धान, प्राय, धार्मिक कवि का अनुसधान है जो प्रकृति के रमणीय और भयानक, दोनो रूपो से प्रभावित होता है और सोचता है कि, अवश्य ही, ये किसी प्रच्छन्न शक्ति के खेल है। उसी प्रच्छन्न शक्ति को वह इन्द्र, वरुण, मरुत, अग्नि या और कोई नाम दे देता है। अनुसधान जितना ही बढता गया, प्रकृति के नये-नये रूपो को देखकर वैदिक कवि जितने ही चकित होते गये, उसी परिमाण मे, नये-नये देवताओ की कल्पना भी उभरती गयी। किन्तु, ये कवि कही रुके नही। वे बराबर इन विभिन्न रूपो के बीच एकता खोजते गये, अन्विति का पता लगाते गये। अन्त मे, वे इस बात पर आये कि एक ही शक्ति है जो प्रकृति के नाना रूपो मे दिखलायी देती है और जो प्रकृति के पीछे भी अवस्थित है। मत्रकाल मे, कदाचित्, ऋषि यही तक पहुँचे थे। इस प्रच्छन्न शक्ति का परमात्मा नाम, निश्चित रूप से, उपनिषत्काल मे आकर प्रचलित हुआ।

मत्र-काल की दूसरी उपलब्धि ऋत का सिद्धात थी। जिस प्रकार, ऋषियो को यह अनुभव हुआ कि प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप किसी एक ही शक्ति की लीलाएँ है, उसी प्रकार, वे इस अनुभूति पर भी पहुँचे कि प्रकृति नियम-विहीन नही है, उसके सभी रूपो के भीतर कोई शृखला अनुस्यूत है, कोई नियम चल रहा है, जिससे ऋतुएँ बदलती है और दिन-रात होते रहते है।

आगे चल कर भारत मे जो दार्शनिक चिंतन विकसित हुआ, उसका मूलाधार यही ऋत का सिद्धान्त था। जब तक मनुष्य को यह विश्वास न हो जाय कि सृष्टि विशृखल नही, नियमो मे आबद्ध है, तब तक न तो विज्ञान उत्पन्न होता है, न दर्शन और रहस्यवाद। "विश्व को व्यापनेवाले ऋत तत्त्व को वैज्ञानिक ऋषियो ने नीति की कल्पना पर उत्पन्न किया। ऋत तथा अनृत के द्वन्द्व से नीति और अनीति के द्वन्द्व का बोध होता था।"[1] इसीसे आगे चलकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन निकला तथा पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के सिद्धान्त पुष्ट हुए।

मत्र-काल मे कुछ और सिद्धान्तो ने प्रचार पाया। विद्वानो का मत है कि पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण की कल्पना इसी युग की उपज है। चार वर्ण और चार आश्रम की प्रथा भी मत्र-युग मे ही जनमी। अतएव, वर्णाश्रम-धर्म की कल्पना उतनी ही प्राचीन मानी जाती है जितना प्राचीन ऋग्वेद है।

मंत्र-युग के बाद, ब्राह्मणो का युग आता है। पुनर्जन्म और कर्मफलवाद का प्रत्यक्ष विवरण ब्राह्मण-ग्रथो मे भी नही मिलता, यद्यपि, ब्राह्मणो से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन

१ वैदिक सस्कृति का विकास—लक्ष्मण शास्त्री जोशी

समाज यह मानता था कि मरने के बाद जीव परलोक में वास करता है और लोक में उसने जैसे कर्म किये है, परलोक मे उसे वैसे ही फल मिलते है। ब्राह्मण-युग मे वैदिक देवताओ मे से, प्राय, प्रत्येक की पूजा प्रचलित थी, यद्यपि, प्रजापति सबसे श्रेष्ठ एव जगत् के रचयिता माने जाने लगे थे। विष्णु मन्त्र-युग मे सूर्य के पर्याय थे। किन्तु, ब्राह्मणो में आकर वे यज्ञदेव हो गये। इस प्रकार, उनकी प्रतिष्ठा बढती जा रही थी। ब्राह्मण-काल मे ही शिव आविर्भूत होते है एव वेद के रुद्र के साथ वे तुरन्त एकाकार हो उठते है। बहुत-से आर्येतर प्रभाव ब्राह्मण-युग तक आर्य-धर्म मे प्रविष्ट हो जाते है एव यहाँ से आगे जो विकास होता है, उसमे आर्य और आर्येतर चिह्न अलग-अलग नही दिखायी देते।

ब्राह्मण-काल में पुरोहितो की शक्ति खूब बढी। यदि लेखको को दृष्टिगत रख कर विचार किया जाय तो यह कहना अयुक्तियुक्त नही होगा कि वेदो के कर्त्ता कवि थे, ब्राह्मणो के पुरोहित और उपनिषदो के रहस्यवादी सन्त। पुरोहितवादी प्रभावो के विस्तार के कारण, ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का काल था। इस अवनति के बाद हिन्दुत्व का जो अपरिमेय उत्थान हुआ, उसका आख्यान हमें उपनिषदो में मिलता है। तभी से उपनिषद हिन्दुत्व के आधार-भूत ग्रन्थ रहे है और उन्हे समझे बिना हिन्दुत्व को समझना असभव माना जाता रहा है।

उपनिषदो के काल मे आकर यज्ञ का स्थान ज्ञान ले लेता है और प्रजापति का स्थान ब्रह्म। इसी युग मे आकर कर्म का अर्थ विस्तृत हो जाता है। अब कर्म का अभिप्राय केवल यज्ञ से नही रहकर उन सारे कृत्यो से हो जाता है जिनके कारण मनुष्य को पुनर्जन्म लेना पडता है। जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद इसी युग मे पूर्णरूप से स्थापित हो गये और तब से वे केवल हिन्दुत्व के ही नही, बौद्धमत और जैनमत के भी आधार रहे है। उपनिषदो ने मोक्ष को ससार का समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है। यह सिद्धान्त भी बौद्धो और जैनो ने ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया। ज्ञान की, इस युग मे, इतनी महिमा बढी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद, दोनो बहुत पीछे छूट गये। जाबाला-पुत्र सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानकर उपनिषद के ऋषि ने, मानो, यह खुली घोषणा की है कि ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद व्यर्थ है। मनुष्य जन्म से नही, शील से महान् होता है—यहाँ तक कि जारज-सतान भी यदि सत्यवादी है तो उसे ब्राह्मण के सभी अधिकार मिलने चाहिए। ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पानेवाला सत्यकाम जारज था, राजा जानश्रुति शूद्र थे और उन्हे आत्मविद्या सिखानेवाले ऋषि रैक्व गाडीवान थे।

उपनिषदो मे मूर्त्ति-पूजा का प्रमाण नही मिलता, किन्तु, महामहोपाध्याय काणे ने धर्मशास्त्रो का जो इतिहास लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व समाज में ऐसे पुरोहित थे जो मन्दिरो में प्रतिमा-पूजन करवाते थे। उनका विचार है कि प्रतिमा-पूजन के प्रचलन के साथ ही श्रौत-सूत्रो का महत्त्व घटने लगा, क्योकि उनका विषय यज्ञ था और इसी काल से गृह्य-सूत्र प्रधानता पाने लगा। श्री डी० एस० शर्मा

का विचार है[1] कि जब यज्ञ-धर्म निर्जीव हो गया और उपासना की ओर लोगो का ध्यान जाने लगा, तभी मूर्त्ति-पूजा का प्रचलन हुआ होगा। अनुमान है कि भक्ति और प्रतिमा-पूजन की कोई प्रथा आर्यो के पूर्व से ही इस देश मे विद्यमान थी। आरम्भ मे आर्य इस प्रथा की ओर उन्मुख नही हुए। किन्तु, जब उनका अपना भाव उपासना की ओर जाने लगा, तभी प्रतिमा-पूजन की प्रथा चल पड़ी होगी। यदि यह बात ठीक हो तो मानना होगा कि भक्ति का आरम्भ ई० पू० ५०० के लगभग हो चुका था, क्योकि प्रतिमा-पूजन के साथ भक्ति का थोड़ा-बहुत पुट, स्वभावतया, आ जाता है।

उपनिषदों का प्रभाव

आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय मे वेदो मे जो हल्की-महीन कल्पनाएँ थी, उपनिषदो मे आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नही हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और, जड़ तथा चेतन, सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है, इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही, पशु-पक्षी और पेड-पौधे भी हिंसा नही, प्रेम और आदर के अधिकारी है। कि मोक्ष का सिद्धात निरूपित करने मे बार-बार जीवन की दु खपूर्णता की चर्चा की गयी, इसलिए, समाज मे एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन मे उस उत्साह को खोने लगे जो वेद-कालीन भारतवासियो की विशेषता थी। उपनिषदो ने सन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव, पहले जहाँ लोग सासारिक सुखों के भोग के लिए डटकर परिश्रम करने मे आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम को छोडकर, असमय ही, वैराग्य और सन्यास लेने लगे[2]। वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था, जिसे नरक की चिन्ता नही, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दु खो का आगार नही, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर, उपनिषदो ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिये और आदमी अनेक सवालो के चक्कर मे पड़ गया। यह सृष्टि क्या है? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पहले क्या था? मरने के बाद क्या होगा? क्या जिन्दगी मरने के साथ ही खत्म हो जायगी? या मरने के बाद भी हमे स्वर्ग मिलेगा? अगर हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है? इन सवालो की हल्की-पतली झाँकी वेदो मे भी प्रच्छन्न थी, लेकिन, वेद-कालीन मनुष्य इन प्रश्नो के चगुल मे नही फँसा था। उपनिषदों

---

१ द रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म

२ स्वामी विवेकानन्द वेदान्त के प्रबल समर्थक थे। किन्तु, एक बार अमेरिका मे एक सभा मे उन्होने भी विनोद करते हुए कहा कि "सन्यास के विरुद्ध एक बात मुझे भी सूझती है कि यह सभी सुयोग्य व्यक्तियो को समाज से अलग कर लेता है।"

ने आदमी को, कुरेद-कुरेद कर, उसे ऐसे सवालो के हवाले कर दिया, जिनका आखिरी जवाब उसे आज तक नही मिला है।

बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण

बौद्ध साहित्य से भी यह विदित होता है कि बुद्ध के समय और उनके ठीक पूर्व, इस देश में वैरागियो और सन्यासियो की सख्या बहुत बढ गयी थी। उन दिनो समाज में, प्राय, दो प्रकार के लोग थे। एक तो वे, जो यज्ञ मात्र को ही इष्ट मानकर वैदिक धर्म का पालन करते थे, ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा और सम्मान देते थे तथा विभिन्न देवताओ को पूजकर सतुष्ट रहते थे। किन्तु, जो लोग इस धर्म से सतुष्ट नही होते, वे सन्यासी हो जाते थे और हठयोग की क्रिया से देह-दडन करने मे मुख मानते थे। साधुओ मे उन दिनो भी योग का व्यापक प्रचार था तथा यह माना जाता था कि हठयोग के द्वारा मनुष्य आत्मा की उपलब्धि कर सकता है। स्वय गौतम जब घर से निकले, तब पहली बात उन्हें यही सूझी कि योग करके आत्मज्ञान प्राप्त करें। योग-विषयक विश्वास उन दिनो इतना प्रवल था कि गौतम निरन्तर छह वर्ष तक योग करते ही रहे। किन्तु, जब छह वर्षो मे भी उन्हे इष्टोपलब्धि नही हुई, तभी उन्होने योग का त्याग किया। बुद्ध के समय, भारतवर्ष मे श्रमणो की कोई ६३ सस्थाएँ वर्त्तमान थी, जिनमें से छह तो बहुत ही प्रमुख सस्थाएँ थी। अवश्य ही, ये सस्थाएँ बहुत पहले से आ रही होगी। "दीर्घ निकाय" के सामँफल-सुत्त के अनुसार इन छह सघो मे एक का आचार्य पूरण कश्यप था जो यह मानता था कि मनुष्य जो कुछ भी करे, वह पाप का भागी नही होता है। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस ससार के सब प्राणियो को मार कर ढेर लगा दे, तो भी उसे पाप न लगेगा। गगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो भी कुछ पुण्य नही होने का। दान, धर्म, सयम, सत्य-भाषण, इन सब से पुण्य की प्राप्ति नही होती।" पूरण कश्यप के इस वाद को अक्रियवाद कहते थे।

दूसरे सघ का आचार्य मक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि प्राणी के पवित्र या अपवित्र होने में न कुछ हेतु है, न कारण। बिना हेतु और कारण के ही प्राणी पवित्र और अपवित्र होते हैं। बल, वीर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ, ये कुछ भी नही है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य है। नियति, सगति और स्वभाव से वे चालित होते हैं। अस्सी लाख महाकल्पो के फेरे में पडे बिना किसी भी दु ख का नाश नही होता। मक्खलि गोसाल के इस मत को दैववाद कहते थे।

तीसरे सघ का प्रमुख अजित केस-कबल था। वह कहता था कि चार भूतो से मिल कर मनुष्य बना है। मरने पर ये चारो (क्षिति, जल, पावक, वायु) तत्त्व अपने-अपने स्थान मे समा जाते है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नही रहता। पडित और मूर्ख,

दोनो का, मरने के वाद उच्छेद हो जाता है। केस-कबल के इस मत को उच्छेदवाद या जडवाद कहते थे।

चौथे सघ का आचार्य पकुध कात्यायन था, जिसका मत बहुत कुछ गीता मे प्रतिपादित मत मे मिलता है। वह कहता था, "जो तेज शस्त्रो मे दूसरे का सिर काटता है, वह खून नही करता, सिर्फ उसका शस्त्र उन तत्त्वो के अवकाश (रिक्त स्थान) मे घुमता है, जिन तत्त्वो से जीव निर्मित है।" इस मत को अकृततावाद कहते थे।

पाँचवे सघ का आचार्य जैन साधु निगंठ नाथपुत्त था जो ऊपर लिखे चारो मतो का प्रतिपादन करता था।

छठे सघ का आचार्य सजय वेलठ्ठिपुत्त था,। वह कहता था, "परलोक है या नही यह मैं नही समझता , परलोक है, यह भी नही , परलोक नही है, यह भी नही। अच्छे या बुरे कर्मो का फल मिलता है,यह मैं नही मानता , नही मिलता है, यह भी नही मानता। तथागत मृत्यु के वाद रहता है या नही रहता, यह मैं नही समझता , वह रहता है, यह भी नही, नही रहता है, यह भी नही।" इस वाद को अनिश्चिततावाद कहते थे।

इन छह मतो मे एकता नही थी, किन्तु, एक वात में ये सब-के-सब एक थे। इन सभी सघो के साधु घर छोडकर वैरागी हुए थे, समाज मे प्रचलित हिंसापूर्ण यज्ञो से विरत होकर ससार छोड आये थे। अतएव, वे सब-के-सब चाहते थे कि हिंसापूर्ण यज्ञ वन्द हो और मनुष्य किसी अधिक गभीर धर्म का आचरण करना सीखे।

प्रकरण २

जैन धर्म

विद्रोह, बगावत या क्रांति कोई ऐसी चीज नही होती, जिसका विस्फोट अचानक होता हो। घाव फूटने से पहले बहुत काल तक पकता रहता है। विचार भी, चुनौती लेकर खडे होने के पहले, वर्षो तक अर्ध-जाग्रत अवस्था मे फैलते रहते है। वैदिक धर्म पूर्ण नही है, इसका प्रमाण उपनिषदो मे ही मिलने लगा था और, यद्यपि, वेदो की प्रामाणिकता मे उपनिषदो ने सदेह नही किया, किन्तु, वैदिक धर्म के काम्य, स्वर्ग को अयथेष्ट बताकर वेदो की एक प्रकार की आलोचना उपनिषदो ने ही शुरू कर दी थी। वेद सबसे अधिक महत्त्व यज्ञ को देते थे। यज्ञो की प्रधानता के कारण समाज मे ब्राह्मणो का स्थान बहुत प्रमुख हो गया था। इन सारी बातो की समाज मे आलोचना चलने लगी और लोगो को यह सदेह होने लगा कि मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच मे ब्राह्मण का आना, सचमुच ही, ठीक नही है। आलोचना की इसी प्रवृत्ति ने बढते-बढते, आखिर को, ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व तक आकर वैदिक धर्म के खिलाफ खुले विद्रोह को जन्म दिया, जिसका सुसगठित रूप जैन और बौद्ध धर्मो मे प्रगट हुआ।

विद्रोह के कारण

जैन और बौद्ध धर्मो के रूप मे वैदिक धर्म के खिलाफ विद्रोह उठा, इसका थोडा-बहुत आभास पिछले प्रकरण मे मिलेगा, जहाँ यह बतलाया गया है कि वैदिक धर्म के स्थूल रूप की आलोचना क्यो शुरू हुई और क्यो उपनिषदो ने यज्ञ और स्वर्ग को गौण ठहराया। ऐसा लगता है कि जिन दिनो उपनिषदो की रचना हो रही थी, उन दिनो भारत के चिन्तको का दिमाग बहुत जोर से खौल रहा था। सृष्टि का अन्तिम सत्य क्या है, इस बात का पता लगाने मे वे अत्यन्त ही सलग्न थे। केवल भारतवासी ही नही, ससार के कुछ अन्य देशो मे भी कई बडे-बडे चिन्तक इसी काल में पैदा हुए। उदाहरण के लिए, यही वह समय था जब चीन मे लाव-जे और कन्फ्यूसियस का जन्म हुआ तथा यूनान मे पिथेगोरस और ईरान मे पारसी-धर्म के पैगम्बर जरथुस्त्र[1] भी इसी काल मे जनमे। फिलिस्तीन के भी दो पैगम्बरो, जिरेमिया और इजकिल का यही समय माना जाता है।

उपनिषदो एव बौद्ध तथा जैन ग्रन्थो के अध्ययन से यह अनुमान आसानी से होने लगता है कि ई० पू० छठी शताब्दी के आसपास का काल भारत मे बौद्धिक बेचैनी, शका और मानसिक कोलाहल का काल था। जीवन यही तक है या इससे आगे भी? मरने

---

१ जरथुस्त्र के सम्बन्ध मे एक मत यह भी है कि वे ई० पू० १००० के आसपास हुए हैं।

के बाद क्या होता है ? सृष्टि कैसे बनी ? यह आप-से-आप चलती है अथवा इसका कोई नियामक भी है ? ये और ऐसे सैकडो अन्य प्रश्न भारतवर्ष के मनीषियों के मस्तिष्क को मथ रहे थे और, अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार, लोग इन प्रश्नो के समाधान भी उपस्थित कर रहे थे। इनमें से कोई तो वेद को प्रमाण मानकर चलता था और कोई उन्हे छोड़कर। किसी को ईश्वर की जरूरत महसूस होती थी और कोई उसे अनावश्यक समझता था। भारत में आगे चलकर दर्शन की जो छह शाखाएँ निकली, उनकी भी जडे इसी काल के बौद्धिक आन्दोलनो मे थी।

वैदिक सस्कृति का परिचय देते हुए जो यह कहा गया है कि उस सस्कृति के अन्दर जागतिक भोगो की प्रधानता थी, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि जैनों और बौद्धो से पूर्व इस देश मे वैरागी नही होते थे। धर्म का नेतृत्व करनेवाले ब्राह्मण गृहस्थ थे, किन्तु,उनके साथ-साथ वैदिक युगमे भी श्रमणोंकी सख्या काफी थी और अनुमान यह है कि श्रमण-संस्कृति आर्यो के आगमन के पूर्व से ही इस देश मे विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ मात्र को मानते थे, श्रमण उन्हे अनुपयोगी समझते थे। सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु, श्रमणो के भीतर आस्तिक और नास्तिक, दोनो ही प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के श्रमण ब्राह्मण-संस्कृति के भी अन्दर होते थे, जिनका नाम वैखानस था। अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की भी परम्परा इस देश मे आर्यो के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परपरा का वर्धन श्रमण-वर्ग करता आ रहा था। पीछे यह परपरा वैखानसो ने भी अपना ली। किन्तु, जब तक यज्ञ-याग की प्रधानता रही, श्रमणो का प्रभाव सीमित रहा। उनका प्रभाव तब बढने लगा, जब समाज में मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की अपेक्षा सन्यासी को श्रेष्ठ समझने लगे।

उपनिषदो ने समाज मे आत्मविद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चलायी उससे प्रेरित होकर लोग अधिक सख्या मे वैरागी होने लगे। इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है तथा वे जीवन-मुक्त हो गये है या जीवन-मुक्ति की राह पर है,वे ससार को छोडकर इसलिए सन्यासी या वैरागी हो जाते थे कि कही गृहस्थाश्रम मे रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो जायें। उनकी देखादेखी और लोगो ने भी कपड़े रँगवा लिये अथवा वैरागी होकर वे निर्द्वन्द्व विचरने लगे। ये सन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे। पेडो के नीचे अथवा कुटियो मे उनका सोना होता था और वनो मे तप। ये दरबारो, यज्ञो तथा अन्य स्थानो पर जाकर जनता को उपदेश भी देते थे। इन ऋषियो की विशेषता यह थी कि यज्ञो मे उनका विश्वास नही था, कर्मकाण्ड को वे नही मानते थे और ऐहिक सुखो को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे। उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था। यूनान मे जैसे दार्शनिको की पहचान उनकी पोशाक (Philoso-

pher's robe) थी, वैसे ही, इस काल के भारतीय धर्म-प्रचारकों और विचारकों का लक्षण वैराग्य था। यह परंपरा हमारे समय के बहुत समीप तक आयी है, क्योंकि अभी हाल तक गाँवों में यह धारणा प्रचलित थी कि जो भी गीता और उपनिषद पढ़ेगा, वह वैरागी हो जायगा।

वैखानस और श्रमण अधिकतर आस्तिक होते थे, फिर भी, उनके भीतर मुक्त चिंतन का काफी जोर था। उनके अलावे लोकायतों की परंपरा में कुछ ऐसे भी व्यक्ति और संप्रदाय थे, जो कहते थे कि सब-कुछ मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है, आगे कोई स्वर्ग या नरक नहीं है, जिसकी मनुष्य को चिंता होनी चाहिए।

नास्तिकता की परंपरा

नास्तिको वेद-निन्दक। भारतीय परंपरा में नास्तिक उस व्यक्ति को कहा गया है, जो वेद की निन्दा करता है। ईश्वर की सत्ता न माननेवालों को नास्तिक कहने की प्रथा बहुत बाद को चली। पाणिनि के काल तक भी नास्तिक उसे कहते थे, जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता था। पाणिनि का एक सूत्र है, "अस्ति नास्ति दिष्ट मतिः।" अर्थात् परलोक की सत्ता को माननेवाला व्यक्ति आस्तिक और न माननेवाला व्यक्ति नास्तिक कहलाता है।[1] इस दृष्टि से देखें तो बौद्ध और जैन में कोई भी धर्म नास्तिक नहीं है, क्योंकि दोनों मत परलोक की सत्ता को मानते हैं तथा दोनों का विश्वास है कि विश्व वहीं तक समाप्त नहीं है, जहाँ तक वह दिखलायी पड़ता है। "बुद्ध ने अपने संवादों में नास्तिक-वाद को मिथ्या दृष्टि कह कर गर्हित किया है।"[2] जहाँ तक ईश्वर-सिद्धि का प्रश्न है, बुद्ध ने उसे अव्याकृत-कोटि में डाल रखा था और जैनाचार्यों का विश्वास था कि जड़ और चेतन, दोनों अनादि और दोनों स्वयंसिद्ध हैं। अतएव, सृष्टिकर्त्ता के रूप में किसी परम शक्ति की कल्पना करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं हुई।

अगर सृष्टिकर्त्ता की बात को लें तो सांख्य और पूर्वमीमांसा-दर्शन भी सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। अद्वैतवाद के अन्दर जिस ब्रह्म की कल्पना की गयी है, वह तटस्थ शक्ति है। ब्रह्म न तो जन्म लेता है, न मरता है, वह न तो किसी को जन्म देता है, न किसी को मारता है। यह सृष्टि प्रकृति के मूल तत्वों से विकसित होती है और फिर काल पाकर स्वयं उसमें वापस हो जाती है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत तथा यहूदी धर्मवालों ने ईश्वर की कल्पना जिस रूप में की, उससे भारतीय कल्पना भिन्न है। भारतीय कल्पना का ईश्वर ब्रह्म है, जो निर्विकार है, जिसमें इच्छाएँ नहीं होतीं, जो सृष्टि नहीं बनाता, जो संसार के सभी कामों से तटस्थ

१ दे० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य–लिखित 'जैन दर्शन' नामक ग्रन्थ की भूमिका में डा० मंगलदेव शास्त्री का मत।

२ आचार्य नरेन्द्रदेव–लिखित 'बौद्ध दर्शन'

रहता है। किंतु, इस्लाम और ईसाइयत की कल्पना का ईश्वर इच्छावान् और कर्मठ है। वह सृष्टि की रचना करता है तथा मनुष्यों को उनके पाप और पुण्य के लिए दण्ड भी देता है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत ने ईश्वर के साथ जिन प्रबल गुणों का संबंध जोडा, वे कुछ-कुछ हमारे यहां के उस ईश्वर में हैं, जो द्वैतवादियों का ईश्वर है। अतएव, द्वैतवादी दृष्टिकोण मे विचार करने पर बुद्ध और महावीर के धर्म हिन्दुत्व मे भले ही कुछ दूर पडे, किन्तु, अद्वैतवादी हिन्दुत्व से उनका अधिक भेद नही है, बल्कि, वे उसी की दो शाखाओं के समान हैं। केवल ईश्वर को नहीं मानने से हम किसी व्यक्ति या धर्म को दूषित नही कहते। हम बराबर यह देखते आये है कि आदमी मे धर्म के आचरण है या नही। यही कारण है कि जहाँ एक ओर हिन्दुओं ने गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया, वहाँ दूसरी ओर, उन्होंने जैन धर्म के मूल प्रवर्तक, श्री ऋषभदेव की भी गिनती चौबीस अवतारों मे की।

अगर वेद की निंदा की बात को लें तो वह भी महावीर और बुद्ध के आविर्भाव के पहले ही शुरू हो गयी थी। जो ऋषि कर्मकाण्ड को नाकाफी या गलत मानकर उपनिषदो मे एक नये धर्म की खोज कर रहे थे, वेद की आलोचना, असल मे, उन्ही के उद्गारों मे आरंभ हुई। वेदों का कर्मकाण्ड, धीरे-धीरे, भोगवादी सभ्यता का दर्शन हो गया था और उपनिषदो के ऋषि जब समाज को भोगवाद से ऊपर उठाने की कोशिश करने लगे, तब वेदो की थोडी-बहुत आलोचना करना उनके लिए अनिवार्य हो गया। मुंडकोपनिषद के आरम्भ में ही परा और अपरा विद्याओ के बीच विभाजन किया गया है और साफ-साफ यह घोषणा की गयी है कि अपरा विद्या वह है, जिससे मनुष्य लोक और परलोक मे भोग प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करता है, जैसे ऋक्, यजुष, साम और अथर्व वेद। इनके विपरीत, परा विद्या उस आत्मविद्या को कहते है, जिससे मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष लाभ करता है। यही परा-विद्या, ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या उपनिषदो का प्रतिपाद्य है, जिसे उपनिषदो ने वेद से श्रेष्ठ बताया है। कठोपनिषद मे भी विद्या और अविद्या के बीच विभाजन करते हुए ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओ में की है, क्योंकि वेद जो यज्ञ सिखाते हैं, उससे आत्म-विद्या के प्राप्त करने मे सहायता नही मिलती। स्वयं गीता मे भगवान ने अर्जुन से कहा है कि "वेद तो तीनों गुणों मे रत हैं; हे अर्जुन! तू तीनो गुणो से ऊपर उठ।"

बृहस्पति और चार्वाक, वेद के भयंकर निन्दकों मे इन दो पण्डितो के नाम आते है जो, शायद, लोकायत-सम्प्रदाय के नेता थे। इन लोगो ने वेदो की भयानक निन्दा की है और कहा है कि "वेद तो ठगो, प्रपंचियो और मांस-भक्षियो की रचना है, वेदो के रचयिता ऐसे लोग थे जो यज्ञो मे मार कर घोडो का मांस (पक्व वाजिनम्) खा जाते थे।" मगर, इन उच्छृंखलो का कोई प्रभाव नही हुआ, क्योंकि समाज इनका आदर नही करता था। अज्ञात रूप से वेदो के ईषत् विरुद्ध सोचना उपनिषत्कारो ने आरम्भ किया

था और जनता के मन पर से वेदो के प्रभुत्व को उखाड फेकने की सच्ची कोशिश महावीर और बुद्ध ने की। इसलिए, वेदो के असली द्रोही भी ये ही दो महात्मा समझे जाते है।

महावीर और बुद्ध मे दो और विशेषताएँ थी। एक तो यह कि वे ब्राह्मणो को ऊँचा पद देने को तैयार नही थे। दूसरी यह कि वे मनुष्य मात्र को समान समझते थे। जहाँ तक पिछली बात का सम्बन्ध है, वह ब्रह्मवाद के ही सिद्धात का नतीजा है, क्योकि जब एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, तब फिर मनुष्य-मनुष्य मे भेद करने की बात नही चल सकती। जहाँ तक ब्राह्मणो के उन्नत पद पर शका करने का सवाल है, वह बात भी उपनिषदो मे शुरू हो गयी थी। छान्दोग्य उपनिषद मे एक स्थल पर पुरोहितो की पक्ति की कल्पना श्वानो की पक्ति के रूप मे की गयी है, जिसमे प्रत्येक पीछे वाला श्वान आगे वाले श्वान की दुम को अपने मुँह मे दबाये चलता है और सब इस मत्र का पाठ करते है कि "ओम्, खाने दो, ओम्, पीने दो।"[1] धर्म को साधन बनाकर पुरोहितो का वर्ग अपने सुखो की वृद्धि कर रहा था और जनता पर रोब भी जमाता था। इस कुरीति पर भी उपनिषत्कारो की दृष्टि पडी थी। अपने 'बौद्ध दर्शन' नामक ग्रन्थ मे आचार्य नरेन्द्र-देव ने लिखा है कि ब्राह्मण आस्तिक थे। उनमे सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के लिए पक्षपात था। वे निस्पृह और सरल हृदय के होते थे तथा उन्हे विद्या का व्यसन था। इसीलिए, वे समाज मे आदरणीय समझे जाते थे। ब्राह्मण-काल में पुरोहित मानुषी देवता हो गये थे। किन्तु, जब वे सकीर्ण हृदय और स्वार्थी होने लगे एव अपने को सबसे ऊँचा समझने लगे, तब समज मे उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गयी।

अहिंसा की परंपरा

जैन और बौद्ध मतो की उत्पत्ति के प्रकरण मे यह कहना आवश्यक हो जाता है कि इन दोनो मतो का जन्म इसलिए हुआ कि इनके पूर्व के वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञो का प्राबल्य था। किंतु, इतिहासकारो ने यह बात इतनी बार और इतने जोर से कही है कि सर्व-साधारण में एक प्रवाद-सा फैल गया है कि बुद्ध से पहले अहिंसा इस देश मे थी ही नही। यह नितान्त गलत धारणा है। वेदो मे निश्छल भोगवाद की प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु,

---

१ ते ह यथैवेह बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाण सरब्धा सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिं चक्रु ॥४॥
उन कुत्तो ने, जिस प्रकार कर्म मे बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करनेवाले उद्गाता लोग एक-दूसरे से मिलकर चलते है, उसी प्रकार, मुँह से एक-दूसरे की पूँछ पकड कर सर्पण-परिभ्रमण किया। उन्होने उस प्रकार परिभ्रमण कर फिर वहाँ बैठ कर हिंकार किया।
कुत्तो द्वारा किये हुए हिंकार (का अनुवाद) —ऊँ हम खाते है, ऊँ हम पीते है, ऊँ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाओ! अन्न लाओ ऊँ ॥५॥ (छान्दोग्योपनिषद अध्य० १, खड १२)

वेद केवल हिंसा ही नही सिखाते हैं। भारत में अहिंसा की परपरा प्राग्वैदिक परंपरा थी और उसके बीज वेदो मे भी थे। यह ठीक है कि पुरोहित-वर्ग यज्ञो का प्रवल समर्थक था और पशुओ की हत्या को वह रोकना नही चाहता था, किन्तु, समाज में तव भी ऐसे लोग मौजूद थे, जो इस क्रूर कर्म से घृणा करते थे और चाहते थे कि कोई ऐसा धर्म समाज में प्रवर्तित किया जाय जो अहिंसा के अनुकूल हो। ऐसे ही लोगो मे हम उनकी गणना करेंगे जिन्होंने उपनिपदो में यज्ञवाद की निन्दा की अथवा जिन्होंने ससार छोड कर वैराग्य ले लिया या जो वनो में रहने लगे। जैन तीर्थकरो और बुद्धदेव का जन्म भी नही होता अगर भारतीय परपरा से अहिंसा, विल्कुल, अनुपस्थित रही होती। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे केवल "सर्वमेधे सर्वं हन्यात्" (सर्वमेध-यज्ञ मे सव कुछ मारा जा सकता है) ही नही, "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" (किसी भी जीव को मत मारो) का भी आदेश था।

हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्धदेव की अहिंसा, ये दो छोर हैं, किन्तु, इनके बीच मे एक और कडी है जिसे समझे विना भारतीय चिन्तको की हिंसा से अहिंसा तक की यात्रा ठीक से समझी नही जा सकती। यह कडी है भगवान कृष्ण के सिद्धान्त की। बुद्ध की तरह भगवान कृष्ण ने यज्ञ का आमूल विरोध नही किया, किन्तु, यज्ञ के अर्थ मे उन्होंने वहुत वडी क्रान्ति कर दी। उस क्रान्ति का रूप यह है कि वैदिक ब्राह्मण हिंसा-पूरित यज्ञ को धर्म का कृत्य समझते थे, किन्तु, श्रीकृष्ण ने कहा, सवसे उत्तम यज्ञ वह है जिसमे किसी भी जीव की हत्या नही होती, प्रत्युत, जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपना जीवन परोपकार मे लगा देता है। यह पुरुष-यजन-विद्या (दूसरो के निमित्त जीने की विद्या) श्रीकृष्ण ने अपने गुरु घोर-आगिरस से सीखी थी और उसकी दीक्षा उन्होने अर्जुन को भी दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा धन नही, वरन्, तपश्चर्या, दान, ऋजु भाव, अहिंसा और सत्य थी। यह ध्यान देने की वात है कि जैन-ग्रन्थो मे, प्राय, श्रीकृष्ण जैन माने गये हैं और उनके गुरु का नाम नेमिनाथ बताया गया है।[1] घोर-आगिरस और नेमिनाथ एक ही व्यक्ति थे या नही, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नही किया जा सकता, किन्तु, यह मानना ही पडेगा कि छान्दोग्य-उपनिषद् (जिसमे आगिरस के उक्त उपदेश हैं) की रचना के समय भारतवासी अहिंसा-धर्म की उच्चता को भली भाँति समझते थे। यज्ञ का जो अर्थ श्रीकृष्ण ने किया, वैसा ही अर्थ भगवान बुद्ध भी करते थे। कोसल-सयुत्त (वग्ग १, सुत्त ९) के अनुसार बुद्धदेव का मत था कि "जिस यज्ञ मे प्राणियो की हिंसा नही होती, भेंड, वकरे, गाय, वैल आदि प्राणी मारे नही जाते और जो सर्वदा लोगो को अच्छा लगता है, उसमे सत-महर्षि जाया करते हैं। इसलिए, सुज्ञ पुरुष को ऐसा यज्ञ करना चाहिए।"

---

१ न्यायाचार्य महेन्द्र कुमार ने लिखा है कि "वाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे।"

अपने इसी अर्थ के कारण यज्ञ आज भी अमित पुण्य के प्रतीक समझे जाते हैं। यहाँ तक कि भूदान का प्रचार भी आज यज्ञ के रूप मे हो रहा है।

प्राग्वैदिक परपरा के प्रभाव से अहिंसा-धर्म और अहिंसक-यज्ञ की कल्पना भारत मे बुद्ध से पहले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्तक घोर आगिरस और ऋषभदेव थे। बाद को, जैन तीर्थंकरो ने उसका और भी विकास किया। मज्झिमनिकाय के महासिहनाद सुत्त मे चार प्रकार के तपो का वर्णन मिलता है। तप के ये चार प्रकार थे—तपस्विता, रुक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। तपस्विता का अर्थ था नगा रहना, अजुली मे ही भिक्षा माँग कर खाना, बाल उखाड के निकालना, काँटो की शैय्या पर नीद लेना तथा उसी तरह की अनेक अन्य क्रियाओ से देह-दडन करना। रुक्षता का अर्थ था कई वर्षो की धूल को शरीर पर जमाये रखना। पुराणो मे ऋषियो की देह पर वल्मीक बन जाने की कथा आती हैं। वह रुक्षता ही थी। पानी की बूँद तक पर भी दया करने को जुगुप्सा कहते थे। अर्थात् जुगुप्सा का अर्थ था हिंसा का पूर्णरूपेण तिरस्कार। और वनो में अकेले रहने को प्रविविक्तता कहते थे।

इससे मालूम होता है कि अहिंसा को परम धर्म लोग उस समय भी मानते थे। किन्तु, उसका प्रचलन गृहस्थो मे कम, तपस्वियो मे अधिक था। ऐसे तपस्वी बुद्धके पूर्व अधिक सख्या मे विद्यमान थे तथा जनकादि गृहस्थ भी घर मे रहते हुए अहिंसा का पलन करते थे। उत्तर-रामचरित मे भी वशिष्ठ को मासाहारी और जनक को निरामिषभोजी चित्रित किया गया है। श्रीकृष्ण के समय से आगे बढें, तब भी, बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल सदेश सुनाते पाते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्याम-सवर-सवाद कहते थे। ये चातुर्याम-सवाद थे (१) हिंसा का त्याग, (२) असत्य का त्याग, (३) स्तेय का त्याग और (४) परिग्रह का त्याग। ध्यान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व, अहिंसा केवल तपस्वियो के आचरण मे सम्मिलित थी, किन्तु, पार्श्व मुनि ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ बाँध कर सर्वसाधारण की व्यवहार-कोटि मे डाल दिया। घोर-आगिरस, श्रीकृष्ण और जनक के पास कोई सघ नही था जो पुरुष-यजन-विद्या का प्रचार करता, किन्तु, पार्श्वनाथ ने सघ की भी स्थापना की और सघो के द्वारा जनता मे अहिंसा का प्रचार करना उन्होने आरम्भ किया।

पूर्वी भारत मे क्रान्ति के बीज

महावीर और बुद्ध, और कही उत्पन्न न होकर, पूर्वी भारत मे (महावीर वैशाली मे और गौतम कपिलवस्तु में) जनमे, यह भी कोई आकस्मिक बात नही थी। कहते हैं, आर्यों का जो सर्व प्रथम दल भारत मे आया था, वह बढते-बढते बिहार की ओर चला गया और उसके रीति-रिवाज बाद को आनेवाले आर्यों से भिन्न हो गये। आर्यो की पिछली शाखाओ के लोग अपने इन पहले आये हुए बन्धुओ को अच्छी आँखो नही देख सके और

बरावर व्रात्य कहकर उनकी निन्दा करते रहे। मगध देश की निन्दा भी आर्य-साहित्य के लिए साधारण बात थी और इसमें भी यही कारण था कि मगध में उदाराशय आर्यों का प्रभुत्व था, जो कट्टर आर्यों के यज्ञवाद एवं उनके पुरोहितवाद के विषय में अधिक उत्साह नही रखते थे। कुरु-पाचाल के आर्य काशी, कोशल, मगध और विदेह के आर्यों से घृणा करते थे, यह बात ब्राह्मण-ग्रथो से स्पष्ट हो जाती है। शतपथ-ब्राह्मण मे कहा गया है कि कुरु-पचाल के ब्राह्मणो को काशी, कोशल, विदेह और मगध नही जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणो ने वैदिक धर्म (यज्ञ) को छोड दिया है तथा वे एक नये धर्म का प्रचार कर रहे हैं, जिनमें यज्ञ और पशु-हिंसा, दोनो की मनाही है। यह भी कि पूर्वी देशो में समाज पतित हो गया है, क्योंकि उसमें ब्राह्मणो का स्थान क्षत्रियो ने ले लिया है और तीनो वर्णो के लोग क्षत्रियो की ही अधीनता मे रहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण मे इस बात की भी शिकायत की गयी है कि पूर्वी देशो के लोग संस्कृत शब्दो का सही-सही उच्चारण नही कर सकते और र को ल कहते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के परम उत्कर्ष के समय विचारों का नेतृत्व पश्चिमी नही, पूर्वी भारत के हाथ था और उपनिषदो के एक महान् ऋषि याज्ञवल्क्य कही विहार मे ही रहते थे, जिनके पास शका-समाधान के लिए कुरु-पाचाल देश के भी विद्वान् आने लगे थे जो पहले पूर्वी लोगो की निन्दा करते थे। याज्ञवल्क्य के सरक्षक विदेहराज जनक थे। हिंसापूर्ण यज्ञ और वैराग्ययुक्त आत्मविद्या के बीच जो संघर्ष पश्चिमी भारत मे शुरू हुआ था, उसका फैसला जनक और याज्ञवल्क्य ने पूर्वी भारत मे कर दिया और ये लोग आत्मविद्या मे इतने दक्ष समझे जाने लगे कि सारे भारत मे इनका नाम हो गया।

विद्वानो का यह भी मत है कि बौद्ध, जैन, शैव एव वैष्णव-धर्म, प्राय, साथ-ही-साथ उत्पन्न हुए थे और चारो के भीतर वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया का कुछ-न-कुछ भाव था। कट्टर आर्यों का गढ उन दिनो मध्य देश था। यह अर्थपूर्ण बात है कि इन चारो धर्मों मे से किसी भी धर्म का आरभ मध्य देश मे नही हुआ। वैष्णव धर्म पश्चिमी भारत मे उठा और बौद्ध मत तथा जैन मत पूर्वी भारत मे उत्पन्न हुए। शैव धर्म का भी विकास पहले दक्षिण भारत मे हुआ था, बाद को वह पश्चिमी भारत मे फैला और वहाँ से सारे देश मे। लगता है, मगध उस समय कट्टरता से विशेष रूप से मुक्त था। वहाँ विभिन्न सस्कृतियो के बीच वैर नही, मित्रता के भाव थे। यदि ऐसी स्थिति न रही होती तो वहाँ शक्तिशाली साम्राज्य का वर्धन और विकास नही होता।[1] कूपमण्डूकता केवल चिंतन मे ही बाधा नही डालती, वह राज्यशक्ति को भी क्षीण करती है।

१ मगध मे और उससे पूरब की ओर नाना सस्कृतियो के मिल जाने से कट्टरता बिलकुल नही रह गयी थी। इसी उदारता के कारण शक्तिशाली साम्राज्य का उदय मगध मे ही हुआ। (द हिस्टरी एण्ड कलचर आव् इंडियन पीपुल, जिल्द २)

अहिंसा और क्षत्रिय जाति

अवतारो मे वामन और परशुराम, ये दो ही है जिनका जन्म ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियो के वश मे हुए हैं। यह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु, इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञो पर पलने के कारण ब्राह्मण इतने हिंसाप्रिय हो गये थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा था और ब्राह्मणो का पद उसने क्षत्रियो को दे दिया था। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मण-धर्म (यज्ञ) ही नही, ब्राह्मणो के गढ कुरु-पाचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह समय आ गया जब इज्जत कुरु-पाचाल की नही, बल्कि, मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु मे जन्म लेने के ठीक पूर्व, जब तथागत स्वर्ग मे देव-योनियो में विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओ ने उनसे कहा कि अब आपका अवतार होना चाहिए, अतएव, आप सोच लीजिये कि किस देश और किस कुल मे जन्म ग्रहण कीजियेगा। तथागत ने सोच-समझ कर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और क्षत्रिय-वश ही हो सकता है। इसी प्रकार, महावीर वर्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। लेकिन, इन्द्र ने सोचा कि इतने बडे महापुरुष का जन्म ब्राह्मण-वश मे कैसे हो सकता है। अतएव, उसने ब्राह्मणी का गर्भ चुरा कर उसे एक क्षत्राणी के पेट मे डाल दिया। इन कहानियो से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनो यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा-धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नही हो सकता, इसीलिए, बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय-वश मे उत्पन्न होने की कल्पना लोगो को बहुत अच्छी लगने लगी।[1]

वैदिक काल मे हिंसा और अहिंसा का सघर्ष चल रहा था। ब्राह्मणो ने हिंसा का पक्ष लिया; क्योंकि यज्ञ से उनकी रोजी चलती थी और हिंसा के बिना यज्ञ सपन्न नही किया जा सकता था। किन्तु, निरीह पशुओ की प्राण-रक्षा का भार क्षत्रियो पर आ पडा और हिंसा-अहिंसा के सघर्ष मे अहिंसावाद के नेता भी वे ही हुए।

कोई-कोई विद्वान् इसमें क्षत्रिय-ब्राह्मण-विद्वेष भी देखते है। डा० भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिक काल के बाद जब उपनिषदो का समय आया, तब तक क्षत्रिय-ब्राह्मण-सघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणो से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गये थे, जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक काल से किये आ रहे थे। "ब्राह्मणो के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियो ने उपनिषद-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणो ने अपने दर्शनो की नीव डाली। इस सघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा जो, अन्तत, द्वितीय शती ई० पू० मे ब्राह्मणो के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमे एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतजलि और

---

१ केवल वर्धमान और गौतम ही नही, जैन गुरु नाथपुत्र और बोधिसत्त्व के गुरु आलार कालाम और उद्रक राजपुत्र भी क्षत्रिय थे।

पुष्यमित्र-शुग की परपरा रही और दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु, कौशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और बृहद्रथ की।"

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी लिखा है कि "बौद्ध जातको से प्रकट होता है कि क्षत्रिय ही चारो वर्णो मे श्रेष्ठ है। ब्राह्मणो का स्थान उनके नीचे है।" तथा "बृहदारण्यक-उपनिषद मे पहले क्षत्रिय-सृष्टि की ही बात पायी जाती है।"[1]

स्वय भगवान बुद्ध क्षत्रियो को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ समझते थे, यह बात दीर्घनिकाय (१।३ अम्बट्ठसुत्त) से प्रमाणित होती है जहाँ बुद्ध अम्बष्ट माणवक से कहते है, "इस प्रकार, अम्बष्ट! स्त्री की ओर से भी, पुरुष की ओर से भी, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है।" तथा जब वह (क्षत्रिय) क्षत्रियो मे परम नीचता को प्राप्त है, तब भी क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है।"[2]

उपनिषदो मे अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु, जनक आदि की प्रधानता देखकर डाक्टर डायसेन ने यह अनुमान लगाया था कि आत्मविद्या क्षत्रियो की ही वस्तु रही होगी। ऐल पुरूरवा वैदिक युग के राजा थे। महाभारत मे वे वायु से यह प्रश्न करते है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण मे श्रेष्ठ कौन है और जनता किसका अनुगमन करे। महाभारत मे एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि राजा पुरूरवा ब्राह्मणो से बहुत विद्वेष करने लगे थे। इसी अपराध के कारण अश्विनीकुमारो ने उन्हे नष्ट कर दिया। सभव है, क्षत्रिय-ब्राह्मण-सघर्ष का सूत्रपात वैदिक काल मे ही हुआ हो और उपनिषदो के युग तक आकर क्षत्रिय अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने मे समर्थ हो गये हो।

जैन धर्म की विशेषताएँ

बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि, यह उतना ही पुराना है, जितना वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हुए है। अन्तिम मनु नाभिराम थे। उन्ही के पुत्र ऋषभदेव हुए, जिन्होने अहिंसा और अनेकान्तवाद आदि का प्रवर्तन किया। जैन पण्डितो का विश्वास है कि ऋषभदेव ने ही लिपि का आविष्कार किया तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन जातियो की रचना की। भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पडा। जब ऋषभदेव वैराग्य लेकर ससार से अलग हो गये, तब उनके पुत्र भरत ने ही, "तीन वर्णों में से व्रत और चरित्र धारण करने वाले सुशील व्यक्तियो को ब्राह्मण वर्ण बनाया।" जैन अनुश्रुति में नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई माने जाते है, किन्तु, वे मात्र बाईसवे

---

१. 'भारतवर्ष मे जाति-भेद'

२ दीर्घनिकाय—श्री राहुल साकृत्यायन

तीर्थंकर थे, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रीकृष्ण से पूर्व जैनों के इक्कीस तीर्थंकर और हो चुके थे। यदि यह बात सत्य हो तो जैन धर्म की परंपरा भगवान श्रीकृष्ण से हजार नहीं तो सैकड़ों वर्ष पूर्व पहुँच जाती है। अब तो कोई-कोई विद्वान यह भी कहने लगे हैं कि महंजोदड़ो में पाये गये निशानों में से कुछ निशान जैन धर्म के भी हैं।[1]

जैन धर्म की दो बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं। इसलिए, यह अनुमान तर्क-सम्मत लगता है कि अहिंसा और तप की परंपरा प्राग्वैदिक थी और उसी का विकास जैन धर्म में हुआ। यह बात जैन धर्म के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। महावीर वर्धमान ई० पू० छठी शताब्दी में हुए और उन्होंने जैन-मार्ग का जोरदार संगठन किया। उनसे उस मार्ग के प्रधान नेता वे ही समझे जाने लगे। किंतु, जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए और महावीर वर्धमान महज चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व तेईस तीर्थंकर और हुए थे। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो ऐतिहासिक पुरुष हैं और जिनका समय महावीर और बुद्ध, दोनों से कोई २५० वर्ष पहले पड़ता है। वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषद जोर देते थे, वह जैनों का भी मार्ग था (यद्यपि जैन नाम उन दिनों नहीं निकला था) और उस पथ के श्रमण, उपनिषदों के युग में भी, बहुत अधिक संख्या में फैल रहे थे। बुद्ध ने घर छोड़ने के बाद जो कठिन तपस्याएँ की थीं और शरीर को सुखाने के लिए उन्होंने जिस कृच्छ्र मार्ग का अवलम्बन लिया था, अजब नहीं कि वह जैन मार्ग रहा हो।

जैन धर्म का अहिंसावाद वेदों से निकला है, ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋषभ-देव और अरिष्टनेमि, जैन-मार्ग के इन दो प्रवर्तकों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। जैन धर्म के पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हैं। उनकी कथा विष्णु-पुराण और भागवत-पुराण में भी आती है, जहाँ उन्हें महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप-मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। इन दोनों पुराणों का यह भी कहना है कि दशावतार के पूर्व होनेवाले अवतारों में से एक अवतार ऋषभदेव भी हैं। इनसे पता चलता है कि वेदों के गार्हस्थ्य-प्रधान युग में वैराग्य, अहिंसा और तपस्या के द्वारा धर्म पालन करने वाले जो अनेक ऋषि थे, उनमें श्री ऋषभदेव का अन्यतम स्थान था और उनकी परंपरा में जो लोग अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे, उन्हींने जैन धर्म का पथ प्रशस्त किया।

किन्तु, वेद और पुराण चाहे जो भी कहें, किन्तु, ऋषभदेव की कृच्छ्र साधना का मेल ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से नहीं बैठता। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेद-पूर्व परंपरा के प्रतिनिधि हैं। जब आर्य इस देश में फैले उससे पहले ही यहाँ वैराग्य, कृच्छ्र साधना, योगाचार और तपश्चर्या की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रथा का एक विकास जैन धर्म में हुआ और दूसरा शैव धर्म में। ऋषभदेव भी

---

१ दे० खण्डहरों का वैभव (श्री मुनिकान्त सागर-कृत)

योगिराज के रूप मे अभिहित हुए हैं। उनके योगयुक्त व्यक्तित्व से शकर के योगी-रूप का काफी सामीप्य है। महजोदरो मे योग-प्रथा-सूचक जो निशान मिले हैं, उनका सबध जैन और शैव, दोनो ही परपराओ से जोडा जा सकता है।

जिस प्रकार, जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों को भी हिन्दू विष्णु का ही अवतार मानते हैं, उसी प्रकार, इनके दर्शनो को भी वे अपना ही दर्शन समझते हैं। फर्क यह है कि हिन्दुओ के यहाँ दर्शन आस्तिक और नास्तिक विभागो मे बँटे हुए हैं। साख्य और योग, न्याय और वैशेषिक तथा मीमासा (पूर्व मीमासा और उत्तर मीमांसा), ये छह दर्शन आस्तिक हैं, क्योकि वेदो का वे विरोध नही करते। इसके विपरीत, जैन, बौद्ध और चार्वाक, ये तीन दर्शन नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदो का विरोध करते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ता और निरे भोगवाद का प्रचारक यहाँ केवल चार्वाक-दर्शन ही हुआ, जिसके विचार इस देश मे कभी भी स्वीकृत नही हो सके, क्योकि यह देश जीवन मे त्याग को प्रतिष्ठा देनेवाला रहा है और शुद्ध भोगवाद की प्रवृत्ति को इसने कभी भी प्रोत्साहित नही किया। ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ तथा महावीर वर्धमान, इन सब के प्रति हिन्दुओ का आदरमय भाव रहा है, क्योकि इन ऋषियो ने वेद और वैदिक धर्म की चाहे जो भी निन्दा की हो, लेकिन, स्वयं इन्होंने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह भोग नही, त्याग का धर्म था और भारत की त्यागमयी आध्यात्मिक परम्परा को उससे शक्ति प्राप्त हुई है।

महावीर ने वेदो की अवहेलना क्यो की, यह ऊपर के सदर्भो से स्पष्ट हो जाता है। सच्ची बात यह थी कि अहिंसा-धर्म और ब्राह्मणो के यज्ञवाद मे कुछ तात्त्विक विरोध था और ब्राह्मण-सत्ता तथा यज्ञवाद की प्रभुता के मुकाबिले, अहिसा का खुलकर प्रचार करने के लिए यह जरूरी था कि वेदो का विरोध किया जाय। बाकी बातो मे भी जैन धर्म और वैदिक धर्म मे कोई बहुत बडा भेद नही है। जैन सृष्टि को अनादि मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि की रचना किसी परमात्मा ने नही की, वह स्वय प्रकृति के नियमो से सचालित होकर चल रही है। मगर, यही सिद्धात साख्य-दर्शन का भी है, क्योकि सृष्टि की रचना किसी ईश्वर ने की है, इस सिद्धात की हँसी साख्य भी उडाता है। योग-दर्शन (जिसका दूसरा नाम सेश्वर-साख्य भी है, यानी वह साख्य जो कपिल मुनि के निरीश्वर-साख्य से भिन्न है और ईश्वर मे विश्वास करता है) भी यह नही मानता कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है। योग मे जो ईश्वर है, वह सृष्टि का रचयिता नही, बल्कि योगियो का मानसिक आदर्श है। अर्थात् ईश्वर की कल्पना योग-दर्शन ने इसलिए की है कि मनुष्य योग के द्वारा अपने को इतना उन्नत करे कि वह ईश्वर-कोटि मे पहुँच जाय। योगियो का ईश्वर मनुष्य के उच्चतम विकास का प्रतीक है, जिसे पाने की कोशिश करने से मनुष्यता ऊपर उठती है। न्याय और वैशेषिक दर्शनो के सबन्ध मे कहा जाता है कि उनमे एक ऐसा ईश्वर अवश्य है जो सृष्टि की रचना और सहार करता है। परन्तु, इन दर्शनो के

अनुसार भी, सृष्टि जड (प्रकृति) और चेतन (जीव) के योग से बनी है तथा जिन अणुओ से इसका निर्माण हुआ है, वे अनादि है, उन्हें किसी ने भी नही वनाया। इन दर्शनो के अनुसार, सृष्टि के सहार का यह अर्थ है कि सृष्टि विनष्ट होकर फिर उन अणुओ का रूप ले लेती है, जिनसे उसका निर्माण होता है। पूर्व-मीमासा में भी सृष्टिकर्त्ता का सिद्धात प्रतिपादित नही हुआ है। अत, सृष्टि की रचना किसी ईश्वर या ब्रह्म ने की, इस सवध में पूर्व-मीमासा का भी वही मत है, जो निरीश्वर साख्य का। सृष्टि का विकास कर्म के अधीन है, इससे अधिक वात पूर्व-मीमासा नही कहती। और उत्तर मीमासा या वेदान्त तो, स्पष्ट ही, सृष्टि की रचना मे नही, उसके विकास में विश्वास करते है। सारी सृष्टि मे ब्रह्म के अस्तित्व का प्रसार है, सारा विश्व ब्रह्ममय है, ऐसा कहने से हम यह तो मान लेगे कि ब्रह्म ही सृष्टि बन गया है, किन्तु, यह नही मान सकते कि ब्रह्म ने स्वय अलग बैठ कर यह विश्व वनाया है जैसे कुम्हार घडे का निर्माण करता है।

सृष्टि विकसित नही हुई, उसकी रचना की गयी है, इस मत का जैन-दर्शन भी उतना ही विरोधी है, जितना कपिल का साख्य।[1] और ईश्वर के सवध में जैन-दर्शन का जो मत है, वह बहुत कुछ योग-दर्शन के ही समान है। ईश्वर ने दुनिया नही वनायी, वह एक आदर्श है जिसे हम साधना से प्राप्त कर सकते है, यह वात योग-दर्शन और वेदान्त से प्रभावित दीखती है। वेदान्त के अनुसार, प्रत्येक जीव ब्रह्म-कोटि मे पहुँच सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार भी, प्रत्येक आत्मा साधना और तपश्चर्या के द्वारा मुक्त बन जाती है और उसे फिर जन्म लेना नही पडता। जिसे वेदान्त मुमुक्षु या जीवन-मुक्त कहता है, उसे जैन-दर्शन सिद्ध-जीव या अर्हत् वतलाता है। नाम मे चाहे जो फर्क हो, किन्तु, मार्ग और लक्ष्य दोनो के एक है।

हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका मे गुणरत्न ने एक वात कही है कि आत्मा, ससार (जन्म और मरण तथा फिर से जन्म लेकर मरने की सरणी), मोक्ष और मोक्ष के मार्ग मे जो विश्वास करता है, वही आस्तिक है। अगर इस दृष्टि से देखा जाय तो नास्तिक सिर्फ चार्वाक-दर्शन ठहरता है तथा बौद्ध-दर्शन का केवल वह सप्रदाय जो आत्मा का अस्तित्व नही मानता। हिन्दुओ के अन्य सभी दर्शन (जिनमे जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन भी सम्मिलित है) आत्मा को मानते है, आत्मा के आवागमन को मानते है, मोक्ष यानी आवागमन से छुटकारे के सिद्धान्त में विश्वास करते है और, पूरे वल के साथ, यह भी मानते है कि इस मोक्ष को प्राप्त करने के उपाय भी है। फिर यह वात समझ मे नही आती कि जैन-दर्शन को हम नास्तिक क्यो कहें। जैन-दर्शन उतना ही आस्तिक या नास्तिक है जितना हिन्दुओं का कोई भी अन्य दर्शन, जिसका आधार अद्वैत-वाद पर है।

---

१ बौद्ध धर्म को साख्य-तत्त्वज्ञान से निकला माना जाता है। बुद्ध-चरित काव्य में आलार कालाम तथा उद्रक रामपुत्र को साख्यो का प्रवर्तक कहा गया है।

जैन-दर्शन के सिद्धान्त

जैन-दर्शन के प्रमुख प्रमेय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। उत्पादन का अभिप्राय यह है कि सृष्टि मे जो कुछ है वह पहले से ही उत्पन्न है तथा जो नहीं है उससे किसी भी तत्त्व की उत्पत्ति नही हो सकती। व्यय का तात्पर्य इस बात मे है कि प्रत्येक पदार्थ अपने पूर्व पर्याय (रूप) को छोड़कर, क्षण-क्षण, नवीन पर्यायो को धारण कर रहा है। और ध्रौव्य यह विश्वास है कि पदार्थो के रूपान्तरण की यह प्रक्रिया सनातन है, उसका कभी भी अवरोध या नाश नही होता। "जगत् का प्रत्येक सत्, प्रति क्षण परिवर्तित होकर भी, कभी नप्ट नही होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इस प्रकार त्रिलक्षण है। कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियम का अपवाद नहीं है।" (जैन-दर्शन)

जैन धर्म यह मानता है कि सृष्टि अनादि है और वह जिन छह तत्त्वो मे बनी है वे तत्त्व भी अनादि है। ये छह तत्त्व है—(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल। इन छह तत्त्वो में से केवल पुद्गल ही ऐसा है जिसका हम रूप देख सकते है अथवा जिसका अनुभव हमे स्पर्श, घ्राण अथवा श्रवण से होता है। पुद्गल को मूर्त्त द्रव्य भी कहते है। बाकी सभी द्रव्य ऐसे है जो अमूर्त्त है, जिनका आकार नही है। दूसरी बात यह है कि इन छहो द्रव्यो मे केवल जीव ही ऐसा है जिसमे चेतना है, बाकी पाँचो द्रव्य निर्जीव अथवा अचेतन है। तीसरी बात यह है कि ससार मे जीव निर्जीव (पुद्गल) के बिना नही ठहर सकता। निर्जीव (पुद्गल) के सहवास से छुटकारा उसे तब मिलता है, जब वह ससार के बन्धनो से छूट जाता है। असल में, जैन-दर्शन के जीव के, प्राय, वे ही गुण है जो आत्मा के लिए वेदान्त में कहे गये है।

जो मूर्त्त द्रव्य अर्थात् पुद्गल है, वह परमाणुओ के योग से बना हुआ है और यह सारी सृष्टि ही परमाणुओ का समन्वित रूप है। जीव और पुद्गल ही मुख्य द्रव्य है, क्योंकि उन्ही के मिलन से सृष्टि मे जीवन देखने में आता है। आकाश वह स्थान है जिसमे सृष्टि ठहरी हुई है। जीव और पुद्गल मे गति कहाँ से आती है, इसका रहस्य समझाने के लिए धर्म की कल्पना की गयी है। धर्म वह अवस्था है जिससे जीव और पुद्गल को गति मिलती है। चलने की शक्ति तो सक्रिय द्रव्य मे स्वय है, लेकिन, जैसे मछली चलने की शक्ति रखते हुए भी पानी के बिना नही चल सकती, वैसे ही, सक्रिय द्रव्य भी धर्म के बिना नही चल सकते। धर्म उनकी गति को सभव बनाता है। इसी प्रकार, चलनेवाली चीज जब ठहरना चाहती है, तब भी उसे कोई-न-कोई आधार चाहिए। पक्षी उड़ता अपनी शक्ति से है और वह ठहरता भी अपनी ही शक्ति से है, किन्तु, जमीन या वृक्षादि का आधार लिये बिना वह ठहर नही सकता। सक्रिय द्रव्य के ठहरने को सभव बनानेवाला गुण ही अधर्म है। धर्म और अधर्म वे गुण है जो विश्व को, क्रमश., गतिशील रखते है और उसे अव्यवस्था मे गिरफ्तार होने से बचाते है। काल की कल्पना इसलिए की गयी कि जैन धर्म ससार को माया नही मानता जैसे शाकर मत मे वह माना

जाता है। ससार सत्य है और इसमे परिवर्त्तन होते रहते हैं। इसी परिवर्त्तन का आधार काल है, क्योकि काल के अस्तित्व को माने बिना ससार मे किसी तरह के परिवर्त्तन की कल्पना नही की जा सकती। काल मनुष्य की जवानी, बुढापे और मृत्यु, सबका कारण है।

जैन-दर्शन के छह द्रव्यो मे से सिर्फ धर्म और अधर्म ही ऐसे हैं जिनका वैदिक धर्म-ग्रन्थो में कही भी उल्लेख नही मिलता। बाकी जीव, पुद्गल, काल और आकाश ऐसे हैं जो, किसी-न-किसी रूप मे, अन्यत्र भी आये हैं। ये बहुत-कुछ पच-तत्त्वो के समान हैं जिनसे, वैदिको के अनुसार, सृष्टि की रचना हुई है।

वैदिक जैसे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता मे विश्वास करते हैं, उसी प्रकार, जैन दर्शन के अनुसार भी, हमारे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म कर्म-शरीर है। स्थूल-शरीर के छूट जाने पर भी यह कर्म-शरीर जीव के साथ रहता है और वही उसे फिर अन्य शरीर धारण करवाता है। आत्मा की मनोवैज्ञानिक चेष्टाओ—वासना, इच्छा, तृष्णा आदि—से इस कर्म-शरीर की नुपुष्टि होती है। इसलिए, कर्म-शरीर तभी छूटता है, जब जीव वासनाओ से ऊपर उठ जाता है,जब उनमे किसी प्रकार की इच्छा नही रह जाती। जैन-दर्शन के अनुसार भी मोक्ष की व्यवस्था यही है।

जैन-दर्शन 'आस्रव' के सिद्धान्त मे विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है कि कर्म के सस्कार, क्षण-क्षण, स्रवित या प्रवाहित हो रहे हैं, जिनका प्रभाव जीव पर, क्षण-क्षण, पडता जा रहा है। इस प्रभाव से बचने का उपाय यह है कि मनुष्य चित्त-वृत्तियो का निरोध करे, मन को काबू मे लाये, योग की समाधि का अवलम्बन ले और तपश्चर्या में लीन रहे।

कैवल्य या मोक्ष

कैवल्य-साधना के, जैनो के यहाँ, सात सोपान माने गये है। ये सात सोपान ही जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्व है। जीव आत्मा है। अजीव वह ठोस द्रव्य (अर्थात् शरीर) है जिसमें आत्मा निवास करती है। जीव और अजीव का मिलन ही ससार है। अतएव, मोक्ष-साधना का मार्ग यह है कि जीव को अजीव से भिन्न कर दिया जाय अर्थात् मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करे कि वह आत्मा है और शरीर से बिल्कुल भिन्न है। किन्तु, जीव अजीव से बँधा कैसे है? इसका उत्तर आस्रव है। कर्मो से जो सस्कार क्षरित होते है, उन्ही के कारण जीव अजीव मे बँध जाता है। अतएव, इस बधन को नष्ट करने का उपाय यह है कि साधक कर्म से क्षरित होनेवाले सस्कारो से अलिप्त रहने का उद्योग करे। यह प्रक्रिया सवर कहलाती है। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नही है। आत्मा को तो पूर्वार्जित सस्कार भी घेरे हुए है। इन पूर्वार्जित संस्कारो से छूटने की साधना का नाम निर्जरा है। जीवन-नौका मे छेद है, जिनसे पानी उसमे भरता जा रहा है। छेदो को बन्द करना ही सवर की साधना

है और नाव मे पहले से जो पानी भरा हुआ है, उसे उलीचने को निर्जरा कहते हैं। सवर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने को सस्कारो अथवा आस्रवो से मुक्त कर लिया, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

जैन-दर्शन मे मोक्ष की साधना केवल सन्यासी कर सकते हैं। इनकी पाँच कोटियाँ हैं जिनका समन्वित नाम पच-परमेष्ठी है। ये पच-परमेष्ठी हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। साधुओ के उपदेष्टा उपाध्याय और आचार्य कहलाते हैं। सिद्ध वह है जिसने शरीर छोडकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है और अर्हत् तीर्थकरो को कहते हैं। अर्हत् तो चौवीस ही हुए हैं, किन्तु, सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है। जिसकी वासना छूट गयी, जो सुख-दुःख से ऊपर उठ गया, जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं, वह सिद्ध है। सिद्ध की कोटि परमात्मा की कोटि है। भेद यह है कि सामान्य वैदिक दर्शन में परमात्मा एक माना गया है, किन्तु, जैन धर्म के अनुसार, जो भी व्यक्ति सिद्ध हो गया, वह स्वय परमात्मा है।

वैदिक दर्शन मे मोक्ष वह अवस्था है जब आत्मा परमात्मा मे विलीन हो जाती है। बौद्ध-दर्शन मे इस अवस्था की सज्ञा निर्वाण है जब आत्मा की सत्ता का लोप हो जाता है, किन्तु, लुप्त होकर आत्मा कहाँ चली जाती है, यह रहस्य बौद्ध-दर्शन हमे नही बताता। जैन-दर्शन मे इस स्थिति को कैवल्य कहते हैं। जैनो का विश्वास है कि अदृश्य जगत् मे कही कैवल्य-लोक है, जहाँ सिद्धो की आत्माएँ, शुद्ध-बुद्ध रूप मे, विराजा करती हैं। जो आत्मा सिद्ध अथवा मुक्त हो गयी, वह चार गुणो से युक्त होती है। ये गुण हैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। रूप, रस, गन्ध और वर्ण, ये पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल के बधन से छूटते ही जीव अनन्त-चतुष्टय से युक्त हो जाता है।

अनेकान्तवाद

भारत मे जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमे से अहिंसावाद को उतना महत्त्व किसी ने भी नही दिया जितना जैन धर्म ने दिया है। बौद्ध धर्म मे, फिर भी, अहिंसा की एक सीमा है कि स्वय किसी जीव का वध न करो, किन्तु, जैनो की अहिंसा बिल्कुल निस्सीम है। स्वय हिंसा करना, दूसरो से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा मे योग देना, जैन धर्म मे सबकी मनाही है। और विशेषता यह है कि जैन-दर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नही है, प्रत्युत, वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद है।

अहिंसा का आदर्श, आरभ से ही, भारत के समक्ष रहा था, किन्तु, उसकी चरम-सिद्धि इसी अनेकान्तवाद मे हुई। इस सिद्धान्त को देखते हुए ऐसा लगता है कि ससार को, बहुत आगे चलकर, जहाँ पहुँचना है, भारत वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। ससार मे आज जो

अशांति है, रह-रहकर विश्व मे युद्ध के जो खतरे दिखायी देने लगते हैं, उनका कारण क्या है ? मुख्य कारण यह है कि एक वाद के माननेवाले लोग दूसरे वादो के माननेवालो को आँख मूंदकर गलत समझते हैं। साम्यवादी समझते हैं कि प्रजातंत्री देश बिलकुल गलत राह पर हैं और प्रजातन्त्र के समर्थको की दृष्टि में सारी गलती साम्यवादियो की है। इसी प्रकार, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो कोलाहल है, उसका मूल कारण यह है कि लोग विरोधी मतो के प्रति अत्यंत असहनशील हो गये हैं और, तब भी, सत्य यह है कि कोई भी मत सोलह आने सत्य या सोलह आने असत्य नही है। चीजें एक विन्दु से जैसी दिखायी देती हैं, दूसरे विन्दु से ठीक वैसी ही दिखायी नही देती। अतएव, आँख मूंद कर किसी मत को सर्वथा खंडित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। अनेक मतो में किसी एक को पकड कर बैठ जाना और यह मान लेना कि और सारे मत झूठे है, इसे विद्या का अहंकार कहना चाहिए। सत्य क्या है, उसे जानने का कोई एक मार्ग नही है। और सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की सबसे बडी पहचान भी यही है कि उसका दुराग्रह छूट जाता है। जो सच्चे अर्थो मे सन्त है, वे अपने ऊपर भी शंका करते हैं और, एक सिद्धान्त को मानते हुए भी, वे यह भाव बनाये रहते हैं कि, संभव है, अन्य सिद्धान्तों मे भी सत्य का कोई अंश हो, जो हमे दिखायी नही पड़ा है। समन्वय, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता, ये एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं। इसी तत्त्व को जैन-दर्शन शारीरिक धरातल पर अहिंसा और मानसिक धरातल पर अनेकान्त कहता है। जीवों को कष्ट नही देना, यह शारीरिक अहिंसा की पहचान है। किन्तु, जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे जब आँख मूंद कर विरोधी मतो पर प्रहार करते हैं, तब उनका भी यह कार्य हिंसा का ही कार्य होता है। जन-साधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु, चिंतको और विचारको को हिंसा-कर्म से विरत करने के लिए उसने अनेकान्त का सिद्धान्त निकाला। और यह उचित भी है, क्योंकि निचले स्तर पर तो मतों, वादो और विचारो को लेकर, जोर से, बहस की जा सकती है, किन्तु, विचारक जब अत्युच्च धरातल पर पहुँचते है, तब वे किसी भी बात को पूरे जोर से नही कह सकते, न बहस करते समय उनकी आँखो मे मशाल ही जलती है। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसी कोई राह नही है जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षो की जानकारी प्राप्त कर सके। इसीलिए, हम जो जानते है, वह ठीक है। किन्तु, उतना ही ठीक वह व्यक्ति भी हो सकता है जो हमारे विरुद्ध खडा है। अतएव, सच्चा अहिंसक विचारक किसी भी बात को बहुत जोर से नही कहता। अपने मतो को इस जोर से रखना, मानो, केवल वे ही ठीक हो, यह अहंकार का प्रदर्शन है, यह हिंसा और अधर्म है।

अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि "प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मो का अखंड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नही है। उसमे अनन्त दृष्टिकोणो से देखे जाने की क्षमता है। उसका

विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उसपर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुता-पूर्वक खोजो, वह भी वही लहरा रहा है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शांति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।

स्याद्वाद

अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है, जो हमें यह चेतावनी देता है कि बहस के समय अपनी आँखों को लाल मत बनाओ, न कभी इस भाव को मन में स्थान बनाने दो कि तुम जो कुछ कहते हो, एक मात्र वही सत्य है। किन्तु, मन के इस अहिंसा-युक्त भाव को हम भाषा में किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान जैन-दर्शन ने स्याद्वाद से किया। अनेकान्त चिंतन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम है और स्याद्वाद उसी चिंतन की अभिव्यक्ति की शैली को कहते हैं। अर्थात् अनेकान्तवाद का संबंध मनुष्य के विचार में है, किन्तु, स्याद्वाद उस विचार के योग्य अहिंसायुक्त भाषा की खोज करता है। स्याद्वाद के अनुसार, सच्चा अहिंसक यह नहीं कहेगा कि "यह बात सत्य है", उसके मुख से बराबर यही निकलेगा कि "स्यात् यह ठीक हो।"

किन्तु, स्यात् का हिन्दी-पर्याय शब्द शायद होता है, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि स्याद्वाद निश्चित ज्ञान का माध्यम नहीं हो सकता, उसमें बराबर शंका लिपटी रहती है। मुख्यत, इसी दोष को लेकर शंकराचार्य, शांतरक्षित, रामानुज, राधाकृष्णन, राहुल सांकृत्यायन, संपूर्णानन्द आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की प्रतिकूल आलोचना की है। श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अपने जैन-दर्शन नामक ग्रन्थ में स्याद्वाद की इन आलोचनाओं का उत्तर दिया है जिसे हम समीचीन समझते हैं। महेन्द्रकुमार जी स्यात् का अर्थ शायद नहीं मानते। उनका कहना है कि "प्राकृत और पालि में 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयुक्त होता रहा है। कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह, जब शब्द में, स्वभावत, विवक्षानुसार अमुक धर्म के प्रतिपादन करने की शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। वह श्रोता को विवक्षित धर्म का, प्रधानता से, ज्ञान करा के भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है। 'स्यात्' शब्द जिस धर्म के साथ लगता है, उसकी स्थिति कमजोर नहीं करके, वस्तु में रहनेवाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।"

धर्माचरण के सिद्धान्त

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिंसा जैनो का परम धर्म है और इस पर वे जितना अधिक जोर डालते हैं, उतना और किसी बात पर नही। कहते हैं, जब जैन धर्म के उत्कर्ष का समय था, तब जैन मुनि खेती का विरोध करते थे क्योंकि खेत जोतने से मिट्टी मे पडे जीव मारे जाते हैं। वे पानी को केवल छान कर ही नही, औट कर पीते थे, जिससे जीव उनके मुख मे न चले जायँ, वे मधु नही खाते थे, क्योंकि मधु लाने के क्रम मे मक्खियो का नाश होता है, वे दीपक को बराबर कपडे से आवृत रखते थे जिससे पतग उस पर आकर न जल जायँ। और आगे की राह को वे बुहारते चलते थे, जिससे चीटियो और कीट-पतगो पर उनके पाँव न पडे।

जैन धर्म की दूसरी विशेषता अपरिमित कष्ट सहने की प्रवृत्ति है। बौद्ध और जैन धर्म मे एक भेद यह भी है कि जहाँ बौद्ध अतिभोग और अतित्याग को छोडकर मध्य-मार्ग पर चलने के समर्थक हैं, वहाँ जैन महात्मा इन्द्रिय-सुखो के घोर शत्रु हैं। कर्म के आस्रव के प्रभाव से बचने के लिए, वे ससार के प्रत्येक सुख से अलग भागने को धर्म समझते हैं। भोग के बारे मे दो प्रकार के सप्रदाय हैं। एक वह जो यह कहता है कि ईश्वर, स्वर्ग, नरक, पाप और पुण्य, ये सब-के-सब झूठे हैं, आदमी जब मर जाता है, तब फिर उसकी कोई बात शेष नही रह जाती, इसलिए, अच्छा यही है कि हम जब तक ससार मे जियें, तब तक सुख से जियें और सभी प्रकार के भोगो से अपने को तृप्त कर ले, क्योंकि पाप और पुण्य के मानसिक भय से डरना व्यर्थ है। असली भय पुलिस का है और अगर पुलिस से बचकर तुम इच्छित भोग पा सकते हो तो उसे जरूर भोगो। यह सप्रदाय जडतावादियो का है। अपने यहाँ ऐसा ही सप्रदाय चार्वाक-पथियो का भी था। इसके विपरीत, दूसरे छोर पर वह सप्रदाय है जो यह कहता है कि ईश्वर है और दुनिया उसी की बनायी हुई है। हम जो जन्म लेकर आये हैं, सो हमारा जन्म पूर्वजन्म के पापो के कारण हुआ है। हम अगर पाप नही करते तो हमारा जन्म नही होता। पाप करने से ही पुनर्जन्म होता है और अधिक पाप करने से जीव को, अधिक से अधिक, योनियो मे भटकना पडता है। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष से दूर रहने के कारण मनुष्य जन्म लेता है एव उससे और अधिक दूर होने के कारण वह विवाह करके सासारिकता मे गिरफ्तार होता है। पुनर्जन्म से छूटने का उपाय यह है कि हम भोग को छोडें, क्योंकि भोगासक्ति ही पाप है। यह सप्रदाय, जिसे हम यती-सप्रदाय (Ascetic) कह सकते हैं, हर खूबसूरत चीज को गुनाह की जगह और प्रत्येक सुख को दु ख का कारण मानता है।

भारत मे इस यती-वृत्ति का चरम-विकास जैन साधुओ के बीच हुआ। ये जैन साधु शरीर को आत्मा का दुश्मन मानते थे और वे, चुन-चुन कर, उस मार्ग पर चलते थे, जिससे शरीर को अपरिमित कष्ट हो। आज भी वे सवारी पर नही चढते, दूर-दूर तक पैदल ही चले जाते हैं। वे दाढी-मूँछ भी नाई से नही बनवाते, बल्कि, राख लगाकर खुद

ही उन्हें नोच डालते हैं। जब जैन धर्म अपने पूरे उत्कर्ष पर था तब, कहते हैं, जो साधक बारह साल तक धर्म की साधना कर लेता था, उसे यह अधिकार मिल जाता था कि वह चाहे तो उपवास करके अपने प्राण छोड दे। अनशन और उपवास से आत्म-हत्या करने की जैन धर्म मे बडी महिमा है। जैन लोगो का विश्वास है कि मौर्यवंशी सम्राट चद्रगुप्त, अपने अतिम दिनो मे, जैन हो गये थे और जब मगध मे अकाल पडा, तब वे बहुत-से धर्मबन्धुओ को साथ लेकर दक्षिण भारत की ओर चले गये, जहाँ उन्होंने उपवास करके अपना शरीर छोड दिया। जैन धर्म के अनेक महात्मा इसी विधि से मरे हैं।

साधन की यह कठोरता इतनी आदरणीय कैसे मान ली गयी, इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह था कि दीर्घकालीन प्रचार के कारण लोगो को यह विश्वास हो गया था कि यह जीवन दु खो से पूर्ण है और इन दु खो से छुटकारे का उपाय मोक्ष प्राप्त करना है। आदमी का असली उद्देश्य मोक्ष हो गया और मोक्ष तथा आत्मा के बीच प्रत्यक्ष दीखनेवाली दीवार मनुष्य की देह हो गयी। अतएव, मनोवैज्ञानिक रूप से, आदमी ने अपना सारा गुस्सा शरीर पर उतारना शुरू किया। कृच्छ्र साधना के शिकार केवल जैन ही नही हुए, बल्कि, अन्य लोगो मे भी उसका काफी प्रचार था। गौतम जब घर से निकल कर सन्यासी हो गये, तब उन्हे भी पहले मोक्ष-लाभ का मार्ग तपस्या मे ही दिखायी पडा था। हिन्दू-पुराणो में दुर्धर्ष तपस्याओं की हजारो कथाएँ भरी पडी हैं। धर्म-लाभ के लिए उन दिनो लोग वर्षो तक एक पाँव पर खडे रहते थे, पेड़ो से लटक कर उलटे टँग जाते थे, चाद्रायण-व्रत करते थे या महज नीम की पत्तियाँ खाकर समय गुजार देते थे। उदासी सप्रदाय के साधुओ मे से अब भी कितने ही साधु जाडे और बरसात मे घरो से बाहर पडे रहते है तथा जेठ की धूप मे पचधुनी तापते है। स्वामी दयानन्द, बहुत दिनो तक, जाड़े और बरसात, दोनो ऋतुओ मे, घर से बाहर रहते थे और शरीर पर कपडे नहीं डालते थे। बहुत दिनो से इस देश मे एक विश्वास रहा है कि आत्मा को जगाने का सच्चा मार्ग शरीर को कष्टमे डालना है और जो लोग शरीर को कष्ट मे अधिक डालते थे, उनका समाज मे आदर भी अधिक होता था। भारत मे यह परपरा बिलकुल समाप्त नही हुई है, बल्कि, अभी भी शेष है। सच तो यह है कि प्रत्येक साधु-महात्मा के साथ कष्ट-सहिष्णुता का थोडा-बहुत सबध हम आज भी मानते हैं।

जैन धर्म का त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र), असल मे, वैदिको के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का ही परिवर्तित रूप है। भेद यह है कि वैदिक धर्म मे ज्ञान, कर्म और भक्ति मे से कोई भी मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है, किन्तु, जैन धर्म मोक्ष-लाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, तीनो को आवश्यक मानता है।

त्रिरत्न मे पहला स्थान सम्यक् दर्शन का आता है, जिसके पालन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढताओ और आठ प्रकार के अहकारो को बिलकुल

छोड़ दे। तीन प्रकार की मूढ़ताएँ हैं—लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और पाषण्ड-मूढ़ता। नदियों में स्नान करने से शुचिता ही नहीं, पुण्य भी बढ़ता है, यह और ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ लोक-मूढ़ता के उदाहरण हैं, जो त्याज्य हैं। देवी-देवताओं की शक्तियों में विश्वास करना देव-मूढ़ता है तथा साधु-फकीरों के चमत्कार में विश्वास करना पाषण्ड-मूढ़ता है। जैन धर्म में ये सभी अन्ध-विश्वास त्याज्य हैं। जब तक ये अन्ध-विश्वास नहीं छूटते, मनुष्य धर्म के सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता।

भला यह कैसे संभव था कि जिस धर्म ने अहिंसा पर इतना जोर डाला, वह विनम्रता के गुण को अनिवार्य नहीं समझे ? इसलिए, जैन धर्म में आठ प्रकार के अहंकार भी त्याज्य बताये गये हैं। ये हैं—(१) अपनी बुद्धि का अहंकार, (२) अपनी धार्मिकता का अहंकार, (३) अपने वंश का अहंकार, (४) अपनी जाति का अहंकार, (५) अपने शरीर या मनोबल का अहंकार, (६) अपनी चमत्कार दिखानेवाली शक्तियों का अहंकार, (७) अपने योग और तपस्या का अहंकार तथा (८) अपने रूप और सौंदर्य का अहंकार। इतनी तैयारी हो लेने पर ही, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का फल साधक को मिल सकता है।

बौद्ध-धर्म की तरह, जैन-धर्म भी कर्मवादी है और उसका उद्देश्य मनुष्यों के कर्मों को परिष्कृत एवं उन्नत बनाना है। प्रत्येक जैन गृहस्थ को पंचव्रत का प्रण लेना पड़ता है जिनके नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। खेती-बारी में जो जीव-हिंसा अनिच्छित ढंग से हो जाती है, वह गृहस्थों को क्षम्य है। इसी प्रकार, ब्रह्मचर्य के मामले में भी परस्त्री-गमन ही वर्जित है और अपरिग्रह के द्वारा गृहस्थ को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति अपने पास नहीं रखेगा, उसे दान में दे देगा। शायद, इसी व्रत का पालन करने के लिए आज भी जैन गृहस्थ अपनी आय का एक भाग दान के लिए उत्सर्ग कर देते हैं।

गृहस्थों के लिए जो व्रत परिमित रखे गये हैं, श्रमणों और सन्यासियों पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं, क्योंकि उन्हें छूट की आवश्यकता नहीं है तथा उन्हें प्राणपन से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयास करना ही चाहिए।

जैन मत और बौद्ध मत

जैन मत और बौद्ध मत में समानता यह है कि दोनों मत पशु-हिंसा के विरोधी हैं। यद्यपि, आगे चल कर बौद्ध मरे हुए पशु का मांस खाना बुरा नहीं मानने लगे, किन्तु, जैन हिंसक या अहिंसक, सभी प्रकार के आमिष को अग्राह्य मानते हैं। दोनों मत वेद की प्रामाणिता को अस्वीकार करते हैं। दोनों का विश्वास है कि सृष्टि की रचना करने वाला कोई देवता नहीं है। दोनों मतों के पंडितों ने प्रचलित देश-भाषाओं में उपदेश देना आवश्यक माना—बौद्धों का मूल-साहित्य प्राकृत में है और जैनों का अधिक साहित्य अपभ्रंश में।

आगे चलकर, दोनो धर्मों के ग्रन्थ सस्कृत मे भी लिखे गये। किन्तु, इन धर्मों के बीच भेद यह है कि बौद्ध सृष्टि मात्र को परिवर्त्तनशील एव नश्वर मानते है तथा वे यह स्वीकार नही करते कि सृष्टि के मूल मे कोई तत्व है जो अक्षय और अनादि है। किन्तु, जैन जीव और अजीव को अक्षय तथा अनादि मानते है। श्री महेन्द्रकुमार ने लिखा है कि, यद्यपि, अनेक विषयो मे जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन समानतत्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्ध वादो का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनो में विरोध था और, इसीलिए, इनका प्रबल खडन जैन न्याय-ग्रन्थो मे पाया जाता है। धर्म और दर्शन की मौलिक जिज्ञासाओ के विषय में महावीर और बुद्ध के क्या मत हो सकते थे, यह इस प्रकार अनुमित किया जा सकता है। यदि कोई बुद्ध ने पूछता कि "क्या लोक शाश्वत है ?" तो बुद्ध यह उत्तर देते कि इसका जानना अनुपयोगी है और ऐसे अव्याकृत प्रश्न पूछे ही नही जाने चाहिए। किन्तु, यही प्रश्न यदि महावीर से पूछा जाता तो वे यह कहते कि "हाँ, लोक द्रव्य-दृष्टि से शाश्वत है। इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नही होता, न किसी असत् से नये सत् का उत्पादन ही सभव है।" और यदि यह पूछा जाता कि 'क्या लोक अशाश्वत है ?' तब भी बुद्ध उसे अव्याकृत कहकर टाल देते। किन्तु, महावीर कहते कि "हाँ, लोक अपने प्रति क्षण भावी परिवर्तनो की दृष्टि से अशाश्वत है। कोई भी पदार्थ एक रूप मे दो क्षण ठहरनेवाला नही है।" और यदि यह प्रश्न किया जाता कि क्या लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी ?" तो बुद्ध फिर मौन रह जाते और महावीर फिर कहते कि "हाँ, लोक, दोनो दृष्टियो से विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।"

जैन साधना अत्यन्त कृच्छ्र और कठिन साधना है। बुद्ध ने तप और भोग के बीच मध्य-मार्ग को विहित बताया। बौद्धो का निर्वाण सपूर्ण विनाश का सशय उत्पन्न करता है। जैन पण्डित निर्वाण को जीव के विकास की स्थिति मानते है तथा यह कहते है कि जीवन-मुक्त पुरुष ईश्वर-कोटि को प्राप्त करता है। जैनो में भिक्षु और गृहस्थ के बीच की दूरी कम रही। बौद्धो का सारा जोर भिक्षु-सघ पर पडा और उनके गृहस्थ सेवक उपेक्षित हो गये। धर्माचरण और अनुष्ठानादि मे जैन-धर्म वैदिक धर्म के समीप रहा। किन्तु, बौद्ध मत उससे काफी दूर चला गया। राज्य-सहायता तो जैन-धर्म को भी मिली थी, किन्तु, जैन मत भारत से बाहर नही गया। किन्तु, बौद्ध मत ने भारत के सास्कृतिक अभियान मे अपने को विश्व-विजय का माध्यम बना लिया। बौद्ध धर्म, मुख्यत, सन्यासियो का धर्म था। किन्तु, जैन मत गृहस्थो को साथ लिये हुए था तथा ये गृहस्थ श्राद्ध, विवाह, पूजा और अनुष्ठान मे ब्राह्मण पुरोहितो से काम लेते रहे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि जैन मत हिन्दुत्व का अग बना रहा। किन्तु, बौद्ध मत हिन्दू वृत्त से बाहर चला गया।

जैन धर्म का इतिहास

सामान्य अनुमान यह है कि जैन पथ का मूल उन प्राचीन परपराओ मे रहा होगा जो आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में प्रचलित थीं। किन्तु, यदि आर्यों के आगमन के बाद से भी देखें तो ऋषभदेव और अरिष्टनेमि को लेकर जैन-धर्म की परपरा वेदो तक पहुँचती है। महाभारत-युद्ध के समय, इस सम्प्रदाय के एक नेता नेमिनाथ थे, जिन्हे जैन अपना एक तीर्थंकर मानते हैं। ई० पू० आठवी सदी मे तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए जिनका जन्म काशी मे हुआ था। काशी के पास ही ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयासनाथ का जन्म हुआ था, जिनके नाम पर सारनाथ का नाम चला आता है। जैन-धर्म के अन्दर श्रमण-सम्प्रदाय का पहला सगठन पार्श्वनाथ ने किया था। ये श्रमण वैदिक प्रथा के विरुद्ध थे और, महावीर तथा बुद्ध के काल मे, ये श्रमण कुछ बौद्ध और कुछ जैन हो गये तथा दोनो ने अलग-अलग अपनी सस्थाएँ बना ली।

जैन-पंथ के अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्धमान हुए, जिनका जन्म ई० पू० ५९९ मे हुआ था। वे ७२ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गीय हुए। महावीर स्वामी ने मरने के पूर्व इस सम्प्रदाय की नींव भली भाँति पुष्ट कर दी, अहिंसा को उन्होंने पक्के तौर पर स्थापित कर दिया और जब वे मरे, तब उनका सम्प्रदाय, पूर्णरूप से, सगठित और सक्रिय था। नास्तिकता पर विजयी होने के कारण वे जिन (जयी) कहलाये और उन्हीं के समय से इस सम्प्रदाय का नाम जैन हो गया।

जब सिकन्दर भारत आया था, तब जैन साधु सिंधु के तट पर भी बने हुए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन हुए थे या नहीं, इस विषय मे अभी सदेह है, किन्तु, अशोक के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उसके समय में मगध मे जैन-धर्म का प्रचार था। लगभग इसी समय, मठो मे बसनेवाले जैन मुनियो मे यह मतभेद शुरु हुआ कि तीर्थंकरो की मूर्त्तियाँ कपड़े पहना कर रखी जायें या नग्न ही तथा मुनियों को वस्त्र पहनना चाहिए या नहीं। यह मतभेद इतना बढा कि ईसा की पहली सदी मे आकर जैन-मतावलम्बी मुनि दो दलो में बँट गये। एक दल हुआ श्वेताम्बर, जिसके साधु श्वेत वस्त्र पहनते थे, और दूसरा हुआ दिगबर, जिसके साधु नगे ही घूमते थे।

मौर्य-काल में, भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन श्रमणो का एक दल दक्षिण गया और मैसूर मे रहकर अपने धर्म का प्रचार करने लगा। ईसा की पहली शताब्दी मे कलिंग के राजा खारावेल ने जैन-धर्म स्वीकार किया। ईसा की आरभिक सदियो में उत्तर में मथुरा और दक्षिण में मैसूर (श्रमण बेलगोला) जैन-धर्म के बहुत बडे केन्द्र थे। पाँचवी से बारहवी शताब्दी तक दक्षिण के गग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवशो ने जैन-धर्म की बहुत सेवा की और उसका काफी प्रचार किया। इन राजाओं के यहाँ अनेक जैन कवियो को भी आश्रय मिला था जिनकी रचनाएँ आज तक उपलब्ध हैं। ग्यारहवी सदी के आसपास, चालुक्य-वश के राजा सिद्धराज और उनके पुत्र कुमारपाल ने जैन-धर्म को राज-

धर्म बना दिया तथा गुजरात में उसका व्यापक प्रचार किया। अपभ्रंश के लेखक और जैन विद्वान हेमचन्द्र कुमारपाल के ही दरबार में रहते थे। एक समय इस धर्म का राजपूताने में भी अच्छा प्रचार था। चूंकि जैन धर्मावलंबी बहुत ही शान्तिप्रिय होते थे, इसलिए, मुसलमानो के शासन-काल में उन पर अधिक जुल्म नहीं हुए, बल्कि, अकबर ने उनकी थोडी-बहुत सहायता ही की थी। मगर, धीरे-धीरे, जैन मठ टूट गये और पिछले मोगलों के समय मे ही, उनका प्रभाव जाता रहा। अब इस देश में केवल बारह-चौदह लाख जैन रह गये है जो, मुख्यत, वनिज-व्यापार करते हैं। तब भी, इस देश में दान-धर्म के अनेक निशान (धर्मशाला, विद्यालय, मठ, मन्दिर आदि) इस सम्प्रदायवालों के बनवाये हुए हैं।

वैदिक धर्म पर प्रभाव

जैन-धर्म अत्यन्त उन्नत और मनुष्य के लिए कल्याणकारी धर्म था। अचरज की बात है कि उसके अनुगामियो की सख्या अब इतनी थोडी रह गयी है। लेकिन, एक दूसरी दृष्टि से देखने पर आश्चर्य नही होता। यह धर्म कोई बाहर से आया हुआ नया धर्म नहीं था। वह वैदिक-धर्म से ही निकला था और, रूप उसका जो भी रहा हो, मगर लक्ष्य उसका वैदिक धर्म का सुधार था। आरभ से ही जैन-धर्म की शब्दावली वैदिक धर्म की शब्दावली रही थी और, यद्यपि, सदियो तक जैन लोग एक अलग सम्प्रदाय बनाकर रहे थे, मगर, अलग रहकर भी वे वैदिक-धर्म की ही सेवा कर रहे थे। ब्राह्मणो के विशेषाधिकार की अवहेलना, यज्ञ का विरोध और अहिंसा की स्थापना, इन्ही बातो को लेकर जैन वैदिक-धर्म से अलग हुए थे। मगर, जब वैदिक-धर्म ने ये बाते मान ली, तब जैन-सम्प्रदाय के अलग रहने का कोई कारण नही रह गया और, धीरे-धीरे, इस सम्प्रदाय के लोग हिन्दू-धर्म में वापस आ गये। यो भी, वैदिको और जैनो के बीच शादी-सबध तो होते ही आये थे। फिर वे अलग रहते कैसे ?

आज जो भी दस-बारह लाख जैन भारत में हैं, वे आचार-विचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज में वैष्णव हिन्दुओं के बीच पूरी तरह से खपे हुए हैं। उनका धर्म पूर्णरूपेण हिन्दू-धर्म में समाहित हो गया है। हिन्दू-धर्म की जो वैष्णव-शाखा है, उसने भगवान महावीर के अनेक उपदेशो को अपने भीतर भली भाँति पचा लिया है तथा वैष्णव और जैन में भेद करना आसान काम नही है। आधुनिक काल मे महात्मा गाँधी हिन्दुत्व के वैष्णव-भाव के सबसे बडे प्रतिनिधि हुए, लेकिन, उनमे प्रतिनिधि-जैन के भी सभी लक्षण मौजूद थे। अनशन और उपवास पर प्रेम, अहिंसा पर प्रगाढ भक्ति, कदम-कदम पर भोग की सामग्रियो से बचने का भाव और उनका समझौतावादी दृष्टिकोण (स्याद्वाद), ये सब के सब जैन-धर्म की ही शिक्षाएँ हैं। हिन्दुत्व और जैन-धर्म आपस मे घुल-मिल

कर अब इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नही कि "अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह", ये जैन धर्म के उपदेश थे, वैदिक-धर्म के नही। मगर, वह इस भेद को जाने और माने भी क्यो ? जैन-धर्म तो वैदिक-धर्म का ही एक रूप था जो परम्परा से कुछ अलग होकर धर्म का एक नया प्रयोग कर रहा था। प्रयोग पूरा हो गया, हिन्दुत्व ने उसके नतीजो को कबूल कर लिया और अब वह हिन्दुत्व भी है और जैन-मत भी।

जैन-धर्म का (और बौद्ध-धर्म का भी) हिन्दू-धर्म पर क्या प्रभाव पडा, इसका उत्तर अगर हम एक शब्द मे देना चाहे तो वह शब्द 'अहिंसा' है और यह अहिंसा शारीरिक ही नही, बौद्धिक भी रही है। शैव और वैष्णव धर्मों का उत्थान जैन और बौद्ध धर्मों के बाद हुआ। शायद, यही कारण है कि इन दोनो मतो (विशेषत, वैष्णव मत) मे अहिंसा का ऊँचा स्थान है। दुर्गा के सामने कूष्माण्ड की बलि चढाने की प्रथा जैन और बौद्ध मतो के अहिंसावाद से ही निकली होगी। यद्यपि, वेद मे भी एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ का सार पहले मनुष्य मे था, फिर वह अश्व में चला गया, फिर गौ में, फिर भेंड में और तब अजा में। जब अजा की बलि दी जाने लगी, तब यह सार पृथ्वी मे समा गया जिससे यव और तण्डुल उत्पन्न होते है। यव और तण्डुल का पुरोडाश (रोटी या पीठी) भी यज्ञ की पवित्र बलि है। इस पर से पडितो ने यह अनुमान लगाया है कि हिंसा की भयकरता का अनुभव वैदिक ऋषियो को भी होने लगा था। इसीलिए, उन्होंने कल्पना के इस घुमाव के द्वारा जनता के सामने यह बात रखी कि पशुओ के बदले यव और तण्डुल की भी बलि दी जा सकती है। वनो और, कही-कही, ग्रामो मे बसनेवाली जनता आज भी धर्म-कर्म मे, पूर्ण रूप से, अहिंसक नही हो पायी है। कई जातियो के लोग अब भी पशु-बलि मे देवताओ को प्रसन्न करने में विश्वास करते है। किन्तु, जैसे-जैसे उनमें शिक्षा का प्रसार बढता है, वे पशु-बलि की क्रूर प्रथा को छोडते जाते हैं।

आज जैन-मतावलम्बियो मे अधिक सख्या उन्ही की है, जो व्यापारी है। यह भी जैन-धर्म के अहिंसावाद का ही परिणाम है। जैन साधु इस चिन्ता मे बहुत अधिक पीडित रहते थे कि कही उनके हाथो किसी जीव का नाश नहीं हो जाय। मगर, कृषि में तो खेत जोतने से जीव-हिंसा होती ही है। इसी हिंसा से घबरा कर जैनियो में कृषि को छोड कर व्यापार पर जीने की प्रथा चल पडी।

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैन मत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया। मगर, यह नही कहा जा सकता कि स्याद्वाद के बीज वैदिक-धर्म मे नही थे। उपनिषदो मे ही ब्रह्म कहीं साकार, कही निराकार और कही दोनो माना गया है। ऋषियो की वाणी में हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते है और जब वे किसी मत का खडन करते है, तब भी, उनके तर्क अहिंसा से भीगे होते है, उनमे वह निर्ममता नही होती, जो आज के हठी विचारो का लक्षण है।

दक्षिण मे जैन-धर्म का जो प्रचार हुआ, उससे भारत की एकता मे और भी वृद्धि हुई। जैन मुनियो और जैन साहित्य के साथ सस्कृत के बहुत-से शब्द दक्षिण पहुँचे और वे मलयालम, तेलुगु और कन्नड भाषाओ मे मिल गये। जैनों ने दक्षिण मे बहुत-सी पाठशालाएँ भी खोली थी। आज भी कन्नड-इलाके मे बच्चो को अक्षरारभ कराते समय "ॐ नम. सिद्धम्", यह पहला वाक्य पढाया जाता है, जो जैनो के नमस्कार का वाक्य है। वैष्णवधर्म की तैयारी दक्षिण मे हुई थी और दक्षिण से ही वह उत्तरवालो को मिला, जिसके प्रमाण रामानुज, मध्व, निम्वार्क और वल्लभाचार्य है जो, सब-के-सब, दक्षिण मे ही जनमे थे। रामानन्द, यद्यपि, प्रयाग के कान्यकुब्ज-परिवार मे जनमे थे, किन्तु, रामानुज की परपरा के समर्थ वाहक होने के कारण हम उन्हे भी दक्षिण की आध्यात्मिक सतान मान सकते है। खोज करने पर, शायद, यह बात भी मालूम हो सकती है कि वैष्णव-धर्म के विकास मे जैन-मत का भी योगदान था। गुजरात की जनता पर जैन-शिक्षा (अहिंसा और सादगी) का आज भी अच्छा प्रभाव है तथा यह भी कोई आकस्मिक बात नही है कि अहिंसा, उपवास और सरलता के उतने प्रबल समर्थक गाँधीजी गुजरात मे ही जनमे।

कहते है, विन्ध्य से उत्तर उन जैन मुनियो की प्रधानता थी जो श्वेताम्बर थे तथा विन्ध्य से दक्षिण, तमिल और कन्नड देशो मे उनकी प्रधानता हुई जो दिगम्बर थे। स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनियो का आदर वे ही करते होगे जिनमे धर्म के प्रति विशेष अनुराग रहा होगा। इस तरह से विचार करने पर यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि प्राचीन काल मे जैन-मत का प्रधान गढ दक्षिण भारत ही रहा होगा। ईसवी सन् के आरभ मे, तमिल-साहित्य का जो व्यापक विकास हुआ, उसके पीछे जैन मुनियो का भी हाथ था, ऐसा इतिहासकारो का विचार है। तमिल ग्रथ, 'कुरल' के पाँच-छह भाग जैनो के रचे हुए है, यह बात कई विद्वान स्वीकार करते है। इसी प्रकार, कन्नड़ का भी आरम्भिक साहित्य जैनो का रचा हुआ है।

इस देश की भाषागत उन्नति मे जैन मुनि सहायक रहे है। ब्राह्मण अपने धर्म-ग्रथ सस्कृत मे और बौद्ध पालि मे लिखते थे, किन्तु,जैन मुनियो ने प्राकृत के अनेक रूपो का उपयोग किया और प्रत्येक काल एव प्रत्येक क्षेत्र मे जब जो भाषा चालू थी, जैनो ने उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया। इस प्रकार, प्राकृत के अनेक रूपो की उन्होने सेवा की। महावीर ने अर्ध-मागधी को इसलिए चुना था कि मागधी और शौरसेनी, दोनो भाषाओ के लोग उनका उपदेश समझ सकें। बाद को, ये उपदेश लिख भी लिये गये और उन्ही के लेखन मे हम अर्ध-मागधी भाषा का नमूना आज भी पाते है। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ के जन्म लेने के पूर्व, इन प्रान्तो मे जो भाषा प्रचलित थी, उसमे जैनो का विशाल साहित्य है जिसे अपभ्रश-साहित्य कहते है। भारत की भाषाओ मे एक ओर तो प्राचीन भाषाएँ, सस्कृत और प्राकृत है तथा दूसरी ओर, आज की देश-भाषाएँ। अपभ्रश भाषा इन दोनो भाषा-समूहो के बीच की कडी है। इसलिए, भारत के भाषा-विषयक

अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश का बड़ा महत्त्व है। जैन विद्वानो ने सस्कृत की भी काफी सेवा की। सस्कृत मे भी जैनो के लिखे अनेक ग्रथ है, जिनमें से कुछ तो काव्य और वर्णन है तथा कुछ दर्शन के सबध मे। व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोष और गणित पर भी सस्कृत में जैनाचार्यो के लिखे ग्रथ मिलते है।

मदिरो और मूर्त्तियो का निर्माण भी जैन सप्रदाय ने खूब किया। जैसे बौद्ध अपने महात्माओ के स्तूप बनवाते थे, वैसे ही, बहुत-से स्तूप जैनो के भी है। मथुरा में पाये जाने वाले जैन स्तूप सबसे पुराने है। बुन्देलखण्ड मे ग्यारहवी और बारहवी सदियो की जैन मूर्त्तियाँ ढेर-की-ढेर मिलती है। मैसूर के श्रमण बेलगोला और करकल नामक स्थानो में गोमतेश्वर या बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ है। ग्वालियर के पास चट्टानो मे जैन मूर्त्तिकारी के जो नमूने है, वे पन्द्रहवी सदी के है। जैनो ने पर्वत काटकर कन्दरा-मदिर भी बनवाये थे, जिनके ई०पू० द्वितीय शती के नमूने उडीसा की हाथी-गुम्फ-कन्दरा में मिलते है। बिहार में पार्श्वनाथ, पावापुरी और राजगिर में तथा काठियावाड में गिरनार और पालिगान में भी जैनो के मदिर और तीर्थस्थान है।

प्रकरण ३

बौद्ध धर्म

पिछले प्रकरण के विवरण से यह आभास मिल जाना चाहिए कि बुद्धदेव का जन्म और उनके द्वारा चलाये गये धर्म का उत्थान कोई आकस्मिक घटना नही थी। असल मे, बौद्ध धर्म उस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम था जो कर्मकाड, हिंसायुक्त यज्ञ के आडम्बर और पुरोहितवाद के विरुद्ध पहले से ही बहती आ रही थी और जिसकी आवाज हम उपनिषदो और गीता मे भी सुनते हैं। वेद और उपनिषद पढने का अधिकार शूद्रों को नही दिया गया था।[1] न उन्हे यही अधिकार था कि द्विजो की तरह वे भी यज्ञ करके लोक और परलोक मे सुख भोगने की योग्यता प्राप्त करे। उस समय का समाज, सचमुच ही, बौद्धिक सकट का सामना कर रहा था। जन-साधारण की कठिनाई यह थी कि यज्ञ को छोडकर उसके आगे धर्म का कोई और मार्ग नही था। किन्तु, समाज के, प्राय, सभी चिन्तक यज्ञ के खिलाफ होते जा रहे थे और साधारण गृहस्थ को भी यह भान हो चला था कि यज्ञों के आलोचक झूठ नही कहते है। दूसरी ओर, उपनिषदो की चोटी से जो ज्ञान आ रहा था, उस तक साधारण मनुष्य की पहुँच नही थी। देश में विभिन्न मत-मतान्तरो के जो झकोरे चल रहे थे, वे भी उसे बेचैन किये हुए थे। ऐसी हालत में जनता कोई ऐसा धर्म चाह रही थी जो सुगम और सुबोध हो, जिसमे पशु-बलि की क्रूरता भी नही हो और व्यर्थ का आडम्बर भी नही, जो मनुष्य को अतिभोग से भी दूर रखे और तपस्या तथा यती-वृत्ति की कठोरता से भी ; जो मनुष्य के ध्यान को धर्म की ओर तो अवश्य ले जाय, किन्तु बीसो प्रकार के ऊहापोह मे उसे उलझा नही डाले। असल मे, जनता कोई व्यावहारिक धर्म चाह रही थी और बुद्धदेव ने वही धर्म उसे दिया भी। वे वैदिक-धर्म से दूर नही गये, उन्होने वैदिक-धर्म के मूल पर प्रहार नही किया, बल्कि, उनकी चोटो के निशान वैदिक-धर्म की कुरीतियाँ और कमजोरियाँ थी। इसीलिए, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नही, बल्कि, हिन्दुत्व का ही सशोधित रूप है। असल मे, अपनी कुरीतियो से लडने के लिए हिन्दुत्व ने ही बौद्ध धर्म का रूप लिया था जैसा कि वह प्रत्येक सकट काल मे लेता रहा है, और जिन आचार्यों ने बुद्धदेव की गिनती हिन्दू-धर्म के दशावतार में की, उनका भी यही भाव रहा होगा कि बुद्ध पराये नही, अपने हैं और 'धर्म-सस्थापनार्थ' विष्णु जैसे राम और कृष्ण बनकर आये थे, वैसे

१. "शूद्र चलता-फिरता श्मशान है। उसके इतने समीप अध्ययन न करे कि उसे सुनायी दे। यदि वह जान-बूझ कर श्रुति सुने तो लाह या शीशा गला कर उसके कान मे डालना चाहिए।" (कात्या० श्रौ० तथा आप० श्रौ०)

ही, पशु-हिंसा को रोकने के लिए, इस बार, वे बुद्ध बनकर आये है।[1] जहाँ तक हमारा अनुमान है, तथागत का भी अपने बारे में यही ख्याल था। वे प्रचलित धर्म के भंजक नहीं, सुधारक थे। वे स्वय बौद्ध नही, हिन्दू जनमे थे।

बौद्ध धर्म और आचार

बुद्धदेव ने अपने नये धर्म की घोपणा सस्कृत को छोड कर जनता की बोली में की और दार्शनिक जजाल से दूर रहते हुए उन्होंने, सक्षेप में, लोगो को यह बतलाया कि मनुष्य दु खी है, दु ख अकारण नही है, इस दु ख का निरोध सभव है और इस निरोध का मार्ग भी है। ये ही बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य हैं जिनकी व्याख्या निम्नलिखित रूप से की जाती है —

१ दु.ख आर्य सत्य है। जन्म भी दु ख है, जरा भी दु ख है, व्याधि भी दु.ख है, मरण भी दु ख है, अप्रिय लोगो से मिलना भी दु ख है, प्रिय लोगो से बिछुडना भी दु ख है और इच्छा करने पर किसी चीज का नही मिलना भी दु ख है।

२ दु.ख-समुदय आर्य सत्य है। अर्थात् मनुष्य को जो भी दु ख होते है, वे किसी न किसी कारण को लेकर। यह कारण सदैव तृष्णा का कोई-न-कोई रूप होता है, जैसे जन्म लेने की तृष्णा, खुश होने की तृष्णा, सुख भोगने की तृष्णा। जब-जब तृष्णा की पूर्त्ति में बाधा पडती है, तब-तब मनुष्य दु खी होता है। असल में, तृष्णा (किसी प्रकार की इच्छा) और दु ख मे कारण-कार्य का सबध है।

३. दु.ख-निरोध आर्य सत्य है। अर्थात् दु ख के दूर करने का उपाय उसके कारण को दूर करना है। तृष्णा का सर्वथा त्याग, वासना में लीन नही होने की योग्यता और जिन-जिन कारणो से मनुष्यो को दु ख होते है, उन-उन कारणो से मुक्त हो जाने का भाव, यही दु ख-निरोध है।

४ दु.ख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद आर्य सत्य है। इसका अर्थ यह है कि दु खो से छूटने का मार्ग भी है। इस उपदेश के अन्दर उन आठ प्रकार के आचरणो की गिनती है, जिनका पालन करके मनुष्य दु खो के कारणो का नाश कर सकता है। ये आष्टांगिक मार्ग इस प्रकार हैं —

१ सम्यक् दृष्टि। यह दृष्टि रखना कि जीवन मे दु ख है, दु ख अकारण नही है, दु ख दूर किये जा सकते है तथा दु खो के दूर करने के उपाय भी हैं। अर्थात् बुद्धदेव ने जो चार आर्य सत्य कहे है, उनमे अटल विश्वास रखना। (बुद्ध की सम्यक् दृष्टि, महावीर का सम्यक् दर्शन और वेदान्त का श्रद्धा-भाव यानी गुरु या धर्मग्रथ जो उपदेश करें, उनकी सत्यता में विश्वास, ये आपस में मिलती-जुलती बातें है।)

---

१. निन्दसि वेदविधेरहह श्रुतिजातम्, सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्, केशव धृत बुद्ध-शरीर, जय जगदीश हरे! (गीत गोविन्द)

२. सम्यक् संकल्प। निष्कर्मता-सबधी सकल्प यानी जो कर्म करने योग्य नही है उन्हे नही करने का सकल्प ; अद्रोह-सबधी सकल्प, अहिंसा-सबधी सकल्प इत्यादि।

३. सम्यक् वचन। झूठ बोलने से बचना, चुगली करने से बचना, कडी बात कहने से बचना और बकवास मे भाग लेने से बचना।

४ सम्यक् कर्मान्त। प्राणि-हिंसा नही करना, जो दिया नही गया है उसे नही लेना, दुराचार से बचना और भोग के अतिचार से दूर रहना।

५ सम्यक् आजीव। गलत रोजगार से अगर रोजी चलती हो तो उसे छोड़कर ऐसे रोजगार मे लगना जिससे धर्म नही बिगडता हो।

६ सम्यक् व्यायाम। दुर्व्यसन और कुटेव को छोडने की कोशिश करना, मन मे पाप के भाव जगते हो तो उन्हे दबाने का प्रयत्न करना, मन मे जो अच्छे भाव पैदा हो उन्हे बढाने की चेष्टा करना ; सक्षेप मे, मानसिक दोषो को पराजित करके अपने व्यक्तित्व को निर्मल और पूर्ण बनाने के लिए प्रयास करते रहना।

७ सम्यक् स्मृति। शरीर मे बुढापे, रोग और पाप के बीज है, इसका ध्यान रखना और, क्षण-क्षण, भीतर से जागरूक रहकर वासना का दलन और ज्ञान का विकास करना।

८ सम्यक् समाधि। चार प्रकार के ध्यान जिनमे वितर्क और विचार से मन के भावो को सुलझाया जाता है, शाति और एकाग्रता से अपने-आपको जानने की कोशिश की जाती है और सुख तथा दु ख, दोनो से अलिप्त रहने की भावना का विकास किया जाता है।

सक्षेप मे, बुद्ध ने अपने अनुयायियो से यह कहा कि मेरे उपदेशो पर विश्वास रखो, बुद्धि से उन्हे समझने की कोशिश करो और हर एक उपदेश को अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करो , पवित्र-से-पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से ध्यान और समाधि करो।

यह धर्म का बडा ही व्यावहारिक रूप था, अतएव, वह उन सभी लोगो को सुगम, सुन्दर और सुबोध जान पडा जो कर्मकाड से ऊबे हुए थे, जो यज्ञो मे होनेवाली पशु-हिंसा से घृणा करते थे, उपनिषदो का ज्ञान जिनके पल्ले नही पड़ता था तथा जो इस बात को पसन्द नही करते थे कि धर्म-कर्म करने तथा वेद-उपनिषद पढने और सुनने का अधिकार केवल द्विजो को ही है। समाज में जो वर्ण ब्राह्मण से जितना ही दूर था, वह बौद्ध धर्म की ओर उतने ही वेग से खिचा। चूंकि बुद्धदेव जन्म से क्षत्रिय थे, इसलिए, ब्राह्मण पहले उनकी ओर जाने में झिझके। आरम्भ मे, वैश्यो और शूद्रो मे तथागत को अधिक अनुयायी मिले। शूद्रो को तो यह धर्म बहुत ही भला लगा, क्योकि बुद्धदेव जाति-प्रथा के खिलाफ थे। यह धर्म पहले मगध मे अधिक फैला, जिसका एक कारण तो यह था कि बुद्ध ने राजगिर मे तपस्या और गया मे ज्ञान प्राप्त किया था। लेकिन, उससे भी बड़ा कारण यह हुआ कि मगध मे आर्य-धर्म मे कभी भी वह कट्टरता नही आयी थी जो पश्चिमी

भारत में थी तथा जिस स्थिति का थोड़ा-सा विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। पूर्वी भारत के लोग, आरम्भ से ही, धर्म-कर्म के विषय मे कुछ ज्यादा उदार थे और नये विचारो का स्वागत वे अधिक स्वतन्त्रता से कर सकते थे। इसीलिए, वेद और ब्राह्मण-धर्म के खिलाफ उठे हुए इस नये आन्दोलन का उन्होने बढकर साथ दिया और मगध मे बौद्ध धर्म की बहुत अच्छी प्रतिष्ठा हो गयी। यह भी ध्यान देने की बात है कि बौद्ध धर्म को पहले-पहल राज्य का आश्रय भी मगध में ही मिला। बुद्ध के समय में राजगिर के राजा बिम्बिसार और बुद्ध के मरने के दो-सवा-दो सौ वर्ष के बाद, मगध-सम्राट् अशोक उनके धर्म में दीक्षित हुए। सच पूछिये तो बौद्ध धर्म का भारत से बाहर प्रचार करने का बहुत बडा श्रेय अशोक को ही है।

अव्याकृत विषय

बौद्ध धर्म, मुख्यत, आचार-धर्म है। बुद्ध जानते थे कि मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, सुख या दु:ख पाना, उसके कर्म और चरित्र पर निर्भर करता है। आदमी का ध्यान इस बात पर रहना चाहिए कि वह करता क्या है, इस बात पर नही कि वह जानता क्या है। करने और जानने मे, अर्थात् कर्म और ज्ञान में, बुद्धदेव ने कर्म को ही मुख्य माना। इसलिए, उन्होंने मनुष्य का ध्यान कभी भी उन विषयो की ओर जाने नही दिया, जो बुद्धि से समझे नही जा सकते और जिनके बारे में केवल अनुमान और अटकलबाजी से ही काम लेना पडता है।

ससार के बडे-बडे दार्शनिको और पडितो मे इस बात को लेकर भारी मतभेद है कि बौद्ध धर्म का दर्शन क्या है। "यह सृष्टि कहाँ से निकल पडी है? मनुष्य कहाँ से आया है और मरकर कहाँ जायेगा? आदमी मरने के बाद जीवित रहता है या नही? बुद्ध ने जिसे निर्वाण कहा है, वह क्या चीज है? निर्वाण के मानी मृत्यु और विनाश ही है या और कुछ?" ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिन पर विद्वानो मे घोर विवाद चलता है और अधिकाश विद्वान् इस विचार पर आकर अड जाते है कि, हो-न-हो, बुद्धदेव नास्तिक थे और वे आत्मा-परमात्मा, किसी को भी नही मानते थे। कुछ दूसरे लोग है, जिनका कहना है कि इस जीवन के बाद क्या है, इसे बुद्ध नही जानते थे। एक तीसरे प्रकार के लोग वे हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव सब कुछ जानते थे, मगर, गोतीत विषयो पर उन्होन इसलिए चुप्पी साध ली कि इनके कथन या जानकारी को वे जरूरी नही समझते थे।

मज्झिमनिकाय के चूल-मालुक्य-सुत्तन्त मे लिखा है कि मालुक्यपुत्त नामक एक भक्त ने तथागत से पूछा कि "जगत् नित्य है या अनित्य? जीव और शरीर एक है या दो? मरने के बाद बुद्ध रहते हैं या नही?" प्रश्न के साथ उस भक्त ने यह भी कहा कि "भगवान अगर इन प्रश्नो के उत्तर नही देंगे तो मैं ब्रह्मचर्य-वास नही करूँगा (अर्थात् सघ मे रहकर धर्म की साधना नही करूँगा)।"

बुद्धदेव ने कहा—"मालुक्यपुत्त ! मैंने कब तुमसे कहा था कि मैं तुम्हें ऐसे प्रश्नों के उत्तर दूँगा ? तुम्हारा यह प्रश्न तो उस व्यक्ति के प्रश्नो के समान बेकार है जिसके कलेजे मे जहर-बुझा बाण घुस गया हो, जिसके हित-मित्र बाण निकालने के लिए सुयोग्य वैद्य को ले आये हो, मगर, जो यह कह रहा हो कि मैं बाण तब तक नही निकलवाऊँगा जब तक मुझे यह मालूम न हो जाय कि बाण चलानेवाला व्यक्ति गोरा है या काला, लबा है या नाटा, उसके नाम और गोत्र क्या हैं, उसके धनुप की डोरी मूँज की है या तांत की तथा उसके बाणो के पर बाज के हैं या गिद्ध के। मालुक्यपुत्त ! चाहे लोक नित्य है, यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अनित्य है, यह दृष्टि रहे, दोनो ही हालतो में जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक, रोना-काँदना, दु ख-दौर्मनस्य और परेशानी है ही, जिनके इसी जन्म में विघात (शमन के उपाय) को मैं बतलाता हूँ।"

जिन प्रश्नो का समाधान बुद्धि से नही हो सकता और जिनके उत्तर पाने और नही पाने से आदमी का कुछ बनता-बिगडता नही, वैसे सभी प्रश्नो को तथागत ने अव्याकृत-कोटि मे डाल दिया था और उनके पूछने की मनाही कर दी थी। दीर्घनिकाय के पोट्ठपाद-सुत्त मे वे कहते हैं—"पोट्ठपाद ! लोक नित्य है, यही सच है और दूसरा मत निरर्थक है, इसे मैंने अव्याकृत (कथन का अविषय) कहा है।" इसी प्रकार, "लोक अनित्य है, लोक अन्तवान् है, जीव और शरीर एक है, जीव और शरीर अलग-अलग है, तथागत मरने के बाद होते हैं, तथागत मरने के बाद होते भी हैं और नही भी होते हैं", इन सारे प्रश्नो को बुद्धदेव ने अव्याकृत कहकर उनका पूछा जाना बन्द कर दिया था।[1]

पोट्ठपाद के यह पूछने पर कि "किस लिए भन्ते ! भगवान ने इसे अव्याकृत कहा है ?" तथागत ने बतलाया कि इसलिए कि "ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद (वैराग्य) के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए।" अर्थात्, इन प्रश्नो के विवेचन मे पडने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त होनेवाला नही है।

हमारा अनुमान यह है कि अगर किसी ने बुद्धदेव से यह पूछा होता कि "ईश्वर है या नहीं", तो वे कहते कि अगर ईश्वर है, तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा ; अगर ईश्वर नही है, तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा। तब ईश्वर की बात कहाँ से आती है ? बात तो सोचने लायक यह है कि अच्छे और बुरे कर्म क्या हैं ?

जिन प्रश्नो को ससार के सभी धर्म मौलिक और महान् समझते आये हैं, तथागत ने उन्हें इस योग्य भी नही समझा कि उनके उत्तर दिये जायँ अथवा उनको ले कर थोड़ी

---

१. चीन के धार्मिक नेता कनफ्यूसियस ने भी अपने शिष्यो को अदृश्य वास्तविकता के सबध मे प्रश्न या विचार करने से रोक दिया था।

देर भी माथापच्ची की जाय। उन्होने ईश्वर का नाम नही लिया, न किसी देवता की भक्ति करने का उपदेश दिया, क्योकि अदृश्य देवता को अपना भाग्य-विधाता मान लेने से भी आदमी में शिथिलता आ सकती है। वह इस उम्मीद मे अकर्म कर सकता है कि इससे जो पाप होगा, वह देवता से माफ करवा लूँगा। उन्होंने प्रार्थना की भी प्रथा नही चलायी, क्योंकि जब कोई देवता ही मानने योग्य नही रहा, तब फिर प्रार्थना किसकी की जाय? और प्रार्थना में भी कमजोरी की एक खिड़की तो है ही। जो मनुष्य प्रार्थना करता है, वह अगर अकर्मण्य और असावधान हुआ, तो देवता से वह ऐसी चीज भी माँग सकता है, जो देवता के वरदान से नही, मनुष्य के उद्यम से पैदा होती है।

वैदिक धर्म से समानता

बुद्धदेव ने वैदिक धर्म के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को, ज्यों-का-त्यों, स्वीकार कर लिया। उनका भी निश्चित मत है कि जीवन दु खी है और मनुष्य को यह दु ख भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पडता है। मनुष्य का जन्म इसलिए होता है कि उसके भीतर वासनाएँ शेप है। इन वासनाओ के कारण मनुष्य नाना कर्मो मे प्रवृत्त होता है और, अपने कर्मो के अनुसार ही, मरकर उत्तम या अधम योनि में जन्म लेता है और फिर उन जन्मो मे वह जैसा काम करता है, जैसा सस्कार अर्जित करता है, वे सस्कार उसे नया जन्म ग्रहण करने को विवश करते हैं। इस प्रकार, जन्म-मरण का प्रवाह लगातार चलता रहता है। इस जजाल से निकलने का मार्ग भी बुद्ध ने वही रखा जो वैदिक धर्म मे प्रचलित था, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष, जिसे बुद्धदेव निर्वाण कहते हैं। फर्क यह है कि वैदिक जहाँ आत्मा को निर्मल, मुक्त, ब्रह्मस्वरूप एव सभी अवस्थाओ मे एकरस रहनेवाला और कूटस्थ मानते हैं, वहाँ बुद्धदेव का विचार यह है कि आत्मा कूटस्थ नही होती, वह भी शरीर के साथ बदलती रहती है, वह भी बूढी, जवान, मलिन और निर्मल होती रहती है। कारण, शायद, यह है कि आत्मा को अगर पहले से ही निर्मल और कूटस्थ माना जाय, तो फिर मनुष्य को जरूरत ही क्या रह जाती है कि वह ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या से निर्मलता प्राप्त करे? निर्मल तो वह पहले से ही है। इसीलिए, बुद्धदेव ने माना कि आत्मा मे वे सभी विकार हो सकते है जो शरीर में होते हैं। मनुष्य निर्मल है नही, निर्मल उसे बनना है।

वैदिको के समान ही बुद्ध भी परलोक और देवयोनि को मानते है, लेकिन, यहाँ भी एक बात को लेकर फर्क है। वे और उनके शिष्य, जब-तब, यह तो कहते हैं कि देवयोनि मानव-योनि से पवित्र है, किन्तु, देवताओ को वे पूर्ण नही मानते, बल्कि, उनका यह विचार है कि अपने उद्धार के लिए देवताओ को भी मनुष्यो के समान सतत तपस्या और उद्योग करना चाहिए। बुद्ध के शिष्य बुद्ध को देवताओ का भी त्राता मानते है। देवता मनुष्यो के ही समान सीमित और अपूर्ण है, यह भाव बुद्ध के हृदय मे, आरम्भ से ही,

समाया हुआ था। जब वे सन्यास के लिए घर छोड रहे थे, तब अपने कथक नामक घोड़े से उन्होने कहा था, "तात ! तू एक रात आज मुझे तार दे, क्योंकि मैं देवताओं-समेत मनुष्यो को तारनेवाला हूँ।"

बुद्ध के देवता-विषयक इस भाव का, बाद के, हिन्दुत्व पर काफी प्रभाव पड़ा। तुलसी-कृत रामायण मे देवता या तो बाजे बजाते है या फूलो की वृष्टि करते हैं। ऐसे सारे भाव, अप्रत्यक्ष रूप से, बुद्ध के साहस की देन हैं।

बुद्धदेव ने ज्ञान और भक्ति, इन दोनो को छोड़कर केवल कर्म को पकडा और जीवन भर वे उसीका उपदेश देते रहे। कर्म है भी बहुत बडी चीज। ज्ञान-मार्ग एक तो कठिन मार्ग है, मन के ऊहापोह से भरा मार्ग है। उस पर भी, अगर ज्ञानी के कर्म वैसे ही नही रहे जैसे उसके विश्वास हैं, तो हम कहने लगते है कि यह ज्ञानी पतित हो गया, क्योंकि वह जो कहता है, सो करता नही है। यहाँ भी हमे कर्म का ही अभाव अखरने लगता है। इसी प्रकार, जब भक्ति-मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य किसी प्रकार के लोभ मे आ कर डगमगाने लगता है, तब भी हम कह उठते हैं कि देखो, यह ईश्वर का भक्त बनता है, लेकिन कर्म इसके अधम कोटि के है। इसलिए, मानना पड़ेगा कि बुद्ध ने कर्म को बहुत सोच-समझ कर अपना धर्म-मार्ग बनाया था। गाँधीजी और बुद्धदेव में जो समानता है, वह सिर्फ इस कारण नही कि दोनो ही सुधारक अहिसा और मैत्री के पुजारी थे, बल्कि, मुख्यत, इसलिए कि दोनो का विश्वास ज्ञान की अपेक्षा कर्म मे अधिक था।

जब से ससार में वैज्ञानिकता का प्रवेश हुआ और आज वाली नयी सभ्यता फैलने लगी, तब से बौद्ध मत पढे-लिखे लोगो के बीच काफी लोकप्रिय हो उठा है। इसका कुछ कारण तो यह है कि पिछले युगो में धर्म के साथ मन्दिरो, मस्जिदो, गिरजाघरो और मठो मे जो लोभ और दुराचार देखे गये, उनसे लोग धर्म के प्रति उदासीन हो गये और अब वे धर्म में केवल आचार देखना चाहते हैं। लेकिन, उससे भी प्रबल कारण यह है कि आज का मनुष्य, कभी तो सोच-समझ कर और कभी बिना सोचे-समझे ही दिन-रात धर्म की आलोचना करने मे सुख पाता है और बुद्धि से वह जो कुछ नही समझ पाता, उसे मानने को वह तैयार नही है। विज्ञान ने मनुष्य में जो जिज्ञासा जगा दी है, उससे प्रेरित होकर वह हर चीज पर शका की उँगली उठा रहा है। इस प्रकार, आज एक बार फिर वे प्रश्न जोरो से उठाये जा रहे है, जिन्हे बुद्धदेव ने अव्याकृत कहकर बन्द कर दिया था। बुद्धिवाद जिस युग को धर्म के विषय मे इस तरह शकालु बनाये हुए हो, उस युग में बुद्ध का विवेकपूर्ण धर्म लोकप्रियता प्राप्त करे, इसमे आश्चर्य की बात नही है।

क्या बुद्ध नास्तिक थे ?

जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया गया है, बुद्ध नास्तिक इसलिए माने गये कि उन्होने वेद की निन्दा की और वेद-निन्दक होते हुए भी हिन्दुओं ने उन्हें दशावतार मे

इसलिए गिन लिया कि उनका चरित्र सच्चे आस्तिक का चरित्र था तथा वे इस बात में निष्कपटता से विश्वास करते थे कि जीव का आवागमन होता है और इस आवागमन से छुटकारा पाकर जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु, दो बातें हैं, जिन्हें लेकर पश्चिम के विद्वानों ने यह दिखलाना चाहा है कि बुद्धदेव नास्तिक थे। पहली बात तो यह कि वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे और दूसरी यह कि उनके निर्वाण का अर्थ व्यक्ति का अन्तिम विनाश है। एशिया और भारत में भी कुछ ऐसे बौद्ध सन्त और विद्वान् हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह धर्म नास्तिक है, क्योंकि उसमें आत्मा नहीं, अनात्मा का सिद्धान्त माना जाता है।

असल में, आत्मा और निर्वाण भी 'अव्याकृत' के ही विषय माने जाने चाहिए, क्योंकि इनके संबंध में शंका-रहित ज्ञान बुद्धिवाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगर यह संभव होता तो पुनर्जन्म के विषय में हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध-धर्म से दुनिया के अन्य धर्मों का मतभेद नहीं होता। उपनिषदों ने आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, चेतन और नित्य माना है तथा उनका कहना है कि चूँकि कर्म के प्रभावों की धूल उसे चारों ओर से ढँके हुए है, इसलिए हमें आत्मा का सम्यक् परिचय नहीं प्राप्त होता। आत्मा के ऊपर से इस धूल को हटाने का मार्ग साधना है और साधक जब कर्म के प्रभावों से ऊपर उठ जाता है तथा संसार के किसी भी कार्य या रूप में उसकी आसक्ति नहीं रह जाती, तभी वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है।

जहाँ तक मोक्ष के सिद्धान्त का सवाल है, बुद्धदेव का उपनिषदों से कोई मतभेद नहीं दीखता। और मोक्ष के लिए जैसी साधना उपनिषदों ने निर्धारित की है, बहुत-कुछ वैसी ही साधना बुद्ध-मार्ग में भी है। किन्तु, आत्मा को लेकर बुद्ध और उपनिषत्कारों में जो भेद है, उसे हम इस प्रकार से रख सकते हैं कि जहाँ उपनिषद यह मानते हैं कि मोक्ष आत्मज्ञान से होता है, वहाँ बुद्धदेव का विचार यह है कि आत्मा का ज्ञान जीव के मोक्ष नहीं, बन्धन का कारण है, और वह इस प्रकार कि जब तक हम यह मानते चलेंगे कि आत्मा का अस्तित्व है, तब तक हम 'मैं और मेरा' के बन्धन से छूट नहीं सकते। अगर आत्मा है तो वह शरीर से भिन्न करके देखी नहीं जा सकती और उसे शरीर से एकाकार मानने पर हम शरीर के मोह में पड़े ही रहेंगे। कदाचित्, इसी तर्क से प्रेरित होकर उन्होंने अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद का सिद्धान्त निकाला, जिसके अनुसार आत्मा शरीर के ही समान नश्वर है। असल में, हमारे मन में स्मृतियों और संस्कारों का जो भी प्रभाव है, उसे ही बुद्धदेव आत्मा का पर्याय मानते हैं। अनेक जन्मों में हमने जो संस्कार अर्जित किये हैं, उन्हीं की गन्ध हमारी आत्मा है। अतएव, पुण्यात्मा की आत्मा पवित्र और पापी की आत्मा मलिन होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार, मनुष्य के शरीर में या उसके भीतर कोई भी शाश्वत तत्त्व नहीं है। यह शरीर कुछ आधिभौतिक अणुओं और कुछ आध्यात्मिक या मानसिक अणुओं (स्मृति, चेतना, मानसिक कार्य, सनसनाहट आदि)

के योग से बना हुआ है जो, सब-के-सब, नाशवान् हैं। इस पर यह शका की जाती है कि तब इस प्रकार के नश्वर मिश्रण मे वह कौन पदार्थ है जिसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है, जिसे एक जीवन मे किये गये कार्यो के फल को दूसरे जीवन में भोगना पड़ता है। आत्मा नश्वर है, इस उपदेश पर तथागत के समय में भी एक शिष्य को शका हुई थी और उसने पूछा था कि अगर आत्मा नश्वर है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है। इस प्रश्न का उत्तर तथागत ने यह कहकर दिया कि जब हम ताली बजाते हैं, तब दूर की कन्दरा मे प्रतिध्वनि होती है। तो क्या हम यह कहे कि हमारे करतल कन्दरा मे भी विद्यमान् हैं ? इसी प्रकार, आत्मा तो नष्ट हो जाती है, किन्तु, उसके सस्कार, प्रतिध्वनि के समान, पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं।

आत्मा और निर्वाण

जो हिन्दू पुनर्जन्म के सस्कार मे पला है, उसे तथागत की इस व्याख्या से तनिक भी आश्चर्य नही होता और वह यह समझ लेता है कि तथागत ने, अपनी सुविधा के अनुसार, एक खास तरह की भाषा का प्रयोग किया है। अन्यथा, आत्मा हिन्दुओं के यहाँ भी निराकार ही मानी जाती है और उसका एक शरीर से दूसरे शरीर तक गमन करना, असल में, हमारे सस्कारो की ही यात्रा के समान है। किन्तु, पश्चिम के अनेक विद्वान (पूसिन, हक्सले, फरकोहर, विल डुराण्ट, आदि) बुद्धदेव की इस व्याख्या को ग्रहण नही कर पाते और सीधे कह देते है कि बुद्ध ने आत्मा की सत्ता में विश्वास नही किया है, अथवा यह कि अनात्मा का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की सब से बडी कमजोरी है, क्योकि अगर आत्मा का अस्तित्व ही नही है तो फिर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने की कोई खास जरूरत नही रह जाती। डाक्टर फरकोहर ने लिखा है कि बुद्धदेव पुनर्जन्म को तो मानते थे, किन्तु, आत्मा के अस्तित्व मे उनका विश्वास नही था।

इसी प्रकार, बुद्ध की निर्वाण-विषयक कल्पना को लेकर भी पश्चिम के पडितो मे बडा विवाद है। उन्नीसवी सदी के बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् यह मान बैठे थे कि बुद्धदेव विनाशवादी है तथा जिसे उन्होने निर्वाण कहा है, वह मानव-सत्ता की समाप्ति के सिवा और कुछ नही है। निर्वाण को लेकर पश्चिम के विद्वान् इतना क्यो घबराये, इसका कारण यह है कि सभी धर्मो मे यह कहा गया है कि आदमी के मरने के बाद उसकी रूह कब्र में पडी रहती है और जब न्याय का दिन आता है, तब सभी रूहो को कब्रो से उठकर भगवान के दरबार में हाजिर होना पडता है और भगवान सबको उनके पाप-पुण्य के लेखा के अनुसार, स्वर्ग या नरक भेजते है। यह भी कि भगवान गुनाहो को माफ भी करते है, बशर्ते कि रूहो ने मानव-जीवन-काल मे भगवान की काफी भक्ति की हो। गुनाहो की माफी की बात मे लोग आशावाद की दलील देखते है, क्योकि बुरे-से-बुरे मनुष्य पर भी परमात्मा की कृपा हो सकती है। लेकिन, अगर यह मान लिया जाय कि निर्वाण का

अर्थ मनुष्य के जीवन का, सब प्रकार से, विनाश है तो इससे, सचमुच ही, मनुष्य के अन्तिम भाग्य के विषय में निराशा बढती है, यानी उसे मानना पडता है कि एक दिन उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

भारत में, सामान्यत, यही माना जाता है कि बौद्ध दर्शन का निर्वाण उपनिषदो मे वर्णित मोक्ष से भिन्न चीज नही है। उपनिषदो में वर्णित मोक्ष वह अवस्था है जिसमे आत्मा परमात्मा से एकाकार हो जाती है, ठीक वैसे ही, जैसे घट का व्योम घट के टूट जाने पर महाव्योम मे समा जाता है। बुद्धदेव निर्वाण का अभिप्राय समझाने के लिए अग्नि और दीपक की उपमा दिया करते थे। उनसे बार-बार यह पूछा जाता था कि निर्वाण के बाद तथागत किस रूप में रहते है। प्रथम तो इस प्रश्न को बुद्धदेव अव्याकृत कहकर टाल देते थे, मगर, एक-दो बार उन्होने कहा था कि "ईंधन के बिलकुल नि शेष हो जाने पर जैसे यह नही जाना जा सकता कि जो आग सामने प्रज्वलित थी, वह कहाँ चली गयी, उसी प्रकार, कर्म-सस्कारो के समाप्त हो जाने पर यह नही जाना जा सकता कि जीव किस अवस्था में कहाँ चला जाता है।"[1] जहाँ तक नश्वरता का प्रश्न है, बुद्धदेव ने बार-बार कहा है कि सन्त और महात्मा तथा स्वय तथागत भी नश्वर परमाणुओ मे बने हैं और जब वे मरते है, तब उनका कोई अश शेष नही रह जाता।

निर्वाण के विषय मे वैदिको, बौद्धो और जैनो के यहाँ जो कल्पनाएँ की गयी है, उनकी तुलना से ऐसा लगता है कि जैनो की कल्पना बौद्ध कल्पना से कुछ अधिक सुखप्रद है। जैन का मोक्ष जीव का, पूर्ण रूप से, निर्मल होकर परमात्मा की स्थिति को पहुँच जाना है। वहाँ से फिर उसे लौटना नही पडता, यद्यपि, परमात्मा की स्थिति में पहुँचने से यह अनुमान निकलता है कि जीव किसी ऊँचे और सुखपूर्ण धरातल पर कायम रहता है। किन्तु, नि शेष ईंधन की उपमा देकर बौद्ध दर्शन इस बात पर जोर डालता है कि निर्वाण का अर्थ जीव के अस्तित्व की सर्वविध समाप्ति है। उपनिषदो के जीव-ब्रह्म-मिलन में विरह के बाद सयोग का रूपक तो दीखता है, किन्तु, वह जैन की अपेक्षा बौद्ध निर्वाण के अधिक समीप है। यह भी सत्य है कि जैन कैवल्य की, उपनिषद मोक्ष की और बौद्ध निर्वाण की, एक समान, प्रशसा करते है। बौद्ध दर्शन भी मानता है कि निर्वाण की अवस्था अनिर्वचनीय सुख की अवस्था है, यद्यपि, सुख का अनुभव कौन करता

१ इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अश्वघोष ने बुद्धचरित में दीपक का जो दृष्टात दिया है वह इस प्रकार है —
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्ष।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
एव कृती निर्वृतिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
(अश्वघोष, बुद्धचरित)

है, अथवा कोई अनुभव करता भी है या नही, यह नही कहा जा सकता। मिलिन्द-प्रश्न मे एक प्रसग मे कहा गया है कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध इस अवस्था मे नही रहते कि वे शिष्यो और भक्तो की पुकार सुन सकें अथवा उनके द्वारा अर्पित पत्र-पुष्प को स्वीकार कर सकें। इसलिए, मरे हुए महात्माओ की पूजा की परिपाटी मौलिक बौद्ध मत के विरुद्ध है।

असल मे, हिन्दू-धर्म को समझे बिना बौद्ध मत के निर्वाण की कल्पना भी समझ मे नही आ सकती। जब बुद्ध का आविर्भाव हुआ, उसके पूर्व ही, इस देश मे यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि मोक्ष-प्राप्ति मनुष्य का उच्चतम ध्येय है और यह मोक्ष एक ऐसे शाश्वत व्यक्तित्व की उपलब्धि है, जिस मे फिर और जन्म लेने तथा मरने की सभावनाएँ शेष नही रह जाती। महावीर और बुद्ध, दोनो ही, उपनिषदो के इस अनुसधान के प्रभाव में थे और दोनो ने, अपनी-अपनी भाषा मे, वही बात कही है जो उपनिषदों मे कही जा रही थी।

कदाचित्, सच्ची बात यह है कि बुद्धदेव का निर्वाण विनाश की स्थिति नही होकर आत्मा के उसी विमल उल्लास की अवस्था है जिस पर वेदान्त की इतनी भक्ति है। हक्सल, फरकोहर और पूसिन यह जरूर मानते हैं कि निर्वाण विनाश (Annihilation) की स्थिति है, किन्तु, भारतीय विद्वानो का उनसे मतभेद है। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी का मत है कि "निर्वाण मृत्यु भी है और जीवन की पूर्णता भी। किन्तु, यह कोई ऐसी वस्तु नही है जिसे हम स्थान-विशेष या काल-विशेष मे देख सकें। बुद्धदेव ने निर्वाण के लिए जो साधन बताये है, वे निर्वाण तक जाने के सोपान नही हैं, बल्कि, उनसे सिर्फ वे बाधाएँ दूर होती है, जिनके कारण हमे निर्वाण का अनुभव नही हो पाता। यह बात वैसी ही है, जैसे अँधेरे मे चिराग के आ जाने से देखने की बाधा दूर हो जाती है।" डाक्टर राधाकृष्णन् का कहना है कि "निर्वाण विनाश का पर्याय है, इसका समर्थन हमें बौद्ध साहित्य मे नही मिलता। बौद्ध ग्रन्थ हमें जिस निर्वाण की अवस्था का वर्णन सुनाते हैं, वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नही है, बल्कि, यह वह अवस्था है जो नैतिक आचरणो की पूर्णता से प्राप्त होती है, जो पवित्र धार्मिक जीवन की साधना का परिणाम हैं। निर्वाण वासनाओ से छुटकारे का नाम है। निर्वाण वह उज्ज्वल शान्ति है जिसका कभी भंग नही होता।"

डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी का यह भी कहना है कि "सारे बौद्ध साहित्य मे कही भी यह उल्लेख नही मिलता कि आत्मा नही है अथवा जो शरीर रोगी, वृद्ध या मृत बन जाता है, उससे अलग मनुष्य में कोई शक्ति नही होती। बौद्ध धर्म के अनात्म शब्द से यह निष्कर्ष निकालना कि आत्मा नही है, ठीक वैसा ही है जैसा यह कहना कि चूँकि ईश्वर के विषय मे कोई भी सच्ची बात नही कही जा सकती, इसलिए, ईश्वर है ही नही।"

राहुलजी ने इस विषय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बुद्ध के समय में आत्मा के स्वरूप के विषय मे दो मत प्रचलित थे। एक तो यह कि आत्मा शरीर मे बसनेवाली, पर, उससे भिन्न एक शक्ति है जिसके रहने से शरीर जीवित रहता है और जिसके चले जाने से वह शव हो जाता है। दूसरा मत यह था कि आत्मा शरीर से भिन्न कोई कूटस्थ वस्तु नही है। शरीर मे ही रसो के योग से आत्मा नामक शक्ति पैदा होती है जो शरीर को जीवित रखती है। रसो में कमी-बेशी होने से इस शक्ति का लोप हो जाता है जिससे शरीर जीवित नही रह पाता। बुद्धदेव ने, अन्यत्र की भाँति, यहाँ भी बीच की राह पकडी और यह कहा कि आत्मा न तो सनातन और कूटस्थ है, न वह शरीर के रसो पर ही बिलकुल अवलम्बित रहती है और न वह शरीर से बिलकुल भिन्न ही है। वह, असल में, स्कन्धो [भूत (Matter) और मन (Mind)] के योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्य भूतो की भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होती रहती है। हमारे सामने जो नदी बहती है, उसका जल हमें बराबर एक-सा दिखलायी पड़ता है, किन्तु, सत्य यह है कि जल बराबर आगे निकलता जा रहा है और उसकी जगह पर नया जल आता जाता है। नदी के प्रवाह के समान ही, हमारे भीतर आत्मा या चित्त का भी प्रवाह है जिसके जारी रहने से शरीर सजीव कहा जाता है। लेकिन, शरीर के विनाश के साथ ही, चित्त-प्रवाह का विनाश नही होता। वह संस्कारो का बोझ लिये हुए एक नये शरीर में प्रवेश करता है। एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने के बीचवाले अवकाश मे यह चित्त-प्रवाह कहाँ रहता है अथवा उसका नया जन्म कैसे होता है, इस विषय मे बुद्धदेव मौन थे। बुद्ध के इसी मौन से लाभ उठाकर उनके दो सौ वर्ष बाद के पंडितो ने आत्मा और निर्वाण की व्याख्या में ऐसी-ऐसी बातें कह दी जिनका वेदान्त से विरोध हो गया।

बुद्ध मध्यम मार्ग के व्याख्याता थे। आत्मा के संबंध मे भी हम उनके इस दृष्टि-कोण की झलक पाते हैं। उनके समय में अजित केस कंबल का सम्प्रदाय उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, जो भौतिकवादियो की तरह यह विश्वास करता था कि आत्मा का अस्तित्व है ही नही। यह एक छोर था। दूसरे छोर पर वे वैदिक ब्राह्मण थे जो आत्मा को शाश्वत मानते थे। बुद्धदेव ने इन दोनो को अतिवादी समझा। अतएव, उन्होंने न तो भौतिकवादियो के उच्छेदवाद को स्वीकार किया, न उपनिषद्वादियो के शाश्वतवाद को। असल मे, आत्मा के विषय मे उनका मत शाश्वतोच्छेदवाद का पर्याय था।

हिन्दुत्व का बौद्धीकरण

बौद्ध मत पर लिखते हुए पूसिन (Dela valle Poussin) ने एक विलक्षण बात कही है, जिससे हिन्दुत्व और बौद्ध मत का संबंध बहुत खुलकर सामने आता है। उन्होंने कहा है कि भारत के लिए बौद्ध मत कोई नवीन धर्म नही, प्रत्युत, हिन्दुत्व का ही बौद्धीकरण मात्र था। और यह है भी ठीक, क्योकि बौद्ध भावनाएँ, बौद्ध संस्थाएँ और बौद्ध विचार,

सचमुच ही, हिन्दू-भावनाओ, हिन्दू-सस्थाओ और हिन्दू-विचारो के बौद्धीकृत रूप मालूम होते है। आवागमन और पुनर्जन्म तथा कर्मफलवाद के वे ही सिद्धान्त जो हिन्दुत्व मे थे, नयी शब्दावली मे बौद्ध धर्म में भी मिलते है। बल्कि, हिन्दुओ के यहाँ ईश्वर की जो कल्पना त्राता या रक्षक के रूप मे चल रही थी, उसने भी बौद्ध मत की महायान-शाखा में अपने लिए स्थान बना लिया। महायान-शाखा में भक्ति का जो पुट है, उससे भी यह अनुमान निकलता है कि हिन्दुत्व का विकास जिन-जिन दिशाओ मे हो रहा था, उन-उन दिशाओ मे बौद्ध धर्म के भी कदम पड रहे थे और वह समकालीन हिन्दुत्व के प्रत्येक रूप का एक बौद्ध रूप प्रस्तुत करता जा रहा था। बौद्ध मत का बुद्धिवाद (यज्ञ, अनुष्ठान, अन्धविश्वास आदि का विरोध), उसकी नास्तिकता, उसकी ऊँची नैतिकता, उसका निराशावाद, उसकी जात-पाँच-विरोधी भावना, उसकी विनम्रता और मानवीयता, इन अनेक गुणो मे से कोई भी गुण ऐसा नही है जो सर्वथा बौद्ध मत का आविष्कार कहा जा सके। इन सबका कुछ-न-कुछ रूप हिन्दुत्व मे पहले भी विकसित हो चुका था। बुद्धदेव ने आकर इन गुणो पर, खास तौर से, जोर डाला तथा हिन्दुत्व के उस काल मे प्रमुखता से प्रचलित रूप के विरुद्ध इन मूल्यो का मान बढा दिया। अतएव, वे हिन्दुत्व की परम्परा के शोधक थे, उसके सहारक नही।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि जो लोग मुण्डी बन जाते थे, बौद्ध धर्म का उजागर रूप उन्ही मे दिखायी पडता था। पहले तो गृहस्थ बौद्ध बने ही नही, क्योकि जनता का यह विश्वास था कि बौद्ध धर्म, प्रधानत , उनके लिए है जो घर-बार छोडकर सन्यास ले सकते है। किन्तु, पीछे जब गृहस्थ भी दीक्षा लेने लगे, तब भी बाकी बातो मे वे हिन्दू ही रहे; क्योकि विवाह और श्राद्ध, उपनयन और चूडाकरण-सस्कार, इन सब के बारे मे बौद्ध मत ने गृहस्थो के लिए कोई नयी व्यवस्था नही दी थी।

आगे चलकर बौद्ध धर्म से ब्राह्मणो का जो द्वेष आरम्भ हुआ, वह इस कारण नही कि बौद्ध मत कोई नवीन दर्शन लेकर आया था जो हिन्दुओ के दर्शन के विरुद्ध पडता था, बल्कि, इस कारण कि वह जाति-प्रथा को तोडकर मनुष्य मात्र को समान बनाना चाहता था और समाज में जातिगत समता के फैलने से ब्राह्मणो का श्रेष्ठ पद खतरे मे पडता था। ब्राह्मणो ने बौद्धो को वेद-निन्दक कहकर भी चिढाया है, मगर, यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि वेद-निन्दक होना बौद्धो का कोई बडा कसूर नही था। उनका वास्तविक अपराध यह था कि उन्होने यज्ञो का विरोध किया जिससे ब्राह्मणो की रोजी चलती थी तथा उन्होने लोगो को यह भी बतलाया कि जन्म से सभी मनुष्य समान है और श्रेष्ठता सबको कर्म से मिलती है। अतएव, ब्राह्मण-वश मे भी जनमा हुआ अपकर्मी मनुष्य निन्दा का पात्र है तथा चाडाल-वश मे जनमा हुआ मनुष्य, अगर सत्कर्म करता है, तो उसकी भी पूजा होनी चाहिए।

इस भेद के सिवा, ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में कोई और बडा भेद नही मिलता। जैसे वेदान्त अथवा अन्य हिन्दू-दर्शनो ने ससार (जन्म-मरण की सरणी) का कारण अविद्या को माना है, वैसे ही, बुद्धदेव भी अविद्या को ससार का कारण मानते हैं। जैसे वेदान्त का कहना है कि काम (किसी भी प्रकार की इच्छा या वासना) सभी दु खो का मूल है, वैसे ही, बुद्धदेव भी सभी दु खो का मूल काम या तृष्णा को मानते है। काम की प्रचण्डता का उल्लेख वेद और उपनिषद्, दोनो में मिलता है, तथा दोनो मे उसकी तुलना अग्नि से की गयी है, क्योकि अग्नि का यह स्वभाव है कि उसमे जितना ही ईंधन डाला जाय, वह उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती है। कठोपनिषद् का कहना है कि जिस मनुष्य के हृदय का काम शमित हो जाता है, वह इसी जीवन में ब्रह्म बन जाता है। बुद्धदेव ने जब यह कहा कि सभी वेदनाओ का मूल काम है, तब वे, वस्तुत , वेद, उपनिषद् और गीता के इसी मत को दुहरा रहे थे। निर्वाण को समझाने के लिए बुद्धदेव ने 'ईंधन का शेष होना', 'आग का बुझ जाना', आदि रूपकों का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे भी उपनिषदो की काम-व्याख्या में दिये गये अग्निवाले उदाहरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धदेव के जीवन में सबसे बडी घटना उन पर मार की चढाई थी और मार को जीत कर उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। मार को जीतने के भीतर, वास्तव में, काम पर ही विजय पाने की बात समझायी गयी है। और जैसे काम को जीतनेवाला व्यक्ति हिन्दुत्व में जीवन-मुक्त कहलाता था, वैसे ही, मार को जीत कर गौतम ने बुद्धत्व का दावा किया।

वेदो के कर्म-मार्ग पर उपनिषदो के ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा बुद्ध के आविर्भाव के पहले ही हो चुकी थी। वेदो का कर्म-मार्ग सासारिक भोगो को बढावा देता था और चूंकि औसत आदमी भोग चाहता है, इसलिए, वैदिक धर्म का समाज में काफी प्रचलन रहा। किन्तु, ज्ञान-मार्ग के उपदेशो को सुनकर, धीरे-धीरे, लोग भोग को तुच्छ समझने लगे और सच्चे आनन्द की खोज मे अपने भीतर डुबकी लगाने लगे। यही ध्यान या समाधि की प्रवृत्ति का आरम्भ था। इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए योग-क्रियाओ का अवलम्बन लोग बुद्ध से पूर्व ही लेने लगे थे और यह धारणा भी भलीभाँति बँध चुकी थी कि आध्यात्मिक विकास के लिए, किसी हद तक, ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। असल में, ब्रह्मचर्य अतितप और अतिभोग के बीचवाली साधना का पर्याय था, अतएव, धर्म के इस अग का बौद्ध मत में भी बहुत ऊँचा स्थान हुआ। यह भी ध्यान देने की बात है कि बुद्ध ने, यद्यपि, यह नही कहा कि ईश्वर है या नही, फिर भी, उन्होंने ध्यान और समाधि को साधको के लिए आवश्यक बताया। बल्कि, समाधि में गये बिना किसी भी साधक की प्रगति नही हो सकती थी। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब ईश्वर है ही नही, तब हम ध्यान किस का करें। इसका उत्तर, कदाचित्, यह कहकर दिया जा सकता है कि बुद्धदेव मन मे किसी की मूर्त्ति को लेकर ध्यान करना नही सिखाते थे, बल्कि, उनका भाव यह था कि ध्यान

इसलिए आवश्यक है कि उससे मनुष्य अपनी इन्द्रियो का निग्रह सीखता है, अपने मन पर नियन्त्रण रखने की शक्ति पाता है और अपने भीतर डूब कर अपने पूर्व जन्मों की स्मृति तक पहुँच सकता है। ध्यान और समाधि को बौद्ध धर्म ने बहुत अधिक महत्त्व दिया तथा योग-मार्ग के विकास मे भी कितने ही प्रयोग जैन तथा बौद्ध साधुओं ने ही किये।

बुद्ध का व्यक्तित्व

इस देश मे वेद और ब्राह्मण की अवज्ञा करके तथा ईश्वर है या नही, इस विचिकित्सा से अपने को अलग रखकर भी, बुद्धदेव हिन्दुओ के दशावतार में गिने गये, केवल इतनी-सी बात भी यह दिखाने को यथेष्ट है कि उनका व्यक्तित्व अनुपम रहा होगा तथा वे साधुता के जीते-जागते प्रतीक रहे होंगे। और सच पूछिये तो वेद और ब्राह्मण की निन्दा करना उनका कोई प्रमुख लक्ष्य नही था। यह चीज तो बाद को प्रमुख हुई जब ब्राह्मण और बौद्ध आपस में द्वेषी हो गये। स्वय बुद्धदेव निन्दा के लिए किसी की निन्दा करते रहे हो, यह मानने की बात नही है। वे दया और मैत्री के आगार थे। उनके उपदेशो के जो ग्रन्थ उपलब्ध है, उनसे मालूम होता है कि तथागत सकल्प के पक्के, विचारों में अडिग तथा वाणी और आचरण मे अत्यन्त कोमल और विनम्र थे। उन्होंने यह दावा तो किया कि उन्हे बुद्धत्व की प्राप्ति हुई है, मगर, यह नही कहा कि उन्हें किसी अदृश्य शक्ति ने प्रेरित किया है। वाद-विवाद में भी वे अत्यन्त वीर, सहनशील और उदार थे।

वे बुराई के बदले भलाई और घृणा के बदले प्रेम करने का उपदेश देते थे। कलक, कुत्सा, निन्दा और विरोध का सामना उन्हे भी करना पडा था, किन्तु, इन विरोधो के मुकाबिले भी, वे सदैव अहिंसक और धीर बने रहे। "अगर कोई व्यक्ति अज्ञानता के कारण मेरी निन्दा करता है तो भी मैं उसे अपने प्रेम की छाया अवश्य दूँगा और वह जितनी ही बुराई करेगा, मै उतनी ही उसकी भलाई करता जाऊँगा।" एक बार किसी मूर्ख ने तथागत को गाली दी। तथागत ने पूछा, "तात! अगर कोई कुछ दान दे और लेनेवाला उसे लेने से इनकार कर दे तो वह दान किसका होगा?" गाली देनेवाले ने कहा, "क्यो? उसका जो दान दे रहा है।" भगवान बोले, "तो तात! अभी जो तुम ने मुझे गाली दी है उसे मै ग्रहण करना अस्वीकार करता हूँ। इसलिए उसे तुम अपने ही पास रख लो।" ससार के अन्य अनेक महात्माओ के विपरीत, तथागत के स्वभाव में विनोदप्रियता भी थी।

गौतम मे दुराग्रह का बिलकुल अभाव था और वे अपने व्यक्तित्व के जोर से अपना धर्म चलाना नही चाहते थे। अपने शिष्यो से उन्होने बार-बार यह कहा था कि मेरी बातो को सिर्फ इसलिए मत मानो कि वे मेरे मुख से निकली है, बल्कि, इसलिए कि उन्हें तुम्हारी अपनी बुद्धि उचित समझती है। उपनिषत्काल मे भारतवासियो का स्वाधीन चिन्तन जहाँ तक पहुँचा था, उसे उन्होने वही से उठाया और बढ़ाकर वे उसे काफी दूर

ले गये। स्वाधीन चिन्तन और बुद्धिवाद के वे अद्भुत प्रेमी थे। उन्होंने एक ऐसे युग में बुद्धिवाद की मशाल जलायी, जब भारत से बाहर तो क्या, भारत में भी यह कार्य जनरुचि के विरुद्ध था। नेता और ग्रन्थ, इन दोनों से भिन्न उन्होंने एक स्वतन्त्र राह पकड़ी और सत्य की खोज उन्होंने उस रास्ते से शुरू की जो विवेक और बुद्धि की राह है। अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व तथागत ने आनन्द से कहा था, "हे आनन्द! तुम में से किसी का यह विचार हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है। पर, ऐसा विचार उचित नहीं है। हे आनन्द! तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ: धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का आश्रय न खोजो।'

वे व्यावहारिक गुरु थे तथा ऐसे अनुमानों के फेर में वे कभी नहीं पड़े जो बुद्धिगम्य न हों अथवा जीवन के लिए जिनका कोई उपयोग नहीं हो। जो शब्द में नहीं आ सकता, उसकी चर्चा छोड़ दो: जो बुद्धि से पकड़ा नहीं जा सकता, उनका पीछा करना व्यर्थ है, यह उनके दृष्टिकोण का निचोड़ है। धर्म का ऐसा व्यावहारिक नेता मनुष्य को सौभाग्य से ही मिलता है।

विख्यात बात है कि बुद्धदेव मध्य-मार्गी थे। मृगदाव में उन्होंने जो प्रथम उपदेश दिया उसमें अपने शिष्यों से उन्होंने कहा कि दोनों छोरों को छोड़कर बीच से चलो। विषय-वासना में लिप्त होना निन्द्य है किन्तु, उससे भी अधिक निन्द्य है कृच्छ्र साधना के द्वारा शरीर को सुखा डालना। भोग में योग मिलाने की जो परंपरा जनक ने चलायी थी तथा निष्काम कर्म के रूप में गीता ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, मध्य-मार्ग बहुत-कुछ उसी धर्म का आख्यान था।

जब से संसार में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा, बौद्ध धर्म भारत से बाहर और भारत में भी, काफी लोकप्रिय हो उठा है। किन्तु, इस लोक-प्रियता का कारण यह नहीं है कि आज का मनुष्य धर्म की राह पर आने को बेचैन है और तथागत के धर्म में उसे आत्मा की शान्ति का मार्ग दिखायी पड़ता है, बल्कि, यह कि वह धर्म के प्राचीन संस्कारों से ऊपर उठना चाहता है और अन्धविश्वास के खिलाफ उसका संघर्ष है। आज के मनुष्य की श्रद्धा सन्त और महात्मा बुद्धदेव पर नहीं, बल्कि, विद्रोही और बुद्धिवादी बुद्धदेव पर है। नवीन मनुष्य को जो शंकाएँ झकझोर रही हैं, वे शंकाएँ भगवान बुद्ध के सामने भी आयी थीं, इसीलिए, आज का मनुष्य धर्म के अन्य नेताओं की अपेक्षा भगवान बुद्ध की ओर कुछ अधिक उत्साह से देखता है। डाक्टर राधाकृष्णन् ने एक जगह लिखा है कि "शंका, सन्देह और नास्तिकता से भरे हुए कितने ही साहित्य में बुद्धदेव का नाम आदर से लिया गया है। जो मानवतावादी हैं, वे बुद्धदेव का आदर यह समझ कर करते हैं कि वे मानवतावाद के प्राचीनतम प्रवर्तकों में से हैं। जो लोग यह मानते हैं कि जीवन के अन्तिम सत्य को (इस बात को कि सृष्टि कहाँ से निकली है तथा मरने के बाद मनुष्य का क्या होना है) मनुष्य नहीं जान सकता, वे भी बुद्धदेव की दुहाई देते हैं और जिनका यह विश्वास है कि

अन्तिम सत्य नाम की कोई चीज ही नहीं है, वे भी उन्ही का नाम लेते है। बौद्धिक शंकाओ से भरा हुआ पडित, समाजवादी आदर्शों का प्रेमी नौजवान, नैतिक ऊहापोह मे उलझा हुआ प्राणी और वुद्धिवाद की रौशनी मे चलने का दावा करनेवाला पैगम्बर, ये सब-के-सब, समय-समय पर, वुद्धदेव का नाम लेते है और, जगह-जगह, अपनी वात को ऊपर करने के लिए उनके वचनो का उदाहरण देते है।" असल में, नास्तिकता की ओर जिसका भी थोडा झुकाव है या जो भी मनुष्य समाज में समता लाने की दिशा मे प्रयास कर रहा है, उसे बुद्धदेव अपने से कुछ करीव जान पडते हैं।

सन् १६३८ ई० मे मिस हार्नर नाम की एक लेखिका ने अपनी पुस्तक 'बुक आव् डिसिप्लिन' मे यह प्रमाणित किया था कि वौद्ध धर्म के मौलिक रूप का अध्ययन अभी अपने वचपन में है। तब से लेकर आज तक भी, प्रगति मे कोई खास तेजी नही आयी है। मगर, तव भी जितनी बाते ससार के सामने आ चुकी है, उन्हे देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि ससार के सभी धार्मिक नेताओ में से केवल बुद्धदेव ही ऐसे है, जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में भी वुद्धिवाद पर मनुष्य की आस्था जमाने का प्रयास किया, मन को भरमानेवाली दार्शनिक कल्पनाओ को व्यर्थ ठहराया और ईश्वर-हीन धर्म की स्थापना करके मनुष्य को यह सदेश दिया कि जो वाते वुद्धि मे नही आती, उन्हे मानने से इनकार करके भी हम धार्मिक बने रह सकते हैं।

कर्म की महत्ता

बौद्ध धर्म एक ओर जहाँ निवृत्तिमार्गी है और यह शिक्षा देता है कि जन्म और जीवन सुख नही, दु ख के कारण है, वहाँ दूसरी ओर, वह कर्म-मार्ग मे भी पूरे जोर से विश्वास करता है और उसके उपदेशो का निचोड यह है कि मनुष्य की मुक्ति ज्ञान के कथन से नही, वल्कि, आचार और कर्त्तव्य के पालन से होती है। बुद्धदेव मनुष्य से यह कहना चाहते थे कि अपने जीवन को वनाने और बिगाडने का सारा अधिकार तुम्हारे ही पास है और तुम्हे यह समझ कर काम करना चाहिए कि तुम्हारा सहायक कोई और नही हो सकता। आरंभिक बौद्ध धर्म में ऐसे किसी भी ईश्वर या देवता का स्थान नही था जो मनुष्यों की सहायता कर सकता हो। बुद्ध अपने अनुयायियो को देवताओ की अधीनता से वचाना चाहते थे, क्योंकि उन्हे आशका थी कि देवताओ का भरोसा करने से मनुष्य के आचार-पक्ष मे ढिलाई आ सकती है। देवताओ के अस्तित्व मे विश्वास तो उनका भी था, किन्तु, वे मानते थे कि देवता भी मनुष्य के ही समान दु खी और विपण्ण है तथा उन्हें भी धर्म-पालन की आवश्यकता है।

वैदिक युग का कर्मकाण्ड उपनिपदो के काल मे आकर निन्दित हो गया, किन्तु, उपनिपदो ने ज्ञान का जो वडा अम्बार खडा किया, सामान्य मनुष्य की वुद्धि उससे भी घवराने लगी। अतएव, वुद्धदेव ने औपनिपदिक ज्ञान के भीतर कर्म की रीढ डाल दी।

ऐसा लगता है कि उपनिषदो के ज्ञान का उन्होने उतना ही अश लिया, जितने अश के ग्रहण करने से कर्मनिष्ठा पर आँच नही आती थी। आत्मा को नित्य, चेतन और ब्रह्मस्वरूप मानने से मनुष्य मे मिथ्या अहकार भी प्रवेश कर सकता है और वह कर्म-विमुख भी हो सकता है। अतएव, बुद्ध ने आत्मा को एकरस और सनातन मानने से इनकार कर दिया। उनका जोर धर्म के दर्शन-पक्ष पर नही, व्यवहार-पक्ष पर पडा। मनुष्य निष्पाप नही है, उसे निष्पाप बनना है। मनुष्य ब्रह्म की कोटि मे नही है, उस कोटि में उसे पहुँचना है। मनुष्य जिस विमल रूप मे प्रकट होना चाहता है, वह रूप उसे तभी मिल सकता है, जब उसके विचार विमल हो, वाणी विमल हो और कर्त्तव्य विमल हो। आत्मा सनातन और अपरिवर्तनशील नही है, यह बात बुद्धदेव ने किसी झोक में आकर नही कही थी, बल्कि, ऐसा कहे बिना उनका काम ही नही चल सकता था। उन्होने यह देख लिया था कि धर्म के दर्शन-पक्ष के ऊहापोहो मे पडने से मनुष्य की बहुत-सी शक्ति, यो ही, विनष्ट हो जाती है। असल मे, धर्म से हमे जो वरदान मिलते हैं, वे उसके आचार-पक्ष की ही देन है।

बौद्ध धर्म की सीमाएँ

लेकिन, जो चीज बौद्ध धर्म की असली ताकत थी, उसी से उसकी बीमारी भी पैदा हुई। अपने जानते बुद्धदेव ने बुद्धिमानी की कि उन विषयो को अव्याकृत कहकर अनकहा ही छोड दिया, जिनका निदान और समाधान बुद्धि की शक्ति के बाहर की बात है। मगर, आदमी है कि दर्शनो के बिना जी नही सकता। जो विषय हमारी बुद्धि की थाह मे नही आते, उनको भी थाहते रहने मे हमे एक तरह का सुख मिलता है। अतएव, बुद्धदेव के देहान्त के बाद, उनके सप्रदाय मे जो बडे-बडे पडित और चिंतक आये, उन्होने उस धरातल पर कदम रखना शुरू कर दिया, जिस पर चलने से तथागत ने सबको रोक रखा था। नतीजा यह हुआ कि बुद्ध के मरने पर अनेक प्रकार के दर्शन और चिन्तन उनके अथवा उनके धर्म के नाम पर बाँध दिये गये। अगर बुद्धदेव ने अव्याकृत विषयो पर अपनी कोई निश्चित राय दे दी होती तो, आगे चलकर, बौद्ध धर्म मे इतने अधिक परस्पर-विरोधी दर्शन नही उत्पन्न होते।

दूसरी बात यह कि भक्ति और प्रार्थना के अवलम्ब के बिना मनुष्य निस्सहाय हो जाता है। बुद्धदेव ने मनुष्य की आत्मनिर्भरता और स्वावलवन को बचाये रखने के लिए उसे किसी की भी भक्ति नही सिखलायी थी, यहाँ तक कि मरते दम तक भी अपने शिष्यो से वे यही कहते रहे कि "तुम्हे अपने विवेक के प्रकाश मे चलना है। मेरे वचनो का भी प्रमाण तुम्हे तभी तक मानना चाहिए जब तक तुम्हे उनसे सतोष मिलता हो।" एक बार उन्होने यह भी कहा था कि "जो आदमी मुझे सर्वज्ञ कहता है, वह मेरे बारे में यथार्थ बोलने वाला नही है।" किन्तु, इतना होते हुए भी, उनके मरने के बाद, जब बौद्ध धर्म की

महायान-शाखा का जन्म हुआ, बौद्ध जनता ईश्वर के स्थान पर अपने गुरु की ही पूजा करने लगी, उन्ही की भक्ति और उन्ही की प्रार्थना उसका मुख्य धर्म बन गया। एक शब्द में, बुद्धदेव ने ईश्वर को जनता से दूर रखना चाहा था, लेकिन, कालक्रम में, वे स्वय ईश्वर हो गये।

बौद्ध धर्म से समाज की एक कु-सेवा यह भी हुई कि लोग घर-बार छोडकर सन्यासी होने लगे और सारा देश मठों एव विहारो से भर गया। सन्यास की प्रवृत्ति उपनिषत्काल मे ही चल पडी थी। किन्तु, प्राचीन-धर्म में यह विशेषता थी कि सन्यास के पहले लोग छात्र-जीवन और गार्हस्थ्य-जीवन का स्वाद पूरा चख लेते थे और तब वानप्रस्थ-अवस्था में प्रवेश करके सन्यास की तैयारी करते थे। सीधे सन्यास की परिपाटी वैदिक धर्म में नही थी। उसमे आश्रमात् आश्रमम् गच्छेत् का ही रिवाज चलता था।[1] इस तरह, सन्यासी अधिकतर वे ही लोग होते थे, जो समाज का दायित्व पूरा कर चुके थे और जिन्हे अब हाथ-पाँव हिलाये विना भोजन और वस्त्र पाने का अधिकार था। ये बूढे लोग अगर घर मे रहते तब भी खेती-बारी या वाणिज्य का काम तेजी से नही कर सकते थे। अतएव, अगर वे सन्यासी हो जाते तो इससे समाज का कोई खास नुकसान नही होता था। लेकिन, बुद्धदेव ने यह प्रथा चला दी कि बालक, बूढा, नौजवान, जो जब चाहे, तभी सन्यास ले सकता है। नतीजा यह हुआ कि हड्डी-काठीवाले अच्छे-अच्छे लोग जो खेतो मे काम कर सकते थे अथवा किसी दूसरी जगह पर डटकर समाज की ठोस सेवा कर सकते थे, गेरुआ पहन कर, भिक्षु बन कर डोलने लगे। देश मे मठो की परिपाटी, कदाचित्, पार्श्वनाथ ने चलायी थी, बौद्ध मत ने उसमें अपार वृद्धि कर दी।

एक बात और है जो बौद्ध धर्म से निकली हुई मालूम होती है। बौद्ध धर्म से पहले हमारे देश मे स्त्रियो का भिक्षुणी होना, उनका मर्द साधुओ के साथ मठो मे वास करना अथवा एक जगह से दूसरी जगह मारी-मारी फिरना प्रचलित नही था। बुद्धदेव भी, आरम्भ मे, इसके लिए तैयार नही थे कि स्त्रियाँ सघ मे दाखिल की जायँ। किन्तु, उनके परम प्रिय शिष्य आनन्द स्त्रियो का बहुत सम्मान करनेवाले थे। उन्होने आग्रह-पूर्वक बुद्धदेव से इस बात की मजूरी ले ली कि स्त्रियाँ भी भिक्षुणी हो सकती हैं। फिर क्या था ? विहारो और सघो मे झुड-की-झुड स्त्रियाँ माथा मुँडा कर दाखिल होने लगी। आनन्द को हम दोष नही दे सकते। वैदिक धर्म तो यह कभी नही कहता कि मोक्ष सिर्फ उसके लिए है जो सन्यासी हो जायगा। हिन्दुओ के यहाँ जनक-जैसे महात्मा हुए हैं, जो गृहस्थ होकर भी ज्ञानी थे और ऐसे ज्ञानी थे कि मुनि और ऋषिगण भी

१ कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उन व्यक्तियो को दडनीय बताया गया है जो आश्रितो के भविष्य का प्रवध किये विना सन्यास ले लेते हैं अथवा जो स्त्रियो को सन्यासिनी बनाते हैं। नारद ने भी कुछ खास परिस्थितियो मे सन्यासी होनेवालो को दडनीय बताया है।

वन से चलकर उनके पास नगर मे आकर अपनी शकाएँ मिटाते थे। हमारे यहाँ गृहस्थ-धर्म निन्दित नही, प्रशसित रहा है। लेकिन, बुद्धदेव ने कहा कि निर्वाण का अधिकारी वही होगा, जो गार्हस्थ्य-धर्म का त्याग करके भिक्षु हो जायगा।

केवल बौद्ध ही नही, जैन धर्म का भी यही विश्वास था कि मोक्ष सन्यास के बाद ही मिल सकता है। यही कारण है कि श्वेताम्बर-पन्थ मे तो नारियाँ भिक्षुणी हो सकती थी, किन्तु, दिगम्बर पन्थवालो ने साफ घोषणा कर दी थी कि मुक्ति नारियो के लिए नही है। नारियो को चाहिए कि वे सीमित धर्म का पालन करे, जिससे अगले जन्मो मे वे पुरुष का जन्म ग्रहण कर सकें, क्योकि, मोक्ष-लाभ के समीप आने पर, उन्हे पुरुष होकर जन्म लेना ही पडेगा। असली बात यह थी कि दिगम्बर-पन्थ मे भिक्षुणी को नगी रहना पडता, इस बात को दिगम्बर साधु भी अनुचित समझते थे। किन्तु, मुक्ति सन्यास से ही मिलती है, यह उपदेश बडा ही प्रबल था। भला, इस उपदेश के बाद, कौन ऐसी स्त्री थी जो भिक्षुणी बन जाने को आकुल नही हो उठती ? स्त्रियाँ, स्वभाव से ही, अधिक भावुक और धार्मिक होती है। उनका उलाहना सुनते-सुनते आनन्द का दयालु हृदय घबरा उठा और उन्होने शास्ता से उचित अनुज्ञा ले ली। किन्तु, बुद्ध के जीवन मे ही इस नीति के दुष्परिणाम दिखायी पडे और भगवान ने एक दिन आनन्द से कहा, "आनद ! मैने जो धर्म चलाया था, वह पाँच हजार वर्ष तक टिकनेवाला था, लेकिन, अब वह सिर्फ पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योकि हमने स्त्रियो को सघ मे सम्मिलित होने की अनुज्ञा दे दी है।" बाद को चलकर, इस देश मे जो भ्रष्ट साधुओ की सख्या बढी और सिद्धो ने जो स्त्रियो के सहवास की महिमा गानी शुरू की, वे सारे-के-सारे दुष्काड इसी भिक्षुणी-प्रथा से उत्पन्न हुए। केवल बौद्ध मठो मे ही नही, हिन्दू-मन्दिरो मे भी जो देवदासी की प्रथा चल पडी, वह बौद्धो की इस भिक्षुणी-प्रथा की ही देन थी।[1]

पौराणिक समन्वय

पुराणो की कथाएँ कहाँ से आयी, इस सबध मे सब से प्रबल अनुमान यह है कि देश की अनेक प्रकार की 'जनताओ' मे शूर-वीर पितरो अथवा भूतो-प्रेतो के सम्बन्ध मे जो लोक-कथाएँ फैली हुई थी, वे ही बढकर ऊपर आ गयी और साहित्यिक रूप लेकर पुराणो मे प्रविष्ट हो गयी। विचित्रता यह हुई कि पुराणो की जिन कथाओ को लेकर पहले हिन्दू देवी-देवताओ अथवा शूर-वीरो का चरित समझाया जाता था, उन्ही के द्वारा अब

---

१. "बौद्ध श्रमणो ने, सघ की रक्षा करने के लिए, तन्त्रो के रूप में वाममार्गी कार्यो को एक प्रकार का धार्मिक स्वरूप दे दिया। छठी या सातवी शताब्दी मे बौद्ध श्रमणो ने जो तन्त्र-ग्रन्थ लिखे है, वे लिंग-पूजा के समान ही बीभत्स है। उनमे नग्न स्त्री की पूजा, मद्यमासादि का यथेच्छ सेवन आदि बीभत्सताएँ भरपूर है। इन्ही वाममार्गी श्रमणो से लिग-पूजा की उत्पत्ति हुई।" —धर्मानन्द कोसम्बी

जैन एव बौद्ध सिद्धान्त अथवा चरित समझाये जाने लगे। इस क्रम में, बहुत-से हिन्दू देवी-देवताओं का जैनों के द्वारा जैनीकरण और बौद्धों के द्वारा बौद्धीकरण हो गया।

महाभारत में युधिष्ठिर का जलवासी यक्ष से जो प्रश्नोत्तर है, उसके अनुकरण पर, आलवक यक्ष से बुद्धदेव के सवाद की कहानी चल पडी।[1] इन्द्र के माहात्म्य में सारा वैदिक साहित्य ओत-प्रोत था और जनता इस देवता को आदर से देखती थी। अतएव, बौद्धों को इन्द्र को अपनाने का लोभ हुआ और अहिंसक बनाकर इन्द्र को उन्होंने अपना भी लिया। इन्द्र के पुनर्जन्म की कथा कुलावक में आती है, जिसमें कहा गया है कि शक्र एक बार असुरो से पराजित होकर भागा, तब उसके रथ के वेग मे सेमल के वृक्ष टूटकर गिरने लगे और उनके साथ पक्षियो के शावक भी। पक्षि-शावकों की करुण चीख सुनकर शक्र ने सारथी से पूछा—"यह अत्यन्त करुण शब्द किस का है?" सारथी ने उत्तर दिया—'देव! अपने रथ के वेग से सेमल के पेड टूट कर समुद्र में गिर रहे हैं। उनमें के गरुड-पक्षियो के बच्चो की यह चीख है।" शक्र ने कहा, "हे सारथी! इस सेमल के जगल से रथ मत ले चलो। असुर प्राण ले ले तो भी कोई चिन्ता नही, पर, इन पक्षियों के घोसले नष्ट न होने दो।" स्पष्ट ही, इन्द्र का यह चरित्र उस चरित्र से भिन्न है, जिसमें वह पितृ-घाती, पुरन्दर और आमिषभोजी बताया गया है।

वैदिक धर्म के ब्रह्मा को भी बौद्धों ने अपना लिया, किन्तु, यहाँ भी ब्रह्मा बुद्ध के भक्त बना कर दिखलाये गये। दीर्घनिकाय के केवट्टसुत्त मे कथा है कि एक भिक्षु को यह जानने की इच्छा हुई कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार महाभूत मनुष्य के मरने पर कहाँ विलीन होते हैं। यह प्रश्न वह अनेक व्यक्तियो से करता है, परन्तु, उत्तर उसे कोई भी नही दे पाता। अन्त मे, वह महाब्रह्मा के पास जाता है और महाब्रह्मा उससे कहते हैं कि सारे देवताओं को यह मिथ्या भ्रम है कि ब्रह्मा सब कुछ जानता है, किन्तु, मैं सब कुछ नही जानता हूँ। "भगवान बुद्ध को छोडकर तुम मेरे पास आये, यह तुम्हारा अपराध है। अब तुम भगवान के पास जाओ और उनसे यह प्रश्न पूछो तथा वे जो उत्तर दे उसे ठीक समझो।"

बुद्धचर्य्या[2] में लिखा है कि गौतम को जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब उनके मन में यह दुविधा उठी कि जिस सत्य की उपलब्धि मुझे हुई है, उसका प्रकाशन ठीक होगा या नहीं। बुद्ध के मन की इस द्विधा को जान कर ब्रह्मा (यहाँ वह सहापति ब्रह्मा है) उद्विग्न हो उठा और सोचने लगा, "लोक-नाश हो जायगा रे! लोक-विनाश हो जायगा रे! जब तथागत, अर्हत्, सम्यक् सबुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुककर अल्प-उत्सुकता (उदासीनता) की ओर झुक जाय।" इतना ही नहीं, ब्रह्मा ने बुद्ध के सामने प्रकट होकर उनसे प्रार्थना की, "हे सुमेध! हे सर्वत्र नेत्रवाले! धर्म-रूपी महल पर

---

१. सुत्तनिपात, आलवक-सुत्त

२ श्री राहुल सांकृत्यायन

चढ सब जनता को देखो। हे शोकरहित ! शोकनिमग्न, जन्म-जरा से पीडित जनता की ओर देखो।" और भगवान ने ब्रह्मा की प्रार्थना जब स्वीकार कर ली, तब ब्रह्मा उनकी प्रदक्षिणा करके चला गया।

मज्झिमनिकाय के ब्रह्मनिमन्तनिक सुत्तन्त (१।५।६) में जो कथा है, उसमे भी बुद्धदेव ब्रह्मा से अपने को श्रेष्ठ बताते है और कहते है, "पापी ! तू मार है। पापी ! जो ब्रह्मा है, जो ब्रह्म-परिषद् है और जो ब्रह्म-पार्षद है, सभी तेरे हाथ में है, सभी तेरे वश में है। पापी ! तुझे ऐसा होता है, यह (मै) भी मेरे हाथ मे आवे, यह भी मेरे वश मे हो। किन्तु, पापी ! मै तेरे हाथ मे नही आया, मै तेरे वश मे नही हुआ हूँ।"[1]

धर्मानन्द कोसम्बी ने जातक-कथाओ के आधार पर यह बतलाया है कि वासुदेव-कृष्ण जाति-प्रथा को नही मानते थे। सिवि राजा की माता जाववती चाडाली थी, किन्तु, तो भी कृष्ण ने उसे "रत्नराशि पर विठला कर अपनी पटरानी बना लिया।"[2] यह कृष्ण-चरित के बौद्धीकरण का प्रयास है।

वैदिक हिन्दुओ के पुराणो को बौद्धो और जैनो ने अपनाया और उनके माध्यम से वे अपने अहिंसावाद का प्रतिपादन करने लगे। इस क्रम मे हम देखते हैं कि विमलसूरि-कृत पउम-चरिय (पद्म-चरित तीसरी-चौथी शती ई०) मे वालि वैरागी बनकर सुग्रीव को अपना राज्य दे देता है और स्वय जैन-दीक्षा लेकर तपस्या करने चला जाता है। अनामक जातक (इसका भारतीय पाठ अप्राप्य है। तीसरी शताब्दी मे काग-सग-हुई के द्वारा जो चीनी अनुवाद हुआ था वह उपलब्ध है।) मे राम पिता की आज्ञा से वन नही जाते, प्रत्युत, अपने मामा के द्वारा आक्रमण की तैयारियो की वार्त्ता सुनकर स्वय राज्य छोड कर वन में चले जाते हैं जिससे रक्तपात न हो। इस जातक के अनुसार, राम ने वालि का भी वध नही किया। प्रत्युत, राम के शर-सधान करते ही वालि, बिना बाण खाये हुए ही, भाग खडा हुआ।

राम-चरित का हिन्दू-हृदयो पर जो प्रभाव था, उसका भी शोषण बौद्ध और जैन पडितो ने अपने धर्म की महत्ता स्थापित करने को किया। दशरथ-जातक (पाँचवी शताब्दी ई० की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है), अनामक जातक तथा चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत त्सा-पौ-त्सग-किंग (भारतीय मूल अप्राप्य, चीनी अनुवाद का समय ४७२ ई०) में आये हुए दशरथ-कथानम् एव खोतानी-रामायण और श्याम के राम-जातक के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्व जन्म मे राम थे, ऐसा कहा गया है।"[3] सम्भव है, जब बौद्ध पडित बुद्ध को राम (या विष्णु) के अवतार के रूप में दिखाने लगे, तब हिन्दुओ ने बढकर उन्हें दशावतार मे गिन लिया हो।

---

१ मज्झिमनिकाय—श्री राहुल साकृत्यायन
२ भारतीय सस्कृति और अहिसा
३ रामकथा—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के

एक विचित्रता यह भी है कि रावण पर जैन और बौद्ध पुराणो की श्रद्धा दीखती है। गुणभद्र के उत्तर-पुराण में राम-कथा का जो वर्णन मिलता है,उसमे कहा गया है कि लका-विजय करने के बाद लक्ष्मण एक असाध्य रोग से मरे और मरने के बाद उन्हे नरक प्राप्त हुआ, क्योकि उन्होने रावण का वध किया था। इस कथा में रावण के जेता राम नहीं, लक्ष्मण दिखलाये गये है। इस कथा की एक विचित्रता यह भी है कि इसके अनुसार, सीता मदोदरी के पेट से जनमी थी। किन्तु, ज्योतिषियो के यह कहने पर कि यह बालिका आपका नाश करेगी, रावण ने उसे सोने की मजूषा मे बन्द करके दूर देश मिथिला मे कही गडवा दिया था।

जैन-पुराणो में महापुरुषो की सख्या तिरसठ बतायी गयी है। इनमें से २४ तो तीर्थकर है, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। राम आठवे बलदेव, लक्ष्मण आठवे वासुदेव और रावण आठवे प्रतिवासुदेव है। नव वासुदेवो मे एक वासुदेव कृष्ण भी गिने जाते है। बौद्ध ग्रन्थ लकावतार-सूत्र मे रावण तथा बुद्ध का, धर्म के विषय मे, सवाद उद्धृत है। इससे भी रावण के प्रति बौद्ध मुनियो का आदर अभिव्यक्त होता है। रावण जैनो के अनुसार जैन और बौद्धो के अनुसार बौद्ध माना गया है।

रामकथा के विषय मे जैन और बौद्ध पुराणो में कितनी ही अद्भुत बातो का समावेश मिलता है। उदाहरण के लिए, दशरथ-जातक में सीता राम की बहन बतायी गयी है और यह भी उल्लेख आया है कि लका से लौटने पर राम ने सीता से विवाह किया। पउम-चरिय मे दशरथ के तीन नही, चार रानियाँ थी, ऐसा उल्लेख मिलता है, जिनके नाम १ कौशल्या अथवा अपराजिता, २ सुमित्रा, ३ कैकेयी और ४ सुप्रभा थे। इसमे राम का एक नाम पद्म भी मिलता है। पउमचरिय मे यह भी कथा है कि हनुमान जब सीता की खोज करते हुए लका गये, तब उन्होने वहाँ वज्रमुख की कन्या लकासुन्दरी से विवाह किया। गुणभद्र की राम-कथा (उत्तर-पुराण) मे राम की माता का नाम सुबाला मिलता है। दशरथ-जातक और उत्तर-पुराण में यह भी लिखा है कि दशरथ वाराणसी के राजा थे, किन्तु, उत्तर-पुराण मे इतना और उल्लेख है कि उन्होने साकेतपुरी मे अपनी राजधानी बसायी थी। इन विचित्रताओ को देखकर यह नही समझना चाहिए कि ये कथाएँ वाल्मीकि-रामायण से पूर्व की है और वाल्मीकि ने इनका परिष्कार करके अपनी राम-कथा निकाली। वाल्मीकि-रामायण इन सब से प्राचीन है। फिर भी, रामायण से इनकी जो भिन्नता दीखती है, उसका कारण यह है कि बौद्ध और जैन मुनि अपने सप्रदाय का पुराण रचने के समय, केवल रामायण पर ही अवलबित नही रहते थे, प्रत्युत, वे उस विशाल कथा-साहित्य से भी सामग्री ग्रहण करते थे जो जनता मे, मौखिक रूप से, फैला हुआ था। विशेषत, जब जन-श्रुतियो से अथवा उन्हे मोड-मार कर अहिंसा का प्रति-पादन करने में सुविधा दीखती, तब उस सुविधा का लोभ ये लोग सवरण नही कर थे। केवल अहिंसा ही नही, बौद्ध एव जैन शैलियो और परपराओ की दृष्टि

बातें अनुकूल दीखती होंगी, उन्हें ये मुनि अवश्य अपनाते होंगे। दशरथ-जातक की अप्रामाणिकता तो इससे भी प्रमाणित होती है कि "दशरथ-जातक का जो रूप जातकट्ठवण्णना में प्रस्तुत है, वह शताब्दियों तक अस्थिर रहने के बाद, पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में लिपिबद्ध किया गया। अत, इसमें परिवर्तन की सभावना रही है, विशेष करके दूर सिंहलद्वीप में, जहाँ रामायण की कथा उस समय कम प्रचलित थी।"[1] इसके अज्ञात लेखक का भी कहना है कि "मैंने अनुराधापुर की परपरा के आधार पर यह रचना की है।"

यह समझना भूल है कि बौद्ध और जैन पडितो ने वैदिक धर्म का तिरस्कार करने के लिए राम-कथा अथवा दूसरी कथाओं में फेर-फार कर दिया, क्योंकि ऐसे फेर-फार वैदिक धर्मावलवी कवियों ने भी किये हैं। उदाहरण के लिए, रघुवश में कालिदास ने यह कही भी नही लिखा है कि सीता विष्णु की शक्ति के अवतार हैं। दशावतार-चरितम् में क्षेमेन्द्र ने रावण को तपस्वी के रूप में रखा है तथा यह बताया है कि रावण सीता को पुत्री-रूप में प्राप्त करना चाहता था।

दशरथ-जातक में सीता राम की बहन बतायी गयी है और फिर राम और सीता के विवाह का भी उल्लेख किया गया है। ऐसा सबध कुछ बौद्ध पडितो की दृष्टि में दूषित नही था। बुद्धघोष-कृत सुत्त-निपात-टीका में शाक्यों की उत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि वाराणसी की महारानी के चार पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थी। इन नव सतानो को रानी ने वनवास दिया। उन्ही सतानो ने "कपिलवत्थु" नामक नगर बसाया और चूंकि "राज-सन्तान के योग्य वन में कोई नही था, इसलिए चारो राजकुमार अपनी बहनो से ही ब्याह करने को बाध्य हुए। ज्येष्ठा कन्या 'पिया' अविवाहित रहकर सबो की माता मानी जाने लगी। यही शाक्यो की उत्पत्ति की कथा है।"[2] खोतान में प्रचलित एक राम-कथा में यह कहा गया है कि वन में राम और लक्ष्मण, दोनो ने सीता से विवाह किया।

वैदिक, बौद्ध एव जैन पुराणो में जो कथाएँ मिलती है, उनमें से कितनी ही तो एक ही कथा के विभिन्न विकास है। सभी जातियों की सस्कृतियो का समन्वय ज्यो-ज्यो बढता गया, त्यो-त्यो विभिन्न कथाएँ भी, एक दूसरी से मिलकर, नया रूप लेने लगी और जो कथाएँ पहले एक रूप में थी, उनमें भी वैविध्य आ गया। विशेषत, रामकथा पर तो केवल भारत ही नही, सिंहल, श्याम, तिब्बत, हिंदेशिया, बाली, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपो मे बसनेवाली जनता की रुचि का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आदिवासी कथा के अनुसार, गिलहरी की पीठ पर जो तीन रेखाएँ है, वे रामचद्र के द्वारा खीची गयी थी, क्योंकि गिलहरी ने उन्हें मार्ग बताया था। तेलुगु रामायण (द्विपाद रामायण) के अनुसार, लक्ष्मण जब राम के साथ वन जाने लगे, तब उन्होंने निद्रा-देवी से दो वरदान

---

१ रामकथा

२ वही

प्राप्त किये—एक तो पत्नी उर्मिला के लिए चौदह वर्ष की नीद तथा दूसरा अपने लिए वनवास के अन्त तक जागरण। सिहली रामकथा में "वालि हनुमान का स्थान लेता है, वह लका का दहन करके सीता को राम के पास ले जाता है।" कश्मीरी रामायण के अनुसार, सीता का जन्म मदोदरी के गर्भ से हुआ था। बगाल के कृत्तिवासी रामायण के बहुत-से स्थलो पर शाक्त-सप्रदाय की छाप पायी जाती है। खोतानी रामायण (पूर्वी तुर्किस्तान में प्रचलित) मे राम जब युद्ध मे मूर्च्छित होते है, तब उनकी चिकित्सा के लिए सुषेण नही, प्रत्युत, बौद्ध वैद्य जीवक बुलाये जाते है तथा "आहत रावण का वध नही किया जाता है।"[1] श्यामदेश मे प्रचलित "राम कियेन" रामायण मे "हनुमान की बहुत-सी प्रेम-लीलाओ का वर्णन किया गया है। प्रभा, बेगकाया, नागकन्या, सुवर्णमच्छा और अप्सरा वानरी के अतिरिक्त, वे मदोदरी के साथ भी क्रीडा करते है।" श्याम मे ही प्रचलित राम-जातक मे "राम तथा रावण चचेरे भाई माने गये है।"[2]

पुराणो की महाकथाओ मे ये जो विविधताएँ मिलती है, उनकी ऐतिहासिकता चाहे जो हो, किन्तु, यह सत्य है कि वे अनेक जातियो और जनपदो की रुचियो के कारण बढी है, और यह भी हुआ है कि जिस लेखक को अपने सप्रदाय के समर्थन मे जो कथा अनुकूल दीखी, उसने उसी कथा को प्रमुखता दे डाली अथवा कुछ फेर-फार करके उसे अपने मत के अनुकूल बना लिया।

हिन्दुत्व का खरल

भारत की यह विशेपता रहीहै कि वह अनेक जातियो को घोटकर एक जाति बना देता है, अनेक धर्मो को मिलाकर एक धर्म तैयार कर देता है और अनेक सस्कृतियो के मिश्रण से एक नयी सस्कृति पैदा कर देता है। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्राविड और आर्य, कम-से-कम, ये चार जातियाँ थी, जिनके परस्पर मिलन और मिश्रण से एक महाजाति पैदा हुई, जिसे हम हिन्दू जाति कहते है। हिन्दू कहलानेवाली सस्कृति किस प्रकार इन चारो जातियो की सस्कृतियो के मिलन से पैदा हुई, यह कथा आरभ मे ही कही जा चुकी है। यह समन्वित सस्कृति जब उपनिषदो के धरातल पर पहुँची, तब वहाँ से धर्म और विचार की अनेक धाराएँ फूट पडी, जिनमे कुछ आस्तिक थी, कुछ नास्तिक, कुछ वेद को माननेवाली, कुछ नही माननेवाली। यह एक तरह की बौद्धिक अराजकता थी, एक तरह का चिन्तन का कोलाहल था, जिसे बाँधकर एक ओर ले चलना आसान नही था। इसलिए, एक ही काल में, आस्तिक और नास्तिक दर्शनो की रचना होने लगी और सारा देश चिन्तको के तरह-तरह के विचारो से जगमगा उठा। लेकिन, हिन्दू-धर्म अथवा भारतीय सस्कृति, फिर भी, अपना काम कर रही थी और इन अनेक मतवादो के बीच सामजस्य कैसे पैदा किया जाय, एकता कैसे लायी जाय, इसके लिए, उसका स्वाभाविक प्रयास जारी था।

१ रामकथा

२ वही

असल में, जिन दिनो पुराणो की रचना हुई, उन दिनो समन्वय की प्रक्रिया खूब गाढी हो गयी थी और देश में फैली हुई हजारो दन्त-कथाएँ साहित्य के स्तर पर पहुँच कर हिन्दू-सस्कृति को सजाने लगी थी। बौद्ध और जैन भाग कर जाते कहाँ ? जिस जनता के बीच वैदिक-धर्म का जन्म हुआ था, ये दोनो धर्म भी उमी जनता के बीच पैदा हुए थे। अतएव, उसकी रुचियो का प्रभाव बौद्ध और जैन धर्मों पर भी पड़ने लगा और ये धर्म, धीरे-धीरे, बदल कर हिन्दुत्व के करीब आने लगे। करीब तो वे थे ही, जिन दो-एक बातो को लेकर वे हिन्दू-धर्म से जरा अलग दीखते थे, वे बातें भी अब गौण होने लगी और दोनो धर्म सिमटकर हिन्दुत्व के आलिंगन मे बँधने लगे।

इतिहास में, अक्सर, यह लिखा होता है कि अमुक काल ब्राह्मण-धर्म का और अमुक काल बौद्ध-धर्म का था। इससे यह नही समझना चाहिए कि किसी भी काल में ब्राह्मण-धर्म बिलकुल गायब या एकदम दबा हुआ था। भारत का अपना धर्म सनातन धर्म रहा है, और बाकी धार्मिक आन्दोलन, समय-समय पर, इस बड़े धर्म मे सुधार लाने की कोशिश करते रहे है। यहाँ समुद्र एक रहा है, चाहे लहरें तरह-तरह की उठती रही हो। बौद्धो के समय मे, हिंसात्मक यज्ञ भले ही बन्द हो गये हो, किन्तु, अहिंसात्मक अग्नि-होत्र के रूप मे वे बराबर प्रचलित थे। अशोक ने अपने शिलालेखो मे अनेक स्थानो पर यह कहा है कि श्रमणो के साथ-साथ, ब्राह्मणो का भी सम्मान करना चाहिए और उन्हे दान देना चाहिए। ब्रह्मदेश और श्याम मे, जहाँ ब्राह्मण बिलकुल नही थे, वहाँ भी बौद्ध राजाओ ने ब्राह्मण बुलवाये और उन्हे वार्षिक वृत्ति देकर अपने पास रख लिया। इसके विपरीत, गुप्त राजे स्वय वैष्णव थे, तो भी उन्होंने अपने राज्यकाल मे बौद्धो के बहुत-से विहार बनवाये और सघारामो को जागीरे दी। पाली-साहित्य में "श्रमण-ब्राह्मण" ऐसा समास मिलता है। पर, अशोक के शिलालेखो में ब्राह्मण को प्रथम स्थान दिया गया है। "ब्राह्मण समणाना साधु दान।" (कोसम्बी)

वेद और उपनिषद एक आवाज मे नही बोलते थे। किन्तु, उनके भीतर से सारी जाति की चिन्ता-धाराएँ प्रकट हुई थी और ये धाराएँ, कभी-कभी, परस्पर विरोधी भी थी। इन धाराओ मे से जिसको जो रुची, उसने उसी का विकास कर डाला। इस प्रकार, बौद्ध, जैन तथा अन्य दर्शनो का जन्म हुआ। मगर, एक ही उद्गम से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की वैदिक धर्म के साथ बराबर समानता रही और इन सभी धर्मों पर इस देश की जनता की उस रुचि का प्रभाव भी पड़ता रहा जो वैदिक सस्कार से ओत-प्रोत थी।

बुद्ध और महावीर, दोनो ने कोशिश की थी कि किसी तरह जनता अन्धविश्वास से बचे, अदृश्य की भक्ति और प्रार्थना नही करे, मूर्तियो को नही पूजे और किसी परोक्ष सत्ता को अपना शासक मानकर कर्म मे शिथिलता नही दिखलाये। लेकिन, यह बात अधिक काल तक नही चल सकी। तत्त्व से तो हिन्दू-धर्म निराकारवादी है, किन्तु, हिन्दू

जनता बराबर साकारोपासना की ओर झुकती रही है। अनेक निराकार दर्शनो को जन्म देकर भी हम सदैव यह मानते रहे है कि हमारी आँखो के परे जो शक्ति है, उसे हम देख तो नही पाते है, मगर, उसका शासन सारी सृष्टि पर चल रहा है। यह हिन्दू-धर्म की ही विशेषता नही, प्रत्युत, मनुष्य-मात्र का एक साधारण स्वभाव है। आदमी हर निराकार कल्पना को साकार बना देता है, क्योकि निराकार को लेकर सन्तुष्ट रहनेवाले लोग बहुत कम और साकार की खोज एव पूजा करनेवाले लोग बहुत ज्यादा होते है। हिन्दू-धर्म की इस प्रवृत्ति से बचने के लिए जैन और बौद्ध धर्म काफी सतर्क थे। किन्तु, आखिर-कार, वे इससे बच नही सके और साकार-उपासना का उनके भीतर भी प्रवेश हो गया। जैन धर्म मे साकारोपासना के लिए पहले से ही एक खिडकी खुली हुई थी, क्योकि जैन-दर्शन यह मानता था कि जीवन-मुक्त पुरुष ईश्वर-कोटि के होते है। सभी तीर्थंकर इसी कोटि के थे। अतएव, तीर्थंकरो की पूजा उसी प्रकार शुरू हो गयी, जैसे ब्राह्मण अपने देवी-देवताओ को पूजते थे। पौराणिक युग मे ही, इन तीर्थंकरो के लिए मन्दिर बनवाये जाने लगे और उनमे उनकी मूर्त्तियाँ भी पधरायी जाने लगी। ईस्वी सन् की पहली सदी में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनो मे जो फूट हुई, उसका भी एक प्रबल कारण मूर्त्तियों की पोशाक के विषय में ही मतभेद था। और बौद्ध-धर्म के भी आष्टांगिक मार्ग पर चलने का जनता मे अब उत्साह नही रहा तथा उसे इस बात से निराशा होने लगी कि बुद्ध के मार्ग मे भी निर्वाण या मुक्ति की आशा केवल सन्यासी ही कर सकते है, साधारण गृहस्थ नही। अत, ठीक पहली सदी (कनिष्क-राज्यकाल) मे ही बौद्ध धर्म की भी महायान-शाखा बढकर बडी हो गयी और उसने, धीरे-धीरे, बुद्ध के बताये हुए मूल उपदेशो पर चलनेवाली हीनयान-शाखा को, सचमुच, हीन बना डाला।

प्रकरण ४

वैदिक बनाम बौद्ध मत

महायान की उत्पत्ति

भगवान बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि मेरा चलाया हुआ धर्म केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा। वह भविष्यवाणी, अक्षरशः, तो पूरी नही हुई, किन्तु, तत्वतः, पूरी हो गयी, क्योंकि भगवान के पाँच सौ वर्ष बाद जब बौद्ध धर्म के भीतर से महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ, तब यह सम्प्रदाय बौद्ध कम, हिन्दू अधिक हो गया। बुद्ध ईश्वर के विषय में मौन रहे थे, महायान-सम्प्रदाय ने खुद बुद्ध को ही ईश्वर बना दिया। बुद्ध ने देवी-देवताओ की पूजा की मनाही की थी, महायान-सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म के भीतर देवी-देवताओ की पूरी सेना खडी कर दी। बुद्ध के उपदेश तत्कालीन लोक-भाषा में दिये गये थे, महायान के चिंतको ने अपना सारा साहित्य संस्कृत में लिखना आरंभ किया। बुद्ध का कहना था कि मोक्ष के अधिकारी केवल सन्यासी हो सकते हैं, महायान ने मोक्ष की आशा उनके सामने भी रख दी जो सन्यासी नही, गृहस्थ थे।

सन्यास का मार्ग कभी भी समग्र मानवता का मार्ग नहीं हो सकता। बौद्ध सन्यासियो का भी लोग आदर तो करते थे, मगर, सारी जनता सन्यास नही ले सकती थी, बल्कि, जनता के भीतर एक आलोचना चलती थी कि यह भी कैसा धर्म है, जिसमे गृहस्थो के लिए मुक्ति की व्यवस्था ही नही है। इसलिए, मुक्ति की आशा जब गृहस्थो के लिए भी विहित बतायी जाने लगी, तब बौद्ध मत का महायान नाम सार्थक हो गया— महायान यानी बडी नौका, जिस पर सभी लोग बैठकर भव-सागर के पार जा सकते हैं, और हीनयान यानी छोटी नौका, जिस पर वे ही चढ सकते हैं, जिन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया है।

प्रत्येक निराकारी मत साकारवाद की ओर बढता है। प्रत्येक प्रकार के वैराग्य की अधिकता उसे भोगवाद की ओर ले जाती है। इसी प्रक्रिया से बौद्ध मत ने महायान को जन्म दिया। जब तक बुद्ध जीवित रहे, बौद्ध मत का रूप वही रहा जो उनके मौलिक उपदेशो से बना था। बुद्ध के देहान्त के बाद बौद्ध धर्म के भीतर से नयी-नयी शाखाएँ फूटने लगी। कहते हैं, भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद ही बौद्ध धर्म दो निकायो में विभक्त हो गया था। स्थविरवाद के पक्षपाती वे भिक्षु हुए जो बुद्ध के मौलिक उपदेशो में विश्वास करते थे। जिनका स्थविरवादियो से मतभेद हुआ, उन्होने अपना संघ अलग बना लिया और उसे वे महासंघ कहने लगे। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, निकायो की संख्या मे भी वृद्धि होती गयी और बौद्धो के विश्वास और मान्यता में विविध-

ताएँ उत्पन्न होने लगी। सम्राट अशोक के समय बौद्ध धर्म की जब तीसरी संगति हुई, उस समय बौद्ध मत के भीतर कुल अठारह निकाय थे। उन दिनों स्थविरवादी तो बुद्ध को मनुष्य ही मानते थे, लेकिन, कई अन्य निकाय उन्हे लोकोत्तर समझने लगे थे। वे यह विश्वास करने लगे थे कि बुद्ध अलौकिक, दिव्य शक्तियो से युक्त अदृश्य देवता है, जिनका न तो कभी जन्म होता है, न मरण। कुछ निकाय ऐसे भी थे जो भिक्षुओ पर लादी गयी कृच्छ्र साधनाओ से ऊबे हुए थे। जब तत्त्व के धरातल पर उन्होने बुद्ध को लोकोत्तर देवता मान लिया, तब आचार के धरातल पर वे भिक्षुओ की साधनाओ को भी सुगम बनाने की बात सोचने लगे, जिसका उद्देश्य यह बताना था कि नर-नारी-समागम भी, किसी-किसी अवस्था में, भिक्षुओ के लिए क्षम्य माना जा सकता है। बुद्ध मनुष्य रहते तो उनके आचार सभी भिक्षुओ के लिए अनुकरणीय होते। जब बुद्ध लोकोत्तर बना दिये गये, तब भिक्षुओं ने उनके आचरण को अनुकरणीय समझना छोड दिया, क्योकि लौकिक मनुष्य लोकोत्तर चरित्र का अनुकरण अशक्य मानता है।

बौद्ध धर्म के भीतर आरभ से ही तीन मार्ग थे। अर्हत्-यान अथवा श्रावक-यान पर वे साधक चलते थे जिनका लक्ष्य अपना मोक्ष होता था। जो साधक कुछ और लोगो की मुक्ति के लिए अधिक कष्ट सहने को तैयार थे, उनका मार्ग प्रत्येक-बुद्ध-यान कहलाता था। सबसे कठिन मार्ग बुद्ध-यान था जिस पर वे ही साधक कदम धरते थे जो असख्य जीवो का मार्ग-दर्शक बनने के लिए, अपनी मुक्ति की फिक्र न कर, बहुत परिश्रम और बहुत समय बाद, उस मार्ग मे स्वय प्राप्य निर्वाण को अपना लक्ष्य मानते थे। आरभ की सदियो मे सभी बौद्ध सप्रदाय तीनो यानो को मानते थे और यह समझते थे कि "किसी यान को चुनना मुमुक्षु की अपनी रुचि पर निर्भर है। किन्तु, कालक्रम मे, अर्हत्-यान और प्रत्येक-बुद्ध-यान, स्वार्थी होने के कारण हीनयान कहे जाने लगे और बुद्ध-यान, नि स्वार्थ साधको का यान होने के कारण महायान नाम से पुकारा जाने लगा। चौथी शताब्दी तक बौद्धो के वैभाषिक, सौत्रातिक, योगाचार और माध्यमिक, चार दार्शनिक सप्रदाय बन चुके थे। इनमे से पहले दोनो को माननेवाले तीनो यानो को मानते थे, इसलिए, उन्हे महायानियो ने हीनयान का अनुयायी कहा; और बाकी दो केवल बुद्ध-यान को ही मानते थे, इसलिए, उन्होने अपने को महायान का अनुयायी कहा।[1]

मनुष्य के स्वभाव मे अन्धविश्वास, कही-न-कही, बद्धमूल है। वह देवताओ की पूजा मे जितना रस लेता है, उतना रस मनुष्य की पूजा मे नहीं लेता। बुद्ध मनुष्य के रूप में पूजे जाते तो बौद्ध धर्म सत्य के अधिक समीप रहता, लेकिन, तब अनुयायी भी कम मिलते। अतएव, उसने बुद्ध को अलौकिकता प्रदान कर जनता को अपनी ओर [illegible]

१ बुद्धचर्य्या राहुल साकृत्यायन

की कोशिश की। और जब महायानियों ने यह कहा कि गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है, तब भिक्षुओं के मन की वे दीवारें टूटने लगी जो गार्हस्थ्य और वैराग्य के बीच खडी की गयी थी। वैपुल्यवादी निकाय ने अपने सूत्रों मे, छिपे-छिपे, भिक्षुओं के लिए नारी-समागम को क्षम्य बताया था। इस प्रवृत्ति को महायान ने थोडा प्रोत्साहन ही दिया। परिणाम-स्वरूप, आगे चलकर महायानियो के, पहले तो गुह्य-समाज बनने लगे तथा कुछ और आगे चलकर उनके भीतर से वज्रयान फूट पडा जो महायान का सबसे बडा कलक बन गया।

तब भी, महायान का हम ऐतिहासिक महत्त्व मानते है और वह इस कारण कि जैसे अहिंसा का चरम विकास हम जैन मत के अनेकान्त में देखते है, वैसे ही, करुणा और मैत्री का चरम उत्कर्ष महायानी चिंतन मे प्रकट हुआ। महायान, एक साथ, बौद्ध मत का गौरव-शिखर भी है और उसका गर्त भी। शिखर इसलिए कि विचारो की दिशा मे महायान ने आकाश का स्पर्श किया। किन्तु, आचार के क्षेत्र में वज्रयान ने जो दृष्टान्त उपस्थित किया, वह गर्त का ही पर्याय था। वेदों के बाद से भारत का व्यक्तित्व बराबर विभक्त रहा था। वही विभक्तता महायान मे भी प्रकट हुई।

बुद्ध ने मनुष्य मात्र के लिए करुणा और मैत्री का सन्देश दिया था। साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य-जीवन का चरम ध्येय वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति है। जब महायानी चिंतक करुणा की निस्सीमता पर विचार करने लगे, उन्हे इस बात पर विस्मय हुआ कि भगवान ने वैयक्तिक मोक्ष को परम ध्येय कैसे मान लिया। जिस मनुष्य मे सच्ची करुणा का निवास है, वह अपने असख्य मानव-बन्धुओ को जन्म, जरा और मरण की ज्वालाओं में जलता छोडकर अपनी वैयक्तिक मुक्ति मे सन्तोष कैसे कर सकता है? इसलिए, महायानियो का सिद्धान्त यह बना कि जो साधक अपनी वैयक्तिक मुक्ति प्राप्त कर निर्वाण का अधिकारी हो गया है, उसे भी निर्वाण को स्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे बार-बार जन्म ग्रहण करके पृथ्वी पर आना चाहिए, जिससे वह असख्य जन-समुदाय को ससार के अग्निकुड से निकाल कर उसे निर्वाण का अधिकारी बना सके। जो सत और महात्मा ऐसे विश्व-कल्याण के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते है, उन्हे महायान ने बोधिसत्व कहा। सारिपुत्र और मौद्गलायन अर्हत् समझे जाते थे, महायान ने उन्हे भी बोधिसत्व की कोटि मे डाल दिया और यह कहा कि वे अभी भी अवतार लेकर मानवो का कल्याण कर रहे है।

बुद्ध वह होता है जिसने मोक्ष और निर्वाण प्राप्त कर लिया है। बोधिसत्व वे सभी लोग है जो बुद्ध बनने के प्रयास में है। पुराने बौद्ध मत का सारा जोर बुद्धत्व पर था। महायान ने अपना पूरा बल बोधिसत्व की महत्ता पर डाला। जन्म और मरण, ये दु ख अवश्य है, किन्तु, इन दु खो से भागनेवाला व्यक्ति ससार की सेवा के अयोग्य हो जाता है। व्यक्ति की मुक्ति से समष्टि की मुक्ति नही होती। अतएव, समष्टि को

दु खी छोड कर वैयक्तिक मोक्ष प्राप्त करना एक प्रकार का स्वार्थ है। जब तक एक भी व्यक्ति मोक्ष से दूर है, तब तक साधक के लिए यही उत्तम है कि वह बुद्धत्व को छोड़ कर बोधिसत्व की कोटि में बना रहे।[1]

इस विचार के आने पर महायानी बौद्ध साधकों का ध्येय बदल गया। पहले साधक जहाँ यह प्रतिज्ञा करते थे कि मैं आवागमन के बंध से छूट कर निर्वाण प्राप्त करूँगा, वहाँ अब वे यह प्रण लेने लगे कि सारे जगत् के सब प्राणियो के सभी दु खो को दूर करने के लिए मैं बुद्ध बनूंगा। बुद्ध ने मनुष्यों और देवताओ के उद्धार की बात कही थी। महायानी साधक जीव-मात्र के उद्धार को अपना ध्येय मानने लगे।

महायान के इन उदात्त ध्येयो का निरूपण आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थों में अत्यत प्रखर रूप मे मिलता है। शान्तिदेव का समय ६५० ई० के आस-पास माना जाता है। वे गुजरात के एक राज-परिवार में जनमे थे और, कहते हैं, अपने अभिषेक के केवल एक दिन पूर्व उन्होने सन्यास ले लिया था। अपने अन्तिम दिनो में वे नालन्दा में आचार्य थे। कहते हैं, उन्ही का एक दूसरा नाम भूसुक भी था। बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय और रत्न-समुच्चय, उनके तीन ग्रथ प्रसिद्ध हैं। इनमे से बोधिचर्यावतार अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ है। मानवतावाद का नारा नये युग की विशेषता है, किन्तु, यह नारा शान्तिदेव ने जिस ऊँचाई से लगाया था, उस ऊँचाई पर आज तक भी कोई पहुँचा है या नही, इसे सदिग्ध ही समझना चाहिए। केवल मानवतावाद ही नही, सपूर्ण सृष्टि की अखडनीयता एव उसकी मूलभूत एकता की जैसी प्रखर अनुभूति शान्तिदेव को हुई थी, वह आज के लिए भी नवीन है।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः
तथा जगद् भिन्नमभिन्नदुःख-सुखात्मकं सर्वमिदं तथैव।

नाना प्रकार के अवयवो से युक्त होने पर भी जैसे हमारा शरीर एक और अभिन्न है, यह जगत् भी उसी प्रकार अभिन्न है। हाथ-पैर के दु ख जैसे हमारे लिए अलग-अलग नही हैं, समस्त जगत् के सुख-दु ख भी उसी प्रकार अलग-अलग नही, बल्कि एक है।

सपूर्ण मानवता का भाग्य एक है, सारी सृष्टि की नियति एक है, अतएव, सच्चा धर्म यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सारे जगत् के क्लेश को अपना क्लेश समझे, यह अनुभूति शान्तिदेव के उद्‌गारो मे अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में प्रकट हुई। बोधिचर्यावतार मे लेखक ने कहा है कि ससार में अशुभ या अन्याय का प्रभाव बहुत बढ गया है। नाना प्रकार की शुभ चेष्टाएँ भी अवश्य हो रही हैं, किन्तु, इस भयकर अन्याय को जीतने की शक्ति

१ तुलसीदास और सूरदास के समय मे वैष्णव भी यह मानते थे कि मोक्ष-प्राप्ति की अपेक्षा यह कहीं श्रेयस्कर है कि हम अपने आराध्य की सेवा करते रहें। यह अनुभूति, कदाचित्, महायान से ही वैष्णव-धर्म मे पहुँची थी।

किसी मे भी नही है। इस पर विजय केवल 'मैत्री' पा सकती है। स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण तो दूर की बात है, "मैत्री" के नही रहने पर ससार ही अचल अथवा जड हो जाता है।

बोधिचर्यावतार मानवता की साधना का अपूर्व ग्रन्थ है। वह आज भी आधुनिक लगता है। यह भी कि सातवी सदी मे शान्तिदेव ने जो स्वप्न देखा था, उसकी पूर्ति तत्कालीन समाज के लिए अशक्य थी। हाँ, आज का मनुष्य चाहे तो उस सपने को पूर्ण कर सकता है, क्योकि अब पृथ्वी सिमट कर बहुत छोटी हो गयी है और हम उसकी एकता की अनुभूति आसानी से कर सकते हैं। शान्तिदेव का मत है कि इस दु खमय जगत् मे यदि सुख की सृष्टि करनी हो तो इसको खड-खड करके अनेक देशो, अनेक जातियो या अनेक जनो के रूप मे न देखकर एक अखड पृथ्वी या प्राणिलोक के रूप मे ही देखना चाहिए। दु ख को मेरा दु ख, तेरा दु ख, जाति का दु ख, देश का दु ख, इस प्रकार, विच्छिन्न रूप मे नही देखकर, एक अखड रूप मे देखकर ही उसका प्रतिकार करना होगा। मोहमुग्ध होकर हम लोग अपने-अपने खड सुखो के सचय की चेष्टा मे, परस्पर एक दूसरे को कष्ट पहुँचा कर, अपने मे से प्रत्येक के लिए घोर दु ख का सचय कर रहे है। बुद्ध ने मैत्री शब्द के भीतर सामाजिक अर्थ भी रखे थे। वे अर्थ पहले-पहल महायान मे ही आकर प्रकट हुए।

धर्म की सामाजिक व्याप्तियो का जैसा विशद आख्यान शान्तिदेव ने किया है, उससे यह अनुमान, अनायास ही, होता है कि मनुष्य को आगे जो कुछ करना है, उसका चिंतन-पक्ष, कदाचित्, पहले ही तैयार किया जा चुका है।

> स्वप्राणानां जगत्प्राणैर्नदीनामिव सागरैः
> अनन्तैर्यो व्यतिकरः तदेवानन्तजीवनम्।

जब अनन्त प्राणो के साथ अपने प्राण का वैसा मिलन हो, जैसा मिलन नदियो का समुद्रो के साथ होता है, तभी अनन्त जीवन की प्राप्ति होती है, अमरता अथवा निर्वाण प्राप्त करने से नही।

मोक्ष से कही श्रेयस्कर ध्येय अपने सह-बन्धुओ के कष्ट का निवारण है, इसका आख्यान करते हुए शान्तिदेव कहते हैं,

> मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः
> तैरेव ननुं पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्?

जीव जब दु ख से मुक्त होते है, तब उससे बोधिसत्व के हृदय मे जो आनन्द का समुद्र उमड पडता है, उतना ही पर्याप्त है। रसहीन मोक्ष से क्या प्रयोजन?

> एवमाकाशनिष्ठस्य सत्वधातोरनेकधा
> भवेय उपजीव्योऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः।

अनन्ताकाश में स्थित जितने सत्वधातु (यानी जीव) हैं, जब तक वे मुक्ति नही पा लेते, तब तक मैं उनकी, इसी प्रकार, सेवा करता जाऊँगा।

बोधिसत्व के मार्ग पर चलने के लिए साधक को बोधिचित्त का विकास करना होता था। बोधिचित्त की प्रार्थनाओ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधिसत्व का चरित्र नि स्वार्थ समाज-सेवी का ही चरित्र था और ये प्रार्थनाएँ, प्रार्थना न होकर, एक प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा सकल्प होती थी।

अनाथानां अहं नाथः, सार्थवाहश्च यात्रिणाम्,
पारेप्सुनां च नौभूतः, सेतुः संक्रम एव च।
दीपार्थिनामहं दीपः, शय्या शय्यार्थिनामहम्,
दासार्थिनामहं दासो भवेयम् सर्वदेहिनाम्।

गाँधीजी पर जैन शिक्षा का प्रभाव था, ऐसा बहुत लोग मानते हैं। ऐसा लगता है कि शान्तिदेव महात्मा गाँधी के, विशेष रूप से, पूर्व-पुरुष थे। गाँधीजी और मार्क्स मे एक मुख्य भेद यह है कि मार्क्स सारे भूगोल को चमडे से मढ देना चाहते है, किन्तु, गाँधी जी समझते हैं कि हर आदमी के पाँव मे जूते पहना देने से भी वही कार्य सपन्न होता है। इस विचार की अनुभूति शान्तिदेव को भी हुई थी।

भूमिं छादयितुं सर्वान् कुतश्चर्म भविष्यति?
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी।

सारी पृथ्वी को मढने के लिए चमडा कहाँ मिलेगा? पृथ्वी तो जूते के चमड़े से भी ढँकी जा सकती है।

वाह्या भावा भया तद्वत् शक्या वारयितुं नहि,
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः?

वाह्य वस्तुओ का निवारण शक्य नही है। हम अपने चित्त का निवारण करेंगे। अन्यो के निवारण करने की क्या आवश्यकता?

मैत्री अथवा प्रेम का स्वरूप क्या है? याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था, "अरी मैत्रेयि! पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नही होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। लोको के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नही होते, अपने ही प्रयोजन के लिए लोक प्रिय होते हैं।" अभिप्राय, कदाचित्, यह है कि प्रत्येक के ब्रह्मस्वरूप होने के कारण हम जब दूसरो को प्यार करते हैं, तब असल मे, हमारा प्रेम अपने आप के ही प्रति होता है। इस स्थिति को महायान ने उलट दिया। अपने आप का प्रेम स्वार्थ से दूषित होता है। प्रीति की सार्थकता तब है, जब वह दूसरो के लिए की जाय।

महायान का उत्थान ईसवी सन् की पहली शताब्दी मे हुआ। अतएव, चीन, कोरिया, जापान और तिब्बत मे यही धर्म पहुँचा—चीन में ईसा के जन्म के कोई साठ

वर्ष बाद, तिब्बत में सातवी सदी में, जापान में छठी शताब्दी मे और कोरिया में समुद्र-गुप्त के समय लगभग ३५२ ई० के पास। श्रीलका, वर्मा, श्याम और हिन्देशिया में हीनयान धर्म का प्रचार हुआ, किन्तु, नेपाल मे महायान ही फैला।

महायान धर्म का सम्यक् वर्णन सद्धर्म-पुण्डरीक में है। वेदान्त और गीता एव सामान्य जनरुचि के प्रभाव से बौद्ध मत में जो परिवर्तन हुए, वे सब इस ग्रन्थ से जाने जा सकते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक के अनुसार बुद्ध सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के प्रतीक हैं। माया उनके अधीन है। माया का प्रयोग वे लीला के लिए करते हैं। पाप बढने पर धर्म की रक्षा के लिए वे समय-समय पर अवतार लेते हैं। इस ग्रन्थ का भारत में खूब प्रचार हुआ था। विशेषत, इसका प्रभाव चीन, तिब्बत, नेपाल, जापान और कोरिया पर पडा, जहाँ महायान का प्रचार हो रहा था।

सुखावटी-व्यूह महायान-धर्म का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ है। सुखावटी उस स्वर्ग का नाम है जिसमें अमिताभ बुद्ध निवास करते हैं। पौराणिक धर्म में जैसे यह कहा गया था कि विष्णु अथवा शिव की उपासना करने से भक्त को स्वर्ग प्राप्त होता है, वैसे ही, अब यह कहा जाने लगा कि अमिताभ की भक्ति करने से मनुष्य सुखावटी-स्वर्ग को प्राप्त करता है।

सद्धर्म-पुण्डरीक और सुखावटी-व्यूह की मूल प्रतियाँ अब नही मिलती। किन्तु, उनके तिव्दती, चीनी और जापानी अनुवाद उपलब्ध हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक का चीनी में पहला अनुवाद २२३ ई० मे किया गया था और दूसरा अनुवाद २८६ ई० में। इसी प्रकार, सुखावटी व्यूह का चीनी में अनुवाद सन् १८६ ई० के पूर्व हो चुका था।

बुद्धत्व की प्राप्ति जन्म-जन्मान्तर की निरन्तर साधाना का परिणाम है, यह बात पुराने बौद्ध मत मे भी थी। अब यह कल्पना आरभ हुई कि बुद्धदेव पूर्व जन्म में कब, किस योनि में जनमे थे और प्रत्येक जन्म में सत्कर्म करते हुए उन्होंने बुद्धत्व की ओर कैसे प्रगति की थी। इस कल्पना से जातक-कथाओं का विकास हुआ जो अत्यत रोचक है।

महायान ज्यो-ज्यो हिन्दुत्व के निकट आता गया, त्यो-त्यो उसमें देवी-देवताओं की वृद्धि होने लगी। तारा, प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, ये बौद्ध सप्रदाय के ही देवता हैं। ये नये देवी-देवता उत्साह के साथ अपनाये जाने लगे, उनकी सुन्दर-सुन्दर प्रतिमाएँ, निर्मित होने लगीं और धूमधाम से उनकी पूजा भी आरभ हो गयी।

नागार्जुन का शून्यवाद

एक ओर तो महायान का लौकिक धर्म-पक्ष अति साकार और स्थूल होता जा रहा था, दूसरी ओर, इस काल का बौद्ध दार्शनिक चिन्तन पहले से भी अधिक ऊँचा उठ रहा था। महायान के दार्शनिक आचार्य नागार्जुन हुए जो कनिष्क और अश्वघोष के सम-कालीन थे और विदर्भदेश (बरार) में रहते थे। वे ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे। ईसा की

पहली शताब्दी मे उन्होने शून्यवाद पर गम्भीरता से विचार किया और माध्यमिक-कारिका नामक अद्भुत दर्शन की रचना की, जिसे समझने मे पण्डितो का दिमाग आज भी चक्कर खाता है। रूस के प्रसिद्ध दार्शनिक और भारतीय विद्या के उद्भट विद्वान्, स्वर्गीय प्रोफेसर शेरवास्की ने सन् १९२७ ई० मे अपनी किताब में लिखा था कि नागार्जुन की गिनती विश्वके बडे-से-बडे दार्शनिको मे की जानी चाहिए। यह भी कहा जाता है कि नागार्जुन नही हुए होते, तो भारत मे शकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन का आविर्भाव नही होता।

उपनिषद, बौद्ध धर्म या नागार्जुन के चिन्तन मे शून्यता शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, वह वही नही है, जिसे अपने दैनिक जीवन मे हम समझते हैं। हम लोग तो शून्य का अर्थ रिक्त या खाली मानते है, जिसमें कोई चीज नही रहती। लेकिन, दर्शन में यह शब्द उस अवस्था का सकेत करता है, जिसमें से सारी चीजे निकली हैं। नागार्जुन का मत है कि हर चीज शून्य है। सत्य के दो रूप हैं, एक सवृति-सत्य और दूसरा परमार्थ-सत्य। सवृति-सत्य वह है जो दिखायी पडता है, किन्तु, जो सत्य का असली रूप नही है। परमार्थ-सत्य वह है, जो दिखायी नही पड़ता है, किन्तु, जो सत्य का असली रूप है। संवृति-सत्य दिखायी तो पड़ता है, मगर, उसका यह दिखायी पड़ना ही असत्य है। हम जो कुछ देखते हैं, वह शून्य है, स्वप्न है, कुछ नही मे कुछ का मिथ्याभास है। तब भी, व्यवहार में हमे इसे सत्य मान लेना पडता है। हर चीज शून्य है, यह सुनने मे विचित्र चाहे जितना भी लगे, लेकिन, यही एक मात्र अन्तिम सत्य है। इस सत्य पर विश्वास तभी होता है, जब मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त करता है। बुद्धि से यह सत्य पकडा नही जा सकता। केवल अनुभव से ही हम उस नि शब्दता को सुन सकते हैं जो अस्ति और नास्ति के परे है।

अगर बुद्धत्व के स्थान पर हम आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान रख दें तो यह बिलकुल शकर का मत हो जाता है। जो लोग शकराचार्य पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होने बौद्ध धर्म को नेस्तनाबूद किया, वे सत्य के एक ही पक्ष पर जोर देते हैं। सच्ची बात यह है कि उपनिषद् और बौद्ध मत के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य नागार्जुन ने किया और शकर ने, अपने समय मे आकर, इस समन्वय को शुद्ध वैदिक रूप दे दिया। शाकर मत का बौद्ध मत से इतना मेल है कि शकराचार्य को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहने लगे थे।

शकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और गोविन्दाचार्य के गुरु गौडपादाचार्य थे। गौडपादाचार्य ने माडूक्योपनिषद पर जो कारिका लिखी है, वह उपलब्ध है। इस कारिका को देख कर कई पडितो ने यह मत बनाया है कि गौड़पदाचार्य बुद्ध के भक्त थे।[1]

---

१ ज्ञानेनाऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्
ज्ञेयाभिन्नेन सबुद्ध तं वन्दे द्विपदा वरम्।

(मण्डूक्यकारिका, चतुर्थ प्रकरण)

अर्थात् ज्ञेय धर्मो से अभिन्न, आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश पदार्थों को जान लिया, उस द्विपद श्रेष्ठ सबुद्ध को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह भी कहा जाता है कि तत्कालीन बौद्ध पडितो से एक ही विषय मे उनका मतभेद था। बौद्ध पडित ज्ञान को अनित्य समझते थे और गौडपाद नित्य। तत्व-सग्रहकार शातरक्षित (सन् ७०५ से ७६२ ई०, सभवत गौडपाद के समकालीन) का मत भी यही जान पडता है कि "अद्वैतवादियो के दर्शन मे केवल यही दोष है कि उनके विचार से ज्ञान नित्य है। अन्य विषयो मे उनके और बौद्धो के दर्शन में कोई भेद नही है।" (धर्मानन्द कोसम्बी)। गौडपादाचार्य को अद्वैताचार्य भी कहते हैं। उनका कहना था कि "विवाद तो द्वैतवादी करते हैं। अद्वैत मे सबका समन्वय है। हमसे किसी का विवाद हो ही कैसे सकता है?" सच पूछिये तो हिन्दुत्व और बौद्ध मत, तत्वत, एक ही धर्म है और दोनो के बीच वही सबध है जो ईसाइयत के प्राचीन और नवीन टेस्टामेटो मे है। बौद्ध मत उसी धर्म का नवीन सस्करण है, जिसका प्राचीन आख्यान वैदिक धर्म है। सर हरिसिह गौड ने एक बार गाँधीजी को यह सलाह दी थी कि अब हिन्दुत्व के उसी रूप का प्रचार किया जाना चाहिए, जिसका आख्यान महात्मा बुद्ध ने किया है।

वैदिक मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत का क्या प्रभाव पडा, इसे समझने का सही दृष्टिकोण यह है कि बौद्ध या जैन धर्म कोई विदेशी धर्म नही था, जो बाहर से इस देश मे आया हो तथा जिसके साथ बहुत-सी ऐसी बातें इस देश मे आयी हो, जो पहले यहाँ नही थी। ये दोनो ही धर्म इसी देश में जनमे थे और दोनो का मूल उपनिषदो के चिन्तन में था। उपनिषदो के भीतर ही उन अनेक अन्य दर्शनो के भी बीज थे जो समय पाकर प्राचीन भारत में विकसित होते गये। इसलिए, बौद्ध मत के प्रभाव की व्याख्या इस बात की व्याख्या है कि उस मत ने यहाँ की जनता का ध्यान वैदिक धर्म की किन-किन बातो की ओर खास तौर से आकृष्ट किया और किन-किन बातो की उसने उपेक्षा या अवहेलना की। आज बौद्ध धर्म इस देश मे नही के बराबर रह गया है। मगर, तब भी उसके निशान वैदिक धर्म की उन बातो मे मौजूद है जो बुद्ध के पहले भी हिन्दू-धर्म मे थी, मगर, उस समय उन पर कोई खास जोर नही दिया जाता था। बौद्ध धर्म ने उन्हें, खास तौर से, जोर देकर ऊपर उठाया और पीछे हिन्दू-धर्म ने भी उन्हे प्रमुख मान लिया।

निवृत्ति का प्रचार

बौद्ध और जैन मत का हिन्दू-धर्म पर सबसे बडा प्रभाव निवृत्ति का प्रोत्साहन था। निवृत्ति जीवन को निस्सार और दु खपूर्ण मानने के भाव को कहते हैं। "जन्म लेना ही बुरा है, क्योकि जन्म लेने से ही जीवन के कष्टो का सामना करना पडता है। इसलिए, उचित यह है कि हम ऐसी कोशिश करें कि आगे हमारा जन्म ही नही हो।" यह बात भी उपनिषदो मे ही जन्म ले चुकी थी और दार्शनिक दृष्टि मे सोचने पर यह भयानक भी नही

मालूम होती है। लेकिन, जब हम जिन्दगी में ऐसे उपदेशों पर अमल करने लगते है, तब ससार हमारे लिए घृणा की वस्तु बन जाता है। यह भी निश्चित बात है कि जो जाति जीवन से घृणा करती है, वह जीवन पर विजय नही पा सकती। उसे तो जीवन से भागने मे ही कल्याण सूझता है। बौद्ध और जैन मतो का भीपण प्रभाव यह हुआ कि उन्होने ससार से घृणा और वैराग्य सिखा-सिखा कर यहाँ के लोगों को जीवन से विरक्त कर दिया, उनकी दृष्टि को अनामुष्मिक बना डाला यानी इन धर्मो के प्रभाव के कारण, लोग इस जीवन से अधिक, मरने के बाद प्राप्त होनेवाले जीवन की बातो पर विचार करने लगे। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्से ने ईसाइयत के साथ बौद्ध मत पर भी निवृत्ति का प्रचारक होने का दोप मढा है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक जगह इस सबध में यह शंका उठायी है कि ऐसा क्यो हुआ कि भारत मे तो बौद्ध मत से लोगो को निवृत्ति की प्रेरणा मिली, किन्तु, चीन या जापान मे ऐसी कोई बात नही हुई। फिर उन्होने स्वय ही इसका यह उत्तर दिया है कि हर देश मे यह ताकत होती है कि वह बाहर से लिये हुए धर्म को अपने स्वभाव के अनुरूप बदल दे। शायद, निवृत्तिवादी दृष्टिकोण भारत की अपनी ही विशेषता है। डाक्टर राधाकृष्णन् ने भी एक जगह लिखा है कि पश्चिमी जगत् के लोग तो जिन्दगी के भीतर घुस कर आनन्द का रस पी रहे है, मगर, पूरब के लोग अन्धकार में जीवन का अर्थ ढूँढने मे व्यस्त है। निवृत्ति भारत की विचारधारा मे बहुत दिनो से वर्त्तमान रही है। अत, बुद्धदेव और महावीर ने जब उस पर जोर डाला, तब भारत मे तो निराशा और भी गहरी हो गयी, मगर, चीन और जापान, जो, मूलत, प्रवृत्तिवादी (अथवा भारत से कम निवृत्तिवादी) थे, इसके जहर से बच गये। एक कारण यह भी समझा जाना चाहिए कि चीन और जापान मे बौद्ध धर्म का महायान रूप ही प्रचलित हुआ था, जो सन्यास-प्रधान हीनयान मत की अपेक्षा कही अधिक आशापूर्ण और उल्लासमय था।

आचार पर प्रभाव

भारत के विश्वास या दर्शन पर बौद्ध मत का कोई व्यापक प्रभाव नही है। अगर कही कोई बात मिलती भी है तो वह हिन्दू-धर्म के विकास की सीढी-जैसी दीख पडती है। उपनिपद, नागार्जुन का शून्यवाद और शकर का अद्वैत, ये तो हिन्दू-अद्वैतवाद के ही विकास के सोपान है, और नागार्जुन यहाँ, मजे मे, हिन्दू-चिन्तक के रूप मे खप जाते है। लेकिन, आचारो और रीति-रिवाजो मे बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव है। उदाहरणार्थ, अहिसा की जो भावना हमारे देश मे उतनी गाढी होती गयी, उसका कारण बौद्ध और जैन मत ही है। वैदिक आर्य खान-पान मे मास के प्रेमी थे, लेकिन, बौद्ध और जैन प्रभावो के कारण मास खाना इस देश में निपिद्ध माना जाने लगा। खान-पान मे जैन और वैष्णव एक तरह के लोग होते है। दोनो के भोजनो मे तामसिक पदार्थों का अभाव पाया

जाता है और दोनो, बात-बात मे, ऐसी पवित्रता और चौकसी बरतते हैं, जिससे उनकी जीव-दया आप-से-आप प्रकट हो जाती है।

जाति-प्रथा को चुनौती

जाति-प्रथा को चुनौती देकर बुद्ध ने इस देश मे एक महान् आन्दोलन का आरम्भ किया जो, प्राय, गाँधी तक चलता आया है और आज भी चल रहा है। उन्होने मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से पूज्य नही हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित होता है। उच्चता और नीचता जन्म पर नही, कर्म पर अवलम्बित है। इसलिए, ब्राह्मण भी पतित हो सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा के योग्य बना सकता है। इसी प्रकार, वेदो ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजो को दिया था और जब उपनिषद बढे, तब ब्राह्मणो ने उन्हें भी, ब्रह्म-विद्या का नाम देकर, शूद्रो और स्त्रियो की पहुँच से बाहर कर दिया। इसके विपरीत, बुद्धदेव ने चारो वर्णो और स्त्रियो को धर्म का अधिकार, समान रूप से, दे दिया। यह ब्राह्मण-धर्म के खिलाफ सबसे बडी बगावत थी और बौद्धो का ब्राह्मणो ने जो भी विरोध किया, वह, मुख्यत, उनके इसी विद्रोह के कारण।

बौद्ध धर्म की एक बडी विशेषता यह रही कि उसने जाति-प्रथा के खिलाफ अपने हथियार कभी नही डाले। महायान के आरभ के समय से हम बौद्ध धर्म को, दिन-दिन बदल कर, हिन्दू-धर्म के समीप आते देखते है, लेकिन, सिद्धान्तत, जाति-प्रथा का उसने कभी भी अनुकरण नही किया। यही कारण है कि महायान बिगड कर जब मत्रयान और वज्रयान बनने लगा, तब भी जातिवाद के खिलाफ उसकी कारंवाई जारी ही रही। बौद्ध धर्म ने जातिवाद का जो डट कर विरोध किया, उसी से मध्य काल मे जाकर निर्गुण मत का प्रचार करनेवाले सन्तो को यह साहस हुआ कि वे भी जाति-प्रथा को नही माने। निर्गुनियाँ सन्त, बहुत-सी बातो मे, बुद्ध के खान्दान मे पडते है और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्तिवादिता, उनका फक्कडपन, उनका सभी जातियो को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मदिर में नही, मनुष्य के हृदय मे है, ये सारी-की-सारी बाते बौद्ध धर्म की अच्छी, और फिर बाद को बिगडी हुई, परपरा से निकली है। अगर बुद्ध नही हुए होते तो इस देश मे दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरजनी में से कोई नही हुआ होता। जाति-प्रथा को शिथिल करके एव वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परपरा के अन्य साधुओ ने ही भारत मे वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनियाँ सन्तो का मत फूल-फल सका। इस देश मे विशाल मानवता का आन्दोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आन्दोलन बराबर चलता ही आ रहा है।

ध्यान देकर देखने से यह साफ मालूम होता है कि बुद्ध के समय से ही यहाँ दो तरह की विचार-धाराएँ चलती आ रही है। एक वह, जो जातियों का भेद नही मानती और जो भारत के सभी मनुष्यो को एक समाज में बाँधना चाहती है; और दूसरी वह, जो वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन करके विभिन्न जातियो को अपनी-अपनी जगह पर कायम रखना चाहती है। पहली धारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा बाद के निर्गुनियाँ सन्त है तथा उसके कवि सिद्ध साधु, कबीर और दादू दयाल है। इसी तरह, दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए जिन्होने, बार-बार, बौद्ध धर्म को दबा कर वर्णाश्रम-धर्म को ऊपर उठाने की कोशिश की और जो स्मृतियाँ रच कर जाति-प्रथा को और भी पुष्ट करते रहे। इसी धारा के मुख्य कवि विद्यापति (नैवन्विक विद्यापति) और तुलसीदास है। वैष्णव मत मे भी जहाँ कही यह विचार आता है कि, कम-से-कम, भगवान के भक्तो मे जातियो के भेद नही होते, वह बुद्ध की ही परपरा का प्रभाव समझा जायगा।

सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना

हिन्दू-जाति कुछ आलसी और अपने ही घेरे मे सन्तुष्ट रहनेवाली जाति रही है और इस आलस्य तथा सन्तोष का कारण यह नही है कि यहाँ की जलवायु मे ही आलस्य भरनेवाला गुण है, बल्कि, यह कि जीवन के सबध मे हमारी दृष्टि, यथेष्ट रूप से, प्रवृत्ति-मूलक नही रही। "जीवन कुछ नही है, ससार माया है, सुख वह नही है जो इस जीवन मे मिलता है, बल्कि, वह जिसका स्वाद हम मरने के बाद चखेगे", घूम-फिर कर ये या ऐसी बाते यहाँ के सभी धर्मो मे कही गयी है। नतीजा यह है कि हम जिन्दगी मे हलचल और बेचैनी को पसन्द नही करते। कुछ तो भाग्य का भरोसा करके और कुछ इसी वैराग्य के कारण, हम थोडे मे ही सन्तोष कर लेते है। भारतीय जीवन एक समुद्र है जो अपने-आप में ही पूर्णता का अनुभव करता है। चौहद्दी से बाहर जाकर कुछ करने-धरने का जोश यहाँ के लोगो मे कम रहा है। लेकिन, बौद्ध धर्म जब देश के बाहर फैलने लगा, तब यहाँ के लोगो का विदेश के लोगो से सम्पर्क स्थापित हो गया और वे देश से बाहर जाकर भी बसने लगे। बाहरी दुनिया से भारत का वाणिज्य का सबध तो पहले भी था, किन्तु, उसकी प्रेरणा वाणिज्य तक ही सीमित रह गयी थी। सौदागरो के सिवा, ऐसे दूसरे लोग तब तक विदेश कम जाते थे जो वाणिज्य छोड कर किसी और बात में दिलचस्पी लेते। लेकिन, धर्म-प्रचार के द्वारा सास्कृतिक सबधो का रास्ता खुला और भारत की सस्कृति भारत से निकल कर बाहर फैलने लगी। हमारे उपनिवेश भी आर्थिक दृष्टि से नही बसाये गये थे, जहाँ से धन ला-ला कर लोग अपनी मातृभूमि को सम्पन्न बनाते। बल्कि, वे भारत से बाहर भारतीय सस्कृति के अड्डे थे, जहाँ पर लेन-देन का काम धर्म और सस्कृति तक ही सीमित था।

सिंहल, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया, तिब्बत, स्याम और बर्मा में भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रचार बौद्ध मत के ही प्रचार से हुआ और वहाँ पायी जानेवाली मूर्त्तियों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रीति-रिवाजों में भारतीय संस्कृति के जो प्रमाण मिलते हैं, वे भी उसी युग के स्मारक हैं। और तो और, इन देशों ने अपनी-अपनी लिपियों में देवनागरी की वर्णमाला (अ, आ, इ, ई, क, ख, ग, आदि) तक को अपना लिया जो आज तक भी वहाँ चल रही है।

असल में, भारतीय संस्कृति का वह इतिहास पूरा नहीं समझा जाना चाहिए जो सिर्फ भारत में मिलनेवाली सामग्रियों के आधार पर लिखा जाता है। भारत के पास के देशों और टापुओं में भी यहाँ की संस्कृति और सभ्यता के बहुत-से निशान हैं और संभव है, उनमें हमारा मौलिक रूप कुछ अधिक सचाई से झलकता हो।

श्री चमनलाल की 'हिन्दू अमेरिका' नामक पुस्तक से यह, प्राय, सिद्ध हो जाता है कि मैक्सिको में एक समय हिन्दू-सभ्यता का पूरा प्रसार था। यह भी खोज का विषय है कि हमारी सभ्यता मेक्सिको कब पहुँची थी। मेक्सिको-सभ्यता का 'माया' नाम उसके भारतीय होने की ही गवाही देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत के प्रभावों की व्याख्या के सिलसिले में गीता की भी, बरबस, याद आ जाती है। विद्वानों का अनुमान है कि गीता उपनिषद ही रही होगी, बाद को चलकर, बौद्ध धर्म के प्रभावों को हिन्दू-धर्म में पचा कर गीता को किसी ने वर्त्तमान रूप दे दिया है।[1] बौद्ध धर्म के प्रसंग में गीता के समझने का मार्ग यह है कि उपनिषदों ने चिंतनशील हिन्दुओं को यह बतलाया था कि यज्ञ सिर्फ नश्वर सुख देनेवाले हैं, चाहे वे सुख इस लोक में मिलें या परलोक में। इसलिए, मनुष्य को चाहिए कि धर्म वह इन ईनामों के लोभ में आकर नहीं करे, बल्कि, इसलिए कि उसे जन्म-बध से छुटकारा पाना है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने भी, अपने-अपने ढंग पर, जनता को यही समझाया था। गीता में हम वैष्णव धर्म का जो रूप देखते हैं, वह बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभावों को अपने भीतर पचाये हुए है।

गीता की विशेषता यह है कि उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धांत इस ग्रन्थ में सामाजिक जीवन पर लागू किये गये हैं। उपनिषदों ने वैराग्य को तो मुक्ति का साधन माना, किंतु, शूद्रों को मुक्ति पाने का अधिकार नहीं दिया, क्योंकि वे वेद और उपनिषद पढ़ नहीं सकते थे। बौद्ध और जैन धर्मों ने निर्वाण या मुक्ति का वादा तो सबकेलिए किया, किन्तु उन्होंने भी एक शर्त लगा दी कि श्रमण या सन्यासी हुए बिना मुक्ति किसी को नहीं मिलेगी।

---

१. विद्वद्वर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है कि यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि, अपने मूल रूप में, गीता बुद्ध से पहले की रचना है।

गीता मुक्ति का दरवाजा सबके लिए खोलती है और यह भी कहती है कि गृहस्थी का काम करते हुए भी आदमी मोक्ष पा सकता है। गीता गृहस्थो का उपनिपद है।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता हे कि हिन्दू-धर्म बौद्ध एव जैन धर्मो के द्वारा किये जानेवाले प्रयोगो को ठीक उसी तरह सहानुभूति से देख रहा था, जैसे घर का बूढा घर के नौजवान लड़को के कामो को चाव से देखता हो, चाहे वे लडके बूढ़े के कुछ खिलाफ ही क्यो न हो। और लडको को जब कोई कामयावी मिल जाती है, तब घर का मालिक भी उसकी कीमत लगाने लगता है। यही नही, लडके जब गलती करते हैं, तब घर का मालिक उस गलती को सुधार भी देता है। इसी तरह, बौद्ध और जैन धर्मो के प्रयोग से जो बाते सच पायी गयी या जिस बात की सचाई और भी साबित हो गयी, उस बात को हिन्दू-धर्म ने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारो के बीच स्थान दे दिया। साथ ही, एकाध ऐसी बात भी थी जिसका प्रयोग तो ये नये धर्म कर रहे थे, मगर, जिसे ठीक भापा मे वे कह नही पाते थे। गीता में हिन्दू-धर्म ने ऐसे सत्यो को भी उचित भापा मे व्यक्त कर दिया।

वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध और जैन, इन चारो मतवादो के बीच विचारो के जो सघर्ष हुए, उनसे, अन्त मे जाकर, सत्य का एक अत्यन्त सुलझा हुआ रूप प्रकट हुआ। यही सत्य गीता का ज्ञान है और गीता मे ही इन चारो मतवादो का समन्वय भी झलकता है।

गीता का ज्ञान-मार्ग साख्य-मत के अनुसार है और बौद्ध तथा जैन मतो से उसकी पूरी समानता है, क्योकि ये मत भी (जैन कुछ अधिक, बौद्ध कुछ कम) निर्वाण या कैवल्य के लिए ज्ञान को आवश्यक बतलाते है। इस ज्ञान-मार्ग का पहला सकेत उपनिपदो ने किया था। बौद्ध और जैन धर्मो ने उसका वर्षो तक प्रयोग और प्रचार किया, और तब इस निखरे हुए सिद्धात को गीता ने अपने हृदय मे स्थान दे दिया।

गीता का दूसरा प्रतिपाद्य मार्ग कर्म का मार्ग है। गीता से पहले वेदो के कर्मकाड मे कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था। उधर बौद्धो और जैनो ने कर्म का अर्थ व्रत, अनुष्ठान, सदाचार, तपस्या और ध्यान बना लिया। फिर, जब गृहस्थो से यह कहा गया कि उनकी मुक्ति सन्यास लिये बिना नही हो सकती, तब गृहस्थी के सारे कर्म धार्मिक कर्म के घेरे के बाहर छूट गये। असल मे, बौद्ध और जैन महात्मा जितना ही इस बात का प्रचार करते गये कि मोक्ष के लिए सन्यास लेना जरूरी है, उतना ही, समाज मे इस भाव का प्रचार होता गया कि धर्म का असली मार्ग कर्म-न्यास यानी गृहस्थी के सभी कर्मो का त्याग है। इसी घबराहट से आजिज आकर बौद्धो ने महायान-मार्ग के खुलने पर, यह मान लिया कि मुक्ति गृहस्थ रहने पर भी मिल सकती है। लेकिन, असल मे, जो बात वे कहना चाहते थे, उसके उपयुक्त भाषा उन्हे तब भी नही मिली थी। इसीलिए, हमारा विचार है कि कर्म की वास्तविक शिक्षा देने मे बौद्ध आचार्य असफल रहे थे। कर्म के क्षेत्र में उन्होने जो भी प्रयोग किया, उसका लाभ घर के बूढे यानी हिन्दू-धर्म

ने उठाया। क्योकि यह खुलासा, अन्त मे, गीता मे ही आकर हुआ कि कर्म-न्यास का अर्थ कर्म का त्याग (अथवा सन्यास) नही, बल्कि, कर्म के फलो मे होनेवाली आसक्ति का त्याग है। यह भी ध्यान देने की बात है कि गीता के कर्मकाण्ड में केवल सन्यासी ही नही, गृहस्थो के भी कर्म शामिल है। यहाँ तक कि उससे युद्ध भी बाहर नही है अगर वह न्याय के लिए लडा जाय और लडनेवाला उसे कर्त्तव्य माने, वासना की वृद्धि का साधन नही।

गीता का भक्ति-मार्ग ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका बौद्ध धर्म से कोई सरोकार नही मालूम होता। भक्ति के बीज आर्यों के आगमन से पूर्व, इस देश में मौजूद थे, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। उपनिषदो में ये बीज, जहाँ-तहाँ, अकुरित होने लगे थे। गीता में हम इस भक्ति का पुष्पित और पल्लवित रूप देखते है। भक्ति ने ठीक इसी समय पर आकर आकार क्यो लिया, इसका कारण यह है कि जिस वस्तु का बहुत अभाव होता है, उसकी कामना लोगो को और जोर से होने लगती है। चूंकि बौद्ध मत ने भक्ति के सभी दरवाजे बन्द कर दिये थे, इसलिए, वह वैदिक धर्म के हृदय मे जोरो से बढने लगी। मालूम होता है, जब गीता मे प्रतिपादित भक्ति समाज को बहुत आकृष्ट करने लगी, तभी बौद्ध धर्म ने महायान के भीतर से बढ कर उसे कबूल कर लिया।

उपनिषद वेद से निकले थे और गीता उपनिषदो से। लेकिन, इस बीच मे, पशु-हिंसा के खिलाफ देश में जो आदोलन चलते रहे, उनका प्रभाव गीता पर खूब पडा। गीता मे देवता की प्रसन्नता के लिए जीव-हिंसा करने का उपदेश नही है, बल्कि, वह तो भगवान का पूजन पुष्प और पत्र से करने को कहती है। वैष्णव धर्म मे जीव-हिंसा की जो मनाही है वह भी, अधिकाश, मे बौद्ध और जैन धर्मों की देन है।

गीता हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। गीता की रचना के बाद हिन्दू-धर्म के जो भी व्याख्याता और सुधारक भारत मे जनमे, उन्होने अपनी पक्षसिद्धि के लिए गीता की व्याख्या अवश्य लिखी अथवा गीता को अवश्य उद्धृत किया। यहाँ तक कि अनासक्ति-योग के नाम से गीता की एक व्याख्या गाँधीजी ने भी लिखी है। वेदो और उपनिषदो की विचारधारा स्फटिक के समान उज्ज्वल होकर गीता में प्रकट हुई। कोई आश्चर्य नही कि हिन्दू मात्र गीता को धर्म का अन्तिम आख्यान मानते है।

मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण

बौद्ध काल और ब्राह्मण-काल का भेद इतिहासकार करते तो है, किन्तु, यह विभाजन ठीक है या नही, यह सदिग्ध विषय है। अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रताप खूब बढा, किन्तु, उस समय हिन्दुत्व लुप्तप्राय था, यह नही समझना चाहिए। वस्तुत, अशोक सभी धर्मों के ज्ञाता थे और उनके समय मे भी, ब्राह्मण-धर्म पूर्ण रूप से जीवित था तथा, नयी आवश्यकताओ के अनुसार, वह अपना सुधार भी कर रहा था। बुद्धदेव और

उनके अनुयायियो ने वैदिक धर्म को झकझोर कर उसकी जडता तोड डाली थी और बौद्ध-क्रान्ति की जो शिक्षाएँ अत्यावश्यक दीख पडी, उन्हे ग्रहण करके वैदिक धर्म एक वार फिर नवीन हो रहा था।

वैदिक धर्म के इस सशोधित और नवीन रूप का समय गुप्त-काल माना जाता है, किन्तु, वस्तु त, इसका आरम्भ ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से ही माना जाना चाहिए। असल में, इस प्रक्रिया के प्रमाण मौर्य-वश के पतन (ई०पू० १८०) के बाद ही दिखायी पडने लगे थे। अतएव, यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि वैदिक धर्म का जो रूप हम गुप्त-काल मे देखते है, उसकी तैयारी ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से तीन सौ वर्ष बाद तक की पाँच सदियो मे हुई थी। किन्तु, इस कालको इतिहास मे प्रमुखता नही दी जाती, जिसका मुख्य कारण यह है कि उस समय देश मे कोई सबल केन्द्रीय सत्ता नही थी। उत्तरी और पश्चिमी भारत मे, उन दिनो, शुग, कण्व, यूनानी, शक और कुषाण राजे राज कर रहे थे तथा आन्ध्र मे सातवाहनो का राज्य था। हिन्दुत्व की एक विशेषता यह भी है कि जब-जब भारत मे विदेशी नस्लो और सस्कृतियो के लोग आ बसते है, तब-तब, उसके भीतर से प्रगति का ज्वार उठने लगता है। यूनानी, शक और कुषाण लोग विदेशी थे, किन्तु, भारत आकर या तो वे हिन्दू हो गये थे अथवा बौद्ध। उनके साथ आनेवाली नयी भावनाओ ने बुद्ध से आन्दोलित ब्राह्मणत्व को और भी आन्दोलित कर दिया एव वैदिक धर्म किसी महाजागरण के आवेश मे आकर अपने भीतर नवीनता और ताजगी भरने लगा। कनिष्क के समय बौद्ध धर्म के भीतर से महायान-सम्प्रदाय का प्रकट होना ही यह बतलाता है कि मौर्यो के पतन के बाद भारतीय समाज पर ब्राह्मणत्व का रोब छा गया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक धर्म का विरोधी बौद्ध मत भी हिन्दू-लिबास पहनने को बाध्य हो गया।

मौर्यो के पतन से लेकर गुप्तो के उत्थान तक का समय हिन्दुत्व के इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल गिना जाना चाहिए। सच पूछिये तो यही वह काल है जब आर्य बदल कर हिन्दू तथा वैदिक धर्म परिवर्तित अथवा परिपक्व होकर हिन्दुत्व हो जाता है। यही वह काल है जब रामायण और महाभारत का अन्तिम सस्करण बनता है, जब स्मृतियाँ लिखी जाती है, पिछले उपनिषदो का निर्माण होता है, आरम्भ के पुराण रचे जाते है और दर्शन की अनेक शाखाओ का विकास होता है। हिन्दुत्व के रससिद्ध कवि कालिदास को लोग, व्यर्थ ही, चौथी सदी में रखते है। बहुत सभव है कि वे ईसा से कुछ पूर्व, विक्रमाब्द के आरभ मे ही, हुए हो। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्यो ने आर्येतर सस्कृतियो को अपनी सस्कृति मे पचाने का जो अभियान आरम्भ किया था, वह इसी काल मे आकर पूरा हुआ एव जिस गुह्य ज्ञान को ब्राह्मण उतने दिनो से जनता से छिपाये हुए थे, वह महाकाव्यो और पुराणो के द्वारा इसी काल मे जन-साधारण के लिए सुलभ हो गया।

बौद्ध क्रान्ति से हिन्दुत्व ने दो प्रकार की शिक्षाएँ ली। एक तो यह कि धर्म वही अच्छा है जो जनता की समझ में आये, जिसमें जनता से कोई बात छिपा कर नहीं रखी जाय और जो जनता मे उत्साह जगा सके। और दूसरी यह कि ससार-त्याग की शिक्षा पर अवलम्बित रहनेवाले धर्म को, अन्त मे, अपने आपको बचाना भी कठिन हो जाता है। बौद्ध धर्म की सफलता और असफलता से हिन्दुत्व ने जो प्रेरणा ली, वह सब-की-सब, रामायण और महाराभारत में सचित है। इन दो महाकाव्यो की कथाएँ जनता में बहुत दिनों से प्रचलित रही थी और ये कथाएँ केवल आर्यों में ही नहीं, आर्येतर समाज मे भी चालू थी। ये दोनो काव्य भी बहुत दिनो से बनते आ रहे थे। किन्तु, अब उनकी पूर्णता और परिपाक का समय आ गया था। पूर्णता पर पहुँचते-पहुँचते, इन काव्यों ने लोक-कथाओं का ऐसा विलक्षण उपयोग किया कि उनसे देश में धार्मिक जागृति की लहर आ गयी और धर्म के जो रहस्य अब तक मत्रो और अनुष्ठानों के सुरक्षित गढो मे प्रच्छन्न थे, वे चरित्रो, घटना-वर्णनो और सवादों मे मूर्त्तिमान हो उठे। हिन्दुत्व ने अब तक जो कुछ भी सोचा-समझा था, जितनी भी साधना और तपस्या की थी, जिस किसी ऊँचाई या गहराई में पहुँचा था, उसका सार भाग इन काव्यो में, अनेक रूपो मे, प्रत्यक्ष होकर खिल उठा। तब से हिन्दुत्व के रक्षक वेद और उपनिषद कम, रामायण और महाभारत अधिक रहे हैं, एव जिस किसी ने भी उपनिषद नही पढे, किन्तु, रामायण और महाभारत को पढा या सुना है, वह हिन्दुत्व के सम्बन्ध मे तनिक भी अज्ञान नहीं गिना जाता है। वेदो और उपनिषदो के तो हिन्दू जनता केवल नाम ही सुनती है, धर्म उसका वह है जो रामायण और महाभारत में लिखा हुआ है। वेदो और उपनिषदो के भी ज्ञान के सच्चे उद्धारक वाल्मीकि और व्यास हुए एव भारत नाम में जो भी गौरव है, उसे इन्ही दो आर्ष महाकवियो ने मूर्त्त रूप दिया।

भारत की एकता की सेवा भी, सबसे अधिक, इन्ही दो महाकाव्यो ने की। लका, पपापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भूभागो की कथाओ को एक ही राष्ट्रीय महाकाव्य मे गूँथ कर वाल्मीकि ने भारत की सास्कृतिक ही नही, भौगोलिक एकता को भी अक्षय तत्त्व बना दिया। इसी प्रकार, महाभारतकार ने भी देश के विभिन्न भागो मे फैली हुई विचार-धाराओं एव सस्कृतियो को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुम्फित कर दिया कि महाभारत सारे देश की जनता का कठहार हो गया। कोई आश्चर्य नही कि कालिदास से लेकर आज तक के सभी भारतीय भाषाओ के कवि रामायण और महाभारत की कथाओ पर काव्य-रचना करते रहे हैं। सारे देश का साहित्य आज भी रामायाण और महाभारत का क्षीर पान कर बलिष्ठ हो रहा है, जिससे आप-से-आप यह सत्य ध्वनित हो उठता है कि भारत की विचार-धारा एक है, भारत की मानसिकता एक है एव भारत की एक ही सस्कृति है, जिसकी सेवा विभिन्न भाषाओ में की जा रही है।

जिस सिद्धात पर आर्येतर देवता शिव आर्य-वृत्त मे लाये गये थे, उस सिद्धात की सीमाएँ इस काल मे और भी विस्तृत कर दी गयी और भारत की विभिन्न जातियो (जिनमे विदेशी जातियाँ भी सम्मिलित हैं) मे जो भी देवी-देवता थे, वे, सब-के-सब, हिन्दू-वृत्त मे गृहीत हो गये। यह भारतीय सस्कृति के हित मे बहुत बड़ा काम हुआ, क्योकि जो विदेशी जातियाँ हिन्दू बनी थी उन्हे यह सोचने का अवसर ही नही रहा कि वे किसी अपर धर्म मे आयी है। कृष्ण का गोपाल और रसिक रूप, कदाचित्, इसी समय प्रचलित हुआ और, सभव है, राधा की कल्पना भी कृष्ण-कथा के आसपास इसी समय से मँडलाने लगी हो, यद्यपि, कृष्णचरित्र के साथ उसका लिखित गुफन बहुत बाद को हुआ। कार्तिक और गणेश इसी काल में हिन्दू देवता के पद पर आये। राम और कृष्ण इसी काल से अवतार के रूप मे प्रसिद्ध हुए और इसी काल से दुर्गा शिव की शक्ति मानी जाने लगी। राम, कृष्ण, शिव और पार्वती, हिन्दू-धर्म के ये चार देवता तभी से पूजित चले आ रहे है। जिस प्रकार, शिव आर्येतर देवता है और उनके व्यक्तित्व मे उनके समान अनेक आर्येतर देवताओ का व्यक्तित्व पचा हुआ है, उसी प्रकार, आज की शक्ति-पूजा भी उस प्रकार की अनेक आर्येतर पूजाओ का आर्यीकृत रूप है।

बौद्ध मत गार्हस्थ्य से सन्यास को बहुत अधिक महत्त्व देता था, अतएव, धर्म के विषय मे जिन्हें भी उत्साह होता, वे युवक होने पर भी, सन्यासी हो जाते थे। इससे समाज की प्रत्यक्ष हानि हो रही थी। अतएव, हिन्दुत्व ने इस काल मे पुरुषार्थ के चार सोपान बनाये एव उन्हे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से विख्यात किया। धर्म तो सबके लिए आवश्यक बताया गया, किंतु, मोक्ष-साधना के लिए वह उम्र बतायी गयी जब मनुष्य गृहस्थ-धर्म का पालन कर चुकता है, जब वह पितृ, ऋषि और देव ऋणो से मुक्त हो जाता है।[1] निवृत्ति या सन्यास का हिन्दुत्व ने खण्डन नही किया, प्रत्युत, उसने यह बताया कि, अनुपातत, निवृत्ति का स्थान जीवन मे एक चौथाई होना चाहिए, अर्थात् मनुष्य की पूरी शक्ति का तीन अश धर्म, अर्थ और काम के सेवन मे जाना चाहिए, बाकी एक अश वह सन्यास को दे सकता है। हिन्दुत्व निवृत्ति की बुराइयो से चौका हुआ था और वह इसे किसी भी प्रकार सीमा से आगे बढने देना नही चाहता था। इसलिए, शास्त्रो मे हम अर्थ, धर्म और काम पर ही अधिक जोर देखते है, जिनका सम्मिलित बोध 'त्रिवर्ग' शब्द से होता है। समझा यह जाता था कि पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए सन्यास आवश्यक नही है, क्योकि अर्थ और काम को धर्म के साथ भोगना ही सच्चा सन्यास है और इस

१ पिता जन्म देता है, इसलिए, पितृ-ऋण से मुक्ति तब होती है जब मनुष्य सतान उत्पन्न करता है। ऋषि ज्ञान देते है, जिससे उऋण होने का मार्ग है समाज मे विद्या और सस्कृति को प्रोत्साहन देना। एव देवता विश्व की रक्षा करते है, अतएव, उनका ऋण चुकाने का उपाय है सार्वजनिक सेवा का कार्य, जिसका ध्येय समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना है।

इस त्रिवर्ग की साधना का स्वाभाविक परिणाम मोक्ष होता है। जाग्रत हिन्दुत्व ने जिस सत्य को ग्रहण किया था, उसका ध्येय निवृत्ति नही, प्रवृत्ति थी और प्रवृत्ति को धर्माचार्य चारो ओर से पुष्ट कर रहे थे। यह प्रयास गीता में सब से अधिक सफल हुआ है।

उपनिषदो ने जो परपरा चलायी थी, वह निर्वैयक्तिक, निराकार ब्रह्म की परपरा थी। जैन और बौद्ध आचार्यो ने जनता से वह कल्पना भी छीन ली और शून्य का ध्यान करने को वे मनुष्य का परम धर्म बताने लगे। अतएव, जाग्रत हिन्दुत्व ने एक नये साहस का परिचय दिया एव उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्म की निर्वैयक्तिकता वाले अश को पीछे छोड कर वह उन अशो को आगे लाने लगा, जिनमे ब्रह्म की साकारता का आख्यान था, जिनमें यह कहा गया था कि सृष्टि ब्रह्म की रचना है और ब्रह्म से प्रेम भी किया जा सकता है, उसकी प्रार्थना भी की जा सकती है। यह परपरा गीता मे भली भाँति प्रतिपादित हो चुकी थी। अब वह काव्य और लोकप्रिय दर्शन के द्वारा जनता मे बिखेरी जाने लगी। यही से ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक त्रिमूर्त्ति की कल्पना चली। एक ही ईश्वर के तीन रूप, एक रचयिता का, एक पालक का और एक सहारक का। वैदिक आर्यो ने प्रकृति के रमणीय रूपो पर से विष्णु और भयानक रूपो पर से रुद्र की कल्पना निकाली थी। साथ ही, वे प्रजापति को भी पूजत थे। ये तीनो कल्पनाएँ देश भर की जनता के सस्कारो को साथ लेती हुई, अन्त मे, त्रिमूर्त्ति की कल्पना मे समाविष्ट हो गयी। यह हिन्दुत्व की सामासिकता का प्रोज्ज्वल प्रमाण था।

वैदिक धर्म से इस काल के हिन्दुत्व का जो भेद है, उसे एक लेखक ने यह कहकर प्रकट किया है कि वैदिक आर्य यज्ञवेदी को पूजते थे, किन्तु, इस काल के हिन्दू (अब वे शुद्ध आर्य नही थे) यज्ञवेदी के स्थान पर मन्दिर को ले आये। जो उत्साह पहले यज्ञो के लिए था, वह अब प्रतिमा-पूजन के लिए दिखायी देने लगा और जो उत्साह पहले प्रतिमा-पूजन में रहा होगा, वह अब यज्ञो के लिए शेष रह गया। आर्यो और द्रविडो की पूजाओ में भिन्नता थी। आर्य हवन करते थे, निराकार की समाधि करते थे, किन्तु, द्रविडो की पद्धति जनधर्म की पद्धति थी, उसमे पत्र-पुष्प-चन्दन के साथ स्तुति-पाठ और जनरुचि के अनुकूल अनुष्ठान होते थे। इस काल मे आकर ये दोनो पूजा-पद्धतियाँ एक हो गयी। वरन्, यह कहना चाहिए कि द्राविड पद्धति ने आर्य पद्धति को दबा दिया और हवन से कही अधिक प्रचार पूजा का हो गया। यज्ञ और हवन, एक प्रकार से, उन्ही के बीच चलते रहे जो स्मार्त हिन्दू थे।

हिन्दुत्व की स्थापना तो बुद्ध से पूर्व अवश्य हो चुकी थी, किन्तु, उसकी सभी शाखाओ का तब तक पूरा विकास नही हुआ था। इसके लिए विभिन्न जातियो के सस्कारो को आत्मसात् करना आवश्यक था, जिसकी प्रक्रिया सदियो से चली आ रही थी। गुप्त-काल तक (चौथी सदी) आते-आते, हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया और उसके वे सारे अग पुष्ट हो गये, जिन्हे हम आज देखते है। निराकार के पार्श्व मे साकार की उपासना,

निर्वैयक्तिक के साथ-साथ वैयक्तिक ब्रह्म का ध्यान, त्रिमूर्त्ति ईश्वर, दुर्गा, गणेश और दशावतार, वेद की प्रामाणिकता मे विश्वास, निष्काम कर्म की महत्ता, जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद, वर्णाश्रम और त्रिवर्ग, वैष्णव, शैव और शाक्त उपासना की विधियाँ, मन्दिर और मूर्त्ति, तीर्थ और श्राद्ध, ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिमार्ग, हिन्दुत्व के जो भी मुख्य अग है, उसके जो भी प्रधान लक्षण और विशेषताएँ है, वे गुप्त-काल तक बढकर तैयार हो गयी। इसके बाद, हिन्दुत्व के निर्माण मे कोई नयी ईंट नहीं लगी। जो भी आन्दोलन उठे, धूल झारने को उठे, जो भी धर्माचार्य आये, पपड़ियाँ तोडने को आये। तब से हिन्दुत्व, धूप और छाया मे चलता हुआ, अपने मूल रूप मे कभी भी नही बदला, यानी कही से भी उसने कोई बडा उपकरण नही लिया है।

जातियाँ जब जगती है, तब उनका भौगोलिक विस्तार भी होता है। मौर्योत्तर काल के जाग्रत भारतीय समाज मे ऐसे विस्तार की भी कामना जगी, और इसी काल मे, मलाया, जावा, सुमात्रा, वोर्नियो और हिन्द-चीन मे भारतीय सस्कृति का प्रचार हुआ एव भारत-वासियो ने वहाँ अपने राज्य कायम किये। ये राज्य तब तक चलते रहे, जब तक मुस्लिम-काल के भारतीय मुसलमानो ने इन देशो मे अपने धर्म का प्रचार नही किया। बाली द्वीप मे हिन्दू-राज्य की परपरा अभी हाल तक कायम थी। हालैंड वालो ने जब इस द्वीप पर अपना अधिकार जमाया, तब वहाँ के हिन्दू राजाओ ने डचो की अधीनता मानने से इन्कार कर दिया और सन् १९०८ ई० मे वे, सच्चे राजपूत के समान, लड़ते-लडते सगर मे बलिदान हो गये।

प्रकरण ५

प्राचीन भारत और बाह्य विश्व

पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि भारत में चिन्तन, खोज, अनुसंधान और बौद्धिक उन्नति की प्रक्रिया, प्राय, ईसवी सन् की छठी शताब्दी तक चलती रही।[1] इसके बाद उसका अवरोध हो गया और तब से लेकर उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक, इस देश ने बुद्धि के क्षेत्र मे कोई भी बडा काम नही किया। छठी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक का, प्राय, बारह सौ वर्ष का समय इस देश ने व्यर्थ गँवाया। इस काल मे हम गणित और विज्ञान की दिशा में कोई भी नयी बात नही सोच सके और, अगर शंकराचार्य को बाद दे दे तो, दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में भी, इस काल मे हमने कोई नया अनुसंधान नही किया। कुछ काम आयुर्वेद के क्षेत्र मे अवश्य हुए, मगर, वे भी युग-प्रवर्तक नही थे। हाँ, इन बारह सौ वर्षो मे यहाँ के पंडितो ने काव्य-शास्त्र पर खूब चिन्तन किया और शब्दो की शक्ति का पता लगाने में वे दुनिया के और देशो से कही आगे निकल गये। इलियट ने लिखा है कि जब आलोचना बढती है, तब रचना का ह्रास होता है। यह बात भारत पर भी लागू होती है, क्योकि भामह (छठी शताब्दी) से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक, इस देश मे संस्कृत मे जो भी काव्य-रचना की गयी, वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि तक नही पहुँच सकी। उस साहित्य मे, हम अपने जातीय जीवन का स्पन्दन नही पाते। वह पच्चीकारी के सौन्दर्य से खचाखच भरा हुआ जरूर है, लेकिन, उसमें जीवन को आलोडित करने की शक्ति का पूरा अभाव है। मध्य-कालीन हिन्दी तथा अन्य देश-भाषाओ के भक्ति-साहित्य मे नवीनता और ताजगी जरूर है, क्योकि, वह सर्वथा नूतन प्रयोग था ; मगर, बाकी तो, देश-भाषाओ में भी (विशेषत हिन्दी मे) रीति के नाम पर संस्कृत का अनुकरण ही मिलता है। जब जाति का हृदय-सरोवर सूख जाता है, वह रचना को छोड कर आलोचना मे जा फँसती है। जब नयी सूझे नही मिलती, तब कवि और कलाकार पुरानी चीजो पर ही पच्चीकारी और नक्काशी के चमत्कार दिखाने लगते है। अगर साहित्य जाति के भीतरी जीवन का प्रतिबिम्ब है, तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सातवी सदी से अठारहवी सदी तक का भारत निर्जीव देश था, उसमे परंपरा से आगे बढ कर सोचने की शक्ति नही रह गयी थी और, धर्म के मामले मे भी, वह बाहरी आडम्बरो तक ही देख सकता था। प्राय, हजार वर्षों के इस निश्चल काल मे अगर भारत की सनातन आत्मा कही कुछ तेज दिखा सकी तो

---

१ "लगभग ८०० ई० का कश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट सीधे शब्दो मे कहता है कि हम मे नयी वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहाँ है।" (इतिहास प्रवेश)।

वह सन्तो के साहित्य में। जब हिन्दू-राज्य-सत्ता बिखर गयी, पडितो की आँखे फूट गयी और पुरोहित धर्म के दलाल मात्र रह गये, तब हमारे धर्म और साहित्य, दोनों ने सन्तो की शरण पकडी और वही वे, अपने ढग पर, पलते और पुष्ट होते रहे। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत और कालिदास के बाद उतने उजागर नाम शकर, रामानुज, वल्लभाचार्य, रामानन्द, कबीर, सूरदास और तुलसीदास के ही मिलते है।

मगर, यह केवल भारत का ही हाल नहीं था। इस काल मे भारत से बाहर भी कही कोई बडा चिन्तन नही हुआ। असल मे, छठी शताब्दी तक जो कुछ भारत में सोचा जा चुका था, वही ज्ञान विश्व भर को पूँजी हुआ और इस काल मे, भारत का चिन्तन जिन-जिन देशों मे पहुँचा, उन-उन देशो में जिन्दगी की एक नयी लहर दौट गयी। खुद यूरोप मे भी वैज्ञानिकता का आरम सोलहवी सदी में हुआ और अगर यह कहे कि यूरोप मे रिनासाँ (बौद्धिक जागरण) का आरभ चौदहवी सदी में होता है, तो भी इस अनुमान के लिए आधार रह जाता है कि अरबो ने भारत से जो कुछ लिया था, यूरोप के रिनासाँ के पीछे उस ज्ञान का भी हाथ था।

बाहरी दुनिया से सम्पर्क

अभी हाल तक हिन्दू-समाज मे यह अन्धविश्वास जारी था कि विदेश जाना पाप है, बल्कि, अब भी गाँवो मे ऐसे लोग मौजूद है जो समुद्र पार जानेवाले हिन्दू को पतित समझते है। किन्तु, अत्यन्त प्राचीन काल मे समुद्र-यात्रा पाप नही समझी जाती थी।

सिन्धु-सभ्यता वालो का सुमेर और बेबिलोन से निकट का सपर्क था, यह बात अब सभी विद्वान् मानते है। जब आर्य इस देश मे आये, तब ईरान से उनका सपर्क बना रहा। सच पूछिये तो ईरानियो और वैदिक आर्यों के बीच सीमा-विभाजन-जैसी कोई बात नही थी। आर्यों के उपनिवेश मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। उधर, ईरान की तरफ के मित्तनी और हित्ताइत राजे वैदिक देवताओ की प्रार्थना करते थे। जब बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ, तब उनका धर्म पश्चिमी एशिया मे भी प्रचलित हुआ। कहते है, ईसामसीह ने जिस भूभाग मे अपना धर्मोपदेश किया, वहाँ ईसा के सैकडों वर्ष पूर्व ही, बौद्ध धर्म का अमृत बरस चुका था। बौद्ध एवं ईसाई धर्मो के बीच हम जो समानता देखते है, उसका यही कारण है। बौद्ध मत के प्रभावो के कारण ईसाइयत का उदय हुआ, इस बात को रोमन चर्च के अनुयायी मानते है, बल्कि, सेंट बोसाफेत के नाम से वे बुद्ध को भी ईसाई सन्तो में ही गिन लेते है।

सिंधु के मुहाने और ईरान की खाडी होकर भारत से यूरोप के बीच वाणिज्य-व्यापार को लेकर बडा ही गहरा सम्पर्क था। उन दिनों, हाथीदाँत, बन्दर, वस्त्र और मयूर इस देश के प्रधान निर्यात थे। ई० पू० ९७५ में राजा सोलमन ने अपने

राजमहल को सजाने के लिए भारत से बहुत-सी चीजे मँगवायी थी, इसका प्रमाण मिलता है। यूनान से भारत का सम्पर्क सिकन्दर के जमाने से ही नही, उसके बहुत पूर्व से था और दोनो देशो में दोनो देशो की भाषाओ के जानकार भी मौजूद थे। ग्रीस का यूनान नाम, असल में, उसके एक नगर आयोनिया के नाम पर चला था और आयोनिया से ही अरबो ने यूनान और भारतीयो ने यवन शब्द बना लिये।[1]

पाणिनि (ई० पू० सातवी या छठी सदी) में यवनानी लिपि का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान होता है कि उससे बहुत पूर्व, भारत और यूनान का सम्पर्क हो चुका था। इस काल मे भारत और यूनान के सबध की कडी फारस (स० पारस) या ईरान था। कहते हैं, ई० पू० ४८० में यूनान पर होनेवाले ईरानी आक्रमण में भारत के भी योद्धा शामिल थे और उस समय बहुत-से यूनानी लोग भी ईरानी साम्राज्य में अफसर थे तथा उनमें से कितने ही भारत मे भी नियुक्त थे।

ईरान के जरिये भारत के साथ होनेवाले इस गहरे सबध का प्रभाव यूनान के दर्शन पर पडा। यूनानी दर्शन का जनक थेल्स समझा जाता है। मगर, इस दर्शन की असली नीव एक्जेनोफेन, परमेनिडिज और जीनो ने डाली थी और इन दार्शनिको के चिन्तन में हम प्रकृति में छिपे हुए किसी एक परम तत्त्व की खोज को बहुत स्पष्ट पाते हैं जो बहुत-कुछ आर्यो के सर्वात्मवाद के ही समान है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक पिथेगोरस का जन्म ई० पू० ५८० मे हुआ था। उसके चरित-लेखक ने लिखा है कि पिथेगोरस ने मिस्र और असीरिया जाने के अलावा, ब्राह्मणो की भी सगति की थी। पिथेगोरस पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे विश्वास करता था और अनुमान यह है कि जन्मान्तरवाद की शिक्षा उसने हिन्दुओ से ली थी। पिथेगोरस ने यूनान को धर्म, दर्शन और गणित के सबध में जो भी ज्ञान दिया, वह सब-का-सब भारत में छठी शताब्दी के पहले ही विकसित हो चुका था। यह भी ध्यान देने की बात है कि पिथेगोरस, महावीर और बुद्ध के समान (जिनका वह समकालीन भी था) ही जीव-हिंसा का विरोध करता था। पिथेगोरस और इम्पेडोकल्स, दोनो ने दावा किया है कि अपने पुनर्जन्म की बातें उन्हे याद हैं जो भारत में बौद्ध साधको का लक्षण माना जाता था। आगे चलकर, अफलातून ने इस पुनर्जन्म के सिद्धात के साथ कर्मवाद के सिद्धान्त को मिला कर यूनान के लिए एक नवीन दर्शन की रचना की जो बिलकुल भारतीय था। यही नही, अफलातून की 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक से यह भी प्रकट होता है कि वह मानता था कि कर्मानुसार मनुष्य की आत्मा पशु-योनि मे और पशु की आत्मा मनुष्य-योनि मे जा सकती है। अफलातून के वार्तालाप में जो यह कल्पना की गयी है कि पृथ्वी परमात्मा का

---

१. यवन नाम पहले यूनानियो के लिए चलता था और उसका कोई बुरा अर्थ नही था। पीछे चलकर, इसका प्रयोग सभी विदेशियो के लिए किया जाने लगा और उसका अर्थ भी बुरा हो गया।

शरीर, स्वर्ग मस्तक, सूर्य और चन्द्रमा आँखें और आकाश मन है, वह भी उपनिषदो की विराट् की कल्पना से प्रभावित दीखती है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से भारतवर्ष में मनुष्यो का जो विभाजन हुआ, उसकी प्रतिध्वनि भी अफलातून की रिपब्लिक मे सुनायी देती है, जहाँ उसने समाज को तीन भागो (1 Guardians 2. Auxiliaries और 3. Craftsmen) मे बाँटने की बात कही है। यह भी आश्चर्य की बात है कि जैसे भारत में ये चार वर्ण ब्रह्मा के चार अंगो से उत्पन्न बताये गये है, वैसे ही, सुकरात भी उन्हे परम-पुरुष से उत्पन्न बताता है। प्लाटिनस ने ईश्वर का वर्णन 'नेति-नेति' कह कर किया है, जो फिर, उपनिषदो के नेतिवाद से प्रभावित दीखता है।

सिकन्दर के भारत-आगमन के बाद भारत और यूनान के बीच का सबंध और भी गहरा हो गया। सीरिया मे यूनानी दरबार था जहाँ मे राजदूत भारत को आते ही रहते थे। मेगस्थनीज पाटलिपुत्र कई बार आया था। उसके बाद, पाटलिपुत्र में सीरिया का राजदूत डैमेक्स नियुक्त हुआ। बिन्दुसार ने राजा एटियोकस प्रथम से शराब मँगवायी थी, यह कथा भी मिलती है। अशोक ने अपने पड़ोसी राजाओ को बौद्ध बनाने का मनसूबा बाँधा था और उसके प्रचारक एशियाई देशो मे जाने के सिवा मैसिडोनिया भी पहुँचे थे।

मौर्य-साम्राज्य के टूटने के बाद, बैक्ट्रियन यूनानियो का राज्य पंजाब तक आ पहुँचा और स्यालकोट (सागल) के राजा मिनेंडर ने बौद्ध धर्म कबूल कर लिया, यह बात मिलिन्द-प्रश्न से प्रत्यक्ष है।

ईसा की पहली सदी मे यूनानियों का राज्य यूची या कुशान जाति के हाथो मे आ पडा। कनिष्क इसी जाति का राजा था जो बौद्ध हो गया था। कनिष्क के राज्यकाल मे ही बुद्ध की पहली मूर्त्ति बनी। कहते है, कनिष्क के मूर्त्तिकार यूनान, भारत, ईरान और चीन, सभी देशो से आये थे और उसके समय मे गान्धार-कला का जो विकास हुआ, उसमे इन सभी देशो के कलाकारो का हाथ था।

कुशान राजाओ के समय रोम का साम्राज्य फ़ुरात नदी के किनारे तक फैला हुआ था, अतएव, भारत के राजाओ से रोम का निकट का सबध था। भारत के राजाओ के दूत रोम के दरबार मे जाते ही रहते थे, इसके अनेक प्रमाण मिलते है।

दक्षिण भारत मे उपजनेवाली कुछ चीजो की, रोम के बाजारो में, अच्छी खपत थी। इसलिए, मालाबार से लेकर रोम तक का समुद्री रास्ता दोनो देशो के लिए आम हो गया था। ईसा की पहली सदी मे, यूरोप और भारत के बीच, स्थल की राह जितनी छोटी थी, सन् १८३८ ई० के पूर्व तक (जब कि नवीन स्थल-मार्ग निर्धारित किया गया) वह उतनी छोटी कभी नही हो पायी थी। कहते है, पहली सदी मे भारत के लोग इटली तक सिर्फ सोलह सप्ताहो मे पहुँच जाते थे। तमिल की एक पुरानी कविता मे यवन-देश से

आनवाले जहाजो का उल्लेख है। ये यवन म्लेच्छ तो जरूर समझे जाते थे, लेकिन, राज-दरबारो में उन्हें अच्छी-अच्छी नौकरियाँ भी दी जाती थी। पेरिप्लस के एक लेख से पता चलता है कि किसी तमिल राजा के रनिवास के लिए कुछ यवनानियाँ यूनान से मँगायी गयी थी। "कनिष्क के समय के करीब, एक रोमन लेखक ने शिकायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढे-पाँच करोड का सोना खीच लेता है और यह कीमत हमे अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियो की खातिर देनी पडती है। एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियो की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आनेवाले "बुनी हुई हवा की जाली" (मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती थी।" (जयचन्द्र)।

ईसवी सन् के आरभ होते-होते, भारत का दर्शन एशिया माइनर और मिश्र के इलाको मे बहुत प्रख्यात हो गया था और तक्षशिला के विद्यालय में केवल भारतीय ही नही, बहुत-से बाहरी देशो के छात्र भी विद्या पढने आते थे। अफलातून के दर्शन की नयी व्याख्या (Neo-Platonism) करनेवाले प्लाटिनस को तो भारत के ब्राह्मण से मिलने की इतनी उत्सुकता थी कि वह ईरानी साम्राज्य पर होनेवाली चढाई में इसीलिए साथ हो गया था कि उसे कही कोई ब्राह्मण मिल जाय। प्लाटिनस की मुलाकात किसी ब्राह्मण से हुई या नही, इसका कोई प्रमाण नही मिलता है, लेकिन, अफलातून के दर्शन की उसने जो व्याख्या की है, उस पर ब्राह्मण-धर्म की स्पष्ट छाप है। "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी ह और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नही है, वे फिर से शरीर धारण नही करेगी। पूर्ण रूप से अनासक्त होने पर वे चेतन वास्तविकता मे विलीन हो जायँगी।" यह और कुछ नही, उपनिपदो के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण की प्रतिध्वनि है, जिसकी साधना भारत में की गयी थी और जिसके नाद से उस समय का सारा ससार गूँज रहा था।

क्लिमेंट (अलेक्जेड्रिया १५०-२१८ ई०) ने लिखा है कि "अलेक्जेड्रिया मे बौद्धों की सख्या बहुत है और यूनानवालो ने इन्ही बर्बरो से दर्शन चुराया है।" अलेक्जेड्रिया मे बसनेवाले बौद्धो और हिन्दुओ की सख्या बहुत काफी थी, इसके और भी अनेक प्रमाण मिलते है।

बौद्ध जातको और ईसाई धर्म-ग्रन्थो की बहुत-सी कथाएँ एक-सी लगती है। इस पर से मैक्समूलर न यह अनुमान लगाया था कि ईसाई धर्म-ग्रन्थो पर बौद्ध जातको का स्पष्ट प्रभाव है। अलेक्जेड्रिया के ईसाइयो मे माला फेरने और कृच्छ्र साधना का जो रिवाज था, वह भी उस नगर में बौद्धो के प्रभाव से ही प्रचलित हुआ था। तक्षशिला के ही समान अलेक्जेड्रिया भी विद्या का प्रख्यात केन्द्र थी। इस नगर का पतन ६४२ ई० में (मोहम्मद साहब के मरने के दस साल बाद) हुआ, जब हजरत उमर मुसलमानो के खलीफा थे। कहते ह, "अलेक्जेंड्रिया के पुस्तकालय मे इतनी पाडुलिपियाँ थी कि मुसलमान उन्हें छह महीनो तक जला कर नहाने का पानी गर्म करते रहे।" (एच० जी० राबिन्सन)।

अरबी सभ्यता के प्रधान केन्द्र बगदाद, कैरो (मिस्र) और कारडोवा (स्पेन) में बने। बगदाद की स्थापना सन् ७६२ ई० मे हुई और तभी से वह भारत और यूरोप के बीच व्यापार का प्रमुख अड्डा बन गया। इस नगर का विध्वंस सन् १२५८ ई० में मगोल लुटेरो (चगेज खाँ के उत्तराधिकारी हलाकू आदि) ने किया। मगर, जब तक यह शहर कायम था, इसके जरिये भारत का ज्ञान सारे यूरोप में पहुँचता रहा।

अरबो के पास अपनी खुद की सास्कृतिक पूँजी कम थी। उन्होंने जो कुछ भी लिया, भारत या यूनान से लिया। अलबेरूनी, जो महमूद गजनी के साथ भारत आया था, अरब देश का ही वासी था। उसे हिन्दू-सभ्यता से अनुरक्ति थी और यहाँ की सभ्यता की बहुत-सी बातें उसके मार्फत भी अरब और वहाँ से फिर यूरोप पहुँची।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राचीन काल में भारत ने स्वय अथवा एकाध बार यूनान का यत्किंचित् प्रभाव लेकर जिन विद्याओ का विकास किया था, वे विद्याएँ अरबों के द्वारा फिर यूरोप पहुँची और, इस प्रकार, प्राचीन विश्व मे ज्ञान का जो आदान-प्रदान हुआ, उसी की नीव पर आधुनिक जगत् की विद्याएँ बढी है। एक यह भी विलक्षणता है कि भारतीय पडितो ने तो यूनान का ऋण स्वीकार किया है, किन्तु, अरबी पडित एसी किसी स्वीकृति की सूचना नही देते। उदाहरण के लिए, हमारे ज्योतिष-ग्रन्थो में एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है जिससे रोमन नाम का सकेत मिलता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिष-सिद्धान्त के बारे मे भी यह कहा जाता है कि वह अलेक्जेड्रिया के विद्वान पौल के सिद्धान्तो के अनुसार लिखा गया था। इन ग्रन्थो के साथ भारत के अन्य ज्योतिष एव गणित-सबधी सस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद पहले अरबी मे हुआ और तब लैटिन में। इस प्रकार, भारत का ज्ञान सारे ससार की पूँजी बन गया।

आयुर्वेद के प्रधान आचार्य चरक कनिष्क के दरबार मे रहते थे। अतएव, अनुमान यह किया जाता है कि उन्होंने अपनी सहिता की रचना में यूनानी आयुर्वेद से भी सहायता ली होगी। बाद को, चरक-सहिता भी अरबी मे अनूदित हुई और अरबी से यह ज्ञान भी लैटिन भाषा में पहुँचा।

अरब मे भारतीय सस्कृति और ज्ञान का काफी आदर था, इस विषय मे सन्देह नही है। अरब जाति के लोग जिज्ञासु थे तथा इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होन भारत के अनेक ग्रन्थो का अनुवाद अपनी भाषा मे किया था। हिजरी सन् की दूसरी सदी में, उन्होंने बौद्ध साहित्य का अरबी मे अनुवाद किया जो 'किताबुल-बुद' और 'बिलावर वा बुदासिफ' के नाम से मशहूर है। इसी प्रकार, ज्योतिष और गणित की पुस्तको का अनुवाद उन्होंने 'सिन्द हिन्द' (सिद्धान्त) के नाम से, सुश्रुत का अनुवाद 'सुश्रुद' के नाम से, चरक का अनुवाद 'सिरक' के नाम से, पचतत्र का अनुवाद 'कलिलादमना' (करटक-दमनक) के नाम से तथा चाणक्य-नीति का अनुवाद 'शानक' के नाम से और हितोपदेश का अनुवाद 'बिदपा' के नाम से किया। कहते है, किताब सिन्दबाद की रचना भी भारतीय

कथाओ के आधार पर की गयी थी। इसके सिवा, भारतीय सस्कृति और धर्म के विषय पर अनेक अरबी यात्रियो ने (अलबेरूनी, अल-असारी, अल-नदाम आदि) भी अपनी किताबो मे अध्याय-के-अध्याय लिखे। अलकिन्दी ने भारतीय धर्म पर एक स्वतत्र ग्रन्थ ही लिख डाला। इसी प्रकार, सुलेमान और मसूदी ने भी, यात्राओ के प्रसग में, भारत-विषयक जो ज्ञान सचित किया था, उसका उपयोग उन्होंने अपनी किताबो मे खूब किया। शतरज का भारतीय खेल भी अरब होकर ही यूरोप पहुँचा। भारत में इस खेल (चतुरग) का प्रथम उल्लेख बाण (६२५ ई०) की रचना में मिलता है।

और तो और, जिन अको को हम अन्तर्राष्ट्रीय कहते है, वे भी भारत से ही अरब गये थे और अरबो से वे यूरोप को मिले, जिसका प्रमाण यह है कि अरबी मे अभी तक अको का नाम 'हिन्दसा' है। अरब मे पाये जाने के कोई एक हजार वर्ष पूर्व इन अको का प्रयोग अशोक के शिला-लेखो मे (ई० पू० २५६) हुआ था। इसी तरह, अरबी का नौबहार भारत के नवविहार का रूपान्तर-मात्र है। अचरज यह है कि अरबो ने अपने चिकित्सा-शास्त्र को यूनानी क्यो कहा, जब कि भारत के आयुर्वेद से उसका इतना मेल है। यह भी सम्भव है कि उन्होंने चिकित्सा-सबधी कुछ बातें यूनान से भी पायी हो और, इस प्रकार, इस विद्या का यूनानी नाम ही उन्हे पसन्द आ गया हो।

इसका भी प्रमाण मिला है कि भारत मे प्रचलित कथाएँ (जातक, पचतत्र, हितोपदेश, शुक-सप्तति आदि) बहुत प्राचीन काल से देश के बाहर पहुँचती रही हैं। सिंह की खाल ओढ़नेवाले गधे की कहानी अफलातून की किताब मे मिली है। शुक-सप्तति भी ईरान मे तूतीनामा के नाम से प्रचलित थी और वही से वह यूरोप पहुँची। अरेबियन नाइट्स की कहानियो की मूल रचना सन् ९५० के आस-पास हारूँ-अल-रशीद के राज्यकाल में बसरा में हुई थी। इसके लेखक ने स्वीकार किया है कि इन कहानियो का आधार ईरानी, यूनानी और भारतीय कहानियाँ हैं।

ऐसप्स फैबुल्स में जो जीव-जन्तु विषयक कहानियाँ है, वे भी पूरब से ही पश्चिम को गयी है। इसका सब से बडा प्रमाण यह है कि उनमे आनेवाले जीव सिंह, शृगाल, हाथी और मयूर, ये सब-के-सब भारतीय हैं। भारत का शृगाल ही यूरोपीय साहित्य में बदल कर लोमडी हो गया है। राबिल्सन का यह भी ख्याल है कि शेक्सपियर के नाटक मे एक पौण्ड मास की जो कथा है, वह भी जन्म से भारतीय है, यद्यपि, यह पता नही चलता कि यह कहानी शेक्सपियर को मिली कैसे।

गणित, ज्योतिष और विज्ञान

विज्ञान की उत्पत्ति के सबंध मे विल डुराट का मत है कि सारी सभ्यता के समान, यह भी कृषि से ही विकसित हुआ होगा। ज्योमेट्री (रेखागणित) का अर्थ ही जमीन नापना होता है। फसल और ऋतु के सबध मे सोचते-सोचते आदमी का ध्यान नक्षत्रों

की ओर गया होगा और उसे जंत्री, पचाग या कैलेंडर-जैसी कोई चीज तैयार करने की बात सूझी होगी, जिससे अन्त मे ज्योतिष का आविष्कार हुआ। गणितों में ज्योतिष, शायद, प्राचीनतम विद्या है और ज्योतिष मे भी फलित ज्योतिष ही पहले आया होगा। गणित ज्योतिष का विकास उन लोगो की आवश्यकता से हुआ होगा, जिन्हें नाव लेकर समुद्र पार करना पडता था। वाणिज्य-व्यापार में लगे रहनेवालों ने अक-गणित की आवश्यकता महसूस की होगी और आदिम उद्योग स्थापित करने के सिलसिले मे ही पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र का आरभ हुआ होगा।

आरभ से ही, धर्मप्राण होने के कारण, भारत के विषय में यह अनुमान है कि यहाँ विज्ञान का भी जन्म धर्म की गोद में हुआ है। आर्य ग्रहो और नक्षत्रों की ओर पूजा के भाव से देखते थे। ग्रहो की चाल समझ कर वे पर्व-त्योहार का दिन निश्चित करते थे। इसी प्रक्रिया से यहाँ ज्योतिष का विकास हुआ। इसी प्रकार, मन्त्रो का पाठ शुद्ध-शुद्ध हो, इस आवश्यकता से यहाँ व्याकरण और निरुक्त विकसित हुए। रेखागणित भी, यज्ञ की वेदी बनाने के सिलसिले मे, रेखाओं की माप-जोख से जनमा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही।

अन्यत्र की भाँति यहाँ भी, फलित ज्योतिष पहले और गणित ज्योतिष बाद को विकसित हुआ और इसका कारण, कदाचित्, यूनान का प्रभाव था, क्योकि वराहमिहिर (छठी शती) ने अपने ऊपर यूनान का ऋण स्वीकार किया है।[1] ज्योतिष और गणित के प्राचीन आचार्यो मे आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०) का स्थान भारत मे ही नही, सारे विश्व मे बहुत ऊँचा माना जाता है। उन्होंने ग्रहण की भविष्यवाणी करने की विधि निकाली थी और पहले-पहल ससार को यह ज्ञान उन्होने ही दिया था कि सूर्य स्थिर है, उसके चारो ओर पृथ्वी ही घूमती है, जिससे दिन और रात होते हैं। आर्यभट्ट के बाद, दूसरे आचार्य ब्रह्मगुप्त हुए, जिन्होंने भारत की ज्योतिष-विद्या को सगठित रूप दिया। किन्तु, वे आर्यभट्ट की पृथ्वी के घूमनेवाली घोषणा से सहमत नही हो सके। ब्रह्मगुप्त के बाद होनेवाले आचार्यो ने ज्योतिष का और विकास किया तथा पडितो का अनुमान है कि इस काल मे आकर हमारे ज्योतिष-शास्त्र पर बैबिलोन के भी ज्योतिष का प्रभाव पडा। इस काल मे भारतीय पडितो को यह पता चल गया था कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति है, जिससे वह चीजो को अपनी ओर खीच लेती है।"[2]

एक से नौ तक के अक, शून्य का गणित-सबधी महत्त्व[3] और दशमलव की पद्धति,

---

१ ज्योतिषी वराहमिहिर ने लिखा है, "यवन (यूनानी) लोग म्लेच्छ हैं, पर उनमे इस शास्त्र का ज्ञान है। इस कारण, वे ऋषियों की तरह पूजे जाते है।" (जयचंद्र)

२ आवर ओरियटल हेरिटेज—विल डुराट।

३ "इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बना ली जाय, यह आविष्कार पहले-पहल चौथी शती मे यही हुआ। यूरोपवालो ने यह तरीका तेरहवी-चौदहवी शती मे जाकर सीखा।" (जयचद्र)।

इन सारी बातो का आविष्कार भारत मे ही हुआ था और यही से ये चीजें अरब होकर पहले यूरोप और पीछे सारे ससार मे फैली। दशमलव-पद्धति का ज्ञान आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के समय इस देश मे काफी प्रचलित था। बौद्ध धर्म-प्रचारको के जरिये यह ज्ञान चीन पहुँचा और बगदाद मे इसका प्रचार सन् ८५० ई० के लगभग हुआ।

बीजगणित का विकास भारत और यूनान, दोनो ही देशो मे, शायद, स्वतत्र रूप से हुआ था, यद्यपि, कुछ पाश्चात्य पडितो का ही यह भी अनुमान है कि यह विद्या पहले भारत में जनमी और यही से वह यूनानवालो को मिली थी। अगरेजी मे इस विद्या को अलजबरा कहते है जो अरबी शब्द (अल-जबर) है। किन्तु, इससे इतना ही सिद्ध होता है कि अन्य अनेक विद्याओ की तरह, यह विद्या भी यूरोपवालो को अरब के मार्फत मिली है।

कहते है, रेखागणित (ज्योमेट्री) का स्वतत्र विकास भारत में नही हो पाया था और इस विद्या के विकास की प्रक्रिया यहाँ यूनान के प्रभाव के कारण सम्भव हुई। किन्तु, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य रेखागणित के भी आचार्य थे, यह बात भुलायी नही जा सकती। सूर्य-सिद्धान्त के बारे में भी यह माना जाता है कि उसमें ट्रिगिनामेट्री का ऐसा उन्नत रूप मिलता है, जो तत्कालीन यूनान के अनुमान के भी बाहर था।

पदार्थ-विज्ञान की दिशा मे पहला नाम कणाद का माना जाना चाहिए, जिनका मत था कि सृष्टि अणुओ से बनी हुई है। अणुवाद का समर्थन जैन-दर्शन भी करता है। उदयनाचार्य का मत था कि प्रकाश एव उष्णता का एक मात्र कारण सूर्य है और वाचस्पति मिश्र प्रकाश को भी परमाणुओ से निर्मित मानते थे। कहा जाता है कि ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में हिन्दुओ के यहाँ एक प्रकार के दिग्दर्शक यत्र का भी प्रचार था जो लोहे का होता था, तेल मे रखा जाता था और जो बराबर उत्तर दिशा की ओर इगित करता था।

रसायन-शास्त्र का विकास यहाँ आयुर्वेद और उद्योग की वृद्धि के कारण हुआ। गुप्त-काल में भारत का उद्योग बहुत बढा-चढा था और रोम वाले यह मानते थे कि कपडा रँगने, चमडा चढाने, साबुन बनाने और शीशा तथा सीमेण्ट बनाने मे भारत के कारीगर सभी देशो के कारीगरो से आगे हैं। स्वर्ण, लौह, मोती, ताम्बे और पारे की रासायनिक क्रिया का ज्ञान यहाँ खूब विकसित हो चुका था तथा छठी-सातवी सदी में औद्योगिक रसायन के क्षेत्र मे भारत सारे ससार का अग्रणी था। लोहा गलाने के काम में तो भारत, अभी हाल तक, यूरोप से आगे था।

चिकित्सा के क्षेत्र में तो प्राचीन विश्व मे, शायद, भारत सब का गुरु था। सुश्रुत (ई० पू० पाँचवी सदी), चरक (दूसरी सदी), वाग्भट्ट (छठी सदी) और भावमिश्र (१५५० ई०)—ये आयुर्वेद के चार प्रधान आचार्यों के नाम हैं, जिन्होंने शरीर-विज्ञान और ओषधि-विज्ञान की, इस देश में, बहुत उन्नति की। आयुर्वेद का विकास यहाँ बहुत दिनो तक होता रहा और जब भी कोई नयी बीमारी उत्पन्न हुई, आचार्यो ने उसकी चिकित्सा का उपाय जरूर सोचा। उपदश का उल्लेख भावमिश्र की पुस्तक में मिलता है, यद्यपि,

यूरोप से यह रोग भारत मे, पुर्तगालवालो के जरिये, अभी-अभी पहुँचा था। उन दिनो, यहाँ के वैद्य केवल औषधियो का ही प्रयोग नही करते थे, वल्कि, चीर-फाड से भी उन्हे कोई घृणा नही थी। शल्य-चिकित्सा के यहाँ कोई सवा नौ सौ औजार प्रचलित थे और गैरिसन का कहना है कि "ऐसा कोई भी वडा ऑपरेशन नही था, जिसे प्राचीन हिन्दू सफलतापूर्वक नही कर सकते थे।" जव भारत के पतन का दिन आया, हमारा धर्म जड हो गया और मिथ्या पवित्रता की रक्षा के लिए जैसे लोग समुद्र-यात्रा को पाप समझने लगे, वैसे ही, उन्होने शल्य-चिकित्सा को भी छोड दिया। आज तो आयुर्वेद मे शल्य-चिकित्सा की बात ही कपोल-कल्पित-सी लगती है, मगर, प्राचीन भारत मे उसका व्यापक प्रचार था। बौद्ध ग्रन्थ मे एक कथा आयी है कि जीवक नामक वैद्य ने एक सेठ के मस्तक का ऑपरेशन किया था। हैवेल ने लिखा है कि खलीफा हारूँ-अल-रशीद भारत की चिकित्सा-पद्धति का पूरा कायल था और अपने राज्य मे, अस्पतालो का सगठन करने के लिए, उसने भारत से अनेक वैद्य वुलवाये थे। लाला लाजपत राय ने अपनी 'अनहेपी इडिया' मे लार्ड एम्पथिल का यह मत उद्धृत किया है कि "मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा-सवधी सारा ज्ञान अरवो से मिला था और अरवो को भारत से।"

बृहत्तर भारत से संबंध

वर्मा और श्याम से दक्षिण और पूर्व की ओर जो भूभाग और अनेक द्वीप ह, उन्ही का नाम बृहत्तर भारत है। श्याम से पूरव की ओर जो इडोचायना नामक देश है वह, असल में, भारतीय सस्कृति का ही वह क्षेत्र है जो चीन के पास पड़ता है। इसलिए, उसका इडो-चायना, हिन्दचीन या भारत-चीन नाम वहुत ही सार्थक है। इसी प्रकार, इडोनेशिया नाम दो यूनानी शब्दो के योग से वना है। इडो (Indos)=इडिया या भारत+नेसस (Nesos) द्वीप। अतएव, इडोनेशिया का अर्थ भारत-द्वीप है। यह नाम ही सूचित करता है कि किसी समय सास्कृतिक दृष्टि मे भारत और इडोनेशिया एक ही देश थे।

बृहत्तर भारत के नाम से जिन भूभागो और द्वीपो का वोध होता है, वे एक समय भारत के उपनिवेश नही, उसके अंग समझे जाते थे। प्राचीन भारत के हिन्दू वडे साहसी व्यापारी थे। इसके सिवा, उनमे अपनी सस्कृति और धर्म के प्रचार का भी पूरा उत्साह था। इतिहास यह तो नही वतलाता हे कि भारतवासियो ने अन्य जातियो को अपना दास वनाने के लिए कभी दूसरे देशो पर आक्रमण किया, किन्तु, यह वात तो सिद्ध है कि धर्म एव सस्कृति के प्रचारार्थ तथा व्यापार के लिए भारतवासी दूर देशो की यात्राएँ करते थे, वडी-वडी नौकाओं का वेडा लेकर हजारो मील समुद्र के पार चले जाते थे और वन-पर्वतो को लाँघ कर दूसरे देशो से सवध स्थापित करते थे। भारत का व्यापार पूर्वी और पश्चिमी, दोनो ही दिशाओ के देशो के साथ चलता था और दोनो ही दिशाओ से

उसका सास्कृतिक सबध भी था। किन्तु, उन दिनो की याद अब केवल भारत-चीन और भारत-द्वीपो में ही बची हुई है। और ऐसा लगता है, मानो, भारतीय जनता यदि देश के बाहर की जनता से अपना सास्कृतिक संबध बढाना चाहे तो इस कार्य मे उसे जितनी सफलता बर्मा, श्याम, भारत-चीन, मलाया, सुमात्रा, जावा और बाली में मिलेगी, उतनी और कही नही मिल सकती। इन देशो मे अब इस्लाम और ईसाइयत का प्रचार है और हिन्दू वहाँ बहुत कम रह गये हैं। किन्तु, सास्कृतिक दृष्टि से वहाँ की जनता पर भारतीयता की अब भी स्पष्ट छाप है—यहाँ तक कि जावा के मुसलमान भी मूर्त्तियो पर पुष्प चढाने, मन्दिरो मे आरती जलाने तथा पवित्रतापूर्वक उनकी रक्षा करने मे कोई दोष नही मानते। उनके नाटक और गीत अब भी रामायण और महाभारत की कथाओ का आधार ले कर चलते हैं तथा उनके नाम और उपाधियाँ अब भी संस्कृत-पूर्ण होती हैं। भारत-द्वीप (इडोनेशिया) के राष्ट्रपति का सुकर्णो नाम उनके पिता जी ने महाभारत के पात्र, महारथी कर्ण के नाम पर रखा था एव वहाँ के एक प्रधान मत्री का नाम सस्कृत नाम "शास्त्र-अमितजय" से निकला हुआ है। जोगजकर्ता के सुलतान की उपाधि, 'भुवनो-सेनापति' शुद्ध सस्कृत उपाधि हे एव द्वीपो के जावा, सुमात्रा आदि नाम भी सस्कृत नामो के तत्सम या तद्भव रूप हैं। भारत-द्वीप के राष्ट्रपति डाक्टर सुकर्णो ने पडित जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखते हुए एक बार लिखा था कि "आपका देश और आपकी जनता, इतिहास के आरभ काल से ही, हमारे साथ रक्त और सस्कृति, दोनो ही, सूत्रो से बँधी हुई है। इडिया नाम को एक क्षण के लिए भी विस्मृत करना हमारे लिए असभव है, क्योकि यह शब्द हमारे देश के नाम का प्रथमार्द्ध (इडो) है। जिस स्थान से मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ उसका जोगजकर्ता नाम भी (योग्यकर्त्ता) जावा और सुमात्रा के समान शुद्ध सस्कृत नाम है। आपके प्राचीन देश की सस्कृति का उत्तराधिकार हमे कहाँ तक प्राप्त हुआ है, इसका एक उज्ज्वल प्रमाण मेरा अपना नाम भी है। जब मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ, तभी प्रोवोलिंगो के बन्दरगाह में एक जहाज पर चावल लादा जा रहा है, जो भारत भेजा जायेगा। प्रोवोलिंगो नाम दो सस्कृत शब्दो—पूर्व और कलिंग—के योग से बना है। यही वह स्थान है, जहाँ पर पहले-पहल भारतीयो की टुकडी इडोनेशिया में उतरी थी। वे लोग कलिग के वासी थे और यव की खोज करते हुए यहाँ आये थे जिससे इस देश का नाम जावा पड गया।"

डाक्टर सुकर्णो ने जो भाव व्यक्त किया है, वही भाव भारत, चीन, सुमात्रा, मलाया और बोर्नियो तथा बाली के निवासियो का भी हो सकता है। क्योकि हमारा जो सबध यवद्वीप के साथ था, वही सबध सभी दक्षिण-पूर्वी द्वीपो के साथ रहा होगा। इस सबध की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ द्वीपो मे उपलब्ध भारतीय लक्षणो को अलग-अलग समझने की चेष्टा करें।

बाली-द्वीप

आज भारत से बाहर भारतीयता का सबसे प्रोज्ज्वल प्रमाण यदि कही अवशिष्ट है तो वह बाली द्वीप में है। यह द्वीप भारत से कोई तीन हजार मील दूर, सुमात्रा से भी पूर्व की ओर बसा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २२४३ वर्गमील और जनसख्या कोई पन्द्रह लाख है जिसमे से अधिकाश लोग आज भी हिन्दू हैं। ये लोग शैव हैं। किन्तु, सच्चे हिन्दू के समान वे पचदेवताओ मे से प्रत्येक की पूजा करते हैं। उनके मत्र और स्तोत्र, सब सस्कृत में होते हैं एव उनके पादण्ड (पुरोहित) आज भी सस्कृत का अभ्यास करते हैं। स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक (हिन्दू कल्चर इन ग्रेटर इडिया) में लिखा है कि बाली द्वीप मे हिन्दू धर्म जिस पवित्रता के साथ जी रहा है, उस पवित्रता के साथ वह अब भारत मे भी उपलब्ध नही है।

कहते हैं, बाली नाम बलि से निकला है। पुराणो मे वामन-बलि की जो कथा है उसमे कहा गया है कि राजा बलि पाताल मे राज्य करता था। वही पाताल यह बाली देश है और बलि यही के राजा थे। विद्वानो का अनुमान है कि बलि के समय यह द्वीप भारत के साथ स्थल मार्ग से जुडा था, किन्तु, वह भूभाग, कालान्तर मे, समुद्र के भीतर चला गया। यदि यह अनुमान ठीक हो तो बाली द्वीप तो वामन भगवान का अवतार-स्थल होने के कारण, सभी हिन्दुओ का पवित्र तीर्थ-द्वीप ठहरता है।

हिन्दू बाली मे कब पहुँचे थे, इसका ठीक पता नही चलता। किन्तु, लियाग-वश के चीनी इतिहासकार (५०२ से ५५६ ई०) ने लिखा है कि बाली के राजा कौडिन्य-वंश के थे। उस राज्य का चीन के साथ भी सबध था और सन् ५१८ ई० मे बाली के राजा ने चीन के राजा के पास दूत भेजा था। ईत्सिग नामक चीनी यात्री ने लिखा है कि बाली द्वीप की जनता ने मूल-सर्वास्तिवाद-निकाय को सर्वतोभावेन ग्रहण कर लिया है।

जावा और बाली की जनता पर रामायण और महाभारत का व्यापक प्रभाव है, बल्कि, महाभारत का प्रचार जावा मे बाली से भी अधिक है। बाली की भाषा मलायी भाषा का एक रूप है, किन्तु, उसमें सस्कृत के बहुत शब्द मिले हुए हैं। बाली के ब्राह्मणो मे सस्कृत के लिए अब भी उत्साह है, क्योकि सस्कृत उनके धर्म की भाषा है। बाली के हिन्दू चतुर्वर्ण को मानते हैं, शवो को जलाते और उनका श्राद्ध भी करते हैं तथा बालिकाओ का विवाह, वहाँ, प्राय, स्वयवर-विधि से होता है। कहते हैं, बाली की जनता भारत-वासियो को सस्कृत का ज्ञाता समझती है, किन्तु, जब भारतीयो को वह अन्य भाषा बोलते देखती है, तब उसे आश्चर्य होने लगता है।

यव-द्वीप

यवद्वीप का उल्लेख वाल्मीकि-रामायण के किष्किन्धा काड मे आया है, जहाँ सुग्रीव वानरो को सीता की खोज करने के लिए अनेक दिशाओ मे भेज रहे हैं। ब्रह्माण्ड-पुराण

मे यवद्वीप के साथ मलय द्वीप, अग द्वीप, शख द्वीप, कुश द्वीप और वराह द्वीप का भी उल्लेख है। अवश्य ही, ये नाम जावा और उसके आस-पास के द्वीपो के होगे। कथासरित्सागर मे भी यवद्वीप का नाम आया है।

यवद्वीप या जावा का क्षेत्रफल ५१,४८० वर्गमील है और उसकी जनसख्या सन् १६४० ई० मे ४,८४,१६,००० थी। जावा में पर्वत की सब से ऊँची चोटी का नाम सुमेरु है। जावा की अत्यधिक जनता अब इस्लाम-धर्म को मानती है तथा हिन्दुओ की सख्या वहाँ अत्यन्त न्यून है। किन्तु, जावा की प्राचीन हिन्दू-सस्कृति का त्याग वहाँ की मुस्लिम जनता ने भी नही किया है। रामायण और महाभारत की कथाएँ जावाई जनता के जीवन मे घुली हुई है और इन कथाओ के नायको को जनता अपना आदर्श मानती है। जावा और बाली मे छाया-नाटको का बहुत प्रचलन है। वहाँ की भाषा मे छाया-नाटक को "वयग-ओरग" कहते है, जिसका मूल सस्कृत का व्यग्य शब्द है। वयग-ओरग में राम-रावण युद्ध, द्रौपदी-स्वयवर, अर्जुन-विवाह आदि दृश्य दिखाये जाते है और इन नाटको को जनता रात-रात भर देखती रहती है। जावा के अनेक खँडहरो, मदिरो एव प्रतिमालयो मे हिन्दुत्व का प्राचीन रूप सोया हुआ है, किन्तु, उसका जीता-जागता रूप वहाँ के नाटको में अब भी गतिवान् है।

कुछ इतिहासकारो का मत है कि आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्व, दक्षिण भारत के हिन्दुओ ने कम्बोज (कम्बोडिया) और जावा द्वीप मे जाकर अपने उपनिवेश बसाये थे। कुछ दूसरे लोगो का कहना है कि जावा मे उपनिवेश बसानेवाले लोग कलिंग के थे। जावा में एक सवत् अजीशक के नाम से चला था जो अब तक चालू है। यह सवत् ७८ ई० मे आरभ हुआ, जिस वर्ष भारतवर्ष में शकाब्द का आरभ हुआ था। श्री आर० सी० मजुमदार का मत है (हिन्दू कालोनीज इन द फार ईस्ट) कि ईस्वी सन् की दूसरी सदी मे जावा मे हिन्दू राज्य था, जिसका प्रमाण यह है कि जावा के राजा श्री देव वर्मन ने उसी वर्ष चीनी राजा के पास अपना दूत भेजा था।

जावा की भूमि हिन्दू-स्थापत्य और मूर्त्तिकला से खचाखच भरी हुई है। हिन्दू-कला और स्थापत्य के जो अवशेष जावा मे है, उनमे से कुछ तो खँडहर हैं और कुछ अच्छी अवस्था मे भी है। इनमे से बोरोबुदुर, प्रम्बनम, चण्डी कलासन और दियग प्लेटो के मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। बोरोबुदुर का मदिर तो ससार भर मे अपना सानी नही रखता। ससार के प्राचीन-से-प्राचीन मन्दिरो की सूची मे बोरोबुदुर के मन्दिर का स्थान बहुत ऊँचा है और हिन्दू-स्थापत्य और कला के इस विलक्षण नमूने को देखने के लिए ससार के सभी देशो के लोग वहाँ जाते है। कहते है, यह मन्दिर श्री विजय (सुमात्रा द्वीप के पलेम बग नगर का प्राचीन हिन्दू नाम श्री विजय था तथा उस द्वीप का सुवर्ण भूमि) के शैलेन्द्र वश के राजाओ ने ७५० ई० के आस-पास बनवाया था।

सामान्यत , यह माना जाता है कि भारत-द्वीप (इडोनेशिया) मे पहले वैदिक धर्म ही पहुँचा था तथा पाँचवी सदी तक उसका कोई प्रतिद्वद्वी धर्म वहाँ नही था। सन् ४१३ ई० मे फाहियान सुमात्रा गया था और उसने वहाँ वैदिक धर्म को बहुत ही समृद्ध पाया था। पाँचवी सदी मे ही कश्मीर के राजा गुणवर्मा ने बौद्ध सन्यास लिया और उसी ने जावा जाकर वहाँ के राजा और रानी को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। तब से जावाई जनता में वैदिक और बौद्ध धर्म, दोनो का प्रचार हुआ। जावा, सुमात्रा और वाली मे वैदिक धर्म और बौद्ध मत मे अन्तर बहुत ही न्यून हो गया। यही कारण है कि उन द्वीपो मे विष्णु, गरुड़, गणेश, शिव, बुद्ध आदि की जो मूर्त्तियाँ मिलती है, उनमे विलगाव करना असभव हो जाता है। वहाँ की कथाओ मे भी, कही-कही, बुद्ध शिव के छोटे भाई समझे जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध, ये चारो एक ही कोटि के देवता और परस्पर अभिन्न माने जाते है।

जब बगाल-विहार मे पालवशी राजाओ (बौद्ध) का राज्य था, तब जावा-सुमात्रा में भी बौद्ध राजे राज्य करते थे। सुमात्रा के बालपुत्र नामक बौद्ध राजा ने नालन्दा में मे एक विहार उन लोगो के आवास के लिए बनवाया था, जो जावा-सुमात्रा से तीर्थ करने को भारत आते थे। नालन्दा मे राजा देवपाल (पालवशी) का एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें उसने नालन्दा मे बनवाये गये इस विहार के लिए किन्ही पाँच ग्रामो की आय अर्पित की थी।

स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक मे यह भी बताया है कि बृहत्तर भारत मे कृष्ण की जो मूर्त्तियाँ मिलती है, उनमे कोई भी ऐसी नही है जिसके हाथ मे मुरली हो अथवा जो गोपिकाओ के साथ केलि में हो। इससे फिर यह आशका प्रबल हो जाती है कि कृष्ण का रसिक-रूप भारत मे बाद को विकसित हुआ। आरभ में कृष्ण मुरलीधर और गोपिका-वल्लभ नही थे। सच तो यह है कि बृहत्तर भारत में भारतीय सस्कृति के जो अवशेष ह, उनके अध्ययन के बिना यह बात ठीक से जानी ही नही जा सकती कि प्राचीन हिन्दुत्व का वास्तविक रूप क्या था।

सुमात्रा

भारत-द्वीप (इडोनेशिया) के अन्तर्गत कितने ही टापू और द्वीप है जिनमें से जावा, सुमात्रा, सिलिबी, बोर्नियो और न्यूगिनी प्रधान है। सुमात्रा का आकार जावा से चौगुना है, किन्तु, इसकी जनसख्या केवल ६२,१९,००४ है। पडितो का अनुमान है कि जब हिन्दू भारत से निकल कर प्रशान्त महासागर की ओर बढने लगे होगे, तब उनका सब से पहला पडाव इसी सुमात्रा द्वीप मे पड़ा होगा जिसे वे सुवर्ण-द्वीप कहते थे।

सुमात्रा मे हिन्दुओ ने जो राज्य स्थापित किया था, उसकी राजधानी श्रीविजय (आज का पलेमबग) थी। इस राज्य की स्थापना या तो चौथी सदी से पूर्व या चौथी

सदी में हुई थी। सातवी सदी मे तो श्रीविजय का प्रताप चारो ओर जगमगा रहा था। मलायू (आधुनिक जाम्बी) का राज्य श्रीविजय के अधीन हो गया था एव पास के एक दूसरे द्वीप (बका) पर भी श्रीविजय का राज्य था।

इत्सिग ने लिखा है कि दक्षिणी समुद्र मे श्रीविजय बौद्ध धर्म और सस्कृति का प्रधान केन्द्र थी एव उसका राजा एक ओर तो भारत के साथ एव दूसरी ओर चीन के साथ व्यापार के काम को खूब प्रोत्साहित करता था। श्रीविजय में रहनेवाले ये विजेता शैलेन्द्र-वश के राजे थे जिनका सघर्ष दक्षिण भारत के चोल-वशी राजाओ से भी चला था। कहते है, चोल-वशी राजाओ के धक्के से ही श्रीविजय की नीव हिल गयी।

इत्सिग जब भारत आ रहा था, तब उसने सुमात्रा में छह मास तक ठहर कर सस्कृत और पाली सीखी थी। इससे यह अनुमान होता है कि सातवी सदी मे सुमात्रा भारतीय विद्याओ के लिए भी उतनी ही प्रसिद्ध थी जितनी प्रसिद्धि नालन्दा और विक्रमशिला की थी। इत्सिग ने नालन्दा मे रहकर दस वर्ष तक अध्ययन किया था और प्रधान पडितो के समीप पहुँचने के पूर्व १०८ द्वार-पडितो ने उसकी योग्यता की जाँच की थी। अवश्य ही, यह योग्यता उसने सुमात्रा मे रहकर अर्जित की होगी। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति सुमात्रा के थे एव बौद्ध विद्या का वहाँ ऐसा प्रचार था कि विक्रमशिला के श्री दीपकर श्री ज्ञान भी सुमात्रा पधारे थे। यह भी किम्वदन्ती है कि तिब्बत जाने के पूर्व शान्तरक्षित भी श्रीविजय के आचार्य धर्मकीर्त्ति से मिलने को सुमात्रा गये थे।

बोर्नियो

मलय-द्वीप-समूह मे सब से बडा द्वीप बोर्नियो है। इसका क्षेत्रफल जावा से सात-आठ गुना अधिक है, किन्तु, जनसख्या इसकी कुल तीस लाख है। यह सारा द्वीप आदि-वासियो से भरा हुआ है जो दाक् कहलाते है। हिन्दू तो बोर्नियो मे इक्के-दुक्के ही ह, किन्तु, कुछ शिला-लेखो के मिलने के कारण यह बात निश्चित मानी जाती है कि ईस्वी सन् के आरम्भ मे बोर्नियो मे हिन्दुओ का उपनिवेश था। इसके सिवा, बोर्नियो के दो-एक स्थानो पर कुछ प्राचीन गुफाएँ भी मिली है, जिनमे हिन्दू-सस्कृति के निशान ह। गुफाओ मे जो मूर्त्तियाँ मिलती है, उनमे कुछ तो बुद्ध की ह और कुछ शिव, गणेश, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की।

हिन्द-चीन

हिन्द-चीन अथवा भारत-चीन का क्षेत्रफल २,८६,००० वर्गमील तथा जनसख्या २,७०,००,००० है। इस देश मे पाँच प्रात है जिनके नाम कोचीन-चीन, अन्नम, कम्बोडिया, तोंकिग और लाओ ह। प्राचीन काल मे अन्नम के दक्षिणी भाग मे हिन्दू

राज्य था जिसके राजा का नाम श्रीमार था। कम्बोडिया कम्बोज का रूपान्तर मात्र है। महाभारत में उल्लिखित है कि कम्बोज देश का राजा सुदक्षिण अपनी सेना के साथ कुरुक्षेत्र में कौरवों के पक्ष मे लड़ा था। कम्बोज का नाम और भी कई संस्कृत-ग्रंथों म मिलता है[1]।

हिन्दुओ ने हिन्द-चीन मे कम्बोज नामक राज्य ईस्वी सन् की पहली सदी में स्थापित किया था। उस समय, कोचीन-चीन और कम्बोडिया एक ही राज्य के अधीन थे जिसका चीनी नाम फुनान था। इतिहासकारो का मत है कि हिन्दुओं का प्रथम उपनिवेश इसी फुनान प्रांत मे बना। कहते हैं, कौडिन्य नामक एक ब्राह्मण भारत मे फुनान गया और वहाँ उसने नाग-जाति की कन्या नागिनी सोमा से व्याह किया जो उस देश की राजकुमारी थी। इसी दपति के पुत्र फुनान में कम्बोज राज्य के प्रतिष्ठाता हुए। दूसरी सदी में आकर इस वश के राजाओ ने वर्मन की उपाधि धारण की और तीसरी सदी मे उन्होने भारतवर्ष मे अपना दूत भेजा।

कम्बोज नाम कैसे चला, इस विषय म सिलवन लेवी तथा अन्य फ्रासीसी विद्वानो का मत है कि भारत से महर्षि कम्बु नाम का एक ब्राह्मण फुनान गया। उसने वहाँ मीरा नामक कुमारी से, जो किसी अप्सरा की कन्या थी, व्याह किया। अतएव, कम्बोज नाम उसी ऋषि के नाम से निकला है। कुछ दूसरे लोगो का विश्वास है कि भारतवासी अपने उपनिवेशो के नाम, प्राय, भारत म प्रख्यात नामो मे से चुनते थे। अतएव, गन्धार (अफगानिस्तान) में जो कम्बोज नगर था, उसी के अनुकरण पर, कम्बोज राज्य का नाम चला।

हिन्द-चीन म समुद्र के किनारे-किनारे चम्पा-राज्य की स्थापना द्वितीय शती में हुई। यहाँ भी राज्य का चम्पा नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि राज्य स्थापित करनेवाले हिन्दू चम्पा (भागलपुर) से आये थे। इन सभी द्वीपो का सम्मिलित नाम अगद्वीप, कदाचित्, इसलिए भी पडा हो कि इन द्वीपो में उपनिवेश बसानेवाले लोग अग, वग और कलिंग से जाते रहे हो।

स्थापत्य, मूर्त्ति और चित्रो के रूप म हिन्द-चीन में भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष विद्यमान ह। इसके सिवा, कुछ ऐसे प्रचलित रस्म-रिवाज भी हैं, जिनसे इस भूभाग मे भारतीय सस्कृति के प्राधान्य रहने का प्रमाण मिलता है। उदाहरण के लिए, कम्बोडिया में यज्ञोपवीत की प्रथा अब तक जीवित है तथा यज्ञोपवीत-सस्कार के बाद बालको को गुरु के घर भी जाना पडता है।

---

१. ब्रह्माण्ड-पुराण अध्याय ४९, श्लोक ५२ मे उन जातियो का उल्लेख है जो अगद्वीप मे बसती थी —

काम्बोजा दरदाश्चैव बब्बरा अगलौकिका।
चीनाश्चैव तुषाराश्च पह्लवाश्च क्षतोदरा।

कम्वोडिया की मिट्टी उत्तर भारत की मिट्टी के समान दीखती है और दोनो देशो की उपज मे भी समानता है। कम्वोडिया के अनेक नगरो के नाम सस्कृत नामो से निकले हैं, यद्यपि, उनके उच्चारण में किंचित् विकृति आ गयी है। इसी प्रात मे, अगकोर नामक स्थान है जहाँ भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला का विशाल खँडहर है। आज से कोई सात सौ वर्ष पूर्व, अगकोर पूर्वी विश्व में हिन्दू राज्य की सुसमृद्ध राजधानी था। प० जवाहरलाल जी ने लिखा है कि "अगकोर की राजधानी सारे ससार मे प्रख्यात थी और उसे लोग 'महारमणीय अगकोर' के नाम से जानते थे। इस नगर म दस लाख से अधिक लोग रहते थे और यह नगरी सीजर के रोम से भी वडी थी।" चौदहवी सदी म, किसी कारणवश, यह नगरी उजड गयी और तव से वह उपेक्षित ही चली आ रही थी। किन्तु, पिछली सदी म किसी फ्रासीसी पर्यटक ने उसका पता लगाया और सारे ससार को उसकी गरिमा की सूचना दी। जावा में वोरोवुदुर और कम्वोडिया मे अगकोर, ये दो भग्नावशेष ऐसे है जो हमे यह याद दिलाते हैं कि सारी पूर्वी एशिया एक समय भारत की सुगन्ध से सुगन्धित थी। कला के सेवको और विद्यार्थियो के लिए ये दोनो स्थान तीर्थ समझे जान चाहिए।

कम्वोडिया के लोग सस्कृत भाषा के वडे विद्वान् थे। आश्रमो (वन्य पाठशालाओ) का जैसा प्रचार भारत म था, वैसा ही कम्वोडिया मे भी। राजघराने के लोग ब्राह्मणो से वद की ऋचाएँ एव ज्योतिप, न्याय और व्याकरण के पाठ वडी ही श्रद्धा से सीखते थ। खमेर-शिलालेखो म से अनक शिलालख ऐसे है, जिनम वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, योग और न्याय के स्पष्ट उल्लेख है। कम्वोडिया मे भारतीय सगीत का भी चलन था। दु ख की वात है कि हम भारतवासी भारतीय सस्कृति की इस गरिमा को भूल वैठे है। किन्तु, वाहर वालो को वह याद है। सन् १९४६ ई० मे दिल्ली में एशियाई देशो का जो महा सम्मेलन हुआ, उसमे हिन्द-चीन के प्रतिनिधि श्री दाग नगोक चान ने कहा था कि "सस्कृति का एक मार्ग है, भारत जिसकी ऊँचाई पर खडा है। आज वह फिर हमारी ओर मैत्री का हाथ इसलिए वढा रहा है कि हम इस मार्ग पर फिर से चलने लगे। हम इस सकेत से प्रसन्न ह और भारत ने जो हाथ वढाया है, उसे हम वढकर थामना चाहते ह।"

चीन के साथ सम्बन्ध

भारत से चीन जानेवाले भारतीय विद्वानो मे सव से पहला नाम कश्यप मातग का आता है जिनका समय ईस्वी सन् की पहली शताब्दी है। उनके वाद भी यह सरणी अवरुद्ध नही हुई और भारत के अनेक सन्त, महात्मा, पडित और विद्वान् चीन जाते ही रहे[1]। इन पडितो के साथ सस्कृत और पाली के अनेक ग्रथ भी चीन पहुँचे और चीनी

---

१ श्री आर० सी० मजुमदार ने आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित अपनी एक वार्त्ता

में वहाँ उनका अनुवाद भी हुआ। महापडित राहुल साकृत्यायन का अनुमान है कि चीन मे अभी भी कोई पन्द्रह सौ ग्रथ ऐसे होगे जो सस्कृत अथवा पाली ग्रथो के अनुवाद है, यद्यपि, मूल सस्कृत एव पाली ग्रथ भारत मे लुप्त हो चुके है।

कहते है, पाँचवी सदी के आरभ मे कश्मीर-राज्य के किसी अमात्य का एक पुत्र भारत से चीन चला गया। वहाँ उसने किसी राजकुमारी से विवाह किया जिससे उसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कुमारजीव था। बच्चे को लेकर दपति कश्मीर चले आये और वही उसकी (कुमारजीव की) शिक्षा हुई। कुमारजीव सस्कृत और चीनी दोनों भाषाओ के प्रकाण्ड विद्वान निकले। उन्होने अश्वघोष, नागार्जुन आदि भारतीय विद्वानो और कवियो के अनेक ग्रथो का चीनी अनुवाद प्रस्तुत करके चीन मे महायान-धर्म का प्रचार किया। उनके ग्रथ आज तक चीन में वैसे ही पढे जाते है जैसे भारत मे कालिदास के।

इसी प्रकार, चीन के विद्वान भी भारत आकर ज्ञान की साधना करते थे। इन चीनी यात्रियो मे फाहियान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फाहियान पाँचवी सदी मे (३९९ से ४१४ ई०) भारत आये थे और पाटलिपुत्र मे रहकर उन्होने वर्षो ज्ञान की साधना की थी। उनका जो यात्रा-विवरण उपलब्ध है, उसमे तत्कालीन भारतीय जीवन की अनेक बाते मालूम होती है।

दूसरे चीनी यात्री ह्यू-एन-साग थे जो सातवी सदी मे भारत आये थे, जब भारत में राजा हर्षवर्द्धन का राज्य था। भारतवर्ष में वे ६२९ से ६४५ ई० तक रहे। ह्यू-एन-साग गोवी की मरुभूमि और मध्य एशिया होकर हिमालय को पार करके भारत आये थे। उनके यात्रा-विवरण से पता चलता है कि उन दिनो मध्य एशिया मे बौद्ध राजाओ का राज्य था तथा मध्य एशिया के तुर्क भी तब तक बौद्ध ही थे। ह्यू-एन-साग नालन्दा में रहकर पढते और पढाते रहे। वर्षो बाद वे नालन्दा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति भी नियुक्त हुए थे। वे लौटे भी मध्य एशिया के ही मार्ग से। उनके साथ संस्कृत के अनेक ग्रथ भारत से चीन पहुँचे। उन्होने देखा कि उस समय खुरासान, ईराक, मोसुल और सीरिया के उपान्त तक सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार था।

तीसरे चीनी यात्री इत्सिग भी सातवी सदी में ही (६७१-६९५ ई०) भारत आये थे। वे चीन-समुद्र, भारत-सागर और बगोपसागर होकर, समुद्र की राह से आये थे और रास्ते मे कई मास तक सुमात्रा मे रुककर उन्होने सस्कृत और पाली भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। वे भी नालन्दा मे अनेक वर्षों तक रहे और जब अपने देश को वापस जाने लगे तब यहाँ के अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ अपने साथ ले गये।

मे ऐसे अनेक बौद्ध पडितो के नाम गिनाये है जो भारत से चीन गये थे और जिन्होने सस्कृत और पाली की कोई तीन हजार पुस्तको का चीनी मे अनुवाद किया था। अनुवाद के ये सारे काम दसवी सदी तक पूरे हो गये थे। साहित्य के सिवा भारत का प्रभाव चीन की चित्रकारी, मूर्त्तिकला, स्थापत्य और सगीत पर भी पड़ा था।

ईसवी सन् के पहले हजार वर्षो मे भारत के सन्त, पण्डित और उपदेशक काफी सख्या मे चीन गये थे। चीन जाकर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार करनेवालो मे तीन भारतीयो के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। कुमारजीव (४०१ ई०), बुद्धभद्र (४२१ ई०) और बोधि धर्म (५२० ई०), इन तीन महापुरुषो ने चीन जाकर जो काम किया, वह आज तक याद किया जाता है। बोधि धर्म के उपदेशो से ही आगे चलकर "जेन" बौद्ध मत (अर्थात् ध्यानी बौद्ध मत) का विकास हुआ।

चीन से भी यात्री, काफी सख्या मे, भारत आते थे। उनकी सुविधा के लिए एक गुप्त सम्राट् ने बोध गया मे एक चीना-सघाराम ही बनवा रखा था।

भारतीय यात्रियो ने चीन जाकर वहाँ अपने ज्ञान, साधना और स्वभाव का जो परिचय दिया, उससे चीनी जनता भारत का प्रशसक और भक्त बन गयी। एक समय चीन में यह जनश्रुति प्रचलित थी कि जो भी अच्छी चीजे आती है, भारत से ही आती है। हाङचाउ नगर में एक छोटा-सा पर्वत है जिसे उडन-पहाड (फ्लाइग माउन्टेन) कहते है। चीन मे कहावत है कि यह पहाड भारत से ही उडकर चीन पहुँचा था। पहाड के पार्श्व में एक विशाल बौद्ध मन्दिर भी है जिसकी स्थापना एक भारतीय सन्त ने की थी। चीन मे वैदिक धर्म के भी दो-एक अवशेष मिले है जो वहाँ के सग्रहालयो में सुरक्षित है।

भारत मे बौद्ध धर्म की अवनति के साथ चीन और भारत का सबन्ध शिथिल होने लगा और, अन्त में, वह बिलकुल समाप्त हो गया। किन्तु, हजार वर्षो की सगति का प्रभाव चीन पर आज भी मौजूद है।

बुद्ध और कनफ्युसियस

जब बौद्ध मत चीन पहुँचा, उससे पूर्व कनफ्युसियस और लाओजे (Laotse), इन दो विचारको के विचार चीन मे काफी प्रसार पा चुके थे। कहा जाता है कि जिन दिनो भारत मे गौतम जनमे थे, उन्ही दिनो चीन में कनफ्युसियस और लाओजे का आविर्भाव हुआ था। कनफ्युसियस और लाओजे समकालीन थे और दोनो की मुलाकात भी हुई थी, ऐसी जनश्रुति सुनी जाती है। परपरा के अनुसार लाओजे का जन्म ई० पू० ५७० मे, बुद्ध का ई० पू० ५६३ मे और कनफ्युसियस का ई० पू० ५५१ मे हुआ था।

कनफ्युसियस का विश्वास ईश्वर में था या नही, इसका ठीक-ठीक पता नही चलता। किन्तु, आचारो के वे प्रबल समर्थक थे। पूर्वजो की पूजा करना वे विहित बताते थे और आदर्श मनुष्य की उनकी कल्पना यह थी कि उसे अपने माता-पिता और बुजुर्गो के प्रति विनम्र होना चाहिए एव राज्य-सत्ता के प्रति उसे आज्ञाकारी और भक्त रहना चाहिए। कनफ्युसियस का सारा जोर समाज के सगठन एव उसके भीतर शृखला, अनुशासन और कर्मठता के विकास पर था। उनके एक शिष्य सेकुङ् चाहते थे कि

मन्दिरो मे भेड़ो की बलि रोक दी जाय। कनफ्यूसियस ने कहा, तुम्हे भेडो पर दया आती है, लेकिन, मै सस्था मे विश्वास करता हूँ। एक बार यह पूछे जाने पर कि बुराई के बदले भलाई करने के बारे मे आपका क्या विचार है, कनफ्यूसियस ने कहा था, तो भलाई के बदले मे हमे क्या करना चाहिए। भलाई के बदले भलाई करने मे लोग भले बनते है और बुराई के बदले बुराई पाने से वे बुराई से डरते है। कनफ्यूसियस का विश्वास ज्ञान मे कम, आचार मे अधिक था। वे कहते थे, सत्य आदमी को पाकर बड़ा होता है, आदमी सत्य को पाकर नही।

लाओजे रहस्यवादी थे। उन्होने, 'ताओ' का सिद्धान्त चलाया जो बहुत-कुछ ब्रह्म के सिद्धान्त के समान था। ताओ का अर्थ पन्थ होता है। ताओ-ते-किङ् मे ताओ के बारे मे अनेक रहस्यवादी उद्गार है। "जो ताओ भाषा मे कहा जा सकता है, वह असली ताओ नही है।" "ताओ वह है जो पहले निराकार था और जिनसे सभी आकार प्रकट हुए है।" "ससार की सारी वस्तुएँ अस्तित्व मे से निकली है, किन्तु, अस्तित्व का विकास शून्य के भीतर से हुआ।' स्वर्ग, ज्ञान, शान्ति और निवृत्ति, ये ताओ सिद्धान्त के चार प्रमुख सूत्र है।

आर्थर वैले का कहना है कि लाओजे पर उपनिषद का प्रभाव था। किन्तु, यह प्रभाव कब और कैसे पडा, यह बात हम नही जानते। चीन के पडित भी लाओजे पर उपनिषदो का प्रभाव मानते है।

किन्तु, चीन मे लाओजे का प्रभाव कभी भी गहरा नही हुआ। कनफ्यूसियस समाज की ठोस सेवा का उपदेश देते थे। साथ ही, उन्होने राज्यसत्ता के प्रति भक्ति भी सिखायी थी। अतएव, चीन के राजे, चुन-चुन कर, कनफ्यूसियस-मतावलबियो को अपना मत्री और सलाहकार बनाते थे। जो विद्वान् मन से लाओजे के सिद्धान्तो मे विश्वास करता था, वह भी राज्याश्रय पाने के लोभ से ऊपर से अपने को कनफ्यूसियसवादी ही बताता था। अतएव, कनफ्यूसियस ने लाओजे को हमेशा दबा कर रखा।

चीन बौद्ध मत की ओर क्यो आकृष्ट हुआ, इसका कारण लाओजे के विचार थे। लाओजे ने एक प्रकार से बौद्ध मत के लिए ज़मीन तैयार कर रखी थी। चीन वालों ने बौद्ध मत को एक प्रकार के ताओ-धर्म के रूप में लिया। और बौद्ध मत ने भी चीन मे अपनी अभिव्यक्ति ताओ-मत की शब्दावली मे ही की। ईसा की दूसरी शताब्दी मे चीन में यह जनश्रुति भी सुनी जाती थी कि ताओ-ते-किंग लिखने के बाद लाओजे अदृश्य हो गये और वही भारत मे बुद्ध बनकर प्रकट हुए।

कनफ्यूसियस के विचार प्रवृत्तिमार्गी थे, बौद्ध मत निवृत्तिमार्गी था। तब भी, आरभ मे चीन मे बौद्ध मत के प्रचार मे कोई बडी बाधा नही आयी, क्योकि लाओजे की चालना से जगी हुई धर्म की तृषा चीनी जनता मे भी थी और वह तृषा कनफ्युसियस के शुष्क तर्को से नही, बौद्ध मत की रहस्यवादी भावना से

तृप्त हो सकती थी। किन्तु, लगभग नवी सदी के बाद बौद्ध मत को अपदस्थ करने की तैयारी चीन में शुरू हो गयी। सन् ८४४ ई० म सम्राट वुत्सुग ने सभी विदेशी धर्मों के विरुद्ध उत्पीडन की कार्रवाई शुरू कर दी जिसकी मार मे जरथुस्त्र-धर्म के साथ बौद्ध धर्म भी आ गया। राज्य-प्रश्रय बौद्ध मत को उसके बाद भी मिला, किन्तु, उसकी स्थिति डावाँडोल होने लगी। दसवी सदी तक बौद्ध मत के भीतर भारत में नये-नये, उत्तेजक विचार प्रकट हो रहे थे। इससे भी चीन में बौद्ध धर्म आकर्षण का केन्द्र बना रहा। उसके बाद, जब भारत में शैथिल्य आने लगा, तब उसका प्रभाव भारत से बाहर भी पडा और कनफ्युसियस के धक्के से चीन का बौद्ध मत कमजोर होने लगा। पेकिंग का विजेता चगेज खाँ (११६२-१२२७ ई०) और उसका पोता एव चीन का प्रथम मोगल सम्राट कुबला खाँ (१२९४ ई० मे मरा), दोनो बौद्ध थे। लेकिन, उनके बाद मिङ्-वश (१३६८ से १६४४ ई०) तथा माञ्चू-वश (१६४४ से १९१२ ई०) के अधीन कनफ्युसियस का मत ऊपर आ गया और बौद्ध मत काफी दब गया।

बर्मा और श्याम

वर्मा और श्याम के दर्शन, विचार और कला बहुत कुछ भारत के ही दर्शन, कला और विचार हैं। भारतीय सस्कृति का विस्तार वर्मा और श्याम से बहुत आगे तक था। बर्मा और श्याम तो सास्कृतिक दृष्टि से भारत के अपने अग थे। श्याम देश ने अपनी स्वाधीनता की रक्षा का बडा ही ध्यान रखा। किन्तु, वर्मा भारत के ही समान ब्रिटिश जाति का गुलाम हो गया था। सन् १९३७ ई० तक बर्मा भारतवर्ष के साथ एक ही गवर्नर जेनरल के अधीन था। स्वतत्रता के तुरत बाद दिल्ली मे जो एशियाई महासम्मेलन हुआ था, उसमे बर्मी प्रतिनिधि-मडल के नेता श्री जस्टिस क्याव मिंट ने कहा था, "मैं तो विदेश नही, अपने ही घर आया हूँ। हम सस्कृति के केन्द्र से सबद्ध है। हम भारत से विचार मे समीप है, भूगोल में समीप हैं, समाज और सस्कृति मे भी समीप है।"

इसी प्रकार, एक श्यामी छात्र ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू को शान्ति-निकेतन से पत्र लिखते हुए कहा था, "इस महान् और पुरातन देश आर्यावर्त में आने को मै अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। यहाँ आकर मैं उस भारत-मातामही के चरणो में अपना अभिनन्दन भेंट करता हूँ जिसकी गोद मे पलकर हमारी देशमाता ने यह शिक्षा पायी थी कि धर्म और सस्कृति मे जो उत्तम गुण निहित है, उन्हें किस प्रकार अपनाना चाहिए।"

समुद्र गुप्त के समय (३५२ ई०) कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ एव वहाँ की भाषा ब्राह्मी लिपि मे लिखी जाने लगी। तिब्बत में बौद्ध धर्म कुछ पहले ही पहुँच चुका था। धर्म की अभिवृद्धि के लिए वहाँ के राजा ने नालन्दा के मुख्य आचार्य श्री शान्त-रक्षित को अपने देश बुला लिया।

जापान में बौद्ध मत

जापान मे बौद्ध मत कोरिया से गया था। उस समय शिन्तो-धर्म ही जापान का धर्म था। शिन्तो धर्म चीन के कनफ्युसियस-मत से मिलता-जुलता था। इसकी भी प्रधान शिक्षा यह थी कि आदमी को पूर्वज, सम्राट और राष्ट्र के प्रति भक्त रहना चाहिए। बौद्ध मत जापान छठी शताब्दी मे पहुँचा था। नवी सदी मे आकर बौद्ध धर्म और शिन्तो-धर्म के बहुत-से देवता एकाकार हो गये। शिन्तो-धर्म के भीतर बौद्ध धर्म के कई दार्शनिक एव आचार-सबन्धी सिद्धान्त प्रविष्ट हो गये और इस मिश्रण से शिन्तो-बौद्ध-मत, एक नया नाम निकल पडा।

ध्यानी बुद्ध को लेकर बोधिधर्म ने छठी शताब्दी मे चीन मे जिस ध्यानवाद का प्रवर्तन किया था, उसका जापान मे प्रचार मियोयान एइसाइ (Myoan Eisai 1141–1215 A D) ने किया जो जेन-बौद्ध-मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। समाधि के क्रम मे रात्रि-जागरण आवश्यक कृत्य था। इस रात्रि-जागरण को सुकर बनाने के लिए ही जापानी लोग चीन से चाय के बीज ले आये और चाय की खेती का रिवाज जापान मे भी चल पडा।

चीन के बौद्ध मतावलबी मानते थे कि मुक्ति अमिताभ की कृपा से मिलती है। यह विश्वास जापान में जोडो सम्प्रदाय (१२ वी सदी) के भीतर पल्लवित हुआ। जापानी अमिताभ को अमिदा बुत्सू कहते हैं। बुत्सू जापान में बुद्ध का नाम है।

जोडो सम्प्रदाय के प्रवर्तक गेकू थे। उनके शिष्य शिनरन (Shinran) ने आचारो पर बल डाला और बौद्ध मत से प्रवृत्ति-मार्ग की शिक्षा निकाली जिस पर जापान की अपनी रुझान थी। शिनरन की इस व्याख्या का घोर विरोध निचिरेन ने किया और उन्होने यह कोशिश की कि बौद्ध मत की निवृत्ति बनी रहे एव अभिताभ की कृपा में भी जनता का विश्वास अटल बना रहे।

सन् १८६८ ई० मे शिन्तो-धर्म जापान का राज-धर्म बना दिया गया। इस प्रकार, शिन्तो-धर्म और बौद्ध मत मे जो सबन्ध रहता आया था, वह भग्न हो गया। किन्तु, आगे चलकर धार्मिक स्वतत्रता फिर से प्रचलित कर दी गयी और बौद्ध धर्म फिर फूलने-फलने लगा।

इन दिनो टोकियो में अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध समाज काम कर रहा है जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन बौद्ध धर्म को जाग्रत और प्रचलित करना है।

प्रकरण ६

बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव

क्रान्ति की गंगा में शैवाल

महात्मा बुद्ध ने क्रान्ति की जो गगा बहायी थी, उसमे शैवाल उसी के भीतर से उत्पन्न हुए। शैवाल जल से उत्पन्न होते ही हैं।

कामिनी-काचन अनन्त काल से वदनाम रहे हैं। अनन्त काल से यह समझा जाता रहा है कि जहाँ कामिनी-काचन एकत्र हुए कि मनुष्य की ऊर्ध्वग यात्रा अवरुद्ध हो जाती है और वह, शनैः-शनैः, नीचे आने लगता है। बौद्ध श्रमणो के भी पतन का कारण कामिनी-काचन-सयोग ही हुआ। स्वर्गीय धर्मानन्द कोसम्बी ने लिखा है कि "श्रमणो की अवनति का बीज उनके द्वारा स्वीकृत राज्याश्रय मे था।" यह केवल इसी कारण नही कि राज्याश्रय पाकर श्रमण आरामतलव और आलसी हो गये, वल्कि, इस कारण भी कि राज्याश्रय की लत पड जाने के कारण उनकी स्वाधीनता जाती रही। उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि राजाओ को वे मिलाकर रखे, स्वय उनसे मिलकर रहे और जो वाते राजाओ को पसद हो, उन्हे धर्म की कथाओ मे स्थान दें। पुष्यमित्र ने जब वैदिक धर्म की ध्वजा फहरा दी, तब बौद्ध श्रमण वायव्य दिशा से आनेवाले यवन और शक राजाओ का आश्रय खोजने लगे और उनकी प्रशसा धर्मग्रथो तक मे करने लगे। ऐसी बात बुद्ध के समय का भिक्षु नही कर सकता था। किन्तु, महायान-पथ मे कनिष्क की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। शक राजा वडे शूर थे और उन्हे शूरता से वडा प्रेम था। उन्हे प्रसन्न करने के लिए बौद्ध भिक्षुओ ने बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाओ (जातको) में अनेक रसो की कहानियाँ भर दी जिससे जनता का मन पौराणिक हो गया और जिन वातो को बुद्ध ने अव्याकृत कहकर छोड दिया था, उन वातो की चर्चा मे बौद्ध श्रमण जोर से पड गये। "राजाओ और वडे आदमियो का मन जीतने के लिए मूल बौद्ध साहित्य में उन्होने इतना परिवर्त्तन किया कि उसे बुद्ध का उपदेश कहना कहाँ तक उचित है, यह नही कहा जा सकता।" (कोसम्बी)।

दान और जागीर के कारण सघ राजमहल-से दीखने लगे और श्रमणो मे विलासिता की मात्रा बहुत बढ गयी। इससे होनेवाली आध्यात्मिक क्षति के सिवा, श्रमणो की एक क्षति यह भी हुई कि ब्राह्मण उनसे जलने लगे और, कभी-कभी, राजा श्रमणो के मठो पर इसलिए भी प्रहार करने लगे कि श्रमणो के भाग जाने पर वे मठ की सपत्ति पर अधिकार कर सकें। श्रीहर्ष से पहले, राजा शशाक ने बौद्ध मठो पर बडा अत्याचार किया। उसी शती मे नेडुरमान् पाड्य राजा ने दक्षिण मे आठ हजार जैन साधुओ को जान से मार डाला।

कहते है, ये उत्पीडन शैवो के इशारे पर किये जाते थे। किन्तु, केवल इन उत्पीडनो से धर्म का पतन असभव था। सम्भव वह इसलिए हुआ कि बौद्ध साधुओ के चरित्र खराब होने लगे थे।

ये साधु धर्म को भूलकर सुख की कामना करने लगे। "गुप्त-साम्राज्य के आरभिक काल से हर्षवर्द्धन के समय तक, उन्होने मजूश्री-मूलकल्प, गुह्यसमाज और चक्र-संवर आदि कितने ही तत्रो की सृष्टि कर ली। मंजुश्री-मूलकल्प ने तन्त्रों के लिए रास्ता खोल दिया। गुह्य-समाज ने अपने भैरवी-चक्र, शराव, स्त्री-समोग तथा मन्त्रोच्चारण से उसे और भी आसान कर दिया। आठवी शताब्दी मे एक प्रकार से भारत के सभी बौद्ध सम्प्रदाय वज्रयान-गर्भित महायान के अनुयायी हो गये थे। बुद्ध की सीधी-सादी शिक्षाओ से उनका विश्वास उठ चुका था और वे मनगढत हजारो लोकोत्तर कथाओ पर विश्वास करते थे। बाहर से भिक्षु के कपडे पहनने पर भी, भीतर से वे गुह्य-समाजी थे। बडे-बडे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि, आधे पागल हो, चौरासी-सिद्धो मे दाखिल हो, सध्या-भाषा मे निर्गुण गान करते थे। आठवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक का बौद्ध धर्म, वस्तुत , वज्रयान या भैरवी-चक्र का धर्म था। इन पॉच शताब्दियो मे, धीरे-धीरे, एक तरह से सारी भारतीय जनता इनके चक्कर मे पडकर कामव्यसनी, मद्यप और मूढविश्वासी बन गयी थी। राजा लोग जहाँ राज-रक्षा के लिए पलटन रखते थे, वहाँ उसके लिए किसी सिद्धाचार्य तथा उसके सैकडो तान्त्रिक अनुयायियो की भी एक बहु-व्यय-साध्य पलटन रखा करते थे। देव-मन्दिरो मे बराबर ही बलि-पूजा चढती रहती थी। लाभ-सत्कार का द्वार उन्मुक्त होने से ब्राह्मणो और दूसरे धर्मानुयायियो ने भी, बहुल अश मे, इनका अनुकरण किया।" (बुद्धचर्या)।

बौद्ध धर्म के इस पतन से एक शिक्षा निकलती है कि सुख के अतिशय से सडाँध पैदा होती है। सचमुच ही, राज्याश्रय बौद्ध धर्म की पहली बाधा थी, क्योकि हिंसक, कुचाली और अ-लोकप्रिय राजाओ की भी प्रशसा करना श्रमणो के लिए अनिवार्य हो गया और जनता से वे दूर पडने लगे। स्त्री-सेवन और विलासिता के प्रचलन का एक कारण मनोवैज्ञानिक भी माना जाना चाहिए। साकारोपासना की अति से पीडित समाज निराकार की ओर चलता है और निराकारोपासना से क्लान्त समाज साकार की खोज करता है। इसी प्रकार, भोग की अतिशयता से ऊबा हुआ समाज त्याग को समझना चाहता है और त्याग के अति-सेवन से पीडित मनुष्य भोग की ओर जाना चाहता है। वैदिक सभ्यता, अन्त मे, भोगवादी हो गयी थी , अतएव, उपनिषदो ने त्याग का सदेश सुनाया। जैन और बौद्ध मत इस त्याग को खीचकर बहुत दूर तक ले गये। मध्यम मार्ग पर आरूढ रहने मे क्षण-क्षण जिस सतर्कता की आवश्यकता होती है, वह लोगो मे नही रही। समाज, त्याग के शुष्क भावो से, विरत होने लगा और समाज की इसी विरति से हार कर बौद्ध एव जैन धर्मो ने हिन्दुत्व के साकारवादी अशो को अपने भीतर पचाना

आरम्भ किया। महायान बौद्ध धर्म की इस चिन्ता का परिणाम था कि राजाओ तथा दान देनेवाली समृद्ध जनता से उसका सबध कैसे प्रगाढ हो और जनता तथा धार्मिक नेताओ की जिस प्रवृत्ति ने हीनयान अथवा श्रावकयान पर महायान को तरजीह दी, उसी ने उस मार्ग को भी प्रशस्त किया, जिस मार्ग पर चलते हुए बौद्ध धर्म के पेट से पहले मत्रयान, फिर वज्रयान और, अन्त मे , सहजयान प्रकट हुए।

श्रावकयान से सहजयान तक की दूरी बहुत बडी है और इन दोनो के रूप भी परस्पर मेल नही खाते। श्रावकयान या हीनयान भगवान बुद्ध का मौलिक उपदेश था और इस धर्म मे भोग के त्याग एव आचारो की पवित्रता ही प्रधान थी। किन्तु, सहजयान तक आते-आते वही धर्म मद्य, मास और मैथुन को धार्मिक कृत्य मानने लगा। भगवान बुद्ध ने जिन सासारिक सुखो को निर्वाण का बाधक बतलाया था, वे ही सुख अब मुक्ति के सोपान बन गये।

शाक्त धर्म का परिचय

महायान के भीतर से मत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान कैसे प्रकट हुए, इसे समझने के लिए हमें तत्र-साधना की परपरा से किंचित् परिचित होना चाहिए। जिस प्रकार बुद्ध के मौलिक उपदेश उपनिषदो की चिन्तन-पद्धति से निकले थे और, बाद को, महायान का आरभ वैदिक धर्म के अनेक अगो—मूर्त्ति-पूजा, अवतारवाद, आदि—के प्रभावो से हुआ, उसी प्रकार, महायान के बाद आरभ होनेवाले यानो पर हम शाक्त धर्म का प्रभाव देखते है।

शाक्त-मतावलम्वी शाक्त धर्म को उतना ही प्राचीन मानते है जितना प्राचीन वैदिक धर्म है, प्रत्युत, कितने ही विद्वान् यह भी विश्वास करते है कि इस मत का विकास, यद्यपि, वैदिक धर्म के प्रभाव से हुआ है, किन्तु, उसके बीज प्राक्-आर्य भारत मे विद्यमान थे।

तत्रवाद के अनुसार सृष्टि का उद्भव और विकास शिव और शक्ति के सयोग से होता है। किन्तु, शिव शव और शक्ति प्रेरणा है। शक्ति से प्रेरित होने पर ही शिव में गति उत्पन्न होती है। भाव यह कि केवल ज्ञान निस्पन्द होता है। स्पन्दन अथवा चालना उसमे ऊर्जा अथवा शक्ति से आती है। ससार के रोमाटिक चितको ने जो यह कल्पना की कि नारी प्रेरणा का उद्गम है और पुरुष उसीसे प्रेरित होकर बडे-बडे कार्य करता है, मूल में, वह कल्पना शाक्त दर्शन से पूरा मेल खाती है। शाक्त दर्शन का सम्बन्ध साख्य दर्शन से भी जोडा जाता है, क्योकि साख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति, दोनो अनादि है और उन्ही के योग से सृष्टि उत्पन्न होती है। साख्य दर्शन का प्रभाव अन्य सप्रदायो पर भी पडा। विष्णु की शक्ति के रूप मे लक्ष्मी की उपासना और ब्रह्मा की शक्ति के रूप मे सरस्वती की उपासना, और कुछ नही, पुरुष और प्रकृति के समन्वय का ही प्रयास है। इसी क्रम मे शिव और उनकी शक्ति पार्वती की कल्पना विकसित

हुई। आरभ मे शैव और शाक्त धर्म परस्पर भिन्न नही थे और आज भी शाक्त पथ अन्य पन्थो से दूर, किन्तु, शैव पन्थ के समीप समझा जाता है। किन्तु, कालक्रम मे, दोनो पन्थो के बीच दूरता का विधान हो गया। शैव धर्म की साधना पहले भी ज्ञानमयी भक्ति की साधना थी और आज भी शैव मार्ग ज्ञान-सम्मत भक्ति का ही मार्ग है। शैव धर्म का ध्येय पहले भी मुक्ति थी और आज भी मुक्ति ही है। किन्तु, शाक्त धर्म ने, मोक्षकामी होते हुए भी, व्यवहारत, अपना ध्येय मुक्ति नही, सिद्धि को माना और उसके साधनो मे भी प्रधानता मंत्र, यत्र और योग की ही हो गयी। योग की साधना शैव धर्म के साथ ही विकसित हुई थी और उसके साथ वह आज भी वर्तमान है तथा शैवो मे उसका लक्ष्य आज भी मुक्ति ही मानी जाती है। किन्तु, शाक्त धर्म ने योग को सिद्धियो के प्रमुख साधन के रूप मे अपना लिया।

योग-शास्त्र

योग शब्द युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोडना होता है। इस विद्या का योग नाम इसलिए पडा कि इसके द्वारा साधक शरीर को आत्मा से जोड़ते है एव वैयक्तिक आत्मा को विश्वात्मा से एकाकार करते है। योगी योग-क्रिया के द्वारा भावो और उद्वेगो को शान्त एव मास-पेशियो, स्नायुओ और धमनियो की क्रियाओ को मन के अनुशासन मे नियोजित करता है। अन्त में, मन के विलय के द्वारा योग आत्मा की मुक्ति का भी कारण होता है।

भारत के बाहर भारत की सब से बडी विशेषता, शायद, योग ही समझी जाती है। जब से मनोवैज्ञानिको को यह पता चला है कि योग की प्रक्रिया मनोविज्ञान की प्रक्रिया से मिलती-जुलती है, तब से आधुनिक विश्व में भी योग की प्रतिष्ठा बहुत अधिक हो गयी है।

योग की प्रक्रिया, बहुत दूर तक, मनोविज्ञान की प्रक्रिया है, यह सत्य है। भारतीय परपरा में योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते है ; "योग चित्तवृत्ति-निरोध."। योग शरीर की क्रिया से मन को नियत्रित करने का उपदेश देता है। वह आत्मा की गहराई का सधान करने वाली विद्या का नाम है। वह हलचल और प्रलोभनों के बीच मन को स्थिर रखने की कला है। मनोविज्ञान ने अवचेतन का अनुमान भर लगाया है, योग अवचेतन मन तक जाने का मार्ग निर्धारित करता है। किन्तु, मन के विलय द्वारा जब योग मुक्ति का कारण हो उठता है, तब वह मनोविज्ञान नही रह जाता, शुद्ध धर्म बन जाता है। योग से निसर्गोत्तर शक्तियाँ भी जाग्रत होती है।

योग की, मनोविज्ञान से, समता एक अन्य प्रकार से भी देखी जा सकती है। हम जो कुछ भी करते या सोचते है, उन कर्मो और विचारो का प्रभाव हमारी आत्मा पर पड़ता जाता है। यही प्रभाव सस्कार है जिसकी परते हमारी आत्मा पर जमी हुई है। ये सस्कार विचारो की प्रक्रिया से बनते है, कर्मो के क्षरण से बनते है, इन्द्रियो की आसक्ति

और वासनाओं की तरंग से उत्पन्न होते हैं। आत्मा पर इन्हीं संस्कारों की परतें जम जाने के कारण मनुष्य आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता। योगी योग के द्वारा इन परतों को तोड़कर अपने आत्मरूप का साक्षात्कार करता है। मनोविज्ञान का मत है कि, यद्यपि हम पशु-जीवन से निकल कर मनुष्य हो गये हैं, किन्तु, हमारी पाशविक प्रेरणाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। वे हमारे अवचेतन-मन में अब भी पुंजीभूत हैं और हमारी असावधानता में वे अचानक भड़क उठती हैं। मनोविज्ञान इसे आदिम जीवन की प्रेरणा (Primordial life-urges) कहता है। किन्तु, विचार कर देखिये तो आदिम जीवन की यह प्रच्छन्न प्रेरणा अथवा जन्म-जात प्रवृत्तियों (Instinctive Impulses) की यह शक्ति हमारे अतीत का ही संस्कार है। योग इसी संस्कार के बन्धन से मुक्ति का उपाय है।

मनोविज्ञान जब मन की अतल गहराई में उतरता है, तब भाषा असमर्थ हो जाती है। इसलिए, मनोवैज्ञानिकों ने कई नये शब्द गढ़े हैं जिनके अर्थ सामान्य भाषा में समझे नहीं जा सकते, जैसे लिबिडो, ईरोज़, ऑडिपस कम्प्लेक्स इत्यादि। योग के भी कितने ही पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनकी व्याख्या सामान्य भाषा में नहीं की जा सकती। उनके सही अर्थों का ज्ञान केवल उनके पास है जो योग के अभ्यासी हैं। कुंडलिनी, षट्-चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, युगनद्ध आदि ऐसे ही शब्द हैं।

योग की परंपरा प्राग्वैदिक परंपरा है। आर्यों ने इस विद्या का ज्ञान भारत में आकर प्राप्त किया। पीछे उन्होंने इस विद्या का वर्धन और विकास भी किया। योग-विधि, ध्यान-योग और अध्यात्म-योग, ये शब्द उपनिषदों में कई बार आये हैं। योग का निरूपण, दर्शन की पद्धति के रूप में, पतंजलि ने किया। उनके ग्रन्थ का नाम योग-दर्शन है जो योग का अत्यन्त प्रामाणिक आख्यान है। पतंजलि के मतानुसार चित्त को ईश्वर पर पूर्णतया केन्द्रित किये बिना न तो ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है, न उनकी कृपा ही मिल सकती है। पतंजलि मानते हैं कि सांसारिक वासनाओं पर विजय नहीं मिलने से चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, न योग की स्थिति ही उत्पन्न होती है। अतएव, योग वैराग्य-साधना का पन्थ है, अत्यन्त कठोर कृच्छ्राचार का मार्ग है। भारतीय साधना में वैराग्य का जो अपरिमित महत्त्व देखा जाता है, उसका एक प्रधान कारण इस देश में प्रचलित योगाचार था।

योग और सांख्य, भारतीय दर्शन की दोनों पद्धतियाँ, प्राय, एक ही हैं। दोनों में भेद है तो यह है कि योग-दर्शन सेश्वर भी है और निरीश्वर भी। पतंजलि के योग-सूत्रों में कहा गया है कि ईश्वर वह सर्वज्ञ गुरु है जिसमें मानवी आत्मा के दोष और उसकी अपूर्णता नहीं होती और जो क्लेश, कर्म-विपाक तथा मलिन संस्कारों के स्पर्श से सर्वथा मुक्त है। किन्तु, योगी ऐसे लोग भी हुए हैं, जिनमें ईश्वर-भक्ति नहीं थी। योग-साधना ईश्वर की कल्पना के बिना भी की जाती है। इसी कारण, कई स्थानों पर योग

को निरीश्वर-सांख्य भी कहा गया है। और इसी निरीश्वर योगसाधन का प्रतिपादन महावीर और बुद्ध के अनुयायियो ने किया।

पतजलि का योग तो राजयोग कहलाता है, जिसका सारा जोर मानसिक क्रियाओ के नियत्रण पर, चित्तवृत्तियो के निरोध पर है। किन्तु, योग की शारीरिक क्रियाओं का अति विकास हठयोग मे हुआ। हठयोग का अर्थ 'बलात् योग' होता है। राजयोगी वे होते है, जिनकी साधना की प्रक्रिया मनोविज्ञान की प्रक्रिया है अर्थात् जो मन को ही समेट कर उसे स्थिर करते अथवा किसी एक दिशा की ओर ले जाते है। किन्तु, हठयोगी शारीरिक क्रियाओ (रेचक, पूरक, कुभक, नेती, धोती आदि) के द्वारा मन पर बलपूर्वक अधिकार प्राप्त करता है। योग के जो असख्य चमत्कार सुने जाते है, वे राजयोग के नही, इसी हठयोग के अग है। यह भी ध्यान देने की बात है कि हिन्दू साधको का कोई भी सप्रदाय ऐसा नही है जिसका राजयोग मे थोडा या बहुत विश्वास नही हो। किन्तु, शैव और शाक्त, ये दो सप्रदाय ऐसे हुए जिनमे हठयोग का बहुत अधिक सम्मान था। और शाक्त यानी तत्रमार्गी चूंकि यह मानकर चले थे कि साधना मे भक्ति से भी अधिक महत्त्व साधना की विधि अथवा उसके आचार का है, इसलिए, हठयोग का सर्वाधिक प्रचलन भी तत्र-मार्ग में ही हुआ।

तंत्र-मार्ग

तत्र-मार्ग की असली विशेषता ही उसके साधनो की विशेषता है। भक्ति, उपासना और प्रार्थना तत्र-मार्ग मे भी है, किन्तु, तत्र-मार्ग भक्ति, उपासना और प्रार्थना का मार्ग नही है। तत्र-मार्गी साधक रुदन, गायन अथवा विलाप और प्रार्थनाओ के द्वारा देवी को प्रसन्न करने की आशा नही रखता, बल्कि, उसका विश्वास मत्रो के शुद्ध उच्चारण मे, मडलो, वृत्तो और नानाविध यत्रो के निगूढ रहस्य-चिंतन मे और योग-पद्धति के द्वारा शरीर मे निहित सूक्ष्म शक्तियो के जागरण और विकास मे होता है। जब तक शरीर के भीतर निद्रित और प्रच्छन्न शक्तियाँ नही जगती, साधक को यह विश्वास नही होता कि वह सिद्धि के समीप है। जब उसकी कुडलिनी-शक्ति जाग्रत हो जाती है, तभी वह समझता है कि उसके आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो गया। भारत मे बहुत दिनो से यह विश्वास रहा है कि जिसकी कुडलिनी जग गयी, वह चमत्कारपूर्ण शक्तियो से युक्त हो जाता है। वह एक नगर में बैठे-बैठे दूसरे नगर की घटनाओं को देख सकता है तथा वर्तमान मे रहकर वह भूत और भविष्य की भी झाँकी ले सकता है। इसलिए योगी, सिद्ध होते ही, देश और काल के बधन से मुक्त हो जाते है।

तत्र-मार्ग मे मत्रो के शुद्ध पाठ पर जो जोर है उसकी परपरा तो वेद मे ही थी, क्योकि, वेदो के समय भी समझा यही जाता था कि शुद्ध-शुद्ध उच्चरित हुए बिना मत्र अपना फल नही देते। योग की परपरा तो इस देश में वेदो के पूर्व से ही आ रही थी। रह

गयी मत्र, यत्र और योग के साथ सबद्ध चमत्कारो की बात, सो उन चमत्कारो का भी भरपूर उल्लेख अथर्ववेद में है।

तत्र की व्युत्पत्ति लोग तन् धातु से बतलाते हैं जिसका अर्थ तनाव या फैलाव होता है। किन्तु, तत्र का अर्थ ज्ञान का विस्तार किया जाता है। तन्यते विस्तार्यते ज्ञान अनेन इति तत्रम्। यहाँ फिर साख्य का स्मरण होता है, क्योकि साख्य में भी सख्या का अर्थ गणना नही, प्रत्युत, चिन्तन है। अतएव, साख्य का अर्थ है ज्ञान की पद्धति से सत्य की उपलब्धि का मार्ग, जैसे समाधि के द्वारा सत्य की उपलब्धि के मार्ग को योग कहते हैं। किन्तु, सभी ज्ञान तत्र नही हैं। तत्र एक विशिष्ट प्रकार का आध्यात्मिक ज्ञान है। कामिकागम के अनुसार तत्र-साहित्य वह साहित्य है जिसमे तत्व और मत्र के विषय निरूपित किये गये हैं।

तनोति विपुलान् अर्थान् तत्व-मंत्र-समन्वितान्
त्राणम् च कुरुते यस्मात् तंत्रम् इति अभिधीयते।

तत्व से तात्पर्य यह कि सृष्टि के मूलभूत नियम और सत्य क्या है। मत्र से यह अभिप्राय कि अक्षरो और शब्दो से उठने वाली ध्वनियो का वैज्ञानिक स्वरूप और प्रभाव क्या है।

अर्थवाचक शब्द के रूप में "तत्र" का दूसरा नाम "आगम" भी है और शुद्ध अद्वैत साधना को छोडकर आगम, प्राय, सभी सप्रदायो के मिलते हैं। निगम वेद तथा वेदोद्भूत शास्त्रो को कहते हैं जिनमें मूल वैदिक धर्म का आख्यान है। आगम विभिन्न सप्रदायो की साधनाओ के अलग-अलग मार्ग बताते हैं कि अमुक सप्रदाय का साधक पूजा कैसे करे अथवा ध्यान, धारणा और समाधि के सही तरीके क्या हैं। इस प्रकार, तत्र और आगम, दोनो के आधार वेद ही माने जाते हैं। कुलार्णव-तन्त्र में भगवान शकर पार्वती से कहते हैं कि जो शास्त्र वेदोद्भूत है, उन्हे भी कौलात्मक ही मानना चाहिए।

तस्मात् वेदात्मकम् शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये!

हिन्दू-धर्म मे तत्र अथवा आगम पाँच माने जाते हैं, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त। गणेश और सूर्य की पूजा के गौण हो जाने के कारण अब गाणपत्य और सौर आगमो का अपेक्षाकृत कम प्रचार है। बडे सप्रदाय अब वैष्णव और शैव ही रह गये हैं। किन्तु, शाक्त सप्रदाय का भी अभी, विशेषत, बगाल मे अच्छा जोर है और तान्त्रिक पूजा-पद्धति का अति-विकास भी शाक्त-सप्रदाय में ही दिखायी देता है। बल्कि, तत्र को शाक्त धर्म ने इस जोर से अपना लिया कि अब तत्र-मार्ग कहने मे ध्यान सीधे शाक्त धर्मपर चला जाता है।

शाक्त-दर्शन

वामाचार-साधना के कारण शाक्त धर्म बहुत बदनाम हुआ है, किन्तु, दार्शनिक दृष्टि से शाक्त-दर्शन भी अद्वैत-दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि के मूल में जो

वास्तविक तत्व है, वह अद्वैत है। उसका नाम शिव-शक्ति एव उसका स्वभाव सत्-चित्-आनन्द है। शाकर अद्वैत से शाक्त अद्वैत का भेद यह है कि शाकर अद्वैत मे माया का अस्तित्व नही माना जाता है, किन्तु, शाक्य-दर्शन मे माया भी शिव-शक्ति का ही गुण मानी जाती है। यही गुण विकसित होकर सृष्टि का रूप ग्रहण करता है। शिव-शक्ति मे से शिव अचल, और शक्ति गतिपूर्ण हे। शक्ति की शक्तियाँ दो है; एक विद्या, जो चेतना उत्पन्न करती है, दूसरी अविद्या, जो माया-शक्ति का प्रतीक है। इसी माया-शक्ति के द्वारा एक अनेक वनता है, अनन्त सान्त का आकार ग्रहण करता है और जो अनादि तथा निराकार है, वह भूत, जीवन और मन के रूप में प्रकट होता है।

शाक्त-दर्शन मे आदि-तत्व को मातृ-रूप मानने की सामाजिक व्याप्तियाँ ये हुई कि इस दर्शन के अनुसार नारी-मात्र पूजनीय समझी जाने लगी। विशेषत, माताओ और अविवाहित वालिकाओ का शाक्त-धर्म में अत्यत ऊँचा और पवित्र स्थान है। शाक्त-तत्र मे औरतो पर हाथ उठाने की मनाही हे और सती-प्रथा को यह तत्र निन्दित समझता है। वलि-कर्म मे भी मादा पशुओ के वलिदान को यह मार्ग कुत्सित वताता है। महानिर्वाण-तत्र का कहना है कि जो पति अपनी पत्नी को कुवाक्य कहता है, उसे प्रायश्चित्त-स्वरूप एक दिन का उपवास करना चाहिए। यह भी कि विवाह के पूर्व वालिकाओ को भी भलीभाँति पढा-लिखा कर उन्हें सुयोग्य वना देना चाहिए। दबिस्ताँ नामक फारसी ग्रन्थ के एक मुस्लिम लेखक ने भी लिखा है कि आगमो मे नारियो को वहुत वडा स्थान दिया गया है। आगम नारी-मात्र को शक्ति मानते है और उनके मत में किसी भी नारी के साथ अच्छा वर्ताव नही करना अपराघ मे शामिल समझा जाता है। तत्र-मार्ग की एक क्रान्तिकारी घोषणा यह भी थी कि तत्र-साधना करने से साधक, गृहस्थ होता हुआ भी, सिद्ध हो सकता है।

सिद्धि का प्राधान्य शाक्त-साधना मे वाद को हुआ। वैसे, यह साधना भी मोक्ष की ही साधना है। जीव-मात्र को शाक्त-तत्र तीन कोटियो मे विभक्त करते है। सवसे नीचे "पशु" है जो माया के पाश मे आवद्ध है। उसके ऊपर "वीर" और उससे भी ऊपर "दिव्य" जीव की कोटियाँ है। साधना के क्रम मे पशु को ऊपर उठ कर वीर की कोटि मे जाना पडता है और जो वीर की कोटि से ऊपर उठ गया, वह दिव्य वन जाता है। वौद्धो के यहाँ अर्हत् और जैनो के यहाँ सिद्ध का जो स्थान है, शाक्त-धर्म मे दिव्य का भी वही स्थान समझना चाहिए।

कुलार्णव-तत्र के अनुसार आचार सात प्रकार के होते है, वैदिक, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल। वैदिक आचार कर्म पर आधारित है, वैष्णव भक्ति पर और शैव ज्ञान पर। कर्म, भक्ति और ज्ञान में से किसी एक की अथवा तीनों की साधना करने वाला साधक दक्षिणमार्गी समझा जाता है। किन्तु, वामाचार इन

तीनो आचारो से भिन्न है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के गहरे पुट वामाचार मे भी है, किंतु, यह सब होते हुए भी सामाचार बिलकुल भिन्न मार्ग है।

उलटी धारा की साधना

वामाचार उलटी धारा की साधना है। उसका दार्शनिक आधार यह कल्पना है कि शिव-शक्ति से छूटकर जीव माया के प्रवाह मे बहता-बहता जन्म ग्रहण करता है। अतएव, वह यदि मोक्ष पाना चाहे तो उसे उलट कर उस उद्गम की ओर गमन करना चाहिए, जहाँ से माया की धारा नि सृत हुई है।

जब जीव शिव-शक्ति मे निहित था, तब वह सच्चिदानन्द-स्वरूप और अद्वैत की स्थिति मे था। शिव-शक्ति से नि सृत होने पर ही वह द्वैत मे पडा है। इसीलिए, ससार की कुछ वस्तुओ को वह काम्य तथा कुछ को अकाम्य समझता है, कुछ को प्रिय और कुछ को अप्रिय मानता है। इसी प्रिय और अप्रिय लगने के भाव से विधि और निषेध के नियम बने है, जो बिलकुल कृत्रिम है। असल मे, ससार का कोई भी कृत्य करणीय या अकरणीय नही है। जीवन की कोई भी क्रिया ऐसी नही है जो स्वय पाप अथवा पुण्य का कारण हो। मुख्य दृष्टि यह नही है कि जीवन मे क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, बल्कि, यह कि कर्म और अकर्म का भेद कैसे मिटाया जा सकता है। शिव-शक्ति से व्याप्त होने के कारण ससार की प्रत्येक वस्तु अघृण्य है। साधना की सच्ची सफलता इस बात मे है कि हम घृण्य को भी अघृण्य बना सके, स्थूल को भी सूक्ष्म के स्तर पर ले जा सकें। घृण्य को अघृण्य बनाने वाली साधना का उत्कट विकास औघड-पथ में हुआ। कहावत मशहूर हे कि सिद्ध औघड वह है जिसकी आँत मक्खी तक पचा सकती है।

इस उलटी साधना ने इस विचार पर ज़ोर दिया कि ससार से मुक्ति का उपाय उससे भागना नही, प्रत्युत, सर्वतोभावेन उसे स्वीकार करना है। सम से सम का इलाज, यह होमियोपैथी का सिद्धान्त है। वामाचारियो का भी विश्वास है कि जो चीज मनुष्य को नीचे गिराती है, वही उसे ऊपर भी ले जाती है। इसी विश्वास के कारण वाम-मार्ग मे मद्य, मास, मीन, मुद्रा और मैथुन से युक्त पचमकार-पूजा का प्रचलन हुआ, जिससे कितनी ही बुराइयाँ उत्पन्न हुई और शाक्त-धर्म दूषित एव कलुषित समझा जाने लगा। किन्तु, तन्त्रो मे इस पूजा का जो रूप समझाया गया है, वह गर्हित नही है। पहली अव-स्था मे तो मद्य, मास, मीन आदि के सेवन की आज्ञा अवश्य है, किन्तु, दूसरी अवस्था मे उनके बदले किसी और वस्तु के सेवन का विधान है। तीसरी अवस्था मे योग की प्रधानता दिखायी गयी है। और पचमकार मे से प्रत्येक का स्थान योग अथवा मनोविज्ञान की कोई-न-कोई क्रिया ले लेती है। तन्त्र-साधना की इस स्थिति का दुरुपयोग करके बौद्ध सिद्धो ने जनता को चक्कर मे डाल दिया था। भोग तो वे पचमकार का ही करते

थे और बोलकर नाम भी वे मदिरा, मास और नारी के ही लेते थे, किन्तु, जनता समझती थी कि उनका आशय कुछ और है।

वाममार्गियो के साथ कितनी ही ऐसी बाते देखी गयी है जिनका सभ्य, स्वच्छ एवं शिष्ट जीवन से कोई मेल नही है। उदाहरणार्थ, उनके बीच अखाद्य खाने का, अपेय पीने का और अगमनीय के साथ गमन करने का रिवाज रहा है। इन सारे भयानक आचारो का उद्‌गम शाक्त-दर्शन के इस विश्वास मे था कि रमणीय और अरमणीय का भेद व्यर्थ है। द्वैत केवल वही नही है जहाँ हमारा चित्त आकृष्ट हो जाता है, प्रत्युत, वहाँ भी जहाँ जुगुप्सा और घृणा का प्राबल्य है, जिसे देखते ही हमारे भीतर आसक्ति नही, वितृष्णा उत्पन्न होती है। जिसका चित्त अद्वैत मे स्थिर हो गया, वह मल और मिष्ठान्न मे कोई भेद नही देखता, वह श्रेष्ठ और अधम को एक समान समझता है। भेद ही द्वैत का कारण है। अतएव, वाममार्गी साधक प्रत्येक प्रकार के भेद को घटाते-घटाते, अन्त मे, उसे शून्य पर पहुँचा देता है।

दक्षिणमार्गी (वैष्णव, शैव और कर्मकाण्डी) साधक भी मानते है कि आत्मा पाशो मे आवद्ध है। किन्तु, उनकी पाशो से छूटने की साधना और है। "मै त्वचा नहीं हूँ, मै मास नही हूँ, मै अस्थि नही हूँ, मै रक्त और मज्जा भी नही हूँ", इस प्रकार सोचते-सोचते, सबका निवारण कर, वे आत्म-ज्ञान प्राप्त करते है। यह नेति (Elimination) की प्रक्रिया है। किन्तु, वाममार्गी साधक उदात्तीकरण (Sublimation) की प्रक्रिया मे विश्वास करते है। जीव जब शिव-शक्ति के केन्द्र से वियुक्त होकर उडा, तब से वह "हंस" की स्थिति मे है। "हस" को उलट कर जब तक वह "सह" अर्थात् "सोऽहम्" वृत्ति मे नही पहुँचता, तब तक वह पाशो से मुक्त नही होगा। नर और नारी जब तक हस की स्थिति मे है, तभी तक वे एक दूसरे के निमित्त पाश है। जब दोनो के भीतर यह अनुभूति जाग्रत होती है कि हम हस नही, शिव-शक्ति के सोऽहम्-प्रतिरूप है, तब उनके पाश छूट जाते है। शाक्त-धर्म मे साधक का साधिका के साथ समागम आनुष्ठानिक समागम का प्रतीक है। शाक्त योगाचार में हम "नाद" और "बिन्दु" का जो उल्लेख पाते है, वे इसी आनुष्ठानिक समागम के "नाद" और "बिन्दु" है तथा समाधि के आनन्द का मूर्त रूप इसी समागम का आनन्द माना जाता है।

तान्त्रिक साधको का विश्वास इस बात मे रहा है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, दोनो एक है। जो शक्ति महाब्रह्माण्ड मे फैल कर सृष्टि की लीला का विस्तार करती है, वही पिण्ड (शरीर) के भीतर भी अपना कार्य कर रही है। मानव-शरीर के भीतर जो जैव नियम क्रियाशील है, वे ही भौतिक नियम बनकर ब्रह्माण्ड में काम कर रहे है। अतएव, सत्य के लिए आकाश-पाताल छानने का प्रयत्न व्यर्थ है। सत्य मनुष्य के शरीर के भीतर छिपा हुआ है और उसे उपलब्ध करने का साधन भी मानव-शरीर ही है।

इसी विश्वास के कारण तन्त्र-साधना मे हठयोग की प्रधानता हुई। शरीर के भीतर छिपे सत्य को शारीरिक क्रिया से ही खोजने के लिए साधक योग के सिवा और दूसरे किस साधन का अवलम्ब ले सकते थे? हठयोग के साथ बहुत-से चमत्कारो का सयोग बहुत समय से चला आता था। किन्तु, तन्त्र-साधको ने हठयोग का वरण चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नही किया। हठयोग को उन्होने वह अभ्यास माना जिसके जरिये शरीर सत्यानुभूति का यन्त्र बनाया जा सकता था। इस प्रकार, उपस्थ से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक साधको ने शरीर के भीतर छह चक्रो की कल्पना की। सबसे नीचे का चक्र मूलाधार है और सबसे ऊपर का सहस्रार। शक्ति का निवास मूलाधार में है और शिव का निवास सहस्रार पर। साधक का कर्त्तव्य है कि वह योग-क्रियाओ के द्वारा चक्रो का भेदन करे अर्थात् मूलाधार पर स्थित शक्ति को जगा कर उसे सभी चक्रो के भीतर प्रवेश कराते हुए सहस्रार पर पहुँचा दे। सहस्रार पर पहुँचते ही शक्ति शिव से एकाकार हो जाती है और दोनो के एकत्र होते ही महासुख का अमृत फूट पडता है, जिसकी उपलब्धि साधक की परम सिद्धि कहलाती है। तन्त्र-ग्रन्थो मे साधक को बराबर आगाह किया गया है कि चक्र-भेदन की क्रिया वह गुरु की अनुपस्थिति में न करे।

शिव-शक्ति-मिलन के कुछ दूसरे प्रतीक भी है जिनका उल्लेख शैवागम और पुराणो में पाया जाता है। शरीर के वाम भाग मे शक्ति बसती है और दक्षिण भाग में शिव। एक ही शरीर मे शिव और शक्ति का एकत्र निवास, यही अर्धनारीश्वर की कल्पना है। योग-दर्शन के अनुसार दक्षिण श्वास का नाम पिंगला है जिसमे शिव का निवास है और वाम श्वास का नाम इडा (अथवा इगला) जिसमें शक्ति निवास करती है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह पिंगला और इगला को एक स्थान पर लाकर उन्हें एकाकार कर दे। श्वासो के इस एकीकरण का पारिभाषिक नाम सुषुम्ना है जब वे एक-दूसरे से बढ कर या घट कर नही चलते, जब वे तटस्थ स्थिति में पहुँच कर समरसता को प्राप्त होते है। इसी प्रकार, शरीर और मन के द्वन्द्वो को भी तटस्थ बनाना, उन्हें समरसता की अवस्था मे ले जाना तन्त्र-साधना का ध्येय है। योग के साथ काम का मिश्रण तन्त्र-मार्गियो ने इस विचार से किया कि साधक और साधिका, दोनो इस अनुभूति तक पहुँच सके कि, वास्तव मे, वे नर-नारी नही, प्रत्युत, उससे भिन्न कोई और तत्व है जिसमे लैंगिक भेदो का आरोप नही किया जा सकता, जो शुद्ध, बुद्ध और सभी लिंग-वाचक गुणो से स्वतन्त्र है।

वामाचार की साधना वे साधक नही कर सकते जो अभी पशु-कोटि में है। यह उन साधको के लिए विहित है जो वीर-कोटि मे पहुँच चुके है। किन्तु, वामाचार शाक्त-धर्म की अन्तिम साधना नही है। इसके आगे "सिद्धान्त" और "कौल", ये दो सोपान और है। सिद्धान्त की कोटि मे साधक तब पहुँचता है, जब उसे अनुभव से यह ज्ञात हो जाता है कि भोग और त्याग, दोनो नि सार है; प्रवृत्ति और निवृत्ति,

विधि और निषेध, इनमे कोई तत्व नही है, सारी सृष्टि अन्त शून्य है और शिव-शक्ति के सिवा और किसी भी तत्व का कही अस्तित्व नही है। यह दिव्यावस्था है। उससे ऊपर कौल स्थिति है जो वैदिकों की ब्रह्मानुभूति के समान निर्विकल्प और शब्दातीत है। कौल शब्द "कुल" से बना है जो बहुत-कुछ ब्रह्म का ही अर्थ देता है।

यह विचार तर्क-सम्मत है कि जीव मुक्त तभी हो सकता है जब उसके सारे पाश छूट जायँ। पाशो मे से कामिनी और काचन, ये दो पाश महाभयानक हैं। वैदिक धर्म के अन्दर जो भी सप्रदाय बने, उन्होंने यही सिखाया कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए माया के पाशो से छूटना अत्यत आवश्यक है। कर्मवादियो ने कर्म के द्वारा, ज्ञानमार्गियों ने ज्ञान के द्वारा और भक्तो ने भक्ति के द्वारा इन्ही पाशो से छूटने का प्रयास किया। एक शाक्त-धर्म ही ऐसा निकला, जिसने यह कहा कि माया के असत्य होने के कारण, उसके गढ़े हुए पाश भी असत्य है। वे कुछ नही मे कुछ होने के भ्रम-मात्र हैं। अतएव, उनसे भागना व्यर्थ है। उन्हे अगीकार करके उनका उदात्तीकरण ही योग्य है। कामिनी माया का सबसे प्रबल पाश मानी जाती थी। सभी मुक्तिकामी उसी को छोड कर सन्यास लेते थे और उनमे से असख्य लोग वन मे भी नारी-सुख के लिए मन-ही-मन तडपते थे। शाक्त-धर्म ने अपने वीर-कोटि के साधको से कहा, तुम उस स्थिति में आ गये हो जब नारी-समागम भी तुम्हारे लिए पाश नही, उदात्तीकृत आनन्द का ही प्रतीक होगा। तुम इस भाव से समागम करो कि प्रत्येक पुरुष में शिव और प्रत्येक नारी मे शिवा प्रच्छन्न है और जहाँ भी नर-नारी का समागम होता है, वहाँ असल मे, शिव और शक्ति ही समागम कर रहे हैं। अन्य धर्मो ने काम को पाप माना था। शाक्त साधको ने उसे भी पवित्र कर्म मान लिया।

शाक्त-तत्र मानते हैं कि मत्रो में शक्ति होती है, मत्रो की शक्ति का परिणाम होता है, देवताओ का अस्तित्व है और सिद्धियाँ, यदि सही ढग से खोजी जायँ तो, वे प्राप्त होती हैं तथा साधनाओ के द्वारा मनुष्य, सचमुच ही, उन्नति करते-करते एक दिन सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाता है। वैदिक धर्मो के ज्ञान, भक्ति और कर्म शाक्त-मत मे भी चलते है, किन्तु, अपने ढग पर। साख्य से शाक्त-दर्शन का एक बडा भेद इस बात को लेकर है कि साख्य-दर्शन में प्रकृति जड एव पुरुष चेतन है अर्थात् नारी जड तथा नर जीवन्त है। किन्तु, शाक्त-मत मे जडता का आरोप नर (शिव) पर किया गया है, चेतना उसमें शक्ति (नारी) की चालना से उत्पन्न होती है। इस विश्वास का परिणाम यह हुआ कि शक्ति (दुर्गा, काली आदि) की जो भी प्रतिमाएँ बनी, उनमे शक्ति शिव की पीठ पर खडी दिखायी गयी है।

तंत्र-साधना की परम्परा

सदैव से तत्र-साधना के साथ गुह्यता का एक सघन वातावरण रहता आया है।

इस गुह्यता का आधार यह माना जाता है कि तंत्र की क्रियाएँ प्रच्छन्न रहने पर ही फलवती होती है। किन्तु, एक कारण यह भी हो सकता है कि वामाचार को जनसाधारण हमेशा शका की दृष्टि से देखता था, अतएव, साधको ने अपनी साधना को गुप्त रखनेमें ही अपना कल्याण समझा।

योग और सिद्धि के चमत्कार बुद्ध भी जानते थे। उन्होंने स्वय भी आस्फाणक-योग (अपने-आप को विस्तृत करने की क्रिया) का अभ्यास किया था। उनके अपने शिष्य भारद्वाज जब श्रेष्ठी का पात्र ग्रहण करने को बढकर आकाश मे ऊपर उठे थे[1], तब बुद्ध ने उनके इस चमत्कार-प्रदर्शन की निन्दा की थी। अतएव, मत्र, योग और सिद्धि की साधना भारत में, छिपे-छिपे, बहुत पहले से आ रही थी, इसमे सदेह नहीं है। किन्तु, यह सत्य प्रतीत होता है कि तंत्र-मार्ग का अति-विकास महायान के बादवाले सिद्ध साधुओं ने किया।

डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि बौद्ध भिक्षु अधिकतर युवक हुआ करते थे और, प्राय, युवती नारियाँ भी भिक्षुणी बनकर सघ में प्रवेश करती थीं। इन साधको के लिए यह असभव था कि वे ब्रह्मचर्य का निर्वाह कडाई से कर सकें। अतएव, अपने स्खलन को सार्थक सिद्ध करने के प्रयास मे वे बौद्ध मत के बाहर प्रचलित तंत्र-मार्ग को अपनाने लगे। चूँकि उनकी क्रियाओं का समर्थन बौद्ध धर्म-शास्त्र नही करते थे, अतएव, उन साधको ने अपने समाज को गुह्य नाम दिया और जब गुह्य-समाजियो की सख्या बढ गयी, तब वे अपना धर्म-शास्त्र लेकर प्रकट होने लगे। बौद्ध तंत्रवादियो का पहला धर्मशास्त्र "गुह्य-समाज-तंत्र" था। इस ग्रन्थ में स्वय बुद्ध से यह कहलाया गया है कि तंत्र-मार्ग का बौद्ध मत से विरोध नही है। किन्तु, यह शास्त्र छिपाकर इतने दिनो तक इसलिए रखा गया था कि पहले के लोग इसे समझने को तैयार नहीं थे।

गुह्य-समाज-तंत्र की दार्शनिक सामग्री असंग-कृत प्रज्ञापारमिता से ली गयी बतायी जाती है और उसमे वर्णित आचार "मजुश्रीमूलकल्प" के आधार पर है। असग आचार्य वसुबन्धु के भाई थे जो पेशावर में रहते थे। वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोश लिखा और असग योगाचार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। असग का समय चौथी शताब्दी है और मजुश्रीमूलकल्प का मूल-रूप दूसरी या पहली शताब्दी मे ही बन चुका था। अतएव, अनुमान यह होता है कि महायान की आरभिक सदियो में ही बौद्ध धर्म तंत्र-मार्ग की ओर झुकने लगा था एव चौथी शताब्दी के बाद वह, मुख्य रूप से, तंत्रमार्गी हो गया।

गुह्य-समाज-तंत्र की विशेषताएँ

गुह्य-समाज-तंत्र ने बौद्ध-मत मे कई सर्वथा नवीन बातो का समावेश किया। बुद्ध ने केवल इतना कहा था कि कृच्छ्र साधनाओं से मोक्ष नही मिलता, न वह भोग में आसक्त

1. दे० राहुल-कृत बुद्धचर्या, सत्रहवाँ परिच्छेद

होने से प्राप्त होता है। गुह्य-समाज-तत्र ने खुली घोषणा कर दी कि सासारिक सुखो से मुँह मोड कर शरीर को दडित करना निर्वाण की राह नही है। निर्वाण की सही साधना वह है जो इद्रियो को तृप्त रखकर की जाती है। पहले के धर्माचार्यों ने यह कहा था कि बुद्धत्व की प्राप्ति अनेक जन्मो मे किये गये तपश्चरणो का परिणाम है। गुह्य-समाजियो ने कहा, बुद्धत्व एक जन्म मे भी प्राप्त हो सकता है।

गुह्य-समाजियो का दूसरा नवीन अवदान यह था कि उन्होने योग और समाधि में शीघ्र सफलता पाने के लिए शक्ति-सेवन (नारी की पूजा अथवा उसके सहयोग) को अनिवार्य बताया। कहते है, पूजा मे त्रिया-सहयोग की आवश्यकता पहले-पहल गुह्य-समाज-तत्र मे ही (यानी तीसरी शताब्दी मे) बतायी गयी। उससे पूर्व के तत्र-साहित्य मे इसका उल्लेख नही है।

वज्रयान और मंत्रयान

गुह्य-समाज-तत्र के प्रभाव से भारत मे महायान गौण एव वज्रयान प्रमुख होने लगा। महायान से वज्रयान को भिन्न करनेवाली कई मान्यताएँ और कितने ही सिद्धान्त काम के प्रभाव से ग्रसित दिखायी देते है। वज्रयान, यह नाम ही इसलिए चला कि महायान का जो "शून्य" था, वह वज्रयानियो द्वारा "वज्र" कहा जाने लगा, क्योकि "शून्य" "वज्र" के समान ही अक्षय और अविनश्वर होता है। फिर वज्रयानियो ने महायान की "शून्यता" एव "करुणा" को, क्रमश, "प्रज्ञा" एव "उपाय" के नाम दे दिये और इन दोनो के मिलन को 'युगनद्ध' की दशा बताकर उसे ही प्रत्येक साधक का अन्तिन लक्ष्य ठहराया।[1] "शून्य" (आदि तत्व जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है) और "विज्ञान" (यानी चेतना), ये दो शब्द महायान के माध्यमिक एव विज्ञानवादी, दोनो ही सप्रदायो में प्रयुक्त होते थे। वज्रयानियो ने उनके साथ "महासुख" नामक एक तीसरा तत्व भी जोड दिया। वज्र-यानी साधक प्रज्ञा (यानी शून्य) को निष्क्रिय ज्ञान मात्र मानते है और उसे स्त्री समझते है। उपाय पुरुप तत्व है और वह क्रियाशील भी है। इन दोनो तत्वो के मिलन को वज्रायन सिद्धि के लिए परमावश्यक मानता है। इस मिलन की समरस अवस्था ही वह "महासुख" है, जो वज्रयानियो का परम ध्येय माना जाता है। वज्रयानियो की कल्पना यह रही कि बोधिचित्त साधक को ऊर्ध्वमुख होकर अपनी यात्रा पृथ्वी के ऊपर की ओर आरभ करनी पडती है। इस यात्रा-क्रम में साधक के सामने, एक के बाद एक के क्रम से, पच्चीस लोक आते है, जो सभी त्याज्य है। सबके ऊपर जो छब्बीसवाँ लोक है, वही शून्य है। उस शून्य के साथ रमण करने मे जो महासुख है, उसे छोड़कर कोई भी साधक वापस आना नही चाहता। यही निर्वाण है।

---

१ उत्तर भारत की सत-परपरा—प० रा० चतुर्वेदी

गुह्य-समाज-तन्त्र के आरम्भिक अध्यायों में मन्त्रयान पर विशेष जोर दिया गया है। सैकड़ों पृष्ठों के सूत्रों का पाठ शीघ्रता से करना कठिन था। यह कठिनाई वैदिक धर्म को भी अनुभूत हुई थी। इसीलिए, ब्राह्मणों ने भागवत का चतुःश्लोकी भागवत और गीता की सप्तश्लोकी गीता बनाकर प्रार्थना करनेवाले श्रद्धालु लोगों का काम आसान कर दिया था। लगता है, उन्हीं की देखा-देखी बौद्ध भिक्षुओं ने भी लंबे-लंबे सूत्रों को छाँटकर पंक्ति-दो-पंक्ति की धारणियाँ बना ली। "इन्हीं धारणियों को और संक्षिप्त करके मंत्रों की सृष्टि हुई।" यह इसलिए भी आवश्यक हो गया, क्योंकि गुह्य-समाज-तंत्र ने यह स्थापना रखी कि ध्यानी बुद्ध पाँच हैं जिनमें से प्रत्येक रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों में से किसी एक पर शासन करते हैं। यही नहीं, गुह्य-समाज ने यह भी बताया कि प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक शक्ति विराजती है और उनके परिवार में अनेक बोधिसत्त्वों का स्थान है। इन सभी देवी-देवताओं की उपासना के लिए मन्त्रों की अलग-अलग रचना की गयी और साधक यह विश्वास करने लगे कि मन्त्रों के जाप और मन्त्रों के लेखन तथा ध्यान-मात्र से उन्हें सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

कालचक्र-यान का विकास भारत से बाहर हुआ था और बाहर से ही यह यान बंगाल और असम में पहले-पहल पाल-युग में पहुँचा। यह यान मन्त्र की सम्यक् सिद्धि के लिए तिथि, मुहूर्त्त, नक्षत्र और राशि पर ज़ोर देता था। अतएव, कालचक्र-यान ने मन्त्रों का सम्बन्ध ज्योतिष् की गणना से भी जोड़ दिया।

महायान, यद्यपि, मूल बौद्ध धर्म से भिन्न मार्ग पर था, किन्तु, उसके भीतर कदाचार नहीं था। पर, जब वज्रयान का प्राधान्य हो गया, बौद्ध संघ अत्यंत बीभत्स कर्म करने-वालों का अड्डा बन गया। गुह्य-समाज-तन्त्र ने खुली घोषणा की थी कि वज्रयानी साधु को नियमों से सर्वथा स्वाधीन होकर विचरने से भी पाप नहीं लगता है। जब उस तन्त्र का बोलबाला हुआ, बौद्ध साधक, सचमुच ही, औघड़ हो गये। "वज्रयान के विद्वान् प्रतिभाशाली कवि चौरासी सिद्ध विलक्षण प्रकार से रहा करते थे। कोई पनही बनाया करता था, इसलिए, उसे पनहीपा कहते थे। कोई कंबल ओढ़े रहता था, इसलिए, उसे कमरीपा कहते थे। कोई डमरू रखने से डमरुपा, कोई ओखल रखने से ओखरीपा कहा जाता था। ये लोग शराब में मस्त, खोपड़ी का प्याला लिये, श्मसान या विकट जंगलों में रहा करते थे। ये लोग खुल्लमखुल्ला स्त्रियों और शराब का उपभोग करते थे। राजा अपनी कन्याएँ तक इन्हें प्रदान करते थे।"[1]

सहजयान

निवृत्तिमूलक साधनाओं का इतिहास, एक प्रकार से, मनुष्य की वेदनाओं का इतिहास है, उसकी पीड़ाओं और बेचैनियों का इतिहास है। धर्माचार्यों ने यह उपदेश दिया

१. बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन

कि कामिनी से भागो, कचन से भागो एव सुयश और समादर को सन्देह मे देखो, क्योंकि ये लुभावनी ऋद्धियाँ तुम्हे घेर कर ससार में पचाने के लिए हैं। किन्तु, व्यवहार में देखा यह गया कि जो कचन से भागने मे समर्थ हुआ, वह कामिनी में अटक गया और जो कामिनी के पाश से भी छूटा, वह कीर्त्ति को नही छोड़ सका। कुछ थोडे लोग ऐसे जरूर हुए जो किसी भी बन्धन मे नही थे। किन्तु, वे हमेशा अपवाद रहे है। अपार मानवता तो आसक्ति और वैराग्य तथा भोग और उपवास के बीच झटके ही खाती रही है। यह भी अचरज की बात है कि मानवता की इस विपुल वेदना का समादर किसी भी धर्म ने नही किया। धर्म, दार्शनिक दृष्टि से प्रवृत्तिमूलक हो अथवा निवृत्तिमूलक, द्वैतवादी हो अथवा अद्वैतवादी, घूम-फिर कर वे यही सिखावन देते है कि भूत और आत्मा दो है, मैटर और स्पिरिट, ये परस्पर मित्र नही, शत्रु हैं तथा जो भूत को अपनाता है, वह शैतान का शिष्य है। जिसे ईश्वर को पाना है, जिसे अपना परलोक सुधारना है, उसे द्रव्य से दूर और आत्मा के निकट रहना चाहिए।

इस प्रसग मे जो शंकाएँ हमारे मनो मे उठती हैं, वे प्राचीन मनुष्यो के मनो मे भी अवश्य उठती होगी। किन्तु, उनका सही उद्घोष प्राचीन काल मे सुनायी नही पड़ा। वहाँ या तो वे लोग है जो चार्वाक्-पन्थी हैं अथवा वे लोग है जो कीर्त्ति, कचन और कामिनी की ओर खिसकने को नैतिक स्खलन मानते हैं। वाममार्गियो और वज्रयानियो ने इस स्खलन पर यौगिक और आनुष्ठानिक चमक डालने की कोशिश जरूर की, किन्तु, वे भी यह नही कह सके कि नर के भीतर नारी के निमित्त और नारी के भीतर नर के निमित्त जो आकर्षण है, वह अपने-आप मे सहज, स्निग्ध तथा पवित्र है और धर्म से उसका विरोध नही है। वाममार्गी अपने को अद्वैतवादी कहते थे, किन्तु, ईश्वर और प्रकृति को दो मानने का भाव उनमे भी था, क्योकि नर-नारी-समागम की सार्थकता वे भी आनुष्ठानिक रूप मे ही मानते थे। और वज्रयानी साधु डोम्बी, नटी, रजकी, चाडाली और ब्राह्मणी का उपभोग तो करते थे, किन्तु, यह कहकर कि वे नारी नही, बौद्ध तत्र की मनोवैज्ञानिक (साइकिक) शक्तियाँ है। यही कारण है कि वज्रयानियो का नारी-सेवन कुरूप, कुत्सित और बीभत्स हो गया। नर-नारी-समागम की सारी सार्थकता प्रेम को लेकर है। जहाँ प्रेम नही है, वहाँ ऐसे सारे समागम पाप है, छल है, अन्याय और दुराचार हैं। वाममार्गियो और वज्रयानियो ने नारी-समागम किया, यह कोई बहुत बड़ा अन्याय नही था। अन्याय और व्यभिचार वह इसलिए हो गया कि उन्होने नारियो को अपना प्रेम नही दिया और ससार को उन्होने इस धोखे मे रखा कि नारी उनकी प्रेम-पात्री नही, आध्यात्मिक उत्थान की सीढी-मात्र है।

बुद्धदेव ने बौद्ध-मत का आधार चारित्रिक संयम पर रखा था। दार्शनिक पक्ष मे उनका भाव यह था कि साधक अव्याकृत विषयो पर चिंतन नही करे, क्योकि वैसे चिंतन से कोई सुस्पष्ट परिणाम नही निकलता। ये दोनो ही बाते बाद के बौद्ध साधकों

को भारी लगने लगी। चारित्रिक सयम में त्रुटियाँ तो बुद्ध के समय मे ही आरभ हो गयी थी, किन्तु, वे खुलकर कही नही जाती थी। अव्याकृत की अवहेलना महायान में आरभ हुई और चारित्रिक त्रुटियो को सार्थक सिद्ध करने की चेष्टा वज्रयान ने शुरू की। जब सभी बधन टूट गये और रास्ता काफी आसान हो गया, तब लगभग दसवी सदी में आकर, वज्रयान का एक सप्रदाय अपने को सहजयान कहने लगा। असल मे, सहजयान और वज्रयान के बीच आरभ मे विशेष भेद नहीं था। भिन्न वे तब हुए, जब सहजयान बौद्ध-मत को छोड़कर वैष्णव-मत की ओर चला गया।

वज्रयान की तरह सहजयान मे भी आचार पहले बदले थे और बदले हुए आचारो का समर्थन करने को उपयुक्त दार्शनिक विचार पीछे से तैयार किये गये। इसलिए, वज्रयान और सहजयान को दार्शनिक चिंतन का फल नही, बल्कि, उनके दर्शन को ही साधको के आचारो का परिणाम समझना चाहिए।

वज्रयानी-सहजयान का दार्शनिक सिद्धान्त यह बना कि सृष्टि का आरभ बोधिचित्त से हुआ है जो सहज ही उद्भूत है, जो किसी अन्य शक्ति का निर्माण नही है। बोधिचित्त शून्यता और करुणा का समन्वित प्रतीक है। शून्यता महाज्ञान अथवा प्रज्ञा को कहते है, जो निश्चल है, जैसे शाक्त-धर्म में शिव निश्चल और जड माना जाता है। करुणा दया और मैत्री की प्रेरणा है जो सक्रिय और गतिशील है। सक्रिय और गतिशील होने के कारण करुणा का नाम उपाय हुआ। प्रज्ञा निवृत्ति और उपाय प्रवृत्ति है। जिसके भीतर प्रज्ञा और उपाय परस्पर एक हो गये, अर्थात्, प्रवृत्ति और निवृति का भेद मिट गया, वह साधक सिद्ध हो जाता है।

शाक्त दर्शन के समान सहजयान भी यह विश्वास करता था कि सत्य का निवास शरीर में है और शारीरिक क्रियाओ के द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है। और शारीरिक क्रियाओ के विकास के लिए बौद्ध सहजयानी भी योग का ही आश्रय लेते थे। हाँ, योग-विषयक कुछ पारिभाषिक शब्द उन्होने अपने बना लिये थे। उदाहरणार्थ, शाक्त योगियो का विश्वास छह या आठ चक्रो में था, किन्तु, बौद्ध सहजयानी केवल चार चक्रो मे विश्वास करते थे, जिनके नाम मणिपूर-चक्र या निर्माण-चक्र (नाभि के समीप), अनाहत-चक्र या धर्म-चक्र (हृदय के समीप), सभोग-चक्र (ग्रीवा के समीप) और उष्णीष कमल (सहस्रार) थे। इसी प्रकार, शाक्त योगियो की पिंगला, इगला और सुषुम्ना को भी सहजयानी साधक प्राण, अपान और अवधूती कहा करते थे। सहजयानियो का यह भी विश्वास था कि प्रत्येक नारी प्रज्ञा और प्रत्येक नर उपाय का प्रतीक है तथा उनकी साधना का साफल्य इस बात में है कि वे अपने भौतिक रूप का अतिक्रमण करके इस अनुभति पर स्थित हो कि वे नर-नारी नही, सचमुच ही, प्रज्ञा और उपाय के स्वरूप है। बोधिचित्त की स्थिति को सहजयान महासुख की स्थिति मानता है और उसका विश्वास है कि यह स्थिति प्रज्ञोपाय (नर-नारी-समागम) से ही सभव है।

काम-योग

तन्त्राचार, वज्रयान और सहजयान साधना के उस स्वरूप की खोज करते रहे, जिसमें काम और अध्यात्म, योग और नर-नारी-समागम के बीच कही कोई समान भूमि पायी जा सके। धर्माचार्यो ने नर-नारी-समागम की मनाही की थी, सभी स्थूल सौन्दर्य को उन्होने शका की दृष्टि से देखने का उपदेश दिया था और बार-बार यह बताया था कि शरीर को कष्ट पहुँचाये बिना आत्मा की शक्ति का विकास नही होगा। किन्तु, व्यवहारत, देखा यह गया कि शरीर को कष्ट पहुँचाने की प्रक्रिया, अन्तत, आत्महनन की प्रक्रिया के समान है और कृच्छ्र साधनाओ का मार्ग जीवन नही, मृत्यु का मार्ग होता है। जीवित मनुष्य कोमल, मृदुल और उष्ण होता है। किन्तु, मरने पर वह कठोर और ठढा हो जाता है। साधक कृच्छ्र साधनाओ का जितना ही अधिक अभ्यास करते, जीवन और प्रकृति से वे उतने ही अधिक दूर निकल जाते थे। और उस पर भी सूखे-से-सूखे काठ के भीतर भी, स्पर्श मात्र से, हरियाली की लहर दौड पडती थी। बडे-से-बडे साधक नारियो की सगति पाते ही पिघल पडते थे। ये सारी बाते इस बात की सूचना थी कि प्रकृति के वेग को रोकना कठिन है; सारे योग झूठे और सारी साधनाएँ बेकार है। तब भी, साधक योग का सहारा लिये रहे, क्योकि पातजल-योग-दर्शन ने समाधि-सुख को निस्सीम आनन्द कहा था और यह भी सकेत दिया था कि इस महासुख तक जाने की एक राह तो योग है जो शरीर और मन की सम्मिलित क्रिया की राह है; किन्तु, वहाँ पहुँचने की एक दूसरी राह प्रणय-समाधि की राह भी हो सकती है यदि वह योग-सम्मत एव अनुशासनो से युक्त हो। सहजयान ने "काम" और "योग" को एकाकार करने के अनेक मार्ग अपनाये। उनमे से एक मार्ग यह भी था कि चूँकि काम-सुख का मुख्य कारण बिन्दु-पात है, इसलिए, साधक बिन्दु को क्षरित होने से बचाये और उसे उलट कर उष्णीप-कमल में पहुँचा दे। इस दुष्कर कार्य मे जो सिद्धि प्राप्त करते थे, वे "ऊर्ध्वरेता" समझे जाते थे। कहते है, अवधूत की सिद्धि इसी दुष्कर साधना की सिद्धि थी और जो साधिका अवधूत से सहयोग करती थी, वह अवधूतिनी कहलाती थी। इस साधना से साधक को यह मानसिक तोष भी मिल जाता था कि नारी का उपभोग उसने वासना के लिए नही किया है।

वैष्णव-सहजिया-संप्रदाय

काम से उत्पन्न जो बेचैनियाँ साधको को हीनयान के समय से तग करती आ रही थी, वे वैष्णव-सहज-सम्प्रदाय मे आकर बहुत ही न्यून हो गयी। प्रकृति से युद्ध करने मे साधक बराबर पराजित होते आये थे, किन्तु, इस पराजय को स्वीकार करने अथवा प्रकृति से खुलकर समझौता करने में उन्हे बराबर एक प्रकार की झिझक रही थी जो और कुछ नही, मन के विरुद्ध एक नकली मन को कायम रखने की चेष्टा का परिणाम

थी। वैष्णव-सहजयान में आकर यह झिझक काफी कमजोर हो गयी। यदि आज की भाषा में कहें तो वैष्णव-सहजयानियो की मानसिकता यह थी कि विधि और निषेध, दोनो अप्राकृतिक कार्य है। किसी वस्तु से परहेज करने के निमित्त चेतना को बराबर सिकोडते चलना कोई अच्छा काम नही है। इसी प्रकार, किसी अन्य वस्तु को काम्य समझ कर दिन-रात उसी के पीछे दौडते चलना भी अपकर्म है। चेतना को बलपूर्वक प्रसरित करना भी निसर्ग के उतना ही विरुद्ध है जितना उसे जबर्दस्ती सिकोडने का प्रयास। मन जब भी भय, लोभ या तृष्णा से ग्रस्त होकर काम करता है, तब उसका कार्य अप्राकृतिक होता है। इसी प्रकार, मन के कार्य तब भी अप्राकृतिक होते हैं जब वह किसी वस्तु से यह सोचकर भागता है कि यह प्रिय होने पर भी परित्यज्य है। इन्द्रियो पर तलवार उठाकर पहरा देने का मार्ग सुख का मार्ग नही है। और सुख का मार्ग वह भी नही है जहाँ हम आकुलतापूर्वक सुख की खोज अथवा उसका आह्वान करते है। सच्चे महासुख का कमल उस सरोवर में खिलता है जिसमे कोई भी लहर नही है, विधि की भी नही और निषेध की भी नही, जो सहज, शीतल और सुशान्त है।

वैष्णव-सहजयान ने हठयोग को हटाकर उसके स्थान पर राजयोग को अधिष्ठित किया, यह सोचकर कि रेचक-कुभक की क्रिया शरीर और मन को लाठी से हाँक कर समाधि मे ले जाने की क्रिया है। सात्विक समाधि वह है जिसमें चित्तवृत्तियाँ आप-से-आप निरुद्ध हो जाती हैं। बौद्ध-सहजयानी सृष्टि का उद्‌गम सहज बोधिचित्त को मानते थे, वैष्णव-सहजयान ने बोधिचित्त को हटाकर उसकी जगह पर "प्रेम" को अधिष्ठित कर दिया और यह कहा कि प्रेम स्वाभाविक है, वही सहज है, वही सर्वशक्तिमान् है। सृष्टि का जो आदि तत्व है, वह प्रेम है और वही सहज भी है। सहज ने ही, मात्र लीला के लिए, अपने-आप को दो रूपो में विभक्त कर दिया है, जिनमे से एक रूप "रस" और दूसरा "रति" है। सहज-मार्ग मे "रूप" "प्रेम" है और "रति" उसे उद्‌भासित तथा उसका पालन करनेवाली शक्ति। रस के प्रतीक कृष्ण और रति की प्रतिमा राधा है। ससार मे जितने भी पुरुष हैं, वे कृष्ण के रूप है और जितनी भी नारियाँ है वे राधा के प्रतिरूप। "रूप" हमारा बाह्य आकार है, हमारा असली "स्वरूप" हमारे भीतर छिपा है। सहज साधना के अनुसार नर-नारी का ध्येय "रूप" के भीतर छिपे "स्वरूप" को पहचानना है। जब उन्हे स्वरुप-ज्ञान हो जाय, तब वे प्रेम के आवेश मे परस्पर आलिगन कर सकते हैं। स्वरूप के ज्ञान के बिना, मात्र रूपो के मिलन मे, आनन्द नही है। "समरस" अथवा "सहजानन्द" वह है, जो स्वरूप-ज्ञान से सभूत समाधि से उत्पन्न होता है। पातजल-योग-दर्शन मे कहा गया है कि मन की प्रक्रियाएँ जब समाधि में जाकर शान्त हो जाती हैं, तब योगी अपने "स्वरूप" मे स्थित होता है। सहजिया-सप्रदाय के अनुसार जब मन की बाहरी और भीतरी क्रियाएँ आनन्द की उच्चतम अनुभूति में विलीन हो जाती हैं, तब हम अपने सच्चे स्वरूप में होते हैं, जो हमारा सहज स्वरूप है।

आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाय तो यही बात इस प्रकार से कही जायगी कि काम का आध्यात्मिक आनन्द वहाँ उपलब्ध होता है, जहाँ प्रेमी-युगल केवल शरीर के धरातल पर ही नही मिलते, प्रत्युत, जब उनके मन और उनकी आत्माएँ भी एकाकार हो जाती हैं। समरस आनन्द की वह भूमिका है जहाँ पहुँच कर "मै" और "तू" का भेद नही रहता, जब नर और नारी अपने बाह्य-स्वरूप का अतिक्रमण करके किसी निर्विकल्प, निर्विशेष स्थिति मे पहुँच कर सज्ञातीत एव आनन्द-विभार हो जाते हैं।

सचेष्ट प्रयास सुख नही, दु:ख का कारण होता है, चाहे वह अप्रिय से बचने अथवा प्रिय को प्राप्त करने के लिए ही क्यो न किया गया हो। इसीलिए, सहजिया-सम्प्रदाय "विधि-मार्ग" के विरुद्ध चला गया। उसका अपना मार्ग "राग-मार्ग" हुआ अर्थात् वह मार्ग जिस पर चित्त और वृत्तियाँ अप्रयास चलती हो, स्वाभाविक रूप से गमन करती हो। इस सम्प्रदाय में परकीया का प्रेम भी निन्द्य नही है। प्रत्येक परकीया राधा है और प्रत्येक साधक कृष्ण तथा उनका प्रेम दूषित नही, विशुद्ध समझा जाता है। विधि-मार्ग की बाध्यता नही मानने के कारण सहजिया लोग सामिष-निरामिष आहार को भी कोई महत्त्व नही देते। पन्द्रहवी-सोलहवी सदी में यह मार्ग बगाल में इतना लोकप्रिय हो उठा कि चैतन्य के उपदेश पीछे छूट गये और चैतन्य-सम्प्रदाय मे ही "वैरागी-वैरागिनी-मार्ग" कायम हो गया, जिसका आधार मुक्त प्रेम था। कवि चडीदास को सहजिया-सम्प्रदाय अपना महाकवि मानता है। यह भी कहा जाता है कि सहजयान के भीतर प्रचलित पाँच मनोवैज्ञानिक शक्तियो (डोम्बी, नटी, रजकी, चाडाली और ब्राह्मणी) में से चडीदास रजकी के उपासक थे एव उनकी प्रेरणादात्री प्रेमपात्री रमा, सचमुच, रजक जाति की थी।

मार का प्रतिशोध

साधक सिद्धार्थ जब सिद्धि के समीप पहुँच रहे थे, तब कहते है, मार ने उनकी समाधि तोडने के उद्देश्य से उन पर चढाई की थी। मार की उस सेना मे देवलोक की सुन्दर से सुन्दर युवतियाँ मौजूद थी। किन्तु, सिद्धार्थ डिगे नही। वे मार को जीत कर बुद्ध हो गये।

किन्तु, मार ने उन्हे क्षमा नही किया। वह अपना पुष्प-बाण सँभाले, छिपे-छिपे, सघो मे घूमता रहा और जब उसने देखा कि गैरिक चीवरो के नीचे रेशमी स्पर्श का लोभ सर्वत्र जाग चुका है, उसने सघो पर खुलकर चढाई कर दी। भारत में बौद्ध धर्म के विनाश के कारण कई बताये जाते है, किन्तु, इस विनाश का सब से बडा कारण मार था।

भारत का वज्रयान-युग बौद्धिकता और इन्द्रियवाद के सघर्ष का काल था। उस समय बौद्धिकता का विकास वे कर रहे थे जो विचारक और दर्शनाचार्य थे, जिनका लक्ष्य जनता के बीच सम्मान पाना नही, प्रत्युत, दर्शन और तर्क की किसी गहन समस्या का

समाधान खोजना था। पाँचवी शताब्दी से लेकर, प्राय, दसवी-ग्यारहवी शती तक का समय, इस दृष्टि से, अत्यत मेधावी लोगो का समय कहा जा सकता है, क्योकि गौडपाद, कुमारिल, शकर, चद्रकीर्त्ति और वाचस्पति मिश्र इसी काल में जनमे थे। किन्तु, विचारको के वृत्त से बाहर जो साधको का अपार समूह था, उसका ध्यान दार्शनिक विवेचन पर नही जाता था। उसकी जिज्ञासा केवल इस प्रश्न को लेकर थी कि काम को धर्म से कैसे मिलाया जाय और इस मिलन की सार्थकता दर्शन से कैसे सिद्ध की जा सकती है।

रवीन्द्रनाथ ने आदर्श मनुष्य की कल्पना इस रूप मे की है कि उसे मन से सुसंस्कृत और तन से बर्बर होना चाहिए ; अर्थात् मन से वह कोमल, दयालु और त्यागी हो, किन्तु, शरीर उसका पाशविक होना चाहिए। बुद्ध ने अति-तप-क्लान्त देह को आध्यात्मिक साधनाओ के अनुपयुक्त तो कहा था, किन्तु, व्यवहारत, उन्होंने जिस साधना का प्रचार किया, उससे तप क्लान्ति से छुटकारा नही था। अतएव, कहा जा सकता है कि सघो की स्थापना तथागत ने बर्बर मनुष्य को दबाकर की थी। किन्तु, बर्बर मनुष्य मरा नही। वह कभी मरता भी नही है। काल पा कर वह बर्बर मनुष्य सिर तानकर खड़ा हो गया और, खुल्लमखुल्ला, यह कहने लगा कि हमे भी वही सुख चाहिए जो गृहस्थ भोगते है। प्रत्युत, यह भी कि जिस कर्म से गृहस्थ पतित होता है, हमारा पतन उससे भी नही हो सकता।

> कर्मणा येन वै सत्वा. कल्प-कोटि-शतान्यपि
> पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते।
>
> (इन्द्रभूति-कृत ज्ञानसिद्धि से)

अर्थात् जिन कर्मों के करने से सामान्य जीव करोडो कल्प तक नरक मे पडा रहता है, उन्ही कर्मो को करता हुआ योगी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस पर यदि कोई यह पूछता कि आप तो गृहस्थ नहीं, वैरागी है, तो इसका भी उत्तर वज्रयानियो ने तैयार कर रखा था।

> तथा-तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन.
> सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन।

अर्थात् आचरण वैसा करना चाहिए जिससे मन में क्षोभ नही जगे, क्योकि चित्तरत्न के क्षुब्ध होने पर सिद्धि कभी भी प्राप्त नही होती। यह निदान, बहुत-कुछ, आज का फ्रायडीय निदान है जो गृहस्थो के लिए उचित माना जाता है। किन्तु, सन्यासी के मुख से ऐसी बाते आज भी घृणित ही मानी जायँगी।

रिफार्मेशन से पहले की इटली मे धर्म-सघो की नैतिक स्थिति का वर्णन करते हुए एक लेखक ने लिखा है कि "लोगो को उस समय धर्माचार्यो से घोर घृणा थी। ये धर्माचार्य खुल कर क्रीड़ा करते थे, खूब शराब पीते और शिकार खेलते थे तथा हमेशा वे बढ़िया

भोजन और घांघरो की तलाश मे रहते थे। सारा समाज यह मानता था कि स्वर्ग और चाहे जिसे भी मिल जाय, धर्माचार्यो को वह नही मिल सकता। लोगो का यह मत भी वन गया था कि ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य का एक-मात्र भेद यह है कि गृहस्थ के केवल एक पत्नी होती है, किन्तु, ब्रह्मचारी दस पत्नियो से सम्बन्ध रख सकता है। यह भी कि जब तक गृहस्थो के पास पत्नियां हैं, ब्रह्मचारी को विवाह करने की आवश्यकता नही है। धर्माचार्य रखैल रखते थे और धर्म की भाषा मे उसे "आत्मा की गाय" कह कर अभिहित करते थे।"[1]

इटली के धर्माचार्य जिसे "आत्मा की गाय" कहते थे, भारत के वज्रयानी साधु उसे "मुद्रा" कहा करते थे। शाक्त-तन्त्र मे मुद्रा का अर्थ हाथो को उलट-पुलट कर बनाया जानेवाला रहस्यात्मक सकेत था अथवा कही-कही उसका अर्थ अन्न भी होता था, किन्तु, वज्रयान मे आकर उसका अर्थ वह नारी हो गयी जो साधक की साधना मे सहयोग देती थी। प्रज्ञोपाय-साधना मे उपाय का प्रतीक तो साधक स्वय होता था और प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व कोई नारी करती थी, जो साधक की "महामुद्रा" कहलाती थी। साधक अपनी मुद्रा-साधना मे इतने तल्लीन रहते थे कि प्रज्ञा को व्यक्तित्व प्रदान करके उसे सबोधित करते समय उनके मुख से सदा उसके लिए डोम्बी, चाडाली, शबरी, योगिनी— जैसे शब्द ही निकलते थे। फलत, उनकी यौगिक अन्त साधना बाह्य-मुद्रा-साधना तक ही सीमित रहने लगी।[2]

वज्रयानी सिद्धो के चर्यापदो मे हम नीच जाति की स्त्रियो के सम्बोधन बार-बार पाते हैं। यह प्रथा, कदाचित्, इसलिए चली कि उच्च वर्णो की नारियाँ इन्हे नही मिल पाती थी। अतएव, ये साधु निर्धन, अशिक्षित एव भीरु निम्नवर्गीय समाज की लड़कियों का हरण करके अपना काम चलाते थे। वाममार्गी साधु, कापालिक और वज्रयानी सिद्धो से जनता भय मानती थी, क्योकि उनमे से कितने ही ऐसे थे, जो यौगिक चमत्कार दिखा सकते थे, त्राटक अथवा हिपनाटिज्म की क्रिया से लोगो को प्रभावित कर सकते थे। भय का एक कारण यह भी था कि लोग यह जानते थे कि ये साधु गृहस्थ की बहू-बेटियो को मत्र से मोह कर अथवा बलात् चुरा कर हर ले जाते हैं और उन्हें मुद्रा बना कर सिद्धि प्राप्त करते है। कापालिको और योगियो के व्यभिचार की कहानियाँ लोक-कथाओ मे अब भी मौजूद है। मालतीमाधव नाटक मे कापालिक का जो चरित्र दर्शाया गया है, वह भयानक, घृणापूर्ण और बीभत्स है।

तात्विक दृष्टि से वाममार्गियो और वज्रयानियो ने सोचा यह था कि योग के द्वारा हम काम-शक्ति का उदात्तीकरण करेंगे। काम का उदात्तीकरण करने मे कुछ योगी

---

१ A Cultural History of Modern Age—By Egon Friedell.
२. उत्तर भारत की सत-परपरा

सफल भी हुए होंगे, किन्तु, अपार साधुओ के लिए योग उनके व्यभिचार का पर्दा बन गया। एक बार वाममार्गियो का एक दल इस चिन्ता मे पड़ा कि समाज में हमारा आदर कैसे बढ सकता है। सलाह माँगने पर गुरु गोरखनाथ ने उनसे कहा, यदि आप प्रतिष्ठा चाहते है तो सब झझट छोड कर योग-क्रियाओ से अपना सम्बन्ध जोड लें।[1] योग की साधना भारत मे हमेशा ही आदरणीय और उच्च साधना मानी जाती थी, अतएव, जो भी योगी होता था, उसके स्खलन पर जनता अधिक ध्यान नही देती थी।

जिन दिनो महायान का आरभ हुआ, उन दिनो वैदिक धर्म में नरक की कल्पना बद्धमूल हो चुकी थी और लोग यह मानने लगे थे कि पाप की सजा नरक की यातना होती है। आश्चर्य है कि नरक का त्रास तत्र-मार्ग और वज्रयान में नही बढा। इन सप्रदायो के लोग स्वर्ग-सुख पाने के तो उपाय ढूँढते रहे, किन्तु, नरक के त्रासो पर उन्होंने जोर नही दिया। स्पष्ट ही, स्वर्ग की राह उन्हे व्यभिचार के भी भीतर से जाती दिखायी पडी थी। यदि व्यभिचार दडनीय हो जाता तो फिर स्वर्ग का रास्ता ही बन्द था। इसलिए, नरक की कल्पना से उन्होंने छुट्टी ले ली।

अनादि सत्य का रूप हमेशा एक समान रहता है, अर्थात् दिखायी वह कभी नही देता। किन्तु, उसकी ओर मुख करके मनुष्य हमेशा यह सोचता है कि हमारा धर्म क्या है। वेदो के समय यह धर्म प्रवृत्तिमूलक रूप में प्रकट हुआ था जिसकी शिक्षा यह थी कि कार्य करना धर्म है, अच्छा भोजन और अच्छा वस्त्र जुटाना धर्म है, पशु-पालना धर्म है, खेती और वाणिज्य करना धर्म है, अधो को आँख और लँगडो को पाँव देना धर्म है तथा देवताओ की स्तुति करना एव शत्रुओ का मान-मर्दन करना भी धर्म है। वेदो के बाद जब उपनिषदो का समय आया, तब भी, निवृत्ति बहुत प्रखर नही हुई। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित आदर्श उस समय जनक के आदर्श मे प्रकट हुआ जिसका साराश यह था कि घर से भाग कर जगल मे रहना बहुत बडा धर्म नही है। धर्म की परीक्षा ससार के भीतर की जाती है। बायाँ हाथ नारी के स्कध पर और दायाँ हवन-कुण्ड मे, सच्ची परीक्षा इसी रूप में दी जाती है। जो इस मुद्रा में सफल जीवन बिता सके, असली धर्म उसी के चरित्र मे है।

मिथिलायां दह्यमानायां न मे दहति किंचन।

किन्तु, बुद्ध और महावीर ने एकपक्षीय धर्म चला दिया ; ससार से भागो, क्योंकि, वहाँ कदम-कदम पर पाप बिछा हुआ है। यह पहली गलती थी। दूसरी गलती वज्रयानियो ने की कि धर्म को उन्होने पाप का आवरण बना दिया। गृहस्थ सुख भोगता है तो वह उसकी कीमत भी अदा करता है। सिद्धो ने सुख तो भोगा, किन्तु, उसकी कीमत नही चुकायी। यह पाप था।

---

१ मध्यकालीन धर्म-साधना

कैसा रहा होगा वह समय और वह समाज, जिसके विश्वास की पताका कोणार्क, पुरी, भुवनेश्वर और खजुराहो के मडपो पर फहरा रही है ? मडप के भीतर शिव या शक्ति की प्रतिमाएँ और मडप के ऊपर नर-नारी-समागम की नग्न मूर्तियाँ और काम के कर्म-चित्र, जिनकी ओर भाई-बहन एक साथ आँखें नही उठा सकते। इन मूर्तियो को देख कर आज का जनमत शरमाता है। क्या उन दिनो कोई जनमत नही था ? आज का जनमत जनता बनाती है, अखबार और लेखक बनाते हैं। उस समय का जनमत साधु, सन्यासी, राजा और राजदरबारी तैयार करते थे और जनमत के ये सभी निर्माता परस्पर एक थे। यह कुहासा तब फटा, जब वैष्णव और शैव सन्तो के प्रभुत्व का समय आया, उससे भी बढकर जब मुसलमान आये। देखा गया है कि यह देश बाहरी आक्रमणो के समय ही आँखें खोलता है। बौद्ध साधुओ और सघो का सहार मुसलमानो ने किया, यह और बात है। बडी बात यह हुई कि बाह्य आक्रमणो की धमकी से देश के भीतर एक जागृति पैदा हुई और अन्ध-विश्वास का कुहासा काफी दूर तक फट गया।

बाद के संतों पर सहजयान का प्रभाव

लगभग पाँच सौ वर्ष की साधना के बाद बौद्ध सिद्धो ने अपने उत्तराधिकारियो के लिए जो परपरा छोडी, वह योग की परपरा थी। वह इस विचारधारा की परपरा थी कि मठ, मन्दिर, प्रतिमा और धार्मिक अनुष्ठान बेकार है, असली सत्य तो शरीर के भीतर छिपा हुआ है। इस सत्य की उपलब्धि भी शरीर के द्वारा ही की जा सकती है। एक स्थल पर गुह्य-समाज-तत्र मे हो कहा गया था कि चैत्य बनाना व्यर्थ है। बौद्ध-धर्म-ग्रन्थो के पाठ से कोई फल नही मिलता। त्रिरत्न की पूजा और यन्त्रो का निदिध्यासन भी बेकार है। योगी के लिए ये सारे अनुष्ठान फालतू हैं। वह साघिक एव सामाजिक नियमो की पाबन्दी नही मानता। सक्षेप मे उन्होंने जो परपरा छोडी वह सहजयान की परपरा थी और सहजयान भी अपने मूल रूप को छोड कर निर्बन्ध जीवन का पर्याय हो गया था। सहजयान, यानी मन और इन्द्रियो को उनकी सहज-स्वाभाविक गति पर छोड देना। सहजयान, यानी मन और इन्द्रियो की माँगो की अवहेलना नही करना।

> खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते णित पुराण-चक्का-वि भरंते,
> अइस धम्म सिज्झइ परलोअह, णाह पाय दलिऊ भयलोअह।

अर्थात् स्वेच्छापूर्वक खाने-पीने और सुख मे रमण करने से परलोक बनता है और सासारिक भय मिट जाते है।

जब कबीरदास का अविर्भाव हुआ, उस समय वैष्णव सहजयान अपने उत्कर्ष पर था। जहाँ तक योग की महत्ता और अनुष्ठानो की व्यर्थता का प्रश्न है, कबीर वज्रयानी परपरा के उत्तराधिकारी हुए और उन्होने ठीक उन्ही दिशाओ मे काम किया, जिन दिशाओ का सकेत वज्रयानी सतो ने किया था। फर्क यह रहा कि जो बाते बौद्ध साधुओ ने

कुरूप ढग से कही थी, उन्हें कबीर ने कला और साहित्य के स्तर पर पहुँचा दिया। किंतु, वामाचार और तंत्र को कबीर ने प्रश्रय नही दिया। जहाँ तक सहजयान वेदो का विरोधी, जाति-प्रथा का आलोचक, शास्त्रो का निन्दक और अनुष्ठानो के विरुद्ध था, वहाँ तक कबीर सहजयान के उत्तारधिकारी दिखायी देते हैं। किन्तु, सहजिया लोगो की रसिकता से उन्हें चिढ थी। इसलिए, सहज शब्द पर तो कबीर ने आस्था प्रकट की, किन्तु, उसके साथ सबद्ध रसिकता को उन्होने त्याज्य ठहराया।

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ,
जिन सहजे विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ,
जिन सहजे हरि जी मिलें, सहज कहीजै सोइ।

इसी प्रकार, कबीरदास जी को यह बात भी पसन्द आयी कि वैष्णव-सहजिया साधु हठयोग की अपेक्षा राजयोग को अधिक पसन्द करते थे। कबीर हठयोग की साधना कर चुके थे और उनके लिए समाधि मे जाना नाक-कान के दबाने पर निर्भर नही था। किन्तु सबके लिए उन्होने इसी सहज समाधि को विहित बताया जो राजयोग से उत्पन्न होती है।

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते लागी दिन-दिन अधिक चली।
जहँ-जहँ डोलूँ सो परिचर्या जो-जो करूँ सो पूजा।

भारतीय धर्म के इतिहास मे कबीर का महत्त्व बहुत बडा है। धर्म को उन्होंने सप्ताह मे एक या दो दिन का कृत्य नही माना, न उन्होने उसे मन्दिर अथवा योगासन पर की जानेवाली क्रियाओ तक ही सीमित किया। कबीर धर्म को जीवन की प्रत्येक साँस मे अवस्थित करना चाहते है। उनकी कल्पना का धार्मिक मनुष्य वह है जो धर्म के सिवा और कुछ करता ही नही। उसकी प्रत्येक क्रिया पूजा की क्रिया होती है। उसका हर एक कदम तीर्थ मे पडता है। दूर से देखने पर कबीर भी निवृत्तिवादी ही दिखायी देते हैं, किन्तु, प्रवृत्ति की दिशा में उन्होने एक बहुत बडी क्रान्ति की। हमारे सम्पूर्ण, दैनिक सामान्य जीवन को धर्म-साधना का माध्यम बता कर उन्होंने धर्म के भीतर ससार को प्रतिष्ठित किया जिसका सभी धर्माचार्य बहिष्कार करते आये थे।

कबीर और नानक ने ब्याह का बहिष्कार नही किया, इसे भी हम सिद्धो के जीवन से ली हुई शिक्षा समझते है। पाँच-छह सौ वर्षो की साधना ने बतला दिया था कि मात्र सन्यास लेने से आदमी काम की मारो से नही बच सकता। और सहजिया-साधको ने यह भी सिद्ध किया था कि पत्नी को साथ लेकर भी आध्यात्मिक साधना की जा सकती है। यही वह पृष्ठभूमि हुई, जिससे प्रेरणा लेकर कबीर और नानक ने गार्हस्थ्य-वृत्ति स्वीकार की।

वैदिक मार्ग भारत-धर्म का सनातन, विहित मार्ग है। नयी साधनाएँ जन्म लेती है और इस मार्ग से अलग चलना चाहती है, किन्तु, घूम-फिर कर वे फिर इसी मार्ग पर आ जाती है। साधक भटकते है, किन्तु, अन्त मे, वे वैदिक मार्ग पर आ जाते है। वैदिक मार्ग ऋषियो का मार्ग था जो गृहस्थ होते थे। बौद्ध और जैन मार्गों ने मुनि-वृत्ति को प्रमुख माना, जिसका पालन घर छोड कर ही किया जा सकता था। किन्तु, मुनियो की जो दुर्दशा हुई, उससे आजिज आकर लोगो ने सहज मार्ग का सन्धान किया और सहज-यान के बाद जो सत आये, उन्होने वैवाहि जीवन की महत्ता को खुलकर स्वीकार किया। बुद्ध वेद से बहुत दूर चले गये थे, किन्तु, कबीर और नानक का मार्ग गार्हस्थ्य की स्वीकृति के कारण वेद के निकट का मार्ग हुआ। वह, बहुत-कुछ, जनक के मार्ग का ही परिवर्तित रूप था। वेद और गीता की प्रवृत्तिमूलक शिक्षाओ की उपेक्षा करके अनेक बार साधको ने गृह-त्याग की महिमा निरूपित की, किन्तु, बार-बार उन्हे गीता और वेद के पास वापस आना पडा। जिन नानाविध उद्यमो से ससार गतिमान है, उनमे हिस्सा लेना पाप नही, पुण्य है। रज्जब का एक दोहा मिलता है,

उद्यम अवगुन को नहीं जो करि जानै कोय,
उद्यम में आनन्द है साईं सेती होय।

सासारिकता और आध्यात्मिकता में सम्बन्ध हो सकता है, इस सत्य का उद्घोप भी हम रज्जब के एक अन्य दोहे मे सुनते है।

एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग,
एक बुड़हिं वैराग्य में, एक तरहिं सो गिरही लोग।

योग मे बूडनेवाले लोगो के दृष्टान्त वज्रयानी साधु हुए थे। भोग के वृत्त मे रह कर योग सिद्ध करनेवालो मे बडे नाम कबीरदासजी और नानकदेव के है। यह भी कहा जा सकता है कि काम और अध्यात्म के सघर्प से निकल कर वज्रयानी साधु जिस राह पर आना चाहते थे, वह राह वज्रयानियो को नही, कबीर और नानक को दिखायी पडी। और दर्शन की जो अनुभूति वज्रयानियो के पास भाषा के अभाव मे छटपटा रही थी, उसे भी उपयुक्त भाषा कबीर मे आकर प्राप्त हो गयी।

प्रकरण ७

बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक प्रसंग

चिनगारी जो बुझी नहीं

किन्तु, वज्रयान ने समाज में जहाँ इतने दुराचार फैलाये, वहाँ उसने क्रान्ति की उस शिखा को भी ऊँचा रखा, जिसे बुद्ध जला गये थे। बुद्धदेव ने (१) जाति-प्रथा को चुनौती दी थी, (२) शास्त्रो का तिरस्कार किया था और (३) मनुष्य की स्वतत्र वुद्धि को स्फुरणा प्रदान की थी। बुद्ध के इन तीनो नही, तो पहले दो उपदेशो पर वज्रयानी भी आरूढ रहे। हिन्दू-धर्म अपनी वाँहें पसार का बौद्ध-मत को आत्मसात् करने के प्रयत्न मे था। किन्तु, हिन्दुत्व का आलिगन चाहे जितना प्रगाढ रहा हो, वह कभी भी इनता प्रगाढ नही हो सका कि बौद्ध-मतावलम्वी लोग जाति-प्रथा को स्वीकार करें अथवा वदो को प्रमाण मान लें। जनता तो बौद्ध देवताओ की पूजा करते हुए भी जाति-प्रथा को मानती थी, किन्तु, साधु उसे नहीं मानते थे। इस प्रसग का एक दूसरा पक्ष यह है कि उच्च वर्ण के लोगो में बौद्ध-धर्म की शिक्षा वहुत अधिक नही फैली थी। बौद्धो के अधिक अनुयायी नीचे की जातियों में थे और उन जातियो को यह वात बहुत अच्छी लगती थी कि बौद्ध उपदेशक जातिवाद को नही मानते थे।

बौद्ध-धर्म के उपदेश के वाद से इस देश में ऐसी विचार-धारा काम करती रही है, जो शास्त्रो के सामने मस्तक झुकाने को तैयार नही है और जो सभी जातियो को तोड कर विशाल मानवता की रचना करना चाहती है। यह भी ध्यान देने की वात है कि वैदिक धर्म, आरभ से ही, वेदो की दुहाई देता आ रहा है और शास्त्रो के वल पर, वह जाति-प्रथा को कायम रखना चाहता है। महावीर और बुद्ध के उपदेशों से जव समाज की श्रृखला टूटने लगी और वर्णाश्रम-धर्म विपन्न होने लगा, तव ब्राह्मणो को सवसे बडी चिन्ता इसी विपत्ति को लेकर हुई। यह भी ध्यान देने की वात है कि जव वैदिक-धर्म फिर से ऊपर आया, तव सवसे अधिक उसने स्मृतियो के निर्माण पर जोर देना शुरू किया एव मनुष्य के स्वतत्र चिन्तन का मार्ग वह अवरुद्ध करने लगा। यहाँ तक कि गीता मे भी ऐसे अवरोध समाविष्ट कर दिये गये। जव हम उसके सोलहवें अध्याय में भगवान् को यह कहते देखते हैं कि—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः,
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।

(अर्थात् जो शास्त्र-विधि को छोड कर स्वतन्त्र रूप से काम करता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख, न उत्तम गति ही।)

तब, स्पष्ट ही, हमे यह भान होने लगता है कि इस तौर के लक्ष्य, मुख्यत , बौद्ध और जैन ही है।

किन्तु, बौद्धो का प्रचार बढता ही गया और वज्रयानियो ने तो शास्त्र-विरोध को सबसे श्रेष्ठ धर्म ही मान लिया। आगे चल कर, हिन्दी के निर्गुनियाँ सन्तो ने धर्म के बाह्यचार एव जाति-प्रथा और पुरोहितवाद की जो खिल्ली उड़ायी, उस परपरा की नीव इन्ही वज्रयानियो ने डाली थी। सन्त कवियो को वज्रयानियो की यह विरासत किस रूप मे मिली थी, इसके प्रमाण सिद्धो के ये शब्द पद है।

वह्मणो हि न जानंत हि भेउ, एवइ पढ़िअउ ए च्चउवेउ।
—सरहपा

(ब्राह्मण झूठमूठ वेदो को पढते है, पर, परमार्थ का रहस्य नही जानते।)

वम्हा-विहणु-महेसुर देवा, वोधिसत्व मा करिहू सेवा।
देव न पूजेहु तित्थ ण जाव्रा, देवपुजाही मोक्ख न पावा।
—तिलोपा

(वोधिसत्वो को ब्रह्मा-विष्णु-महेश की सेवा नही करनी चाहिए, पत्थर आदि के देवताओ की पूजा नही करनी चाहिए, न तीर्थ जाना चाहिए। बाह्य देवपूजा से मोक्ष नही मिलता।)

मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त, घरहीं वइसी अग्गि हुणन्त,
कज्जे विरहइ हुअवह होमें, अक्खि डहाविअ कडुएँ घूमें।
—तिलोपा

(मिट्टी, पानी, कुश लिये मत्र पढता है। घर मे बैठ कर अग्नि में होम करता है। विना मतलव होम के कडुवे धुएँ से आँखे फुडवाता है।)[1]

वेद-विरोधी आन्दोलन

तत्र, मत्र और योगाचार, ये केवल वज्रयानियो मे ही नही, अपितु, जैन, पाशुपत और वाममार्ग जैसे वैदिकेतर सप्रदायो में भी प्रचलित थे और उनका प्रचार वैदिक-धर्म मे भी था। किन्तु, छठी सदी से दसवी सदी तक के काल में जिस बात को लेकर हिन्दुत्व दो भागो मे विभाजित होने लगा, वह यह थी कि हिन्दुओ का एक विशाल समुदाय स्मृति के मार्ग का अनुयायी था अर्थात् वह तीर्थ-स्नान में पुण्य मानता था, वर्णाश्रम-व्यवस्था मे आस्था रखता था, व्रत, उपवास, स्वर्ग, नरक, पितृश्राद्ध आदि मे विश्वास करता था तथा सभी देवताओ और उप-देवताओ की पूजा करता था।[2] किन्तु, इसके विपरीत, एक और

---

१ दे० हिन्दी काव्य-धारा (राहुलजी) और साहित्य-समीक्षा (देवेन्द्रनाथ शर्मा)
२ हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्म-साधना

समुदाय था जो जाति-प्रथा को नही मानता था, जो मन्दिरो, तीर्थों और पुरोहितो में विश्वास नही करता था तथा जिसे देवताओं की शक्तियों मे विश्वास नही था। यह समुदाय, विशेषत, उन योगियो और तान्त्रिकों से प्रभावित था जो यह कहते थे कि मनुष्य की सारी शक्तियाँ उसके अपने शरीर मे छिपी हुई हैं तथा शरीर और चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नही मिल सकता। ये योगी व्रत, उपवास, यज्ञ, होम और शास्त्र-वचन को मिथ्या मानते थे और जनता को यह उपदेश देते थे कि धर्म के बाहरी ढकोसलो मे कही कुछ नही है, अतएव, अपने मनके भीतर डूब कर असली धर्म की साधना करो। शास्त्रो की अवज्ञा सिखाने और उनकी खिल्ली उडाने मे इन साधुओ को विशेष रस आता था। "कितने ही तान्त्रिक मतों ने अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी सम्प्रदाय घोषित किया और दृढ कंठ से समस्त वैदिक मतो का प्रत्याख्यान किया। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि अत्यत सहज बात को भी वे लोग भडकानेवाली भाषा मे कहते थे और हर प्रकार से, वैदिक मार्ग का उलटा सुनायी देनेवाला वक्तव्य देते थे।"

ये बाते उस समय हो रही थी, जब गुप्तवशी राजाओ की छत्रच्छाया में वैदिक धर्म पूरे बल के साथ उठ कर खडा हो चुका था और उसकी, समाज पर, फिर से ऐसी धाक जम गयी थी कि जो मार्ग अपने को वेद-विहित सिद्ध कर सकता, उसकी प्रतिष्ठा बढ जाती थी। किन्तु, इस जाग्रत वैदिक-धर्म के होते हुए भी, सहजिया सिद्ध एव नाथ-सम्प्रदाय के साधु वेदो का कस कर विरोध कर रहे थे। पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "छठी-सातवी शताब्दी के बाद यह वेद-विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। बौद्धो और जैनो में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है। परन्तु, यह नया स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है। इसमें सर्वव्यापक, सर्व-शक्तिमान् प्रभुसत्ता को अस्वीकार नही किया गया है। कभी-कभी तो इसमें अद्वैत-वाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। ज्यों-ज्यो शताब्दियाँ बीतती गयी, त्यो-त्यो यह विरोधी स्वर दृढ ही नही, कठोर भी होता गया। वाममार्गी तान्त्रिक और योगी तो उल्टी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधा-भास यह है कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नही। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उल्टा के, जटिल और गुथीली बना कर और आक्रामक तथा धक्कामार बना कर कहते गये। कहने का ढग कुछ विचित्र-सा था। गोमास-भक्षण पाप है, यह सर्वविदित बात है। वारुणी पीना बुरी बात है, यह सभी मानते है। लेकिन, हठयोगी यही कहेगा कि गोमास का भक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है और यही कुलीन का परम कर्त्तव्य है। यह भाषा, स्पष्ट ही, आक्रामक और धक्कामार है। कहते हैं, योगी जब गोमास-भक्षण अथवा सुरापान का उपदेश देते थे, तब उनका अभिप्राय, सचमुच ही, मदिरा या गोमास से नही, बल्कि, योग की किसी क्रिया-विशेष से होता था। किन्तु,

फिर भी, जिस भाषा में वे अपनी बात कहते थे, वह लोगों को तिलमिला देनेवाली थी। कृष्णाचार्य ने जब कहा था, एक्कु न किज्जइ मतु न ततु, णिय घरणी लेइ केलि करन्त, अर्थात् मत्र-तत्र सब बेकार है, केवल गृहिणी के साथ केलि करने से सिद्धि प्राप्त होती है, तब,वास्तव मे, वे यह कहना चाहते थे कि महामुद्रा की साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि, उन्होने, जप-तप सबकी व्यर्थता बतलायी है, परन्तु इसके लिए इस भाषा की आवश्यकता नही थी।"

नय और आचार के बीच दरार

जिस काल पर हम विचार कर रहे है, वह बौद्धिक दृष्टि से कोई साधारण काल नही था। इसके आदि मे गुप्त-काल पडता है, जो हमारे साहित्य का स्वर्ण-काल था। "जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्सदिग्ध रूप मे प्रामाणिक मानी जाती है, उनका सपादन, अन्तिन रूप मे, इसी काल मे हुआ था। जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका गुप्त-काल में रची गयी, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही हैं। जो शास्त्र उन दिनो प्रतिष्ठित हुए, वे आज भी भारतीय मनीषी को प्रेरणा दे रहे है।"[1] गुप्त-काल के बाद भी, एक-से-एक चिन्तक पैदा हुए। कुमारिल और प्रभाकर जैसे मीमासक, शकराचार्य और वाचस्पति मिश्र जैसे दार्शनिक, न्यायवार्तिक के लेखक उद्योतकर और प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चदकीर्ति (माध्यमकावतार और प्रसन्नपदा के लेखक) इसी काल मे हुए। शान्तिदेव जिनका "बोधिचर्यावतार" त्याग और आत्म-बलिदान का अपूर्व ग्रन्थ है, इसी काल मे हुए थे।" इसके सिवा, विज्ञानवादियो के आचार्य चद्रगोमिन् और सन्तभद्र तथा अकलक-जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए।

चिन्तन मे कोई कमी नही थी, किन्तु, इस काल का चिन्तन निरा बौद्धिक या अकेडेमिक किस्म का था। उसमे जिन्दगी को प्रभावित करने की वह बेचैनी नही थी, जो उपनिषदो के युग मे देखी गयी थी। यह चिन्तन रहस्य का उद्घाटन करने के लिए नही, केवल शास्त्रार्थ के नाम पर किया जा रहा था। मनुष्य की मौलिक समस्याओ को छोड कर चिन्तको का ध्यान इस बात पर अधिक चला गया था कि प्रतिपक्षी को परास्त करके अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कैसे बढायी जाय। मनुष्य के सामने जब मौलिक समस्याएँ वर्तमान थी, तब उसने उपनिषदो की रचना की थी। अब उन उपनिषदों की टीका करने का समय आ गया था। और एक टीकाकार जिन ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी) की टीका करके अद्वैत की सिद्धि करता था, दूसरा टीकाकार उन्ही ग्रन्थो से द्वैत की और तीसरा विशिष्टाद्वैत की सिद्धि कर रहा था। यही नही, बल्कि, वर्णाश्रम-धर्म के खिलाफ जो विद्रोह फैलता चला आ रहा था, अब वह हिन्दुत्व की सँभाल के बाहर जा पडा था।

१ मध्यकालीन धर्म-साधना

वाममार्गी योगी, कापालिक, पाशुपात, वज्रयानी और जैन, प्राय सभी सम्प्रदायो के साधु दिन-रात यह प्रचार कर रहे थे कि धर्म के बाह्याचार मिथ्या है, वेदो और शास्त्रो का अध्ययन केवल मस्तिष्क का बोझ है, ब्राह्मणो और पुरोहितो से किसी का उपकार नही हो सकता, तीर्थ और मन्दिर में जाने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त नही होता, जाति-प्रथा झूठी है और स्मृतियो के द्वारा बताये हुए मार्ग भी गलत है। यह भावना, विशेषत, उनको प्रिय लगती थी जिन्हें जातियो की दीर्घा मे ऊँचा स्थान प्राप्त नही था, मगर, जो सख्या में बहुत अधिक थे। यह ध्यान देने की बात है कि सिद्धो मे से अधिकाश नीची जातियो के लोग थे और उनकी मुद्राएँ भी, अक्सर, छोटी जातियो की स्त्रियाँ ही होती थी। अपने विरुद्ध उठी हुई इस बगावत से लडने के लिए हिन्दुत्व भी सजग था और वह नयी स्मृतियाँ रच कर अथवा पुरानी स्मृतियो में नयी शर्तो की वृद्धि करके उन सभी लोगो को सामाजिक दड दे रहा था जो वर्णाश्रम-धर्म का बन्धन तोडनेवाले थे। इस काल मे जातियो की श्रेणियाँ और भी बढ गयी, अस्पृश्यता और छूआछूत के विचार और भी कडे हो गये एव शूद्रो और स्त्रियो का अनादर पहले से भी अधिक हो गया। बौद्ध मत का प्रचार देश के बाहर बडे जोर से हो रहा था। यह बात ब्राह्मणो को अच्छी नही लगती थी। अजब नही कि इसीलिए स्मृतियो में समुद्र-यात्रा का निषेध प्रतिपादित किया गया हो। ब्राह्मणो और बौद्धो मे साँप और नेवले का सबंध हो गया था। शकराचार्य ने शून्यवाद को "सर्वप्रमाणविप्रतिपिद्ध" कह कर उपेक्षायोग्य समझा था। कुमारिल भट्ट-जैसे मेधावी आचार्य ने भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातो को उसी प्रकार अग्राह्य बतलाया था, जिस प्रकार, कुत्ते की खाल मे रखा हुआ दूध अमेध्य होकर अनुपयोगी हो जाता है। "श्वदति निक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगी", इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।" (हृ० प्र० द्वि०)। उन दिनो, एक साधारण कहावत चालू हो गयी थी कि मरते हुए बौद्ध के मुख मे पानी देना भी पाप है। स्वामी शकराचार्य हिन्दुत्व के त्राता माने जाते है, किन्तु, चूँकि उन्होंने बौद्धो का विनाश करने में बौद्ध-दर्शन का ही (नागार्जुन और वसुबन्धु के मत का) सहारा लिया था, इसलिए, जनता ने उन्हे भी प्रच्छन्न बौद्ध कह कर उनकी निन्दा की, यद्यपि, बौद्ध-मत के लिए यह प्रशसा की ही बात थी। वैदिक धर्म के ग्रन्थो की रचना उपनिषत्काल मे अवरुद्ध नही हुई। सच तो यह है कि हिन्दुओं का सुविशाल धर्मसाहित्य उपनिषदो के बाद ही तैयार हुआ। किन्तु, इन ग्रन्थो को देखने से यह कही भी भासित नही होता कि जिन दिनो ये धर्म-ग्रन्थ लिखे गये, उन दिनो इस देश में बौद्ध आन्दोलन जोरो से चल रहा था। प्रतिपक्षी मत की यह उपेक्षा अत्यन्त घोर कही जायगी और उसे देख कर आश्चर्य भी होता है।

बौद्ध मत पर पुराणों के आक्रमण

हिन्दुत्व अपने आलिगन मे कस कर बौद्ध-धर्म को मार डालना चाहता था। उसने

बौद्धो को अपनाने के लिए उनके अनेक सिद्धान्तो को तो मान लिया था, किन्तु, बौद्ध मत की जिन बातो को वह बिलकुल अग्राह्य समझता था, उनकी धार भोथी करने के लिए पुराणो मे उसने अनेक धार्मिक कथाओ की सृष्टि शुरू कर दी। कुमारिल ने बौद्ध मत का विरोध कर्मकांड के आधार पर किया था और शकराचार्य ने ज्ञान का पक्ष लेकर। दक्षिण भारत में शैव जनता जैन-सम्प्रदाय से अधिक रुष्ट थी, किन्तु, वैष्णवो के प्रधान शत्रु बौद्ध थे। इसलिए, बौद्ध मत को नीचा दिखाने का प्रयास वैष्णव पुराणो मे ही अधिक मिलता है।

सबसे बडी बाधा यह थी कि बुद्ध विष्णु का अवतार माने जा चुके थे, इसलिए, उनके मत पर आक्रमण करना जरा असुविधाजनक हो गया था। इस असुविधा को दूर करने के निमित्त विचित्र-विचित्र कथाएँ गढी जाने लगी। एक कथा यह है कि एक बार असुरो ने वैदिक विधि से यज्ञ करके इतना बल प्राप्त कर लिया कि वे देवताओ से भी बली हो गये। इस पर देवताओ ने भयभीत होकर विष्णु से प्रार्थना की और विष्णु ने कृपा करके बुद्ध का अवतार लिया और असुरो से कहा कि वेद की सत्ता को मत मानो तथा वैदिक विधि से यज्ञ मत करो, क्योकि यज्ञ में पशु-हिंसा होती है। निदान, असुरो ने यज्ञ करना छोड़ दिया और वे, फिर से, देवताओ की तुलना मे दुर्बल हो गये। इस कथा के भीतर से कई बाण निकलते हैं। एक तो यह कि बुद्ध का अवतार असुरो के कल्याण के निमित्त हुआ था। दूसरा यह कि यज्ञ नही करने से मनुष्य की शक्ति छीजती है। और तीसरा यह कि जो असुर नहीं है, उन्हे बुद्ध के उपदेशो को नही मानना चाहिए।

विष्णु-पुराण मे एक और कथा आती है, जिसमे एक राजा मर कर श्वान-योनि मे उत्पन्न होता है। उसकी सती रानी उसे पहचान लेती है और कहती है, "महाराज! आप किस कारण श्वान-योनि मे उत्पन्न हुए? क्या आपको इसका स्मरण नही है कि तीर्थस्नान के बाद पाषडी से भाषण करने के कारण आपको यह कुत्सित योनि प्राप्त हुई है?" इस कथा मे पाषडी से अभिप्राय जैन या बौद्ध श्रमण से है और उसका लक्ष्य यह है कि जो जैन या बौद्ध श्रमण है, वे नीच है, अत, पुण्यात्मा लोगो को इन जैनो और बौद्धो से बात भी नही करनी चाहिए।

ब्राह्मण-धर्मावलम्बी बौद्ध श्रमणो से बात भी नहीं करें, यह विधान करते हुए विष्णु-पुराण मे निम्न-लिखित श्लोक मिलता है जो मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में भी उपलब्ध है,

पाषंडिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकांच्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।

(वेदबाह्य कर्म करनेवाले, मार्जारव्रत धारण करनेवाले, हेतुवादी और बकवृत्ति पाषडियों की, शब्दो से भी, पूजा न करे।)

स्पष्ट है कि जब श्रमणो मे सच्चरित्रता थी, तब ब्राह्मण उन पर ऐसे आक्रमण नही करते थे, और करते भी हों, तो वे निरर्थक होते होगे। यदि श्रमण अपनी अवस्था को

सुधार कर जनसाधारण के कल्याण का मार्ग पकडते, तो पुराणो के इन वारो से उनका कुछ भी नही बिगडता। "पर, वैसा न करके पुराणो के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए वे एक प्रकार से महापक में ही कूद पडे। एक के बाद एक तत्र की रचना करके वे अपने सप्रदाय की रक्षा करने के प्रयत्न करने लगे। पर, दिन में बुद्ध की पूजा और रात को वाम-मार्ग को स्वीकार करके नग्न स्त्री की पूजा करने का मेल कैसे बैठता ?"[1]

समाज मे बौद्ध-धर्म की इतनी अधिक निन्दा हुई कि शकर का मायावाद भी, अन्त मे, जनसाधारण को ग्राह्य नही हुआ, क्योकि उससे बौद्धो के शून्यवाद की गन्ध आती थी। यही कारण है कि शकर के बाद ही रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि सतो ने द्वैत या विशिष्टाद्वैत का प्रचार आरभ कर दिया और जब कि शकर का अद्वैत सिद्धान्त पडितो तक ही सीमित रहा, द्वैत और विशिष्टाद्वैत पर अवलबित धर्म, बडी ही आसानी से, सारी जनता मे फैल गये।

बौद्ध-धर्म के खिलाफ ब्राह्मणत्व के षड्यन्त्र, अनेक प्रकार से, चल रहे थे। 'मध्य-कालीन धर्मसाधना मे प० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने लिखा है कि "कूर्मपुराण के १६ वें अध्याय में कहा गया है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कपाल, लकुल, वाम, भैरव आदि हजारो मोहशास्त्रो की रचना की थी। साख्य-प्रवचन-भाष्य मे पद्मपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये है, जिनमे शिवजी ने पार्वती को सबोधन करके कहा है कि हे देवि! मायावाद बडा असत् शास्त्र है। मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमे मैंने श्रुति-वाक्य का गलत अर्थ किया है और कर्मस्वरूप की त्याज्यता का प्रतिपादन किया है। सर्व कर्मों के परिभ्रश को बता करके नैष्कर्म्य-भावना का मैंने समर्थन किया है। यह प्रच्छन्न बौद्ध मत है।" अर्थात् पडितो ने शकर को भी दडित करने का प्रयास किया, क्योकि उन्होने बौद्धो के शून्यवाद का प्रभाव ग्रहण किया था।

जैनों और बौद्धों पर शैवों का प्रहार

सातवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे, सुन्दर पाडय ने जैनो पर भयानक अत्याचार किया। "ईस्वी सन् की सोलहवी शताब्दी में सिहल द्वीप का राजा राजसिंह अपने पिता को मार कर गद्दी पर बैठा। उसने बौद्ध-सघ को आमन्त्रित करके उससे पितृ-वध का प्रायश्चित्त पूछा। भिक्षु-सघ ने व्यवस्था दी कि प्रायश्चित्त देना हमारे वस की बात नही है। तब उसने शैव धर्म स्वीकार कर लिया और भिक्षु-सघ पर भयकर अत्याचार शुरू कर दिया। चार-पाँच वर्ष के अन्दर ही सारे सिहल-द्वीप में एक भी भिक्षु नही रह गया।"[2]

१. भारतीय सस्कृति और अहिंसा · धर्मानन्द कोसाम्बी
२. वही

प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में जैन और बौद्ध श्रमणो का जो रूप अकित किया गया है, वह अत्यन्त पतित और घृणा उपजानेवाला है। यह नाटक कृष्णमिश्र नाम के दडी परिव्राजक ने चदेल राजा कीर्त्तिवर्मा के राज्य-काल में लिखा था। कहते है, सन् १०६५ ई० में यह नाटक उक्त राजा के सामने खेला भी गया था। इस नाटक के एक प्रकरण मे "शाति" और "करुणा" अपनी सखी "श्रद्धा" की प्रतीक्षा में खडी है। इतने में वहाँ दिगम्बर (जैन) सिद्धान्त प्रवेश करता है और कहता है,

दिगम्बर—ओ णमो अरिहन्ताण। (आकाश की ओर देख कर) अरे रे श्रावको! सुनो। हमारे इस मलमय पुद्गलपिंड की सब प्रकार के जलो से भी कैसे शुद्धि होगी? पर, आत्मा विमल-स्वभाव है और उसका ज्ञान ऋषि-परिचर्या से होता है। क्या कहते हो? यह ऋषि-परिचर्या कौन-सी? तो फिर सुनो। दूर से दडवत् करो और सत्कार-पूर्वक उन्हे मिष्टान्न भोजन दो। यदि वे तुम्हारी स्त्रियो से अति-प्रसग करें तो अपने मन में ईर्ष्या-मल उत्पन्न न होने दो।

[अनन्तर भिक्षु रूपधारी बुद्धागम (बौद्ध मत का प्रतीक) हाथ मे पुस्तक लेकर प्रवेश करता है]

भिक्षु—(विचार करते) भो, भो उपासको! सब पदार्थ क्षणस्थायी और अनात्मक है। वे बाह्य से जान पडते है। पर, जब चित्त-सतति में से सब वासनाएँ निकल जाती है, तब वह विषयो से विरक्त हो जाती है। (जरा इधर-उधर घूम कर बडी आढ्यता से) अरे, यह सौगत धर्म, सचमुच, अच्छा है जिसमे सौख्य है और मोक्ष भी। सोने को उत्तम आवास, अपनी पसन्द की बनियो की स्त्रियाँ, नियमित समय पर मिष्ट भोजन, उत्तम बिछौनें, श्रद्धा से स्त्रियाँ पूजा करती है और, इस प्रकार, बडे आराम से चाँदनी रातें कट जाती है।

करुणा—सखि, तरुण ताड के वृक्ष के समान ऊँचा, काषाय वस्त्र धारण किये, मुडित-सिर यह कौन आ रहा है?

शान्ति—सखि, यह बुद्धागम है।

भिक्षु—(आकाश की ओर देखकर) रे, रे, उपासको और भिक्षुओ! भगवान सुगत का यह वचनामृत सुनो। (पुस्तक पढता है) मै दिव्य चक्षु से लोगो की सुगति और दुर्गति देखता हूँ। सब सस्कार क्षणिक है। आत्मा स्थायी नही। इसलिए, भिक्षु स्त्रियो से अति-प्रसग करें, तो भी ईर्ष्या न करे, कारण, ईर्ष्या चित्त का मालिन्य है।

[इतने मे कापालिक रूपधारी सोमसिद्धान्त प्रवेश करता है। तब क्षपणक जैन, जो पहले से मौजूद है, उसके पास जा कर उससे कहता है।]

क्षपणक—अरे कापालिक! मनुष्यो की हड्डियो की माला धारण करनेवाले, तेरा धर्म कौन-सा है और मोक्ष कौन-सा है?

कापालिक—अरे क्षपणक! हमारा धर्म कौन-सा है, यह सुन! हम मनुष्य के भेजा, आँते, वसा और मास से भरी आहुतियाँ देते हैं और मनुष्य की खोपडी से सुरापान करके पारण करते हैं। ताजा कटे मनुष्य के गले से निकली हुई रक्त की धारा के वलिदान से महाभैरव की पूजा करते है।

इतने मे, कापालिक से क्षपणक और बौद्ध भिक्षु, दोनो का विवाद हो जाता है और कापालिक उन पर तलवार उठा कर टूटता है। फिर कापालिक एक युवती कपालिनी से कहता है कि तू, वारी-वारी से, दोनो का आलिंगन कर। आलिंगित होते ही भिक्षु गद्गद होकर कहने लगता है,

भिक्षु—अहा हा, इस कपालिनी का स्पर्श कितना सुखकर है! मैंने, न जाने, कितनी राँडो का आलिंगन किया होगा। पर, मै सौ वार बुद्ध की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि ऐसा आनन्द मुझे कभी नही मिला। सचमुच, कापालिको का कार्य वडा पुण्यप्रद है और यह सोमसिद्धात अवर्णनीय है। यह धर्म आश्चर्यजनक है। हे महाभाग! मैंने बुद्ध-धर्म विलकुल छोड दिया। अब मैं परमेश्वर-सिद्धात में प्रवेश करता हूँ। इसलिए, तुम मेरे आचार्य और मैं तुम्हारा शिष्य। मुझे परमेश्वरी दीक्षा दो।

और क्षपणक भी गद्गद होकर कहता है,

क्षपणक—(रोमाचित होकर) अरिहत! अरिहत! कपालिनी के स्पर्श में कैसा सुख है। सुन्दरी, दे, दे, पुन मुझे आलिंगन दे। अरे कापालिको का दर्शन सुख का और मोक्ष का साधन है। कापालिक! अब मैं तुम्हारा दास हो गया हूँ। मुझे भी महाभैरव के अनुशासन की दीक्षा दो।[1]

नाटककार ने यहाँ किसी को भी नही छोडा है। जैन और बौद्ध भिक्षुओ तथा पाशुपत कापालिको के द्वारा धर्म और नैतिकता की जो दुर्दशा उन दिनो हो रही थी, उसका नाटक मे पूरा चित्र आ गया है। अतिशयोक्ति को बाद दे दें, तब भी, यह वर्णन तत्कालीन समाज पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। यह भारत के घोर नैतिक पतन का चित्र है। श्रमण भी धर्म से गिर कर पापाचार मे जा फँसे थे। किन्तु, पापियो की उग्रता और कठोरता उनमे नही थी, इसलिए, कापालिको ने उन्हे दबा दिया। "शैव कापालिको ने तलवार, स्त्री और मदिरा, इन तीन साधनो का उपयोग करके बौद्ध एव जैन श्रमणो को अपने पन्थ में आने को बाध्य किया होगा और जहाँ यह सभव नही था, वहाँ उनका उच्छेद किया होगा।"

ब्राह्मणो और बौद्धो के बीच जो सघर्ष मचा, उसके फलस्वरूप, स्मृतियो में कड़ अनुशासनो की व्यवस्था की गयी, जात-पाँत और छुआछूत के बन्धन और भी कठोर बना दिये गये और धर्म में रूढियाँ प्रधान बन बैठी। ज्यो-ज्यो ब्राह्मणत्व अपनी पवित्रता

---

१ वही

की रक्षा के लिए नये-नये चगुल निकालता जाता था, त्यो-त्यों उन लोगो पर अत्याचार वढता जाता था, जो समाज के निचले स्तर पर वसते थे और जो,जन्मना कलंकित होने के अभिशाप से वचने के लिए, उस दल की ओर वढे जा रहे थे जो दल वौद्ध सन्तो के प्रभाव में था और जिसे सिद्धो के ये उपदेश वहुत अच्छे लगते थे कि मनुष्य की श्रेष्ठता जन्म से नही, कर्म से मिलती है, और वे सारे शास्त्र अनादरणीय हैं जो मनुष्य को मनुष्य से हीन वताते हैं।

इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सम्प्रदाय

जब इस्लाम आया, उसे इस देश मे फैलने में देर नही लगी। तलवार के भय अथवा पद के लोभ से तो वहुत थोडे ही लोग मुसलमान हुए, ज्यादा तो ऐसे ही थे जिन्होंने इस्लाम का वरण स्वेच्छा से किया। वगाल, कश्मीर और पजाव में गाँव-के-गाँव एक साथ मुसलमान हो गये। शहरो के किनारों पर जो अछूत लोग वसते थे, उन्हे मुसलमान वनाने के लिए किसी खास आयोजन की आवश्यकता नही हुई। ये अछूत शहरो के भीतर नही वस सकते थे, जहाँ ऊँची जातियो का प्राधान्य था और ये ऊँची जातियाँ अछूतों को पशु से भी हीन समझती थी। सच पूछिये तो मुसलमानो के आगमन के पूर्व ही, इस देश मे वहुत-से हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म को छोड एक ऐसी जगह पर जा खडे थे, जहाँ वर्णाश्रम का कोई प्रभाव नही था। वे जात-पाँत को नही मानते थे। तीर्थ-व्रत और प्रतिमा-पूजन में उनका विश्वास नही था। वे शून्य, अलख निरजन या निराकार की उपासना करते थे। ऐसे विश्वासवालों का जब इस्लाम से सामना हुआ होगा, तव अजव नही कि उन्हे हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम ही अधिक अनुकूल दिखायी पडा हो।

वौद्धो के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिरकार, समाज मे एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया जो निराकार को पूजता था और जो जाति-प्रथा का द्रोही और स्मृतियोका विरोधी था। सिद्ध, नाथपथी और वाद के निर्गुनियाँ सन्त इन्ही वौद्ध प्रचारको के उत्तराधिकारी थे। कट्टर ब्राह्मण-धर्म से वौद्ध-मत अपनी रक्षा तो नही कर सका, किन्तु, उसने ऐसी अनेक सन्ताने उत्पन्न कर दी जो ब्राह्मणत्व से आज तक युद्ध कर रही है। हजारीप्रसाद जी के अनुसार, "गोरखनाथ के पूर्व ऐसे वहुत-से शैव, वौद्ध और शाक्त सप्रदाय थे जो वेदवाह्य होने के कारण न हिन्दू थे, न मुसलमान। जव मुसलमानी धर्म प्रथम वार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणो से दो प्रतिद्वद्वी धर्मसाधनामूलक दलो मे यह देश विभक्त हो गया।" असल मे, वौद्ध मतावलवियो की स्वाभाविक परिणति या तो अद्वैतवादी हिन्दू-सप्रदायो मे होती थी अथवा इस्लाम में। हजारीप्रसाद जी ने लिखा है कि "विहार में चौदहवी और पन्द्रहवी शती मे वौद्ध-धर्म जीवित था और वाद मे चल कर वह कवीर-पन्थ मे मिल गया।" इसी प्रकार, अवैदिक या वेदवाह्य कह-कह कर जिन लोगो का हिन्दुत्व ने तिरस्कार किया, वे सव-के-सव मानसिक धरातल पर हिन्दुत्व से अलग हो

जाने को तैयार थे।" दसवी शताब्दी मे ब्राह्मण-धर्म सपूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था, फिर भी, बौद्धो, शाक्तो और शैवो का एक बडा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नही मानता था।" जब मुसलमान इस देश में आये, तब इन लोगो का मन डोलने लगा। वैदिक-धर्म मे इन्हें इज्जत नही थी। उधर, जिस निराकार भावना का इन लोगो के बीच प्रचार था, इस्लाम भी उसी निराकारोपासना को लेकर आया था। "पूर्वी बगाल के वेदबाह्य सप्रदायो के ध्वसावशेष कई धार्मिक सप्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानो को अपना त्राणकर्त्ता समझा। वे समूह-रूप में मुसलमान हो गयें। पजाब में भी नाथो, निरजनो और पाशुपतो की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयी। गोरखनाथ के सप्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त संप्रदाय अन्तर्भुक्त हुए, परन्तु, इस सप्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गये।" (मध्यकालीन धर्म-साधना)।

द्विवेदीजी ने अपनी कबीर नामक पुस्तक मे भी इस विषय की समीचीन व्याख्या की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आज की वयनजीवी जातियो में से अधिकाश किसी समय ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार नही करती थी। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घर-बारियो की एक जाति सारे उत्तरी और पूर्वी भारत मे फैली थी। ये नाथपथी थे, कपडा बुन कर या सूत कात कर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँग कर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जाति-भेद और ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नही थी और न अवतारवाद में ही इनकी कोई आस्था थी। आसपास के बृहत्तर हिन्दू-समाज की दृष्टि मे ये नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानो के आने के बाद, धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। पजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और बगाल मे इनकी कई बस्तियो ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया।

ऐसा जान पडता है कि मुसलमानो के आने के पहले इस देश मे एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणो से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नही थी। नाथपथी योगी ऐसे ही थे। रमाई पडित के "शून्यपुराण" से जान पडता है कि एक प्रकार के तान्त्रिक-बौद्ध मुसलमानो को "धर्म-ठाकुर" का अवतार समझने लगे थे। उन्हे यह आशा हो चली थी कि अब पुन एक बार बौद्ध धर्म का उद्धार होगा। शायद, उन्होने ब्राह्मण-विरोधी सभी मतो को बौद्ध ही मान लिया था।

रमाई पडित का समय ११ वी सदी माना जाता है। किन्तु, शून्यपुराण में इस्लाम के लिए जो उत्साह दिखायी देता है, उससे यह अनुमान होना चाहिए कि इस ग्रन्थ की रचना मुसलमानो के बगाल-प्रवेश के बाद हुई है। ब्राह्मण-धर्म के प्रति निचले स्तर के हिन्दुओ (विशेषत, अस्पृश्य जातियो) का क्या भाव था, इसे समझने के लिए "शून्यपुराण" बडे ही महत्त्व का ग्रन्थ है। "शून्यपुराण" का कवि इस्लाम को धर्म के रक्षक के रूप में देखता

है और यह कवि मुलमान नही है। अतएव, निष्कर्ष यही निकलता है कि बौद्धो के प्रभाव मे चलनेवाली हिन्दू जनता का एक अच्छा-खासा अग ऐसा भी था जो हिन्दुत्व से इस्लाम को श्रेष्ठ समझता था और जिसे, सचमुच ही, यह आशा हो चली थी कि इतने दिनो तक ब्राह्मणो और शास्त्रो ने मिल कर जनता पर जो अत्याचार किया है, मुसलमानो के हाथो उस अत्याचार का अन्त होने वाला है। मुसलमान जव वगाल मे ऊधम मचाने लगे, तव उनके उपद्रवो से और लोग चाहे रुष्ट हुए हो, किन्तु, शून्यपुराण का कवि वहुत प्रसन्न था। उसे तो यही भासित हो रहा था कि स्वय धर्म-ठाकुर की सेना वगाल मे पहुँच गयी है। देवता ब्राह्मणो से नाराज हो गये है, और वे ही अव उन्हे दण्डित कर रहे है। रमाई पडित कहते है कि "सभी देवताओने एकमत होकर 'इजार' पहने। ब्रह्मा मुहम्मद हो गये विष्णु पैगम्वर हो गये और महादेव ने आदम का रूप लिया। गणेश गाजी वने और कार्तिक काजी। ऋषिगण फकीर वन गये। वावा नारद वेप वदल कर शेख हो गये और इन्द्र मौलाना वन गये। चद्र, सूर्य आदि देवगण वजनियाँ वन गये। स्वय चडिकादेवी हाया वीवी हो गयी। पद्मावती वीवी नूर हो गयी। इसी प्रकार, सभी देवगण मुसलमान वेष धारण कर जाजापुर आये और वे देवालय, तोरणद्वार आदि तोडने लगे। साथ ही वलपूर्वक वस्तुओ का अपहरण करके आनन्द मनाने लगे और 'पकडो- पकडो' कहने लगे। धर्म का पाँव पकड कर रमाई पडित गाते है कि यह वडी ही गडवडी मच गयी।"[1]

बौद्ध धर्म का लोप

वौद्ध-धर्म भारत से कैसे लुप्त हुआ, इसके दो उत्तर दिये जाते है। एक तो यह कि जनाग्रह के कारण उसे हिन्दू रूप धारण करने को लाचार होना पडा। इस प्रकार, वह जहाँ से आया था, वही लौट गया। दूसरा यह कि उसकी समाप्ति मुस्लिम-आक्रमण के कारण हुई, क्योकि मुसलमानो ने सघो और विहारो को नष्ट कर दिया और इनके विनष्ट हो जाने पर बौद्ध-धर्म जी नही सकता था। गृहस्थो की दृष्टि मे भी बौद्ध-मत के प्रतीक सघ और विहार ही थे। जव सघ उजड गये, धर्म का प्रतीक सदा को जाता रहा। इसके विपरीत, मन्दिरो के विनष्ट होने पर भी, हिन्दुत्व जीवित रहा, क्योकि

---

१ यतेक देवतागण, सभे हय्ये एकमत, आनन्देते परिलो इजार।
ब्रह्मा हैलो महामद, विष्णु हैलो पैकम्वर, आदम हईलो शूलपाणि।
गणेश हईलो गाजी, कार्त्तिक हईलो काजी, फकीर हईलो यत मुनि।
तेजिया आपन भेक, नारद हईलो शेख, पुरन्दर हईलो मल्लना।
चन्द्र, सूर्य आदि देवे, पदातिक हइया सेवे, सवे मिलि वाजाय वाजना।
आपुन चडिका देवी, तेहु हैला हाया वीवी, पद्मावती हली वीवी नूर।
यतेक देवतागण, हय्ये सवे एकमत, प्रवेश कोरल जाजापुर।
(कविता-कौमुदी, सातवाँ भाग),

वह मन्दिरो में कम, गृहस्थो के आचार-विचार और दैनिक अनुष्ठानों में अधिक बसता था। ईसाइयत और बौद्ध-मत के समान हिन्दुत्व ने कभी भी धर्म का सघ नही बनाया। यह भी एक कारण है कि वह मन्दिरो के टूटने पर भी अक्षुण्ण रह गया। हिन्दुत्व, मूलत, अपने अनुयायियो की आदतो मे निवास करता है। जो जनता बौद्ध थी, आदत, अनुष्ठान और दैनिक आचारो में वह भी हिन्दू थी। अतएव, जब भिक्षुओ का सघ नही रहा, यह जनता पूर्ण रूप से हिन्दू हो गयी।

"शकर-दिग्विजय" नामक काव्य के आधार पर बहुत दिनो से यह बात चली आती है कि शकराचार्य के ही प्रताप से बौद्ध भारत से निकाले गये। किन्तु, राहुल जी इस मत को नही मानते। 'बुद्धचर्या' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि शकराचार्य का "शारीरक भाष्य" अनमोल ग्रन्थ अवश्य था, किन्तु, दिङ्नाग, उद्योतकर, कुमारिल और धर्मकीर्त्ति के युग के लिए वह कोई बहुत ऊँचा ग्रन्थ नही था और न शकर के समय उत्तर भारत में उस ग्रन्थ का प्रचार ही हुआ था। उत्तर भारत में, "शारीरक भाष्य" का महत्त्व तब बढा, जब मिथिला के सर्वशास्त्र-निष्णात दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने उस पर "भामती" टीका लिखी। यथार्थ में, वाचस्पति मिश्र के कधे पर चढ कर ही शकर को वह कीर्ति और बडप्पन मिला जो आज देखा जाता है। वाचस्पति मिश्र के एक शती पूर्व नालन्दा मे आचार्य शान्तरक्षित हुए थे, जिन्होंने महादार्शनिक ग्रन्थ "तत्त्व-सग्रह" की रचना की। इस ग्रथ मे शान्तरक्षित के पूर्वज पचासो दार्शनिको के मतो का उल्लेख मिलता है, किन्तु, शाकर मत का उसमे उल्लेख नही है। इससे सिद्ध होता है कि शकर के "शारीरक भाष्य" की प्रसिद्धि "भामती" टीका के कारण हुई। आगे राहुलजी ने कहा है कि "एक ओर कहा जाता है कि शकर ने बौद्धो को मार भगाया, दूसरी ओर, हम उनके बाद, गौड-देश (बगाल-बिहार) मे पालवशीय बौद्ध नरेशो का प्रचड प्रताप फैला देखते है तथा उसी समय उदन्तपुरी (बिहारशरीफ) और विक्रमशिला-जैसे बौद्ध विद्यालयो को स्थापित होते देखते हैं। इसी समय, भारतीय बौद्धो को हम तिब्बत पर धर्म विजय करते भी देखते हैं। ११वी शताब्दी में, जब कि उक्त दन्तकथा के अनुसार, भारत मे कोई भी बौद्ध नही रहना चाहिए, तिब्बत से कितने ही बौद्ध भारत में आते है और वे सभी जगह बौद्ध गृहस्थो और भिक्षुओ को पाते हैं। इस पाल-काल के बुद्ध, बोधिसत्त्व और तान्त्रिक देवी-देवताओं की खडित मूर्त्तियाँ उत्तरी भारत के गाँवो तक मे पायी जाती है। यह बतला रही है कि उस समय बौद्धो को कोई शकर नेस्तनाबूद नही कर पाया था। शकर द्वारा बौद्ध धर्म का देश-निर्वासन कल्पना-मात्र है।"

इसी से मिलता-जुलता मत धर्मानन्द कोसाम्बी का भी है। उनका कहना है कि शकराचार्य के दादा-गुरु गौडपादाचार्य थे, जो अद्वैताचार्य भी कहे जाते है। अद्वैताचार्य बुद्ध के भक्त थे, क्योकि माडूक्योपनिषद की कारिका के चतुर्थ प्रकरण के आरभ मे उन्होने बुद्ध की वन्दना की है। अद्वैतवादियो से बौद्धो का बहुत विरोध नही था। शान्तरक्षित

ने तत्त्वसग्रह मे अद्वैतवादियो से बौद्धो का सिर्फ एक बात में मतभेद माना है कि अद्वैतवादी ज्ञान को नित्य मानते हैं और बौद्ध वैसा नही मानते। फिर भी, शान्तरक्षित ने इसे "अल्पापराध" ही कहा है। गौडपादाचार्य प्रत्यक्ष रूप से बुद्ध-भक्त थे। शकराचार्य को लोग "प्रच्छन्न बौद्ध" कहते थे। किन्तु, शकर ने बौद्ध मार्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया को अवश्य उत्तेजन दिया। कोसाम्बीजी का मत है कि "शकराचार्य के समय, बौद्ध-धर्म मृत-प्राय हो गया था और उसका श्रेय श्रमणो के आलस्य के अतिरिक्त, और किसी को देना है, तो वह पाशुपतादिक शैव सन्यासियो को, उनको उभारनेवाले ब्राह्मणो को और उनकी सहायता करनेवाले शैव राजाओ को देना होगा। हाँ, इसमे सदेह नही कि शकराचार्य ने इस कार्य में यथाशक्ति सहायता दी। पर, बौद्ध-धर्म उनके बाद भी, मुहम्मद गोरी के आक्रमणो तक, पूर्व हिन्दुस्तान मे किसी-न-किसी तरह जी रहा था।"

कोई-कोई विद्वान् यह भी कहते हैं कि बौद्ध-धर्म का भारतवर्ष से लोप इसलिए हुआ कि दार्शनिक स्तर पर हिन्दू-धर्म से उसका सामजस्य नही बैठ सका। बौद्धो का विरोध ब्राह्मणों ने इसलिए किया कि बौद्ध जाति-प्रथा के विरोधी थे, यज्ञ को नही मानते थे तथा ब्राह्मणो की जन्मजात प्रतिष्ठा उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। किन्तु, बौद्ध दर्शन का विरोध इसलिए हुआ कि उसका रूप नकारात्मक था। वह जीवन से भाग खड़े होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता था।

बुद्धदेव का आविर्भाव बहुत-कुछ उन्ही कारणो से हुआ था, जिन कारणों को लेकर उपनिषद लिखे गये थे। बौद्ध मत और उपनिशपदो में समानताएँ कम नही है। डाक्टर राधाकृष्णन ने दिखलाया है कि उपनिषद और बौद्ध मत, दोनो ही वेदो को प्रमाण नही मानते। दोनो ही वैयक्तिक अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं। यज्ञ और धर्म के बाह्याचारो को दोनो ही निन्द्य समझते हैं। जिस सत्य को उपनिषद ब्रह्म कहते हैं, उसी सत्य को बुद्ध ने धर्म कहा है और दोनो मानते हैं कि यह अन्तिम सत्य बुद्धि से समझा नही जा सकता। दोनो का विश्वास है कि अपरिवर्तनशीलता की स्थिति पर पहुँचे बिना मनुष्य को शान्ति नही मिल सकती। इसी स्थिति को उपनिषद मोक्ष एवं बुद्धदेव निर्वाण कहते हैं। दोनो की यह मान्यता है कि इस स्थिति तक पहुँचने का मार्ग वैराग्य है, ध्यान और समाधि है तथा इसे वही प्राप्त करता है जिसे यह विश्वास हो गया हो कि ससार के समस्त जीव एक हैं, उनमें भेद-भाव नही है। जीव और जगत् को दोनों नाशवान् मानते हैं। सच तो यह है कि बुद्धदेव ने अपने उपदेशो मे बहुत-से ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग किया है, जो उपनिषदो के वाक्याशो की प्रतिच्छाया-से लगते हैं।

यहाँ तक तो बातें ठीक रहीं और यह भी अच्छा रहा कि बुद्धदेव ने अपने शिष्यो को उन विषयो पर सोचने से रोक दिया, जिनके सबध में कोई भी बात निश्चितता से जानी नही जा सकती। उनका उद्देश्य अध्यात्म के ऊहापोह मे जाना नही, मानव-जीवन की वेदनाओ का शमन था एवं उसके लिए वे मनुष्य के कर्मो का सुधार करना चाहते थे।

मनुष्य के जीवन की पूर्णता उसके कर्मों की शुद्धता में है ; मनुष्य की शान्ति हिंसा और मलिन कर्म से अलग रहने में है ; ये उपदेश बुद्धदेव ने बार-बार दिये हैं ।

यदि बौद्ध-मत इतने में ही सन्तुष्ट रहता तो, सम्भव है, वह उस धर्म का क्रिया-पक्ष बन कर भारत में आज भी कायम रहता, जिसके सिद्धान्त-पक्ष का आख्यान उपनिषदों में हुआ है। किन्तु, दुर्भाग्यवश, यह नहीं हुआ। बुद्धदेव के, प्राय, दो सौ वर्ष बाद, बौद्ध पंडित उन विषयों पर सोचने का साहस करने लगे, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कहा था और जिनके बारे में उन्होंने कोई राय नहीं दी थी। उनके मौन का लाभ बाद के पण्डितों ने उठाया और उन्होंने जो दर्शन प्रस्तुत किया, उसका निष्कर्ष यह था कि जीव और जगत्, दोनों परिवर्तनशील, दोनों नाशवान् हैं। परिवर्तनशील और नाशवान् तो इन्हें उपनिषदों ने भी माना था, किन्तु, उपनिषदों का यह भी कथन था कि दोनों के नीचे आधार-रूप से, आत्मा और परमात्मा अवस्थित हैं जिनका नाश नहीं होता है। इसलिए, पुनर्जन्म की कल्पना (उपनिषदों की व्याख्यानुसार) समझ में आने की बात थी। किन्तु, बौद्ध पण्डितों ने पुनर्जन्म को तो माना, लेकिन, आत्मा को अनित्य कह डाला। इससे लोगों में यह जिज्ञासा उठी कि यदि आत्मा भी नष्ट होनेवाली वस्तु है, तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है। इस जिज्ञासा का सम्यक् समाधान बौद्ध दर्शन नहीं दे सका, जिससे उसका अनात्मा-विषयक प्रतिपादन जनता को ग्राह्य नहीं हुआ।

दूसरी क्लिष्ट कल्पना निर्वाण को लेकर उठी। उपनिषदों का मोक्ष आत्मा नहीं, आत्मा के बंधनों का नाश था, उसकी सीमाओं का विलय था। हिन्दू मानते थे कि मोक्ष हमारा विनाश नहीं, प्रत्युत, हमारे अमर जीवन का आरम्भ है। किन्तु, बौद्धों ने जब यह कहा कि आत्मा अमर नहीं होती, उसका भी शरीर के साथ नाश हो जाता है, तब फिर यह शंका जनता को सताने लगी कि यदि आत्मा मरती है, तो उसके पुनर्जन्म की कल्पना ही व्यर्थ है और जब पुनर्जन्म ही शंका-ग्रस्त हुआ, तो फिर निर्वाण का अर्थ क्या है?

बौद्ध दर्शन में चिन्तन बहुत उच्च कोटि का हुआ था, किन्तु, वह ऐसा नहीं था जिससे जन-सामान्य की जिज्ञासाओं का समाधान होता। उलटे, जनता की बुद्धि और भी चकित हो गयी और भीतर से इस धर्म पर से उसकी श्रद्धा उखड़ती गयी। बुद्धदेव के जीवन-काल में भी एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि "महाराज ! यदि यहाँ की आत्मा यहीं रह जाती है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है ?" इस पर बुद्धदेव ने ताली बजायी और दूर पर सुनायी देनेवाली उसकी प्रतिध्वनि को लक्ष्य करके कहा कि "ताली तो वहाँ नहीं गयी, किन्तु, उसकी प्रतिध्वनि वहाँ पहुँच गयी है। ऐसे ही पुनर्जन्म होता है।" यह दृष्टांत, कदाचित्, उपयोगी होगा, किन्तु, सामान्य बुद्धि के लिए यह भी अयथेष्ट है।

बौद्ध दर्शन ने सब कुछ को नाशवान् मान कर, एक प्रकार से, पुनर्जन्म और निर्वाण की कल्पना को आधारविहीन कर छोड़ा। स्पष्ट ही, यह उपनिषदों के उपदेशों का कतरा हुआ रूप था एवं इस स्थापना ने हिन्दुत्व और बौद्ध-मत के बीच की खाई चौड़ी बना दी।

बुद्धदेव, कदाचित्, उपनिषत्कालीन हिन्दुओ मे सर्वश्रेष्ठ थे, इसलिए, उनकी ओर जनता वेग से दौड़ी, यहाँ तक कि हिन्दुओ ने उन्हे विष्णु का अवतार मान लिया। किन्तु, बाद को जब बौद्ध साधु शराबियो, व्यभिचारियों एव औघडो के समान आचरण करने लगे, तब जनता उनके विरुद्ध हो गयी।

तृतीय अध्याय

(हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम)

प्रकरण १

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की भूमिका

इस्लाम से हिन्दुओं की अनभिज्ञता

स्वर्गीय मानवेन्द्रनाथ राय ने लिखा है कि ससार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम के इतिहास से उतनी अपरिचित नही है जितने हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति इस्लाम को उतनी घृणा से भी नही देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं।[1] हमारे राष्ट्रीय सस्कार में एक प्रकार की आध्यात्मिक साम्राज्यवादिता है जो सब से अधिक मुसलमानो के प्रसंग में प्रकट होती है। इस्लाम के सबध में जो भावनाएँ इस देश में प्रचलित है, उनका खडन केवल राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए ही नही, अपितु, वैज्ञानिकता और ऐतिहासिक सत्य के हित में भी आवश्यक है।

राय महोदय ने जो बात लिखी है, वह एक अश में भारत के मुसलमानो पर भी लागू है, क्योकि इस देश के मुसलमानो मे भी इस्लाम के मौलिक स्वभाव, गुण और उसके ऐतिहासिक महत्त्व का ज्ञान बहुत ही छिछला रहा है। भारत में मुसलमानो का अत्याचार इतना भयानक रहा कि सारे ससार के इतिहास में उसका जोड नही मिलता। इन अत्याचारो के कारण हिन्दुओ के हृदय में इस्लाम के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई, उसके निशान अभी तक बाकी हैं और पडोसी के हृदय में इतिहास ने जो जहर की लकीरें छोड़ी हैं, उन्हें शिष्ट मुसलमान भी मन-ही-मन अनुभव करते हैं। यह बडी ही अर्थपूर्ण बात है कि भारत के किसी भी मुसलमान विद्वान ने मुसलमानी अत्याचारो को उचित बताने अथवा भीषणता पर पर्दा डालने की कोशिश नही की।[2] फिर भी, यद्यपि, हिन्दू और मुसलमान इस देश मे एक साथ जीते चले आये हैं, लेकिन, दिल उनके साफ नही हुए।

मुसलमानों का भारत-विषयक अज्ञान

हिन्दू इस्लाम के उसी रूप को जानते हैं जिससे उन्हे पाला पडा है। वे इस्लाम के उन गुणो से बहुत ही कम परिचित हैं जिनके कारण यह धर्म क्रान्तिकारी समझा जाता

---

१. द हिस्टारिकल रोल आव् इस्लाम—एम० एन० राय
२ "आधुनिक मुसलमान लेखक डा० हबीब ने महमूद के बारे मे लिखा है कि गजनवी की सेना से भारतीय मन्दिरो का जो घोर विध्वस हुआ, उसको किसी ईमानदार इतिहासकार को छिपाना नही चाहिए और अपने धर्म से परिचित कोई भी मुसलमान उसका समर्थन नही करेगा।" (भारतीय इतिहास का परिचय, राजबली पाण्डेय)

था। लेकिन, भारतीय मुसलमानो का अज्ञान भी कम नही है। सारा ससार जानता है कि प्राचीन जगत् मे सभ्यता का गुरु भारतवर्ष था। किन्तु, हिन्दुस्तान में आज ऐसे बहुत-से मुसलमान हैं जो खुल कर बोलते तो नही, मगर, मन-ही-मन यह महसूस करते है कि मुसलमानो के आगमन से पूर्व भारत की सस्कृति बहुत ऊँची नही थी। उनका ख्याल है कि हिन्दुओं को खाने-पीने और पोशाक पहनने की शिक्षा मुसलमानो से मिली है।

यह भावना मुसलमानो में अभी नयी-नयी आयी हो, सो बात नही है। जब हिन्दू मुसलमानो के गुलाम हो गये, तब, धीरे-धीरे, उनकी सास्कृतिक गरिमा का ह्रास होने लगा। उन्होंने फारसी पढी और मुसलमानों के तौर-तरीके सीखे। फिर शासक-वर्ग को प्रसन्न रखने के लिए वे दरबारो मे और दरबार मे बाहर भी मुसलमानो से मिलने-जुलने के समय मुसमानी तहजीब बरतने लगे। इससे मुसलमानो पर यह असर पडा कि हिन्दुओं के पास अपने तौर-तरीके, शायद, नही रहे होंगे।

हिन्दू-सस्कृति को समझने की जो थोडी-बहुत कोशिश आरभ के मोगलों ने की थी, उसकी परपरा आगे चली नही। मुस्लिम पडित और विद्वान् फारसी भाषा में सीमित हो गये और, गूलर के कीडो के समान, उन्होंने इस्लाम को ही अपना ब्रह्माण्ड मान लिया। चूंकि उर्दू कविता का उद्भव और विकास उन्ही सकीर्णता के दिनो में हुआ, इसलिए, उस काव्य की भाषा तो हिन्दुस्तानी रही, लेकिन, सारे भाव अरब और ईरान के आ गये। भारतीय मुसलमानो की यह खयाली दुनिया, उनकी अपनी दृष्टि में, कितनी सच्ची और ठोस थी, इसका प्रमाण वह उद्धरण है जिसे प० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने सैयद इनशा अल्ला खाँ की किताब "दरिया-ए-लताफत" से दिया है। इनशा अल्ला खाँ का विचार था कि "बुद्धिमानो से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओ ने बोल-चाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना, इन सब बातो का सलीका मुसलमानो से सीखा है, किसी बात में भी इनका कोई फेल ऐतबार-काबिल नहीं।'[1] यह बहुत कुछ वैसी ही गाली है, जैसी गाली लार्ड मेकाले ने बगाली-जाति को दी थी।

लेकिन, यह बात क्या ठीक है? इनशा अल्ला के समय के मुसलमान भारत की महिमा को भले ही भूल गये हो, लेकिन, इस्लाम के अभ्युदय के समय तथा उसके जन्म के पूर्व, अरब और ईरान के लोग भारत की सभ्यता और सस्कृति से खूब परिचित थे। "जेरूसेलम के हमीदिया-पुस्तकालय मे हारूं रशीद के महामत्री फजल-बिन-यहिया का मुहर लगा हुआ एक ताम्र-पत्र मिला है जिस पर १२८ शेर लिखे हुए हैं, जिनमे भारतवर्ष, वेदो और आर्य ज्ञान-विज्ञान की बडी प्रशसा की गयी है। हजरत मुहम्मद से ५०० वर्ष पहले के कवि जरहम-बिन-ताई की कविता में गीता के "परित्राणाय साधूना विनाशाय

---

१. हिन्दी पर फारसी का प्रभाव

च दुष्कृताम्" इत्यादि श्लोको के आधार पर श्री कृष्णावतार की चर्चा और प्रशसा है। इसमें महादेव की आराधना इष्टफलदायिनी बतायी गयी है।"[1]

मुहम्मद साहब से पहले के अरबो को हिन्दू और बौद्ध धर्मों का पूरा ज्ञान था। अरब के लोग किसी समय बौद्ध-मतावलबी थे, यह अनुमान भी निराधार नहीं है। मक्के के काबा-मन्दिर में ३६० मूर्त्तियाँ थी जिनमे प्रति दिन एक मूर्त्ति की, विशेष रूप से, पूजा की जाती थी। मुहम्मद साहब ने इन मूर्त्तियो को तो हटा दिया, लेकिन, किसी कारण से, एक काला पत्थर वहाँ अब भी रह गया है जिसे संगे-असवद कहते हैं और जिसे हर हाजी श्रद्धा के साथ चूमता है।

बल्ख में एक नौबिहार नाम का मन्दिर था जिसका पुजारी बरामका कहलाता था; इस मन्दिर मे जो मूर्त्ति थी उसे रेशम का कपडा पहनाया जाता था। बाजपेयीजी का अनुमान है कि "काबे के मन्दिर और बल्ख के नौबिहार मन्दिर में बुद्धदेव की पूजा होती थी। अरबी-फारसी में मूर्त्ति के लिए जो बुत शब्द प्रचलित है, वह बुद्ध का ही अरबी रूप है। नौबिहार नव-विहार या बौद्ध मठ ही था।"[2]

इस्लाम के उदय के बाद भी भारतीय विद्या खलीफा मनसूर के समय (हिजरी १५४, इस्वी सन् ७७१) में अरब मे प्रचलित थी, इसका प्रमाण मिलता है। खलीफा हारूँ रशीद ने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से वैद्य बुलवाया था जिसने अरब में वैद्यक-शास्त्र की धाक जमा दी थी। भारत की विद्या के लिए अरबो मे कितना अधिक आदर-भाव उत्पन्न हुआ था, इस विषय मे मौलाना नदवी ने तीन अरब लेखको के प्रमाण दिये है। इनमे पहला बसरे का निवासी जाहिज है जिसकी मृत्यु सन् २५५ हिजरी में हुई थी। इसने लिखा है कि "भारतवासी ज्योतिष् और गणित मे बहुत बढ़े हुए है और उनकी एक विशेष लिपि है। चिकित्साशास्त्र में भी वे आगे है और वे इसके कई विलक्षण भेद जानते हैं। उनके पास बडे-बड़े रोगो की विशेष औषधियाँ होती हैं। मूर्त्तियाँ बनाने, रगो से चित्र बनाने और भवन-निर्माण-कला मे वे बहुत चतुर हैं। शतरज का खेल उन्ही का निकाला हुआ है। वे तलवारे बहुत अच्छी बनाते हैं और उनके चलाने के करतब जानते हैं। उनका सगीत भी बहुत मनोहर है।...उनके यहाँ सब प्रकार का नाच भी है। उनके यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ हैं और कविता का भी भंडार है। दर्शन, साहित्य और नीतिशास्त्र भी उनके पास है। उनमें विचार और वीरता भी है और कई ऐसे गुण हैं जो चीनियों मे भी नही है। उनमे स्वच्छता और पवित्रता के भी गुण है। उनके पास सुन्दरताई, सुघराई, लावण्य और सुगन्धि भी है।...विचार और चिंतन की विद्या भी उन्ही के पास से आयी है। वे ऐसे मंत्र जानते है, जिनके पढ़ देने से विष उतर जाता है।"[3] इत्यादि।

---

१. वही २ वही ३. वही

देश पर उनकी कभी हुकूमत चलती थी, उसी देश मे उन्हे अल्पसंख्यक बन कर जीना पड़ रहा है।

प्रजातंत्र में ऐसा कोई भी तरीका नही है जिससे अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक बना दिये जायँ। लेकिन, ऐसे तरीके तो प्रत्येक शासन-पद्धति में पाये जा सकते है, जिनमें अल्पसंख्यकों की हर जायज शिकायत दूर की जा सके। किन्तु, यह तभी संभव है जब अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदाय परस्पर एक दूसरे का विश्वास करें।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, हमारा ख्याल है, हिन्दू-मुस्लिम-एकता को बढ़ावा देने के लिए इतिहास की घटनाओं पर पर्दा नही डाला जा सकता, न यही योग्य है कि हम इस्लाम पर पड़नेवाले हिन्दू-प्रभाव अथवा हिन्दुत्व पर पड़नेवाले मुस्लिम-प्रभाव को बढा-चढा कर पेश करे। जो बातें जैसी हैं, इतिहास में उनका वर्णन भी वैसा ही रहेगा। मुसलमानो को यह समझना है कि आदमी की धर्म-भक्ति और उसके स्वदेश-प्रेम में विरोध नही है। अमीर खुसरो, जायसी, अकबर, रहीम और दाराशिकोह मुसलमान भी थे और भारत-भक्त भी। हिन्दुओ को इस बात का ज्ञान प्राप्त करना है कि इस्लाम का भी अर्थ शान्ति-धर्म ही है। इस धर्म का मौलिक रूप अत्यन्त तेजस्वी था तथा जिन लोगो ने इस्लाम की ओर से भारत पर अत्याचार किया, वे शुद्ध इस्लाम के प्रतिनिधि नही थे। इन अत्याचारो को हमे इसलिए भूलना है कि उनका कारण ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थी जो अब समाप्त हैं और इसलिए भी कि इन्हे भूले बिना हम देश में एकता स्थापित नही कर सकेंगे।

इस्लाम का क्षिप्र प्रसार

प्रत्येक धर्म ऐतिहासिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होता है और उसका प्रसार भी उसी समाज मे संभव होता है जिसके सदस्य उस धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। इतिहास ने इस्लाम पर बार-बार यह दोष लगाया है कि उसका प्रसार तलवार के द्वारा किया गया और इस लाञ्छन को दूर करने के लिए मुस्लिम इतिहासकारों में से अनेक ने जी-तोड़ कोशिश भी की है। लेकिन, बात रह जाती है कि मुसलमान जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होने जनता के सामने तीन विकल्प रखे ; या तो कुरान लो और इस्लाम कबूल करो ; या कर दो और अधीनता स्वीकार करो , अथवा दोनो में से कोई बात पसद नही हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए हमारी तलवार प्रस्तुत है। ये बडे ही कारगर उपाय रहे होगे। किन्तु, यह समझ मे नही आता कि सिर्फ इन्ही उपायो से इस्लाम उतनी जल्दी कैसे फैल गया। अवश्य ही, प्रत्येक देश की परिस्थिति और समानता के सिद्धान्त में इस्लाम का विश्वास इस कार्य में सहायक हुए होंगे।[1]

---

१. "The Mohamedan Conquest of India came as salvation to the down-trodden, to the poor. That is why one-fifth of our people

इतनी जल्दी इसलिए हुआ कि इस्लाम की सहायिका तलवार थी। खड्गवाद के साथ इस्लाम का सबंध इतना गहरा समझा जाता है कि स्वय मुसलमान कवि अकबर इलाहाबादी इसका खडन नही कर सके और सिर्फ इतना ही कह कर रह गये कि,

लोग यह कहते है, तलवार से फैला इस्लाम,
यह नहीं कहते है कि तोप से क्या फैला है।

किन्तु, एक तलवार के कारण ही इस्लाम का सारा प्रसार सभव नही हुआ। असल में, कवियो, नेताओ और सत-सुधारको के समान, नया धर्म भी तभी प्रकट होता है जब उसकी आवश्यकता होती है और वह उसी समाज में प्रकट होता है जिस समाज के लोग उसकी इन्तजारी मे होते हैं। इस्लाम भी अरबी देशो की ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण जनमा था और, इसीलिए, वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

इस्लाम के उदय के पूर्व, अरब में निर्धन भोगवादियो का जमाव था। अरब गरीब किस्म के लोग थे और गरीब होने के कारण उनका लोभ भी बहुत बढ़ा हुआ था। सूद-खोरी साधारण-सी बात थी और धन बटोरने का हर उपाय लोगो में अच्छा समझा जाता था। जुआ, शराब-खोरी और वेश्यागमन भयकर रूप से प्रचलित थे। विधवा, अनाथ और कमजोर आदमी फालतू समझे जाते थे और उन्हें आश्रय देनेवाला कोई नही था। समाज मे शादी का कोई खास महत्त्व नही था, न यौन-सबधो के बारे मे ही कोई अच्छी नीति बरती जाती थी। स्त्रियों का समाज मे कोई आदर या अधिकार नही था तथा गिरे हुए समाज के जो भी लक्षण होते हैं, वे उन दिनो के अरबी समाज मे पूर्णरूप से विद्यमान थे। अरब के लोग बद्दू कहलाते थे और सारा-का-सारा बद्दू-समाज घोर रूप से, मूर्त्तिपूजक था। मक्के के हर एक मन्दिर मे ढेर-की-ढेर मूर्त्तियाँ थी और उनमें से प्रत्येक मूर्त्ति पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। सब से बडी प्रतिष्ठा एक काले पत्थर की थी जिसे काबा कहते थे। सारा अरब अन्धविश्वास, कुरीति एव दुराचार का अड्डा बना हुआ था। हाँ, इस रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह कही-कही, यहूदी और क्रिस्तान लोग जरूर रहते थे तथा कभी-कभी वहाँ इकले-दुकले अन्य धर्मो के उपदेशक भी आ निकलते थे। किन्तु, बद्दुओ पर उनका कोई प्रभाव नही था।

उन दिनो केवल अरब का ही बुरा हाल रहा हो, सो बात नहीं थी। अरब के पश्चिम की ओर जो बहुत बडा रोमन साम्राज्य था, वह भी खोखला हो चुका था और उसके भीतर भी विलासिता और भोगाचार पाप की सीमा तक पहुँचे हुए थे। अरब के दूसरी ओर जो ईरानी साम्राज्य था, वह भी विलासिता के पक में डूबा हुआ था और इन दो साम्राज्यो के बीच चलनेवाली लडाइयो के कारण, दोनो ही राज्यो की जनता का बुरा हाल था। इस भाग मे उन दिनो ईसाइयत मे भी पवित्रता का बल नही रह गया था।

यह धर्म राजाओं के अत्याचारों का सहायक बन गया था और जनता में धर्म के नाम पर जादू-मंत्र और तावीज का प्रचार कर रहा था।

इस्लाम का आरंभिक रूप

ऐसे समय में मक्के में हज़रत मुहम्मद का जन्म हुआ। पेशा उनका सौदागरी का था और, आरंभ में, इज्जत भी उनकी सौदागरों के ही बीच हुई। इससे यह बात और भी विचित्र लगती है कि उनके द्वारा बताये गये धर्म का खड्गवाद से इतना मेल क्यों हो गया। उन्होंने दर्शन के ऊहापोह में नहीं जाकर एक सीधे-सादे कर्ममय धर्म का आख्यान किया, जिसकी ख़ास बातें ये थीं कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके दूत या पैगम्बर हैं। इन दो सिद्धान्तों में विश्वास करनेवालों से उन्होंने पाँच स्पष्ट कर्म करने को कहा। (१) कलमा पढ़ना यानी इस बात को दिल में बिठाने के लिए जाप करना कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उनके रसूल (दूत) हैं (ला इलाहइल्लिलाह मुहम्मदुर्रसूल्लिलाह)। (२) नमाज पढ़ना यानी प्रार्थना करना। (३) रोज़ा रखना यानी रमज़ान के महीने में उपवास रखना। (४) ज़कात यानी अपनी आय का ढाई प्रतिशत दान में दे देना और (५) हज यानी तीर्थ-यात्रा करना।

मुहम्मद साहब मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे, मगर, मूर्त्ति-पूजा का विरोध अरबों की समझ में नहीं आया और वे मुहम्मद साहब पर टूट पड़े। निदान, उन्हें मक्का शहर छोड़ कर अन्यत्र भागना पड़ा। यही घटना मुसलमानों के यहाँ हिजरत कही जाती है, जिसका अर्थ एक स्थान छोड़ कर अन्यत्र जाना है। अरब में उन दिनों मक्का और यथरिब, ये दो नगर प्रधान थे। मुहम्मद साहब जब मक्का छोड़ कर भागे, तब यथरिब नगर के लोगों ने उन्हें शरण दी और आदर से उनका स्वागत किया। इसी उपलक्ष में उस नगर का नाम मदीनतुन्नबी अर्थात् "नबी का नगर" पड़ गया। मदीने में जिन लोगों ने मुहम्मद साहब का बढ़कर साथ दिया, वे ही अंसार हुए।

मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश दिया, वह अत्यन्त सरल और सबके लिए सुलभ धर्म था। अतएव, जनता उसकी ओर उत्साह से बढ़ी। ख़ास करके, आरंभ से ही, उन्होंने इस बात पर काफी जोर दिया कि इस्लाम में दीक्षित हो जाने के बाद, आदमी-आदमी के बीच कोई भेद नहीं रह जाता है। इस बराबरीवाले सिद्धान्त के कारण इस्लाम की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी और जिस समाज में भी निम्न स्तर के लोग उच्च स्तरवालों के धार्मिक या सामाजिक अत्याचार से पीड़ित थे, उस समाज के निम्न स्तर के लोगों के बीच यह धर्म आसानी से फैल गया।

धर्म की विजय उसके नेताओं के चरित्र के कारण होती है। इस्लाम की विजय जिस त्वरा से हुई, वही इसका प्रमाण है कि मुहम्मद साहब और उनके उत्तराधिकारी ख़लीफ़े अत्यन्त उच्च कोटि के व्यक्ति रहे होंगे। इस्लाम में यती-वृत्ति की प्रधानता,

वैराग्य की प्रमुखता अथवा लौकिक सुखो के त्याग की महिमा नही है। गिव ने, जो इस्लाम का पक्षपाती इतिहासकार है, लिखा है कि पूर्वी एशिया के सभी धर्मों मे इस्लाम ही ऐसा है जो सासारिकता के बहुत समीप और वैराग्य-भावना से, अधिक-से-अधिक, दूर है।[1] यती-वृत्ति को इस्लाम किसी भी अवस्था मे प्रोत्साहन नही देता। वह साधुओ की सख्या बढाने का विरोधी है। भारत मे भी कबीर आदि निर्गुनियाँ सन्त, जिन्होने मुसलमान सन्तो से प्रभाव ग्रहण किया, गृहस्थाश्रम मे रह कर ही भगवान का भजन करते रहे। ईसाइयो के भीतर जो साधु-सघ बनाने की पद्धति चली, कुरान उसकी आलोचना करता है। "ईसाइयो के लिए यह मार्ग हमने निर्धारित नही किया, उन्होने इसे खुद ही खोज निकाला है।" फिर भी, आध्यात्मिक विकास पर इस्लाम मे भी बहुत जोर है और नमाज, जकात, रोजा और हज के द्वारा एक प्रकार की वैराग्य-साधना को भी मान्यता दी गयी है। कम-से-कम यह तो कहा ही जा सकता है कि रोजा एक तरह का तप और जकात भोग को सीमित रखने का प्रयास है। वास्तव मे, इस्लाम के भीतर सासारिकता से वैराग्य का मेल बिठाने की जो चेष्टा की गयी है। इसीलिए यह धर्म हमें गृहस्थाश्रम के समीप दीखता है।

इस्लाम त्याग और वैराग्य का अभिमान नही करता। किन्तु, उसके आरभिक साधक, खास कर पहले के चार खलीफे—(१) अबूबक्र (६३२-३४ ई०), (२) उमर (६३४-४३ ई०), (३) उस्मान (६४३-५५ ई०) और (४) अली (६५५-६१ ई०)—इतने धर्मनिष्ठ निकले कि लोग उनके जीवन मे मूर्त्तिमान नवीन धर्म का तेज देख कर कृतकृत्य हो गये।

इस्लाम का आरंभ धर्म के रूप मे हुआ था, किन्तु, परिस्थितियो ने घेर कर उसे राजनैतिक रूप भी दे दिया। मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना भागना पडा और मदीने मे ही यह निश्चित हो गया कि नये धर्म को फैलाने के लिए केवल सगठन बनाने की ही नही, तलवार उठाने की भी जरूरत है। अरब लोगो की बिखरी हुई शक्तियाँ इस्लाम के अन्दर एक होने लगी और जिस नबी को लोगो ने खदेड कर भगा दिया था, उसके उपदेशो को मनवाने के लिए मुसलमानो का सगठन मार-काट पर आमादा होने लगा। अरबो की एकता और इस्लाम का प्रसार, ये पर्यायवाची शब्द हो गये। अतएव, जो सगठन बना, उसमे राजनीति और धर्म, दोनो एक स्थल पर आकर मिल गये। यही सगठन अरबी-साम्राज्य का केन्द्र बना जिसके नेता खलीफा कहलाने लगे।

खलीफे मुसलमानो के राजा भी थे और धर्मगुरु भी, जैसे आगे चल कर भारत मे

---

१. "Of all the religions of East Asia, Islam has generally been regarded as the most worldly and the least ascetic"
— H.A.R. GIBB (Mohammedenism)

भी सिक्ख-धर्म के भीतर गुरु और राजा एक ही व्यक्ति होने लगा। आरंभिक काल के चार खलीफों ने सादगी, सच्चरित्रता और वीरता तथा वैराग्य का ऐसा अच्छा उदाहरण उपस्थित किया कि इस्लाम का आचार-पक्ष बहुत ऊँचा उठ गया और उसके अन्दर उन लोगो की सख्या बढने लगी जो गृहस्थ रह कर भी वैराग्य निभा सकते थे, जो गद्दी पा कर भी तबीयत से फकीर रह सकते थे और जो तलवार उठा कर भी दया का तिरस्कार नही करते थे। हजरत उमर ने, जिनके सिपाहियो ने ईरानी साम्राज्य पर विजय प्राप्त की थी, जब स्वय जेरूसलेम मे विजेता की हैसियत से प्रवेश किया, तब वे जिस ऊँट पर सवार थे, उसी पर उनके सारे सामान भी लदे थे और ये सामान थे कम्बल का एक खीमा, एक बोरा अनाज, एक बोरा खजूर और लकडी के कुछ बर्तन। यह थी सादगी उस विजेता की जिसके इशारे पर राजमहल के सारे सुख, एक क्षण मे, मुहैया किये जा सकते थे। ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया, फिलस्तीन और मिस्र पर विजय पानेवाले बहादुर मुस्लिम नेताओ की सादगी का वर्णन करते हुए गिब्ब ने लिखा है कि "जहाँ भी वे अपना पडाव डालते थे, सेना के सभी लोग एक ही पाँत मे बैठ कर प्रार्थना करते, एक ही दस्तरख्वान पर भोजन करते और, फिर साथ ही, खलीफा के मुख से उत्साहप्रद उपदेश सुनते थे। चढ़ाई हो या तीर्थ-यात्रा, ये खलीफे सर्वत्र न्याय फैलाते चलते थे। उन्होने अरबो मे प्रचलित बहुविवाह की व्यभिचारपूर्ण प्रथा मे सुधार किया ; खिलाफत की ओर से जो लोग कर उगाहने को नियुक्त थे, उन्हें निर्दय और जुल्मी होने से रोका और कर्मचारियो को विलासी बनने से मना किया। खालेद को पैगम्बर ने ईश्वर की तलवार की उपाधि दी थी और उन्ही की वीरता के चलते, अरब, मेसोपोटामिया और सीरिया इस्लाम के झडे के नीचे आये थे। किन्तु, जब वे मरने लगे, तब उनके पास केवल एक घोडा और एक ही गुलाम था। हज़रत अबूबक्र ने अपनी सेना को आदेश दे रखा था कि न्यायी बनो, क्योकि अन्याय से उन्नति नहीं हो सकती , बहादुर बनो, क्योकि शत्रु के सामने सिर झुकाने की अपेक्षा मर जाना कही श्रेष्ठ है , दयालु बनो, क्योकि बूढो, बच्चो और औरतो पर तलवार उठाना पाप है , फल देनेवाले वृक्षो को, फसलो और जानवरो को तबाह मत करो। अगर दुश्मन को भी तुमने कोई वचन दिया है, तो उसे निभाना तुम्हारा धर्म है, और जो लोग दुनिया की झझटो से दूर रहते है, उन पर जुल्म मत करो।"

अबूबक्र और उमर उन अफसरो को सजा देते थे जो रेशम पहनते थे या विलास मे रहते थे। उनका ख्याल था कि अगर मुसलमान ईरान या कुस्तुनतुनिया के दरबारो का अनुकरण करने लगे तो उनका पतन हो जायगा। वे धर्म की नयी सेना को सुख, आराम, और भोग-विलास से दूर रखना चाहते थे, क्योकि उन्नतिशील जाति कभी भी आराम नही करती। वह हमेशा सघर्ष मे लीन रहती है और सघर्ष की शक्ति तब छीजती है, जब जातियाँ विलास मे पड जाती है।

अपने आरंभिक दिनो में इस्लाम क्रान्तिकारी धर्म था। वह मनुष्यो को अन्धविश्वास से बचाता था, दार्शनिक उलझनो से दूर रखता था और ईश्वर को छोड कर अन्य किसी भी शक्ति के सामने मस्तक झुकाने से इन्कार कर देने की शिक्षा देता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि जो भी मुसलमान हो जाते थे, उन्हे अमीर से अमीर मुसलमान भी अपना सच्चा धर्मबन्धु समझते थे और अपनी बराबरी का दरजा देते थे। इससे उन दिनो जहाँ-जहाँ इस्लाम पहुँचा, वहाँ के समाज मे भारी क्रान्ति मच गयी और मनुष्य अपने मस्तक को ऊँचा उठा कर चलने लगा। मानवेन्द्रनाथ राय ने लिखा है कि "अरबी आक्रमणकारी वीर जहाँ भी गये, जनता ने उन्हे अपना रक्षक और त्राता मान कर उनका स्वागत किया, क्योकि यह जनता कही तो रोमन शासको के भ्रष्टाचार के नीचे पिस रही थी, कही ईरानी तानाशाही के जुल्मो से त्रस्त थी और कही ईसाइयत का अन्धविश्वास उसे जकड़े हुए था। ये आक्रमणकारी अरब अपने नबी के क्रान्तिकारी उपदेशो में कट्टरता से विश्वास करते थे, खलीफो के विवेकपूर्ण एव व्यावहारिक आदेशो का पालन उनका निश्चित धर्म था और इन कारणो से पराजित जनता की सहानुभूति और विश्वास उन्हे आसानी से प्राप्त हो जाता था।"

किन्तु, पुण्य की यह लहर स्थायी नही रह सकी। मुहम्मद साहब की मृत्यु के सौ साल बीतते-बीतते, अरब-साम्राज्य उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, दक्षिणी फ्रास, ईरान, मध्य एशिया, यहाँ तक कि मगोलिया तक फैल गया और वे बाते मुसलमानो में भी घुस पडी जिन्हे रोकने के लिए आरंभिक खलीफे सादगी का जीवन बिताने का उपदेश दे गये थे। साम्राज्य के साथ सुखो का पुज आता है, सुखो का लोभ दुष्ट राजनीति को जन्म देता है और दुष्ट राजनीति के साथ सारे पाप और दुराचार समाज मे घुस पडते हैं। साम्राज्य बन जाने के बाद, मुसलमानो के भीतर भी ये दोष घुसे और धर्म की सेना सुखों के लोभ मे फँसने लगी। बात यहाँ तक बढ गयी कि खलीफे के पद के लिए झगडे शुरू हो गये और नमाज में झुके हुए नेताओ की गरदनें काट कर हत्यारे लोग नेता बनने लगे। शिया और सुन्नी का जो भेद हम मुसलमानो मे देखते हैं, वह खलीफे के पद के लिए उठे हुए झगडो से ही पैदा हुआ था।

इस्लाम से भारत का आरंभिक संपर्क

तब भी, अरब राज्य मे विद्या और ज्ञान की काफी प्रतिष्ठा थी। बद्दुओ की बर्बर आदते ईरान और भारत के ससर्ग से, शीघ्र ही, खत्म हो गयी और उनकी गिनती ससार के सभ्य लोगो मे की जाने लगी। "आठवी शती के शुरू मे, सिन्ध और बलख के अरब-साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भारतवर्ष का प्रभाव खिलाफत के देशो पर पडने लगा। खलीफा हारूँनुलरशीद के समय (७८६-८०९ ई०) से तो हिन्दू-सस्कृति के प्रवाह से बगदाद का दरबार, मानो, आप्लावित हो उठा। बरमक नाम के एक वजीर

खान्दान की वहाँ बडी ताकत थी , वे लोग बलख के थे। उनके पुरखे बलख के नव-विहार मे पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम के मुसलमान हुए थे। पुराने रिश्ते-नाते के कारण वे भारत के हिन्दू विद्वानो को बगदाद बुलाते और उन्हे वहाँ वैद्य आदि के पदो पर रखते थे। अरब विद्यार्थियो को वे पढने को भारत भेजते। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रथो के उन्होने अरबी अनुवाद करवाये। भारतवर्ष से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही यूरोप ले गये। पचतत्र आदि की कहानियाँ उन्ही के द्वारा विदेशो मे पहुँची।"[1]

इस्लाम जब अपने निर्मल उत्कर्ष पर था, तब भी वह भारत मे आ चुका था। किन्तु, तब उसका आगमन मित्रता के नाते हुआ था। अरब, फिलस्तीन और मिस्र से भारत का प्राचीनतम व्यापारिक सबध था। यूनानी लोग यहाँ का चावल खाते थे। रोम और यूनान के लेखक भारत के भूगोल से परिचित थे। वे यहाँ के निर्यात का ब्यौरा भी जानते थे। भारत और पश्चिम के बीच व्यापारिक सबध में अरब सौदागरो का काफी हाथ था। अरब सौदागरो का पहला बेडा भारतीय तट पर ६३६ ई० में आया था, इसका प्रमाण मिलता है। सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम की चढाई ७१२ ई० मे हुई। किन्तु, भारत के पश्चिमी तट पर अरब सौदागर बहुत पहले से आ रहे थे और मोपला लोगो ने तभी इस्लाम कबूल किया था। किन्तु, ये धर्म-परिवर्तन, प्राय , स्वेच्छा से किये गये थे, जबर्दस्ती के कारण नही। नवी सदी के खत्म होने के पहले ही, मालाबार का राजा चेरामन पेरूमल मुसलमान हो गया, क्योकि उसने सपने मे चन्द्रमा को फटते देखा था और दूसरे दिन उसे विश्वास दिलाया गया कि यह इस्लाम का चमत्कार है। भारत मे सब से पहले उसीने अरबो को अपना धर्म फैलाने की सुविधा दी थी। कहते हैं, चेरामन पेरूमल मुसलमान होकर मक्का चला गया था। जमोरिन का राज्याभिषेक अभी हाल तक, मुस्लिम-वेश मे किया जाता रहा है और त्रावणकोर के राजा सिंहासन पर बैठने के समय अभी तक तलवार उठा कर इस शपथ को दुहराते रहे है कि मै इस तलवार को तब तक रखूंगा जब तक मक्के से मेरा चचा लौट नही आता है। यहाँ अभिप्राय पेरूमल के मक्का जाने से है। जमोरिन की आज्ञा थी कि प्रत्येक धीवर-परिवार मे से एक व्यक्ति को मुसलमान होना ही पडेगा। पश्चिमी तट पर मुसलमानो का आगमन आठवी सदी से शुरू हुआ। दसवी शती तक वे पूर्वी तट पर भी पहुँचने लगे और उनकी धाक राज-दरबारो से लेकर व्यापारियो तक खूब बैठ गयी। इन प्रान्तो में, तभी उनकी सैकडो मस्जिदे भी बन गयी और समाज में उनके पीर-औलिया भी घूमने लगे।

उत्तर के राजे भी इस्लाम को उदारता से देखते थे। काम्बे के हिन्दुओ ने एक बार मुस्लिम सौदागरो पर आक्रमण किया और उनकी बस्तियाँ उजाड दी। इस पर, राजा

---

१ जयचद्र विद्यालकार

सिद्धराज ने (१०९४-११४३ ई०) उस मामले की जाँच करवायी, दुष्टो को दण्ड दिया और मुसलमानो को नयी मस्जिदे बना लेने को रुपये भी दिये।

कुछ ऐतिहासिक विश्लेषण

यहाँ तक हिन्दू-मुस्लिम सबध मैत्रीपूर्ण रहा। इस्लाम से हिन्दुओं की भयकर घृणा तब आरभ हुई, जब महमूद गजनी ने इस देश मे आकर क्रूरता बरती और यहाँ के मन्दिरो को विनष्ट करके अपने लिए दुर्नाम अर्जित किया। किन्तु, महमूद गज़नी या मुहम्मद गोरी, ये लोग अरबी या ईरानी नस्ल के नही थे, न इतिहास में उन्होने सच्चे इस्लाम का प्रतिनिधित्व ही किया है। इस्लाम के माथे यह कलक क्यो लगा, इसे समझने के लिए नीचे का विवरण उपयोगी होगा।

जब पश्चिम में रोम-राज्य और भारत मे गुप्त-साम्राज्य चल रहा था, तब मध्य एशिया मे हूण नामक एक बर्बर जाति उपद्रव मचा रही थी। पाँचवी सदी में उनके दल के दल रोम-राज्य और भारतवर्ष मे घुसे और वे जहाँ भी गये, वहीं उन्होंने ध्वस मचा दिया। इन्ही हूणो को एक बार स्कन्द गुप्त ने खदेड कर देश से बाहर कर दिया था। किन्तु, स्कन्द गुप्त के बाद हूण भारत मे फिर घुस पडे और मालवा मे उन्होने अपना सुदृढ राज्य स्थापित कर लिया। तोरमान और मिहिरकुल, ये हूण राजे थे जिनके अत्याचार-पूर्ण शासन का उल्लेख ह्यू-एन-साङ् और कल्हण ने किया है। इस शासन को तोडने का सुयश मदसर के राजा यशोवर्मन ने लिया। किन्तु, उसके बाद भी हूण देश से बिलकुल निकले नही, अपितु, छोटे-छोटे राज्य बना कर पडोस के राजाओ से लडते रहे। यह सकट तब तक चलता रहा, जब तक कि ब्राह्मणो ने उन्हे शुद्ध करके राजपूत न बना लिया।

पाँचवी शती मे काबुल मे तुखारो का और ईरान मे सासानी शाहो का राज्य था। इन दोनो राज्यों से भी हूणो की लडाइयाँ हुई। "४८५ ई० मे ईरान का शाह फिरोज हूणो से लडता हुआ मारा गया। तब हूणो ने अफगानिस्तान को भी अपने पैरों-तले रौद डाला। गान्धार पहुँच कर उन्होंने किदार के वशज को वहाँ से भगा दिया।"[१] तोरमान के बेटे मिहिरकुल ने शाकल (स्यालकोट) में अपनी राजधानी बनायी थी और वह अपने को पशुपति (शिव) का उपासक कहता था।

मध्य एशिया में हूणो का प्रभाव नौशीरवाँ ने समाप्त किया। "किन्तु, नौशीरवाँ ने यह काम अकेले नही किया, उसमें पच्छिमी तुर्क उसके सहायक थे। तुर्क, असल मे, हूणो की ही एक शाखा थे, जिसका असल नाम था असेना। असेना लोग पाँचवी शती मे कान्सू प्रात मे एक पहाड के पास रहते थे। उस पहाड़ की शक्ल एक खौद या मिगफार (फौजी टोपी) की-सी थी जिसे हूण-भाषा में "तुर्क" कहते है। इसी से वे लोग तुर्क कहलाने लगे।"[२]

---

१ वही

२. वही

ह्यू-एन-साङ् को ६३० ई० में भारत आते समय, तुरफान से कपिश की सीमा तक के लिए, पच्छिमी तुर्कों के "काजान" अर्थात् राजा ने राहदान दी थी। इस समय, अरब में इस्लाम का उदय हो चुका था। किन्तु, ये तुर्क उन दिनों धीरे-धीरे बौद्ध हो रहे थे और तुर्की भाषा में संस्कृत के ग्रथों का अनुवाद भी चल रहा था।

जब विलासिता के कारण अरब-साम्राज्य का पतन होने लगा, तब सन् ८५० ई० के लगभग उसके कई टुकड़े हो गये। खिलाफत एक छोटी-सी रियासत के रूप में रह गयी और जो राज्य उसके स्थान में खड़े हुए, उनमें अधिकांश मुसलमान बने हुए ईरानियों के राज्य थे।

इस बीच तुर्क भी मुसलमान होने लगे। वीरता और शारीरिक शक्ति के आगार होने के कारण, इन तुर्कों में से बहुत-से लोग ईरान में पहले से ही नौकरी करते थे।[१] वहाँ धीरे-धीरे ये लोग रियासतदार और सरदार भी हो गये। इसलिए, जब अरब-साम्राज्य टूटा, उसके कई हिस्सों में ये तुर्क सरदार राजे और सुलतान बन बैठे। खिलाफत के कमजोर होते ही, इन तुर्कों ने ईरान का पूर्वी दरवाजा अपने पूर्वी प्रातों के भाई-बन्दों के लिए खोल दिया और पूरी तुर्क-जाति मुस्लिम-राज्य में घुस पड़ी।

इन्ही सरदारों में से एक अलप्तगीन भी था, जिसने मौका पाकर गजनी में रियासत खड़ी कर ली। अलप्तगीन के बाद, उसका दामाद, सुबुक्तगीन गजनी का राजा हुआ। सुबुक्तगीन का पिता तुर्क था और माता ईरानी थी। इसी सुबुक्तगीन का पुत्र महमूद गजनी हुआ, जिसने भारत पर सत्रह बार चढाई की और सोमनाथ की मूर्त्ति का ध्वस किया। अतएव, समझना चाहिए कि जिस मुसलमान के कारण इस्लाम भारत में उतना बदनाम हुआ, वह ईरानी कम, तुर्क या हूण अधिक था और अरबी तथा ईरानी सस्कृतियों की उदारता उसमें नही थी। भारत में मुसलमानी राज्य की नींव डालने वाला महम्मद गोरी भी पठान था और, अजब नही कि, उसके पूर्वज भी तुर्क या हूण रहे हों।

भारत मे मोगल-वश की नीव डालने वाला बाबर अपना सबध मगोल जाति से बतलाता है। ये मगोल बडे ही भयकर वीर थे। इनका सब से बडा नेता चिङ्-हिर-हान (११५५ ई० तक) हुआ, जो इतिहास मे चगेज खाँ के नाम से प्रसिद्ध है। हान या खान मगोल भाषा में एक सम्मान-सूचक शब्द था। दूसरी जातियों ने यह शब्द उन्ही लोगो मे लिया है। चगेज खाँ बौद्ध था। किन्तु, इस बौद्ध सेनापति ने इतनी निर्दयताएँ की कि इतिहास आज तक उसकी याद रोमाच के साथ करता है। विश्व-विजय के उद्देश्य से इसने सेना लेकर निरुद्देश्य यात्रा आरभ की और बुखारा, समरकन्द,

---

१ "A dull-witted folk with few ideals, the Turks could do two things superlatively well, obey orders and fight like devils"
—Lothrop Stroddatu (New World of Islam)

हेरात और वलख, इन वडे-वडे नगरो को इसने भून कर राख कर दिया। कहते है, अपने प्रतिद्वन्द्वी जलालउद्दीन की खोज करता हुआ चगेज भारत भी आया था, किन्तु, भारत से शीघ्र ही वह लौट गया। उसके उत्तराधिकारी हलाकू ने वगदाद को उजाडते हुए वहाँ के विख्यात पुस्तकालय को भी जला डाला।[1]

उसके अत्याचार से घवरा कर वहुत-से विद्वान् अपनी किताबे लिये हुए कैरो और स्पेन की ओर भागे। विद्वानो की इसी भाग-दौड से यूरोप मे विद्या की वह लहर उठी जिसे हम सास्कृतिक जागरण अथवा रिनासाँस कहते हैं। कहते है, युद्ध मे बारूद का प्रयोग पहले-पहल चगेज़ ने ही किया था, अतएव, उसी के समय से दुनिया मे युद्ध की कला वदली। तैमूरलग (१३६९ ई०) भी माँ की ओर से अपने को चगेज़ का वशज कहता था और वावर भी इसी वश की सतान था। कहते है, तैमूर के वाद उसके उत्तराधिकारी मार-काट को छोड कर कला और विद्या की भी साधना करने लगे थे और मध्य एशिया मे एक समय तैमूरी-रिनासाँस (सास्कृतिक जागरण) भी चला था। वावर इसी सास्कृतिक जागरण मे पला था, इसलिए, मोगल-खान्दान के लोग, भारत मे भी सास्कृतिक कार्य करने वाले हुए। वावर माँ की ओर से चगेज खाँ और वाप की ओर से तैमूर का वशज था।

जिस इस्लाम का प्रवर्तन हज़रत मुहम्मद ने किया था और जिसका रूप अवूवक्र, उमर, उस्मान और अली-जैसे खलीफो ने सँवारा था, वह धर्म, सचमुच, स्वच्छ धर्म था और उसके अनुयायी सच्चरित्र, दयालु, उदार और ईमानदार थे। उन्होने मानवता को एक नया सदेश दिया, गिरते हुए लोगो को ऊँचा उठाया और, पहले-पहल, दुनिया मे यह दृष्टान्त उपस्थित किया कि एक धर्म के अन्दर रहनेवाले सभी लोग आपस मे समान है। उन दिनो इस्लाम ने जो लडाइयाँ लडी, उनका विवरण भी मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठानेवाला है। वीरता और वलिदान मे ये मुसलमान अद्भुत अवश्य थे, किन्तु चगेज और हलाकू की वर्वरता उनमे नही थी, न महमूद और शहाव उद्दीन के समान वे लोभी और कठोर थे। सेनापति तारीक के अधीन मुसलमानी सेना का वेडा जव जब्रुलतारीक पर उतरा, तव वहादुरो ने अपनी नावें तोड कर समुद्र मे वहा दी, कुछ नावो को जला कर ताप भी डाला, जिससे घर लौटने की उन्हे कोई उम्मीद नही रह जाय और समर-भूमि मे वे प्राणपन से लड सके। लूट-मार, अन्याय और अत्याचार की

१. सन् १९४६ और ४७ ई० में जव मुस्लिम लीग के कार्यकर्त्ताओ ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए सीधी-कार्रवाई शुरू की, तव उनके नेता यह कह कर शातिप्रिय जनता को डराते थे कि हम चगेज खाँ और हलाकू की सतान हैं और हम वही कर दिखायेगे जो चगेज और हलाकू ने किया था। किन्तु, चगेज और हलाकू मुसलमान नही, शायद, भ्रष्ट किस्म के वौद्ध थे। मुसलमान अपने को उनका वशज माने, यह इतिहास-विरुद्ध वात है।

परपरा इस्लाम मे तब आयी, जब अरबी लोग साम्राज्य के सुखो में पड जाने के कारण शिथिल और कमजोर हो गये और इस्लाम का नेतृत्व उनके हाथ से निकल कर तुर्कों और मगोलो के हाथ मे चला गया जो अभी हाल मे मुसलमान हुए थे। नेतृत्व के इस हस्तान्तरण का कारण यह था कि यूरोप से इस्लाम को खदेड़ कर वाहर करने के लिए यूरोपीय जातियो ने सघबद्ध होकर मुसलमानो के खिलाफ धर्म-युद्ध (Crusade) की घोषणा कर दी थी और इस मुसीबत मे इस्लाम अपने पुराने अनुयायियो की ओर से ईषत् निराश होकर नये अनुयायियों की ओर देख रहा था।

लेकिन, ये नये अनुयायी अर्ध-सभ्य और कठोर थे। उनमे वही निर्भयता और शारीरिक शक्ति की अपारता थी जो वर्बर जातियों का प्रधान लक्षण है। इन वर्बर अनुयायियो के आने से इस्लाम की गिरती हुई आधिभौतिक शक्ति जरूर ठहर गयी, किन्तु, उनके कर्म इतने गर्हित हो गये कि यूरोप और एशिया में लूट-खसोट, मार-काट, खूँरेजी और पाशविक अत्याचार मुसलमानो के खास लक्षण माने जाने लगे। एम० एन० राय ने लिखा है कि "दरबार की विलासिता के कारण अरबी विद्या और सस्कृति की साधना दूषित हो गयी और इस्लाम की गौरवपूर्ण पताका अपनी आरभिक क्रान्तिकारी चमक को खोकर तुर्कों और तातारो के व्यभिचारी हाथों मे पड कर अपना सतीत्व खो बैठी।"

कुछ मनोरंजक बातें

इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नही आया अथवा आया भी तो दक्षिण के समुद्री तटों पर व्यापारियो के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त, सिन्ध और उसके आस-पास के भागो में। महमूद गजनी, महमूद गोरी और बाबर, ये सच्चे इस्लाम के प्रतिनिधि नही थे। उन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजें ही देखी थी, अबूबक्र, उमर और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमे नही थी। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक "आवर हेरिटेज" मे इन आक्रामकों के बारे में लिखा है, "ये जो नये लोग भारत मे आये, उन्होंने इस्लाम के तत्व को भले ही नही समझा हो, किन्तु, उसकी बाहरी बातें उन्होंने ग्रहण कर ली थी।" लेकिन, बाहरी बातें क्या भीतरी तत्व का प्रतिनिधित्व कर सकती है? इस्लाम के गौरव का कारण उसकी आरभिक उदारता थी, मोतजलियो की विचार-स्वाधीनता थी। इस्लाम बडा ही ऊँचा धर्म था। बर्बरता उसमे तब आयी, जब तातार लोगो ने इस्लाम में प्रवेश किया। गगा और सिन्धु के किनारे इस्लाम का झडा गाडनेवाले लोग अबूबक्र और उमर की पवित्रतावाले लोग नही थे, बल्कि, ये वे ईरानी थे जो विजय और साम्राज्य के सुखो से अधे होकर झूम रहे थे। ये मध्य एशिया के वे वर्बर लोग थे, जिन्होंने इस्लाम की टोपी अभी हाल ही मे पहनी थी, किन्तु, जो उसके मौलिक सस्कारो से अपरिचित थे।

इतिहास की इन घटनाओ के प्रकाश मे देखने पर भारत मे इस्लामी अत्याचार के कुछ मनोरजक पहलू सामने आते है। पहली बात तो यह है कि गजनी और गोरी के साथ जो इस्लाम भारत पहुँचा, वह वही इस्लाम नही था जिसका आख्यान हजरत मुहम्मद और उनके शुरू के चार खलीफो ने किया था अथवा जो इस्लाम, गज़नी के आक्रमण के पूर्व, सौदागरो और फकीरो के साथ भारत के पश्चिमी तटो पर उतरा था। वास्तव मे, यह वह इस्लाम था, जो एम० एन० राय के मतानुसार, तुर्क और तातार अनुयायियो के हाथो व्यभिचरित हो चुका था। दूसरी बात यह है कि जब भारत के राजपूत गजनी और गोरी के खिलाफ युद्ध कर रहे थे, तब यह युद्ध एक तरह से हूणो के ही दो दलो के बीच था। गज़नी और गोरी, कदाचित्, दोनो तुर्क यानी हूण थे, और इधर, भारत की जो सेना उनका मुकाबला कर रही थी, उसमे भी अधिकाश मे, वे ही लोग थे, जो हूण-देश से भारत मे आये थे और शुद्धि के बाद राजपूत-जाति में सम्मिलित कर लिये गये थे।

इतिहास-लेखको का मत है कि बौद्ध-ब्राह्मण-सघर्ष में दोनो पक्ष अपने लिए राज्य की सहायता चाहते थे। किन्तु, क्षत्रिय राजे जब बौद्ध होते, तब ब्राह्मण इस स्थिति से क्षुब्ध हो उठते थे। क्षत्रियो को पूर्ण रूप से बस में नही आते देख कर ब्राह्मणो ने एक नया तरीका निकाला। जो विदेशी सीथियन, हूण और शक वश के लोग इस देश मे राज्य-सत्ता पाने को सघर्ष कर रहे थे, उन्हे ब्राह्मणो ने आबू के कुण्ड पर यज्ञ करवाकर राजपूत बना लिया। इससे विदेशियो की बर्बरता जाती रही और क्षत्रिय मान लिये जाने के कारण वे ब्राह्मणो के कृतज्ञ भी हो गये। इधर ब्राह्मण-क्षत्रिय-सघर्ष में ब्राह्मणो का पलडा भी भारी हो उठा, क्योकि उन्हे नये शिष्य मिल गये थे। डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है कि "वर्तमान राजपूतो के अनेक कुल हूणो और गुर्जरो से प्रादुर्भूत हुए है। गुर्जरो ने भारत मे एक विशिष्ट सम्राट-कुल (गुर्जर-प्रतिहार) की नीव डाली और भारत के एक विस्तृत भाग गुजरात का नाम अपनी सज्ञा से सार्थक किया। गुर्जर, सभवत, जाट और अन्य जातियाँ, गुप्त-साम्राज्य के ध्वस के पश्चात् आनेवाली जातियो के वशधर है।"

तीसरी बात यह है कि गजनी और गोरी-जैसे मुसलमान इस्लाम के सेवक नही थे, उनमे दूसरो का धन लूट कर आनन्द मनाने की भावना ही प्रधान थी। इस्लाम की दुहाई, तौहीद का प्रचार और मूर्त्ति-पूजा का खडन, ये सिर्फ लोभ को छिपाने के आवरण मात्र थे। गजनी ने भारत पर १७ बार चढाई की, लेकिन, इन चढाइयो में इस्लाम का प्रचार उसने कुछ भी नही किया। इतिहास इतना ही जानता है कि वह इस देश का धन लूटने को आता था और यहाँ की लूट से उसने अपनी राजधानी को मालामाल किया भी। तैमूरलग ने जब हिन्दुस्तान की ओर नजर डाली तब, कहते है, लोगो ने उससे कहा कि हिन्दुस्तान जाने की ऐसी क्या जरूरत हो सकती है, वहाँ तो मुसलमानो का राज्य पहले से ही मौजूद है। किन्तु, राज्य मुसलमानो का हो या हिन्दुओ का, तैमूरलग भारत

की समृद्धि को लूटने के लिए बेकरार था। अतएव, वह सन् १३९८ ई० में सिन्धु के पार चला आया। मुहम्मद तुगलक को हरा कर उसने दिल्ली में डेरा डाल दिया और लूट-मार मचा कर फिर समरकन्द को लौट गया।

इतिहास-लेखकों का यह भी मत है कि महमूद गजनी की सेना में हिन्दू सिपाही भी काफी संख्या में काम करते थे। इन सिपाहियों ने मध्य एशिया के युद्धों में महमूद का साथ दिया था। तिलक नाम का एक हिन्दू महमूद की सेना में कुछ ऊँचे पद का अधिकारी था और नियाल्तगीन नामक सरदार ने जब महमूद के खिलाफ विद्रोह किया, तब उसे दबाने को तिलक ही भेजा गया था।

एक स्थिति यह भी हुई कि जब इस देश पर मंगलों का आक्रमण हुआ, तब पठान और राजपूत आपस में दोस्त हो गये और यह दोस्ती काफी दिनों तक चलती रही। हल्दीघाटी में महाराणा प्रताप की सेना की एक पंक्ती बिलकुल पठानों की थी और ये पठान महाराणा के प्रति अत्यन्त वफादार थे।

प्रकरण २

इस्लाम धर्म

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ "शांति मे प्रवेश करना"[1] होता है। अत, मुस्लिम वह व्यक्ति है जो "परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शाति का सबंध"[2] रखता हो। अतएव, इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा वह धर्म जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है तथा मनुष्यो के प्रति अहिंसा एव प्रेम का वर्ताव करता है।

इस धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहव थे, जिनका जन्म अरव देश के मक्का शहर मे सन् ५७० ई० में हुआ था। जब हजरत मोहम्मद अरव में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे, उन दिनो भारतवर्ष मे हर्षवर्धन और पुलकेशी का राज्य था। इस्लाम-धर्म के मूल-ग्रन्थ कुरान, सुन्ना और हदीस हैं। कुरान वह ग्रथ है जिसमें मुहम्मद साहव के पास ईश्वर के द्वारा भेजे गये सदेश सकलित हैं। सुन्नत वह पुस्तक है जिसमें मोहम्मद साहव के कृत्यो का उल्लेख है और हदीस वह किताव है जिसमे उनके उपदेश सकलित हैं। हदीस की किताबो मे मोहम्मद साहव की जीवन-चर्या का भी उल्लेख है और इन किताबो में सुन्नत भी मिलती है।

इस्लाम-धर्म मोहम्मद साहव ने सोच कर नही निकाला, वल्कि, इस धर्म का उन्हे इलहाम (समाधि अथवा प्रेरणा की अवस्था में दर्शन) हुआ था। कुरान का अर्थ उच्चरित अथवा पठित वस्तु है। कुरान उन पदो का सकलन है जो मोहम्मद साहव के मुख से उन क्षणो मे निकले, जब वे सीधी भगवत्प्रेरणा की अवस्था मे थे। यह भी कहा जाता है कि भगवान कुरान की आयतें (पद) मोहम्मद साहव के पास देवदूतो के जरिये भेजते थे। इन्ही आयतो के सकलन से कुरान तैयार हुआ। ये आयतें मोहम्मद साहव को, समय-समय पर, २३ वर्षो मे हासिल हुईं जिन्हें वे तालपत्रो, चमड़े के टुकडो अथवा लकड़ियो पर लिखवाकर रखते गये। उनके स्वर्गवास के बाद, जब अबूबक्र पहले खलीफा हुए, तब उन्होंने इन सारी लिखावटो का सपादन करके कुरान की पोथी तैयार की जो बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। इन २३ वर्षो में मोहम्मद साहव १३ साल तो मक्के में थे और १० साल तक मदीने मे।

मोहम्मद साहव को जब धर्म का इलहाम हुआ, तब से लोग उन्हें पैगम्बर, नबी और रसूल कहने लगे। पैगम्बर कहते है पैगाम (सदेश) ले जानेवाले को। हजरत मोहम्मद के जरिये भगवान का सदेश पृथ्वी पर पहुँचा, इसलिए वे पैगम्बर कहे जाते हैं। नबी कहते है किसी उपयोगी परम ज्ञान की घोषणा को। मोहम्मद साहब ने चूंकि

---

१. मोहम्मद अली (रिलीजन आव् इस्लाम)   २ वही

ऐसी घोषणा की, इसलिए वे नवी हुए। तव से, नवी का अर्थ वह दूत भी हो गया जो परमेश्वर और समझदार प्राणी के वीच आता जाता है। रसूल का अर्थ भी प्रेषित या दूत होता है। मोहम्मद साहव रसूल है, क्योंकि परमात्मा और मनुष्यो के वीच उन्होंने धर्मदूत का काम किया।

"ला इलाह् इल्लिलाह् मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह्", यह इस्लाम का मूल-मन्त्र है जिसका अर्थ होता है, "अल्लाह् के सिवा और कोई पूजनीय नही है तथा मोहम्मद उसके रसूल हैं।" केवल अल्लाह् को मानने से कोई आदमी पक्का मुसलमान नही हो सकता, उसे यह भी मानना पडता है कि मोहम्मद अल्लाह् के नवी, रसूल और पैगम्वर हैं। इसके वाद कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य निर्धारित करता है। वे कृत्य हैं —

१. कलमा पढना—अर्थात् इस मन्त्र का पारायण करना कि ईश्वर एक है और मोहम्मद उसके रसूल हैं (ला इलाह् इल्लिलाह् मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह्)। इस्लाम का एकेश्वरवाद (तौहीद) इसी मन्त्र पर आधारित है, अतएव, इसके पारायण की इस्लाम में वहुत महिमा है।

२. नमाज पढना—अर्थात् प्रतिदिन पाँच वार भगवान से प्रार्थना करना। इसको सलात भी कहते है।

३. रोजा रखना—अर्थात् रमजान महीने भर केवल एक शाम खाना और वह भी सूर्यास्त के वाद। रमजान महीना इसलिए चुना गया कि इसी महीने में पहले-पहल कुरान उतरा था।

४. जकात—अर्थात् अपनी वार्षिक आय का चालीसवाँ हिस्सा (ढाई प्रतिशत) दान में दे देना।

५. हज—अर्थात् तीर्थों मे जाना। पहले ये तीर्थ केवल मक्का और मदीने में थे। अव सतो की समाधियो को भी मुसलमान तीर्थ मानते हैं।

कुरान की शिक्षा

कुरान सवसे अधिक जोर इस वात पर देता है कि ईश्वर एक है तथा उसके सिवा किसी और की पूजा नही की जानी चाहिए। आर्यो अर्थात् जरथुस्त्रवादियो मे जो प्रकृति-पूजा प्रचलित थी, उसका कुरान वडे जोर से वहिष्कार करता है और ईसाइयो से भी उसका इस वात को लेकर मतभेद है कि ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र कहते हैं और ईसा, मरियम (ईसा की माँ मेरी) तथा पिता (ईश्वर), इन ईश्वरत्रय में उनका विश्वास है। कुरान का कहना है कि भगवान ने सभी जातियो में पैगम्वर और धर्मोपदेशक भेजे हैं, इसलिए, ईसा भी एक पैगम्वर है, किन्तु, वे ईश्वर के पुत्र नही माने जा सकते, क्योंकि ईश्वर मे पुत्र उत्पन्न करनेवाले गुणो को जोडना उसे मनुष्य-कोटि में ले आना है। "अय मरियम के पुत्र ईसा! क्या तू ने यह कहा कि ईश्वर के साथ हम दोनो को भी जोड

दो ?" ऐसे प्रश्न उठा कर कुरान ने ईसाइयो के ईश्वरत्रय-विषयक विश्वास का खडन किया है। मूर्त्तिपूजक अरब भी मानते थे कि ईश्वर के बेटे-बेटियाँ है और ईसाई तो ईसा को ही ईश्वर का पुत्र कहते है। इस विश्वास को हटाने के लिए कुरान ने बार-बार कहा है, "यदि ईश्वर को सतानोत्पादक कहोगे तो आकाश फट जायगा और धरती उलट जायगी।" इस्लाम विश्व के उस भाग मे जनमा, जहाँ वर्षा कम होती थी। निर्जन उजाड मे आँख खोलने के कारण, उसने विचारो को स्वच्छता से देखा, सजावट मे नही। चित्र, मूर्ति और सगीत के प्रति इस्लाम के द्वेष का भी यही कारण था।

कुरान जिस ईश्वर को मानता है वह देखने, सुनने, बोलने-चालने, खुश और नाराज होनेवाला ईश्वर है। वह प्रेम भी करता है, घृणा भी करता है, भक्तो की आवाज भी सुनता है और दुष्टो का दलन भी करता है। किन्तु, ईश्वर के ये सभी कार्य मनुष्यो के कार्यो के समान नही होते, क्योकि उसे मनुष्यो के समान हाथ-पाँव और नाक-कान आदि नही है। वह है तो निराकार, किन्तु, उसकी शक्ति का वर्णन करने के लिए मनुष्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। फिर भी, कुरान यह मानता है कि ईश्वर अर्श (आकाश) पर रहता है और वहाँ उसका सिंहासन भी है। यह ईश्वर प्रेम और दया का आगार है।

ईश्वर के सिवा, कुरान देव-योनि को भी मानता है।[1] कुरान मे देवो और देव-दूतो का नाम "मलक" या फरिश्ता है। मलको और फरिश्तो को हम देख नही सकते, न वे प्रकट होकर मनुष्यो से सपर्क ही रख सकते है। अगर मलको मे मनुष्यो के बीच रहकर काम करने की शक्ति होती तो नबी या पैगम्बर मनुष्य नही, मलक ही होते। भगवान मोहम्मद साहब को जो पैगाम भेजते थे, वे पैगाम कभी-कभी देवदूत जिबरील ले आते थे। किन्तु, मोहम्मद जिबरील को चर्म-चक्षु से नही, आध्यात्मिक दृष्टि से देखते थे। मलको के बारे मे कुरान का यह विश्वास है कि वे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति मे सहायक होते है। इसलिए, कुरान मलको के अस्तित्व मे विश्वास करना सिखाता है। कुरान का कहना है, "धर्म यह है कि मनुष्य अल्लाह, मलायक, कयामत, किताब और नबी मे विश्वास करे।"

शैतान भी देवताओ की ही तरह, मलक-योनि का है। किन्तु, शैतान मे विश्वास रखने की कुरान मनाही करता है।

कुरान का कहना है कि मनुष्य मे उच्च और नीच, दोनो ही प्रकार की वासनाएँ

---

१ इकबाल का मत है कि कुरान इस सभावना मे भी विश्वास करता है कि सृष्टि का रचयिता केवल खुदा ही नही, कुछ और शक्तियाँ भी है। (Secret of the Self की भूमिका)। इस पुस्तक में निकोलसन ने कुरान के २३वें अध्याय की १४वी आयत से एक उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है—"सृष्टि की रचना करनेवालो में परमेश्वर सर्व-श्रेष्ठ है।"

कुरान का फातिहा नामक अध्याय गीता के दूसरे अध्याय के समान है। मुस्लिम मानसिकता के निर्माण में सबसे अधिक प्रभाव इसी अध्याय का रहा है। यह कर्मफल के विवेचन का अध्याय है जिसकी ओर प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज पाँच बार दिलाया जाता है। कारण यह है कि कर्मफलवाद मे विश्वास के दृढ होने से आदमी अपकर्म को छोडने की प्रेरणा पाता है। छिप कर भी किया हुआ कर्म अपना फल अवश्य लाता है। कुरान कहता है, "अच्छे और बुरे कर्मो के परिणाम अवश्य मिलेंगे। जिसने भी, कण-मात्र भी, सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आँखो से देखेगा, जिसने भी, कण-मात्र भी, दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आँखो से देखेगा।"

कयामत के बाद आदमी को स्वर्ग मिलेगा या नरक, इसका निर्धारण इसी जन्म में किये गये कर्मो से होता है, क्योकि "जो इस जीवन मे अधा है, वह आगे के जीवन में भी अधा ही रहेगा।" कुरान कहता है, "अगर तुम ज्ञान से देखते तो तुम यही नरक को भी देख सकते थे।"

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य कुरान "लिका-अल्लाह" अथवा ईश्वर-मिलन को मानता है। किन्तु, यह ईश्वर-मिलन कैसे होता है, इस विषय की कल्पना सुस्पष्ट नही है। कयामत निर्वाण और मोक्ष का पर्याय है या नही, यह भी नही कहा जा सकता, क्योकि कही तो उस का अर्थ सहार मालूम होता है और कही दिव्य जीवन। इसी तरह कयामत का उल्लेख कही व्यक्ति के लिए, कही पीढी के लिए और कही सृष्टि-मात्र के लिए किया गया है।

कुरान का विश्वास है कि आत्मा पर सुख-दुःख की छाप देह के जरिये पडती है। किन्तु, आत्मा को कुरान देह से भिन्न नही मानता है। शरीर जब कब्र मे चला जाता है, तब उसमें आत्मा रहती है या नही, इस विषय में भी कुरान में सुस्पष्टता का अभाव है। न यही पता चलता है कि कयामत के बाद जो देह मिलेगी वह वही देह होगी या नही जो कब्र में रखी जाती है। अस्थि से अकुर फूटनेवाली बात का मुख्य तात्पर्य क्या है, इसमें भी सशय रह जाता है। कुरान खुल कर यह नही कहता कि यही शरीर कयामत में फिर प्राप्त होगा। उलटे, वह कयामत के समय नयी सृष्टि की कल्पना करता है।[1] सिर्फ इतना सकेत मिलता है कि मनुष्य फिर उठेगा, किन्तु, उसके गुण बदल जायँगे। जैसे स्वर्ग और नरक की प्रकृति को हम नही देख सकते, वैसे ही, आगामी जीवन को भी जानने में हम असमर्थ हैं। इतना सत्य है कि वह जीवन मिट्टी के पार्थिव जीवन से भिन्न होगा।

---

१ "जब हम अस्थि-मात्र रह जायँगे, जब हम गलित हो जायँगे, तब हमे नया जीवन कौन देगा? कहो कि वह जिसने यह दुनिया बनायी है, जो ऐसी दुनिया फिर बना सकता है।" (रिलीजन आव् इस्लाम मे उद्धृत)

ईमान और कुफ्र

इस्लाम के समग्र सिद्धान्त दो भागो मे बाँटे जा सकते है। एक का नाम "उसूल" और दूसरे का नाम "फरू" है। उसूल शब्द "असल" से निकला है, जिसका अर्थ जड या मूल है। फरू शब्द "फर" से निकला है, जिसका अर्थ शाखा या डाल है। कुरान में ये नाम नही थे। कुरान सिर्फ ईमान और अमल, इन दो शब्दो का उल्लेख करता है। अब ईमान का पर्याय उसूल और अमल का पर्याय फरू है। उसूल वे धार्मिक सिद्धात है जिन्हें नबी ने बताया है। फरू उन सिद्धातो के अनुसार आचरण करने को कहते हैं। अतएव, मोहम्मद साहब के उपदेश उसूल अथवा मूल है और उन पर अमल करने का नाम फरू अथवा शाखा है।

ईमान की शाखाएँ अनेक कही गयी हैं। कुरान कहता है, "ईमान की ६० शाखे है और हया उसी की शाख है।" हदीस का वचन है, "ईमान की ७० शाखे हैं। सबसे ऊँची यह कि अल्लाह को छोड कर और किसी की पूजा मत करो, और सबसे नीची यह कि जिन बातो से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।"

ईमान उस सत्य की स्वीकृति है जिसे नबी ने उद्घोषित किया। कुफ्र उसी सत्य की अस्वीकृति को कहते है।

ईमान का सर्वोच्च शिखर तौहीद है जो यह सिखाता है कि ईश्वर को छोड़ कर और किसी को मत पूजो। कुफ्र का सबसे बुरा रूप शिर्क है जिससे मनुष्य ईश्वर के अलावा और देवताओ को भी ईश्वर मान लेता है अथवा उनमे ईश्वरीय गुणो का आरोप करता है। शिर्क का सबसे बुरा रूप मूर्त्तिपूजा है।

मोहम्मद साहब का सबसे अधिक जोर ईश्वर को एक, केवल एक मानने पर था। इस विषय मे वे अपने बारे मे भी कोई शका फैलने देना नही चाहते थे। उन्होने कहा है, "मै मर्त्य हूँ। मै सिर्फ यह कहने आया हूँ कि ईश्वर एक है और केवल उसी की पूजा की जानी चाहिए।" कहावत है कि जब मोहम्मद साहब मरने लगे, उन्होने अपने शिष्यो से कहा कि जिस खजूर के पेड के पास बैठ कर मै धर्मोपदेश किया करता था, पहले तुम उसे काट डालो, नही तो लोग उसी की पूजा करने लगेंगे। यह भी ध्यान देने की बात है कि मुसलमान मोहम्मदी या मोहम्मदन (ईसा से ईसाई और बुद्ध से बौद्ध के समान) कहलाना पसन्द नही करते, क्योकि इससे मोहम्मद की पूजा का भाव टपकता है।

ससार के धर्मो मे इस्लाम ही ऐसा धर्म है जिसका विषय केवल व्यक्ति नही, सारा समाज है अथवा जो व्यक्ति के सभी आचारो का निर्धारण करता है। कुरान मे केवल वैयक्तिक धर्म की ही बाते नही हैं, प्रत्युत, उसमे मनुष्य-मनुष्य के विविध सबध, राजनैतिक बर्ताव, न्याय, शासन, सेना-संगठन, विवाह, तलाक, शाति, युद्ध, कर्ज सूदखोरी, दान आदि के सबध में भी धार्मिक उपदेश है, जिनका पालन धार्मिक नियमो के समान ही आवश्यक माना जाता है। उदाहरण के लिए, इस्लाम सूदखोरी को घृणित पाप सम-

झता है और एक साथ चार पत्नियो से अधिक रखने की इजाजत नही देता।' इसी प्रकार, इस्लाम में शराब पीने की कडी मनाही की गयी है।

जिहाद और जिजिया

नमाज, रोजा जकात, हज और जिहाद, ये इस्लामी धर्म के मूल माने जाते हैं, बल्कि, जिहाद तो एक तरह से राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझा जाता है। जिहाद का सामान्य अर्थ युद्ध या धर्मयुद्ध है, किन्तु, आरभ में, यह शब्द इतना भयानक अर्थ नहीं देता था। जिहाद शब्द जहद धातु से निकला है, जिसका अर्थ ताकत, शक्ति या योग्यता होता है। क्लेन (Klein) नामक एक विद्वान ने जिहाद का अर्थ सघर्ष किया है और इस सघर्ष के उसने तीन क्षेत्र माने हैं। (१) दृश्य शत्रु के विरुद्ध सघर्ष, (२) अदृश्य शत्रु (जिन) के विरुद्ध सघर्ष और (३) इद्रियो के विरुद्ध सघर्ष।

साधारणत विद्वानो का यह मत है कि इस्लाम के प्रचार के लिए जो लडाइयाँ लडी गयी, उन्हे पवित्र विशेषण देने के लिए ही इस शब्द का प्रचलन किया गया। किन्तु, मोहम्मद अली (रिलीजन आव् इस्लाम के लेखक) का मत है कि इस शब्द का अर्थ इस्लाम के प्रचार के लिए युद्ध करना नहीं है। मक्का में उतरनेवाले कुरान के अशो में जहाँ-जहाँ यह शब्द आया है, वहाँ-वहाँ इसका अर्थ परिश्रम, उद्योग या सामान्य सघर्ष ही है। लडने की इजाजत नबी ने तब दी, जब वे भाग कर मदीने पहुँचे या जब वे मक्का छोड कर भागने की तैयारी में थे। मदीने में आत्मरक्षा के लिए तलवार उठाना आवश्यक हो गया। तभी लडाइयाँ जिहाद के नाम से चलने लगीं। किन्तु, यहाँ भी जिहाद का व्यापक अर्थ है और उसके भीतर वाणी और तलवार दोनो के लिए स्थान है। "ओ नबी! जो काफिर और पाखंडी हैं उनके खिलाफ अपना सघर्ष जारी रख और उनके सामने विचलित मत हो जा।" अन्यत्र भी कहा गया है, "क्या तू यह समझता है कि जब तक अल्लाह जाहिदो को चुन नही ले और धीरो को परख नहीं ले, तब तक तू स्वर्ग के उद्यान मे प्रवेश कर सकता है?"

हदीस हज की भी गिनती जिहाद में करता है और कहता है कि "नबी ने कहा है कि सबसे अच्छा जिहाद हज में जाना है।" किन्तु, पीछे चल कर काजियो (न्यायपतियो) ने जिहाद का अर्थ युद्ध कर दिया।

मोहम्मद अली के मतानुसार, विधर्मियो को तलवार के जोर से इस्लाम मे लाने की शिक्षा कुरान ने नही दी थी, न यह बात नबी के ही दिमाग में थी। लडने की इजाजत नबी वही देते थे, जहाँ आत्मरक्षा का प्रश्न होता था। किन्तु, जब मुल्ला और काजी सर्वेसर्वा बन बैठे, तब उन्होंने सारी दुनिया को दो हिस्सो में बाँट दिया। जिस हिस्से में

१ ए० सी० बुकेट ने ३३ वें सूर का हवाला देकर बताया है कि इस्लाम नौ पत्नियो तक की इजाजत देता है।

मुसलमान सुखी और स्वतन्त्र थे, यानी जिस हिस्से पर उनकी हुकूमत थी उसे तो उन्होंने दारुल-इस्लाम (शान्ति का देश) कहा। इसके विपरीत, धरती के जिस हिस्से पर उनका आधिपत्य नही था, उसे दारुल-हरब (युद्ध-स्थल) कह कर उन्होंने मुसलमानो को उत्तेजित किया कि ऐसे देशो को जीत कर वहाँ इस्लाम का झडा गाडना जाहिदो का परम कर्त्तव्य है। किन्तु, किसी-किसी लेखक ने यह भी लिखा है कि विश्व भर मे इस्लामी साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना मोहम्मद साहब मे भी जगी थी। "प्राय, प्रत्येक बार उनके अन्तिम शब्द ये होते थे कि 'अय लोगो! जो मै कहता हूँ, उसे ठीक से सुनो और उसका अर्थ समझो। तुम्हे मानना चाहिए कि हर एक मुस्लिम हर दूसरे मुस्लिम का अपना भाई है। तुम सबके सब आपस मे समान हो।' अपने जीवन के अन्त तक आते-आते, उनकी धारणा यह हो गयी थी कि सारी पृथ्वी को एक राज्य और एक धर्म के अधीन होना चाहिए। सारे ससार के लिए एक नबी और एक ही धर्म, यह भाव उनमे जग चुका था।"[१]

इसी प्रकार, जिजिया वह कर था जिसे नबी ने ईसाई, यहूदी, पारसी तथा अन्य गैर-अरबी दुश्मनो से लडाई के बाद, सन्धि की शर्तों के अनुसार, वसूल किया था। जब कोई देश मुसलमानो की अधीनता स्वीकार करता, तब उसे नजराने के रूप मे जिजिया कर देना पडता था। किन्तु, हजरत उमर के समय मे आकर यह वैयक्तिक कर हो गया।

इस्लाम का आरभ धर्म में हुआ था, किन्तु, बढ कर वह राज्य और सेना का सगठन भी बन गया। इस प्रकार, इस्लामी राज्य, इस्लामी सस्कृति और इस्लामी राष्ट्र, सबके साथ धर्म का जोश लिपट गया। पहले तो धर्म के आवेश से ही राज्य की स्थापना हुई थी। पीछे, राज्य की शक्ति-वृद्धि से धर्म का भी प्रताप बढने लगा। ईसाई देशो मे पादरी अलग और राजा अलग थे। भारतवर्ष मे भी पुरोहित अलग और राजा अलग थे। किन्तु, इस्लामी देशो का धर्म-गुरु और राजा, दोनो एक ही व्यक्ति होने लगा। इस प्रकार, धर्म से तलवार की तेजी बढी और तलवार से धर्म का बल बढने लगा। इस्लाम की देखा-देखी भारत मे सिक्ख-सम्प्रदाय का सगठन भी इसी सिद्धान्त पर किया गया था।

सुन्नी-शिया सम्प्रदाय

इस्लामी धर्म-राज्य के पहले नेता या खलीफा स्वय मोहम्मद साहब हुए। मोहम्मद साहब के कोई पुत्र नही था, केवल एक बेटी थी, जिनका नाम फातिमा था। फातिमा बीबी का ब्याह हजरत अली से हुआ था जिनकी वीरता पर रीझ कर मोहम्मद साहब उन्हे "शेरे-खुदा" कहा करते थे। ऐसा हुआ कि नबी के मरने पर खिलाफत (धर्म-राज्य) के सरदार हजरत अली नही बनाये गये। खिलाफत के दूसरे सरदार हजरत अबूबक्र, तीसरे

१ A C Bouquet (Comparative Religion)

हजरत उमर, चौथे हजरत उस्मान और पाँचवें खलीफा या सरदार अली हुए। इस स्थिति से उत्तराधिकारी का विवाद उठ खड़ा हुआ और कुछ लोग कहने लगे कि हजरत मोहम्मद के बाद गद्दी उनके दामाद, हजरत अली को मिलनी चाहिए थी। इनका यह भी कहना था कि खिलाफत की गद्दी पर खलीफों के उत्तराधिकारी ही बैठ सकते हैं। छठे खलीफे के समय वह विवाद विकराल हो उठा और एक दल ने हजरत अली के पुत्र (और मोहम्मद साहब के नाती) हजरत इमाम हुसैन को खलीफा घोषित कर दिया। कहा जाता है कि हजरत इमाम हुसैन जब मदीने से कूफा जा रहे थे, तब रास्ते में कर्बला नामक स्थान में तत्कालीन खलीफे ने उनकी हत्या करवा दी। इस कांड के बाद मुसलमानों में दो दल हो गये, जिनमें से हजरत अली के पक्षपाती शिया और बाकी लोग सुन्नी कहलाने लगे। मुहर्रम का शोकोत्सव हजरत इमाम हुसैन[1] की याद में ही मनाया जाता है और शियों का यह खास पर्व है। मोहम्मद साहब के तुरत बाद होनेवाले तीन खलीफों (अबूबक्र, उमर और उस्मान) को शिया नहीं मानते, किन्तु, सुन्नी समझते हैं कि उनकी खलीफागिरी ठीक थी।

कुछ अन्य विशेषताएँ

इस्लाम मनुष्य और भगवान के बीच किसी बीचवान की आवश्यकता में विश्वास नहीं करता। सामूहिक नमाज में एक इमाम की जरूरत तो समझी जाती है, किन्तु, कोई भी सच्चरित्र मुसलमान इमाम का काम कर सकता है, यद्यपि, इमामत एक बार जिसने की वह, प्राय, बराबर इमाम होता है। पाँच बार नमाज पढ़ने की प्रथा, कदाचित्, इस भाव से चलायी गयी थी कि आदमी बहुत देर तक भगवान से अलग नहीं रहे। कम-से-कम पाँच बार वह उनकी शरण में पहुँच जाया करे। इस्लाम संसार में सबसे अधिक अपरिवर्तनीय धर्म है। जब पहले-पहल यह धर्म अरब से बाहर फैलने लगा, इस पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ने लगे और यह संभव दीखने लगा कि इसमें परिवर्तन होंगे। इस अवस्था पर नियंत्रण रखने के लिए तीन बातों की व्यवस्था की गयी।

(१) इज्मा—यानी यह शर्त कि सभी युगों और सभी स्थानों में इस्लाम के उपदेशकों में पूरा-पूरा मतैक्य रहना चाहिए।

(२) सुन्ना—यानी नबी ने जो काम किये थे, उनका अनुसरण हदीस के अनुसार किया जाना चाहिए। और

---

१ जिस व्यक्ति ने हजरत इमाम हुसैन की हत्या करवायी थी, उसका नाम यजीद था। जिस स्थान पर इमाम हुसैन की हत्या हुई उसका नाम कर्बला है। कर्बला तभी से बलिदान और शहादत का प्रतीक माना जाता है। मौलाना मोहम्मद अली का इस घटना पर एक चुभता हुआ शेर है —

कत्ले-हुसैन अस्ल में मर्गे-यजीद है।
इस्लाम जिन्दा होता है हर कर्बला के बाद।

(३) कयास—यानी मूल उपदेशों से क्या अर्थ लिये जा सकते हैं, इस पर सावधानी से विचार।

शिया-सुन्नी झगडे के खडे होने के पूर्व तक, ये नियत्रण कड़ाई से चलाये जा सके, किन्तु, मुसलमानो मे दो दल हो जाने के बाद, यह बात उतने जोर से चली नही, यद्यपि, अपरिवर्तनीयता इस्लाम को अब भी पसन्द है। इस्लाम में जो एकरूपता रही, उसका बहुत बडा कारण यह रहा कि इस्लाम और मुसलमान, दोनो, खलीफों के नियत्रण और नेतृत्व मे थे और धार्मिक रीतियो मे कोई भी परिवर्तन खलीफों की मजूरी के बिना नहीं किया जा सकता था। किन्तु, सन् १६१८ ई० मे, जब टर्की के अधिनायक कमाल पाशा ने खिलाफत को उठा दिया, तब से मुसलमान इस नेतृत्व से विहीन हो गये है। अब इस्लामी देशो पर धार्मिक अनुशासन रखनेवाला कोई एक व्यक्ति नही रह गया है। विश्व भर की ईसाइयत का सचालन रोम के पोप किया करते है। उसी प्रकार, ससार भर के मुसलमान खलीफा को अपना धर्मगुरु मानते थे। किन्तु, जब खिलाफत टूट गयी, तब से यह अनुशासन भी उठ गया है। यद्यपि, इससे इस्लाम मे अभी तक कोई शिथिलता नही आयी है।

तसव्वुफ या इस्लामी रहस्यवाद

ससार मे ईश्वर की कल्पना कई रूपो में की गयी है। एक रूप वह है जिसमे ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नही माना जाता है, न यही समझा जाता है कि उसे दुनिया की हालतों के जानने की कोई फिक्र है। चूँकि ईश्वर निर्विकार समझा जाता है, इसलिए, यदि यह कहा जाय कि उसने सृष्टि रची है अथवा वह भक्तो की प्रार्थना सुनने को कान खोले रहता है तो इससे ईश्वर में विकार का आरोप हो जाता है। यह ईश्वर वेदान्त की कल्पना का ईश्वर है।

इसके विपरीत, ईसाइयो की कल्पना का ईश्वर प्रेमी और दयालु है तथा वह संसार की रक्षा और पालन उसी प्रकार करता है जैसे कोई पिता अपने परिवार का पालन करता है।

किन्तु, इस्लाम ने, मूल-रूप में, जिस ईश्वर की कल्पना की थी, वह प्रतापी और स्वेच्छाचारी प्रभु की कल्पना थी। इस ईश्वर के सामने दलील कोई चीज नहीं थी, न मानवीय न्याय-बुद्धि का उसके आगे कोई जोर चल सकता था। अल्ला शब्द का अर्थ ही शक्ति-सपन्न पुरुष होता है। इस्लाम ने ईश्वर के उन गुणो को प्रधानता दी, जिनसे प्रेम कम, भय अधिक हो सकता था। इस्लाम की धार्मिक चेतना का रूप यह था कि ईश्वर बहुत समीप से सब कुछ देख रहा है और उसकी छोटी-सी भी अवज्ञा हुई तो इसका परिणाम भयानक हो सकता है। इसलिए, मनुष्य के लिए उचित यह है कि वह ईश्वर की कृपा और इच्छा पर आँखें मूँद कर निर्भर रहे। परमात्मा की दया के सामने सपूर्ण रूप से झुके रहने का भाव इस्लाम की सबसे बडी विशेषता थी।

किन्तु, यह सबध, मुख्यत , भय और आतक का सबध था, जिसमें बन्दा खुदा की ओर आँख उठा कर देख भी नही सकता था। मनुष्य का हृदय, स्वभावत ही, प्रेम चाहता है। आदमी की इच्छा होती है कि उसका भगवान भी उससे प्रेम करे, उसे अपने साथ हँसने-बोलने और खेलने-कूदने की आजादी दे। अतएव, खुदा और बन्दे के सबध के बारे मे मोहम्मद साहब ने जो कठोरता रखी थी वह, काल-क्रम में, ढीली होने लगी और बन्दा धीरे-धीरे खुदा को वह रूप देने लगा जो प्रेम और माधुर्य के अधिक अनुकूल था। इस विकास का पहला सोपान तब प्रकट हुआ, जब नबी की मृत्यु के बाद, शियो के एक उग्र सम्प्रदाय ने "गुलूव" और "तकसीर" के सिद्धातो की घोषणा की। गुलूव, यानी यह विश्वास कि मनुष्य ईश्वर-कोटि तक पहुँच सकता है, अर्थात् स्वय ईश्वर बन सकता है। और "तकसीर", यानी यह विश्वास कि ईश्वर भी चाहे तो मनुष्य-रूप में प्रकट हो सकता है। इसी सिद्धात के अनुसार शियो ने हजरत अली मे देवत्व का आरोप किया।

इसके साथ ही, एक घटना और घटी। इस्लाम के द्वारा धार्मिकता के स्तर पर जाग्रत किये जाने पर मुस्लिम जनता के भीतर ऐसे चिन्तक उत्पन्न होने लगे जिन्हें अनेक प्रकार के प्रश्न झकझोर रहे थे। ईश्वर की प्रकृति क्या है? सृष्टि और मानवात्मा के साथ उसका क्या सबध है? आत्मा का रूप क्या है और ईश्वरीय ज्ञान किसे कहते है? स्पष्ट ही, ये ऐसे प्रश्न है जिनसे दर्शनो का उद्भव और विकास होता है। कुरान में व्यावहारिक धर्म का उपदेश तो किया गया था, किन्तु, उसमें गभीर दर्शन का अभाव था। अब जो सृष्टि-सबधी जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो, धीरे-धीरे, इस्लामी दर्शन का भी विकास होने लगा।

इन प्रश्नो का समाधान खोजनेवालो में मोतजली-सम्प्रदाय सबसे आगे था। ये मोतजली पण्डित बुद्धिवादी थे और बुद्धि के द्वारा ही वे ईश्वर का पता लगाना चाहते थे। ये बहुत-कुछ उसी रास्ते से चल रहे थे जिसे उपनिषदो का ज्ञान-मार्ग कहते है अथवा जिस मार्ग से शकराचार्य ने ईश्वर-सिद्धि की है। इस्लाम ने यती-वृत्ति को प्रोत्साहित नही किया था। किन्तु, मोतजली-सम्प्रदाय मे यती-वृत्ति की भी प्रधानता होने लगी। बुद्धि के कर्कश मार्ग से चलते-चलते यह सम्प्रदाय इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि कुरान अपौरुषेय नही है, न उसे अन्तिम सत्य का आख्यान ही मानना चाहिए। कुरान मे जो ज्ञान झलका है वह ठीक है, किन्तु, त्रिकाल के लिए वह यथेष्ट समझा नही जा सकता। मनुष्य को और भी नयी प्रेरणाएँ और नया प्रकाश मिल सकता है।

मोतजली चिन्तक निर्मुक्त विचारक थे और उनकी दृष्टि बहुत ही उदार थी। इन चिन्तको में अलगजाली (१०५१-१११२ ई०) सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक निकले। किन्तु, धर्म पर सोचते-सोचते वे नास्तिकता पर जा पहुँचे और धर्म-मात्र से उनका विश्वास उठ गया। कुछ दिनो तक उनकी अवस्था नास्तिको की-सी बनी रही। किन्तु, शीघ्र ही, तमाम शकाओ के भीतर से रहस्यवाद ने उनका उद्धार किया। बुद्धि के क्लान्त होकर

बैठ जाने पर, उनके भीतर सबुद्धि (इंट्यूइशन) की ज्वाला धधक उठी और इस आलोकित मनोदशा मे उन्होने अभीप्सित सत्य का साक्षात्कार किया। तब से, परपरावादियो की दलीलो को उन्होने बचपन का खेल समझ कर छोड दिया तथा विज्ञान, दर्शन, बुद्धि और तर्क की राह उन्हे अधूरी दीखने लगी। उन्होने कहा है कि तर्क से हम उसे प्राप्त कर सकते है जो सापेक्ष (अर्थात् बुद्धिगम्य) है, उसे नही, जो निरपेक्ष (अथवा ज्ञानातीत) है। निरपेक्ष सत्य को जानने के लिए मनुष्य को सबुद्धि को छोड कर और कोई चारा नही है। इस अनुभूति के प्राप्त होते ही गजाली सिमट कर एकात में चले गये और समाधि एव सबुद्धि के द्वारा अपनी साधना मे सलग्न हो गये। इस समाधि से सुनिश्चित सिद्धान्त प्राप्त करके वे बाहर आये और तभी उन्होने दर्शन के खडन मे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तह्फातुल-फिलसफा" की रचना की। गजाली को पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने इस्लाम का व्यास कहा है, जो उपाधि अनुचित नही दीखती, क्योकि इस्लाम के भीतर ज्ञान और भक्ति के समन्वय का आरभ उन्ही से होता है। शियो की तरह, गजाली ने भी एलान किया कि ईश्वर और जीव के स्वभाव मे मौलिक एकता है, इसलिए, जीव ईश्वर को जान सकता है तथा मृत्यु के बाद वह ईश्वर-कोटि तक पहुँच सकता है। स्पष्ट ही, यह भारतीय वेदान्त का प्रभाव था।

बुद्धि और सबुद्धि, दोनो दो चीजे है या नही, इस विषय मे पहले भी मतभेद था और आज भी है। किन्तु, सामान्यत, मनुष्य सृष्टि को दो दृष्टियो से देखने का आदी रहा है। एक दृष्टि बुद्धि की दृष्टि है, जिससे विज्ञान का विकास हुआ है। दूसरी दृष्टि हृदय की दृष्टि है, जिसका सहारा सन्त और महात्मा, कवि और कलाकार लेते है। प्राचीन काल मे, द्रष्टा की उपाधि उन्हे दी जाती थी जो हृदयवादी होते थे, जो सत्य को समझते नही, देख लेते थे। किन्तु, अठारहवी सदी मे, विज्ञान के आरभ के बाद, बुद्धि प्रधान हो उठी और बुद्धिवादी व्याख्या से ही मनुष्य को अधिक सतोष होने लगा। किन्तु, रूसो[1] के समय मे, प्रधानता फिर से सबुद्धि को दी जाने लगी। फिर, जब रोमाण्टिक आन्दोलन उठा, तब सबुद्धि की प्रधानता और भी बढ गयी। कारण यह था कि सरकारो और

---

१ शिक्षा के विषय में रूसो का विचार था कि इससे मनुष्य अच्छा नही, चालाक बनता है। वह कहता है, "चिन्ता की मुद्रा ही प्रकृति के विरुद्ध है। सोचनेवाला मनुष्य पतित प्राणी होता है। जब से समाज मे पडितो की सख्या बढी, तभी से ईमानदार लोगो की सख्या घटने लगी है। बुद्धि का जो क्षिप्र विकास हो रहा है, उसे रोक देने मे ही मानवता का कल्याण है। इसके बदले, हमे मनुष्य के हृदय और उसकी भावना का विकास करना चाहिए।" सयोग की बात है कि अभिनव मुस्लिम सूफी इकबाल भी अशिक्षा को दोष नही मानते, प्रत्युत, अपनी एक कविता मे उन्होने उसे गुण बना दिया है —

तेरी बेइल्मी ने रख ली बेइल्मो की शान,
आलिम-फाजिल बेच रहे है अपना दीन-ईमान।

(बाले-जिबरील)

विचारों के नियंत्रण के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए सहज ज्ञान की दुहाई देना जरूरी था दूसरे, विज्ञान की किरणों के सामने जब धर्म फीका पड़ने लगा, अंधविश्वास की परंपर बिखरने लगी, तब धर्म और धार्मिक परंपरा का समर्थन करने के लिए भी संबुद्धि क सहारा लेना आवश्यक हो गया। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ ने अलौकिक सत्यों के संधान सबुद्धि के प्रकाश को एक मात्र आधार माना है।[1] बीसवीं सदी के मुसलमान कवि इकबाल ने भी हृदय और मस्तिष्क में से, हृदय की स्वाधीनता के प्रति आस्था दिखलायी है। जो अक्ल का गुलाम हो, वह दिल न कर कबूल। किन्तु, सत्य, कदाचित्, यह है कि नयी बात, नये विश्वास और नये सत्य की झाँकी (केवल धर्म और काव्य में ही नहीं, तर्क और विज्ञान में भी) पहले सबुद्धि, सहज ज्ञान अथवा सहज दर्शन को ही दिखलायी देती है। किन्तु, सहज ज्ञान से उसे लेने के बाद तर्क और विज्ञान की कसौटी पर उसे प्रमाणित करना भी आवश्यक होता है, क्योंकि मनुष्य की अन्य शक्तियों के समान, उसकी सहज वृत्ति भी भूल कर सकती है। किन्तु, गजाली, बर्गो, इकबाल और हीगेल, ये सभी सहज-ज्ञान-वादी यह कहते हैं कि भूल सिर्फ अक्ल से होती है, हृदय, सबुद्धि और सहज दर्शन कभी भी भूल नहीं करते। बुद्धि से भूल इसलिए होती है कि उसके साधन तर्क हैं और तर्क भ्रामक हो सकते हैं। किन्तु, सहज ज्ञान आलोकित मनोदशा में सत्य का रहस्योद्घाटन करता है और चीजों को उनके खंडित रूपों में नहीं देख कर, संपूर्णता में देखता है। इसलिए, भूल करने की गुंजाइश यहाँ नहीं है। बुद्धि गणक है जो गणित के न्याय से सत्य को समझना चाहती है। सहज वृत्ति स्वयं आँख है। वह गणना नहीं करके, क्षण मात्र में, सत्य का पूरा स्वरूप देख लेती है। "रहस्यवादी अन्तर्दर्शन का आरंभ ही कुछ इस प्रकार के भावों से होता है कि जो रहस्य था, उस पर से परदा हट गया है; जो प्रच्छन्न था, वह अकस्मात् सारे संदेहों से मुक्त और सुनिश्चित हो गया है। रहस्यवादियों का विश्वास पीछे उत्पन्न होता है, पहले तो उनके सामने अन्तर्दर्शन और सुनिश्चितता ही प्रत्यक्ष होती है।"[2]

मोतजलियों ने जो राह पकड़ी थी, वह बुद्धि की राह थी। अतएव, कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर चलते-चलते, गजाली नास्तिक हो गये और आस्तिकता पर वापस वे तब आये जब बुद्धिवाद को उन्होंने छोड़ दिया। उन दिनों, अरब के जो भी मुसलमान कवि, वैज्ञानिक और सन्त भारतीय अथवा ईरानी विचारधारा से प्रभावित थे, वे हजरत मोहम्मद के उपदेशों की कसौटी पर कसे जाने पर शंकावादी अथवा मुक्त चिन्तक ही सिद्ध हो सकते थे। ऐसे मुक्त चिन्तकों में उमर खैय्याम और अबुल अला (१०५७) का बड़ा नाम है। अबुल अला पर प्रत्यक्ष बौद्ध प्रभाव था, यह बात उसके दीवान के अनुवादक, हेनरी बेरलिन

---

१ काण्ट और शोपेनहार ने भी बुद्धि का क्षेत्र केवल बाह्य अथवा स्थूल विश्व तक ही माना है।

२. बरट्रेंड रसल-कृत "मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक"

की पुस्तक[1] से स्पष्ट होती है। "अबुल अरा पर बौद्ध प्रभाव था। वे आवागमन के सिद्धान्त के विश्वासी थे। वे शाकाहारी भी थे तथा दूध, मधु और चमडे का व्यवहार नही करते थे। पशु-पक्षियो के लिए भी उनके हृदय मे दया थी तथा वे ब्रह्मचर्य और यती-वृत्ति का भी पालन करते थे।" अबुल अरा के विचारो की स्वाधीनता नीचे के पदो मे प्रत्यक्ष है —

(१)

ईश्वर को छोड़ और ईश्वर नहीं है, यह सत्य है ;
और सत्य यह भी है, मन के सिवाय कोई दूसरा नबी नहीं।
घूम रहा आदमी का मन अन्धकार में
खोजते हुए अपूर्व स्वर्ग को,
स्वर्ग जो छिपा हुआ है हम में औ' तुम में।

(२)

जाल हैं अगणित, पन्थ अनेक ; प्रदर्शक पथ के अमित सुजान ;
मुक्त इन द्वारों में है कौन द्वार तेरे घर का भगवान?
मुहम्मद के कर में है खड्ग, सत्य भी है क्या उनके पास?
नहीं क्यो कहूँ? कदाचित्, उन्हें मिल गया हो इस का आभास।[2]

इन्ही मुक्त चिन्तको ने अभिनव-अफलातूनी (Neo-Platonic) विचारो के बीज इस्लाम में बोये, जिनकी फसल सूफियो ने काटी। अभिनव-अफलातूनी विचार यह था कि जीव ब्रह्म से अलग होने के बाद उसके विरह में बेचैन है और शान्ति उसे तभी मिलेगी जब वापस होकर वह ब्रह्म मे लीन हो जायगा। यही विचार सूफीमत की नीव बना जिस पर से विरह-कल्पना की हजारो अट्टालिकाएँ उठी है। विरह की कल्पना बुद्धि से समझी नही जा सकती थी, अतएव, सबुद्धि का सहारा सभी लेने लगे।

गजाली परपरा को तोड कर चले थे, किन्तु, वे रहस्यवाद पर जा पहुँचे। एक दूसरे चिन्तक इब्न-सीना यूनानी दर्शन के प्रेमी थे, किन्तु, उस दर्शन से असतुष्ट होकर वे भी रहस्यवादी हो गये। उनका भी मत था कि बुद्धि का मूल्य केवल विज्ञान के लिए है। किन्तु, अन्तिम सत्य का जैसा पूर्ण, सरल और समुचित ज्ञान सबुद्धि से होता है, वैसा बुद्धि से नही हो पाता। सूफी-मत को प्रेम की दिशा इन्ही दार्शनिको ने दी। उन्होने कल्पना की कि अन्तिम सत्य का रूप पूर्ण सौंदर्य का रूप है। यह सत्य स्वय तो प्रच्छन्न है, किन्तु, सृष्टि-रूपी दर्पण मे उसका जो बिम्ब पड़ता है, वही उसकी अभिव्यक्ति

---

१ अबुल अरा, द सीरियन

२ हेनरी बेरलिन-कृत The Diwan of Abu'l-Ara नामक अँगरेजी अनुवाद से

है। यह अभिव्यक्ति प्रेम का सकेत देती है। प्रेम है सौन्दर्य के पहचानने की शक्ति, प्रेम है सौन्दर्य पर न्योछावर होने की योग्यता। प्रेम ही वह शक्ति है जो जीव को उसके विरह की अनुभूति कराती है और प्रेम से ही प्रेरणा पाकर जीव उस सत्ता में फिर से मिल जाने का प्रयास करता है, जिस सत्ता से वह सृष्टि की प्रक्रिया में वियुक्त हो गया है।

मोहम्मद साहब ने जो उपदेश दिया था, उसमे खुदा मालिक और इन्सान बन्दा था। इन नये विचारको ने खुदा को पूर्ण सौन्दर्य और बन्दे को उस सौन्दर्य का पुजारी बना दिया। मोहम्मद साहब ने जो धर्म चलाया था, उसमे दास्य-भाव ही प्रधान था। सूफियो ने दास्य-भाव को काटकर उसकी जगह पर प्रेम और रति को अकित कर दिया। इस प्रकार, इस्लाम मे तसव्वुफ या रहस्यवाद का प्रचार बढने लगा। प्रत्यक्ष में तो यह मुक्त चिन्तको की तार्किक जिज्ञासा का समाधान करने को उठा था, किन्तु, परोक्ष मे इसका मुख्य कारण यह था कि नवी शती तक या उसके बाद ही, मुसलमानो में क्लान्ति आ गयी थी तथा उनकी वह शक्ति समाप्त होने लगी थी जिसने साम्राज्य बसाया था। रहस्यवादी मुद्रा थकी, पराजित और संघर्षहीन जाति को बहुत पसद आती है। मुसलमान पराजित तो नही थे, किन्तु, इस समय उन्हे साम्राज्य का सुख बहुत अधिक था और सघर्ष तो कुछ था ही नही। सूफी-मत के जन्म के समय, इस्लाम की उद्दामता मद्धिम पड रही थी, उसका तेज विश्राम कर रहा था। किन्तु, इतना ही नही, इस्लाम मे रहस्यवाद के उद्भव के कुछ और भी कारण थे और उनमे से एक प्रमुख कारण था विदेशी प्रभाव, जो अब इस्लाम को परिवर्तित करने लगा था।

यूनानी और भारतीय प्रभाव

अरबवालो ने दर्शन के लिए फिलसफा शब्द चलाया और वे यह मानते रहे कि दर्शन की शिक्षा उन्होने यूनानियो से ली है। किन्तु, वस्तुत, यूनान ने अरब को वही ज्ञान दिया जिसे उसने भारत से प्राप्त किया था। जिन दिनो भारत का यूनान से गहरा राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध था, उन्ही दिनो, यूनानी दर्शन का विकास हो रहा था और इस विकास पर हिन्दू-धर्म की काफी छाप पडी थी। पिथेगोरस (ई० पू० ५८०) जीव-हिंसा का विरोधी और पुनर्जन्म का विश्वासी था। उसके बाद, अफलातून ने इस पुनर्जन्म-वाद में कर्मफलवाद भी मिला दिया। प्लाटिनस (चौथी शती) ने ईश्वर का वर्णन 'नेति-नेति' कह कर किया है। इसी दार्शनिक ने अफलातून (प्लेटो) के दर्शन की नयी व्याख्या की और यही अभिनव-अफलातूनी मत का प्रवर्त्तक भी हुआ। "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी है और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नही है, वे फिर से शरीर धारण नही करेगी। पूर्णरूप से अनासक्त हो जाने पर वे नित्य, चेतन वास्तविकता मे विलीन हो जायँगी।" यह और कुछ नही, उपनिषदो के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण की ही प्रतिध्वनि है। अभिनव-अफलातूनी मत के अनसार, ईश्वर

सर्व-शुभ का रूप है और उसी से ससार की प्रत्येक वस्तु निकली है। सृष्टि के भीतर जो चेतन शक्ति है, उसी का प्रतिबिम्ब सारी सृष्टि है। अतएव, प्रकृति-मात्र परमेश्वर से व्याप्त है। जड और कुछ नही, केवल चेतन का आवरण है, उसकी पोशाक है। इस मत के माननेवालो का विश्वास था कि "सर्व-शुभ-रूप परमेश्वर का ध्यान और चिन्तन करते-करते मनुष्य उस उद्गम पर फिर पहुँच सकता है जहाँ से वह विच्छिन्न हो गया है।" इन बातो का सूफी-मत से निकट का सम्बन्ध है, प्रत्युत, इन्हे इस मत का मुख्य आधार कहना चाहिए। सूफियो ने, अपनी पसन्द के अनुसार, इन बातो को वाञ्छित दिशा मे विस्तार दिया और काव्य के माध्यम से इस दर्शन को एक स्वतन्त्र रूप दे डाला। भेद यह रहा कि यूनानी दार्शनिक परमात्मा को व्यक्तित्वहीन मानते थे, किन्तु, सूफी मत ने ईश्वर को व्यक्तित्व देकर उसे अपनी आवश्यकता के अनुकूल बना लिया। सूफी-मत मे जो आवेशयुक्त आनन्द का प्राधान्य है, उसके बीज भी अभिनव-अफलातूनी मत मे विद्यमान थे, जैसा कि नीचे के इस सदर्भ से प्रकट होता है :—

"पडित जन शुभ का अस्तित्व अपने भीतर मानते हैं और इस आस्था का विकास करने के लिए वे सिमट कर अपने हृदय के पवित्र मन्दिर में चले जाते हैं। जिसे यह ज्ञान नहीं है कि आत्मा में शुभ और सुन्दर का निवास है, वही उसकी खोज बाहर करता है। असल में, उसे अपने-आप में केन्द्रित होना चाहिए; अपने अस्तित्व का प्रसार करना चाहिए; एक को छोड़ कर अनेक में नहीं भटकना चाहिए, प्रत्युत, झरने के उस उत्स की खोज करनी चाहिए जिसकी धारा उसके हृदय में बह रही है।"[1]

यह गद्य मे तसव्वुफ नही तो, और क्या है?

बार-बार यह विवाद उठाया जाता है कि सूफी-मत का मूल कहाँ था। यह मत इस्लाम के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है, इस पर कई विद्वान् बहुत जोर देते हैं।[2] किन्तु, सच बात यह है कि रहस्यवाद सभी धर्मो से ऊपर का धर्म है, अतएव, वह सभी धर्मों के मूल में रहता है। पूजा और प्रार्थना कैसे करे, यह बाद की बात है। उसके पहले ही ईश्वर से किसी प्रकार का मिलन स्थापित करने की बात आती है जो सभी आस्तिक धर्मो का समान लक्षण है। रहस्यवाद का कोई-न-कोई रूप हमे प्रत्येक धर्म मे मिलता है। यही कारण है कि रहस्यवाद के भेद भी अनेक रहे है। जैसे प्रत्येक धर्म का सार उसके

---

१ एफ हैडलाड डेविस-कृत "द पर्सियन मिस्टिक्स" से

२ "It must be strictly maintained that mysticism is not a natural growth in Islam, but, is a foreign element which has worked its way into it and is really inconsistent with the original dogmas. It is, perhaps, a revolt of some Muslim souls against the extremity of Islamic transcendance".

—A. C. Bouquet (Comparative Religion)

रहस्यवादी अश मे रहता है, वैसे ही, तवव्वुफ इस्लाम का निचोड था। जो लोग लोगो को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने के पक्ष में नही थे, जिन्हें दारुल-हरब और दारुल-इस्लाम से कोई सरोकार नही था, जो लोग कुरान के उस पक्ष से प्रभावित थे जो ईश्वर-समाधि, ईश्वर-चिन्तन और ईश्वर के पास पहुँचने पर जोर देता था, वे ही लोग धर्म की औपचारिकता के घेरे से निकल कर सूफी हो गये। सभी धर्मो के समान इस्लाम का जन्म भी आध्यात्मिक बेचैनी से हुआ था। यही बेचैनी सिमट कर सूफियो मे चली गयी।

यह भी समझना भूल है कि इस्लाम से पूर्व रहस्यवाद की परपरा नही थी। सच तो यह है कि तसव्वुफ को मुसलमान फकीरो ने सुचिन्तित रूप दे दिया, उसे एक सप्रदाय के रूप मे खडा कर दिया, इसलिए, इसका सबध उनसे अधिक दीखता है। अन्यथा, तसव्वुफ के जन्म और सगठन के पूर्व भी उसकी परपरा सभी देशो में मिलती है। खुद अरब में ही तसव्वुफ के जन्म के पूर्व मोहम्मद साहब के "इलहाम" और "हाल" (आवेश) मे सूफी-मत के दो लक्षण मौजूद हो चुके थे। और कुरान की ईश्वर-कल्पना मे चाहे जितनी भी कठोरता रही हो, किन्तु, उसमें भी, जगह-जगह, ऐसे सकेत मिलते है कि ईश्वर और जीव के बीच प्रेम का सबध हो सकता है। "वह (ईश्वर) उन्हे (बन्दो को) प्यार करता है और वे उसे प्यार करते है, इसीलिए, उसका एक नाम वदूद (प्रेमी) भी है।" यह कुरान का ही वचन है।[1]

सारी प्रकृति किसी अदृश्य सत्ता से व्याप्त है, यह अनुभूति तो भारत मे वैदिक काल में ही उत्पन्न हो चुकी थी और, आगे चलकर, उसका प्रभाव यूनान और ईरान पर भी पडा था। जीव ब्रह्म से बिछुडा हुआ है तथा उसे फिर ब्रह्म में ही लौट जाना है, यह ज्ञान भी पहले भारत में ही जगा था और वही से उसने पाश्चात्य देशो में प्रसार पाया। सूफी-मत में प्रेम की जो इतनी प्रधानता है अथवा सूफी जो यह कहा करते है कि इश्क-मजाजी इश्क-हकीकी का सोपान है, उसकी परपरा भी पीछे की ओर काफी दूर तक पहुँचती है। ईसाई सन्त ईसा-मसीह को अल्लाह और अपने को उनकी दुलहिन कहा करते थे। सोलोमन के गीतो मे यह कल्पना इतनी रगीन है कि उससे अश्लीलता की बू आती है। भारतवर्ष मे ब्रह्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए रत्यानन्द की उपमा देने की प्रथा उपनिषत्काल में चल चुकी थी। बृहदारण्यक-उपनिषद में आनन्द का केन्द्र उपस्थ बताया गया है (सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्)। अफलातून ने शरीर-सपर्क-रहित प्रेम की कल्पना करके नर-नारी के सबध को पवित्रता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

प० चन्द्रबली पाण्डेय ने सभी जातियो के मन्दिरो मे व्यभिचार के प्रचलित होने की बात कही है और इसका सबध सूफी-मत के मादन-भाव के साथ जोडा है। धर्म के नाम

---

१ "नबी ने कहा है, 'तखल्लक-बि-एखलाक-अल्लाह' अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणो का विकास कर।"—इकबाल ('सीक्रेट ऑव द सेल्फ' की भूमिका से)

पर गुह्य टोलियाँ बना कर सुरा और सुन्दरी का उपभोग करने की प्रथा अनेक देशों में प्रचलित थी। खुद भारत में यह प्रथा कितनी मजबूत थी, यह हम वज्रयान के प्रसग में दिखा आये हैं। सूफी-मत में इन विभिन्न लक्षणो का समागम धीरे-धीरे हो गया, जिसके ताने-बाने को खोलना अब सभव नही है। "सूफी-मत के उद्भव के सबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके मादन-भाव का उदय सामी जातियो के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना और धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियो ने अन्य जातियो के दर्शन तथा इतिहास से सहायता ले, धीरे-धीरे, एक नवीन मत का सृजन किया।"[1] यह निष्कर्ष, हम समझते हैं, काफी सारपूर्ण है। यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि मादन-भाव की परपरा भारत में नही थी।

डाक्टर ताराचन्द ने सूफी-मत के पाँच उद्गम माने हैं: (१) कुरान, (२) मोहम्मद का जीवन, (३) ईसाई-मत और अभिनव-अफलातूनी मत, (४) हिन्दुत्व और बौद्ध मत तथा (५) ईरान मे प्रचलित जरथुस्त्र-धर्म। किन्तु, अभिनव-अफलातूनी मत के भीतर से पडनेवाला प्रभाव भी, वास्तव में, हिन्दू प्रभाव था, यह ध्यान में रखने की बात है।[2] इस मत ने सूफियो में वैराग्य की भावना जगायी और उन्हें साधु-जीवन की ओर प्रेरित किया। ईश्वर से वियुक्त जीव की कल्पना तथा सर्वात्मवाद के विचार भी इस्लाम को इसी मत से मिले। यह प्रभाव नवी सदी में पड़ा, जब यूनानी पुस्तको का अनुवाद अरबी में किया जाने लगा था। तसव्वुफ पर सबसे अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का ही माना जाना चाहिए, क्योंकि यह दुहरा था, अर्थात् एक तो यूनान के माध्यम से दूसरे सीधे हिन्दुस्तान से जानेवाले हिन्दू और बौद्ध सन्तो एवं पण्डितो के द्वारा।[3]

---

१ श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ

२ 'इकबाल ऐज ए थिंकर' में डाक्टर खलीफा अब्दुल हकीम ने तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव मानने में अगा-पीछा किया है। यह विचित्र बात है कि मुस्लिम विद्वानों को यूनानी प्रभाव मानने मे कोई हिचक नही होती, किन्तु, भारतीय प्रभाव को स्वीकृत करने में वे हिचकने लगते हैं। इन पक्तियो के लेखक की मुलाकात सन् १९५५ ई में अरब के बृहस्पति डाक्टर ताहा हुसेन से कैरो मे हुई थी। लेखक ने जब यह कहा कि भारत मे ईरान के रहस्यवाद का अच्छा बोलबाला रहा, तब ताहा हुसेन बोल उठे, "लेकिन यह चीज तो पहले भारत से ही अरब और ईरान पहुँची थी। इसलिए, तसव्वुफ जब ईरान से भारत गया, तब वह अपने ही घर लौटा था।"

३ रावलिसन ने लिखा है कि जब अलेकजेंड्रिया व्यापार का केन्द्र थी, तब वहाँ भारतीय और यूरोपीय व्यापारियो का पूरा मिलन होता था। इसी नगर में, अभिनव-अफलातूनी मतवाले यूनानी और भारतीय बौद्ध आपस में विचार-विनिमय करते थे। इस प्रकार, हिन्दू और बौद्ध विचारो का प्रभाव ईसाइयत पर पड़ा। इस नगर का पतन ६४२ ई० में हुआ और तब व्यापार के केन्द्र ईरान मे आ गये। ईरान में ही ज्योतिष, गणित और वैद्यक की भारतीय पुस्तके अरबी और फारसी मे

वेदान्त के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण के वजन पर ही सूफियो ने फना की कल्पना निकाली और बुद्ध का आष्टागिक मार्ग ही उनका "तरीका या सलूक" हुआ। इसी प्रकार, सूफियो ने भारतीय योग को "भराकबा" कह कर अपनाया एव भारतीय योगियो के चमत्कार ही सूफियो के यहाँ करामात या मोजजा कहलाने लगे। सूफियो के बीच स्वच्छता, पवित्रता, सत्य और अपरिग्रह पर जो इतना जोर है तथा उनमें माला जपने की जो प्रथा है, उन सब के पीछे शुद्ध भारतीय सस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। इस सबध में सबसे पक्षपात-रहित मत प्रोफेसर हुमायूँ कबीर का है जिन्होने अपनी पुस्तक, "आवर हेरिटेज" मे लिखा है कि "सूफी-मत का आधार कुरान मे था, किन्तु, भारतीय विचार-धारा का इस पर अत्यन्त गभीर प्रभाव पडा है। इसके विकास मे योगदान ईसाइयत, अभिनव-अफलातूनी मत, जरथुस्त्री मत और मैनिज्म से भी मिला। किन्तु, बाह्य प्रभावों में से सबसे बडा प्रभाव हिन्दू-धर्म एवं बौद्ध दर्शन से ही आया है।" अन्यथा और कौन उपाय है जिससे इस शका का समाधान किया जा सके कि हज़रत मूसा के समय से सभी सामी धर्मों मे ईश्वर और जीव के अलग-अलग होने की जो सुनिश्चित परपरा चली आ रही थी, उसके विरुद्ध सूफी-मत व्यक्ति को ब्रह्म मे विलीन करने पर उतना अधिक जोर क्यो देने लगा?

इस प्रसग को और भी अधिक सुस्पष्टता से सर चार्ल्स इलियट ने उपस्थित किया है।[1] उनका विचार है कि अभिनव-अफलातूनी मत के प्रभाव से तसव्वुफ का उद्भव मानना न्यायसगत नही है।[2] मोहम्मद साहब के बहुत पहले से अरब, बगदाद और बलख का भारतवर्ष से गहरा सपर्क था। इसलिए, भारत का चिन्तन इस भूभाग में काफी प्रचलित रहा होगा। इलियट की सबसे बडी आपत्ति यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच एकता तथा जीव का यह दावा करने का भाव कि मैं ब्रह्म हूँ, किसी भी प्रकार अभिनव-अफलातूनी मत में नही खोजा जा सकता। किन्तु, यह भारतीय वेदान्त के लिए साधारण-सी बात थी। सूफी-मत, आरभ मे, मद्धिम था, किन्तु, बाद में वह बहुत निर्भीक हो उठा। यह निर्भीकता सीधे हिन्दू-धर्म से आयी होगी। मसूर सन् ९२२ ई में "अनलहक" पुकारने के अपराध मे फाँसी चढा था और यह प्रमाणित बात है कि वह योग सीखने को भारत आया था। उसके बाद भी अनेक सूफी सत ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से

अनूदित हुई और, अनूदित रूप मे ही, वे कारडोवा (स्पेन) पहुँची, जहाँ से यूरोप के मध्यकालीन विद्यापीठो मे उनका प्रचार हुआ।

१. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म—तीसरी जिल्द
२. इस्लामी सूफीवाद पर अभिनव-अफलातूनी मत का प्रभाव है, यह मतवाद, विशेषत, ई० जी० ब्राउन ('लिटररी हिस्ट्री ऑव पर्सिया' मे) और आर० ए० निकोलसन ने (सेलेक्टेड पोयम्स फ्राम द दीवान आव् शम्स-तबरेज में) फैलाया है। सर चार्ल्स इलियट इसे गलत मानते हैं।

भारत आये थे अथवा भारत के इतने समीप पहुँचे थे जहाँ उन्हे भारतीय ज्ञान और योग के गुरु मिल सकते थे। फरीदुद्दीन अत्तार हिन्दुस्तान भी आये थे और तुर्किस्तान भी गये थे। जलाल उद्दीन रूमी का जन्म बलख मे हुआ था, जहाँ एक समय बौद्ध मत का प्रधान केन्द्र था। सूफी कवि शेख सादी बलख, गजनी, पजाब और गुजरात मे घूमे हुए थे। दक्षिण के सुलतान मुहम्मद बहमनी ने हाफिज़ को भारत आने का निमन्त्रण दिया था। जहाज के बर्बाद हो जाने से हाफिज भारत की यात्रा तो पूरी नही कर सके, किन्तु भारतीय विचारो से उनका भी अच्छा सपर्क था। इन सारी बातो से यह अनुमान अनायास निकल आता है कि अरब और ईरान मे उन दिनो यह साधारण विश्वास था कि ज्ञान और योग की शिक्षा लेने के लिए भारत जाना आवश्यक है। और जो लोग भारत नही आ सकते थे, उनके भी कान भारतीय ज्ञान के लिए अवश्य खुले रहते होंगे और वे भी पुस्तको के द्वारा भारत का ज्ञान अवश्य प्राप्त करते होंगे।

सूफियों के विश्वास

डाक्टर बुकेट[1] ने, "डिक्शनरी ऑव् इस्लाम" के आधार पर सूफी-मत के विश्वासो की जो सूची दी है, वह इस प्रकार है :—

१ अस्तित्व केवल परमात्मा का है, वह प्रत्येक वस्तु मे है और प्रत्येक वस्तु परमात्मा मे है।

२ दुनिया की हर चीज परमात्मा से निकलती है और परमात्मा के बिना किसी भी वस्तु का कोई अस्तित्व नही है।

३ सभी धर्म व्यर्थ है। हाँ, उनका एक उपयोग है कि वे एक ही सत्य की ओर इगित करते है। इनमे से सबसे उपयोगी धर्म इस्लाम है जिसका सच्चा दर्शन सूफी-मत का दर्शन है।

४ पुण्य और पाप मे कोई भेद नही है, क्योकि दोनो की सृष्टि परमात्मा ने ही की है।

५ मनुष्य के सकल्पो की प्रेरणा और निश्चयन परमात्मा करता है, अतएव, मनुष्य अपने कर्मो मे स्वाधीन नही है।

६ आत्मा शरीर के पिजडे मे कैद है, किन्तु, पिजड़ा पीछे बना और पक्षी (आत्मा) पहले से ही मौजूद रहा है। पिजडे के टूटे बिना पक्षी स्वाधीन नही हो सकता। अतएव, मृत्यु काम्य है, क्योकि मृत्यु के बाद ही आत्मा परमात्मा को प्राप्त करती है।

७ सूफी का मुख्य कर्त्तव्य ध्यान और समाधि है, प्रार्थना और नाम-स्मरण है। इन्ही तरीको से वह परमात्मा-मिलन की राह पर अग्रसर होता है।

---

१ Comparative Religion.

डाक्टर खलीफा अब्दुल हकीम[1] ने सूफी-मत के जो लक्षण बताये हैं, वे इस प्रकार हैं —

१ सारी वास्तविकता एक है अर्थात् ससार में हम जो कुछ भी देखते हैं, वह एक ही सत्ता का विस्तार है। प्रकृति के सभी रूप एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं।

२ जैसे सभी चीजे एक ही तत्त्व से निकली है, वैसे ही, ये सब-की-सब उसी तत्त्वमे लौट जाने को बेकरार हैं।

३ सत्य का ज्ञान बुद्धि से भी हो सकता है यदि बुद्धि खडित या पक्षपातयुक्त न हो। किन्तु, तर्क उसमे सहायक नही हो सकता। तर्क से वास्तविकता का सारा ज्ञान नही होता है। वास्तविकता के सपूर्ण ज्ञान के लिए बुद्धि की अपेक्षा भावना और अनुभूति अधिक विश्वसनीय है।

४ मनुष्य-जीवन का असली लक्ष्य यह है कि धार्मिक अनुभूतियो के द्वारा मनुष्य अन्तिम सत्य का साक्षात्कार करे और उस सत्य के साथ एकाकार हो जाय।

५ यह धार्मिक अनुभूति ही प्रेम है। प्रेम के भीतर, स्वाभाविक रूप से, सत्य का ज्ञान निहित रहता है।

६ सभी धार्मिकता और ऊँची नैतिकता का आधार प्रेम है। प्रेम के विना धर्म और नीति, दोनो निर्जीव हो जाते हैं। प्रेम के प्रकाश के विना बुद्धि भी अधकार में भटकती रहती है।

सूफी साधक ईश्वर को निराकार भी मानते हैं और साकार भी। वे ईश्वर को मनुष्य की आत्मा और मानव-जीवन को उस आत्मा का आवरण मानते हैं। प्राय, प्रत्येक साधक ईश्वर की कल्पना परम सुन्दरी नारी के रूप में करता है जिस पर वह आसक्त होना चाहता है। सूफी-मत मे परमेश्वर साकार सौंदर्य है और साधक साकार प्रेम। इस सवध की व्याख्या इकवाल के एक शेर में बडी ही सफाई के साथ हुई है, जिसमे साधक परमेश्वर से कहता है कि "यह भी कैसी स्थिति है कि सौंदर्य भी पर्दे मे छिपा हुआ है और प्रेम भी आवरण के नीचे है। या तो खुद तू ही पर्दे से वाहर आ जा, या फिर मेरे ही ऊपर का आवरण हटा दे।"[2] यह पुरुष-साधको की वात है। किन्तु, सूफी-सप्रदाय में साधिकाएँ भी हुई हैं, जो परमात्मा को अपना पति समझती थी। इनमें से, बसरे की रबिया नाम की साधिका बहुत प्रसिद्ध हुई। इनका देहान्त जेरुसलेम में सन् ७५३ ई० में हुआ, ऐसा कहा जाता है। सूफी-मत मे विचारोकी जो स्वाधीनता थी, उसका प्रमाण रविया के वचनो मे भी मिलता है। कहते है, एक वार उन्होंने कहा था कि "मेरा

---

१ Iqbal, As A Thinker.

२. हुस्न भी हो हिजाव मे, इश्क भी हो हिजाव में,
या खुद आशकार हो, या मुझे आशकार कर। (बाले-जिवरील)

हृदय परमात्मा के प्रेम से ऐसा लबालब भर गया है कि उसमें नबी के भी प्रेम के लिए जगह नही रही, फिर शतान के प्रति घृणा की तो बात ही क्या है।" बरजाख की लबी अवधि की कल्पना से घबरा कर वे कहती है, "अय मेरी आत्मा! तू कभी नही जगने की आशा में कब तक सोती रहेगी और कब सूर की आवाज सुन कर तू कयामत का सामना करने को खडी होगी।"[१]

सौंदर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति, यह सूफी-मत के सिद्धान्तो का निचोड़ है। इसी प्रेम की सिद्धि के लिए सूफियो ने इश्के-मजाजी की भी छूट दी, क्योकि इश्के-मजाजी से भी इश्के-हकीकी हासिल हो सकता है। वैसे, सूफी-मत यती-वृत्ति, वैराग्य-साधना, योग और सयम, सब पर जोर देता है।

सौन्दर्य और प्रेम के बाद सूफियो मे सगीत की प्रधानता है, क्योकि सगीत मे मन को केन्द्रित करके उसे ऊपर ले जाने की शक्ति होती है। उसका उपयोग सूफी सन्त समाधि की सुगमता के लिए किया करते है।

मनुष्य के सीमित गुणो को सूफी "नासूत" कहते है और भगवान की निस्सीमता को "लाहूत"। इसी प्रकार, जब तक मनुष्य मोक्ष अथवा ईश्वर-मिलन से दूर है, तब तक उसकी स्थिति "बका" की स्थिति समझी जाती है तथा जब वह मोक्ष अथवा ब्रह्म-मिलन को प्राप्त करता है, तब वह "फना" (विनाश, नि शेषता या निर्वाण) की स्थिति मे पहुँच जाता है। सूफियो के दो सप्रदाय है जिनमे से एक तो यह मानता है कि सृष्टि का उपादान-कारण प्रकाश है और दूसरा यह कि सृष्टि विचार से निकली है। सूफियो मे एक संप्रदाय और है जो हुलूल (अवतारवाद), इम्तिजाज (अभावतारवाद) और नस्खे-अरवा यानी आत्मा के आवागमन मे विश्वास करता है।

सूफियो का उद्देश्य वस्ल यानी मिलन अथवा फना यानी ब्रह्म-मिलन और निर्वाण है। किन्तु, इस मार्ग पर चलने के लिए सूफी-मत मे गुरु का होना आवश्यक माना गया है। गुरु (पीर या शेख) की पूजा का तसव्वुफ मे इतना महत्त्व है कि जिसने किसी सन्त को अपना पीर नही बनाया, उसके बारे मे यह समझा जाता है कि उसका गुरु शैतान है। पीर और मुर्शिद (शिष्य) के सबध के बिना सूफियो मे साधना का कोई अस्तित्व ही नही है।

मौलिक इस्लाम से भेद

सूफी-मत के उद्गम-बिंदु चाहे अन्य धर्मो में भी रहे हो, किन्तु, सप्रदाय के रूप मे उसका सगठन इस्लामी देशो में ही हुआ। अरब के नगरो मे यहूदी-मत, ईसाइयत, हिन्दुत्व, बौद्ध मत और इस्लाम, इन सब धर्मो का मिलन हुआ था। ईरान मे इस्लाम का सपर्क जरथुस्त्रवाद से भी हुआ। सूफी-मत इन सब का समन्वय या योग तो नही कहा

---

१ Influence of Islam on Indian Culture

जा सकता, किन्तु, उस पर इन सब का कुछ-न-कुछ प्रभाव था। वह ऐसा मत था जो सम्प्रदायगत होकर भी असाम्प्रदायिक हो गया। उसने नबी की अवज्ञा की, कुरान की अवज्ञा की और उस घाट से उमड कर बाहर फैलने लगा जिसमे इस्लाम को समेट रखने की आशा की गयी थी। सगीत को नबी ने प्रश्रय नही दिया था, किन्तु, सूफी-मत सगीत को अपना साधन मानने लगा। यो भी, औसत सूफी कवि ही हुआ करते थे और कवियो को कुरान ने कोई अच्छा स्थान नही दिया है, जिसके पीछे अफलातून का असर रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। अतएव, सूफी सन्त और महात्मा काजियो और मुल्लाओ की नजर मे काफिर समझे जाने लगे और उन्हे प्राण-दड देने की प्रथा-सी चल पडी। ईश्वर प्रेम के कारण शहीद होने वाले सूफी सन्तो मे मसूर-अल-हल्लाज का नाम बडा प्रसिद्ध है। उमग में आकर उन्होने अनलहक (अह ब्रह्मास्मि) का नारा दिया और, बदले मे, सुन्नी हुकूमत ने उनकी गरदन उडा दी।[1] इसी प्रकार, भारतवर्ष मे सरमद नामक एक सूफी सन्त को औरगजेब ने मरवा डाला क्योकि वे भी ईश्वर से एकाकार होने को अपना ध्येय मानते थे। अजब नही कि इन उत्पीडनो से बचने की कोशिश में अरब और ईरान के सूफी, बहुत पहले से ही, भारत आते रहे हो। मुहम्मद गजनी के आक्रमण के बाद से तो इस देश मे उनका आना बिलकुल साधारण बात हो गयी।

भारतवर्ष में सूफियो के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध है जिनके कारण इस देश पर सूफी-मत का व्यापक प्रभाव पडा है। पहला सम्प्रदाय सुहरावर्दिया कहलाता है जिसके प्रवर्तक सत जियाउद्दीन (१२ वी सदी) थे। दूसरा सम्प्रदाय चिश्तिया कहलाता है जिसका प्रवर्तन हजरत अबद अब्दुल्ला चिश्ती ने किया था। ये गोरी की सेना के साथ भारत आये थे और अजमेर में रहते थे। निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरू और मलिक मुहम्मद जायसी इन्ही की परपरा मे थे। कादिरिया-सम्प्रदाय के प्रवर्तक शेख अब्दुल कादिर जिलानी (१३ वी सदी) माने जाते है जो बगदाद में रहते थे और नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय के अग्रणी ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द थे, जो तुर्किस्तान मे रहते थे। शाहजहाँ का साधु पुत्र दारा-शिकोह कादिरिया-सम्प्रदाय मे दीक्षित था तथा बिहार में सूफी-मत का प्रचार करनेवाले फकीर मखदुमशाह भी इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[2]

---

१ इकबाल मानते है कि पूर्ण मनुष्य वह है जो परमात्मा के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचा हुआ है। निकट आने पर (यानी अपने भीतर ईश्वरत्व का अधिकाधिक विकास करने पर) मनुष्य परमात्मा के अस्तित्व मे विलीन नही होता, प्रत्युत, परमात्मा ही उसके भीतर विलीन हो जाता है। इकबाल ने दिखलाया है कि मौलाना रूमी भी इसी विचार के पोषक थे। इकबाल का निम्नलिखित शेर इसी भाव का द्योतक है जिस पर मुल्लाओ का आज भी अच्छा विचार नही है।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता, तेरी रजा क्या है।

२ उत्तर भारत की सत-परपरा

प्रकरण ३

मुस्लिम-आक्रमण और हिन्दू-समाज

अचरज की बातें

मुसलमानी आक्रमण के वाद भारतवर्ष पहले-पहल पराधीन हुआ और पहले-पहल इस देश पर ऐसे लोगो का आधिपत्य हो गया जो यहाँ के धर्म से अपने धर्म को एकाकार करना नही चाहते थे, वल्कि, जिनकी कोशिश थी कि भारतीय जनता ही अपना धर्म छोड़ कर मुसलमान हो जाय। सिन्ध पर मुसलमानो का अधिकार सन् ७१२ ई० मे ही हो गया था। मुहम्मद गोरी ने दिल्ली को सन् ११९२ ई० मे जीता। इस प्रकार, हिन्दुओं को और नही तो चार-पाँच सौ साल की चेतावनी तो मिल ही गयी थी। फिर इस देश ने मुसलमानी आक्रमण से वचने की तैयारी क्यो नही की ?

दूसरा आश्चर्य यह है कि भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की पराजय सन् ११९२ ई० मे हुई, काशी का पतन सन् ११९४ ई० मे हुआ और सन् ११९६-९७ मे वगाल मुसलमानो के अधीन हो गया। पेशावर से लेकर वगाल तक की विजय आठ-दस साल मे पूरी हो गयी, यह वात समझ लेने पर भी, ठीक से, समझ मे नही आती है। उन दिनो रेल और वायुयान नही थे और सडके भी थोडी और खराव ही रही होंगी। इस पर भी तुर्रा यह है कि मुस्लिम आक्रामक दो-चार लाख फौज लेकर हिन्दुस्तान मे नही आते थे। वावर सिर्फ वारह हजार आदमी लेकर हिन्दुस्तान आया था। सन् ११९९ ई० में वख्तियार खिलजी ने (उदतपुरी, विहार शरीफ) पर चढ़ाई केवल दो सौ सवारो को लेकर की थी। और "वगाल के इतिहास के वारे मे मुस्लिम लेखको की चलायी हुई यह कहानी प्रसिद्ध है कि सिर्फ अठारह सवारो के साथ, जिन्हे लोग घोडे वेचने वाले समझते रहे, वख्तियार के वेटे ने नदिया के राजमहल के रक्षको पर एकाएक हमला कर दिया और राजा लक्ष्मण सेन महल के दूसरी तरफ से भाग निकला।" (जयचद्र)। जहाँ ऐसा नही हुआ, वहाँ भी मुस्लिम फौजे वडी तायदाद मे नही आयी थी।

तो राजाओ ने, जगह-जगह, उनका सामना क्यो नही किया ? अथवा जनता ने ही। स्थान-स्थान पर, उन्हे वाधा क्यो नही पहुँचायी ? क्या दिल्ली से मुर्शिदावाद तक कोई सुरग थी जिसके भीतर से आक्रामको की सेना छिप कर निकल जाती थी ? मुट्ठी भर मुसलमान आदमियो के इस विशाल जगल को आनन-फानन जीत कर उस पर राज्य करने लगे, इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि इस देश के लोगो ने उनका सामना नही किया।

हिन्दू हारे क्यों ?

हिन्दुओ की पराजय का कारण बतलाते हुए, अक्सर, कहा जाता है कि हिन्दू इसलिए हारे कि वे गर्म देश में रहते थे और मास खाना उन्होने छोड दिया था। इसके विपरीत, मुसलमान ठडे देश से आये थे और मासाहारी होने के कारण उनमें शारीरिक शक्ति भरपूर थी। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि युद्ध मे हिन्दू अपने लस्टम-पस्टम हाथियो का भरोसा रखते थे जो फुर्तीले घुडसवारो के मुकाबिले मे निकम्मे निकलते थे। श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने 'इतिहास-प्रवेश' मे इन दोनो ही बातो का खडन किया है और यह बताया है कि शाकाहार और हाथी, इन्हे बदनाम करना व्यर्थ है। **हिन्दुओ की पराजय इसलिए हुई कि उनका राजनैतिक जीवन मन्द हो गया था।**

असल मे, पतन तो इस देश का हर्षवर्द्धन के बाद ही आरभ हो गया था, क्योकि उसके बाद, चक्रवर्त्ती सम्राट के पद पर भारत मे कोई राजा नही बैठ सका। केन्द्र की शक्ति टूट गयी और कोई किसी का रोकनेवाला न रहा। परिणाम यह हुआ कि सारे देश मे छोटे-छोटे राज्य उठ खडे हुए और वे, आपस मे ही, युद्ध करने को अपना परम कर्त्तव्य मानने लगे। अपना राज्य और अपनी राजधानी राजाओ को इतनी प्यारी हो उठी कि देश का अस्तित्त्व ही वे भूल बैठे। आज भी, कमजोर प्रजातत्री देशो में जब कोई व्यक्ति या दल स्थापित सरकार को नही चाहता है, तब वह एक विचित्र प्रकार की दलील देता है। "हम देश की रक्षा क्यो करे ? यह किसका देश है ? मेरा या उनका ? पहले यह फैसला हो जाय कि यह मेरा देश है, तब मै इसकी रक्षा के लिए काम करूँगा।" तत्कालीन राजाओ के भी कुछ ऐसे ही भाव थे। भारत का अर्थ उनका अपना राज्य था। फिर, वे राज्य से बाहर जाकर क्यो लडते ? बाहर तो उनका अपना नही, किसी दूसरे राजा का राज्य पडता था।

प्राय, प्रत्येक राजा को प्रत्येक दूसरे राजा से कुछ न कुछ शिकायत थी, जिसके कारण, कोई भी चार राजे एक राजा का साथ देने को तयार नही थे। पृथ्वीराज और राणा साँगा को कुछ राजाओ का जो सहयोग प्राप्त हो गया था, उसे हिन्दू-स्वभाव के अपवाद का ही उदाहरण समझना चाहिए।

'जय सोमनाथ' नामक उपन्यास में श्री क० मा० मुन्शी ने लिखा है कि जब गजनी का अमीर सोमनाथ पर चढाई करने चला, तब उसे खबर मिली कि झालोर के राजा वाक्पति राज अगर मित्र न बनाये गये तो वे अमीर की सेना को काफी कष्ट दे सकते हैं। अमीर ने मुलतान के अजयपाल को अपना दूत बनाकर वाक्पतिराज के यहाँ भेजा और उन्हे आश्वासन दिया कि अमीर उनके राज्य पर चढाई करना नही चाहता है। वाक्पति-राज अमीर की बात मान गये और लडाई में तटस्थ रहने का उन्होने वचन भेज दिया। इसके बाद, जब यह निश्चय हुआ कि वल्लभी के राजा भीमदेव के नेतृत्त्व में राजपूत वीर अमीर का डट कर सामना करेंगे और सोमनाथ के मन्दिर को भ्रष्ट नही होने देंगे, तब

भीमदेव ने अपने मंत्री को वाक्पतिराज के यहाँ सहायता की माँग के लिए भेजा। सोमनाथ मंदिर की रक्षा के लिए सहायता की माँग की जाने पर वाक्पतिराज ने कहा—"अभी परसाल की ही बात है कि मैं मारवाड़ पर चढ़ाई करना चाहता था और उसके लिए मैंने भीमदेव से मदद माँगी थी। किन्तु, भीमदेव ने यह कहकर सहायता देने में इन्कार कर दिया कि मारवाड उसका नातेदार है। आज मुझसे वह मदद क्यों माँगता है? अपनी विपद वह आप झेले।"

ठढे देशो के मासाहारी लोग भारत में पहले भी आये थे, किन्तु, उस समय देश में किसी-न-किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता कायम थी और देश की एकता कही-न-कही प्रत्यक्ष खडी थी। इस एकता के रहते हुए, किसकी मजाल थी कि भारत को दास बनाता? आदमी कमजोर पहले होता है, पराजय उसकी बाद को होती है। देश की एकता पहले टूटती है, दासता उस पर बाद को आती है। मुसलमान सिन्ध मे तो बहुत दिनों से बैठे थे और लूटमार के द्वारा वे भारत से कुछ ले भागने के आदी भी रहे थे। किन्तु, देश की एकता में जब तक थोडा भी दम रहा, वे सपूर्ण भारत को जीतने का मसूबा नही बाँध सके। हाँ, जब उन्होने देख लिया कि अब इस देश मे किसी की बात कोई भी मानने को तैयार नही है, सब आपस में ही लड रहे है, सब अपने-अपने राज्य की सीमा को ही भारतवर्ष की सीमा मान बैठे है और भारत की एकता का भाव पूर्ण रूप से लुप्त हो चुका है, तब वे देश पर जोर से चढ आये और बिना किसी दिक्कत के यहाँ के सुलतान बन बैठे। मुसलमानी आक्रमण के समय राजाओ की मनोवृत्ति कैसी थी, इसका भी उदाहरण 'जय सोमनाथ' मे आया है, जहाँ घोघा राणा का प्रपौत्र सामन्त राजा भीमदेव से कहता है कि "चालुक्यराज! ऐसा लगता है कि क्षुद्रबुद्धि और पारस्परिक विरोध मे मस्त अपने राजाओ को मारने के लिए ही भगवान सोमनाथ ने इस अमीर को भेजा है।" एकता जब खिडकी की राह से भाग गयी, तब आजादी को मुख्य द्वार होकर जाना ही था।

राजनैतिक चेतना का अभाव

हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अपनी सीमा के बाहर जाकर लडने की उनके यहाँ परपरा नही थी। "सबसे उत्तम रक्षा यह है कि आक्रामक पर उसके घर मे हमला करो", इस नीति पर हिन्दुओ ने कभी भी अमल नही किया। परिणाम यह हुआ कि रक्षापरक युद्ध लडने की उनकी आदत हो गयी। जब देश मे केन्द्रीय सत्ता कायम थी, यह रक्षा-परक युद्ध देश के लिए लडा जाता था। जब केन्द्र टूट गया, रक्षापरक लड़ाइयाँ अपने क्षुद्र राज्यो के लिए लडी जाने लगी। "राजपूतो की जिस वीरता की बडी प्रशसा की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धो मे ही प्रकट हुई। वह अपना अन्त निकट देख निराश होकर मरने-मारने पर तुले हुए आदमियो की वीरता होती थी। उसमें महात्वाकाक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊँची साध कभी न होती थी

जो मनुष्यों को नयी भूमि खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढाती है। बेशक, कायर बनकर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना भी अच्छा था। किन्तु, वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नही कहा जा सकता था।"[1]

राजे तो ऐसे गये, और प्रजा को यह ज्ञान ही नही था कि यह देश उसका है। उन दिनो देश का जीवन दो तबको मे बँटा हुआ था। एक तबका उनका था जो राजे थे, शासक थे, अमले, कारिन्दे या दरबारी थे। जिन्दगी के असली मजे इन्ही लोगो को नसीब थे। उनमें शिक्षा भी थी, संस्कृति भी और धन-ऐश्वर्य भी। सल्तनत से सरोकार इसी तबके का था। बाकी जनता इस तबके से दूर थी और मेहनत-मजदूरी करके अपना भी पेट पालती थी और इन विलासियो के आराम के लिए भी पैसे देती थी। किन्तु, जैसे ऊपरवाले तबके को इस नीचेवाले तबके के लिए कोई दर्द नही था, वैसे ही, जनता के हृदय मे भी राजाओ के लिए कोई सहानुभूति नही थी। "कोउ नृप होय हमहिं का हानी", यह बात तुलसीदास ने बाद में लिखी। किन्तु, यह भाव यहाँ की जनता मे पहले से ही वर्त्तमान था।

मुसीबत के समय प्रजा राजा का साथ तभी दे सकती है, जब राज्य को वह अपना समझे और राजा के लिए उसके हृदय में आदर और प्यार हो। मुसलमानी आक्रमण के समय हिन्दुस्तान के राजे जुल्मी और प्रजा मजलूम थी। नतीजा यह हुआ कि बाहर से आनेवाले दुश्मनो का विरोध जनता ने नही किया, बल्कि, जनता के आदमी यदा-कदा आक्रामको के साथ हो गये। जब मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर चढाई की, तब दाहिर ने अरब आक्रामको का सामना तो डट कर किया, "किन्तु सिन्ध के इन अन्तिम राजाओ ने अपनी जाट और मेड प्रजा पर बडे जुल्म किये थे। इसलिए, बहुत-से जाटो ने अरबो का साथ दे दिया।" (जयचन्द्र)

देश की जैसी हालत इस समय थी, बहुत-कुछ वैसी ही हालत एक बार फिर उस समय हो गयी, जब मुगल-साम्राज्य टूटने लगा और इस देश में अँगरेज अपना पाँव फैलाने लगे। नवाब वाजिदअली शाह की गिरफ्तारी किस आसानी से कर ली गयी, इसका वर्णन करते हुए प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी (शतरज के खिलाडी) मे लिखा है कि "नवाब वाजिदअली पकड लिये गये और सेना उन्हे अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर मे न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूँद भी खून नही गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश की पराजय इतनी शाति से, इस तरह खून बहाये बिना नही हुई होगी।" जो हाल वाजिदअली शाह की गिरफ्तारी के समय था, वही हाल इस देश की प्रजा और राजा का उस समय रहा होगा, जब यहाँ मुसलमानो का आक्रमण आरभ हुआ।

---

१. इतिहास-प्रवेश

भारतवर्ष मे पचायत की प्रथा बहुत दिनो से चली आ रही थी। गाँवो के लोग स्वावलम्बी और स्वतत्र थे। राज्य से इनका इतना ही सबध था कि जब-तब राजाओं के कारिन्दे कर वसूल करने को पहुँच जाते थे। उन्हे सत्कारपूर्वक विदा कर देने के बाद गाँव फिर अपने-आप मे स्वतत्र हो जाते थे। सर्वत्र शाति थी, सर्वत्र भाग्य का आधार लिये लोग निश्चिन्त जीते थे और गाँव के ऊँच-नीच का निपटारा भी वे आप ही कर लेते थे। स्वायत्त-शासन का प्रेम यहाँ के वासियो के रक्त में था। इसी प्रेम के कारण राजे अपनी स्वाधीनता चाहने लगे थे। इसी प्रेम के कारण प्रांतो की राज्यो से खटपट हो जाती थी।

स्वायत्त-शासन की इस अतिवृद्धि से हानि यह हुई कि हमारी ग्रामीण जनता की दृष्टि सकीर्ण हो गयी और उसने गाँव की दुनिया से बाहर की बड़ी दुनिया मे दिलचस्पी लेना छोड दिया। प्रात या देश के शासन से उसकी कोई दिलचस्पी नही रह गयी और उसने मान लिया कि खेती-बारी और साधारण वाणिज्य-व्यापार तथा धर्म-कर्म के सिवा और कोई प्रश्न नही है जिसकी ओर उसे उन्मुख होना चाहिए। अगर पचायतो को देश के बडे कामो से सबद्ध करने का कोई तरीका निकला होता, अगर अधिकारो को विकेन्द्रित करके जनता में यह भाव जगाया गया होता कि केवल गाँव ही नही, राज्य और सरकार भी जनता के ही सहयोग से चलती है, तो सभव है कि जनता की दृष्टि विशाल होती और वह देश के भाग्य के विषय में उदासीन नही रहती। किन्तु, उस समय इतनी बात कोई सोच भी नही सकता था। राजा के लिए प्रजा आहार थी। अतएव, जब राजाओ को आहार बनानेवाले लोग बाहर से आ गये, जनता ने कोई क्षोभ प्रकट नही किया। बल्कि, वह थके सिपाहियो को बरगद के नीचे बैठा कर पानी पिलाने लगी, गौणत, इसलिए कि राजाओ के बदलने से पचायतो का कुछ भी नही बिगडता था, किन्तु, मुख्यत, इसलिए कि प्यासो को पानी पिलाना धर्म था, चाहे वे शत्रु ही क्यो न हो।

सर्वनाशी अंधविश्वास

धार्मिकता की अति ने देश का विनाश किया, इस अनुमान से भी भागा नही जा सकता। और यह धार्मिकता भी गलत किस्म की धार्मिकता थी जिसका उद्देश्य परम सत्ता की खोज नही, प्रत्युत, यह विचार था कि किसका छुआ हुआ पानी पीना चाहिए और किसका नही, किसका छुआ हुआ खाना खाना चाहिए और किसका नही, किसके स्पर्श से अशुद्ध होने पर आदमी स्नान से पवित्र हो जाता है और किसके स्पर्श से हड्डी तक अपवित्र हो जाती है। बौद्ध धर्म हिन्दुत्व का निर्यात किया जानेवाला रूप बन गया था और बौद्धो की सगति में पहले ब्राह्मण भी विदेश जाते थे। सुमात्रा और जावा में पौराणिक सभ्यता फैलाने को बौद्ध नही, ब्राह्मण ही गये होगे। किन्तु, बौद्ध-ब्राह्मण-सघर्ष के क्रम मे ब्राह्मणो ने विदेश-यात्रा करनेवाले बौद्धो को नीचा दिखाने के लिए धर्मशास्त्रो

मे यह विधान कर दिया कि विदेश जाना पाप है और इस पाप से मनुष्य सदा को पतित बन जाता है। फरिश्ता ने लिखा है कि पश्चिम में अटक हिन्दुओ की अटक बन गया था और उससे आगे जानेवाला हिन्दू पतित समझा जाता था। यह अन्धविश्वास, शायद, सिन्ध पर मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने के बाद प्रचलित हुआ होगा। सिन्ध और उसके आस-पास मुसलमानो की प्रभुता को फैलते देख कर ब्राह्मणो को यह नही सूझा कि राजाओ को इस खतरे से आगाह करे अथवा प्रजा को इस विपत्ति से भिडने के लिए तैयार करे। उलटे, उन्होंने विष्णु-पुराण में कल्कि-अवतार की कथा घुसेड दी और जनता को यह विश्वास दिलाया कि "सिन्धु-तट, दाविकोर्वी, चन्द्रभागा तथा कश्मीर प्रांतो का उपभोग व्रात्य, म्लेच्छ और शूद्र करेंगे। वे अल्प कृपा और बहुत कोप करने वाले होगे। सदा अनृत धर्म मे रुचि रखनेवाले और स्त्री, बालक तथा गायो का वध करनेवाले होगे। तब शबल-ग्राम के विष्णुयश नामक प्रमुख ब्राह्मण के घर मे वासुदेव कल्कि का अवतार होगा और वे सब म्लेच्छो का उच्छेद तथा ब्राह्मण-धर्म की पुन स्थापना करेंगे।"[1]

जो वस्तुएँ परिश्रम और पुरुषार्थ से प्राप्त होती है, उनकी याचना के लिए भी देवी-देवताओ से प्रार्थना करने का अभ्यास हिन्दुओ मे बहुत प्राचीन था। अब जो पुराणो का प्रचार हुआ तो वे देश-रक्षा, जाति-रक्षा और धर्म-रक्षा का भार भी देवताओ पर छोडने लगे।

सिन्ध पर अरब-आक्रमण का वर्णन करते हुए श्री जयचन्द्रजी ने लिखा है कि देवल में एक बडा बौद्ध मन्दिर और विहार था, जिसके शिखर पर ऊँचा झण्डा फहराता था। सिन्धियो को विश्वास था कि उसमे जादू है और जब तक शिखर पर झडा फहराता रहेगा, तब तक देवल नगर को क्षति नही होगी। किन्तु, अरबो ने गुलेल से पत्थर मार कर शिखर को तोड डाला। शिखर के टूटते ही सारी सिन्धी जनता की हिम्मत टूट गयी। अरबो ने देवल के सभी पुरुषो को मार डाला और विहार की सात सौ भिक्षुणियो को बाँदी बना लिया।

सोमनाथ मन्दिर का ध्वस करने के पूर्व भी महमूद गजनी ने अनेक मन्दिरो का विनाश किया था। लेकिन, सोमनाथ मन्दिर के पुजारी इस विश्वास मे थे कि अन्य देवताओ पर सोमनाथ की कृपा नही रहने से ही उनके मन्दिरो का तोडा जाना सभव हुआ है। जब महमूद को यह खबर मिली, उसने ठान लिया कि सोमनाथ को तोडकर वह हिन्दुओ के इस विश्वास को उन्मूलित करेगा कि पत्थर का देवता शक्तिशाली होता है। महमूद सोमनाथ सन् १०२५ ई० की जनवरी में पहुँचा। मन्दिर की रक्षा के लिए सेना आ जुटी थी, लेकिन, हिन्दू इस विश्वास मे आनन्द मना रहे थे कि

१ दे० विष्णु-पुराण, अश ४, अध्याय २४-६८

मुसलमानो का सफाया करने के लिए ही सोमनाथजी ने उन्हे बुलाकर इकट्ठा कर लिया है। सोमनाथजी की रक्षा करने के प्रयास मे कोई ५० हजार हिन्दू मन्दिर के द्वार पर मारे गये और मन्दिर तोडकर महमूद ने कोई दो करोड दीनार की सपत्ति लूट ली।

सुवुक्तगीन और जयपाल शाहि के बीच सन् ९८६ ई० मे जो लडाई हुई, उसमे हिन्दू सेना बडी ही वीरता से लडी थी। कई दिनो तक सघर्ष के बाद भी हिन्दू जब नही थके, तब "हिन्दू सेना जिस चश्मे का पानी पीती थी, तुर्कों ने उसमें शराब मिला दी। हिन्दू सेना शराब से गन्दे हुए सोते का पानी पीने को तैयार न थी, इसलिए, हार मान कर उसने सन्धि कर ली।" (जयचन्द्र)। जात-पाँत, छुआछूत और धर्म के मिथ्या आडम्बरो को हिन्दुओ ने बहुत अधिक महत्त्व देना सीख लिया था। वही आदत उनका काल बन गयी।

महमूद गजनी के समय हिन्दुओ की जो हालत थी, उसका विवरण देते हुए अलबेरूनी ने लिखा है, "मैने कई बार सुना है कि जब (युद्ध मे कैद हुए) हिन्दू दास भाग कर अपने देश और धर्म मे वापस जाते है, तब हिन्दू उन्हे प्रायश्चित्त-रूप मे उपवास करने का आदेश देते है। फिर वे उन्हे गौओ के गोबर, मूत्र और दूध मे नियत दिनों तक दबाये रखते है . फिर वे उन्हे वही मल खिलाते है। मैनें ब्राह्मणो से पूछा कि क्या यह सत्य है। परन्तु, वे इससे इन्कार करते है और कहते है कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त सभव नही है।" (जयचन्द्र)।

ज्यो-ज्यो हिन्दुओ का साहस और पुरुषार्थ घटता जाता था, त्यो-त्यो उनकी ऐंठ बढती जाती थी। उनका धार्मिक सस्कार विकृत हो गया था और वे मानने लगे थे कि ससार मे सबसे तुनुक चीज जनेऊ और जात है, जो एक बार गयी तो फिर वापस नही लायी जा सकती है। फिर भी, हम सबसे श्रेष्ठ है, इस अहकार की उनमे वृद्धि होती गयी। अलबेरूनी ने यह भी लिखा है कि "हिन्दू लोग समझते हैं कि उनके देश-जैसा दूसरा देश नही, उनके राजाओ-जैसे दूसरे राजे नही, उनके धर्म-जैसा दूसरा धर्म नही और उनके शास्त्रो-जैसा दूसरा शास्त्र नही है। यदि तुम खुरासान और ईरान के शास्त्रो और विद्वानो के सबध में उनसे बात-चीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही नही, मिथ्यावादी भी समझेंगे। वे अगर प्रवास करें और दूसरो से मिलें-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति नही रहेगी, कारण, उनके पूर्वज ऐसे सकुचित विचारो के नही थे।" दु.ख है कि बाहरी लोगो मे इतना मिलने-जुलने के बाद भी हिन्दुओ में ऐसे लोग आज भी बहुत मिलते हैं।

किन्तु, हिन्दू तो देश के बाहर कदम धरना ही पाप समझने लगे थे और केवल ब्राह्मणो ही नही, श्रमणो का भी उनके पतन-काल में यही हाल था। यह लक्षण मुगल-काल मे भी विद्यमान था। अकबर ने सुजानसिंह हाडा को फौज लेकर काबुल के पार जाने को कहा। सुजानसिंह हाडा वीर पुरुष था। विद्रोहियो का तो उसे भय नही हुआ, किन्तु, इस चिन्ता से वह लाचार हो गया कि काबुल के पार जाकर वह फिर अपनी जात

में कैसे रहेगा। निदान, उसने अपने दो बेटो को फौज देकर विद्रोहियो को दवाने को भेज दिया और फिर उनसे सबध-विच्छेद कर लिया, क्योकि, हिंदू-समाज के विश्वास के अनुसार, ये दोनो लडके कावुल जाते ही मुसलमान हो गये, इस्लाम मे दीक्षित चाहे वे भले ही न हुए हो। बच्चे भी क्या करते? उन्हे मुसलमान हो जाना पडा, क्योकि कावुल जाकर वे समाज मे फिर से वापस नही आ सकते थे।

धर्म की बाधा

एक दूसरी विचित्र कहानी "वीर-विनोद"[1] मे मिलती है। कथा यह है कि शेरशाह से हारकर हुमायूँ जब ईरान भाग गया, तब वहाँ के बादशाह ने उसको शरण दी। बादशाह ने एक दिन हुमायूँ से पूछा कि आपने हिन्दुस्तान की वीर-जाति के साथ विवाह-सबध किया है या नही। इस पर हुमायूँ ने भारत की स्थिति बतलायी और यह कहा कि पठान तो हमारे शत्रु हैं और राजपूत हमसे सबध नही करेंगे। किन्तु, यह बात हुमायूँ के मन में अटक गयी। अत, मरने के पूर्व, उसने अकबर को आदेश दिया कि वह राजपूतो को अपना मित्र बनाने के लिए उनके साथ विवाह-सबध करने की चेष्टा अवश्य करे। हुमायूँ के इसी वसीयतनामे के अनुसार, अकबर ने राजपूत सरदारो से कहा कि वे अपनी बेटियाँ शाही खान्दान मे ब्याहे और शाही खान्दान की बेटियाँ अपने यहाँ ले। किन्तु, अकबर का यह प्रस्ताव राजपूतो के गले नही उतरा। वे घबरा गये कि अगर एक मुसलमानिन घर मे आ गयी तो, शास्त्रानुसार, सारे खान्दान का धर्म भ्रष्ट हो जायगा और सब-के-सब मुसलमान हो जायेंगे। इसलिए, आपस में सोच-विचार कर उन्होने यह निश्चय किया कि हम अपनी बेटी शाही खान्दान में भले ब्याह दें, किन्तु, शाही खान्दान की बेटी को अपने यहाँ नही लायेंगे।[2] यह बात राजपूतो ने इसलिए स्वीकार

---

१ राजपूताने का यह इतिहास कविवर श्यामलदास ने महाराणा उदयपुर की आज्ञा से १९वी सदी में लिखा था। यह पुस्तक प्रकाशित है और पाँच जिल्दो मे है।

२ "आम राजपूत लोगो में इस बात का जिक्र इस तौर पर है कि हुमायूँ बादशाह की वसीयत के मुवाफिक बादशाह अकबर ने राजपूतो से कहा कि हमारे रिश्तेदार तो तुर्किस्तान में दूर रहते हैं और हम बडे खान्दानो के सिवा रिश्तेदारी नही कर सकते। तुम लोग हिन्दुस्तान मे बडे इज्जतदार और पुराने खान्दानी हो, इसलिए, हमारी बेटियो के साथ शादी करना कबूल करो। जिस पर राजपूतो ने सोच-विचार कर कहा कि आपकी बेटियाँ तो हमारी सरदार हैं जिनके साथ शादी करना बेअदबी मे दाखिल होगा और अपनी बेटियाँ हम लोग आपको ब्याह देंगे। इन लोगो का इस बात से यह मतलब था कि बादशाहो की बेटियाँ हमारे घरो में आयी तो उनके बडप्पन से परहेज मे खलल आकर मुसलमान होना पडेगा। और हमारी बेटी बादशाह के घर म गयी तो ज्यादा अदेशे की बात नही है। इसलिए, राजा भारमल्ल (बिहारी-मल्ल) कछवाहे ने सबसे अव्वल अपनी बेटी बादशाह को दी।" (वीर-विनोद द्वितीय भाग; खड १, पृष्ठ १५० की पाद-टिप्पणी से)।

की कि ब्याही हुई बेटियो को शाही महल से बुलाकर वे फिर कभी अपने घर नही ले जानेवाले थे।

"वीर-विनोद" की यह कहानी सच है या झूठ, इस बात की अभी परीक्षा नही हुई है। किन्तु, अनुमान होता है कि इस तरह की कोई बात हुई होगी। मोहम्मद हुसेन आजाद ने "दरबारे-अकबरी" के पृष्ठ ६१ और ६२ पर लिखा है कि "जब हुमायूँ ईरान गया और शाह तहमास्प से उसकी मुलाकात हुई, तब एक दिन दोनो बादशाह शिकार को निकले। वहाँ एक जगह बैठने पर हुमायूँ का पैर नगी जमीन पर पड गया। इसे देखते ही उसके साथ के एक हिन्दुस्तानी सरदार ने अपनी पगडी फाड कर उसका टुकड़ा हुमायूँ के पाँव के नीचे फैला दिया। इसका शाह तहमास्प पर बडा असर हुआ। उन्होने पूछा कि बिरादर हुमायूँ! तुम्हारे साथ ऐसे जाँ-निसार, नमक-हलाल लोग थे, फिर, मुल्क तुम्हारे हाथ से कैसे निकल गया? बादशाह ने कहा कि भाइयो के हसद और अदावत ने काम खराब कर दिया। इस पर, बादशाह तहमास्प ने कहा कि हिन्दुस्तान मे दो फिरके के लोग बहुत है—एक अफ़गान और दूसरे राजपूत। खुदा की मदद शामिल-हाल हो, तो अबकी दफा वहाँ पहुँचो तो अफ़गानो को तिजारत मे डाल दो और राजपूतो को दिलासा व मुहब्बत के साथ शरीके-हाल करो।"

मोहम्मद हुसेन आजाद ने यह किस्सा अकबर-कालीन ग्रन्थ "मआसिरुल-उमरा" से लिया है। इस कथा मे राजपूतो के साथ ब्याह-शादी की बात नही आती। किन्तु, इससे इस अनुमान का आधार मजबूत होता है कि हुमायूँ ने अकबर के लिए जो वसीयत छोडी थी, उसमे राजपूतो से मेल-जोल बढाने की कोई बात जरूर रही होगी और इस विचार पर हुमायूँ इसलिए आया होगा कि ईरान के बादशाह ने उसे ऐसी सलाह दी थी।

अकबर ने जब बिहारीमल्ल कछवाहे की बेटी से ब्याह किया, उस समय, उसका राज्य बहुत छोटा था, उसकी शक्ति बहुत सीमित और उसकी उम्र भी अठारह-उन्नीस के करीब थी। तो क्या उसने राजपूतो को नीचा दिखाने को यह ब्याह किया था? और क्या उसके मन में यह बात आयी ही नही कि ऐसे ब्याह के विरुद्ध राजपूतो का क्रोध उबल सकता है? इस विवाह के विरुद्ध राजपूती क्रोध नही उबला। अकबर के बाद जहाँगीर ने भी राजपूत युवती से विवाह किया जो राजा भगवान दास की बेटी थी। इससे अनुमान होता है कि विवाह के पूर्व ही राजपूतो की भावना शात कर दी गयी थी, वे निरुत्तर बना दिये गये थे। यह भी बडी विचित्र बात है कि हुमायूँ की बहन गुलबदन बेगम, शाहजहाँ की बेटी जहाँआरा और औरगजेब की बेटी जेबुन्निसा, ये शहजादियाँ आजीवन क्वाँरी रह गयी। कही यह, सचमुच ही, मुगलो और अफ़गानो के बीच की खटपट और राजपूतो की धार्मिक कुठा का परिणाम तो न था?

जाति से बड़ी जात

यदि भारत मे मुसलमानी अत्याचार भयानक रहा, तो तत्कालीन राजपूती वीरता की कहानी भी कुछ कम लोमहर्षक नही है। कम-से-कम, राजपूतो के प्रसग मे तो यह कहा ही जा सकता है कि वे तुर्कों की तलवार को कुछ नही समझते थे। और सच भी यही है कि मुसलमान तलवार के जोर से नही वढे, भारतवासियो ने उनका सामना ही नही किया। इसी प्रकार, इस्लाम भारत में केवल खड्ग-बल से नही फैला। हिन्दू-समाज मे वेद-विरोधी आन्दोलन इस्लाम के उदय से, कम-से-कम, एक हजार वर्ष पहले ही छिड चुका था और वहुत-से लोग वेद, ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठानो मे विश्वास खो चुके थे। धर्म-परिवर्तन के अधिक आसान शिकार ये ही लोग हुए। इस्लाम ने वहुत-से ऐसे लोगो को भी अपने वृत्त में खीच लिया जो अछूत होने के कारण अपमानित हो रहे थे। और वहुत-से लोग इसलिए भी मुसलमान हो गये, चूँकि प्रायश्चित्त के नियम हिन्दुओ के यहाँ थे ही नही। हिन्दुत्व छुई-मुई-सा नाजुक धर्म हो गया था। इसलिए, गाँव के कुएँ मे अगर मुसलमान पानी डाल देते तो सारा गाँव, स्वत, मुसलमान हो जाता और शास्त्रो के प्रहरियो को यह सूझता ही नही कि पानी के समान मनुष्य भी शुद्ध किया जा सकता है। आक्रमण के रास्ते मे गाय पड जाती तो हिन्दुओ की, स्वत, पराजय हो जाती थी। फौज की जद मे अगर मन्दिर पड जाते तो हिन्दुओ को कँपकँपी छूटने लगती थी।

जात-पाँत-तोडक मडल के कार्याध्यक्ष श्री सन्तराम ने लिखा है कि मौलाना मुहम्मद काजिम मुरादावादी के इतिहास मे इस बात का उल्लेख है कि तेरहवी सदी मे रतनजू नामक एक व्यक्ति (जो, शायद, हूण या शक खान्दान का था) कश्मीर के राजा सहदेव की राजसभा में किसी ऊँचे पद पर काम करता था। हिन्दू-धर्म पर उसकी असीम श्रद्धा थी और वह हिन्दू होना चाहता था। किन्तु, पडितो ने उसे, किसी भी प्रकार, हिन्दू वनने नही दिया, क्योकि यह वात ही अकल्पनीय थी। निदान, वह मुसलमान हो गया और उसके मरने के वाद उसका वेटा शाह मीर सहदेव को मार कर स्वय राजा वन वैठा। जिन ब्राह्मणो ने रतनजू को हिन्दू वनने नही दिया था, उन सवको शाह मीर ने वोरो में वन्द करवा के झेलम मे डाल दिया। "श्रीनगर मे जहाँ ये लोग डुवोये गये थे, वह स्थान आज भी 'वट-मजार' के नाम से प्रसिद्ध है।"

वगाल मे जिस "काला पहाड" नामक प्रतापी मुसलमान ने असख्य वगाली हिन्दुओ को मुसलमान वनाया, वह स्वय पहले हिन्दू था एव ब्राह्मणो के अत्याचारो से वहुत ऊब कर ही वह मुसलमान हुआ था और मुसलमान होने के वाद उसने वही किया जो स्वाभिमानी पुरुष को करना चाहिए।

धार्मिक विश्वासो की विकृति के साथ हिन्दुओ की दूसरी कमजोरी उनका जात-पाँत मे वँटा रहना था। विपत्तिमे यदि वैश्य है तो राजपूत उसकी मदद नही करेंगे और विपत्ति

मे यदि एक गोत्र का ब्राह्मण है, तो दूसरे गोत्रवाला ब्राह्मण अलग खड़ा रहेगा। यह स्वभाव हिन्दुओ का पहले भी था और, कहीं-कहीं, आज भी है। हिन्दू जनता के ये आपसी द्वेष ऐसे प्रौढ है कि उनकी कहावतें बनी हुई है।[1] ये कहावते विनोद या मनबहलाव की चीजे नहीं है, बल्कि, यहाँ, उनके अनुसार आचरण करने का रिवाज भी मौजूद है। जिस देश मे मनुष्य मनुष्य नही होकर ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, कुरमी या कहार समझा जाता हो, जिस देश के लोग अपनी भक्ति और प्रेम पर पहला अधिकार अपनी जात वालो का समझते हो और जिस देश की एक जात के लोग दूसरी जात के विद्वान् को मूर्ख, दानी को कृपण, बली को दुर्बल, सच्चरित्र को दुश्चरित्र और अपनी जाति के मूर्ख को विद्वान् और पापी को पुण्यात्मा समझते हो, उस देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के विषय मे यही कहा जा सकता है कि "रहिबे को आचरज है, गयी तो अचरज कौन ?"

शास्त्रो का अत्याचार केवल इतना ही नही था कि उन्होंने खाने-पीने, चलने-फिरने, मिलने-जुलने और आने-जाने पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे कि उनके अनुसार आदमी की जात, बात की बात मे, चली जाती थी। उनका इससे भी बडा अत्याचार, कदाचित्, यह था कि जाति-भ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति मे मिलाने का उन्होंने कोई उपाय नही निकाला था। मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियो में जाति-भ्रष्ट मनुष्य को जाति में लाने का कोई प्रबन्ध नहीं था। यह प्रबन्ध पहले-पहल "देवल-स्मृति" मे किया गया, जिसमे केवल ९६ श्लोक है और जो, शायद, दसवी शती मे लिखी गयी थी। अनुमान यह है कि सिन्ध-प्रदेश के मुसलमानो के हाथ मे चले जाने के बाद जब पश्चिमोत्तर भारत की जनता धडल्ले से मुसलमान बनायी जाने लगी, तब उसे समाज मे वापस आने की सहूलियत देने के लिए, यह स्मृति आनन-फानन रच दी गयी।[2] किन्तु इस स्मृति का महमूद गजनी के समय व्यापक प्रचार नही हुआ था और उस समय भी, सामान्यत, हिन्दू यही मानते थे कि जिसके शरीर पर मुसलमान के छुए हुए पानी का छींटा पड गया, वह किसी भी प्रकार, हिन्दू नही रह सकता है। अलबेरूनी के विवरण से भी यही निष्कर्ष

---

१ लाला सन्तरामजी ने अपनी एक प्रचार-पुस्तिका में ऐसी कुछ कहावते दी है, जिनमें से कुछ ये है —

१ जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन क्या दरकार ?
२ खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम् जब मित्रम् तब दगीदगा।
३ पीताम्बर छाजो भलो, साबत भलो न ठाट।
और जात शत्रू भली, मित्र भला नहिं जाट ।।

२ इस बात का एक उदाहरण तो हमने अपने समय मे भी देखा कि जो पण्डितगण दयानन्द के कहने से नही चेते, राममोहन राय के कहने से नही चेते, गाँधी और मालवीय के कहने से नही चेते, वे ही नोआखाली की दुर्घटना के समय चिल्ला उठे कि मुसलमानो द्वारा भ्रष्ट की गयी हिन्दू स्त्रियाँ भी हिन्दू ही है, उनका धर्म, ज्यो का त्यो, सुरक्षित है। अतएव, उन्हे समाज में वापस ले लेने में कोई दोष नही है।

निकलता है कि उस समय पतित मनुष्य को जात मे फिर से मिलाने का रिवाज हिन्दुओ के यहाँ नही था। शाही वश का वीर राजा जयपाल जब महमूद गजनी के हाथो कैद हुआ तो कैद से निकलने के बाद उसने समाज मे वापस आना अनुचित समझा और, प्रायश्चित्त-स्वरूप, वह आग मे जलकर मर गया। एक प्रायश्चित्त की प्रथा के प्रचलित न रहने से हिन्दुओ की कितनी हानि हुई, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

ब्राह्मण-बौद्ध-विद्वेष

ब्राह्मणो और बौद्धो का सबध कितना कटु था, यह पहले के एक प्रकरण मे दिखलाया जा चुका है।[1] उनके बीच साँप और नेवले का सबध हो गया था। ब्राह्मणो ने कहावत चला दी थी कि जो व्यक्ति मरते हुए बौद्ध के भी मुख मे पानी देता है, वह नरक मे पडता है। अग, बग, कलिग, सौराष्ट्र और मगध मे जैन और बौद्ध कुछ अधिक थे, अतएव, ब्राह्मणो ने इन प्रातो मे जाने की, धार्मिक तौर पर, मनाही कर दी थी।[2]

यह भी कहा जाता है कि बौद्धो के खिलाफ मुसलमानो को ब्राह्मण भडकाया करते थे और ब्राह्मणो के खिलाफ बौद्ध। बौद्ध चाहते थे कि मुसलमान ब्राह्मणो को नष्ट कर दे तो अच्छा हो। ब्राह्मण चाहते थे कि इस बहाने अगर बौद्ध ही समाप्त हो जायँ तो हमारी नाक बचे। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि विहार पर बख्तियार खिलजी द्वारा आक्रमण करने के पीछे नालन्दा के कुछ बौद्धो का षड्यन्त्र था। बगाल के पाल राजे बौद्ध, किन्तु, सेन राजे हिन्दू थे। सेन-वशी राजे बौद्ध धर्म के प्रचड शत्रु हुए, यह मानी हुई बात है। नालन्दा सेन राजाओ के अधीन था। सेन राजाओ का कर्त्तव्य था कि नालन्दा की रक्षा के लिए कुछ उपाय करते। किन्तु, नालन्दा का विहार जलकर खाक हो गया और सेन राजे दूर पर अपने महल में सोते रहे। कुछ ऐसा ही बर्ताव बौद्ध श्रमणो ने सिन्ध मे किया था जब वहाँ दाहिर के साथ मुहम्मद-बिन-कासिम की लडाई चल रही थी। श्री जयचन्द्रजी ने लिखा है, "दाहिर के एक भाई ने, (दुश्मन का) सख्त मुकाबला किया, परन्तु, जनता का एक बडा अश श्रमण थे। व तमाशबीन बने रहे।" श्रमण और ब्राह्मण एक दूसरे को कटवाने के फेर मे थे, किन्तु, मुसलमानी तलवार दोनो की गरदनो पर गिरी, बल्कि, श्रमणो पर तो इतने जोर से गिरी कि उनका सफाया ही हो गया।

इस प्रकार, हिन्दुओ ने जात-पाँत और धर्म की रक्षा की कोशिश मे जाति और देश को बर्बाद कर दिया। भारतवर्ष मे राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएँ थी, उनमे सर्वप्रमुख बाधा यही जातिवाद था। जिस गौरव की अनुभूति के लिए मनुष्य

१ दे० क्राति की गगा मे शैवाल नामक प्रकरण

२ अग-बग-कलिगेषु, सौराष्ट्र-मगधेषु च।
तीर्थयात्रा विना गत्वा पुन सस्कारमर्हति। (सिद्धान्त-कौमुदी)

राष्ट्रीयता का वरण करता है, उस गौरव की तृषा इस देश में जात-पाँत की अनुभूति से ही शमित हो जाती थी। जात अगर ठीक है, तो सब कुछ ठीक है। धर्म अगर बचता है तो सब कुछ बचता है। इस भावना के फेर में हिन्दू इस तरह पडे कि देश तो उनका गया ही, जात और धर्म की भी केवल ठठरी ही उनके पास रही। हिन्दुओ की इस स्थिति पर क्षोभ और करुणा से विचलित होकर विल डुराण्ट लिखते हैं कि "जात-पाँत के भेद-भावो से दुर्बल हो जाने के कारण ही हिन्दू जाति आक्रामको के सामने विवश होती गयी। आक्रामको के प्रहार सहते-सहते उसकी अवरोध की शक्ति का दिवाला निकल गया और जब आत्मरक्षा का कोई उपाय नही रहा, तब हिन्दू लोग अलौकिक बातो में अपना त्राण खोजने लगे। अपने-आप को बहलाने अथवा दिलासा देनेके लिए उन्होने इस दलील का आश्रय लिया कि स्वाधीनता हो या पराधीनता,दोनो ही माया की वस्तुएँ हैं। जीवन क्षण-भगुर है। अतएव, व्यक्ति या समाज की स्वतत्रता के लिए सघर्ष करना, कदाचित् ही, आवश्यक कार्य हो। हिन्दू-जाति के क्लेशपूर्ण, भीषण इतिहास से जो शिक्षा निकलती है, वह यह है कि निरन्तर सावधानता बरते बिना सभ्यता की रक्षा नही की जा सकती। जातियो मे शाति के लिए प्रेम होना ठीक है, किन्तु, उन्हे अपनी बारूद को गीला होने देना नही चाहिए।"[१]

---

१. आवर ओरियेंटल हेरिटेज

प्रकरण ४

हिन्दू-मुस्लिम-संबंध

अत्याचार का दुष्परिणाम

अलबेरुनी ने लिखा है कि महमूद की चढाई के समय हिन्दू धूलि-कणो के समान उड़ गये और जीवित लोगो के मुख में उनकी कहानी-मात्र शेष रही। यह भी कि तभी से वे मुसलमानो से अत्यन्त घृणा करने लगे।

अलबेरुनी ने सत्य ही कहा है। हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अनेक धर्मो का स्वागत करते-करते, वे धार्मिक मामलो मे बहुत ही सहिष्णु हो गये थे। महमूद से पहले जो मुसलमान भारत मे आये थे, उन्हे यहाँ के राजाओ ने अच्छा प्रश्रय दिया था। अगर कोई उनकी मस्जिदें तोडता, तो हिन्दू राजे अपराधियो को दंड देते थे तथा टूटी हुई मस्जिदो की मरम्मत अपने पैसे से करवा देते थे। लडाई और मार-काट के दृश्य तो हिन्दुओ ने बहुत देखे थे, किन्तु, उन्हें सपने में भी यह ख्याल न था कि दुनिया की एकाध जाति ऐसी भी हो सकती है जो मूर्त्तियो को तोडने और मन्दिरो को भ्रष्ट करने में ही सुख माने। जब मुस्लिम-आक्रमण के साथ मन्दिरो और मूर्त्तियो पर विपत्ति आयी, हिन्दुओ का हृदय फट गया और वे इस्लाम से तभी जो भडके, सो अब तक भडके हुए है।

भारत मे इस्लाम का आरंभिक इतिहास मार-काट, खूँरेजी, धर्म-परिवर्त्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है। मुसलमान एक आदर्श, एक धर्म और एक सुगठित समाज में जिस प्रकार आबद्ध थे, उससे उन्हे अपार नैतिक बल प्राप्त होता था। इसके विपरीत, हिन्दुत्व ढीला हो चुका था। हिन्दुओ के धर्म, आदर्श और सिद्धांत के अनेक रूप थे। उन्हें एकता का भी बल नहीं था। फिर भी, भारत में इस्लाम की धाक उस आसानी से नही जमी, जिस आसानी से यूरोप मे जमी थी।

जब खिलाफत की राजधानी दमिश्क में आयी (सन् ६७० ई०), उस समय अफगानिस्तान मे हिन्दू-राज्य था। यह राज्य था तो छोटा, किन्तु, उसकी शक्ति सुसगठित और सेना मजबूत थी। अरब के मुसलमान अफगानिस्तान पर कब्जा करना चाहते थे और काबुल पर चढाइयाँ उन्होंने कई बार की। लेकिन, काबुल का हिन्दू-राज्य टस से मस नही हुआ। तब अरबो ने सिन्ध की ओर मुँह फेरा और सन् ७११ ई० मे उसे जीत लिया। फिर भी, अरब सिन्ध से आगे नही बढ सके। "लगभग डेढ शताब्दी (६४४-७८६) तक भारत के पच्छिमी दरवाजो पर लगातार टक्करें मार कर अरब लोग केवल एक प्रान्त सिन्ध मे ही घुस सके और अफगानिस्तान मे घुसने या सिन्ध से आगे बढने की उनकी सब चेष्टाएँ बेकार हुई।" (जयचद्र)। आठवी

सदी के आरभ मे सिन्ध पर मुसलमानो का जो कब्जा हुआ,वह तीन सौ साल तक, ज्यों-का-त्यो, वना रहा। इस बीच इस्लाम का राज्य पिरेनीज से लेकर चीन तक फैल गया था, लेकिन, सिन्ध से दक्षिण मुसलमान नही जा सके थे। अन्त में, भारत पर मुस्लिम-विजय का रास्ता तुर्को ने खोला। इस देश पर वार-वार चढाइयाँ करके उन्होने ही मुस्लिम-विजय को सभव वना दिया।

इस्लाम केवल नया मत नही था। वह हिन्दुत्व का ठीक विरोधी मत था। हिन्दुत्व की शिक्षा थी कि किसी भी धर्म का अनादर मत करो। मुसलमान मानते थे कि जो धर्म मूर्त्ति-पूजा मे विश्वास करता है, उसे नेस्तनावूद कर देना ही धर्म का सवसे वडा काम है। हिन्दू गोहत्या को सबसे वडा पाप समझते थे। मुसलमान गोभक्षक थे। हिन्दुत्व इतना उदार था कि अनेक मतो के प्रति उदारता का वर्ताव करके उसने उन्हे अपना वना लिया था। किन्तु, अव जो नया धर्म भारत मे आया, वह प्रजा नही, राजा का धर्म था और इस धर्म की चेष्टा यह थी कि हिन्दुत्व से दोस्ती न करके उसे अपने ही भीतर आत्मसात् कर ले। अतएव, हिन्दुत्व इस्लाम को लील नही सका। उलटे, इस्लाम से अपनी रक्षा करने में उसे भारी सकटो का सामना करना पडा। हिन्दुत्व पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओ का। अतएव, इस्लाम के सास्कृतिक आक्रमणो का उत्तर आक्रमण से देना हिन्दुत्व के लिए सभव नही था। परिणाम यह हुआ कि अपनी रक्षा के प्रयास मे हिन्दुत्व, घोघे की तरह सिकुड़ कर, अपनी खोली मे छिपने लगा। जात-पाँत के नियम उसने और भी कठोर वना लिये। लडकियो का वचपन में व्याह आम वात हो गयी और छुआछूत की भावना और भी भयकर हो उठी। सवसे विचित्र वात यह हुई कि इस्लाम के विरुद्ध हिन्दुओ की घृणा दवकर उनके अन्तर्मन मे चली गयी और इस घृणा की अभिव्यक्ति इस प्रथा मे हुई कि मुसलमान का छुआ हुआ पानी पीने से भी हिन्दू का धर्म चला जाता है। पर्दे का चलन थोड़ा-वहुत पहले से भी था, किन्तु, मुस्लिम-काल मे यह प्रथा कुप्रथा में परिणत हो गयी।

सवसे पहले इस्लाम का प्रचार नगरो मे आरभ हुआ, क्योकि विजेता, मुख्यत, नगरो में ही रहते थे और उनका आतक भी, प्रधानत, वही था। कुछ यह भी कारण हुआ कि अन्त्यज और निचली जाति के लोगो पर नगरो मे सवसे अधिक अत्याचार था। ये लोग, प्राय, नगर के भीतर वसने नही दिये जाते थे और वाहर से जव वे नगर मे आने लगते, तव उन्हे फटे हुए वाँस को पटक कर अपने आगमन की सूचना देते हुए चलना पडता था जिससे ऊँची जात के लोग उनकी छाया से वच सके। इस्लाम ने जव उदार आलिगन के लिए अपनी वाँहे इन अन्त्यजो और व्राह्मण-पीडित जातियो की ओर वढायी, ये जातियाँ प्रसन्नता से मुसलमान हो गयी।

कश्मीर और वगाल मे तो लोग, झुण्ड के झुण्ड, मुसलमान हुए। इन्हें किसी ने लाठी से हाँककर इस्लाम के घेरे में नही पहुँचाया, प्रत्युत, ये पहले से ही व्राह्मण-धर्म

हुए थे (दे० प्रकरण, क्रान्ति की गंगा में शैवाल)। ये लोग हिन्दुत्व की उलझी हुई समस्या के रूप मे बहुत दिनो से हिन्दुत्व से, कुछ-कुछ, अप्रसन्न चले आ रहे थे। जब इस्लाम आया और सूफी-धर्म से इनका परिचय हुआ, इन्हे लगा, जैसे यह इस्लाम ही उनका अपना धर्म हो। अरब और ईरान के मुसलमान तो यहाँ बहुत कम आये थे। सैकड़े पञ्चानवे तो वे ही लोग हैं जिनके बाप-दादे हिन्दू थे। इन नये मुसलमानो ने भी हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किया।

सांप्रदायिक राज्य

भारत की अपनी परंपरा असांप्रदायिक राज्य की परंपरा थी। जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मावलंबियो के बीच खटपट यहाँ भी चलती थी, लेकिन, इस देश के राजे राज्य की ओर से किसी भी धर्म का दलन नही करते थे, न यहाँ यही रिवाज था कि राज्य-धर्म से भिन्न धर्मों के माननेवाले लोगो को द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी का नागरिक माना जाय। किन्तु, मुस्लिम-राज्य-काल में भारत की यह धर्म-निरपेक्ष नीति समाप्त हो गयी। सुलतान, बादशाह और नवाब खुलकर मुसलमानो का साथ देने लगे और हिन्दुओ के साथ वही बर्ताव किया जाने लगा जो गुलामों के साथ किया जाता है।

जो जाति पराजित हो जाती है, उसके साथ गुलामो का-सा व्यवहार किया ही जाता है यह अनुभव संसार के, प्राय., सभी देशो का रहा है। किन्तु, इस्लामी राज्य मे यह व्यवहार धर्म का अंग समझा जाता था। सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, इस्लामी-राज्यतंत्र के अनुसार, सभी गैर-मुस्लिम जनता शत्रु है तथा उसकी संख्या और शक्ति को समाप्त कर देना मुस्लिम शासक का प्रधान कर्त्तव्य है। ईसाइयो और यहूदियो की धर्म-पुस्तकों को हजरत मोहम्मद भी धर्म-ग्रंथ मानते थे, लेकिन, ये लोग भी इस्लामी-राज्य में समता का स्थान नही पा सकते थे।

इस्लामी राज्यतन्त्र का सिद्धान्त यह था कि जो लोग अपना धर्म छोड़कर मुसलमान नही हो जाते अथवा जो लोग मुस्लिम-आक्रमणो का साथ नही देते या लड़ाई मे तटस्थ रहते हैं, वे सारे-के-सारे लोग 'जिम्मी" हैं। यानी ऐसे लोगो की सुरक्षा का जिम्मा मुस्लिम शासन लेने को तैयार था, लेकिन, इस शर्त पर कि जिम्मी लोग मुसलमानो के साथ बराबरी का दावा नहीं करेंगे, वे जिजिया नामक वैयक्तिक कर चुकायेंगे और राज्य की सेवा में तत्पर रहेंगे।

हिन्दुओं को केवल जिजिया देने से ही छुटकारा नही था। उन्हें अपनी पोशाक भी मामूली रखनी पड़ती थी। वे घोड़ों पर चढ़कर मुसलमानो के सामने से नहीं निकल सकते थे, न शस्त्र धारण करने का उन्हें अधिकार था। अपने धर्म-कर्म भी हिन्दुओं को इस चौकसी से निभाने पड़ते थे कि मुसलमान उनसे कहीं रुष्ट न हो जायँ।

सर यदुनाथ सरकार ने जब यह बात कही थी कि किसी मुसलमान को दूसरे धर्म में ले जाने का काम, शरीयत के अनुसार, घोरतम अपराध है और ऐसे अपराधी की गरदन कोई भी मुसलमान उड़ा सकता है, तब कई मुस्लिम विद्वानो ने इसका खडन किया था। किन्तु, अब श्री आर० सी० मजुमदार ने शेख हमदानी-कृत "जखीरातुल-मुलुक" से जो उद्धरण उपस्थित किये हैं[1], उनसे सर यदुनाथ की ही स्थापना ठीक मालूम होती है। मुस्लिम-राज्य की गैर-मुस्लिम प्रजा, इस्लाम के कानून की दृष्टि मे, कितनी हेय समझी जाती थी, इसका अनुमान नीचे लिखे कुछ प्रतिवन्धो से, आसानी से, किया जा सकता है।

१ मुस्लिम-राज्य में कोई भी प्रतिमालय नही बनाया जा सकता।

२ जो प्रतिमालय तोड दिये गये है, उनका नव-निर्माण नही किया जा सकता।

३ कोई भी मुस्लिम यात्री प्रतिमालय मे ठहरना चाहे तो बेरोक-टोक ठहर सकता है।

४ सभी गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानो की इज्जत करेंगे।

५ गैर-मुस्लिम प्रजा मुसलमानी पोशाक नही पहनेगी।

६ गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानी नाम नही रख सकते है।

७ गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानो के सामने, जीन और लगाम कस कर, घोडो पर नही चढेंगे।

८ गैर-मुस्लिम प्रजा के लिए तीर, धनुष और तलवार लेकर चलना मना है।

९ गैर-मुस्लिम जनता मुसलमानो के मुहल्लो मे न बसे।

१० गैर-मुस्लिम प्रजा अपने मुर्दो को लेकर जोर से विलाप न करे।

११ गैर-मुस्लिम लोग मुस्लिम गुलाम न खरीदें।

ये सभी नियम राज्य की ओर से हमेशा कडाई से बरते जाते थे या नही, यह बताना कठिन है। किन्तु, हर मुस्लिम शासक को यह मालूम था कि जिस शासन का वह सचालन कर रहा है, उसका आधार ऐसे ही नियमो पर है।

हिमालय के पास साबल मे एक बौद्ध मन्दिर था, जहाँ चीनी भक्त काफी सख्या मे आते थे। चीनी सम्राट ने एक बार चाहा कि वे उस मन्दिर का जीर्णोद्धार कर दें। निदान, मुहम्मद-बिन-तुगलक को उपहार भेजकर उन्होंने उससे अनुमति की याचना की। तुगलक ने उपहार तो रख लिये, लेकिन, चीनी सम्राट को जवाब यह भेजा कि मुस्लिम-राज्य मे मन्दिर वही बनवा सकता है जो जिजिया देने को तैयार हो।

फिरोज शाह तुगलक जिजिया देनेवालो को भी मन्दिर बनाने की अनुमति नही देता

---

१ History And Culture Of The Indian People (विद्याभवन-सीरिज)

था। उससे पहले के सुलतान ब्राह्मणो को जिजिया-कर से मुक्त रखे हुए थे। फिरोज शाह ने ब्राह्मणो पर भी जिजिया लगा दिया।

लेकिन, जिजिया देकर भी हिन्दू अपने धर्म का पालन करे, यह बात मुस्लिम पडितो और उलमाओ को पसन्द नही थी। तुगलक-युगीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्रानी ने शिकायत लिखी है कि कुछ थोडे-से टको के बदले अगर सुलतान काफिरो को धर्म की स्वतन्त्रता देते रहेंगे तो हिन्दुस्तान मे इस्लाम का झडा बुलन्द नही रह सकेगा।

दो-एक पठान सुलतान खुद, शायद, कुछ उदार भी रहे हो, लेकिन, उन दिनो मुल्लाओ का बडा जोर था और मुल्ले केवल धर्म की बातो मे ही नही, राज-काज मे भी सुलतानो का मार्ग-दर्शन करते थे। मुगीस उद्दीन नामक एक काजी ने अल्लाउद्दीन खिलजी से कहा था, "काफिरो के सामने विकल्प तो, वैसे, दो ही हो सकते है, यानी मौत या इस्लाम। लेकिन, हनीफा ने उनके लिए जिजिया की रियायत की बात भी कही है।"

अरब-विजय के छह सौ वर्ष बाद मुस्लिम इतिहासकार बर्रानी ने फतवए-जहाँबारी मे हिन्दू-धर्म पर भयानक कोप प्रकट किया। उसने महमूद गजनी की याद बडे फख्र से की है और कहा है, काश ! महमूद एक बार और आ जाय तो हिन्दुओ का पूरा सफाया हो सकता है।

अफीफ नामक एक दूसरे इतिहासकार ने फिरोज तुगलक के वजीर के मुख से कहलवाया है कि राज्य के उद्देश्य दो ही है—एक तो राज्य की समृद्धि और प्रजा की रक्षा तथा दूसरा राज्य का विस्तार और काफिरो का सफाया।

देश की सुरक्षा, रियाया की खुशहाली और राज्य का विस्तार, ये किसी भी शासन के लिए गौरव के कार्य है। किन्तु, मुस्लिम इतिहासकारो ने अधिक प्रशसा उन सुलतानो और गाजियो की लिखी है, जिन्होने अधिक-से-अधिक मन्दिर तोडे और अधिक-से-अधिक लोगो को मुसलमान बनाया। कुरान के अनुसार कुफ्र का सबसे बुरा रूप शिर्क और शिर्क का सबसे बुरा रूप मूर्त्तिपूजा है, और हिन्दुस्तान मूर्त्तिपूजको का देश है। अतएव, कुफ्र का दलन करने मे मुसलमानो को जितने अत्याचार इस देश मे करने पडे, उतने किसी और देश में नही।

इब्न-बतूता एक मुस्लिम विद्वान था जो १४वी सदी मे अफ्रीका से भारत आया था, जब मुहम्मद-बिन-तुगलक यहाँ सुलतान था। बतूता ने जो विवरण छोडा है, उससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उस समय जबर्दस्ती धर्म-परिवर्तन करवाने की प्रक्रिया कितनी तेज थी और झुण्ड के झुण्ड हिन्दू किस प्रकार दास बनाये जाते थे। हिन्दुओ का दरजा मुसलमानो की तुलना मे बहुत ही तुच्छ था, यह बात भी बतूता ने स्पष्ट शब्दो मे लिखी है। बतूता की आँखो के आगे ही तुगलक ने भयानक से भयानक जुल्म किये थे। एक बार तो ऐसा हुआ कि अत्याचार के भयानक दृश्य को असह्य पाकर बतूता नमाज़ के बहाने उस स्थान से अलग हट गया था।

हिन्दुओ के प्रति भेद-भाव नौकरियो मे भी बरता जाता था। साधारणत:, मुसलमान हिन्दुओ का विश्वास नही करते थे, अतएव, जिम्मेदारी की जगहे उन्हे दी जाती थी जो पठान थे अथवा उन मुसलमानो को जो बाहरी देशो से आते थे। सिकन्दर लोदी और शेरशाह सूरी ने इस बात की कुछ थोडी चिंता जरूर की कि हिन्दुओ के बीच उन्हे लोकप्रियता प्राप्त हो, लेकिन, बाकी सुलतानो ने हिन्दुओ के दर्द की कोई परवाह नही की। आश्चर्य है कि पठान-शासन-काल की इतनी स्पष्ट बुराइयां आज के भी मुस्लिम-लेखको को नही दिखायी देती और वे, बिना किसी हिचकिचाहट के, लिख देते है कि **पठान-राज्य-काल में गैर-मुस्लिम प्रजा को धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता प्राप्त थी, केवल राजनैतिक अधिकार उन्हें पूरे नहीं मिले थे।**[1]

सांस्कृतिक प्रतिशोध

मुसलमानो के अत्याचारो से आजिज आकर हिन्दुओ ने उन्हें म्लेच्छ कहना आरंभ किया। म्लेच्छ वे यो भी समझे जाते, क्योकि सभी विदेशी आक्रान्ता भारत मे म्लेच्छ समझे जाते थे। यवन और म्लेच्छ समानार्थक थे। इनका अभिप्राय विदेशी से होता था। मुसलमानो को म्लेच्छ कम ही बार कहा गया। अधिकतर वे यवन ही कहलाते थे। आयोनिया (Ionia) के यूनानी लोगो को ईरानी लोग यौन कहते थे। यूनानी के लिए यौन का प्रयोग पहले-पहल डेरियस प्रथम के अभिलेख मे मिलता है। वही से भारतीयो ने यह शब्द (यौन, यवन) ज्यो-का-त्यो उठा लिया। म्लेच्छ भी पहले उस व्यक्ति को कहते थे जो सस्कृत का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण नही कर सकता था।

मुसलमानो को हिन्दुओ ने, अपनी सस्कृति मे, वही दरजा दिया जो अछूतो को दिया जाता था। इसीलिए, हरिजनो ने मुसलमानो का उतना अनादर नही किया, जितना सवर्ण हिन्दू करते थे। और हिन्दुओ की अस्पृश्यतावादी नीति के खिलाफ मुसलमान शिकायत भी नही कर सकते थे, क्योकि हिन्दुओ ने यह नीति केवल मुसलमानो का अपमान करने को नही निकाली थी। वे इस नीति को धर्म समझते थे और जब चश्मे के पानी मे कोई शराब मिला देता, तब हिन्दू धर्म छोड़कर जीतने के बदले, धर्म रखकर हार जाना अधिक पसन्द करते थे। अत्याचार से बचने को हिन्दुओ ने बहिष्कार की नीति को और भी मजबूत बना लिया। इब्नबतूता ने लिखा है कि मालाबार में मुसलमान को लोटे मे पानी नही दिया जाता था। पानी उसे हिन्दू हाथ मे पिलाते थे। और जिस

---

१ सयद आबिद हुसेन ने अपनी किताब National culture of India में पठान-शासन का वर्णन यह कह कर किया है —"A dynastic monarchy, limited by the SHARIAH, giving its Non-Muslim subjects religious and cultural freedom, but slightly less political rights"

बरतन मे मुसलमान खाना खा लेता था, हिन्दू उसे तोड डालते थे या मुसलमान को दे देते थे।

आस-पास बसे रहने पर भी हिन्दुओ ने यह नीति जारी की कि वे, जहाँ तक होगा, मुसलमानो के घर नही जायेंगे, न मुसलमानो को अपने घर आने देंगे। जब मुसलमानो के सूफी सन्त भारत मे घूमने लगे, तब आदर तो उनका हिन्दुओ ने भी किया, लेकिन, हिन्दू इन सन्तो को भी अपने घर के भीतर नही ले जाते थे, न अपने बरतन मे उन्हे भोजन करने देते थे। सुलतानो, नवाबो और बडे कर्मचारियो से मिलना बडे भाग्य की बात समझी जाती थी। लेकिन, जो सौभाग्यशाली हिन्दू इन बडे मुसलमानो से कभी हाथ मिलाने का अवसर पा जाते, वे भी घर जाकर स्नान करते और अपने कपडे बदल डालते थे।

हिन्दू बाहर से तो दब गये, लेकिन, भीतर ही भीतर उनकी घृणा की भावना उत्कट होती गयी। यह घृणा उन्हे केवल मुसलमानो से ही नही हुई, बल्कि, जो हिन्दू मुसलमानो से हेल-मेल बढाता, अपने मुहल्ले मे वह भी घृणित ही समझा जाता था। मुसलमानो ने भारत मे अत्याचार तो ऐसे भयानक किये, जिनका दुनिया के इतिहास मे कही सानी नही है, किन्तु, भारत का सब से बडा अकल्याण उन्होने यह किया कि हिन्दुओ के हृदय मे उन्होने साप्रदायिकता की आग पैदा कर दी। धार्मिक द्वेष भारत मे नही था। यह चीज यहाँ मुस्लिम साप्रदायिकता की देन है।

मुसलमानो की विजय शुद्ध राजनैतिक विजय थी। देश की सस्कृति पर उसका व्यापक प्रभाव नही पडा। ऊपर के राजवाडे टूट गये, किन्तु, उनके नीचे गाँवो की अवस्था, ज्यो-की-त्यो, बनी रही। हिन्दू-जनता ने, धीरे-धीरे, मुसलमानो को अपना पडोसी मान लिया और उनके साथ वह बहुत-कुछ वही बर्ताव करने लगी जो बर्ताव वह अन्त्यजो के साथ करती आयी थी। उस बर्ताव के खिलाफ मुसलमानो ने कभी कोई बडा आन्दोलन किया हो, इसका प्रमाण इतिहास में नही है। कारण, शायद, यह था कि मुस्लिम पडोसी पहले हिन्दू-अन्त्यज रहे थे अथवा ऐसी जातो के लोग जिनका पानी नही चलता था। अतएव, मुसलमान हो जाने पर भी उनकी यह हिम्मत नही हुई कि, स्पृश्यता के मामले में, वे हिन्दुओ के साथ बराबरी का दावा कर सके।

एकता-आन्दोलन का आरंभ

भारत की विशेषता है कि जो नवागन्तुक इस देश मे बस जाते हैं, उन्हें अपने समाज मे खपाने की वह, कोई-न-कोई, राह निकाल लेता है। जब आर्य यहाँ आये थे, उन्होने अनेक जातियो को एक समाज मे बाँधने के लिए जाति की प्रथा निकाली थी। पीछे, स्वय आर्यो का भारतीयकरण भारत ने उन्हे निवृत्तिवादी बनाकर पूरा किया। किन्तु, जाति-प्रथा अब निकम्मी चीज थी। न तो हिन्दू इतने उदार रह गये थे कि मुसलमानो

को वे अपनी जाति की दीर्घा मे बिठा सके, न मुसलमान अपनी इकाई खोने को तैयार थे। निदान, भारत की निवृत्तिमार्गी विचारधारा उभर कर ऊपर आयी और इस बार उसने इस्लामी तसव्वुफ की राह से हिन्दुओ और मुसलमानो को परस्पर समीप लाने का आन्दोलन आरभ कर दिया।

शासक और सुलतान कठोर के कठोर ही बने रहे और मुल्लो का उन पर प्रभाव भी वैसा ही रहा जैसा पहले था। लेकिन, जनता ने सलतनत की नीति से भिन्न राह पकड़ ली। लोगो को इस राह पर आने का प्रोत्साहन इस बात से भी मिला कि मुस्लिम सूफी सन्त सलतनत की नीति से बँधे नही थे, न मुल्लो का सहयोग ही उन्हे प्राप्त था। सलतनत और मुल्ले, अक्सर, सतो का विरोध करते थे। ईरान के सूफी सन्त मंसूर को मुस्लिम-सलतनत ने शूली पर चढा दिया था और भारत मे भी औरगजेब ने सरमद को मरवा डाला था। इससे यह अनुमान आसानी से निकाला जा सकता है कि सूफी सत, कुछ-कुछ, बागी किस्म के लोग थे।[१] अतएव, उनकी साधुता और विद्रोह-प्रियता पर रीझकर हिन्दू-जनता उनका साथ देने लगी।

सूफियो की इज्जत खिलजी-काल मे ही खूब बढ गयी थी और उनका प्रभाव हिन्दुओ और मुसलमानो पर यथेष्ट रूप से छा गया था। सूफियो के इस प्रभाव से सुलतान लोग जलने भी लगे थे। इस सबध मे कुतुब उद्दीन, मुबारक खिलजी और गियास उद्दीन तुगलक के नाम काफी बदनाम है। गियास उद्दीन ने हज़रत निजाम उद्दीन औलिया को धमकी दी थी कि अमुक तारीख को दरबार में हाजिरी दो, नही तो तुम्हें दडित होना पडेगा। कहते है, औलिया साहब दरबार तक तो नही गये, लेकिन, निर्धारित तिथि के पहले ही गियास उद्दीन कत्ल हो गया।

सूफियो से अलग एक तरह के फकीर और होते थे जो कलन्दर कहलाते थे। ये कलन्दर सप्रदाय नही बनाते थे, न एक जगह पर ज्यादा दिन टिका ही करते थे। वैराग्य और फकीरी के जरिये अपना मोक्ष खोजते हुए घूमते चलना ही इनका स्वभाव था।

---

१ शाह अब्दुर्रहीम एक सूफी मुल्ला थे। औरगजेब उनसे बहुत ही खुश रहा करता था। एक बार औरगजेब ने उन्हें कुछ जमीन देनी चाही। इसके जवाब मे शाह साहब ने बादशाह को इस आशय का पत्र लिखा कि "सभी सन्त मानते है कि जो फकीर राजा के दरवाजे पर जाता है, वह फकीर नही, शैतान है। राजाओ के पास सपत्ति बहुत थोडी होती है। यदि तू मुझे कुछ देगा तो तेरे पास बच क्या रहेगा?" कहते है, औरगजेब इस पत्र को अपनी जेब मे रखे रहता था और कपड़ा बदलने पर उसे दूसरे कपडे में रख लेता था तथा, एकान्त पाकर, इस पत्र को वह पढता और पढकर रोने लगता था।

एक दूसरे फकीर का कहना था, "भगवान रोज रोटी भेजता है, लेकिन, एहसान का बोझ वह किसी पर नही डालता। राजा जब भी कुछ देता है, तब आदमी पर उसका एहसान हो जाता है।"

सूफियो और कलन्दरो के प्रभाव से भारत में इस्लाम का रूप वदल गया। इस्लाम सीधा-सादा कट्टर धर्म था जिसमे बाहरी अनुष्ठानो पर बहुत जोर दिया गया था। अव वह एक प्रकार का जटिल भक्ति-मार्ग वन गया जिसमें योग, चमत्कार, अधविश्वास, भजन, कव्वाली, पीरो की पूजा और हिन्दू-धर्म की बीसियो दूसरी वाते प्रविष्ट हो गयी। इस्लाम में गुरु-परपरा का जोर पहले उतना नही था जितना भारत मे आकर बढा।

जव सूफी-धर्म अपनी वुलन्दी पर था, तव तक भक्ति का आन्दोलन दक्षिण भारत मे उत्तर में पहुँच चुका था। इन दोनो आन्दोलनो ने हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच की दूरी कम कर दी।

भारत में इस्लाम के दो रूप प्रकट हुए। मुसलमान-शासक हिन्दुओ के द्रोही, मन्दिरो के भजक और प्रतिमाओ के शत्रु थे। लेकिन, मुस्लिम सूफी सतो मे हिन्दुओ के प्रति शत्रुता का भाव नही था। वे हिन्दू और मुसलमान, दोनो को एक नये धर्म में दीक्षित करना चाहते थे, जो आत्मा का धर्म था, जो सच्ची मानवता का धर्म था। सूफी सन्त आचार तो अपने ही धर्म का वरतते थे, लेकिन, प्रेम उनका सभी धर्मो पर एक समान था और प्रत्येक धर्म के आदमी को वे आत्मा के धर्म में दीक्षित करना चाहते थे, हृदय में प्रेम की पीर जगाकर उसे ईश्वरोन्मुख बनाना चाहते थे।

सभी सूफी सन्त धर्म के वाह्याचारो और अनुष्ठानो को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनका सारा जोर प्रेम पर था, परमात्मा की भक्ति पर था। इसीलिए, इस्लामी मुल्ले उनके खिलाफ थे और इसीलिए कवीर आदि का विरोध वैदिक धर्म के पडितो ने भी किया। लेकिन, भारतीय जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो वैदिक अनुष्ठानो और आचारो मे विश्वास नही करता था, जिसके भीतर, बहुत दूर पर, बुद्ध की प्रेरणा काम कर रही थी, जिसने सरहपा-नहपा आदि बौद्ध सिद्धो के इस उपदेश को अपना लिया था कि यज्ञ झूठे है, पडितो का आदर करने मे कोई पुण्य नही है, न एकादशी और मगल को व्रत रखने से आत्मा का कल्याण होता है। यह विचार-धारा अहिंसा को मानती थी, आत्मचिंतन की प्रक्रिया में विश्वास करती थी और प्रतिमा-पूजन तथा तीर्थ-यात्रा के विरुद्ध थी।[1]

सूफियो के उपदेश सव से अधिक इन्ही लोगो को पसन्द आये और ये ही लोग इस्लाम तथा हिन्दुत्व के बीच के प्रथम सेतु हुए। हिन्दू से मुसलमान होनेवालो मे सव से अधिक सख्या इन्ही लोगो की थी और इसी वर्ग के लोग हिन्दू रहकर भी इस्लाम से, विशेषत, उसके सूफी-आन्दोलन से प्यार करने लगे। राजनीति के धरातल पर परस्पर बँटे हुए लोग धर्म के धरातल पर एक होने लगे। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली। मुसलमान हिन्दुओ की रामकहानी सुनने को तैयार होने लगे और हिन्दू

---

१ दे० इसी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में "इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सप्रदाय"

मुसलमानो की 'दास्ताने-हमजा'। हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया। बहुत-से मुसलमान फकीर भी अहिसा का सिद्धान्त स्वीकार करके मास-भक्षण को बुरा कहने लगे।'

अमीर खुसरो की भारत-भक्ति

सुलतानो के अत्याचार की जिम्मेवारी मुस्लिम-जनता पर नही थी। मुस्लिम-जनता, शायद, तुरत यह समझ गयी थी कि यदि भारत मे उसे रहना है तो इस देश की सस्कृति का ज्ञान उसे अर्जित करना चाहिए और भारत को अपना देश मान लेना चाहिए। यदि जनता के भीतर ऐसे भाव नही रहे होते तो अमीर खुसरो का जन्म उस काल के लिए असभव घटना हुई होती। पृथ्वीराज की पराजय सन् ११९२ ई० मे हुई और अमीर खुसरो का जन्म-वर्ष सन् १२५३ ई० माना जाता है, यानी भारत पर इस्लामी राज्य के आरभ से केवल इकसठ साल बाद भारत ने उस मुसलमान को जन्म दे दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानो का अग्रणी महापुरुष था।

अमीर खुसरो के पिता सैफुद्दीन महमूद तुर्क थे। वे सुलतान नसीर उद्दीन (१२४६-१२६५ ई०) के राज्यकाल मे भारत आये थे। अमीर खुसरो का जन्म पटियाले मे हुआ था। वे शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और उन्ही के चरणो मे बैठकर उन्होने विद्या भी पढी थी। जब शेख साहब स्वर्गीय हुए और उनका शरीर कब्र मे डाल दिया गया, तब अमीर खुसरो ने अपनी पीडा एक दोहे मे व्यक्त की थी जो आज तक प्रसिद्ध है।

गोरी सोवत सेज पर, मुख पर डाले केस,
चल खुसरो घर आपनो, रैन भई सब देस।

खुद अमीर खुसरो का देहान्त सन् १३२५ ई० मे हुआ।

खुसरो, कई दृष्टियो से, भारत के महापुरुषो में गिने जाने के योग्य है। दिल्ली के आस-पास प्रचलित खडी बोली मे साहित्य-सृजन का काम, सब से पहले, खुसरो ने ही आरभ किया था। उस समय मुसलमान अपनी कविताएँ फारसी मे लिखते थे और हिन्दू अपना साहित्य डिंगल अथवा अपभ्रश भाषाओ में। हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही यह जानते थे कि जनता की भाषा न तो अपभ्रश थी, न फारसी, किन्तु, दोनो ही जातियो के कवि उन्ही भाषाओ पर आसक्त थे जिन्हे जनता नही समझती थी। अमीर खुसरो ने प्रचलित जनभाषा मे रचना करके हिन्दी और उर्दू के भविष्य की राह खोल दी। अतएव, वे खडी बोली हिन्दी और उर्दू, दोनो ही भाषाओ के पिता हुए है।

सगीत और वाद्य-यन्त्रो मे भी उन्होने नूतन आविष्कार किये थे। किन्तु, उनका

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल की जायसी-ग्रन्थावली

सब से बडा काम यह हुआ कि, सलतनत की साम्प्रदायिक नीतियो की कुछ भी परवाह किये बिना, उन्होने भारत के प्रति अपनी अद्भुत भक्ति अर्पित की। अपनी मसनवी "नूह सिफ्र" (नौ आकाश) मे उन्होने भारत की जो प्रशसा लिखी है, वह इस बात का प्रमाण है कि खुसरो, सच्चे मन से, अपने को भारतीय मानते थे। मुसलमान भारत के प्रति अपनी भक्ति अर्पित करे, यह बात, शायद, उस समय भी मुस्लिम-समाज मे अच्छी नही समझी जाती थी। खुसरो ने लिखा है, "सभव है, कोई मुझ से पूछे कि भारत के प्रति मैं इतनी श्रद्धा क्यो रखता हूँ। मेरा उत्तर यह है कि केवल इसलिए कि भारत मेरी जन्मभूमि है, भारत मेरा अपना देश है। खुद नबी ने कहा है कि अपने देश का प्रेम आदमी के धर्म-प्रेम मे सम्मिलित होता है।[1]"

भारत की साम्प्रदायिक वेदना का रूप यह है कि हिन्दू, अस्पृश्यता मे विश्वास करने के कारण, सामाजिक व्यवहारो में मुसलमान को बराबरी का दरजा देने को तैयार नही है। कट्टर हिन्दू अपने प्यारे से प्यारे मुस्लिम मित्र को भी उस जगह ले जाकर खिलाने को तैयार नही है जहाँ वह खुद खाता है। मुसलमान दोस्त किसी हिन्दू के चौके मे खाये, हिन्दू-समाज में इससे बडी बदनामी और नही हो सकती। और मुसलमान की कठिनाई यह है कि जमाने से उसे यह सिखाया गया है कि जिस देश पर मुसलमानो का राज्य नही है, वह देश दारुल-हरब यानी शत्रुओ का देश समझा जाना चाहिए। अतएव, देश-भक्ति और धर्म-भक्ति को एक करके चलने मे मुसलमान को कठिनाई होती है। आम लोगो का ख्याल है कि जिस देश का शासन इस्लामीय कानून से नही चलता, उस देश में बसनेवाला मुसलमान प्रच्छन्न विद्रोही बनकर जीता है। लगता है, अमीर खुसरो के समय मे भी भारत के मुसलमान इस दुबिधा से पीडित थे। इसीलिए, खुसरो ने अपनी भारत-भक्ति की बात काफी जोर से कही जिससे मुसलमानो के मन का कुहासा फट जाय और वे अपने को भारतमाता की सतान मान सके। यदि खुसरो को हिन्दुस्तान ने अपने आदर्श मुसलमान के रूप में उछाला होता तो हिन्दुस्तान की कठिनाइयाँ कुछ-न-कुछ कम हो जातीं। आज भी मौका है कि हम खुसरो को आदर्श भारतीय मुसलमान के रूप मे जनता के सामने पेश करे।

खुसरो ने भारत की प्रशसा केवल देश-भक्ति के जोश मे आकर नही लिखी, प्रत्युत, इसके लिए उन्होने कई ठोस प्रमाण भी दिये हैं। उनके विवरण से यह भी पता चलता है कि चौदहवी सदी में भी भारत ससार का सब से अग्रणी देश था। खुसरो की दृष्टि मे भारत इसलिए वन्दनीय है कि—

१ इस देश के लोगो में ज्ञान और विविध विद्याओ का व्यापक प्रचार है।

२ विश्व की सभी भाषाएँ भारतवासी शुद्धता से बोल सकते हैं।

---

१ डाक्टर यूसुफ हुसेन की पुस्तक Glimpses Of Medieval Indian Culture से

३ ज्ञान सीखने को बाहर के लोगो को भारत आना पडता है, किन्तु, भारत-वासियो को भारत से बाहर जाना नही पडता।

४ अको का विकास भारत मे हुआ है। विशेषत', शून्य का प्रतीक भारत का आविष्कार है। हिन्दसा शब्द हिन्द और असा, इन दो शब्दो के योग से बनता है। (खुसरो का ख्याल था कि असा भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे।)

५ कलीला व दमना (करटक और दमनक) की कहानी भारत मे रची गयी और फारसी, तुर्की, ताजी (अरबी) एव दरी भाषाओ मे उस कहानी का अनुवाद हुआ है।

६ शतरज के खेल का आविष्कर्त्ता भारतवर्ष है।

७ भारतीय सगीत अन्य सभी देशो के सगीत से कही उच्च कोटि का है।

८ सगीत पर यहाँ केवल मनुष्य ही नही झूमते, उसे सुनकर यहाँ के हरिणो को भी स्तभ हो आता है।

९. अन्य किसी भी देश मे खुसरो के समान भाषा का जादूगर नही है, गर्चे सुलतान का वह एक अदना-सा चारण है।

खुसरो ने अपनी मसनवी मे इस बात की भी चर्चा की है कि भारत मे तोते और मैना भी आदमी की बोली बोलते हैं, घोडे ताल पर कदम उठाते हैं, बकरियाँ सतुलन के खेल दिखाती हैं और बन्दर रुपये और अठन्नी का भेद बता सकते हैं। भारत को खुसरो ने पृथ्वी का स्वर्ग माना है और लिखा है कि आदम और हौवा जब स्वर्ग से निकाले गये थे, तब वे इसी देश मे उतरे थे। भारत के सामने उन्होने बसरा, तुर्की, रूस, चीन, खुरासान, समरकन्द, मिश्र और कधार, सब को तुच्छ बताया है। खुसरो ने पान की भी बड़ाई लिखी है और भारत मे बने वस्त्र को सारे ससार मे उन्होने बेजोड बताया है।

अमीर खुसरो बडे ही बुद्धिवादी, जिन्दादिल और असाम्प्रदायिक मुसलमान थे। दिल्ली की बडाई करते हुए उन्होने लिखा है, इस चमन की कहानियाँ अगर मक्का सुन ले तो वह भी श्रद्धा के साथ भारत की परिक्रमा करने लगेगा।

हिन्दुओ की धर्मप्रियता और भक्ति-भावना की उन्होने खुलकर तारीफ की है और हिन्दुओ के धार्मिक स्वभाव को उन्होने मुसलमानो के लिए भी अनुकरणीय कहा है। प्रतिमा-पूजन का समर्थन तो वे भला कैसे करते, किन्तु, प्रतिमा पूजनेवालो मे उन्होने जो तल्लीनता देखी, उसकी भी उन्होने तारीफ ही की है। इस सबध मे उनका कहना है कि "तीर का लक्ष्य भले ठीक न हो, मगर, उसकी गति कितनी तेज है।"

संतो ! राह दोऊ हम दीठा

तसव्वुफ या रहस्यवाद धर्म के बाहरी आडम्बरो मे विश्वास नही करता। सूफी और रहस्यवादी का धर्म न तो रोजा, नमाज और अजाँ तक सीमित है, न शख, आरती

और घडियाल के अधीन। रहस्यवादी की सारी पूंजी उसकी भगवद्भक्ति होती है, उसका ईश्वर-प्रेम होता है। मूल मे ससार के सभी धर्म एक है, क्योकि सब का आरभ इसी जिज्ञासा से हुआ है कि मनुष्य की किस्मत का मालिक कौन है, आदमी की रूह किस वडी रूह से मिलने को वेकरार है, जन्म के पूर्व आदमी कहाँ था और मरने के वाद वह कहाँ जायेगा। जव तक आदमी इन मौलिक प्रश्नो पर विचार करता है, तव तक वह न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान। इन मौलिक समस्याओ पर सोचते समय वह उस सामान्य विस्मय के पास रहता है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते है। आदमी हिन्दू तव वन जाता है जब वह शख फूंकता और आरती की थाल उठाता है। इसी प्रकार, वह मुसलमान उस समय होता है जव रोजा, नमाज और अजाँ को वह धर्म-सिद्धि का मार्ग समझने लगता है। धर्म-चिंतन मे एक वह भी जगह आती है, जहाँ पहुँच कर हम सभी धर्मो से छूट जाते है अथवा एक साथ सभी धर्मो से एकाकार हो जाते है।

ईरान से जो सूफी-धर्म भारत पहुँचा, वह रोजा और नमाज से वँधकर चलनेवाला धर्म नही था। सूफी निर्मुक्त चिंतक थे और उनका उद्देश्य लोगो को डाल से उतार कर मूल की ओर ले जाना था। वे मनुष्यो को यह शिक्षा देते थे कि धर्म के वाहरी अनुष्ठानो मे फँसकर तुम असली धर्म से दूर हो रहे हो। डाल से उतर कर नीचे की ओर देखो, सभी धर्म एक है और एक ही धर्म, मूल से ऊपर उठकर, अनेक डालियाँ वनकर विखर गया है। सच्चा धर्म अलग-अलग डालो पर वैठकर कोलाहल मचाने मे नही, वल्कि, मूल पर पहुँच कर शान्त हो जाने मे है। धर्म कोलाहल नही, शान्ति है, धर्म विवाद नही, नीरवता है। धर्म युद्ध नही, मैत्री और प्रेम है।

ईरानी तसव्वुफ भारतीय वेदान्त के प्रभाव मे वढा था, अतएव, जव वह भारत पहुँचा, इस देश मे उसे तैयार जमीन मिल गयी। यह नया धर्म बहुत-से भारतवासियो को परम अनुकूल दिखायी पडा। यह उन्हे भी रुचा, जो वैदिक धर्म के अनुष्ठानो से विरक्त थे और उन्हे भी, जो सामाजिक धरातल पर हिन्दुओ और मुसलमानो के लिए कोई सम्मिलित राह निकालना चाहते थे। भारत मे इस नये आन्दोलन के सव से वडे नेता महात्मा कबीरदास (जन्म सन् १३९९ ई०) हुए।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हमारे देश मे तीन वडे नेता कवीर, अकवर और महात्मा गाँधी हुए है। गाँधीजी की विशेषता यह थी कि वे किसी भी धर्म को छोटा नही कहते थे। सभी धर्मो पर उनकी समान भक्ति थी और सभी धर्मो को समान समझने का ही वे उपदेश भी देते थे। अकवर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म सर्वविध पूर्ण नही था। उनकी कोशिश थी कि सभी धर्मो की अच्छी वाते लेकर एक नया धर्म चलाया जाय जो सव को सतोष दे सके। लेकिन, कबीर अपने इन दोनो उत्तराधिकारियो से विलकुल भिन्न रहे। उन्होने यह नही कहा कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो के दोनो अच्छे धर्म है, अतएव, हिन्दुओ और मुसलमानो को आपस में मिलकर रहना चाहिए। उलटे,

उन्होंने इस बात की खुली घोषणा की कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो के दोनो अधूरे धर्म हैं।[1] असली धर्म वह है जिस पर रहस्यवादी आरूढ़ होता है। अतएव, उचित है कि हिन्दू और मुसलमान इस सूक्ष्म आत्म-धर्म के धरातल तक उठने की कोशिश करे, जहाँ पहुँचने पर मन्दिर और मस्जिद, दोनो बकार हो जाते है।

ससार के सभी रहस्यवादी, मिजाज से, कुछ-कुछ, विद्रोही होते आये हैं। कबीरदास विद्रोह के अवतार थे। वेद, वर्णाश्रम-धर्म और जात-पाँत का विरोध उन्होंने उसी निर्भीकता से किया जो निर्भीकता बुद्ध मे दिखायी पडी थी। और इस्लाम के अनुष्ठानो की आलोचना उन्होंने उसी बहादुरी से की जिस बहादुरी के कारण पहले मसूर और, बाद को, सत सरमद को शहीद होना पडा था। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का समाधान उन्हे बहुत ठीक दिखायी पडा था। कबीर को गुजरे अब लगभग पाँच सौ साल हो गये हैं, लेकिन, आज भी उनकी प्रासगिकता बनी हुई है, और आज भी हम यही सोचते है कि जब तक भारतीय समाज, पूर्णरूपेण, वेदान्त को अपना आधार नही बनाता, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का भारत को कोई समाधान नही मिलेगा।

कहते है, अपने जीवन-काल मे कबीर को अनेक कष्ट सहने पडे थे, अनेक यातनाएँ झेलनी पडी थी, अनेक कुत्साओ, पराभवो और अपमानो का सामना करना पडा था। उनके समर्थक और शत्रु दोनो ही धर्मो के लोग हुए, क्योकि दोनो ही धर्मो के भीतर ऐसे लोग थे जो आडम्बरो को छोडकर धर्म के सच्चे रूप पर आना चाहते थे और दोनो ही धर्मो के भीतर ऐसे भी लोग थे जिनकी रोजी कबीर के आन्दोलन से मारी जाती थी। लेकिन, विरोधो के सामने कबीर ने कभी भी घुटने नही टेके। विरोधियो ने जितना ही उनका विरोध किया, उतना ही उनका आत्मविश्वास बढता गया और उतने ही जोर से हिन्दुओ और मुसलमानो को वे यह कहकर फटकारते गये कि तुम दोनो के धर्मो को मै देख चुका हूँ। ये दोनो के दोनो धर्म अधूरे और अपूर्ण हैं। पूर्णता चाहते हो तो उस धरातल तक उठो, जिस पर कबीर का निवास है।

---

१ हिन्दुत्व और इस्लाम धर्म के उच्चतम रूप नही है, इस अनुभूति के उदाहरण हमें गोरखनाथ और नामदेव में भी मिलते है जो कबीरदास के पूर्ववर्त्ती थे। यथा,

हिन्दू ध्यावे देहरा, मूसलमान मसीत,
जोगी ध्यावे परम पद, जहँ देहरा न मसीत।
हिन्दू आखै राम को, मूसलमान खोदाइ,
जोगी आखै अलख को,तहँ राम अछै न खोदाइ।
—गोरखनाथ (१० वी या ११ वी सदी)

हिन्दू पूजे देहरा, मूसलमान मसीत,
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीत।
—नामदेव (जन्म सन् ११७० ई०)

सुर, नर, मुनि औ औलिया, ये सब बेलं तीर,
अलह-राम की गति नहीं, तहँ घर किया कबीर।
हद्द छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान,
मुनिजन महल न पावई तहाँ किया विश्राम।

कबीर दास भारत के अत्यन्त महान् क्रान्तिकारी पुरुष हुए है। उनकी बडाई केवल इसी बात के लिए नही है कि उन्होने साहसपूर्वक, हिन्दुओ और मुसलमानो की आँखो मे उँगली डालकर, उन्हे यह समझाया कि मन्दिर और मस्जिद के सवाल पर झगडने से बढ कर मूर्खता का कोई और काम नही हो सकता , अपितु, इसलिए भी कि सस्कृत के विरुद्ध उन्होने भारत मे नवीन भाषा की पताका फहरायी और सस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणो के हाथ मे था, उसे उन्होने निम्न वर्ग के लोगो के हाथो मे पहुँचा दिया। कबीर की परपरा मे जो अनेक सन्त और महात्मा जनमे, उनमे नानक, रैदास, धन्ना, सुन्दरदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास और धरणीदास के नाम अत्यत विख्यात है और इनमें से कोई भी सत ब्राह्मण-वश मे नही जनमा था। स्वय कबीर दासजी हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे।

कबीर ने जो यह मत्र फूंका कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो के दोनो अधूरे धर्म है तथा राम और रहीम को एक न मानना बिलकुल मूर्खता की बात है, वह काल के श्रवण-रध्रो मे ऐसा बस गया कि उसकी गूंज हम अनेक सदियो मे सुनते आये है।

हिन्दु की दया, मेहर तुरकन की, दोनो घर से भागी,
वह करै जिबह, वो झटका मारै, आगि दुओ घर लागी।

× × ×

हिन्दु कहत है, राम हमारा, मुसलमान रहमाना,
आपस में दोउ लडे मरत है, भेद न कोई जाना।

× × ×

जो खोदाय मस्जीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा ?
तीरथ-मूरत रामनिवासी, बाहिर केहिका डेरा ?

× × ×

वेद-कितेब छोड़ि दे पाँड़े, ई सब मन के भरमा।

× × ×

साधो, पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेंड को धाये, दिल म दरद न आई।

गाय बधे सो तुरुक कहावे, यह क्या उनसे छोटे ?
कहै कबीर, सुनो भाई साधो, कलि के बाम्हन खोटे।
—कबीरदास (१५ वीं सदी)

अलह कहो, भावे राम कहो, डाल तजो, सब मूल गहो।

× × ×

दादू ना हम हिन्दु होहिंगे, ना हम मूसलमान,
षट् दर्शन में हम नहीं, हम राते रहिमान।

× × ×

हिन्दू लागे देहुरा, मूसलमान मसीति,
हम लागे इक अलख सों, सदा निरन्तर प्रीति।

× × ×

दोनो भाई हाथ-पग, दोनो भाई कान,
दोनो भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान।
—स्वामी दादूदयाल (मृत्यु सन् १६०३ ई०)

हेत न करि हिन्दू धरम, तजि तुरकी रसरीति,
रज्जब जिन पैदा किया, ताही सूँ करि प्रीति।

× × ×

रज्जब हिन्दू-तुरक तजि, सुमिरहु सिरजनहार,
पखापखी सूँ प्रीति करि, कौन पहूँचा पार ?
—रज्जबजी (अनुमित मृत्यु-वर्ष सन् १६८३ ई०)

कहियो जाय सलाम हमारी राम को,
नैन रहे झड़ लाय तुम्हारे नाम को।
—वाजिदजी (दादू के शिष्य)

हिन्दू की हद छाडि के, तजी तुरुक की राह,
सुन्दर सहजे चीन्हिया, एकै राम-अलाह।
—स्वामी सुन्दरदास (दादू के शिष्य)

सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू-मूसलमान,
साहेब तिसको बन्दता जिसका ठौर इमान।

× × ×

तौजी और नमाज न जानूँ, ना जानूँ धरि रोजा,
बाँग जिकिर तबहीसे बिसरी जब से यह दिल खोजा।

कहै मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सो दिल लाया,
मक्का-हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया।

—मलूक दास (मृत्यु-वर्ष सन् १६८२ ई०)

मूरत औ कबर न बोल, न खाय कछु, हिन्दू औ तुरुक, तुम कहा पाया ?
दास पलटू कहै, पाया तिन्ह आपमें, मूए बैलने कब घास खाया ?

—पलटू साहब (अठारहवी सदी का अपराद्धं)

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या भारतवर्ष की सब से भयानक समस्या है। जब सन् १९२० ई० मे गाँधीजी आये और उन्होने खिलाफत तथा असहयोग-आन्दोलनो को मिलाकर हिन्दुओ और मुसलमानो को एक कर दिया, अगरेज बेतरह घबरा गये थे और भारतवासियो का हृदय आशा से फूल उठा था। किन्तु, एकता टिकी नही। जिन मुसलमानो ने राष्ट्रीयता का व्रत लिया, बाकी मुस्लिम जनता उनके खिलाफ हो गयी। आखिर को, आजादी के समय, भारत का विभाजन इस उम्मीद मे किया गया कि इससे हिन्दू-मुस्लिम-समस्या समाप्त हो जायगी। सो, देश बँट गया यह सही है, परन्तु, एकता आज भी नही है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की राहे केवल दो हैं। एक तो यह कि देश से धर्म का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाय, मस्जिद और मन्दिर नेस्तनाबूद कर दिये जायें और आदमी केवल आर्थिक और राजनैतिक यन्त्र का पुर्जा बनाकर छोड दिया जाय। गाय और बाजे के पीछे आदमी की कीमती जाने इस देश मे इतनी ज्यादा बर्बाद हुई हैं कि बीसवी सदी के अनेक चिंतको और कवियो को एक समय यही राह ठीक दिखायी देती थी।[1]

दूसरी राह वेदान्त की राह है। वेदान्त हिन्दू-दर्शन का शब्द जरूर है, लेकिन, वह हिन्दुत्व नही है। सच्चा वेदान्ती न हिन्दू होता है, न मुसलमान, न बौद्ध या क्रिस्तान। वह केवल अच्छा आदमी होता है। प्रत्येक धर्म के दो पक्ष होते है, जिन्हे श्रुति और

---

१. तेरे झूठे कुफ्रो-ईमाँ को मिटा डालूँगा मै,
हड्डियाँ इस कुफ्रो-ईमाँ की चबा डालूँगा मै।
डाल दूँगा तर्जे-नौ अजमेर और प्रयाग मे,
झोक दूँगा कुफ्रो-ईमाँ को दहकती आग में।

—जोश मलीहाबादी

तथा

ठोकर मार फोड दे उसको, जिस बरतन मे छेद रहे,
वह लका जल जाय जहाँ भाई-भाई मे भेद रहे।
गजनी तोडे सोमनाथ को, काबे को दें फूंक शिवा,
जले कुराँ अरबी रेतो मे, सागर जा फिर वेद रहे।

—द्वन्द्व-गीत

स्मृति कहने का चलन है। श्रुति धर्म का वह भाग है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते हैं। स्मृति धर्म का वह रूप है जहाँ पहुँच कर सभी धर्म परस्पर भिन्न हो जाते हैं। अदृश्य वास्तविकता से सबद्ध होने की इच्छा धर्म का श्रुति-रूप है। इस इच्छा को कार्य का रूप देते समय मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरो को महत्त्व दे वैठना धर्म के स्मृति-रूप को वढावा देता है। श्रुति सभी धर्मो को एक स्थान पर लाती है। स्मृतियाँ धर्मो को एक-दूसरे से दूर ले जाती हैं। धर्म का यही श्रुति-रूप वेदान्त है जो मनुष्य को सहिष्णु, सर्वप्रेमी और कूटस्थ बनाता है। वेदान्त धर्म का वह रूप है जो मुसलमान को पहले से अच्छा मुसलमान और हिन्दू को पहले से अच्छा हिन्दू वना सकता हैं।

धर्मो के आनुष्ठानिक रूप यदि महत्त्व पाते रहे तो विश्व के धर्मो मे कभी भी एकता नही हो सकेगी। मुसलमान कहता रहेगा कि हिन्दू यदि बाजे वजायेगे तो मेरी नमाज में वाधा पडेगी। और हिन्दू चीखता रहेगा कि मुसलमान यदि गोहत्या करेंगे तो मैं अपनी जान दे दूँगा। तव भी, हर बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि धर्म की समाधि सडक पर होनेवाले शोर से नही टूटती, और एक व्यक्ति यदि मास-भक्षण करता है तो उसके पाप की जिम्मेवारी किसी दूसरे मनुष्य के मत्थे नही मढी जायगी। इसी बुद्धि को अपने मन मे बसा लेना और उसके अनुसार आचरण करना वेदान्त है।

यही वह ज्ञान है जिस पर आरूढ होने से श्री रामकृष्ण परमहस को एक धर्म से दूसरे धर्म का भेद दिखायी नही देता था। यही वह स्वप्न है जिससे प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कल्पना की थी कि भारत का भावी धर्म वह है जिसमे वेदान्त का मन और इस्लाम का शरीर एकाकार होगे। यही वह दृष्टि है जिसे पाकर कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने कहा था, धर्म को पकडे रहो, लेकिन, धर्मो को छोड दो। कवीर से लेकर मलूकदास तक भारत के सभी सतो ने जिस परम धर्म का आख्यान किया था, उसी धर्म को डा० राधाकृष्णन आज की भाषा में "रिलीजन आव् स्पिरिट" अथवा आत्मा का धर्म कहते ह। ससार के और लोग इस धर्म पर चाहे कुछ विलव से ही आये, लेकिन, हिन्दुस्तान के हिन्दुओ और मुसलमानो को इस धर्म का वरण, शीघ्र-से-शीघ्र, करना चाहिए, क्योकि सर्वनाश का खड्ग आज उन्ही की गरदन पर झूल रहा है।

तसव्वुफ का भारतीयकरण

सूफियो की प्रेम-पीडा की भाषा फारसी रही थी। भारत मे आकर उसने भारतीय रूप लेना आरभ किया। कवीर दास भी सूफी ही थे, किन्तु, वे तसव्वुफ के उस रूप के कवि हुए, जिस पर हठयोग और वेदान्त का पूरा प्रभाव था। तसव्वुफ की एक दूसरी धारा के भी भारत मे अनेक कवि हुए हैं जो, प्राय, सव-के-सव मुसलमान थे और जो, किसी-न-किसी, प्रसिद्ध सूफी फकीर की शिष्य-परपरा मे पडते थे। इन कवियो के शिरोमणि मलिक मुहम्मद जायसी हुए जो शेरशाह के समकालीन थे।

इन कवियो की गणना हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवियो में की जाती है। इन कवियों ने अपना प्रेम-काव्य मसनवी के ढाँचे में लिखा है। उनकी भाषा अवधी है और छन्दो में सर्वत्र प्रयोग उन्होंने दोहा और चौपाई का किया है। सूफी-पन्थ मे भक्त अपने को आशिक और भगवान को माशूक समझता है तथा भक्ति और भगवान के बीच काफी ऊँचा स्थान गुरु को भी दिया जाता है। हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवियो के काव्य मे ये रूपक सर्वत्र पाये जाते हैं। ये कवि कोरे कलाकार नही, प्रत्युत, अपने धर्म के सेवक थे। ईरान के सूफी कवि अपनी मसनवियो में अपनी धार्मिक अनुभूतियाँ लिखा करते थे। हिन्दी के इन मुस्लिम साधकों ने भी हिन्दी मे मसनवियो की ही रचना की है। कथारभ के पहले उन्होंने ईश्वर-स्तुति और पैगम्बर साहब की वन्दना लिखी है और, अन्त मे, यह दर्शाया है कि आध्यात्मिक प्रसग में पूरे काव्य का तात्पर्य क्या है। हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवि यह दृष्टान्त छोड गये है कि यदि कोई मुसलमान, फ़ारसी छोड कर, अपनी साधना भारतीय भाषाओ के जरिये करे तो उसे जो सफलता मिल सकती है, वह फ़ारसी में नही मिलेगी।

पद्मावत की रचना जायसी ने शेरशाह के समय में की थी। कहते हैं, इस काव्य का बँगला अनुवाद आराकान के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० में करवाया था। जायसी से पूर्व कुतवन ने मृगावती की रचना की थी। कुतवन से मृगावती काव्य रचवाने का श्रेय हुसेन शाह को दिया जाता है जो बगाल के शासक थे। बगाल में "सत्यपीर" की कथा का आरभ भी हुसेन शाह ने ही करवाया था।

हिन्दी में जितने भी सूफी प्रेम-काव्य के ग्रन्थ है, उनकी मूल-प्रतियाँ कहीं-न-कहीं, फ़ारसी लिपि में ही पायी गयी है और इसका भी प्रमाण मिलता है कि, फ़ारसी लिपि में होने पर भी, ये काव्य हिन्दी-प्रान्तो में काफी पढे जाते थे। सब से बडा प्रमाण तो यह है कि तुलसीदासजी ने जब रामचरितमानस की रचना की, तब अपने काव्य की भाषा और उसके छन्द उन्होंने वे ही रखे जिनका प्रयोग जायसी आदि कवियो ने किया था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दिशा में एक समय इन काव्य-ग्रन्थो ने बहुत अच्छा योगदान दिया था। प० रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि हिन्दुओ और मुसलमानो के दिलो को आमने-सामने लाकर उनका अजनबीपन मिटानेवालो में इन्ही कवियो का नाम लेना पडेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओ की कहानियाँ हिन्दुओ की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओ के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा दिया।"

किसी भी कविता मे कवि के असली मनोभाव छिपाये नही छिपते है। विशेषत, जायसी ने जो कथानक चुना था, वह चित्तौरगढ, पद्मिनी रानी और अल्लाउद्दीन खिलजी से सबद्ध था। अतएव, यह विषय उनके लिए काफी खतरनाक था। किन्तु, जायसी ने इस कथानक का निर्वाह ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई भी हिन्दू कवि कर सकता

था। हिन्दुओ के विचार, विश्वास और आचार के प्रति जायसी ने जो श्रद्धा दिखायी है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वेद और पुराण की निन्दा हिन्दू नही सुन सकते थे। किन्तु, पद्मावत का एक चरित्र राघवचेतन वेद-निन्दक है। अतएव, जायसी ने उसे खल बताया है और उसकी निन्दा ही लिखी है। अल्लाउद्दीन हिन्दुओ की दृष्टि मे हेय समझा जाता था। जायसी ने ग्रन्थ के अन्त मे यह सूचना दी है कि अल्लाउद्दीन माया का प्रतीक है (माया अलादीन सुलतानू)। अवश्य ही, जायसी मे यदि साप्रदायिकता रही होती तो अल्लाउद्दीन को वे माया का प्रतीक नही बताते। मुस्लिम-अत्याचार की निन्दा करनेवाला मुसलमान हिन्दुओ का प्यारा होता है, यह सिद्धान्त हम जायसी के कृतित्व से निकाल सकते हैं।

ग्रन्थ मे विवाह का वर्णन बिलकुल हिन्दू-प्रथा के अनुसार है तथा अल्लाउद्दीन के स्वागत में जो भोज होता है, उसमे ऐसे किसी भी भोजन का उल्लेख नहीं है जो हिन्दुओ के लिए अखाद्य हो। इसके सिवा, हठयोग, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार आदि का जो वर्णन काव्य में आया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का मन इस देश की सस्कृति और परपरा में किस प्रकार रँगा हुआ था। और इतना होने पर भी, जायसी के मुसलमान होने पर कही कोई पर्दा नही पडा है। उन्होने पैगम्बर साहब की स्तुति उसी भक्ति से की है जिस भक्ति से हिन्दू कवि, ग्रन्थारभ मे, अपने इष्टदेव की वन्दना करते थे।

भारत के हिन्दू और मुसलमान अब भीरु और दकियानूस हो गये है। एक समय उन्हे इस चिंता ने घेरा था कि अगरेजी पढने से हमारी सस्कृति बिगड़ जायगी। उस पस्ती से हिन्दू तो बहुत पहले ही छूट गये, मुसलमान कुछ देर से निकले। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा मे वे हिन्दुओ से कुछ पीछे रह गये। आज फिर मुसलमान कुछ वैसी ही चिंता मे गिरफ्तार है। उन्हे फिर यह फिक्र हो गयी है कि हिन्दी सीखने से कही हमारी सस्कृति न खराब हो जाय। लेकिन, अमीर खुसरो, जायसी, कुतबन, मझन, रहीम, रसखान, आलम और मुमताज,ये सभी हिन्दी-कवि इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय मुसलमान यदि भारत की भाषाएँ सीखे या उनमें रचना करे तो इससे उनकी सस्कृति दूषित नही होगी। उल्टे, उन्हे अधिक पाठक और प्रशसक प्राप्त होगे और उनके इस काम से, इस्लाम के साथ-साथ, हिन्दुस्तान की भी बहुत बडी सेवा होगी। हिन्दी का वह रूप प्रकट हो सकता है जो हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो के अनुकूल हो।

हिन्दू-संस्कृति के समझने का प्रयास

मुसलमानो के भारत-विजय के पूर्व ही हिन्दू-सस्कृति के बहुत-से ग्रन्थो का अनुवाद अरबी और फारसी मे हो चुका था। भारत मे इस्लामी राज्य कायम हो जाने के बाद अनुवाद की उपादेयता पर मुसलमानो का ध्यान जरा देर से पडा। पठानो मे अनुवाद के लिए कोई खास उत्साह नही था। सूफी साधक अपने मतलब का ज्ञान, शायद, हिन्दू

गुरु-भाइयो से प्राप्त कर लेते थे। हठयोग की साधना तो पुस्तकीय ज्ञान मात्र से शक्य थी भी नही। अतएव, योग-विषयक ज्ञान मुसलमान साधक संगति से ही प्राप्त करते थे। तब भी पठान-काल में भी अनुवादो के कुछ दृष्टान्त मिलते है। महाभारत का बँगला अनुवाद, सब से पहले, नसीरशाह (१२८२-१३२५ ई०) ने करवाया था। नसीरशाह भारतीय भाषाओ को काफी प्रोत्साहन देता था। विद्यापति ने भी नसीरशाह की प्रशसा लिखी है।

बगाल के अन्य सूबेदार हुसेनशाह भी बँगला भाषा के प्रेमी थे। भागवत का बँगला अनुवाद कराने के काम पर मालावर वसु को उन्ही ने नियुक्त किया था। पीछे, उन्ही की देखादेखी हिन्दू राजे भी बँगला को प्रोत्साहन देने लगे। इन्ही हुसेनशाह ने मृगावती काव्य की भी रचना करवायी थी।

लेकिन, सस्कृत से फारसी मे अनुवाद के काम, धडल्ले के साथ, मोगल-काल मे आरभ किये गये। अकबर के दरबारी पण्डित फैजी ने योगवाशिष्ठ, लीलावती, नल-दमयन्ती और सिहासन-बत्तीसी का अनुवाद फारसी में किया। अथर्ववेद का फ़ारसी अनुवाद हाजी इब्राहीम ने किया एव रामायण और महाभारत का अनुवाद कइयों ने मिलकर, जिनमे कुछ हिन्दू भी थे, जिन्होने अच्छी फारसी सीख ली थी। अथर्ववेद का भी अनुवाद हिन्दू और मुस्लिम पडितो ने मिलकर किया था, यद्यपि, अथर्ववेद के अनुवादक के रूप में नाम केवल मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी का ही लिया जाता है। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदो के अनुवाद अपनी देख-रेख मे करवाये थे।

मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, रामतीर्थ और आदित्य नाम के हिन्दू पडित और सास्कृतिक नेता अकबर के दरबार मे आया करते थे। यह भी कहा जाता है कि तुलसी, सूर और दादूदयाल की भेंट मोगल बादशाहो से हुई थी।

असांप्रदायिक व्यवहार के दृष्टान्त

औसत मुसलमान आचारो मे उदार और विचारो मे कट्टर होता है। मिलने-जुलने, खान-पान और सामाजिक सौजन्य में वह किसी का भी अनादर नही करता। लेकिन, विचार के धरातल पर उसमे विरोधी मतो के लिए सहानुभूति बहुत कम होती है। मसलन, मुसलमान के लिए इस सभावना को कबूल करना कठिन है कि दुनिया के अन्य धर्म इस्लाम की छाया भी छू सकते है। हिन्दू का हाल ठीक इसके विपरीत है। वह विचार के धरातल पर अत्यन्त उदार होता है। ससार के अन्य धर्मो को अपने ही धर्म के समान मानकर उन पर श्रद्धा करने मे कठिनाई, कदाचित् ही, किसी हिन्दू को होगी। परन्तु, सामाजिक आचार के मामले मे हिन्दू जितने सकीर्ण होते है उतने सकीर्ण दुनिया के और कोई लोग नही है। मुसलमानो के साथ हिन्दुओ ने जो सबन्ध स्थापित किया, उसमें हिन्दू-स्वभाव के गुण और अवगुण, दोनो प्रकट हो गये।

आचार के मामले मे हिन्दुओ ने यह स्पष्ट कर दिया कि मुसलमानो का छुआ हुआ पानी हम नही पियेगे, न उनके साथ हम रोटी-बेटी का सबन्ध करनेवाले है। किन्तु, विचार के धरातल पर हिन्दुओ ने इस्लाम को भी आदरणीय धर्म मान लिया। राणा कुभा के प्रसिद्ध कीर्त्ति-स्तभ मे हिन्दुओ के सभी देवी-देवताओ की मूर्त्तियाँ है। किन्तु, अरबी अक्षरो मे अल्लाह का नाम भी उस पर खुदा है। "वह निराकार ब्रह्म का अरबी नाम है। इस प्रकार, इस्लाम के बुनियादी विचार को हिन्दुओ ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया।"

मुसलमानो की सभी लडाइयाँ हिन्दुओ के ही खिलाफ नही थी, वे आपस मे भी लडते थे, जैसी लडाइयाँ हिन्दुओ ने भी हिन्दुओ के खिलाफ लडी थी। अनेक बार ऐसा भी हुआ कि लडाइयो मे हिन्दुओ ने मुसलमानो का और मुसलमानो ने हिन्दुओ का साथ दिया। बाबर और राणा साँगा की लडाई मे सुलतान महमूद लोदी और मेवात के हसन खाँ राणा साँगा के साथ थे। हेमू अफगानो का सेनापति था और दरबार ने, हिन्दू-परपरा के अनुसार, उसे विक्रमादित्य की पदवी दी थी। औरगजेब के समान कट्टर हिन्दू-द्रोही बादशाह भी अपनी फौज मे हिन्दू सेनापति रखता था। इसी प्रकार, राणा प्रताप और शिवाजी महाराज की सेना मे भी अनेक पठान अफसर काम करते थे। शिवाजी के यहाँ तो मुसलमान अच्छे-से-अच्छे पदो पर नियुक्त किये गये थे। अपने छह सौ वर्षो के राज्यकाल मे मुसलमानो ने ज्यादा लडाइयाँ मुसलमानो के ही खिलाफ लडी। सन् ११९३ ई० से लेकर सन् १५२६ ई० तक दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर जो ३५ सुलतान बैठे, उनमे से १९ सुलतानो की हत्या हिन्दू नही, मुस्लिम दुश्मनो के हाथो हुई थी।

शिवाजी महाराज साप्रदायिक समझे जाते है, किन्तु, उनके साप्रदायिक होने का हमे कोई प्रमाण नही मिला। अपने सारे जीवन मे उन्होने एक भी मस्जिद लुटवायी हो, इसका कोई भी सबूत इतिहास मे नही है। एक बार लूट के माल मे उन्होने कुरान-शरीफ की एक प्रति देखी और वे अपने सिपाहियो पर नाराज हो उठे। निदान, कुरान की प्रति जिसके घर से लायी गयी थी, उसीके घर वह पहुँचा दी गयी। एक बार ऐसा हुआ कि उनके सिपाही कल्याण के सूबेदार का घर लूटकर, लूट के माल मे, सूबेदार की बेटी को भी साथ ले आये। शिवाजी महाराज ने इस पर बडा ही पश्चात्ताप प्रकट किया और उस युवती को उन्होने इज्जत के साथ डोली मे बिठाकर उसके घर भेज दिया। आदमी बहन की बिदाई मे जैसे उपहार भेजता है, वैसे ही, उस युवती को उपहार मे उन्होने दो गाँव भी दिये।

अपने सिपाहियो को शिवाजी ने कड़ी हिदायत दे रखी थी कि लडाई या लूट के प्रसग मे मस्जिद, कुरान और नारी की बेइज्जती नही होनी चाहिए। शिवाजी के समय के जो कागजात मिले है, उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि शिवाजी का उद्देश्य इस्लाम

का अनादर नही, केवल "हिन्दवी स्वराज्य" का सस्थापन था। उन्होने तलवार अत्याचार का विरोध करने को उठायी थी और चूँकि अत्याचारी शासक मुसलमान थे, इसलिए, लोगो ने, गलत ढग से, शिवाजी महाराज को साम्प्रदायिक मान लिया।

हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच कटुता का सबन्ध, प्राय, पठानो के समय तक चला। मोगलो के आगमन के बाद परिस्थिति मे सुधार आने लगा। मोगल सम्राट अकबर ने जिस उदारता का परिचय दिया, उसके बीज बाबर के ही हृदय में मौजूद थे। बाबर ने हुमायूँ के लिए एक वसीयतनामा[1] लिखा था, जिसमें हमायूँ को उसने ये उपदेश दिये थे —

"हिन्दुस्तान में अनेक धर्मो के लोग बसते है। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअास्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मो की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिन्दू पवित्र मानते है, अतएव, जहाँ तक हो सके, गोवध नहीं करवाना और किसी भी सम्प्रदाय के पूजा के स्थान को नष्ट नहीं करना।"

साहित्य और कला की सेवा मे मोगलो ने साम्प्रदायिकता नही आने दी। मनोहर मिश्र, जगतराम, बीरबल, होलराय, टोडरमल, भगवानदास, मानसिंह, नरहरि और गग को अकबर ने काफी सम्मान दिया था। हिन्दू चित्रकारो में भी मुकुन्द, महेश, जगन, हरिवश और राम का, मोगलो के यहाँ, बड़ा सम्मान था। जैसे पठान-युग मे खुसरो, कबीर, जायसी आदि मुस्लिम कवियो ने हिन्दी-साहित्य की रचना की थी, वैसे ही, मोगल-काल मे रसखान, आलम, जमाल, रसलीन, कादिर, मुबारक, रहीम और ताज ने हिन्दी की बहुत अच्छी सेवा की। दाराशिकोह तो हिन्दी, सस्कृत और हिन्दुत्व के पक्षपाती होने के कारण मुसलमानो मे काफी बदनाम थे। कहते है, उनकी अँगूठी पर, नागरी अक्षरो मे, "प्रभु" शब्द अकित रहता था। शेरशाह के सिक्को पर भी नागरी और फारसी अक्षरो में उसका नाम खुदा रहता था। उसके कई सिक्के ॐ और स्वस्तिक के चिह्न वाले भी पाये गये है[2] शेरशाह का न्याय भी अटल था। एक साधारण स्त्री की फरियाद पर उसने अपने बेटे को कडा दण्ड दिया था। कवि सुन्दरदास को शाहजहाँ ने "महाकविराज" की उपाधि दी थी।

जो हिन्दू नारियाँ मोगलो के घर ब्याही गयी, वे राजमहल मे हिन्दू-विधि से ही रहती थी, ऐसा कहा जाता है। रानी जोधबाई के आँगन मे तुलसी के वृक्ष बराबर लहलहाते रहते थे। उनके घर मे होम और यज्ञ भी बराबर होते थे। अकबर और जोधबाई के महलो के बीच के रास्ते पर हरम की और कोई रानी नही चल सकती थी। लेकिन, यह सम्मान भगवानदास की बेटी को नही मिला जिसका ब्याह जहाँगीर से हुआ

---

१ इसकी प्रति भोपाल के राज-पुस्तकालय मे मौजूद बतायी जाती है

२ इतिहास-प्रवेश

था। जहाँगीर हिन्दू-द्वेष्टा नही था, लेकिन, उसके पूरे हृदय पर एकमात्र नूरजहाँ का राज्य था।

समकालीन कवियों का दृष्टिकोण

कबीर दास तथा उनकी परपरा के सत कवि और मलिक मुहम्मद जायसी एव उनकी परपरा के प्रेममार्गी सूफी कवि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को किस दृष्टि से देखते थे, यह बात हम, सक्षेप मे, ऊपर कह आये है। इन दोनो ही परपराओं के कवि इस समस्या से पूर्णरूप से अवगत थे और इसका समाधान वे दोनों धर्मों के लोगो को परस्पर समीप लाकर करना चाहते थे। एकता की जो राह सत कवियो को दिखायी पडी थी, वह यह थी कि हिन्दू और मुसलमान, अपने-अपने धर्म के बाह्याडम्बरो को छोडकर उनसे ऊपर उठे और उस परम धर्म को ग्रहण करे जहाँ से सभी धर्म उत्पन्न होते है और जो सभी धर्मों में एक समान व्याप्त है। प्रेममार्गी सूफी कवियो ने अपनी अनुभूति को भारत की भाषा मे लिखकर, मानो, यह सदेश दिया कि हम भारत के मुसलमान है, अतएव, हमारी आत्मा की भाषा फारसी नही, भारत की भाषा होगी हम अपनी सस्कृति का आख्यान इसी देश की भाषा मे करेंगे और हम अपनी "प्रेम की पीर" इसी देश की जनता को सुनायेंगे।

किन्तु, हिन्दी के अन्य महाकवि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को किस दृष्टि से देखते थे, इसका निश्चित ज्ञान हमे नही मिलता। विद्यापति ठाकुर कबीर दास से पहले हुए थे। उनकी पदावली मे मुसलमानो पर किंचित् भी आक्रोश नही है। बल्कि, नसीरशाह का उल्लेख उन्होने थोडी-बहुत प्रसन्नता से ही किया है। हाँ, जौनपुर के मुसलमानों का वर्णन करते हुए उन्होंने उनके उच्छृखल व्यवहारो का उल्लेख दु ख के साथ अवश्य किया है।

> धरि आनय बाभनक बरुआ, मथा चढावय गायक चुरुआ।
> हिन्दू बोलहि दूरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार।
>
> —कीर्त्तिलता

(ब्राह्मण कुमार को पकड लाता है ; उसके माथे पर गोमांस की हाँडी चढा देता है। हिन्दू नाम सुनते ही दुरदुरा कर बाहर कर देता है ; तुर्क छोटा ही क्यों न हो, आतक वह खूब दिखाता है।)

हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास मे भी मुसलमानो के प्रति निन्दा और आक्रोश के भाव नही है। विद्यापति और सूरदास ने अपने लिए जो विषय चुना था, वह ऐसा था भी नही जिसमे समकालीन सामाजिक समस्या झाँकी मारती। हाँ, मुस्लिम-काल मे लोक-समाहार के महा समर्थ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए जो अपने समय से लेकर आज तक जनता के हृदय पर एकच्छत्र राज्य करते आ रहे हैं। तुलसीदास केवल कवि ही नही हैं। उनका स्थान हिन्दू-सस्कृति के रक्षक, त्राता और उद्धर्त्ता का स्थान है।

नैतिक विषयो पर धर्मशास्त्रो का कहाँ क्या कहना है, यह जानने की चिंता उत्तर भारत मे अधिक नही है। वहाँ की जनता प्रत्येक विषय पर केवल तुलसीदास की राय जानना चाहती है। तुलसीदास पर जनता का ऐसा अटल विश्वास है कि राजा, नेता और फकीर, इनमें से जो भी तुलसी के खिलाफ होगा, जनता उसके खिलाफ हो जायगी। अवश्य ही, ऐसा सम्मान वही कवि पा सकता है जिसने अपने देश की सस्कृति के कण-कण को अपने भीतर पचा लिया हो और जिसका हृदय अपार जनता के हृदय से बिलकुल एकाकार हो। तुलसीदास ऐसे ही कवि हुए हैं, अतएव, उनके प्रसग मे महत्त्व केवल उतरे का ही नही है जिसे कहने का उन्हे अवसर मिला, बल्कि, महत्त्वपूर्ण बातें वे भी हैं जो उनके कहने से छूट गयी हैं।

तुलसीदास के सारे साहित्य में इस बात का कही रच भर भी प्रमाण नही है कि मुसलमानो पर उन्हे तनिक भी क्रोध या आक्रोश था। उनका समय अकबर और जहाँगीर के राज्य-काल मे पडता है जब हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का ताप, काफी दूर तक, शमित हो चुका था, जब लोग यह भूल चुके थे कि मुसलमान विदेशी हैं और जब हिन्दू और मुसलमान पडोसी बनकर शान्ति के साथ जीने लगे थे।

तुलसीदास का सम्मान दोनो ही धर्मो के लोग करते थे। खानखाना रहीम से तुलसीदास की दोस्ती थी, यह बात साहित्य के इतिहास मे अनेक बार कही गयी है। जब तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखा, रहीम ने कुछ दोहे रच कर उस काव्य की प्रशसा की थी और यह स्वीकार किया था कि यह काव्य हिन्दुओ के लिए वेद और मुसलमानो के लिए कुरान है।[१] जनश्रुति तो यह भी चलती है कि अकबर से तुलसीदास की भेंट हुई थी, किन्तु, इस जनश्रुति का कोई भी आधार नही है। इसी प्रकार, तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नही अथवा मानसिंह को वे किस दृष्टि से देखते थे, यह सब जानने का हमारे पास कोई साधन नही है।

तुलसीदास के विषय मे दृढतापूर्वक कहने योग्य बात केवल यह है कि वे निगमागम-सम्मत हिन्दुत्व के कट्टर पक्षपाती थे और वर्णाश्रम-धर्म की किंचित् भी अवज्ञा उन्हें पसन्द नही थी। वे वैदिक धर्म के अनुष्ठानो मे पूरी श्रद्धा रखते थे तथा धर्म-परिवर्तन की तो बात ही क्या, वे शूद्रो द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना भी नही सह सकते थे।[२] मुस्लिम-समाज हिन्दू-समाज से बिलकुल भिन्न था, इसलिए, तुलसीदास को यह चिंता नही थी कि मुसलमान अपने समाज मे क्या करते हैं। किन्तु, हिन्दू-समाज के भीतर रहकर जो लोग जनता को यह सिखाते थे कि मन्दिरो मे जाना व्यर्थ है, व्रत रखने से पुण्य नही होता और साकार की उपासना अन्धविश्वासी मनुष्य करता है, तुलसीदास

---

१. हिन्दुआन को बेद सम, तुरुकहिं प्रगट कुरान। —रहीम
२ सूद्र द्विजहि उपदेसहिं ग्याना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना। —तुलसीदास

ऐसे सभी निराकारवादियो के कट्टर विरोधी थे। एक दिन कोई "अलख-निरंजन" की पुकार लगानेवाला निराकारवादी फकीर उनके दरवाजे पर पहुँचा और "अलख-अलख" का नारा लगाने लगा। तुलसीदास उस फकीर पर विगड गये और बोले, "तुलसी अलख को देख चुका है, मगर, तू रामनाम का जप कर।"

हम लख हमहि, हमार लख हम-हमार के बीच,
तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच।

तुलसीदासजी नाथ-पन्थियो और गोरख-पन्थियो के भी विरुद्ध थे, क्योकि उनका विचार था कि योगाचार की ओर जनता को प्रेरित करने से कोई लाभ नही है। इन पथो के फेर मे पडी हुई जनता मन्दिर और मूर्त्ति को तो आसानी से छोड देती थी, किन्तु, निराकार-वादी मत के सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान उसके पल्ले नही पडता था। इस प्रकार, वैदिक परंपरा कमजोर होती थी और जनता का हृदय शून्यता से भरता जाता था। अतएव, एक जगह उन्होने यह भी कहा है कि गोरख ने ऐसा योग जगाया कि लोगो की भक्ति ही भाग गयी।[1]

साकार मत और वेद-पुराण की निन्दा कबीर आदि सतो ने खुलकर की थी। इस निन्दा का समर्थन प्रेममार्गी सूफी कवि भी करते थे। अतएव, एक स्थल पर तुलसी-दास ने ऐसे भक्तो को भी फटकारा है।

साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान,
भगत निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं वेद-पुरान।

अवश्य ही, यहाँ "साखी, सबदी और दोहरा" से आशय कबीर, दादूदयाल आदि से है तथा कहानी और उपाख्यान कहनेवाले भक्त जायसी, कुतबन, मझन और उस्मान है।

स्थापित राज्यसत्ता के तुलसीदास न तो प्रशसक थे, न आलोचक। धरती के राजदरबारो से ऊपर एक और दरबार है, जो स्वय भगवान का है। तुलसीदास ने अपना पट्टा इस बडे दरबार में लिखवा लिया था। फिर दिल्ली के बादशाह की ओर वे लालच से क्यो देखते?

हम चाकर रघुवीर के, पट्यौ लिख्यौ दरबार,
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार?

इस दोहे से जो थोडी-सी अवज्ञा ध्वनित होती है, वह अवज्ञा मुसलमान की नही, राज्यसत्ता की है, जिससे भारत के सत अपने को हमेशा श्रेष्ठ समझते थे। रामचरित-मानस के अन्त मे तुलसीदास ने कहा है कि यह कथा कामी, क्रोधी और ब्राह्मण-द्रोष्टा को नही सुनानी चाहिए, भले ही, वह ब्राह्मण-द्वेपी इन्द्र के ही समान क्यो न हो।

---

१ गोरख जगायो योग, भगति भगायो लोग।

द्विज-द्रोहिंहि न सुनाइय कबहूँ,
सुरपति-सरिस होय नृप जबहूँ।

किन्तु, खानखाना रहीम को अपना काव्य सुनाने मे तुलसीदास को आपत्ति नही थी।

यदि भूषण को छोड दे तो हिन्दू-मुस्लिम-समस्या पर मध्यकालीन हिन्दी कवियो की प्रतिक्रिया हमे दो रूपो मे दिखायी देती है। कबीर, दादूदयाल, जायसी और उस्मान इस पक्ष मे है कि दोनो जातियो के लोग एक हो जायँ, यदि एक न हो सकें तो, कम-से-कम, काफी नजदीक आ जायँ। किन्तु, दूसरी धारा के कवि कहते है, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से अलग रहे, इसमें आपत्ति की कोई बात नही है। लेकिन, एक दूसरे के धर्म मे उन्हे दखल नहीं देना चाहिए। विद्यापति, सूरदास और तुलसीदास तथा, कदाचित्, खानखाना रहीम, रसखान, मुबारक और रसलीन भी इसी पिछली धारा के पक्षपाती है।

बुद्ध के समय से भारत मे सस्कृति की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट रही है। एक धारा वह है जो वर्णाश्रम-धर्म को अक्षुण्ण रखना चाहती है, जिसका विश्वास वेदो, पुराणो, स्मृतियो और धर्मशास्त्रो मे है तथा जो धर्म के स्मृति-रूपों पर श्रद्धा रखती है एव मन्दिर, मूर्त्ति, तीर्थ और व्रत मे विश्वास करती है। इस धारा के आचार्य मनु और शकर तथा उसके कवि कालिदास, जयदेव, विद्यापति और तुलसीदास है। आधुनिक काल में इस धारा के ओजस्वी प्रतिनिधि प० मदनमोहन मालवीय थे। दूसरी धारा वह है जो बुद्ध के कमडलु से निकली थी और जो बौद्ध आचार्यो से होकर सरहपा-नहपा आदि सिद्धो मे पहुँची और कबीर, नानक, दादूदयाल एव जायसी मे होकर आधुनिक काल मे स्वामी दयानन्द और महात्मा गाधी में प्रकट हुई थी। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, ये दोनो ही धाराएँ परस्पर समीप होती जा रही है। परमहस रामकृष्ण मे तो ऐसा दिखायी पडा, मानो, ये दोनो ही धाराएँ सगम पा कर पर्यवसित हो गयी हो। किन्तु, उनके बीच की दूरी अभी बाकी है। भारत और निखिल मानवता का भविष्य यदि अच्छा है तो, एक-न-एक दिन, ये दोनो धाराएँ एक हो जायँगी। भविष्य, कदाचित्, तुलसीदास के पक्ष में कम, कबीर की ओर कुछ अधिक है।

तब भी, यह मानना ही पडेगा कि तुलसीदास असाप्रदायिक कवि है। इसका एक अन्यतम प्रमाण यह भी है कि अरबी-फारसी शब्दो से उन्हे किंचित् भी घृणा नही थी।

राज्यसत्ता से अपने को श्रेष्ठ बताने का भाव साप्रदायिकता नही, बल्कि, साहित्यिक का स्वाभिमान है। ऐसी श्रेष्ठता का दावा वैष्णव कवि कुभनदास ने भी किया है—

संत को सिकरी सो का काम?
आवत-जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम।

श्रीधर नाम के एक कवि अकवर के समय मे हो गये है। अकवर गुणग्राहक और उदार सम्राट थे, अतएव, पण्डित और कवि वरावर उनके दरवारमे हाजिरी देने जाते थे। यह वात श्रीधर कवि को वहुत वुरी लगी। वुरी लगने की वात ही है। दरवार चाहे अकवर का हो या आधुनिक शासको का, वहाँ जो पडित हाजिरी देने जाता है, वह किसी लोभ से ही जाता है।

राजदुआरे साधुजन, तीनि वस्तु को जायें,
कै मीठा, कै मान को, कै माया की चाय।

श्रीधर ने ऐसे सभी कवियो को फटकारते हुए जो प्रभावपूर्ण सवैया लिखा, वह हमेशा कवियो के समक्ष टाँगे रखने के योग्य है। इस सवैये मे अकवर की अवज्ञा तो है ही, कुछ थोडी अवज्ञा अकवर के दादा वावर की भी है। किन्तु, कवि के भाव मे साप्रदायिकता की गन्ध तक नही है। वह केवल कवि के स्वभाव-जनित अहकार का विस्फोट है।

अवके सुलतान भये फुहियान-से, वाँधत पाग अटव्वर की,
नर की नरकी कविता जु करे, तेहि काटिये जीभ सुलव्वर की।
इक श्रीधर आस है श्रीधर की, नहि त्रास अहै कोउ वव्वर की,
जिनको नहिं आस कछू जग में सो करो मिलि आस अकव्वर की।[1]

हिन्दी-कवियो में एक भूपण ही हुए जिन्होने इस्लाम का तो नही, मुसलमानो का खुल कर विरोध किया। वे शिवाजी महाराज के राजकवि थे। शिवाजी महाराष्ट्र मे रहते थे और भूपण का जन्म उत्तर प्रदेश मे हुआ था। किन्तु, औरगजेव की साप्रदायिकता से सारे भारत के हिन्दू नाराज थे। यही आक्रोश भूपण के भीतर से, आग की लपटो-जैसी प्रचण्ड कविता के रूप मे, फूट पडा। भूषण एक ऐसे आश्रयदाता की खोज मे थे जो हिन्दू-हृदय के इस आक्रोश का प्रतीक हो। जव उत्तर प्रदेश मे उन्हे ऐसा वीर हिन्दू नही मिला, वे अपना घर-वार छोड कर महाराष्ट्र चले गये और शिवाजी की स्तुति मे उन्होने ऐसी निर्भीक कविताएँ लिखी, जिनके नाद से सारा देश गूंज उठा। शिवाजी का "हिन्दुवी स्वराज्य" केवल हिन्दू-स्वराज्य भले ही न रहा हो, किन्तु, भूपण का काव्य शुद्ध हिन्दू-राष्ट्रीयता का काव्य है।

हिन्दी के मुसलमान कवि

हिन्दू-मुस्लिम-एकता का मार्ग और कोई नही, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है। यह राष्ट्रीयता पक्की तभी हो सकती है, जव मुसलमान भी अपने को भारतमाता की

---

१ नर की नरकी कविता जु करे=जो कवि मनुष्य की स्तुति मे नारकीय कविता लिखे। वव्वर=शेर-ववर और अकवर का दादा वावर।

सन्तान मानें और अपनी भावनाएं और विचार उस भाषा अथवा उन भाषाओं में लिखें जिनमें यहाँ के और लोग लिखा करते हैं। उर्दू भी भारत की ही भाषा है और वह भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थ माध्यम भी बन सकती है यदि उसके लेखक और कवि अपनी प्रेरणाएँ भारत के अतीत और वर्त्तमान से ग्रहण करें जैसे कबीर, खुसरो, जायसी, कुतबन, रहीम, रसखान और नजीर अकबराबादी ने ग्रहण की थी। भारतीय राष्ट्रीयता की इस आवश्यकता की अनुभूति सबसे पहले अमीर खुसरो को हुई थी। तत्पश्चात् कबीर, जायसी, कुतुबन, मझन और उस्मान ने, खुसरो से शिक्षा लेकर, अपना सारा साहित्य अवधी भाषा में लिखा। यह परम्परा इन्हीं लोगों तक नहीं रुकी। उनके बाद भी, हिन्दी ने अनेक मुस्लिम कवि उत्पन्न किये जिनकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की कीमती थाती के रूप में विद्यमान हैं। कहते हैं, स्वयं अकबर भी जब-तब हिन्दी में कुछ दोहे कह दिया करते थे।[1] कुछ सवैये शाहजहाँ[2] के भी मिलते हैं और काफी दोहे जेबुन्निसा के भी उपलब्ध हैं जो औरंगजेब की बेटी थी।[3]

किन्तु, अकबर के वजीर खानखाना रहीम तो हिन्दी के ऐसे सिद्धहस्त कवि हुए कि उनका प्रकाश साहित्य के भाण्डार को आज भी आलोकित कर रहा है। "तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। भाषा पर तुलसी का-सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं।" उनकी कविताओं में आये हुए प्रसंगों को देखते ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि हिन्दू-दर्शन और साहित्य तथा अलंकारशास्त्र का उन्हें उतना ही अच्छा ज्ञान था जितने अच्छे ज्ञान का

---

१ राजा बीरबल अपनी वर्ष-गाँठ पर अपना सारा सर्वस्व दान कर देते थे। जिस लड़ाई में वे मारे गये, उस पर जाने के पूर्व भी उन्होंने अपनी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी थी। बीरबल की मृत्यु का दुःसंवाद जब अकबर को मिला, तब अकबर ने यह सोरठा कहा था —

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख,
सो मो कहँ अब दीन, कछुक न राख्यौ बीरबल।

२ औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित होकर शाहजहाँ ने यह सवैया लिखा था —

जन्मत ही लख दान दियो अरु नाम रख्यौ नवरंग बिहारी,
बालहिं सो प्रतिपाल कियो अरु देस-मुलुक्क दियो दल भारी।
सो सुत बैर बुझै मन में धरि हाथ दियो बँधसार में डारी,
शाहजहाँ बिनवै हरि सो बलि राजिवनैन रजाय तिहारी।

३ औरंगजेब की पुत्री शाहजादी जेबुन्निसा बेगम भी हिन्दी की कवयित्री थी। उनके काव्य-संग्रह का नाम "नैन-विलास" है जिसमें से यह दोहा पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने उद्धृत किया है :—

जेबुन्निसा जहान में, दुल्लर आलमगीर।
नैन-विलास विलास में खास करी तहरीर।

दावा बड़े-से-बड़ा हिन्दू विद्वान् कर सकता है। अपने धर्म और आध्यात्मिक विश्वास पर सुदृढ रहते हुए भी मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम इसके जाज्वल्यमान प्रमाण है।

खानखाना रहीम कई भाषाओ मे पारगत थे। "उन्होने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और वाकयात-बाबरी का तुर्की से फारसी मे अनुवाद भी किया था।" इन्होने कुछ मिश्रित रचनाएँ भी की है जिनमे सस्कृत और खडी बोली, दोनो ही भाषाओ का प्रयोग हुआ है। कदाचित्, ऐसी ही रचनाओ को देखकर डाक्टर युसुफ हुसेन ने रहीम को उर्दू का कवि समझ रखा है। किन्तु, रहीम उर्दू मे नही लिखते थे। उनकी रचनाएँ या तो फारसी मे मिलती है अथवा शुद्ध हिन्दी मे या फिर उनकी कौतुकी कृतियाँ खिचडी-भाषा मे है।

खिचडी भाषा मे कौतुकी रचनाएँ सब से पहले अमीर खुसरो ने लिखी थी। फारसी छन्द का एक टुकडा वे फारसी मे और दूसरा ब्रजभाषा मे रचते थे। यथा,

> जिहाले मिस्कीं मकुन तगाफुल, दुराय नैना बनाय बतियाँ,
> कि ताबे हिजराँ न दारम् ऐ जाँ, न लेहु काहे लगाय छतियाँ।

लेकिन, रहीम की कौतुकी रचनाओ मे फारसी और ब्रजभाषा की खिचडी नही, शुद्ध सस्कृत और खडी बोली का मेल है।

> दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां मै था गया बाग में।
> काचित्तत्र कुरंगशावनयना गुल तोड़ती थी खडी।

रहीम ने "खेट-कौतुक-जातकम्" नाम से एक ज्योतिष-ग्रन्थ की भी रचना की थी जिसकी भाषा सस्कृत, फारसी और हिन्दी, तीनो के सगम के समान थी। यथा,

> यदा मुश्तरी कर्कटे वाकमाने,
> यदा चश्मखोरा जमीवासमाने,
> तदा ज्योतिषी क्या कहै, क्या पढैगा ?
> हुआ बालका पादशाही करैगा।

(जिसकी जन्म-पत्री मे धन के बृहस्पति हो और दसवे स्थान मे बृहस्पति हो तो ज्योतिषी क्या लिखे-पढेगा ? क्योकि वह लडका पादशाही करेगा ! अ० प्र० वाजपेयी)

हिन्दी-फारसी-मिश्रित कविताएँ गग कवि भी लिखते थे। कदाचित्, यह विद्वत्ता-प्रदर्शन का क्षेत्र था। गग की पक्तियाँ है,

> कौन घरी करिहै विधना जब रुए अयाँ बिलदार मुबीनम्।
> आनन्द होय तबै सजनी, दर वस्लये चार निगार नशीनम्।

हिन्दी के दूसरे प्रसिद्ध मुसलमान कवि रसखान जाति के पठान थे। उनका जन्म

सन् १५५८ ई० मे हुआ था। किन्तु, उनका हृदय शुद्ध कृष्णाश्रयी वैष्णव का हृदय था। समस्त कृष्णभक्ति-काव्य के बीच रसखान के कवित्त और सवैये हीरे-मोती की तरह चमकते हैं और उनके भीतर जो अपार भावविह्वलता लहराती है, वह अन्यत्र कम ही सुलभ है।

इसी प्रकार, अनीस, अहमद, कमाल, जमाल, जलाल उद्दीन, ताज, तानसेन, नेवाज, फकीरुद्दीन, आलम और शेख तथा मुबारक और रसलीन, आदि मुसलमान कवियो ने हिन्दी मे उच्च कोटि की रचनाएँ की और हिन्दू-हृदय को इस विषय में काफी आश्वस्त किया कि भारत के मुसलमान और कोई नही, भारत की ही सतान है और उनकी तथा हिन्दुओ की किस्मत एक है।

इनमे से ताज तो अत्यन्त ही भावुक कवयित्री हुई ह। उनका जन्म सन् १६४३ ई० मे हुआ था। वे इतनी भावुक थी कि कृष्ण-प्रेम के उत्साह मे आकर वे यह भी बोल गयी कि मै इस्लाम छोड कर हिन्दू हो जाने को तैयार हूँ। ताज मुसलमान थी और वे मुसलमान ही रही भी। किन्तु, कृष्ण-तत्त्व की महिमा दिखाने के उत्साह में उन्होंने जो कुछ कहा, वह केवल असाम्प्रदायिक कवि ही कह सकता था। ताज का वह कवित्त इस प्रकार है —

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहौंगी मैं,
देव-पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा-कुरान, सारे गुनन गहौंगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ली दिये,
तेरी नेह-आग में निदाग हो दहौंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँडी सूरत पे,
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुवानी हो रहौंगी मैं।

हिन्दी के मुसलमान कवियो की सख्या काफी बडी है और हिन्दीवालो को उन पर नाज भी कम नही है। इन कवियो ने हिन्दू-धर्म और हिन्दू-सस्कृति के प्रति ऐसी निर्मल, प्रगाढ और निश्छल श्रद्धा व्यक्त की कि वह कविता का स्वतत्र विषय हो उठी। हिन्दी के ये मुसलमान कवि हिन्दू-जनता को इतने प्यारे लगे कि वह उन्हे हिन्दू कवियो से भी श्रेष्ठ समझने लगी।

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।

इसमे अचरज की कोई बात नही। वह हिन्दू अन्य हिन्दुओ से श्रेष्ठ है जो अपने धर्म के सिवा इस्लाम पर भी श्रद्धा रखता है। और वह मुसलमान भी अन्य मुसलमानो से श्रेष्ठ है जो अपने मजहब के सिवा हिन्दू-धर्म का भी सम्मान करता है।

दुःख की बात केवल यह है कि हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न बहुत अच्छे समाधान तक पहुँच कर फिर पीछे को लौट गया।

प्रकरण ५

इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव

सतही असर

इस्लाम भारत में पहुँच तो सातवी सदी में ही गया था और मोपला लोग उसी समय मुसलमान भी हो गये थे, किन्तु, इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच, निकट के सबध बारहवी सदी के बाद आरम्भ हुए। इस प्रकार, इन दोनो धर्मो को एक भूमि पर और एक आकाश के नीचे रहते, प्राय, आठ सौ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु, आठ सदियो की सगति के बाद भी, हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान रह गये। दोनो के बीच जो मिश्रण होना चाहिए था, वह नही हो सका। एकता का एक आन्दोलन अकबर ने चलाया था, किन्तु, उसे औरंगजेब ने काट दिया। दूसरा आन्दोलन महात्मा गाँधी ने चलाया। उसे जिन्ना ने काट दिया। इस्लाम प्रभावित होने से डरता है, क्योकि, सशोधित, प्रभावित अथवा सुधरा हुआ इस्लाम इस्लाम नही है। उधर हिन्दुत्व हमेशा इस बात का अभिमानी रहा है कि हिन्दू हिन्दुत्व के भीतर चाहे पतित ही समझा जाय, किन्तु, जन्मना वह ससार के अन्य सभी लोगो से श्रेष्ठ है। इस्लाम की यह कट्टरता कि हमारा वही रूप ठीक है, जिसे नबी ने प्रवर्तित किया था और हिन्दुत्व का यह आग्रह कि धर्म के मामले में, हमें किसी से कुछ सीखना नही है, ये दोनो बातें दीवार बनकर इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच खडी रही हैं। इसलिए, यह मानने का कोई बडा आधार नही है कि हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच कभी भी कोई बडा समन्वय या मिश्रण का काम हुआ है। तब भी, दोनो ने दोनो पर प्रभाव जरूर डाला। किन्तु, यह बाहरी प्रभाव है, सतह पर का परिवर्त्तन है, जिससे मूल मे कोई विकार नही आता और यदि ऊपरी बातो को देखे तो इस्लाम ने जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर डाला, उससे कही अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का इस्लाम पर पडा है।

इस्लामी प्रभाव का अतिरंजन

हिन्दुत्व पर इस्लाम का कोई प्रभाव पडा है या नही, इस विषय की खोज पुरानी नही है। इसका आरभ इसी सदी मे हुआ है और, सबसे पहले, सर चार्ल्स इलियट ने अपने विख्यात ग्रन्थ "हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म" (प्रथम प्रकाशित, सन् १९२१ ई०) मे यह बात, प्राय, दबी जबान से कही थी कि रामानुज, मध्व तथा लिंगायत या वीर-शैव पर कुछ इस्लामी प्रभाव हो सकता है। उसके बाद, डाक्टर ताराचद की वह प्रसिद्ध पुस्तक (Influences of Islam on Indian Culture) निकली, जिसने सारे ससार मे

यह भ्रम फैला दिया कि शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य और दक्षिण के आलवार संत एवं वीर-शैव तथा लिंगायत-सम्प्रदाय, ये सब-के-सब इस्लामी प्रभाव से आविर्भूत हुए। इस भ्रान्त, अतिरंजित और, लगभग, गलत सिद्धान्त के तीसरे प्रचारक प्रोफेसर हुमायूँ कबिर हैं जिनकी 'आवर हेरिटेज' नामक छोटी-सी पुस्तक, शायद, सुलिखित और छोटी होने के कारण ही, संसार में दूर-दूर तक फैली है। प्रोफेसर कबिर की पुस्तक हिन्दू-मुस्लिम-एकता को पुष्ट बनाने के उद्देश्य से लिखी गयी है, लेकिन, एकता के प्रचार में भी सत्य जितना सहायक होता है, उतनी सहायता असत्य को सत्य मानकर चलने से नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, जब डाक्टर ताराचन्द और प्रोफेसर कबिर यह कहते हैं कि स्वामी शंकराचार्य ने अपना अद्वैतवाद इस्लाम से लिया, तब ज्ञानी उपेक्षा की हँसी हँसते हैं और बाकी लोग एक बार यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि ऐसे प्रयासों का ध्येय सत्य की सेवा नहीं, किसी-न-किसी किस्म का पक्षपात है, अथवा यह कि बिलकुल नयी बातें बोलने के जोश में ये लेखक गलत बातें बोल रहे हैं।

डाक्टर ताराचंदजी का उत्साह अब कुछ ठंढा मालूम होता है। अधिक अध्ययन, मनन और चिंतन करने से वे अब, शायद, यह अनुभव करने लगे हैं कि जो बातें उन्होंने अपनी पहली पुस्तक में उतने जोर से कही थीं, वे जोर से कहने योग्य नहीं हैं। अब उनका विचार यह मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का प्रभाव, बिलकुल, सतही प्रभाव रहा है। दर्शन और विचार के धरातल पर इस्लाम ने हिन्दुत्व पर कोई प्रभाव नहीं डाला।[1]

डाक्टर ताराचन्द ने तो सुदीर्घ चिन्तन के बाद वस्तुस्थिति को पहचान लिया, किन्तु, उनकी पहली पुस्तक के आधार पर आज भी नयी पुस्तकें लिखी जा रही हैं जो इस बात का प्रचार करती हैं कि शंकर का अद्वैतवाद इस्लाम की शिक्षा से निकला था और हिन्दुओं का भक्ति-आन्दोलन भी इस्लाम की देन है। इन सभी पुस्तकों का ध्येय एकता को

---

१. "Unfortunately, the two groups lived in almost complete isolation from one another. Religion, language, customs and general conditions prevented mutual intercourse. They formed two worlds apart. They were divided by impenetrable walls. Occasionally a Zainul-Abdin, an Akbar or a Dara Shukoh might seek to pull them down; sometimes a Muslim Darwesh and a Hindu Yogi might meet and exchange views, otherwise the gulf between sacerdotal groups of the two communities remained wide."

तथा

"Between the higher thoughts of the two Communities, there yawned an abyss which appeared difficult to span."
[डाक्टर ताराचन्द की नयी पुस्तक "हिस्ट्री आव् द फ्रीडम मूवमेंट", जिल्द १ से]

प्रोत्साहित करना है, किन्तु, उनके लेखक एक अच्छे उद्देश्य की सेवा में इस उत्साह में जुट जाते है कि उन्हें सत्य और असत्य में अथवा सचाई और अतिरजन मे भेद ही नही दीखता, न उन्हे इस बात का ध्यान रहता है कि उनकी स्थापनाएँ, उन्ही की दलीलो से, खडित हो रही हैं। ये लेखक यदि दूसरो की स्थापनाओ को ज्यो-का-त्यो सही न मान कर, स्वय ही ज्ञान के मूल-स्रोतो पर पहुँचने की कोशिश करें तो सत्य उन्हे अधिक स्पष्ट होकर दिखायी पडेगा और वे ऐसी बहुत-सी गलत बातो को दुहराने से बच जायेंगे जो सिर्फ गलत हैं।

डाक्टर आबिद हुसेन की पुस्तक "भारत की राष्ट्रीय सस्कृति" को मैं इसी कोटि में गिनता हूँ। इस पुस्तक के लेखक का ध्येय, शायद, यह था कि इस्लाम के प्रभाव को वह खूब चमका कर दिखाये। अतएव, जोश मे आकर उन्होने यह लिख दिया कि "भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग पर मुस्लिम-संस्कृति का सीधा और गहरा प्रभाव पड़ा है।" लेकिन, खोज करने पर इस बात के पुष्ट प्रमाण जब उन्हे नही मिले, तब उन्होने स्वीकार कर लिया कि "शरीर से तो हिन्दुओ ने विजेताओ के सामने आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु, आत्मा से वे अपने धर्म और जाति की स्वपूर्णता में छिप गये एव हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच ऐसा बिलगाव आ गया कि दोनो के बीच किसी भी प्रकार का सपर्क नही हो सकता था।"

पठानो के बारे में डा० आबिद हुसेन ने एक जगह तो यह लिखा है कि, "वे अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति के प्रतिनिधि थे" और दूसरी जगह वे यह भी लिख गये है कि "पठानो के पास कोई सास्कृतिक पृष्ठभूमि थी ही नही।" इसी प्रकार, तुलसीदास और कबीर, दोनो को रामानन्द का शिष्य बताकर उन्होंने उन्हे समकालीन बना दिया है, जो बिलकुल गलत बात है। कबीर साहब की मृत्यु सन १५१८ ई० में हुई और तुलसीदासजी सन् १५३२ ई० मे जनमे थे।

शकराचार्य का जन्म आठवी सदी में हुआ और भक्ति-आन्दोलन का आरभ आलवारो के काव्य में उससे काफी पहले ही हो चुका था, यद्यपि, भक्ति की प्राचीनतम परपरा प्राग्वैदिक काल तक पहुँचती है। लेकिन, आबिद हुसेन दोनो को इस्लाम से प्रभावित मानते हैं। यदि ये दोनो बाते इस्लाम से प्रादुर्भूत थी, तो लेखक ने यह क्यो लिखा है कि "दसवी सदी के अन्त तक मुसलमान हिन्दू-सस्कृति की केवल कोर ही छू सके थे, अभी हिन्दुत्व के केन्द्र से वे बहुत दूर थे?" क्या अद्वैत और भक्ति-आन्दोलन हिन्दू-संस्कृति के केवल किनारे मात्र है, वे हिन्दुत्व के हृदय और केन्द्र नही है?

इस बडे ही नाजुक विषय पर जो भी पुस्तकें मुस्लिम अथवा मुस्लिम-सस्कृति के पक्षपाती लेखको ने लिखी है, उनमे से डाक्टर युसुफ हुसेन की पुस्तक[1], कदाचित्, सबसे

---

१ Glimpses of Medieval Indian Culture.

अधिक निष्पक्ष है। भक्ति को युसुफ हुसेन सार्वभौम मानते हैं। "भक्ति सामी भी है और आर्य भी। भक्ति नीरस बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदय का विद्रोह है।" और रामानुज के प्रसग मे लिखते हुए उन्होने कहा है," हम यह कहने का आग्रह नही करेंगे कि रामानुज पर इस्लाम का सीधा प्रभाव था।" किन्तु, इस भ्रम के शिकार युसुफ हुसेन भी हैं कि हिन्दू बहुदेववादी थे, उनकी यह प्रवृत्ति, इस्लाम के प्रभाव से, एकेश्वरवाद मे परिणत हुई।

तथ्य की कई भूले युसुफ हुसेन की भी किताब मे हैं। उदाहरणार्थ, युसुफ हुसेन का यह कहना सत्य नही है कि अकबर के साले (अथवा श्यालक-पुत्र) राजा मानसिंह गोस्वामी तुलसीदास के सरक्षक (पेट्रन) थे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो और तुलसी-साहित्य के विशेषज्ञो के लिए यह नयी सूचना है। लेकिन, ऐसी निराधार बात को भी लोग ले उडेंगे क्योकि छिपे-छिपे आन्दोलन यह चल रहा है कि मानसिंह के खिलाफ हिन्दुओ मे जो झिझक है, वह दूर हो जाय और वे हिन्दू-राष्ट्र-नायक के रूप मे स्वीकार कर लिये जायँ। जहाँ तक हमें मालूम है, तुलसीदास के एकमात्र स्नेही और सरक्षक काशी के बाबू टोडर सिंह थे जिनकी मृत्यु पर तुलसीदास ने दो-चार दोहे भी लिखे थे। समस्त तुलसी-साहित्य में इस बात का रच भर भी प्रमाण नही है कि तुलसीदासजी ने राणा प्रताप और मानसिंह के नाम भी कभी सुने थे। गोस्वामी जी वैदिक धर्म और वर्णाश्रम-आचार के अत्यन्त कठोर प्रहरी थे। आज हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच वैवाहिक सम्बन्ध को हम भले ही निर्दोष मान ले, किन्तु, तुलसीदास के समय ऐसे सबध केवल गर्हित माने जाते थे। जब तक बिलकुल ठोस प्रमाण सामने नही आता, हिन्दू-जनता इस बात को हरगिज स्वीकार नही करेगी कि तुलसीदास ने राजा मानसिंह को अपना सरक्षक माना था। ऐसी अनर्गल बाते बोलकर लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत नही बनाते, हिन्दुओ को चिढा कर वे उसे कमजोर करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम-वैवाहिक सबध के खिलाफ हिन्दुओ की झिझक कभी दूर भी हो जाय, लेकिन, मानसिह के हिन्दू-राष्ट्र-नायक माने जाने की सभावना बिलकुल शून्य है।

इसी प्रकार, खानखाना रहीम को उर्दू का कवि मानना सरासर मनमानी है। रहीम के समय के मुस्लिम कवि या तो फारसी मे लिखते थे या हिन्दी मे। उस समय उर्दू का अस्तित्व ही नही था। दक्खिन के मुसलमान उन दिनो जो कविताएँ लिख रहे थे, उनकी भाषा भी हिन्दी ही थी, गर्चे, लिखी वे फारसी लिपि मे जाती थी। और नाम भी उस भाषा का उर्दू नही, बल्कि, दक्खिनी हिन्दी अथवा हिन्दवी था। फारसी से बाहर रहीम की रचना साधु हिन्दी मे ही मिलती है जिसमे अरबी-फारसी के शब्द बहुत ही कम आये हैं।

हर मुसलमान लेखक जानता है कि इस्लामी विजय के समय सारा भारतवर्ष मन्दिरो और मूर्त्तियो से भरा हुआ था। ये मूर्त्तियाँ और मन्दिर भारत मे उस समय भी थे जब

अरबो ने सिन्ध को जीता था और उस समय भी जब इस्लाम का जन्म नही हुआ था। क्या कोई विद्वान् यह बता सकता है कि इन मन्दिरो मे भक्ति का जो रूप इस्लामोदय के पूर्व प्रचलित था वह इस्लामोदय के बाद परिवर्त्तित हो गया? यदि नही, तो यह कहने का आधार क्या है कि भारत मे भक्ति-आन्दोलन का विकास इस्लामी प्रभाव से हुआ?

भारत की प्राचीनता का तर्क-सम्मत ज्ञान भारत मे प्रचलित नही था। इतिहास की कसौटी पर भारत की प्राचीनता को गौरव यूरोप ने दिया। किन्तु, भारत को अपनी तराजू पर निस्सहाय देखकर अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस लोभ मे पड गये कि भारत को यूरोप का शिष्य बताकर वे अपने-आपको गौरव दे डाले। वेबर ने लिखा था कि आध्यात्मिक मुक्ति के लिए भक्ति को साधन मानने की प्रथा भारत मे नही थी। यह चीज भारतवासियो ने ईसाइयत से ली होगी। अब मुस्लिम-लेखक और दूसरे प्रकार के पक्षपाती लोग दुनिया को यह समझा रहे है कि हिन्दुओ ने भक्ति और अद्वैतवाद के सिद्धान्त इस्लाम से ग्रहण किये थे। इसी प्रकार, एक समय यह भी कहा जाता था कि "कृष्ण" शब्द "क्राइस्ट" से निकला है, सिक्के हिन्दुस्तान मे यूनान की देखादेखी चले थे और कालिदास के नाटको पर यूनानी नाटको का प्रभाव है। और अब यह कहा जाता है कि कर्णाटक के वीर-शैवो के "अल्लम प्रभु" केवल "अल्ला" के रूपान्तरण है। यानी भारतवर्ष ने सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र में अपनी सृष्टि कभी की ही नही। पहले उसने सारी अच्छी चीजे यूनान से ली थी और, इस्लाम के जन्म के बाद, उसने सारी अच्छी चीजे इस्लाम से ग्रहण की।

शंकराचार्य और इस्लाम

शकर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है और इस्लाम, आरभ से ही, एक ईश्वर मे विश्वास करता था, इतनी-सी बात पर डाक्टर ताराचन्द ने यह अनुमान निकाल लिया कि शकर का उद्भव इस्लामी प्रभावो के कारण हुआ, क्योकि शकर केरल मे जनमे थे और केरल मे तब तक मुसलमान आ चुके थे। अर्थात्, मुसलमान केरल मे आये नही कि हिन्दुओ ने उनके पास एकेश्वरवाद को देखकर उसका अनुकरण करना आरभ कर दिया। ये नितान्त भ्रमपूर्ण बाते है। इस मत के विरुद्ध सबसे पहले तो यह अकाट्य तर्क है कि शकर का एकेश्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद का विकसित रूप है और उसका इस्लामी एकेश्वरवाद से कोई भी मेल नही है। इस्लाम एक ईश्वर को जरूर मानता है, किन्तु, वह एकेश्वरवादी या अद्वैतवादी नही, केवल ईश्वरवादी है। इस्लाम ईश्वर को एक मानता है, किन्तु, वह यह भी समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनायी, वह सातवे आकाश पर बसता है एव उसके हृदय मे भक्तो के लिए प्रेम और दुष्टो के लिए घृणा का वास है। ससार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते है वह "कुछ नही मे कुछ का आभास है", ये बाते इस्लाम मे न पहले थी, न अब है। इस्लाम मे इनका आभास मात्र सूफियो

के जरिये आया था और वह भी नवी-दसवी सदी के वाद। यह भी स्मरण रखने की वात है कि स्वय सूफियो को यह ज्ञान कुछ तो सीधे ब्राह्मणो से और कुछ नव-अफलातूनी मत से मिला था और नव-अफलातूनी मत के प्रवर्त्तक प्लौटिनस ने उसे ब्राह्मणो और बौद्धो से प्राप्त किया था। इसके विपरीत, शकर का ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, निराकार और निर्विकार है। उसे भक्तो की चिन्ता नही, न दुष्टो को दड देने की फिक्र है। शकर के अनुसार, सृष्टि ईश्वर ने नही वनायी। यह महत्तत्त्व का विस्तार है। शकर ब्रह्म के सिवा और किसी का अस्तित्व नही मानते। शाकर मत शुद्ध अद्वैत मत है। किन्तु, इस्लाम शुद्ध या विशिष्ट, किसी भी प्रकार के अद्वैतवाद में विश्वास नही करता। उसका विश्वास सिर्फ ईश्वरवाद मे है और सृष्टि के स्वभाव के विषय में भी कुरान शकर के ठीक उल्टा वोलता है। इस्लाम का ईश्वरवाद शकर के अद्वैतवाद से विल्कुल भिन्न है। फिर भी, न जाने, किस कारण से डाक्टर साहव को यह भ्रम हो गया कि शाकर मत इस्लाम के तौहीद का अनुकरण है।

शकर को इस्लाम का अनुकर्त्ता कहकर डाक्टर ताराचन्द ने केवल भ्रम का ही प्रचार नही किया, प्रत्युत, उन्होने भारतीय सस्कृति से भी अपना अपरिचय व्यक्त किया है। शकर भारतीय चिन्ताधारा मे आकस्मिक घटना की तरह नही आये। उनकी परपरा की लकीर उपनिषदो से आगे ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त तक पहुँचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और सृष्टि के विषय मे जो मौलिक प्रश्न उठाये थे, उन्ही प्रश्नो का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषद, फिर वौद्ध दर्शन और, सबके अन्त मे, शकर का सिद्धात प्रकट हुआ। शकर के निकटतम पूर्वज बौद्ध दार्शनिक थे, जिन्होने शून्यवाद की स्थापना की थी। जो बौद्धो का शून्यवाद था, वही शाकर मत का मायावाद हुआ। हाँ, बौद्धो से आगे बढकर शकर ने एक तटस्थ ब्रह्म को स्थान अवश्य दिया। किन्तु, यह तटस्थ ब्रह्म भी नया नही था, प्रत्युत, वह उपनिषदो के युग से आ रहा था। शून्यवाद को मयावाद के नाम से अपनाने के कारण ही, शकर को लोग "प्रच्छन्न बौद्ध" कहते थे। शकर ने ब्रह्म की कल्पना जिस रूप में की थी, वह भक्तो के लिए निराशाजनक था, क्योकि भक्तो की प्रार्थना सुनने को इस ब्रह्म के कान खुले हुए नही थे। इसलिए, शाकर मत के विरुद्ध, शकर के वाद ही, जोर की प्रतिक्रिया उठी और निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, ये सभी महात्मा साकारवाद की ओर झुके, क्योकि शकर के निराकार मत से तार्किक पडितो को ही समाधान मिलता था, वाकी जनता के पल्ले वह नही आ रहा था।

यह भी ध्यान देने की वात है कि यदि शकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे, तो उनके दादा गुरु गौडपाद अथवा अद्वैताचार्य प्रत्यक्ष बौद्ध समझे जाते है। शकर के गुरु गोविन्दाचार्य थे और गोविन्दाचार्य के गुरु गौडपादाचार्य। गौडपादाचार्य ने माडूक्योपनिषद पर जो कारिका लिखी है, उसके चतुर्थ प्रकरण के आरभ मे उन्होने बुद्ध की वन्दना इन शब्दो मे की है :—

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्,
ज्ञेयाभिन्नेन सबुद्धः तं वन्दे द्विपदां वरम् ।[1]

(ज्ञेय धर्मों से अभिन्न आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश पदार्थों को जान लिया, उस द्विपदश्रेष्ठ सबुद्ध को मै प्रणाम करता हूँ ।)

क्या इन प्रमाणो के रहते हुए यह मानने का कोई आधार है कि शकर का एकेश्वर-वाद भारतीय परपरा से भिन्न वस्तु थी और उसका आविर्भाव इसलिए हुआ कि शकर ने मुसलमानो की सगति की थी ? यह मानी हुई बात है कि इस्लाम, आरभ मे, दर्शन-मुक्त धर्म था। दार्शनिक बारीकियाँ उसमें सूफियो ने डाली। जिन दिनों शंकर जनमे (७८८ ई०), उन दिनो तक, इस्लाम शून्यवाद के ऊहापोह मे पडा भी नहीं था। इसके विपरीत, शून्यवाद और मायावाद के विषय की विचिकित्सा भारतवर्ष मे उपनिषदो के युग से होती आ रही थी और उसका ज्ञान यूनान को भी प्राप्त हो चुका था। "सच बात तो यह है कि शकर के विचारो पर दार्शनिक वसुबन्धु की पूरी छाप है। इसी कारण, वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाते है। और चूँकि उन्होने अपने दर्शन मे बौद्ध धर्म की मुख्य बातें अपना ली, इसलिए, बौद्ध दर्शन अनावश्यक-सा हो गया।" (जयचन्द्र)[2]

भारतीय दर्शन-परिषद् के स्मारक-ग्रथ मे लिखते हुए दर्शनाचार्य स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दास ने बतलाया है कि "नागार्जुन शून्यवादी थे। उन्होने माना है कि ससार में किसी-भी वस्तु की सत्ता नही है। सब कुछ नही मे कुछ होने का भ्रम है। न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, न विनष्ट। लकावतार-सूत्र का दर्शन भी नागार्जुन का ही दर्शन है, यद्यपि, वह विज्ञानवादी दर्शन है। यह दर्शन भी मानता है कि हम जो कुछ देख रहे है, वह अपनी मानस-तरग के कारण। वस्तुत, बाह्य जगत् से उसका कोई सबध नही है। क्योकि जगत् सत्य है ही नही। इसी विचार को मैत्रेय और असग ने आगे बढाया तथा वसुबन्धु (पचम शताब्दी) ने उसका विस्तार किया। आगे चलकर शकर ने उपनिषदो का जो वेदान्ती भाष्य किया, उसकी नीव वसुबन्धु के दर्शन मे ही डाली जा चुकी थी।"

शंकराचार्य का सब से बडा महत्त्व यह है कि उन्होने हिन्दुत्व को पौराणिक धर्म से मोडकर उपनिषदो की ओर उन्मुख कर दिया। जैसे गीता ने बीसवी सदी मे आकर लोकमान्य तिलक के हाथो नवीनता प्राप्त की, वैसे ही, शकराचार्य के हाथो उपनिषदो की शिक्षा नवीन हो गयी। उन्होने अपने सारे ग्रथ इस भाव से लिखे कि मनुष्य को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने का मार्ग स्पष्ट दिखायी पडे। उनका दूसरा महत्त्व यह

---

१ गीता प्रेस से माडूक्योपनिषद् की जो टीका प्रकाशित हुई है, उसमे सबुद्ध का अर्थ 'पुरुष' कर दिया गया है जो, कदाचित्, अनुचित है।

२ इस प्रसग मे "क्राति की गगा मे शैवाल" नामक प्रकरण भी देखिये।

भी है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे, जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का उनका आग्रह प्रकट होता है। वे आध्यात्मिक सुधारक और संत थे एवं शाक्त-मन्दिरो में बलि देने की प्रथा का उन्होंने अनेक स्थानो पर विरोध किया था। बौद्ध संघो के अनुकरण पर उन्होंने सन्यासियो के संघ स्थापित किये तथा भारत की भौगोलिक एकता को प्रत्यक्ष करने के निमित्त देश की चार दिशाओ में उन्होंने चार पीठ भी बसाये, जो बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथपुरी और श्रृंगेरी में अवस्थित हैं तथा जहाँ जाने की धार्मिक अभिलाषा प्रत्येक हिन्दू के मन में रहती आयी है।

हिन्दुत्व का गढ़ दक्षिण देश

प्रोफेसर हुमायूँ कबिर ने भी अपनी पुस्तक[२] में इस संभावना पर बहुत अधिक जोर डाला है कि, हो-न-हो, शंकर ने इस्लाम से प्रभाव ग्रहण करके ही अपने सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है। वे इस बात से बहुत चकित दीखते हैं कि ऐसा क्यो हुआ कि शंकर, निम्बार्क, रामानुज और वल्लभाचार्य, सब-के-सब, दक्षिण में ही उत्पन्न हुए और इस पर से वे यह अनुमान लगाते हैं कि सातवी सदी मे त्रावणकोर में जो मुसलमान व्यापारी आये थे, उन्ही से शंकर ने इस्लाम का ज्ञान लिया होगा और इस ज्ञान का दक्षिण में ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दुत्व की दिशा ही बदल गयी और हिन्दुत्व के सभी नेता दक्षिण मे ही उत्पन्न होने लगे।

यह फिर भ्रांत धारणा है। यदि इस्लाम मे ऐसी दर्शनोत्तेजकता थी तो सिन्ध मे अथवा उसके आस-पास (जहाँ वह ७१२ ई० से ही मौजूद रहा है) उसने कोई शंकर उत्पन्न क्यो नही किया? अथवा उत्तर भारत मे (जहाँ उसका प्रचार और प्रताप, दोनो विराट थे) आकर उसकी यह दर्शनोत्तेजकता कहाँ लुप्त हो गयी थी? यह समझना नितान्त भूल है कि भारत के मनीषी देश के किसी एक भाग मे उत्पन्न होते थे। माध्यमिक अथवा शून्यवादी दर्शन के रचयिता आचार्य नागार्जुन (जो, निश्चित रूप से, शंकराचार्य के बौद्धिक पूर्वजो मे से हैं) ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद दक्षिण के विदर्भ (बरार) देश में जनमे थे तथा सौत्रान्तिकवाद के "अभिधर्मकोश" के कर्ता आचार्य वसुबन्धु (जो शंकराचार्य के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं) का जन्म चौथी सदी मे पेशावर मे हुआ था। शंकर स्वय तो दक्षिण में जनमे थे, किन्तु, उनके "शारीरक-भाष्य" पर भामती-व्याख्या लिखकर देश भर मे उसे प्रसिद्ध करनेवाले उद्भट विद्वान्, पं० वाचस्पति मिश्र का जन्म मिथिला में हुआ था। सच तो यह है कि भारतवर्ष के सामने धर्म और दर्शन की जो विराट समस्याएँ उपस्थित थी तथा बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिक जिन समस्याओ को लेकर परस्पर जूझ रहे थे, वे समस्याएँ सपूर्ण देश के तेजस्वी विद्वानो के समक्ष चुनौती

---

२ आवर हेरिटेज

बनकर खडी थी और उन पर सोचनेवाले लोग देश के किसी भी भाग मे जन्म ले सकते थे। यदि पहली सदी मे विदर्भ मे नागार्जुन का होना कोई आश्चर्य की वात नही है, तो आठवी सदी मे केरल में शकराचार्य के जन्म लेने से भी किसी को चकित नही होना चाहिए। मुसलमानी आक्रमण के पहले भी उत्तर भारत की जनसख्या मे बाहरी मिलावट बहुत अधिक हो चुकी थी, जिससे खाँटी हिन्दुत्व धीरे-धीरे खिसक कर दक्षिण की ओर जा रहा था। शकर के समय के आस-पास भारत में जो धार्मिक उत्पीडन हुए, उनकी सख्या भी उत्तर मे कम, दक्षिण मे बहुत अधिक रही। और इन उत्पीडनो का लक्ष्य जैन एव बौद्ध सघो को उजाड कर उनकी जगह पर ब्राह्मण-धर्म (शैव और वैष्णव मत) को उत्थान देना था। गुप्त राजाओ ने वैदिक-धर्म के लिए जो उत्साह दिखलाया था, उनके वाद, वह उत्साह, मुख्यत, दक्षिण के ही राजाओ मे दिखायी पड़ता है। क्या इससे यह शका निवृत्त नही होती कि वैदिक-धर्म का, शंकर के समान अद्भुत उन्नायक दक्षिण मे ही क्यो उत्पन्न हुआ? आज दक्षिण भारत हिन्दू-धर्म की राजधानी अथवा उसका मुख्य देश है। किन्तु, हिन्दुत्व ने अपनी दक्षिण की यात्रा महावीर और बुद्ध के बाद ही आरभ की थी। हाँ, जब उत्तर मे मुसलमानो के धार्मिक अत्याचार भयानक हो उठे, तब इस यात्रा की गति कुछ अधिक तीव्र हो गयी।

और जब शकर का केरल मे जन्म लेना अचरज का विषय नही रह जाता, तब विष्णु स्वामी, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य का दक्षिण मे जन्म लेना बिलकुल स्वाभाविक वात हो जाती है। ये जनमे ही इसलिए कि इनके पूर्व शकराचार्य का जन्म हो चुका था। शकर के शुद्धाद्वैत मे भक्ति के लिए कोई स्थान नही था, साकारोपासना के प्रेमियो के लिए कोई आकर्षण नही था। अतएव, शुद्धाद्वैत के विरुद्ध, द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की स्थापना करने के निमित्त ही, इन पिछले आचार्यों का अवतार हुआ, जिन्होंने भक्ति की धारा को पुष्ट वना कर सारे भारत को सीच दिया। शकर और उनके वाद के आचार्यों के वीच, क्रिया-प्रतिक्रिया का सबध है। इस सबध की व्याख्या मे इस्लामी प्रभाव की अनिवार्यता कही भी दिखायी नही देती।

वर्णाश्रम का विरोध

विष्णु स्वामी, निम्बार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभाचार्य ने जिस साकारोपासना का प्रवर्त्तन किया, उस पर भी डाक्टर ताराचन्द को इस्लामी प्रभाव दिखायी देता है। वे कहते है कि विष्णु स्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गजाली के चिन्तन के समान लगता है। वे यह भी कहते है कि इन आचार्यों ने जो मार्ग चलाया, उसमे जाति-प्रथा की कठोरता नही थी, धर्म के वाह्योपचार अप्रमुख थे तथा एकेश्वरवाद, भक्ति-भावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्ति पर उसमें बहुत जोर था।

डाक्टर साहब ने वैष्णव धर्म के ये लक्षण ठीक बताये हैं और इसमे कोई सन्देह नही कि ये लक्षण पहले के वैदिक-धर्म मे प्रमुख नही थे। किन्तु, इन्हे प्रमुख बनानेवाले आन्दोलन भी भारत मे पहले ही आरभ हो चुके थे। जाति-प्रथा की भावना इसलिए शिथिल हुई कि बौद्ध श्रमण इसके विरुद्ध, पन्द्रह सौ वर्षों से आन्दोलन करते आये थे। यह काम इस्लाम की प्रतीक्षा में रुका हुआ नही था।

जाति-प्रथा पर बारह सौ वर्षों से चलने वाले जैन और बौद्ध आन्दोलनो का प्रभाव नही पडा और इस्लाम ने भारत आते ही उसे प्रभावित कर दिया, ऐसी बात वही बोल सकता है जो नयी बात बोलने के जोश मे सत्य की कुछ भी परवाह न करता हो। धर्म के बाह्योपचार ढीले इसलिए हो गये कि इस्लाम के जन्म के पूर्व ही, इस देश मे वेद-विरोधी लोगो का दल बहुत बडा हो गया था और जो बाते मुसलमानो के आगमन के बाद कबीर, दादू और नानक ने कही, उन उपदेशो का सिक्का बौद्ध सन्त (सिद्ध लोग) जनता के मन पर पहले ही (सातवी, आठवी, नवी सदियो मे) बिठा चुके थे। जिसने सिद्धो के पद पढे हैं, वह त्रिकाल में भी यह नही मान सकता कि नानक, कबीर, और दादू के प्रादुर्भाव का एकमात्र कारण इस्लाम था। इस्लामी सूफियो का प्रभाव इन सन्तो पर अवश्य पडा, किन्तु, उनके वास्तविक पूर्वज मुस्लिम सूफी नही, प्रत्युत, बौद्ध-सरणी के सिद्ध सन्त थे, जिन्होंने धर्म के बाह्योचार पर उतने ही भीषण प्रहार किये थे, जितने भीषण प्रहार आगे चलकर निर्गुनियाँ सन्तो ने किये। कबीर की बहुत-सी बातो में हम सिद्धो की उक्तियो की आवृत्ति पाते हैं।[1]

असल में, जब सूफी आये, उसके पहले ही भारत मे सूफियो से मिलते-जुलते लोगो के झुण्ड तैयार हो चुके थे और इन्ही लोगो के अनुयायियो ने इस्लाम का, बढकर, स्वागत किया। कबीर, नानक आदि पर मुस्लिम प्रभाव बहुत पडा, यह ठीक है, किन्तु, उनकी परपरा का आरभ यहाँ सिद्ध-युग मे ही हो चुका था। मुसलमान नही आते तब भी निर्गुनियाँ सन्तो की कोई-न-कोई पीढी अवश्य उत्पन्न होती, क्योकि वेद-विरोधी आदोलनो के विस्तार के कारण, यह पीढी इतिहास के गर्भ मे आ चुकी थी।

भक्ति के विषय मे भी यह कहना ठीक नही है कि यह इस्लाम की देन है। कृष्ण और राम-पूजा के साथ भक्ति का उदय भी भारतवर्ष में बहुत पहले ही हो चुका था। बल्कि, ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भक्ति के अकुर इस देश में उगने लगे थे और छठी सदी के आलवार सतो की वाणी एव गुप्त-कालीन साहित्य मे तो भक्ति रूप धर कर खडी हो चुकी थी। हाँ, यह सभव है कि भक्ति की सरिता मे सूफियो के कारण कुछ और तरगे उठने लगी हो।

---

१ दे० इसी प्रकरण मे रहस्यावाद का सदर्भ

गुरु-परंपरा

डाक्टर ताराचन्द यह भी मानते है कि गुरु-पूजा का आरभ भारतवर्ष मे सूफियो मे प्रचलित रीति के अनुकरण पर हुआ। किन्तु, विश्लेपण करने पर यह बात भी प्रमाणित नही होती। कुरान मे जो यह बात कही गयी है कि "ईश्वर एक है और मोहम्मद उसके रसूल है" उससे मोहम्मद सभी मुस्लिमो के सामूहिक गुरु का पद ले लेते है। इसी आधार पर सूफियो के यहाँ गुरु को देवता मानने की परपरा चली होगी। किन्तु, भारतवर्ष के लिए यह विचार नया नही था। विद्या-गुरु के प्रति विद्यार्थी के भाव कितने पवित्र और भक्ति-युक्त होने चाहिए, इसका आख्यान इस देश मे बहुत प्राचीन काल से होता आया था। और धर्मगुरु की कल्पना की बात लीजिए तो यह कल्पना भी गीता मे जन्म ले चुकी थी। गीता मे भगवान् कृष्ण का वचन है,

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।

(गीता ८।१३)

अर्थात् ओम् का जाप और, उसके अर्थके रूप मे, भगवान कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोडता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। जैसे कुरान के मत्र (ला-इलाह-इल्लिलाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह) मे हजरत मोहम्मद ने मनुष्य और ईश्वर के बीच अपने लिए स्थान रखा है, वैसे ही, गीता मे भी भगवान कृष्ण ने यह सकेत दिया है कि जीव की ब्रह्म तक की यात्रा श्रीकृष्ण के माध्यम से ही हो सकती है।[1] यह बहुत कुछ गुरु का ही पद है, जिसे इन दो धर्म-नेताओ ने अपने लिए रख लिया है। कुरान के मत्र और गीता के इस श्लोक मे जो समता है, उसे देखते हुए तो यही सभव लगता है कि कुरान पर गीता का, कुछ-न-कुछ, प्रभाव है। यह प्रभाव कैसे पडा होगा, इसके बारे मे कई अनुमान लगाये जा सकते है। एक तो यह कि गीता की यह कल्पना पहले यूनान पहुँची होगी और वहाँ से अरब देशो मे। अथवा यह भी सभव है कि वह ब्राह्मण और बौद्ध पडितो के द्वारा सीधे अरब पहुँची हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अतिम मत्र मे भी "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ", यह वाक्य आता है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुरु मे देवत्व के आरोप की भावना उस समय आरभ हो चुकी थी।

भारतीय गुरु-परपरा का विकास भारत मे ही हुआ, ऐसा मानने का एक और कारण है। गुरु की महिमा का बखान सिद्धो ने किया है और सिद्धो के समय मे बिहार अथवा उत्तरी भारतवर्ष मे इस्लाम नही पहुँचा था, यह निश्चित बात है। सिद्धो में सबसे

---

१ ध्यातव्य तो यहाँ गीता का यह श्लोक भी है,

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज,
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

प्राचीन कवि सरहपा है जिनका समय राहुलजी ने सन् ७६० ई० के पास माना है। गुरु के विषय में सरहपा कहते है —

> गुरु-उपदेशे अमृत-रस, धाइन पीयेउँ जेहि।
> बहु शास्त्रार्थ मरुस्थलहिं तृषितै मरऊ तेहि।
> चित्त-अचित्तहि परिहरहु, तिमि होवहु जिमि बाल।
> गुरु वचने दृढ भक्ति कर, ज्यो होइ सहज उलास।
>
> (राहुलजी-कृत अनुवाद)

ऐसे उद्धरण "हिन्दी-काव्य-धारा"[1] मे से कुछ और भी दिये जा सकते है। जिन दिनो, भारत के सिद्ध गुरु-महिमा का इस प्रकार बखान कर रहे थे, उन दिनो, सूफी मत का जन्म भी नही हुआ था। किन्तु, भारत के पडितो और सतो का उस समय ईरान वालो से अच्छा परिचय था। अतएव, यह मानने का बहुत वडा आधार निकल आता है कि इन सिद्धो की देखादेखी सूफियो ने भी गुरु-महिमा को अपना लिया, अन्यथा इस्लाम ऐसी मान्यता का पूरा विरोधी था। जिसे रहस्यवाद कहते है, उसका भी अद्भुत विकास सिद्धो के समय मे हो चुका था और ऐसा लगता है कि जब अरब और ईरान मे तसव्वुफ को जन्म देने की तैयारी चल रही थी, तब केवल उपनिषदो और बौद्ध दर्शनो ने ही उसे प्रभावित नही किया, प्रत्युत, उस पर इन सिद्ध सतो के रहस्यवादी विचारो का भी प्रभाव पडा। अतएव, मुसलमानो के साथ जो सूफी मत भारत पहुँचा वह सोलह आने विदेशी तत्त्व नही था। उसके भीतर भारतीय विचारो और साधनाओ का बहुत बडा अश विद्यमान् था। श्री राहुलजी ने भी माना है कि गुरु-परपरा का वास्तविक आरभ सिद्धो ने किया। हाँ, कबीर आदि निर्गुनियाँ सतो ने उस परपरा को पुष्ट अवश्य किया है।[2]

आलवार संत

इसी प्रकार, आलवार सतो के बारे मे भी डाक्टर ताराचन्द का विचार है कि उन पर मुसलमानी प्रभाव है और, इसी प्रभाव के कारण, वे हिन्दुत्व के व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा और (कभी-कभी) मूर्त्ति-पूजा, आदि प्रचलित आचारो की निन्दा करते है।

प्रमुख आलवारो का समय सातवी से नवी शताब्दी तक है, यद्यपि, उनकी परपरा तीसरी सदी तक जाती है। अतएव, यदि उन पर मुसलमानी प्रभाव मानना है, तो यह मानना पडेगा कि यह प्रभाव मालावार से आया होगा। किन्तु, एक तो मालावार मे उस समय तक इस्लाम का इतना प्राधान्य ही नही हुआ था कि उसके प्रभाव से नये धार्मिक

---

१ लेखक श्री राहुल साकृत्यायन

२ इस सबध मे यह खोज भी की जानी चाहिए कि "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु" वाला मत्र कितना प्राचीन है।

आन्दोलन उठते , दूसरे, आलवार सन्तो को भी हम आकस्मिक नही मान सकते। भारत मे उनकी परपरा उस समय शुरू हुई थी, जब अरब मे इस्लाम का जन्म भी नही हुआ था। भक्ति का निश्चित प्रमाण महाभारत और गीता में प्रत्यक्ष है। उसके बाद, वह भागवत मे निरूपित हुई और रामानुज आदि के साथ जोरो से फैली। गीता और रामानुज के बीच के काल मे भक्ति को अनुपस्थित देख कर ही लोगो को शका होती है कि भक्ति-आन्दोलन हिन्दुत्व के लिए नया आन्दोलन था। किन्तु, वह नया नही था। गीता और रामानुज के बीच की कडी ये आलवार सन्त थे।

एक दृष्टि से देखिये तो शकर की अद्वैत-सिद्धि बाद की वस्तु है। उसके बहुत पूर्व ही, दक्षिण में भक्ति की गुनगुनाहट शुरू हो गयी थी। और आरभ से ही यह भक्ति-आन्दोलन शैव और वैष्णव, दोनो ही धाराओ मे बह रहा था। शकर में भारत की बौद्धिकता का उत्कर्ष है। आलवार सन्त भारतीय जनता के हृदय को लेकर चल रहे थे। शकर भारत के पडितो की धारा मे आये थे। आलवार देश की जनता की आकुल भावनाओ के प्रतिनिधि थे। समाज के सर्वोच्च धरातल पर जो चिन्तन चल रहा था, शकर मे हम उसकी पराकाष्ठा देखते है। किन्तु, देश की जनता के हृदय में परमात्मा-विषयक जो भावना उमड रही थी, उसके उद्गाता आलवार सत हुए। दक्षिण के लोग आलवारो और नायनारो को भी आकस्मिक नहीं मानते। अपने मूल मे भक्ति प्राग्वैदिक तत्व है। वह बहुत पहले से ही चली आ रही थी। आर्यो ने उसे कुछ विलव से ग्रहण किया।

आलवार-नायनार सत प्रेम के दीवाने थे। शिव या विष्णु के प्रति वे प्रेम की भावना से दौड रहे थे। इनके गान रहस्यवादी गान है। उनके भीतर अदृश्य सत्ता पर रीझने वाले मनुष्य की आकुलता भरी हुई है। कबीर और मीरा के रहस्यवादी पद, फिर भी, मुसलमान सूफियो के भावो से प्रभावित है, किन्तु, आलवारो के पदो मे हम खाँटी भारतीय रहस्यवादिता की झाँकी पाते है। उत्तर मे फैले हुए वेद-विरोधी आन्दोलनो के कारण हिन्दुत्व का शुद्ध रूप खिसक कर दक्षिण चला गया था। यही कारण है कि जिन दिनो उत्तर भारत के बौद्ध सिद्ध धर्म के बाह्योपचारो की खिल्ली उडा रहे थे, उन्ही दिनो, दक्षिण के आलवार और नायनार सत शिव और विष्णु के प्रेम में पागल हो रहे थे। धर्म के बाह्योपचार छूँछे है एव जाति का भेद निस्सार है, यह अनुभूति बौद्ध सिद्धो के समान आलवारो मे भी थी, किन्तु, इसके कारण भिन्न थे। बौद्ध सिद्ध धर्म के बाह्योपचारो का खडन इसलिए कर रहे थे कि बुद्ध से उन्हें इस खडन की परपरा प्राप्त हुई थी। किन्तु, आलवारो ने इन आचारो को गौण इसलिए माना कि वे भगवान के प्रेम मे मस्त थे और भगवान की शरण में आये हुए भक्तो के बीच उन्हे कोई भेद-भाव दिखायी नही देता था। आगे चल कर बौद्ध सिद्धो की यह खडनात्मक परपरा कबीर, दादू, नानक आदि सतो को मिली, किन्तु, रामानन्दी और वल्लभाचार्यी साधुओ को यही परपरा आलवारो के

यहाँ से प्राप्त हुई। एक परपरा मे सुधार की भावना थी, ब्राह्मणत्व के विरुद्ध आक्रोश और निन्दा के भाव थे, किन्तु, दूसरी परपरा मे वही लक्ष्य प्रेम के द्वारा प्राप्त किया गया था। सामाजिक समता की सिद्धि के लिए कबीर को डाँट-फटकार का सहारा लेना पडा। किन्तु, रामानुज, रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा चैतन्य ने उसी समता का उपदेश प्रेम से गद्‌गद होकर दिया है।

आलवारो मे विभिन्न श्रेणियो के लोग थे। उनमे एक स्त्री (आन्दाल) भी थी। एक राजा भी आलवार सत हुए और कुछ आलवार ऐसे भी थे जो भिक्षु थे अथवा अस्पृश्य जाति या ब्राह्मण-वश के सदस्य थे। भगवत्प्राप्ति का मार्ग सबके लिए उन्मुक्त है, भगवान को पाने के लिए उच्च वश का होना आवश्यक नही है, यह भाव, प्रधान रूप से, पहले आलवारो मे ही प्रकट हुआ। आलवारो के रहस्यात्मक पदो से ही रामानुज को भक्ति का दर्शन प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली। इसीलिए, वैष्णव-भक्ति के दर्शन में हम एक प्रकार की सामाजिक एकता का समर्थन पाते है।

भक्ति प्राग्वैदिक काल से ही भारत का जनधर्म रही थी। जनधर्म होने के कारण ही, द्राविड-धर्म मे भक्ति को प्रमुखता प्राप्त हुई। द्राविड़-धर्म की यही प्रवृत्ति हमें आलवारो के पदो मे उत्कर्ष पर मिलती है। भागवत में जो यह कहा गया है कि भक्ति का जन्म द्रविड-देश मे हुआ, वह इतिहास-सगत उक्ति है। और चूँकि, भक्ति का पालन-पोषण दक्षिण में हुआ, इसलिए, उसके सभी प्रमुख सत भी दक्षिण से ही आये। यह सीधी-सी बात है। फिर भी, जो लोग इस बात को नही मानते, न जानते ही है, उन्हें भक्ति को भारतबाह्य आन्दोलनो से मिलाने की क्लिष्ट कल्पना करनी पडती है।

सच तो यह है कि इस्लाम का यत्किचित् प्रभाव तेरहवी सदी के बाद से पडने लगा। उसके पूर्व भारत मे जो भी आन्दोलन उठे, उन पर इस्लामी प्रभाव मानने का कोई आधार नही है। दूसरी ओर, ये भी सभी आन्दोलन प्राचीन भारतीय परपरा की पृष्ठभूमि पर, आदि से अन्त तक, भली भाँति समझे जा सकते है।

वीर शैव और इस्लाम

वीर शैवो की प्रधानता बेलगाँव, बीजापुर, धारवार जिलो तथा मैसूर और कोल्हापुर राज्यो में है। इस भूखड मे इनकी सख्या कोई तीस लाख होगी। वीर शैव लिंगायत धर्म को मानते है और इनका दावा है कि यही धर्म शैव धर्मो मे सब से प्राचीन है। इस धर्म के माननेवाले लोग पर-शिव को ईश्वर मानते हैं और अल्लम प्रभु को उनका अवतार। इस धर्म के नेता बासव थे जो कालाचुरी-वंश के राजा बिज्जल (११५६—६७) के मत्री थे। वीर शैव सम्प्रदाय में यज्ञ, उपवास, तीर्थयात्रा, किसी का भी महत्त्व नही है। ये लोग-जाति को नही मानते। इनके यहाँ अन्त्यज भी दीक्षित होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इस मत के अनुयायियो मे बाल-विवाह मना है, तलाक जायज और विधवा-

विवाह भी जायज है। डाक्टर ताराचन्द का कहना है कि ये अपने शवो को मिट्टी मे गाडते हैं और श्राद्ध नही करते। पुनर्जन्म मे इनका विश्वास नही है। सभी लिंगधारी साथ खाते हैं और वे बडे ही भक्त, विरक्त तथा युद्धप्रिय होते है।

डा० ताराचन्द का कहना है कि यह सप्रदाय, अवश्यमेव, उस समय उत्पन्न हुआ होगा, जब मुसलमान व्यापारी के रूप मे भारत आने तथा काम्बे से लेकर किलोन तक बसने लगे थे। इस सबध मे, आवश्यक छानबीन करते हुए हमने बिहार के राज्यपाल श्री रगनाथ दिवाकरजी से कुछ पूछताछ की थी। उनसे हमे मालूम हुआ कि वीर शैव-साहित्य की परपरा कन्नड-भाषा मे ग्यारहवी सदी तक पहुँचती है। इसके सिवा, इस मत का काफी साहित्य तमिल और तेलुगू भाषाओ मे भी उपलब्ध है। इस साहित्य मे सभी उद्धरण वेदो अथवा आगमो से आते है एव हिन्दू-धर्म के अलावा, उसमे किसी धर्म का उल्लेख नही है। अरबी का तो इस साहित्य मे कोई दूर का भी निशान नही मिलेगा। सच तो यह है कि जब दक्षिण मे पहले शैव-धर्म और बाद को वीर-शैव-धर्म फैला, उस समय तक वहाँ इस्लाम का प्रचार ही नही हुआ था।

अल्लम प्रभु इस सप्रदाय के बहुत बडे सन्त हुए है जो वीर शैव मत के प्रवर्त्तक बासव के समकालीन थे। अल्लम प्रभु के बहुत-से वचन कन्नड मे मिलते है, जिनमे ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक और आध्यात्मिक भाव है। अल्ला और अल्लम के बीच अक्षरो की समानता भले ही हो, किन्तु, ऐसा एक भी प्रमाण नही है, जिससे यह दिखलाया जा सके कि वीर-शैव पर इस्लाम का थोडा भी प्रभाव है।

वीर शैवो का विश्वास है कि जो व्यक्ति इस मार्ग मे दीक्षित हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नही होता। पुनर्जन्म सिर्फ उन्ही का होता है जो "भावी" है, अर्थात् जो भाव या ससार मे फँसे हुए है। इस मत के लोग शक्ति-विशिष्ट-अद्वैत मे विश्वास करते है। इस्लाम विशिष्ट अथवा अविशिष्ट, किसी भी प्रकार के, अद्वैत मे विश्वास नही करता। वह केवल ईश्वर मे विश्वास करता है। वीर शैवो का अन्तिम लक्ष्य समरसैक्य की प्राप्ति है अर्थात् वे पर-शिव के साथ आनन्दमय मिलन के अभिलाषी होते है। वीर शैव मूर्त्ति-पूजा भी करते है। इस मत के लोग एक लघु लिंग को बराबर साथ लिये चलते है, जो उनके लिए यज्ञोपवीत के समान आवश्यक और पवित्र होता है। ये लोग मदिरो मे भी पूजा करते है।

वीर-शैव-सम्प्रदाय का ऊपर जो परिचय दिया गया है, उसमे इस्लाम का प्रभाव कहाँ पर है, यह डा० ताराचन्द ही जाने। उनका भ्रम, कदाचित्, अल्लम् नाम और शव गाडने की प्रथा पर आधारित है। सो, किटेल (Kittel) के कन्नड-कोष[1] के अनुसार, अल्लम का अर्थ लिंगायत भक्त है, अल्ला का अनुचर नही। और मुर्दा गाडने की प्रथा

---

१ कन्नड-इगलिश-डिक्शनरी लेखक रेवरेड एफ० किटेल

का कारण यह है कि वीर-शैव-सम्प्रदाय शैवो का उग्रतम सम्प्रदाय है। वीर का अर्थ ही यहाँ कठिन अथवा उग्र समझा जाना चाहिए। शैवो का सब से अग्रणी सम्प्रदाय सन्यासियो का सम्प्रदाय है। सन्यासी के लिए जात-पाँत, रस्म-रिवाज कोई महत्त्व नही रखते और सन्यासियो के शवो के गाडने की प्रथा भी हजारो वर्ष प्राचीन है। वीर शैवो ने इसी सन्यासी-सम्प्रदाय के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य माना और उसके समान कठिन आचरण करने के कारण ही वे वीर कहलाये। यज्ञ, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, स्पृश्यास्पृश्य-विचार, शास्त्र-सम्मत बाल-विवाह और तलाक की निन्दनीयता, आदि को नही मानना वीर शैवो की उग्र प्रवृत्ति के कारण है। और जैसे सन्यासियो के शव गाडे जाते है तथा उनका श्राद्ध नही किया जाता, वैसे ही, गृहस्थ वीर-शैव भी श्राद्ध अथवा चिता को नही मानते, क्योकि ये सामान्य गृहस्थो के लक्षण हैं। सन्यास शैव-धर्म की आत्यन्तिक साधना का सोपान है। इसलिए, उसके कितने ही आचरण, अत्यन्त प्राचीन काल से, गृहस्थो के आचरण से भिन्न रहे है। वीर-शैवो ने उग्र साधना के लिए सन्यास को गार्हस्थ्य मे पचा लिया। हिन्दुओ की और भी कई जातियाँ है जो शवो को नही जलाती। किन्तु, इसके कारण, हम उन्हे इस्लाम से प्रभावित नही समझते।

वीर-शैव मदिरा नही पीते, न आमिष ही खाते है। उनके कर्म और आचरण अत्यन्त शुद्ध एव पूर्णरूप से भारतीय है। यही नही, उनके सारे साहित्य में कही एक शब्द भी नही है जो अरबी या फारसी भाषा का हो अथवा जो सूफियो के यहाँ से आया हुआ हो। वीर-शैव सामान्य शैव-धर्म का ही अति-विकास है। हिन्दू-समाज की प्रचलित रूढियां वीर-शैव मे कम है, किन्तु, इसका कारण यह नही है कि वीर-शैवो ने इस्लाम का अनुकरण किया, प्रत्युत, यह कि वे वीर होने के कारण उन सभी आचरणो का पालन करना चाहते थे जिनका पालन सन्यासी करता है। और यह तो मानी हुई बात है कि सन्यास लेने-वाला हिन्दू न तो जात-पाँत को मानता है, न छुआछूत को।

भौगोलिक एकता और मुक्त चिंतन

भारतीय दर्शन और विचारधारा पर इस्लाम का कोई भी गभीर प्रभाव पडा हो, इसका प्रमाण नही मिलता। किन्तु, दर्शन के नीचे वाले स्तर पर जो प्रभाव पडा, उसका तखमीना हम लगा सकते है। राजनैतिक क्षेत्र मे इस्लाम का सब से बडा प्रभाव एकता की दिशा मे पडा। हर्षवर्धन के बाद से इस देश मे सुदृढ केन्द्रीय सत्ता का लोप हो गया था। मुसलमानी राज्य की स्थापना से देश मे केन्द्रीय सत्ता फिर से मजबूत होने लगी और, इस प्रकार, इस्लाम के आने से देश की राजनैतिक एकता मे वृद्धि हुई। किन्तु, मुसलमानो ने जैसी एकता उत्तर भारत मे स्थापित की, वैसी एकता का विधान वे दक्षिण भारत मे नही कर सके। उत्तर में भी, असम पूर्ण रूप से मुसलमानी शासन के अधीन कभी नही आया। यह भी ध्यान देने की बात है कि औरगजेब पर जब दक्षिण

को अपने वस में लाने की धुन सवार हुई, तब मोगल-साम्राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड गया। यो भी, देश के विभिन्न भागो में शासन चलाने का काम बहुत-से हिन्दू मनसबदार भी करते थे जिन पर केन्द्र का नियत्रण सर्वत्र एक-सा कडा नही रहता था। दक्षिण भारत के अनेक राज्य मुस्लिम-काल में हिन्दू राजाओ के अधीन रहे। मदुरा १७३६ ई० तक, मैसूर १७६१ ई० तक और तजौर १७९९ ई० तक हिन्दू-राजाओ के अधीन था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि तुगभद्रा नदी से दक्षिण का भाग खाँटी हिन्दुत्व का प्रधान आश्रय हो गया। किन्तु, यह सब होते हुए भी, मोगलो के समय में, भारत को जो राजनैतिक एकता प्राप्त हुई, वह अशोक के बाद कभी भी प्राप्त नही हुई थी।

राजनैतिक एकता में वृद्धि के बाद, इस्लाम का दूसरा शुभ परिणाम यह हुआ कि सूफी साधुओ और भारतीय साधको के मिलन से, देश में धर्म की नयी जागृति उत्पन्न हुई, जिसके व्याख्याता कबीर, दादू और नानक-जैसे सत हुए। एक तरह से देखिये तो यह धारा बौद्ध काल से आती हुई फक्कड-मिजाज सिद्ध साधुओ की परपरा का ही विकास थी। किन्तु, सूफियो की सगति से इस धारा को यथेष्ट बल मिला। भारत में आकर सूफी मत भी प्रभावित हुआ। सूफियो ने इसी देश में आकर योग की साधना की। यही आसन, पट्चक्र और कमल-बेध पर फारसी में किताबें लिखी गयी, जिनका प्रभाव अरब और ईरान तक भी पहुँचा। भारतीय योगियो की देखादेखी, सूफियो में यह कल्पना भी चल पडी कि हृदयस्थ कमल के दल पर मोहम्मद साहब का वास है।

इस्लाम के अनुकूल प्रभावो में हम मुक्त चिन्तन के प्रसार को भी गिन सकते हैं। विचारो की स्वतत्रता इस्लाम की विशेषता नही थी। कुरान के कड़े फरमानो से सूफी भी डरते थे और वे चाहते थे कि उनकी वाणी और आचार से इस्लाम का अनादर ध्वनित न हो।[1] किन्तु, तब भी स्वाधीन चिन्तन का उन्हे जो चस्का लग गया था, जिसके कारण, उन्हे मुल्लाओ के सामने लाछित होना पडता था और, कभी-कभी, उनकी जान भी चली

---

१. मौलाना रूमी की मसनवी के चौथे भाग में सुप्रसिद्ध सूफी सत बयाज़िद (मसूर के समकालीन, १० वी सदी का आरभ-काल) के विषय में यह कथा है कि एक दिन मस्ती में आकर बयाजिद बोल उठे, "अहा! मैं स्वय सर्वशक्तिमान् परमात्मा का स्वरूप हूँ। मुझे छोडकर और कही ईश्वर नही है। लो, मेरी पूजा करो।" शिष्य इस घोषणा से बहुत चकराये। निदान, जब बयाजिद होश में आये, तब शिष्यो ने उनसे यह बात कही। बयाजिद सुनकर विस्मित रह गये। उनके मुख से केवल यह निकला कि "अगर मैं फिर ऐसा करूँ तो तुम बेधडक मेरी गरदन को तलवार से उडा दो।" बयाजिद ने मस्ती में आकर एक दिन फिर वैसा ही किया और, उनकी आज्ञा के अनुसार, एक शिष्य ने उन पर तलवार चला दी। किन्तु, वे मरे नही। तलवार की धार उलट कर शिष्य की गरदन पर जा गिरी और वह मर गया। (दे० द पर्शियन मिस्टिक्स)

जाती थी। इधर, वेद-विरोधी साधुओ की जो जमात भारत में बौद्ध काल से चली आ रही थी, स्वाधीन चिन्तन पर उसका भी उत्कट प्रेम था। ये दोनो दल जब एकत्र हुए, तब मुक्त चिन्तन का भारत मे प्रवाह ही खुल पडा और वर्णाश्रम-धर्म के प्रहरियो की उपेक्षा करके ये लोग जनता को समानता का सन्देश कुछ और उत्साह से देने लगे। इस्लाम के आगमन से एक तो हिन्दू-समाज के निचले धरातल की जनता मे निर्भीकता आ गयी, दूसरे, मन्दिरो में देवताओ को बुरी तरह खडित होते देखकर मूर्त्ति-पूजा पर से जनता का विश्वास हिलने लगा। यह वर्णाश्रम-धर्म पर दोहरी मार थी। ब्राह्मण इस विपत्ति को भली भाँति समझ रहे थे। इसीका परिणाम था कि मुस्लिम-काल मे सायण, मध्व, उवात, दुर्गा और आनदतीर्थ-जैसे पडितो ने आगे बढकर वेदो की नयी व्याख्या आरभ कर दी और वे यह प्रयत्न करने लगे कि किसी प्रकार धर्म और धर्म-पुस्तक पर से जनता की आस्था नही हटे। इसी प्रकार, धर्म-शास्त्रो की भी नयी व्याख्याएँ करके उन्हे नव-जीवन देने का कार्य आरभ हुआ तथा मुस्लिम-काल में मेधातिथि, कुल्लुक भट्ट, विज्ञानेश्वर, रघुनन्दन और विद्यापति-जैसे निबन्धकार स्मृतियो का उद्धार करने लगे।

किन्तु, वर्णाश्रम-धर्म के प्रयत्नो का यह विवरण मुस्लिम-काल के हिन्दुत्व का सच्चा विवरण नही है। इस काल का मुख्य आन्दोलन तो वह है जिसके नेता नामदेव और कबीर, तुकाराम और दादू तथा नानक और चैतन्य हैं। इस्लाम के बहुत सारे विचार हिन्दुओ के यहाँ कबीर के मुख से पहुँचे। रामानन्द कबीर के भी गुरु थे और गुरु-परपरा मे उनका सबध तुलसीदास से भी था। इससे जान पडता है कि उनकी दो भाव-धाराएँ थी—एक वह, जो वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियो को प्रोत्साहन देती थी और दूसरी वह, जिसका आशीर्वाद तुलसी-जैसे वर्णाश्रमी कवि के साथ था। निष्कर्ष यह कि युग ने जो उदारता घोषित कर दी थी, वह सभी सतो के यहाँ आदर पा गयी।

प्रकरण ६

भक्ति-आन्दोलन और इस्लाम

भारत मे भक्ति का समारंभ कब हुआ तथा इसके बीज कहाँ-कहाँ विकीर्ण थे, इसके संबंध मे विद्वानो मे अभी काफी मतभेद है। एक तो वेद मे भक्ति को अनुपस्थित देख कर तथा दूसरे, महजोदरो की खुदाई से मिलनेवाले निशानो मे भक्ति का यत्किंचित् प्रमाण पाकर, विद्वान् यह अनुमान लगाने लगे है कि भक्ति आर्येतर तत्त्व है। मतो की इस अस्थिरता से प्रोत्साहित होकर कुछ विद्वानो ने अब यह भी कहना आरंभ कर दिया है कि भक्ति का वास्तविक विकास भारतवर्ष में मुसलमानो के आगमन के बाद हुआ। अस्तु, विचारपूर्वक देखना चाहिए कि इस विषय मे तथ्य क्या है।

भक्ति की प्राचीनता

भक्ति के इतिहास को हम कहाँ से पकडे? साधु-समाज में एक दोहा प्रचलित है, जिसके अनुसार भक्ति का विकास दक्षिण भारत में हुआ था।

> भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द,
> परगट कियो कबीर ने सात द्वीप, नौ खंड।

इसी भाव से मिलता-जुलता एक संस्कृत श्लोक है जो भागवत और पद्मपुराण, दोनो ही ग्रन्थो मे पाया जाता है। भागवत मे स्वयं भक्ति नारदजी से कहती है,

> उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता,
> स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

अर्थात् मैं द्राविड देश मे जनमी, कर्णाटक मे विकसित हुई, कुछ समय महाराष्ट्र मे रही और गुजरात पहुँच कर मैं जीर्ण हो गयी।

भागवत की रचना आठवी या नवी सदी मे हुई थी, ऐसा विद्वान् मानते है। किन्तु, आठवी सदी से पूर्व क्या भक्ति का भारत मे कही पता ही नही था? भक्ति के प्रमाण विष्णुपुराण मे भी है, देवी-भागवत में भी और कूर्म, वायु तथा शिव पुराणो मे भी। अन्य पुराणो के बारे मे भले ही यह कहा जाय कि वे भागवत के समकालीन है अथवा वे उसके बाद रचे गये है, किन्तु, विष्णु-पुराण की प्राचीनता असंदिग्ध है। इससे भी अधिक निश्चित प्रमाण यह है कि महाभारत में भक्ति अत्यन्त सुविकसित रूप मे मिलती है और गीता, जो महाभारत का अंश है, भक्ति का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट भाषा में करती है।

वेद में भक्ति का स्पष्ट प्रमाण तो नही है,किन्तु, यह कैसे कहा जा सकता है कि जो आर्य इन्द्र, अग्नि, वरुण और आदित्य की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करते थे, उनमें इन देवताओ के

लिए कोई भक्ति-भाव नही था ? बहु-देववाद के भीतर से आर्य बराबर किसी एक, अदृश्य, परम सत्ता की ओर उन्मुख रहते थे। धर्म का जन्मस्थान सृष्टि के रहस्यो पर चकित होने का भाव है। हम कौन हैं ? यह सृष्टि कहाँ से निकली है ? प्रकृति की अनेक विभूतियो मे से वह विभूति कौन है जो हमारी श्रद्धा की अधिकारिणी है ? कस्मै देवाय हविषा विधेम ? जो आर्य भाव-विह्वल होकर अपने-आप मे ऐसे प्रश्न पूछते थे, उनके हृदय में भक्ति नही तो और किस भाव की प्रेरणा थी ? सच तो यह है कि जिस जिज्ञासा से धर्म की उत्पत्ति होती है, उसी जिज्ञासा में भक्ति के भी बीज मौजूद रहते हैं। भक्ति पहले एक देश मे जनमी और वहाँ से चलकर वह अन्य देशो में पहुँची, ऐसा सोचना मिथ्या चिंतन का पर्याय है। भक्ति का जन्म सभी देशो मे धर्मोदय के साथ ही हुआ, यही सच्ची बात है। भक्ति वह तत्त्व है जो सभी धर्मो मे समान रूप से पाया जाता है। जो धर्म नास्तिक-दर्शन की पताका लेकर उठे थे, भक्ति का प्रवेश उनके भीतर भी हो गया।

तब भी, एक बात है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। वेदो के समय आर्य यज्ञ और हवन तथा ऋचाओ का पाठ करते थे एव उनका विश्वास था कि यज्ञ करने से ही देवता प्रसन्न होते हैं। लेकिन, भागवत के समय से जिस भक्ति-मत का प्रचार हुआ, उसमे यज्ञो की प्रधानता नही रही और जनता यह मानने लगी कि भगवान को प्रसन्न करने का सही मार्ग यह है कि हम अपने-आपको उनकी शरण में छोड दे। यही प्रपत्ति और शरणागति का सिद्धान्त है जिसका उपदेश रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य तथा भक्ति के अन्य आचार्यों ने किया है।

प्रपत्ति और शरणागति के सिद्धान्त सामी (Semitic) धर्मों में आरभ से ही विद्यमान् थे। इसी कारण, डाक्टर ताराचन्द और हुमायूं कबीर को यह भ्रम सताता है कि, हो-न-हो, भारत के भक्ति-आन्दोलन मे प्रपत्ति के भाव इस्लाम से ही गये होंगे। लेकिन, प्रपत्ति क्या उतनी ही पुरानी है जितने पुराने रामानुजाचार्य है ? यह पारिभाषिक शब्द उनका गढा हुआ अवश्य है, मगर, जिस भावना को भाषा देने के लिए यह शब्द गढा गया, वह भावना रामानुज से कही प्राचीन थी। प्रपत्ति और शरणागति के भाव सभी पुराणो मे भरे पडे है और उनमे से अधिकाश पुराण रामानुज से सदियो पूर्व के है। पुराणो को छोड दे तब भी गीता के

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

इस श्लोक मे जो उपदेश दिया गया है, वह शरणागति नही तो और किस बात का उपदेश है ?

प्रतिमा-पूजन के निशान महंजोदरो मे मिले हैं, इससे यह अनुमान होता है कि भक्ति भारत का सनातन जन-धर्म थी और आर्यो के पहले से ही वह इस देश में प्रचलित थी।

आर्यों के आगमन के बाद आर्य तो हवन-कर्म द्वारा ही अपने देवताओ को प्रसन्न करते रहे, किन्तु, इतर जनता उस समय भी भक्ति और पूजा ही करती थी। बाद को भक्ति जन-धर्म के धरातल से उठकर पडितो के धरातल पर भी पहुँच गयी। यह भी कहा जाता है कि बौद्ध लोग जब शून्य की साधना करने लगे, तब आर्य जनता में, प्रतिक्रिया-स्वरूप, भक्ति का प्रचार बढ गया। एक दूसरा मत यह है कि उपनिषदो का ज्ञान-मार्ग नीरस और दुरूह था। उसके लिए गभीर चिंतन के उपयुक्त मस्तिष्क की आवश्यकता थी। मस्तिष्क की इसी प्रधानता के विरुद्ध मनुष्य के हृदय ने विद्रोह किया। भारतीय जनता का भक्ति की ओर झुकना इसी विद्रोह का परिणाम था।

महामहोपाध्याय काणे ने सूत्र-काल के अन्तिम चरण मे भारत मे ऐसे पुरोहितो का होना माना है जो मन्दिरो में प्रतिमा-पूजन करवाते थे।[1] मुद्रा और शिला-लेखो के आधार पर भी यह पता चलता है कि, धर्म-सबन्धी पारिभाषिक शब्द के रूप मे, भक्ति का चलन ई० पू० दूसरी सदी में था। बूहलर (Buhler) के मतानुसार भक्ति का उल्लेख ई० पू० आठवी सदी मे भी मिलता है। पाचरात्र-आगम में गोपालकृष्ण और वासुदेव का एकाकार होना छान्दोग्य-उपनिषद् से भी सूचित होता है और छान्दोग्य-उपनिषद् बुद्ध से पूर्व का ग्रन्थ है, इसमें कोई सन्देह नही।

फ्रासीसी विद्वान् सेनार्त (Senart) ने लिखा है कि 'भारत मे भक्ति का मूल अत्यत गहराई में है। वह बहुत प्राचीन काल तक पहुँचता है। भारत मे भक्ति किसी कट्टर पन्थ के रूप मे नही उठी। वह एक शक्तिशालिनी भावना रही है, जिससे भारत का इतिहास और समस्त काव्य परिव्याप्त है। भारत के पुराने-से-पुराने अध्यात्मशास्त्र में भी किसी एक अदृश्य के लिए व्याकुल ईहा सर्वत्र मिलती है। आर्य केवल उदग्र ज्ञानी ही नही थे, वे अदृश्य सत्ता के सामने प्रणिपात मे झुकने को भी तैयार थे। भारत मे भक्ति के उद्भव को किसी विदेशी प्रभाव की अपेक्षा नही थी।'[2]

और जो विचार सेनार्त का है, वही विचार बार्थ (Barth) ने भी प्रकट किया है। भ्रम केवल उन्हें है जो नयी बात बोलने के शौक से बीमार है।

धर्म पहले व्यक्ति के हृदय मे उदित होता है। भक्ति भी पहले व्यक्ति के ही भीतर जन्म लेती है। मनुष्य का हृदय किसी पर न्योछावर होना चाहता है। आदमी किसी के पाँव पकड कर निश्चित हो जाना चाहता है। यही भावना जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है, तब वह भक्ति बन जाती है। उपनिषदो की बौद्धिकता से जिन्हे सतोष नही था, वे वासुदेव की उपासना करने लगे। निर्वैयक्तिक ब्रह्म से अतृप्त हृदय वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना की ओर मुडा। पाण्डित्य से ऊबी हुई भावुकता ने जब यह देखा कि

---

१. धर्मशास्त्रो का इतिहास
२. La Bhagwat Gita

जो सतोष और शान्ति कर्मकाण्डियो को यज्ञ से और मेधावियो को ब्रह्म-चिन्तन से नही प्राप्त होती, वही शान्ति अपढ जनता किसी भी देवता पर न्योछावर होकर आसानी से प्राप्त कर लेती हे, तब पण्डितो का दल भी भक्ति-मार्ग की ओर झुकने लगा।

गीता ने जिस पाचरात्र और एकान्तिक धर्म का आख्यान किया है, उसका आधार यह विश्वास है कि प्रेमपूर्वक ईश्वर की पूजा करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। बौद्ध-धर्म की जमीन उपनिषदो के मुक्त चिन्तन मे तैयार हुई थी। किन्तु, इस धर्म के साथ जब नास्तिकता का प्रचार होने लगा, तब भारत के सभी आस्तिक धर्मो ने भक्ति का मार्ग अपना कर उस नास्तिकता का विरोध किया।

बीज-रूप में भक्ति प्राग्वैदिक धारा है। आन्दोलन के रूप में भी वह, कम-से-कम, बौद्ध मत जितनी ही प्राचीन है। एकवाद, अनेकवाद या सर्ववाद के आधार पर भक्ति-आन्दोलन का इतिहास अलग-अलग समझा नही जा सकता। आरभ से ही भक्ति मे एकेश्वरवाद भी रहा है और बहुदेववाद भी तथा सर्वात्मवाद की जो झलक हम कबीर और जायसी मे देखते हैं, उसका भी गहरा पुट भक्ति में पहले मे ही मौजूद था। हिन्दुत्व किसी एक नबी, एक पैगम्बर या एक अवतार का निर्माण नही है। अनेक सतो, मुक्त चिंतको, महात्माओं और द्रष्टाओं से सेवित होने के कारण वह, आरभ से ही, कट्टरपथी नही, उदार रहा है। यही वैविध्य और उदारता यहाँ के भक्ति-आन्दोलन में भी रही है।

आरभ मे आर्यों के भीतर कर्मकाण्ड प्रधान था और भक्ति गौण थी। जब भक्ति उठी, तब भक्ति ही प्रधान हुई और कर्मकाण्ड गौण हो गया। गीता में ही हम कर्मकाण्ड को गौण होते देखते हैं, क्योंकि गीता का कर्मयोग कर्मकाण्ड नही, कोई और वस्तु है। यह भी कहा जा सकता है कि भारत ने जब आर्यों का भारतीयकरण करना आरभ किया, तब आर्य पहले तो प्रवृत्तिवाद से हटकर निवृत्ति की ओर आये और, बाद को, कर्मकाण्ड के बदले उन्होने भक्ति-मार्ग को प्रधान मान लिया।

गीता का महत्त्व

हिन्दू-धर्म, बहुत प्राचीन काल से, दो प्रकार के ग्रन्थो पर आधारित रहा है। इनमें से एक को निगम और दूसरे को आगम कहने का रिवाज है। निगम वेद है जिन्हे हिन्दू अपौरुषेय मानते है। आगमो की उत्पत्ति शिव, शक्ति या विष्णु से मानी जाती है जो, ईश्वर-कोटि मे होने पर भी, पुरुष-कोटि में आते हैं। निगम आर्य-भावो तक सीमित है। आगमो की विशेषता यह है कि वे आर्य, आर्येतर और प्राग्वैदिक, तीनो ही प्रकार की परपराओं का आख्यान करते है। वैसे, भक्ति के पुट वेदो मे भी है, किन्तु, वेदो का सारा जोर कर्मकाण्ड पर हे। जिस भक्ति का व्यापक प्रचार भागवत के समय में आकर आ, उसके बीज, उद्भव और विकास की सारी कहानियाँ आगम-ग्रन्थो में है, जिनमे से अनेक को पुराण भी कहते हैं। इसी आगमिक धारा की परिणति भक्ति में हुई।

गीता उपनिषद् कही जाती है, अतएव, वह निगम-ग्रन्थ है। किन्तु, वह भागवत-आगम भी समझी जाती है। भगवान कृष्ण का अप्रतिम महत्त्व यह है कि उन्होंने भागवत-सम्प्रदाय की भक्ति को वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह अध्यात्म से एकाकार कर दिया। गीता वह प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ है जिसमें भारत की वैदिक और प्राग्वैदिक धाराएँ, निगम और आगम, एक स्थल पर मिल जाते हैं। गीता के बाद से यह पूछना ही व्यर्थ है कि कर्म (वेद, निगम), ज्ञान (उपनिषद्, निगम ही) और भक्ति में से कौन तत्त्व प्रमुख और कौन अप्रमुख हैं।

वेदो और उपनिषदो की विशेषता सर्ववाद थी। आगम, आरभ से ही, किसी-न-किसी ईश्वर को लक्ष्य मानकर चलते आये थे। गीता ने दोनो को एकाकार कर दिया यानी यह विश्वास प्रकट किया कि जो एक है, वही सब मे व्याप्त है। निगम के अनुसार मुक्ति के कारण कर्म और ज्ञान माने जाते थे। गीता ने मुक्ति के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति, तीनो की सार्थकता प्रतिपादित की। गीता मे वेदो की हलकी आलोचना भी है और उन पर अपार श्रद्धा भी। गीता वर्णाश्रम का तिरस्कार नही करती, जैसा तिरस्कार भक्ति-युग मे आकर कबीर आदि ने किया। गीता के समय से लेकर रामानुज के समय तक (बल्कि, कबीर से पूर्व तक) भक्ति का पहला युग था जब प्रपत्ति, शरणागति आदि के भाव काफी बलवान् थे, किन्तु, वर्णाश्रम का उल्लघन कोई नही करता था। भक्तो के द्वारा वर्णाश्रम की अवज्ञा, प्राय, कबीर के समय से आरभ हुई। अतएव, समझना चाहिए कि कबीरदास ने भक्ति के उत्तर-युग का प्रवर्तन किया और इस्लाम का जो प्रभाव भक्ति पर पडना था, वह इसी युग मे पडा।

अतिरंजनवादियों की भ्रान्ति

कठिनाई यह है कि जो लोग अद्वैतवाद और भक्ति-आन्दोलन को इस्लामी प्रभाव की देन समझते हैं, वे यह मानकर चलते हैं कि अद्वैत और भक्ति का प्रचलन हिन्दू-समाज में था ही नही। फिर ये दोनो बाते आठवी सदी के बाद और, खासकर, दक्षिण में ही क्यो उत्पन्न हुई? हमारा ख्याल है, विद्वानो के मन में ऐसी शकाएँ केवल अज्ञान से उत्पन्न होती हैं। इस्लाम का जन्म सातवी सदी मे हुआ, लेकिन, आलवार सत दक्षिण मे चौथी-पाँचवी-छठी शताब्दियो मे भी जनमे थे।[1] आलवारो की परपरा दक्षिण में और नही तो पाँच सौ वर्षो तक चली थी और आरभ के आलवारो के भाव वे ही थे, जो आठवी-नवी सदी के आलवारो मे दिखायी देते हैं। इसी प्रकार, शकराचार्य का भी इस्लामी परपरा से कोई सबन्ध नही था। वे शुद्ध भारतीय दार्शनिक थे और उनके माया तथा अद्वैत

१ कृष्ण स्वामी आयगार ने Early History Of Vaishnavism In South India में यह बताया है कि आदि-आलवार तीसरी शताब्दी मे उत्पन्न हुए और उनकी परपरा नवी शती तक चलती रही।

के सिद्धान्त केवल औपनिषदिक विचारों का विकास मात्र हैं। उपनिषदों के सिवा उन पर प्रभाव यदि किसी अन्य विचारधारा का पड़ा है तो वह विचारधारा बौद्ध शून्यवादियों की थी। क्या आठवीं सदी के मुसलमान सूफ़ीवादी थे? शंकराचार्य के समय केरल में फैले हुए मुसलमान थे, यह ठीक है, किन्तु, उनके पास ऐसी चीज़ क्या थी जिसका प्रभाव शंकर पर पड़ता? और इस्लाम यदि इतना ही प्रभावशाली था तो जिस उत्तर भारत पर उसने इतनी सदियों तक राज्य किया, वहाँ कोई शंकराचार्य क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? यह भी सोचने की बात है कि इस्लाम स्वयं ही अद्वैत में विश्वास नहीं करता है। फिर अद्वैत-चिन्तन को वह प्रेरित कैसे कर सकता था? शंकराचार्य पर इस्लामी प्रभाव की छाया भी नहीं पड़ी थी और भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव कबीर के समय से पड़ने लगा। इस स्थापना से भागने की राह, कम-से-कम, उन्हें तो नहीं ही मिलेगी, जिन्हें भारत की संस्कृति और परम्परा का कुछ थोड़ा भी ज्ञान है।

आलवार भक्त

पाँचवीं से लेकर नवीं सदियों तक दक्षिण में भक्ति का खूब बोलबाला था, यह बात आलवार संतों के साहित्य से प्रत्यक्ष है। ये आलवार संत बहुधा निम्न जातियों के होते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी अधूरी होती थी। किन्तु, उनके भीतर चरित्र और हार्दिक गुणों का अद्भुत चमत्कार रहता था। शिक्षा, कुल और वैभव का अभिमान नहीं रहने के कारण, ये संत अत्यन्त विनीत हुआ करते थे और अपनी सर्वसाधनहीनता को लेकर ये भगवान के चरणों में अपने को निवेदित कर देते थे। 'मेरा जन्म द्विजाति-कुल में नहीं हुआ, न मैं चारों वेदों का जाननेवाला हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। इस कारण हे भगवान! मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है।' ऐसे भाव आलवारों के थे। रामानुजाचार्य ने आगे चलकर जिसे प्रपत्ति (अर्थात् सब कुछ छोड़कर भगवान की शरण में गिरने की भावना) की संज्ञा दी, प्रायः सभी आलवारों के गीत उस भाव से ओत-प्रोत हैं। आलवारों ने दक्षिण में भक्ति की धरातल को बहुत ऊँचा कर दिया और उनकी वाणी जन-जन के हृदय की वाणी बन गयी। भक्ति को आलवारों ने जन-जीवन का ऐसा अभिन्न अंग बना दिया कि इन गये-बीते जमाने में भी दक्षिणापथ के लोगों में भक्ति की अद्भुत प्रधानता विद्यमान है। इनमें से बारह संत ऐसे हुए, जिनकी विशेष ख्याति हुई और जिनकी मूर्तियाँ दक्षिण के मन्दिरों में स्थापित मिलती हैं। ये संत भक्ति-विभोर जनता के हृदय-देव हो गये थे, इसलिए, विष्णु के साथ इनकी भी पूजा आरंभ हो गयी। इन आलवारों में सब से प्राचीन कौन थे, इसका समाधान अभी नहीं हो पाया है। किन्तु, डाक्टर कृष्ण स्वामी आयंगार[1] ने यह सिद्ध किया है कि आलवारों

१. अर्ली हिस्ट्री आव् वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया

मे से एक प्वाय गइ आलवार का समय ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी है। इसी प्रकार, कुलशेखर नामक एक दूसरे आलवार का समय उन्होंने ईस्वी सन् की छठी शताब्दी माना है। प्रत्येक आलवार का समय निश्चित करने मे मतभेद अवश्य है। परन्तु, इस बात पर, प्राय, सभी लोग सहमत है कि ये बारह विशिष्ट आलवार ईसा की तीसरी सदी से लेकर नवी सदी तक के बीच हुए है। अतएव, यह बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि प्रपत्ति, शरणागति, आत्म-समर्पण और एकान्तनिष्ठा से विभूषित भक्ति का सम्यक् विकास और प्रचार आलवारो के साहित्य द्वारा नवी सदी के पूर्व ही सपन्न हो चुका था तथा उस समय तक दक्षिण की जनता भक्ति से, पूर्णत, विभोर भी होने लगी थी।

इन आलवार कवियो के तमिल पदो का सपादन पहले-पहल नाथमुनि ने किया जो नवी सदी के उत्तरार्द्ध मे त्रिचिनापल्ली के श्रीरगम् में रहते थे। नाथमुनि ने उपलब्ध पदो के चार संग्रह तैयार किये और प्रत्येक मे, प्राय, एक-एक हजार पद रखे। इन्ही सग्रहो के नाम "प्रबन्धम्" है। प्रबन्धम् मे आलवारो के पद, मूल रूप मे, रखे गये थे। पीछे, वैष्णव विद्वानो ने उन पर टीकाएँ भी लिखी। इस प्रकार, प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया।

अभी तक भागवत-पुराण ही भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ समझा जाता है। किन्तु, हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ भागवत नही, प्रबन्धम् है। यह इस कारण कि, यद्यपि, भागवत और प्रबन्धम्, ये दोनो ग्रन्थ, एक ही समय मे लिखे गये, फिर भी, प्रबन्धम् की बहुत-सी कविताएँ दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ रही थी। साथ ही, यह भी विचारणीय है कि प्रबन्धम् की कविताएँ जनता की भक्ति-साधना की सीधी अभिव्यक्ति है। किन्तु, भागवत की रचना पाडित्य के स्तर पर की गयी है। प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ क्यो माना जाय, इसका सकेत भी भागवत ही देता है, क्योकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था।

प्रबन्धम् का प्रभाव उत्तर भारत मे वैष्णवाचार्यों ने पहुँचाया। विशिष्टाद्वैत-सप्रदाय का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ से १०४० ई०) ने किया, जो प्रबन्धम् के सपादक श्री नाथमुनि (रघुनाथाचार्य) के पुत्र अथवा पौत्र थे। उनके बाद, विशिष्टाद्वैत की स्थापना श्री रामानुजाचार्य (१०२७ से ११३७ ई०) नें की, जो स्वय प्रबन्धम् के बहुत बडे प्रेमी थे। गीता और पातजल-योग के अतिरिक्त, उन्होने आलवारो की परपरा को भी भक्ति का मूल-स्रोत माना है।

शकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तो से सबसे अधिक निराशा दक्षिण की भक्ति-विभोर जनता को हुई और इसी जनता की प्रतिक्रिया ने रामानुज, निम्बार्क आदि वैष्णवाचार्यों को उत्पन्न किया। इन वैष्णवाचार्यों को द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तो की खोज क्यो अच्छी लगी, इसका भी समाधान यही है कि ये सभी आचार्य आलवारो की भक्ति-भावनाओ से, उनके पदो और रचनाओ से पूर्ण रूप से ओत-प्रोत थे। हृदय

इनका पहले ही आलवारो के सस्कारो मे भर चुका था, मस्तिष्क लडाकर इन्होने उन सस्कारो का बौद्धिक समर्थन प्राप्त किया। आलवार भक्त सीधे-सादे लोग थे। प्रेम, भक्ति, शरणागति और एकान्तनिष्ठा, यही उनकी सारी पूँजी थी। किन्तु, वैष्णव-धर्म के आचार्य मस्तिष्क से भी मेधावी और तार्किक थे। आचार्य निर्णय पर पहले आये, युक्तियों से उस निर्णय की पुष्टि उन्होंने बाद में की। और इसी पुष्टि के क्रम मे उन्होंने अपने दर्शनो का विकास किया।

प्रपत्ति के सिद्धान्त के बारे मे, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। किन्तु, रामानुज को यह विचार इस्लाम मे नही मिला। (इस्लाम तब तक भारत में फैला कहाँ था?) यह तो आलवारो की शरणागति का, रामानुज के द्वारा दिया हुआ, पारिभाषिक नाम है। आलवारो में भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हे अन्य भक्तो के लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने प्रपत्ति नामक शब्द निकाला। यह भी ध्यान देने की बात है कि द्विजो के साथ शूद्रो को भी वैष्णव-धर्म में आने का अधिकार, सब से पहले, रामानुज ने ही प्रदान किया। इसका कारण यह था कि आलवारो मे से अनेक शूद्र-वश के थे और शूद्र-कुलोत्पन्न होने पर भी, जनता उन्हे पूज रही थी। ऐसे में, रामानुज यह कैसे कह सकते थे कि शूद्रो को वैष्णव होने का अधिकार नही है? अधिकार तो उन्होंने दिया, किन्तु, प्रपत्ति को उन्होंने शूद्र भक्तो के लिए, विशेष रूप से, विहित बताया। यह वर्णाश्रम-धर्म और बृहत् मानवतावाद के बीच एक प्रकार का समझौता था, जिसका पालन रामानुज-परपरा के अन्य सतो—विशेषत, रामानन्द और तुलसी—ने भी किया है।

रामानुज की देन

आलवार सत रहस्यवादी और कवि थे। उनके उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्य चिन्तक और दार्शनिक हुए। शकर ने वेदान्त को फिर से नवीन कर दिया था। वैष्णव आचार्यो के सामने यह प्रश्न उठा कि इस वेदान्त से तमिल-प्रबन्धम् का सामजस्य कैसे बिठाया जाय अर्थात् कर्म और ज्ञान से भक्ति का मेल कैसे हो। तमिल-प्रबन्धम् को सार्वजनिक पूजा में समाविष्ट करने का प्रथम श्रेय श्री नाथमुनि को है। उन्होंने ही तमिल-प्रबन्धम् को, वैष्णवो के यहाँ, वेद का दरजा दिलवाया। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पाचरात्र-पद्धति की प्रामाणिकता को स्थापित किया, शकर के माया-सिद्धान्त का खडन किया, जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार, बारहवी सदी के आरभ में, रामानुज ने जिस विशिष्टाद्वैत-दर्शन का महल खडा किया, उसकी नीव यामुनाचार्य ने ही डाली थी।[1]

रामानुज के मुख्य ग्रन्थ तीन है, (१) वेदार्थ-सग्रह, (२) गीता की टीका और (३)

---

१ डी० एस० शर्मा-कृत "रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म"

वेदान्त-सूत्र का श्रीभाष्य। शकराचार्य ने उपनिषदो से अद्वैत का जो अर्थ निकाला था, वेदार्थ-सग्रह मे रामानुज ने उसका खडन किया है। गीता की टीका में भी उन्होंने भक्ति का पक्ष ऊँचा किया है। किन्तु, उनके दार्शनिक सिद्धान्तो की वास्तविक स्थापना श्रीभाष्य मे हुई है। इसी ग्रन्थ मे वेदान्त-सूत्रो की ईश्वरवादी व्याख्या करके उन्होंन वैष्णव-धर्म या भक्ति का दर्शन तैयार किया। वेदान्त का ईश्वर, असल मे, ईश्वर नही, ब्रह्म है जिसने ससार की रचना नही की, जो भक्तो की प्रार्थना पर ध्यान नही देता, जिसे विश्व के प्रपच से कोई मतलब नही, जो शुद्ध, बुद्ध, निराकार और निर्विकार है। किन्तु, रामानुज ने इस ब्रह्म मे ईश्वरत्व का आरोप किया, उसे भक्तो की प्रार्थना सुनने योग्य एव विश्व-प्रपच का कर्ता तथा उसका प्रहरी बना दिया। ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को लाने के कारण रामानुज क्रान्तिकारी महात्मा दीखते है और इसी कारण, कदाचित्, विद्वानो को यह शका होती है कि ब्रह्म को ईश्वर-कोटि मे लाने की प्रेरणा उन्हे इस्लाम से मिली होगी। किन्तु, एक बात है जिस पर ध्यान देने से ऐसी शकाओ का निवारण, आप-से-आप, हो जाता है। यह समझना नितान्त भूल है कि ब्रह्मसूत्र की ईश्वरवादी व्याख्या करने के आदि श्रेय के अधिकारी रामानुजाचार्य है, क्योकि उनसे और शकराचार्य से भी पूर्व, बोधायन हुए थे जिन्होने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या की थी। फिर आचार्य टंक और आचार्य द्रविड़ का समय भी रामानुज और शकर से पूर्व पडता है और इन आचार्यो ने भी वेदान्त मे ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को देखा था। रामानुज की विशेषता यह है कि ईश्वरवाद पर से उन्होने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया और यह सिद्ध किया कि भक्ति की शिक्षा केवल तमिल-प्रबन्धम् से ही नही, प्रत्युत, प्रस्थानत्रयी (वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् और गीता) से भी मिलती है। रामानुज वैदिक-धर्म और आलवार, दोनो की परपराओ के प्रति आस्थावान् थे और दोनो के तत्त्वो को एकाकार करके ही उन्होने अपने मार्ग का प्रवर्तन किया। वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म था। उपनिषदो ने उसमे ज्ञान का पुट मिलाया और भक्ति जनता के स्तर से उठकर ऊपर पहुँची। किन्तु, इन तीनो का समन्वय गीता मे किया गया। जो कार्य गीता ने किया था, बहुत-कुछ वही कार्य रामानुजाचार्य ने किया, किन्तु, इस भेद के साथ कि जहाँ गीता मे ज्ञान, भक्ति और कर्म मे किसी एक के साथ कोई अनुचित पक्षपात नही था, वहाँ रामानुज ने तीनो मे से भक्ति को खुलकर अप्रतिम प्रधानता दे दी। इसका कारण, कदाचित्, यह है कि गीता उपनिषदो (ज्ञान के शिखर) से उतर कर भक्ति को पाती है, इसलिए, ज्ञान की प्रधानता उसमे कम नही होती, किन्तु, रामानुज तमिल-प्रबन्धम् से उठकर ज्ञान और कर्म को देखते हैं। गीता की जड वेद और उपनिषद् मे अर्थात् कर्म और ज्ञान मे है। रामानुज का सारा अस्तित्व आलवारो के भक्ति-विह्वल पदो मे गडा हुआ है।

रामानुज की पद्धति का मूलाधार वह दृष्टि है, जिससे वे ईश्वर को जीव और प्रकृति से एकाकार देखते है। उनकी कल्पना यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनो अनादि

है, किन्तु, जीव और प्रकृति, अनिवार्य रूप से, ईश्वर पर आश्रित हैं। वस्तुत, ये तीनो परस्पर इस प्रकार से मिले हुए है कि उनमें से कोई भी अलग करके देखा नही जा सकता। जैसे, वस्तु से उसका गुण विभक्त नही किया जा सकता, जैसे विशेष्य से विशेषण का भिन्न होना असभव है, उसी प्रकार, ईश्वर से जीव और प्रकृति भी अभिन्न है।[1] इसीसे रामानुज की पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है। वह शकर के अद्वैत-मार्ग से भिन्न है, क्योकि शकर केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व मानते है, किन्तु, रामानुज-मत मे ईश्वर (ब्रह्म) के समान जीव और प्रकृति भी अनादि हैं। "तत्त्वमसि", वेदान्त के इस वाक्य की व्याख्या शकर ने यह की थी कि जीव भी ब्रह्म ही है। रामानुज ने यह अर्थ चलाया कि "तत्" (अर्थात् सृष्टि का कारण-स्वरूप ईश्वर) "त्वम्" (अर्थात् जीव में छिपी हुई आत्मा) से एकाकार है।

शकर-मत मे ब्रह्म के निर्विकारत्व का जो प्रतिपादन हुआ है, उससे उस मत मे भक्ति के लिए स्थान नही रह जाता। किन्तु, ब्रह्मवाद को ईश्वरवाद बनाने मे ही द्वैत की झाँकी मौजूद थी और, द्वैत का आधार मिलते ही, रामानुज-मत में भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा हो गया। रामानुज कहते है कि ज्ञानयोग की साधना सीमित साधना है। उससे आत्मा इतना ही जान सकती है कि वह शरीर से भिन्न है। किन्तु, "मै परमात्मा का अश हूँ", इस अनुभूति तक जाने के लिए ज्ञान यथेष्ट नही है।[2] यह अनुभूति तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा प्रेम का मार्ग पकडे, भक्ति का आश्रय ले और जिस सत्ता से वह विच्छिन्न हो गयी है उसकी ओर आकुलता से गमन करे। चूँकि जीव ईश्वर से भिन्न है, इसलिए, रामानुज ने मोक्ष का अर्थ ब्रह्म मे विलीन होने की अवस्था को नही बताया। उनका कहना है कि मोक्ष उस व्यक्ति को मिलता है जो इस जीवन मे भक्ति की साधना को पूर्ण कर चुका है। ऐसे भक्त मृत्यु के बाद एक अन्य शरीर प्राप्त करते है तथा अनन्त काल तक वैकुण्ठ मे ईश्वर का सामीप्य लाभ करके वहाँ भी भक्ति की साधना करते रहते हैं। जिसे हिन्दुत्व स्वर्ग और इस्लाम बहिश्त कहता है, उसका लोभ विशिष्टाद्वैती भक्त को नही होता। भक्त स्वर्ग-सुख की अभिलाषा नही करते, न लय और मुक्ति चाहते है। उनका सुख तो मरणोपरान्त भी आराध्य का गुण गाने में ही है।[3]

ज्ञान, कर्म और भक्ति मे भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए भी, रामानुज ने यह कहा कि

---

१ गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। —तुलसीदास

२ कहत कठिन, समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक,
होइ घुनाच्छर न्याय जौ, पुनि प्रत्यूह अनेक। —तुलसीदास

३ भक्ति न छाडौ, मुक्ति न माँगौं, तब जस सुनौ सुनावौं।

× × ×

अस विचारि हरि भगत सयाने,
मुक्ति निरादरि भगति लोभाने। —तुलसीदास

भक्ति मे भी सब से सुगम मार्ग प्रपत्ति का है। इस मार्ग के लिए न तो ज्ञान की आवश्यकता है, न विद्याभ्यास और योग-साधना की। फिर भी, यह मार्ग सर्वसुगम और सबसे छोटा मार्ग है। जो मनुष्य सर्वतोभावेन भगवान की शरण मे गिरता है, उसे भगवान तुरत अपना लेते हैं।[1]

आलवार-सत जात-पाँत नही मानते थे, न वर्णाश्रम के विधि-निषेध के वे कायल थे। रामानुज ने आलवारो के इस मुक्त सस्कार को वर्णाश्रम के नियत्रणो से कैसे मिलाया, यह भी देखने योग्य है। उन्होने ज्ञान, कर्म और भक्ति को तो द्विजो के लिए विहित बताया, किन्तु, प्रपत्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त कर दिया। सामाजिक समता की दिशा मे तत्कालीन ब्राह्मण जहाँ तक जा सकता था, रामानुज वहाँ तक जाकर रुके। उनके सप्रदाय ने लाखो शूद्रो और अन्त्यजो को अपने मार्ग मे लिया, उन्हे वैष्णव-विश्वास से युक्त किया, उनके आचरण धर्मानुकूल बनाये और, साथ ही, ब्राह्मणत्व के नियत्रणो की अवहेलना भी नही की।

रामानुज की मृत्यु के बाद उनके सप्रदाय मे फूट आ गयी। वेद और तमिल-प्रबन्धम् के बीच रामानुज ने जो सतुलन रखा था, उस सतुलन की रक्षा उनके बाद के शिष्य नही कर सके। उनमे से कुछ तो वैदिक धर्म को प्रधानता देने लगे और कुछ तमिल-प्रबन्धम् को। वेद-मार्गी वैष्णव सतो का सप्रदाय उत्तर भारत मे चला और तमिल-प्रबन्धम् के माननेवालो का सप्रदाय दक्षिण में। स्वभावत. ही, सस्कृत पर आधारित होने के कारण, उत्तर का श्री-सप्रदाय कुछ अधिक अनुदार हो गया और छोटी जात के लोगो को अधिकार देने मे उसने कृपणता दिखलायी।

स्वामी रमानन्द

रामानन्द स्वामी का जन्म सन् १२९९ ई० मे प्रयाग मे हुआ था और श्री-सप्रदाय की दीक्षा उन्होने काशी मे स्वामी राघवानन्द से ली थी जो रामानुज-परपरा की चौथी पीढी मे पडते हैं। भक्ति-आन्दोलन मे रामानन्द बडे ही महत्त्व के आचार्य हुए हैं।

श्री-सप्रदाय विष्णु और उनकी शक्ति लक्ष्मी की पूजा में विश्वास करता था, किन्तु, विष्णु के रामावतार की पूजा का प्रचलन उस सप्रदाय मे नही था। रामोपासना का वास्तविक प्रवर्तन रामानन्द ने किया। रामानन्द का सप्रदाय रामावत-सप्रदाय कहलाता है जो विशिष्टाद्वैतवादी तो है, किन्तु, उपासना वह विष्णु के बदले, राम की करता है। रामानन्द का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने रामोपासक वैरागियो का सगठन एक स्वतत्र सप्रदाय के रूप मे किया और उस सगठन मे प्रवेश पाने का अधिकार उन्होने उन वैष्णवो को भी दिया जो जन्मना शूद्र अथवा मुसलमान थे। रामानन्द ने प्रस्थानत्रयी

---

१ राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं,
अनइच्छित आवत बरियाईं। —तुलसीदास

पर भी टीकाएँ लिखी। उनकी ब्रह्मसूत्र की टीका "आनन्दभाष्य" के नाम से प्रसिद्ध है। उसमे ब्रह्म को उन्होने "ब्रह्मशब्दवाच्य श्री राम ठहराया है और उसी को सगुण तथा निर्गुण, दोनो माना है।"

लगता है, रामानन्द के भीतर धर्म और समाज, दोनो को लेकर चिंता उत्पन्न हुई थी। जिस सप्रदाय मे वे दीक्षित हुए थे, वह विष्णु की उपासना करता था। इस उपासना से प्रेरणा पहले कृष्ण-भक्ति को मिलने लगी। आगे चलकर जयदेव ने कृष्ण के जिस रूप को उभारा, उसकी ओर लोगो का झुकाव बहुत अधिक होने लगा। उधर हिन्दू-समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो हिन्दुओ की वीरता को उभार सके, जो उन्हे त्याग और कष्ट-सहिष्णुता की ओर प्रेरित कर सके। ऐसा धर्म भगवान राम को लेकर खडा किया जा सकता था।

राम की उपासना पहले से प्रचलित भले ही न रही हो, किन्तु, हिन्दुओ के हृदय मे राम विष्णु के अवतार के रूप मे पूजित अवश्य रहे थे। स्वय कालिदास उन्हे विष्णु का अवतार मानते थे।[1] वैदिक धर्मावलवियो की दृष्टि मे राम इतने पूजनीय थे कि बौद्धो ने उन्हे बोधिसत्व और जैनो ने आठवाँ वलदेव मान लिया था।[2]

दक्षिण के वैष्णव आलवार तीसरी-चौथी सदियो मे तो नारायण की ही भक्ति करते थे। आगे चलकर जब वे अवतारो की पूजा पर आये तब पहले उपासना उन्होने वामन की आरभ की और तब कृष्ण तथा वलराम की। उसके बाद रामोपासना का भी आरभ आलवारो ने ही किया। त्रावणकोर के कुलशेखर आलवार दाशरथि राम के भक्त थे। उनके साहित्य का लगभग पाँचवाँ अश रामचरित से सबद्ध है। तमिल-देश मे रामोपासना बहुत पहले से प्रचलित थी। रामायण भी हिन्दी में पीछे, तमिल मे पहले लिखी गयी थी।

तीर्थ-यात्रा के क्रम मे रामानन्द ने सारे देश का भ्रमण किया था। दक्षिण मे तो वे वर्षो रहे थे। राम-भक्ति पर श्रद्धा रामानन्द को दक्षिण मे ही हुई और वही से वे राम-भक्ति का प्रसाद उत्तर वालो के लिए ले आये। इसीलिए, परपरा कहती है कि भक्ति को दक्षिण से उत्तर लाने का काम रामानन्द ने किया।

जिस राम-भक्ति का प्रचार दक्षिण और उत्तर, दोनो ही भूभागो मे हुआ, उसका आधार अध्यात्म-रामायण थी। किन्तु, यह पता नही चलता कि अध्यात्म-रामायण की रचना दक्षिण मे हुई थी अथवा उत्तर मे। कभी-कभी यह अनुमान लगाया जाता है कि यह रामायण स्वय रामानन्द स्वामी ने लिखी होगी।

रामानुजाचार्य तक भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का रच भर भी प्रभाव नही पडा था। इस्लाम का प्रभाव उस पर तब पडने लगा, जब भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत मे

---

१ रामाभिधानो हरिरित्युवाच।
२ यह सब ईस्वी सन् के पूर्व ही हो चुका था।

पहुँचा जहाँ मुसलमानो की सख्या बहुत काफी थी, जहाँ स्थान-स्थान पर सूफियो का निवास था और जहाँ के हिन्दू मुसलमानो के रीति-रिवाज और सामाजिक आचारो से थोडा-बहुत प्रभावित होने लगे थे।

तब भी, यह तो नही कहा जा सकता कि रामानन्द ने इस्लाम के प्रभाव मे आकर वैष्णव आगमो मे कोई सशोधन किया हो। वर्णाश्रम का बन्धन रामानन्द भी मानते थे। आनन्दभाष्य मे शूद्रो को वेद पढने का अधिकार उन्होने भी नही दिया है। हिन्दू को वे भी जन्मना मुस्लिम से श्रेष्ठ समझते थे। फिर भी, कोई बात थी जिसके कारण सभी जातियो के साधक उनके पास पहुँच जाते थे। कबीर को उन्होने दीक्षा देने से इनकार किया था। किन्तु, कबीर दास जब गंगा-तट पर उनकी खडाऊँ के नीचे आ गये तब रामानन्द के मुख से अचानक "राम" शब्द निकला। कबीर ने इसे ही गुरु-मत्र मान कर ग्रहण कर लिया और रामानन्द को वे आजीवन अपना गुरु मानते रहे।

रामानन्द के भीतर प्राचीनता और नवीनता के बीच सघर्ष था। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबधो का खडन नही कर सकते थे। किन्तु, उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण अथवा द्विज के वश मे नही हुआ है। विचार से वे कठोर वर्णाश्रमी, किन्तु, आचारों से दयालु सत थे। इसीलिए, जब स्वामी रामानन्द स्वर्गीय हुए, उनके अनुयायी दो दलो मे बँट गये। एक धारा उन भक्तो की बनी जो विशिष्टाद्वैत को मानते थे एवं जिनका विश्वास वेद और वर्णाश्रम धर्म मे भी भरपूर था। गोस्वामी तुलसीदासजी और नाभादासजी इसी धारा के भक्त-कवि है। इसके विपरीत, दूसरी धारा के भक्त वे हुए जो वेद और वर्णाश्रम के विरुद्ध थे, जिनका विश्वास विशिष्टाद्वैत मे भी नहीं था, किन्तु, जो रामानन्द के भक्ति-धर्म को आदर्श समझते थे।

इस दूसरी धारा के नेता कबीर दास हुए जिन्होने गुरु-मंत्र को (रामनाम को) भुलाया तो नही, किन्तु, राम-विषयक सारी धारणाओ को बदल दिया। कबीर के राम दशरथ के पुत्र नही है[1], न वे चतुर्भुज विष्णु के अवतार है।[2] वे तो अकल, अजन्मा, अनाम[3] और अरूप है जिन्हे रामाश्रयी वैष्णव राम और मुसलमान रहीम कहता है तथा जिन्हे कबीर दास ने, अपनी ओर से, एक अत्यत प्यारा नाम "साहब" का दे दिया है।[4] कहते है, कृष्ण-धर्म मे रसिकता की वृद्धि देखकर ही रामानन्द ने राम की भक्ति चलायी थी

---

१ दसरथ के गृह ब्रह्म न जनमे, ई छल माया कीन्हा।

२ चारि भुजा के भजन में, भूलि पडा ससार,
कबिरा सुमिरे ताहि को, जाकी भुजा अपार।

३ निर्गुण राम जपहु रे भाई
अविगत की गति लखी न जाई।

४ ता साहिब के लागो साथा, सुखदुख मेटि जो रह्यो अनाथा।

और वे रामभक्ति मे माधुर्य लाना नही चाहते थे। किन्तु, कबीर ने राम को अपना पति मान लिया।[1] सूफी-मत के अनुसार राम को प्रियतमा समझना अधिक प्रासंगिक होता, किन्तु, कबीर पर छाये हुए हिन्दू-संस्कार ने कबीर के तसव्वुफ को ठीक इस्लामी नही रहने दिया। तब भी, राम की कल्पना मे कबीर ने जो परिवर्तन किये, उनका कारण इस्लामी प्रभाव था।

इस्लाम का एकेश्वरवाद कबीर को बहुत पसन्द था और अभ्यासी वे भारतीय वेदान्त के भी थे। अतएव, सगुणोपासक गुरु से मत्र लेकर भी वे अपने निर्गुण-प्रेम को नही छोड सके।

लेकिन, सारा भक्त-समाज कबीर के प्रभाव मे नही आया। कबीर की शिक्षा सिमट कर उस पतली धारा में बह गयी जिसके किनारे-किनारे नानक, दादूदयाल, सुन्दर-दास और मलूकदास आदि सतो के पर्ण-कुटीर बसे हुए है। इस मार्ग से अलग वल्लभाचार्य, विट्ठल स्वामी, सूरदास, कुभनदास, तुलसीदास, नाभादास और समर्थ स्वामी रामदास के जो समृद्ध आश्रम है, वहाँ केवल सगुण लीला ही चलती है। इस्लाम ने भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव महात्मा कबीर दास के जरिये डाला और कबीर ने उस प्रभाव का उत्तराधिकार निर्गुणोपासक सतो को दे दिया। लेकिन, यह प्रभाव हमेशा उत्तर में ही सीमित रहा। विन्ध्य के दक्षिण द्राविड देश में भक्ति निर्गुण की ओर अधिक नही झुकी। पता नही, इस स्थिति पर उन पण्डितो ने कभी विचार किया है या नही जिनके मतानुसार भक्ति पर इस्लाम का प्रभाव दक्षिण में ही पडने लगा था।

महात्मा कबीर दास ने निर्गुण उपासना की जो धारा बहायी, वह अपने ही घाट से बहती हुई आगे निकल गयी। जिन भारतवासियो पर इस धारा का प्रभाव है, वे जात-पाँत के मामले में काफी उदार है एव धार्मिक असहिष्णुता भी उनमे अपेक्षाकृत कुछ कम है। किन्तु, कबीर के तुरत बाद जो सगुणोपासना की धारा उमडी, उसने सपूर्ण सस्कृति और साहित्य को प्लावित कर दिया। इस धारा के कवियो और सतो मे पाण्डित्य भी है और सहृदयता भी। उनमे आक्रोश और कटुता के वे भाव नही है, जो कबीर और उनके अनुयायियो में दिखायी पडते है। यह धारा आत्मविश्वास से जगमगाते हुए मूल-हिन्दुत्व की धारा है। इसमे न तो नकारात्मकता है, न अपने-आप पर झेंपने या शरमाने की प्रवृत्ति। कबीर ने राम-मत्र तो रामानन्द से लिया था, किन्तु, वेदान्त और इस्लाम से अर्जित निराकारवादी सस्कार के कारण उन्हें राम को दशरथ का पुत्र मानने में झिझक और कठिनाई हुई। किन्तु, जब तुलसीदास आये, उन्होंने, डके की चोट से, यह घोषणा कर दी कि हाँ, मेरा उपास्य वही राम है जिसने दशरथ के गृह में अवतार लिया था।

---

१ राम मोर साईं मैं राम की बहुरिया।

मंगल-भवन अमगल-हारी
द्रवहु सो दसरथ अजिर विहारी ।

× × ×

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश-निधि, प्रगट परात्पर नाथ,
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ।

जहाँ-जहाँ तुलसीदासजी को यह बताने का अवसर मिला है कि मैं जिस राम का भक्त हूँ, वह और कोई नही, राजा दशरथ का पुत्र है, वहाँ-वहाँ हम उनके भीतर एक अद्भुत उत्साह, एक सचेष्ट निर्द्वन्द्वता, एक प्रकार की शालीन वीरता का निर्भीक तेज देखते है, मानो, वे किसी चुनौती का जवाब दे रहे हों, मानो, वे किसी से ललकार कर कहना चाहते हो कि हाँ, मैं उसी राम का भक्त हूँ जिसे तुम माया की कृति कहते हो, जिसे तुम मनुष्य मानते हो और जिसका उपासक होने के कारण तुम, कदाचित्, मुझे अध-विश्वासी और मूढ़ भी समझते हो ।

तुलसी के भीतर से यह और कोई नही, स्वय हिन्दू-धर्म बोल रहा था। हिन्दू-धर्म, जिसकी प्रतिमाएँ और मन्दिर तोडकर धूलिशायी कर दिये गये थे। हिन्दू-धर्म, जिसे मुस्लिम आलोचक साकारवादी होने के कारण तुच्छ समझते थे। और हिन्दू-धर्म, जिसकी अपनी सततियाँ इस्लाम स्वीकार करके अथवा कबीरादि की सगति में बैठकर निर्गुण की प्रशसा और सगुण की निन्दा कर रही थी ।

उन्नीसवी सदी मे भी हिन्दुत्व की टक्कर जब ईसाइयत से पडी, तब हिन्दुत्व के आरभिक सुधारक साकारवादी हिन्दुत्व की ओर से बोलने का साहस नही कर सके। ब्राह्म-समाजियो का हिन्दुत्व पूरा नही, खडित हिन्दुत्व था और इस खडित हिन्दुत्व को ले कर ब्राह्म-समाजी इसलिए चले थे कि हिन्दुत्व का इतना अश ईसाइयत और बुद्धिवाद की कसौटी पर भी खरा उतरता था। हिन्दुत्व के बाकी अशो को ब्राह्म-समाजियो ने इसलिए छोड दिया कि उनका समर्थन करने मे ईसाइयो के सामने उन्हे शर्म आती थी। उन्नीसवी सदी मे समग्र हिन्दुत्व का पूरा प्रतिनिधित्व परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने किया जो मूर्त्तिपूजा, व्रत, उपवास, अवतार और तीर्थ, सब को सार्थक एव अनिवार्य समझते थे। उन्नीसवी सदी मे जो हाल राममोहन राय और केशवचद्र सेन का हुआ, मुस्लिम-काल मे वही दशा कबीर और उनके अनुयायियो की थी। और उन्नीसवी सदी मे जो शालीन वीरता हम रामकृष्ण परमहस मे देखते है, मुस्लिम-काल मे उस वीरता का प्रतिनिधित्व गोस्वामी तुलसीदास ने किया। इसीलिए, वे हिन्दुत्व के परम त्राता और अन्यतम रक्षक माने जाते है ।

कबीर के भीतर जो दर्द और बेचैनी, जो जोश और तूफान है, वह, पूर्णरूप से, भारतीय नही है। यही चीज है जो उन्होने इस्लाम से पायी थी और इसी की विरासत उन्होने

अपने अनुयायियों के लिए छोडी। किन्तु, तुलसी और सूरदास के चिंतन और कल्पना में जो कुछ भी है, इसी देश का है। यह भी ध्यान देने की बात है कि कबीर और तुलसी की धाराओ में से तुलसीवाली धारा ही दिनोदिन अधिक पुष्ट और विकसित होती आयी है। इस्लाम के संपर्क से जो जीवन उमड़ा, उसका अल्पांश ही निराकारवादियो को प्राप्त हुआ। उसके बहुलांश को लेकर साकारोपासना ही विकसित हुई है। हिन्दुत्व ने शक्ति तो जागरण से खूब पायी, किन्तु, उसका उपयोग उसने अपनी सनातन परंपरा को स्थिर बनाने मे किया। हिन्दुत्व का यह स्वभाव है कि वह जितना ही बदलता है, उतना ही अपने सनातन रूप के अधिक समीप पहुँच जाता है।

भक्ति-मार्ग मे उदारता के पहले बीज स्वामी रामानन्द ने ही बोये थे। वे पहले आचार्य हुए, जिन्होने मुसलमान शिष्यो को भी शिष्य माना और स्त्रियो तथा शूद्रो का भी अपने सम्प्रदाय मे स्वागत किया। रामानन्द के एक शिष्य कबीर और दूसरे रैदास थे। शायद, रामानन्द के ही दृष्टान्त पर आगे चलकर गोसाई विट्ठलनाथ ने रसखान को दीक्षा दी, जो मुसलमान थे। इसी प्रकार, बगाल मे चैतन्य महाप्रभु ने भी (१४८५-१५३३ ई०) मुसलमानो को शिष्य-रूप मे स्वीकार किया।

असम मे श्री शकरदेव ने जो महापुरुषीय-संप्रदाय चलाया, रामानन्द और चैतन्य की-सी उदारता उस सम्प्रदाय में भी थी। शकरदेव ने नागा और मिकिर नामक आदिवासी जातियो को अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित किया एव कुछ मुसलमान भी उनके शिष्य हुए। महापुरुषीय-सम्प्रदाय मे शूद्र गुरु भी ब्राह्मण शिष्य को दीक्षा दे सकता है।

ये सारी बातें इस्लाम के कारण हुई। यदि इस्लाम के भीतर समानतावाला सिद्धान्त प्रबल नही होता, यदि सूफियो और हिन्दू भक्तो के बीच सत्संगति का संबन्ध नही होता और यदि समाज के हर तबके मे नये जागरण की गूँज नही उठी होती, तो वैष्णव आचार्य सामाजिक आचारो मे उदारता दिखाने को तैयार होते या नही, यह कहना कठिन है।

भक्ति-आन्दोलन के समय प्रतिमा-पूजन की जो निन्दा हुई, वह भी भारत पर मुस्लिम विजय का परिणाम थी। आश्चर्य यह है कि जो भक्त स्वय मूर्त्ति की पूजा करते थे, मूर्त्ति-पूजा की निन्दा उनके मुख से भी सुनायी देती थी। शकरदेव और नामदेव, दोनो के दोनो मूर्त्तिपूजक थे, किन्तु, मूर्त्ति-पूजा की निन्दा उन्होने भी लिखी है। यह, शायद, उस पीडा की अभिव्यक्ति थी जो प्रतिमाओ को असहाय टूटते देखकर प्रतिमा-पूजको के हृदय मे उठती थी। नामदेव की एक उक्ति से तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। "पत्थर का देवता नही बोलता। वह चोट खाकर टूट जाता है। पत्थर के देवताओ के पुजारी सब खो बैठते है।[1]"

---

१ इतिहास-प्रवेश

शैवाचार्य

यह भी ध्यान देने की बात है कि जैसे वैष्णव-भक्ति, कवियो और रहस्यावादी संतो की अनुभूतियो से निकल कर, दर्शन के स्तर पर पहुँची, उसी प्रकार, शिव की भक्ति भी दक्षिण के शैव सतो और कवियो की वाणी मे बढी थी। वैष्णव भक्तो मे जैसे आलवारो का आविर्भाव हुआ, शैव भक्तो मे उसी प्रकार और, प्राय , उसी समय, नायनार भक्त हुए। एव जैसे आलवारो की भक्ति-विह्वल अनुभूतियो का दार्शनिक रूप विशिष्टाद्वैत है, उसी प्रकार, शैव-सिद्धान्त भी नायनार भक्तो की अनुभूतियो से बढकर दर्शन के स्तर पर पहुँचा है। आलवार बारह हुए है, किन्तु, नायनारो मे तिरेसठ भक्तो के नाम है और इनकी प्रतिमाएँ भी दक्षिण के शैव मन्दिरो मे पूजी जाती है। जब नाथमुनि ने आलवारो के पदो का सकलन तमिल-प्रबन्धम् नाम से किया, उसी समय (दोनो आचार्य चोलवशी नृपति राजराज के समकालीन थे) शैवाचार्य नाम्बि-आन्दार-नम्बी ने शैव गानो और पदो का सकलन ग्यारह जिल्दो मे किया, जिनका सम्मिलित नाम "तिरुमरइ" या पावन पुस्तक है। आलवारो के पदो मे जो स्थान विष्णु का था, नायनारो के गीतो में वही स्थान शिव का है। इन दोनो ही प्रकार के भक्तो के पद विश्व भर के सर्वश्रेष्ठ भक्ति-साहित्य मे स्थान रखते है।

शैव सिद्धान्त मे सृष्टि के परम अध्यक्ष का नाम शिव है। वे ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड मे व्याप्त अनादि सत्य है। उन्ही की कृपा सृष्टि की पाँच प्रक्रियाओ मे प्रत्यक्ष होती है। ये प्रक्रियाएँ है सृष्टि की रचना, पालन और विनाश तथा जीव को मोहाच्छन्न बनाना और फिर उसे मोह से मुक्त करना। शिव सारे कार्य अपनी शक्ति के माध्यम से करते है। सृष्टि को शैव सिद्धान्त अनादि मानता है और विश्वास करता है कि सृष्टि का विकास जीवो के कल्याण के लिए होता है। जड प्रकृति और चेतन जीव, सब मे शिव का निवास है। स्वभाव से आत्मा भी शिव के समान ही अनादि, अनन्त और चेतन है। किन्तु, बध में पड जाने के कारण वह अपने को सान्त, क्षणिक और अज्ञानी मानती है। इस बध से मोक्ष पाने के लिए आवश्यक है कि जीव अपने पूर्व कर्मो से मुक्त हो, जड की अधीनता से बाहर निकले और अपने को सान्त समझना छोड दे। मुक्ति की साधना के लिए शैव सिद्धान्त विहित पद्धति का निर्धारण करता है, गुरु को आवश्यक बतलाता है तथा, सब से ऊपर, शिव की कृपा को अनिवार्य मानता है। शैव सिद्धात, वस्तुत , शकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच का मत है।

आलवार भक्तो और वैष्णवाचार्यो तथा नायनार भक्तो और शैवाचार्यो के बीच पिता-पुत्र का सबध माना जाना चाहिए, किन्तु, पिता, यहाँ अशिक्षित और पुत्र पारगत विद्वान थे। आलवारो ने जिस धर्म की साधना जनता के स्तर पर रहकर की, उस धर्म को वैष्णवाचार्यो ने जनसाधारण के धरातल से उठाकर पाडित्य के धरातल पर पहुँचा दिया। यामुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क (१११४ से ११६२ ई०) मध्वाचार्य

अथवा आनन्द तीर्थ (जन्म सन् ११९७ ई०), विष्णु स्वामी (सभवत दसवी शताब्दी) तथा वल्लभाचार्य (१४७९ से १५३० ई०) और चैतन्य, ये सब के सब शाकर मत के विरोधी और भगवान के साकार रूप के भक्त थे। इन मे से जो अपेक्षाकृत पुराने आचार्य हैं (यथा यामुनाचार्य, विष्णु स्वामी और रामानुज) वे, निश्चित रूप से, आलवार-सस्कारो मे पलकर बडे हुए थे। बाकी आचार्यो पर भी आलवार प्रभाव अवश्य रहा होगा। भागवत-पुराण की रचना के पीछे आलवार-सस्कारो का प्रभाव किस प्रकार पहुँचा, यह खोज का विषय है। किन्तु, भक्ति का जो रूप आलवार-साहित्य, भागवत, गीत-गोविन्द (ग्यारहवी सदी) और रामानुज एव निम्बार्क तक विकसित हुआ, उस पर इस्लामी प्रभाव की छाया भी नही पडी थी, यह अटल सत्य है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी अपनी पुस्तक "मेडिवल मिस्टिसिज्म ऑव् इडिया" मे यह अनुमान लगाया है कि द्रविडो और आर्यों से पूर्व के भारतवासियो मे भक्ति की प्रवृत्ति, सभवत, प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। आर्यो की बौद्धिकता जब भक्ति की इन प्राथमिक प्रवृत्तियो से मिश्रित होने लगी, तब भारत की धार्मिक भावना मे धीरे-धीरे गहराई और विस्तार आने लगा। कुछ लोगो का यह भी अनुमान है कि भक्ति के बीज पडितो के दार्शनिक चिन्तन मे नही, ग्रामीण जनता के हृदय में रहे होगे, क्योकि जनता के द्वारा ग्राम-देवताओ के पूजन में चिन्तन कम, भावना अधिक होती है। कालक्रम मे, यही भावना जन-जीवन के स्तर से उठकर, पहले सतो और कवियो मे, तथा बाद को दार्शनिको मे पहुँची। बात चाहे जो हो, किन्तु, इतना स्पष्ट दीखता है कि भक्ति की धारा गीता में फूटती है, दक्षिण के आलवार-सतो के पदो मे वह अपनी पहली राह बनाती है, रामानुज एव अन्य आचार्यों की पद्धतियो मे उसे विस्तार प्राप्त होता है एव बाद के कवियो और सतो को पा कर वह सारे देश को प्लावित कर देती है। इस्लाम का प्रभाव रामानुज के बाद के सतो और कवियो में मिले तो मिले, रामानुज के काल तक तो वह नही ही मिल सकता है।

रहस्यवाद

यदि रहस्यवाद की बात को ले, तब भी, जायसी, कुतबन और उस्मान वाला रहस्यवाद ही ऐसा है, जिसमे हम ईरानी सूफियो का स्पष्ट प्रभाव देख सकते है। इस पद्धति के अनुसार, आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका माना जाता है। प्रेमी कोई राजकुमार और प्रेमिका कोई राजकुमारी होती है। आत्मा को जगाने के लिए कोई गुरु आता है जो राजकुमारी के रूप का वर्णन करता है तथा जिसे सुन कर राजकुमार के हृदय मे प्रेम का जोश पैदा होता है। वह राजकुमारी को पाना चाहता है, किन्तु, उसके पास पहुँचने के पूर्व, राजकुमार को अनेक बाधाओ का सामना करना पडता है। सूफी भाषा मे ये बाधाएँ माया के रूपक है, शैतान के खेल हैं। फिर, राजकुमार और राजकुमारी

का ब्याह हो जाता है। कभी-कभी विवाह के बाद वियोग भी होता है, जिसमे परमात्मा के लिए आत्मा की बेचैनी दिखलायी जाती है। इस पद्धति की अभारतीयता यह है कि इसमे परमात्मा को नायिका का रूप दे देते है, जब कि भारतीय दृष्टिकोण मे परमात्मा ही पुरुष और आत्मा ही नारी मानी जाती है। इन कहानियों में, कहीं-न-कहीं, यह विवरण भी आ जाता है कि हठयोग की परिभाषा के अनुसार, शरीर के किस भाग मे कौन-सी नाडी या चक्र है। इसे भारतीय मानना चाहिए, क्योंकि योग की शिक्षा सूफियों ने भारतवासियो से ही ली थी। सूफियों ने परमात्मा को जो सौन्दर्य का प्रतीक और प्रेम को उसे पाने की राह माना था, उसी सिद्धान्त को कथा मे अनूदित करने के प्रयास से जायसीवाली शैली का जन्म हुआ। सूफी सौन्दर्य और प्रेम के मतवाले थे। शारीरिक सौन्दर्य का उन्होने उत्तम-से-उत्तम वर्णन किया है। हिन्दी मे भी जो रहस्यावादी कथा-काव्य मौजूद है, उन पर ये लक्षण खूब घटते है। किन्तु, संयोग की बात कि इस शैली को किसी भी भारतीय कवि ने नही अपनाया, इस प्रकार के जो भी काव्य हिन्दी मे है, वे मुसलमान कवियो के ही लिखे हुए हैं।

किन्तु, इस रहस्यवाद से भिन्न जो कबीर, दादू और नानक का रहस्यवाद है, उसकी परपरा सूफियों के यहाँ से नही आयी। अस्पष्ट भाषा में निगूढ भावो को दर्शाने का प्रयास, अपूर्ण भाषा के द्वारा किसी पूर्ण सत्य की ओर इंगित करने की चेष्टा एवं जिस गहराई या ऊँचाई तक वाणी नही जा सकती, उसे अभिव्यक्ति देने की अधूरी कोशिश, ये बातें कबीर, दादू, नानक और नामदेव मे भी है तथा आठवीं-नवी सदियो के सिद्धों में भी। इस निगूढ शैली के आदि प्रयोक्ता सिद्धाचार्य ही थे, जिनकी भाषा को उनके दुरूह होने के कारण ही "सांध्य भाषा" कहने का रिवाज है। यही नहीं, प्रत्युत, निर्गुनियाँ संतो के फक्कडपन और निर्भयता का भी पहला रूप हमे सिद्धो की रचनाओं में खूब मिलता है। अतएव, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पठान-काल के निर्गुनपंथी कवियों ने इस्लाम के प्रभाव मे आकर उलझी वाणी में रहस्य का कथन किया, उलटबाँसियाँ कही अथवा मूर्तिपूजा, तीर्थ और पुरोहितवाद पर प्रहार किये। ये सारी बातें पहले से ही चली आ रही थी।[1] सूफियो से इनका इतना ही लगाव मानना चाहिए कि

---

१ रहस्यवाद और उलटबाँसी के प्रमाण :—
जहँ मन पवन न सचरइ, रवि-शशि नाहि पवेश,
तहँ मूढ चित ! विश्राम कर, सरह कहेउ उपदेश। (सरहपा . काल ७६० ई०)
यदि पवन-गमन-दुआरे, दृढ़ तालाहू दीजै,
यदि तहँ घोर अँधारे, मन-दीपहु कीजै। (कन्हपा · काल ८४० ई०)
सिष्टि-उतपती वेली प्रकास, मूल न थी, चढी अकाश।
उरध गोड़ कियो विस्तार, जाण नै जोगी करै विचार। (गोरख ८४५ ई०)
गगनि-मडलि मे गाय बिआई, कागद दही जमाया।
छाछि छाड़ि पिडता पीनी, सिधा माखन खाया। (गोरख)

निर्गुनियाँ साधु और सूफी सत, इनके बीच स्वभाव, दृष्टिकोण और सिद्धान्त को लेकर पहले से ही एक प्रकार की समानता थी। अतएव, दोनो मिले नही कि परस्पर मित्र हो गये।

यह भी ध्यान देने की बात है कि कबीर आदि कवियो ने केवल भावो के लिए ही नही, छन्दो के लिए भी सिद्ध-साहित्य की ओर देखा है। बीजक के कितने ही पद चर्यापदो मे प्रयुक्त छन्दो के अनुकरण या विकास है और एक को पढते समय दूसरे की याद आप-से-आप आ जाती है।

भक्ति-आन्दोलन में हिन्दी मे तीन प्रकार के कवि उत्पन्न हुए। एक तो वे, जो कथा-काव्य की प्रणाली से रहस्यवाद का कथन करते थे, जिनके सिरमौर जायसी है। दूसरे वे, जो निर्गुण का उपदेश करते थे और साथ ही वर्णाश्रम-धर्म की निन्दा भी, जिनके अग्रणी कबीर हुए, और तीसरे वे, जो वर्णाश्रम-धर्म के साथ थे, किन्तु, भक्त होने के कारण, सभी मनुष्यो पर प्रेम करते थे। इस सरणी के चार प्रसिद्ध कवि विद्यापति, चडीदास, सूरदास और तुलसीदास है। इनमे से जायसी वाली धारा, अधिकाश मे, इस्लामी सूफी-मत की देन थी। कबीर वाली धारा का वर्णाश्रम-विरोधी भाग सिद्धो की धारा का विकास-मात्र था। हाँ, इन लोगो ने समाज-सुधार की दृष्टि से अथवा हिन्दुओ और मुसलमानो को एक करने के लिए जो कुछ कहा है, उसे हम इस्लाम के आगमन से उत्पन्न स्थिति का प्रभाव मानेंगे। इनके काव्य का जो रहस्यवादी अश है, उसमे वेदान्त भारतवर्ष का है, किन्तु, विरह की बेचैनी सूफीवाद से आयी है। लेकिन, विद्यापति, सूर और तुलसी पर इस्लाम का कोई प्रभाव है या नही, यह बताना अत्यन्त कठिन है। हमारा तो अब तक यही अनुमान रहा है कि इन कवियो पर इस्लामी प्रभाव बिलकुल नही है।

जासु न वर्ण न गधरस जासु न शब्द न स्पर्श
जासु न जन्म न मरण हूँ, नाम निरजन तासु। (योगीन्दु १००० ई०)
जो परमात्मा सोई हौ जो हौ सो परमात्म।
एह जाने बिनु जोगिया, अन्य न करहु विकल्प (योगीन्दु १००० ई०)

आचार-खडन के प्रमाण :—
ब्राह्मणहि ना जानन्ता भेद, यो ही पढेउ ये चारो वेद।
माटि-पानि-कुश लिये पढन्त, घर ही बैठी अग्नि होमन्त।
कार्य बिना ही हुतवह होमे, आँखि डहावे करुए धूमे। (सरहपा)
आत्मा गोरा कृष्ण नहि, आत्मा रक्त न होइ।
आत्मा सूक्ष्महू स्थूल नहि, ज्ञानी जाने जोइ। (योगीन्दु)
तीर्थहि तीर्थ भ्रमन्त कहि, मूढहि मोक्ष न होइ।
ज्ञान विवर्जित जो कि जिव, मुनिवर होइ न सोइ। (योगीन्दु)
आगम-वेद पुराणहि पडित मान वहति।
पक्व सिरीफल अलिय जिमि बाहर होहि भ्रमन्ति। (कण्हपा ८४० ई०)
(राहुलजी-कृत हिन्दी अनुवाद, हिन्दी काव्य-धारा से)

प्रकरण ७

अमृत और हलाहल का संघर्ष

तौहीदे-इलाही

सम्राट अकबर ने तौहीदे-इलाही नामक जो नया पन्थ चलाया था, उसकी प्रेरणा राजनीति से आयी थी अथवा उस धार्मिक जागरण से जो कबीर दास के समय से चलता आया था ? यह एक ऐसा प्रश्न है जहाँ व्यष्टि और समष्टि का स्वच्छ विभाजन नही किया जा सकता, जहाँ वैयक्तिक और सामाजिक भावनाओ के बीच स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती।

तौहीदे-इलाही की कल्पना राजनैतिक भी थी और धार्मिक भी। राजनैतिक वह इस कारण थी कि आरभ के मोगल बादशाह—बाबर, हुमायूँ और अकबर—प्रयासपूर्वक हिन्दुओ के साथ मित्रता का सबन्ध स्थापित करना चाहते थे। पठानो से मोगलो की पटती नही थी, अतएव, मोगल चाहते थे कि राजपूत उनके दोस्त बन जाये। बाबर ने वसीयत के जरिये हुमायूँ को सलाह दी थी कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करते हुए हिन्दुओ की धार्मिक भावना को ठेस मत पहुँचाना। और हुमायूँ ने भी अकबर के लिए वसीयत छोडी थी कि, हो सके तो, राजपूतो के साथ वैवाहिक सबन्ध स्थापित करके उनके साथ अपनी मित्रता पक्की कर लेना। अकबर इन राजनैतिक परपराओ का मूल्य समझता था। साथ ही, उसने धर्म के उस महा-जागरण से भी शिक्षा ली थी जो सूफियो और हिन्दू सतो के सहारे सारे भारत में फैल रहा था और जिसका लक्ष्य मनुष्य को धर्म के स्मृति-पक्ष से ऊपर उठा कर उसके श्रुति-पक्ष पर ले जाना था।

अकबर धर्म के मूल-रहस्य को जानने के लिए बडा बेचैन रहता था। मुसलमान होने के कारण उसकी यह भी इच्छा थी कि वह इस्लाम की शरीयत के अनुसार चले। किन्तु, तब तक इस्लाम की अनेक शाखाएँ निकल आयी थी, अनेक फिरके बन गये थे। इनमे से कौन ठीक है और किसका अनुगमन उसे करना चाहिए, यह जानने के लिए, फतहपुर सीकरी मे उसने एक इबादत-खाना (प्रार्थना-गृह) बनवाया जिसमे विभिन्न इस्लामी फिरको के विद्वान जमा होकर परस्पर विचार-विनिमय करते थे। इन विद्वानो के विचार-विमर्शो से अकबर को इस्लाम की कट्टरता नापसन्द आने लगी। तब उसने इबादत-खाने की बैठको मे अन्य धर्मो के विद्वानो को भी बुलाना आरम्भ किया। विभिन्न धर्मो के विद्वानो की इस विचार-गोष्ठी में सभापति का काम अकबर स्वय करता था और, स्वभावत ही, परस्पर झगडनेवाले विद्वानो को सभापति की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पडती थी। इस प्रकार, धीरे-धीरे, अकबर देश का धार्मिक नेता भी बनने लगा। "सन् १५७६ ई०

में अकबर ने खुद साम्राज्य के प्रमुख इमाम की हैसियत से मस्जिद के मिम्बर से खुतबा पढ़ा। तभी, राज्य के प्रमुख उलमाओं के हस्ताक्षरों से यह घोषणा की गयी कि इमाम-ए- आदिल (प्रमुख इमाम) सब मुजतहिदों (मजहब के व्याख्याकारों) से बड़ा है और विवादग्रस्त मामलों में उसका फैसला सबको मान्य होगा। जो न माने, उसे दंड देना उचित होगा।"[1]

इस घोषणा से कट्टर मुसलमान भड़क उठे और अकबर के भाई मुहम्मद हकीम से मिलकर उन्होंने बिहार और बंगाल में बलवा करा दिया। "जौनपुर के एक काजी ने फतवा दे दिया कि अकबर के खिलाफ बलवा करना जायज है।"[2]

अकबर ने इस बलवे को दबा दिया और उसके बाद, धर्म के मामले में निर्णय देने की, उसे पूरी स्वतन्त्रता मिल गयी। "अकबर दूसरे धर्मों की तरफ झुकने लगा और उसने घोषणा कर दी कि उसके बेटे चाहें जो मजहब मान सकते हैं। जरथुस्त्रियों की तरह, वह अपने घर में पवित्र अग्नि रखने और सूर्य को प्रणाम करने लगा और जैनों और हिन्दुओं के प्रभाव से उसने गोहत्या की मुमानियत कर दी। ईसाइयों का एक-पत्नीव्रत भी उसे भाया। इस प्रकार, सब धर्मों का सामंजस्य करके उसने एक व्यापक धर्म बनाने की कोशिश की। उसने लिखा, "एक साम्राज्य में, जिसका एक शासक हो, यह अच्छा नहीं है कि प्रजा एक दूसरे के विरोधी मतों में बँटी रहे। इसलिए, हमें उन सबको मिलाकर एक करना चाहिए। किन्तु, इस प्रकार कि वे एक भी हो जाय और अनेक भी बने रहें।"[3]

अकबर की धार्मिक नीति उस युग के लिए अत्यन्त प्रगतिशील थी। ईरान के बादशाह अब्बास-सफवी को एक पत्र में उसने लिखा था कि, "भाँति-भाँति के धार्मिक सम्प्रदाय दैवी थाती हैं और खुद परमेश्वर ने ही उन्हें हमारे हाथ में सौंपा है। इसलिए, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन सब को प्यार करें। बादशाह ईश्वर के प्रतिबिम्ब होते हैं। उन्हें इस महा सिद्धान्त को कभी भी नहीं भूलना चाहिए।"[4]

अकबर, सचमुच, महान् था। भारत की एकता की समस्या को उसने ठीक पहचाना था। इस देश की एकता तभी बच सकती है जब इसकी अनेकता के साथ उसका पूरा सामंजस्य हो।

फैजी के द्वारा अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और कुछ वेदान्त का भी फारसी में अनुवाद करवाया था एवं हिन्दुओं के बीच इस्लाम के प्रति श्रद्धा जगाने को उसने एक छोटा-सा उपनिषद भी लिखवाया था जिसका नाम "अल्लोपनिषद"[5] है।

---

१. इतिहास-प्रवेश २ वही ३ वही
४. नेशनल कलचर ऑव् इंडिया
५. यह उपनिषद सत्यार्थ-प्रकाश में उद्धत है।

अकबर हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच जिस समन्वय के लाने की चेष्टा कर रहा था, उसमे उसका सबसे बडा सहायक अबुल फजल था। किन्तु, उलेमा दोनो के खिलाफ थे। इतिहासकार बदायूनी ने लिखा है कि "अबुल फजल ससार को नास्तिकता के जहर से जला रहा है।"

फिर भी, धर्म और विचार की सारी स्वतन्त्रताओ के बीच, अकबर इस्लाम के तौहीद (एकेश्वरवाद) को कस कर पकडे हुए था। इसीलिए, अपने ईश्वर-धर्म (दीने-इलाही) का नाम उसने तौहीदे-इलाही रखा था। सन् १५९३ ई० मे, उसने धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए कई आज्ञाएँ निकाली, जिन मे से प्रमुख ये थी कि (१) कोई जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया हिन्दू अगर फिर हिन्दू बनना चाहे तो उसे कोई न रोके। (२) किसी भी आदमी को जबर्दस्ती एक धर्म से दूसरे धर्म मे न लाया जाय। (३) प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म-मन्दिर बनाने की पूरी स्वतन्त्रता रहे और (४) जबर्दस्ती किसी विधवा को सती न बनाया जाय। जिजिया और तीर्थयात्रा-कर उसने १५३३ ई० मे ही उठा दिये थे। स्पष्ट ही, अकबर के ये धार्मिक सुधार मुल्लाओ को अच्छे नही लगे और वे अकबर की, हलके-हलके, निन्दा करने लगे। "उनके कट्टरपन से खीझ कर पिछले जीवन मे अकबर को इस्लाम का बहुत कुछ दमन भी करना पडा।"

अकबर की उदारता की नीति बहुत-से आम मुसलमानो को भी अच्छी नही लगी। इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि अकबर की दया निस्सीम थी एव दया के कारण ही वह, कभी-कभी, बेवकूफी भी कर बैठता था। कहते है, अकबर ने कुछ दिनो तक पुनर्जन्म मे भी विश्वास किया था और कभी-कभी, वह दरबार मे चन्दन लगाकर भी बैठता था। जैन, यहूदी, ईसाई और हिन्दू, वह सब को खुश रखना चाहता था। उसने बाइबिल का अनुवाद फारसी मे कराने की आज्ञा निकाली थी और ईसाइयो को भारतवर्ष मे अपना धर्म फैलाने की भी स्वतन्त्रता दे रखी थी। अपने एक बेटे की शिक्षा के लिए भी, उसने ईसाई शिक्षक रख छोडा था।

अकबर के व्यक्तित्व का आन्तरिक अश बिलकुल सूफियाना था। उसके भीतर वे सारे गुण थे, जिनके विकास से धर्म के नेता तैयार होते हैं। अबुल फजल और बदायूनी के विवरणो से मालूम होता है कि अकबर सूफियो की तरह, कभी-कभी, समाधि मे चला जाता था और, कभी-कभी, सहज ज्ञान के द्वारा वह मूल सत्य के आमने-सामने भी पहुँच जाता था। एक बार वह शिकार मे गया। उस दिन ऐसा हुआ कि घेरे मे बहुत-से जानवर एक-साथ पड गये और वे सब मार डाले गये। अकबर हिंसा के इस दृश्य को सह नही सका। उसके अग-अग काँपने लगे और तुरन्त उसे एक प्रकार की समाधि-सी हो आयी। इस समाधि से उठते ही उसने आज्ञा निकाली कि शिकार करना बन्द किया जाय। फिर उसने भिखमगो को भीख दी, अपना माथा मुँडवाया और धार्मिक भावना के इस जागरण की स्मृति मे एक भवन का शिलान्यास भी

किया।[1] जगल के जीवो ने अपनी वाणी-विहीन वाणी से उसे धर्म का रहस्य बतलाया था और अकबर की जागरूक आत्मा ने उसे सुन लिया। यह, स्पष्ट ही, अत्यन्त भावुक और धर्मप्राण व्यक्ति का लक्षण प्रतीत होता है।

अकबर हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो का प्रेमी था, किन्तु, दोनो की कट्टरता से उसे घृणा थी। धर्म-परिवर्तन करनेवालो को वह नीची नजर से देखता था, क्योकि उसका विश्वास था कि "जो लोग अपना धर्म भय या लोभ से बदलते है, उनमे धार्मिकता नही होती है।"

हलाहल का विस्फोट

हिन्दू-मुस्लिम-एकता का जितना बडा नेता अकबर था, उतना बडा नेता और कोई हुआ है या नही, यह बताना आसान नही है। किन्तु, जिन गुणो के कारण अकबर पर हिन्दुओं की श्रद्धा बढी, उन्ही गुणो के कारण मुसलमान उसके खिलाफ हो गये। काजी और मुल्ले पठानो के समय राजकाज में हस्तक्षेप करते थे और पाठान सुलतान उनकी दस्तदाजी को रोक नही पाते थे। पठानो के समय मुल्ले खुलकर बडाई उस सुलतान की करते थे जिसके राज्य-काल मे अधिक-से-अधिक मूर्तियाँ और मन्दिर तोडे जाते थे तथा अधिक-से-अधिक हिन्दू मुसलमान बनाये जाते थे। किन्तु, अकबर ने जब शासन को धर्मनिरपेक्ष बनाना चाहा और यह घोषणा कर दी कि जो भी व्यक्ति जबर्दस्ती मुसलमान बनाया गया हो, वह चाहे तो अपने धर्म मे वापस जा सकता है, तब मुल्लो की दृष्टि में वह वह इस्लाम का द्रोही समझा जाने लगा।

अकबर ने इस्लाम का कोई अहित नही किया था। वह शरीयत को मानता था और तौहीद के सिद्धान्त पर अटल विश्वास रखता था। उसका अपराध केवल यह था कि सभी धर्मों को वह एक दृष्टि से देखता था और चाहता था कि मुस्लिम-राज्य में जैसे मुसलमान निश्चित रहते है, वैसे ही, सभी धर्मों के लोग बेफिक्र रहें। किन्तु, बादशाह की यह उदार नीति मुल्लो को सह्य नही हुई। मुल्लो की एक मात्र कामना यह थी कि भारत के अन्य धर्मों का चाहे जो भी हाल हो, किन्तु, इस्लाम का प्रसार अधिक-से-अधिक होना चाहिए। लेकिन, अकबर की उदार नीति के कारण इस्लाम के प्रसार में बाधा पड़ती थी। इसलिए, मुल्लो ने बादशाह के खिलाफ आन्दोलन आरम्भ कर दिया। इस जहरीले आन्दोलन के सब से बड़े नेता का नाम शेख अहमद सरहिन्दी था।

शेख अहमद सरहिन्दी

शेख अहमद सरहिन्दी का जन्म १५६३ ई० मे हुआ था और उसकी मृत्यु सन् १६२४ ई० में, यानी अकबर की मृत्यु के कोई १६ साल बाद हुई। शेख अहमद इब्ने-तैमिया का

---

१ ए पेजेंट ऑव् एशिया (केनेथ सौंडर्स)

शिष्य था। वह केवल कट्टर मुसलमान ही नही, प्रत्युत, इस्लामेतर धर्मो का प्रचण्ड विरोधी भी था। इस्लाम को वह सभी धर्मो, सभी सस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था। वह इस्लाम के उस प्राचीन, आरम्भिक रूप का कायल था जब मुस्लिम-समाज में तसव्वुफ का प्रचार नही हुआ था, न मुस्लिम-सस्कृति पर किसी अन्य सस्कृति का प्रभाव ही पड़ा था। उन्नीसवी सदी मे वहावियो ने इस्लाम के जिस प्राचीन रूप को वापस लाने की कोशिश की तथा वीसवी सदी मे उसके जिस रूप का आख्यान हाली और इकबाल ने किया, शेख सरहिन्दी इस्लाम के उसी रूप का उपासक था।

लगभग चार सौ वर्षो के सम्मिलित जीवन मे मुसलमानो ने हिन्दुओ से जो भी आदतें सीखी थी, शेख सरहिन्दी उन सब को गुनाह समझता था। विवाह, श्राद्ध, पर्व, त्योहार और दैनिक रहन-सहन मे हिन्दुओ और मुसलमानो के बहुत-से रीति-रिवाज समान हो गये थे। गोहत्या से घृणा उन दिनो मुसलमानो को भी होने लगी थी और विधवा-विवाह को मुसलमान भी हीन कर्म मानने लगे थे। शेख अहमद ने इन सारी वातो को दुष्कर्म वताया और मुसलमानो से उसने कहा कि हिन्दुओ की सगति मे तुमने जो कुछ भी सीखा है, उसे छोड दो, क्योकि ये वाते असली इस्लाम के खिलाफ है। उसका उपदेश था कि भारत के मुसलमानो को ठीक उसी प्रकार से रहना चाहिए, जैसे मोहम्मद साहव के समय मे अरव के मुसलमान रहा करते थे और उन्हे सतर्क रहना चाहिए कि हिन्दुस्तान मे वसनेवाले वहु-सख्यक गैर-मुस्लिमो की आदतें उनके भीतर न समा जाये। हिन्दुओ से शेख अहमद को भयानक विद्वेष था। वह उन्हें काफिर समझता था और उसका विश्वास था कि काफिरो के दलन और अपमान से वढकर भगवान को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नही है।[१]

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के विरुद्ध अपना जहरीला प्रचार शेख अहमद ने अकवर के ही राज्य-काल मे आरम्भ कर दिया था। किन्तु, अकवर का रोव-दाव सारे देश में था, अतएव, शेख अहमद का प्रचार उस समय जोर नही पकड सका। लेकिन, अकवर के मरने के वाद शेख अहमद ने निर्भय होकर मुसलमानो के भीतर आग भड़काना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि जहाँगीर ने उसे पकडवा कर जेल मे डाल दिया। मगर, जहाँगीर ढीला-ढाला बादशाह था। प्रभावशाली मुसलमानो के वीचविचाव करने से उसे दया आ गयी और शेख अहमद को उसने कैद से रिहा कर दिया। लेकिन, शेख अहमद को हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर दया नही आयी। जेल से रिहा होते ही उसने अपना प्रचार

---

१. "Sh. Ahmad was fiercely hostile to the Hindus, whom he regarded as infidels and considered nothing more pleasing to God than their humiliation and disgrace." [डा० ताराचन्द की पुस्तक हिस्टरी आव् द फ्रीडम मूवमेंट, जिल्द १ से]

फिर से आरभ कर दिया और जहाँगीर के राज्य-काल भर वह अपने मतो को बेरोक-टोक फैलाता रहा।

शेख अहमद सरहिन्दी के मरने के बाद उसके मतो के प्रचार का बीडा अहमद के पुत्र, मोहम्मद मासूम ने उठाया। और जब मासूम का देहान्त हुआ, तब उसके बेटे शेख सैफुद्दीन ने वही प्रचार और भी भीषणता से आरम्भ कर दिया। हिन्दुस्तान की बद-किस्मती से, इसी शेख सैफुद्दीन को औरगजेब ने अपना गुरु बनाया और, इस प्रकार, शेख अहमद की रूह को वह बलवान मनुष्य प्राप्त हो गया जो अहमद के सपनो को कार्य का रूप दे सकता था।

अमृत की पराजय

हिन्दुत्व और इस्लाम, दो धाराओ के समान, अलग-अलग बहते है। अकबर ने हिन्दुओ के हृदय को जीतकर बडी धारा को छोटी धारा के समीप लाना चाहा था। लेकिन, शेख अहमद और उसके वशधरो ने जी तोडकर कोशिश की कि बडी और छोटी धाराओ के बीच की दूरी बराबर कायम रहे। अकबर के विचार समय से बहुत पहले आये थे। तत्कालीन मुस्लिम-जनमत ने उन्हें स्वीकार नही किया। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता को मजबूत बनाना चाहा, लेकिन, मुस्लिम-सम्प्रदाय ने इसे इस्लाम का अपमान समझा और जवाब मे शेख अहमद सरहिन्दी को खडा कर दिया। शेख अहमद की समाज में बहुत अधिक प्रतिष्ठा रही होगी और उसके खान्दान के लोग मुसल-मानो के बीच बहुत आदर से देखे जाते होगे। अन्यथा यह कैसे सम्भव था कि देश का बादशाह औरगजेब अहमद के पोते को अपना गुरु मान ले ?

अकबर के उदारतावादी विचार दारा-शिकोह में आकर अपनी पूर्णता पर पहुँचे। लेकिन, शेख अहमद की रूह दारा-शिकोह से नाराज थी। इसीलिए, औरगजेब ने दारा शिकोह को मार डाला। जिस दिन दारा-शिकोह मारा गया, उस दिन हलाहल जीता और अमृत हार गया।

अमृत और हलाहल की दूसरी लडाई फिर बीसवी सदी मे आकर हुई, जब भारत के नेता महात्मा गाँधी हुए। अकबर ने जैसी उदारता हिन्दुओ के साथ बरती थी, बहुत कुछ वैसी ही उदारता का व्यवहार गाँधीजी ने मुसलमानो के साथ किया। लेकिन, इस देश में जो मुसलमान हिन्दुओ का पक्षपाती होता है, उसे मुसलमान मार डालते है, जैसे औरजेब ने दारा-शिकोह को मार डाला। और जो हिन्दू मुसलमानो का पक्षपाती होता है, उसे हिन्दू मार डालते है, जैसे गोडसे ने गाँधीजी की हत्या कर दी।

अकबर के विचार सोलहवी सदी के लिए समय से बहुत आगे थे। लेकिन, गाँधीजी का जो हाल, हुआ उससे यही दिखायी देता है कि पिछले चार सौ वर्षो में भी हम आगे नही बढे ह। अकबर अपने समय से आगे थे, लेकिन, गाँधीजी भी अपने समय से आगे

ही दिखायी पडे। भारत के हिन्दुओ और मुसलमानो के लिए यह कितनी ग्लानि की बात है?

एकता के दुर्बल प्रहरी

अकबर ने जो ज्योति जलायी थी, वह जहाँगीर और शाहजहाँ के समय मे जलती रही। जहाँगीर और शाहजहाँ, दोनो की माताएँ हिन्दू थी, अतएव, हिन्दू-विरोधी कट्टरपन इन लोगो मे नही आया। फिर भी, इन विलासी शासको मे अकबर का साहस और प्रताप नही था कि मुल्लाओ के विरोध को दबाकर वे एकता के शकट को आगे बढाते। अकबर की उदारता, अकबर की दूरदर्शिता और अकबर का मानवत्व भारतवर्ष के नताओ और राजाओ में, कभी-कभी ही, प्रकट हुआ है। कितने विस्मय की बात है कि जब फ्रास में कैथालिक लोग प्रोटेस्टेंटो को जिन्दा जला रहे थे, जब इग्लैण्ड मे (एलिजाबेथ के इग्लैण्ड मे) प्राटेस्टेंट लोग कैथालिको से फ्रास का बदला दुगुने बल से चुका रहे थे और जब इनक्विजिशन के मारे स्पेन मे यहूदियो का बुरा हाल था, तब भारतवर्ष मे अकबर हिन्दुओ पर किये गये मुस्लिम-अत्याचारो के निशान को दूध और अमृत से धो रहा था।

अकबर ने हर तरह से हिन्दू-धर्म का आदर किया। सिर्फ एक जहर था जिसका उतार उसके पास नही निकला। देश पर शासन मुस्लिम-कानून से होता था और कुरान पर आधारित होने के कारण इस कानून मे यह विधान था कि यदि मुसलमान अपराधी हो तो उसके खिलाफ काफिर गवाह की गवाही सबूत नहीं मानी जायगी। परिणाम इसका यह था कि मुसलमानो के खिलाफ हिन्दुओ को न्याय कम मिल पाता था। मगर, यही बात अगरेजी शासन में भी चलती रही, क्योकि, यद्यपि, अगरेजो ने इस तरह के बेहूदे कानून नही बनाये थे, मगर, कचहरियो मे अँगरेज अपराधी के साथ पक्षपात का होना मामूली बात थी।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की नीति बहुत दूर तक बरती, लेकिन, सन् १६३२ ई० मे, न जाने शाहजहाँ को क्या हुआ कि उसने फरमान निकाल दिया कि अब आगे से नये मन्दिर नही बनवाये जायँ और जो मन्दिर बनाये जाने के क्रम मे हो, वे तोड़ दिये जायँ। गोहत्या की मुमानियत भी,[1] जो अकबर के समय से चली आ रही थी, सन्

---

१ अकबर ने गोहत्या की मनाही कर रखी थी। कहते है, नरहरि नामक किसी हिन्दी-कवि ने गौओ की ओर से निम्नलिखित छप्पय अकबर को सुनाया था, जिसका अकबर के भावुक हृदय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा.—

अरिहुँ दन्त तृन धरै ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सन्तत तृन चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत छीर नित स्रवहिं वच्छ महि थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पियावहिं।
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, विनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुयेहु चाम सेवहिं चरन।

१६२६ ई० के आसपास आकर ढीली हो गयी। किन्तु, पुराने मन्दिर तोडे नही गये, इससे शाहजहाँ की उदारता जरूर झलकती है। इसके सिवा, पुर्तगाली यात्री सेबास्टियन मानरिक के यात्रा-विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि शाहजहाँ के मुस्लिम अफसरो ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट डाला था कि उसने दो मोर-पक्षियो का शिकार किया था और बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवो का वध करने से हिन्दुओ की भावनाओं को ठेस पहुँचती है, उनका वध नही किया जाय।

शाहजहाँ, यद्यपि, हिन्दू माँ का बेटा था, किन्तु, उसका व्यक्तित्व फटा हुआ था। उसके व्यक्तित्व के दोनो टुकडे उसके दो पुत्रो में साकार हुए। व्यक्तित्व का जो अश अकबर से आया था, उसका प्रतिनिधि दारा-शिकोह हुआ। इसके विपरीत, उसके व्यक्तित्व के जिस अश पर शेख अहमद के प्रचारों का प्रभाव था, उसका प्रतिनिधित्व औरगजेब ने किया।

पराजित पीयूष, दारा-शिकोह

जन्मान्तरवाद के सिद्धान्तानुसार, दारा-शिकोह को अकबर का ही अवतार कहना चाहिए, सिवा इसके कि वह अकबर की वीरता, कर्मठता और अध्यवसाय से विहीन था। शाहजहाँ ने जब-जब उसे सूबेदार बनाया, वह अपने इलाके मे कभी नही गया। दिल्ली मे बैठकर किताबें पढना उसका सबसे बडा काम था। फिर भी, अकबर का जो काम अधूरा रह गया था, लगता है, उसी को पूरा करने के लिए उसने दारा बन कर जन्म लिया था, यद्यपि, यह काम पूरा तो क्या, आधा भी सपन्न नही हुआ। वह शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था। यदि वह भारत का सम्राट हुआ होता तो भारत का इतिहास आज कुछ और होता। तब हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की जहरीली आग से हम, शायद, बाहर निकल गये होते और भारत की राष्ट्रीयता बहुत मजबूत हो गयी होती। किंतु, भारत का दुर्भाग्य उसके पीछे लगा हुआ था। औरगजेब ने खदेड कर दारा को मार डाला और बाप को कैद कर के वह खुद सिंहासन पर बैठ गया। जिस दिन दारा-शिकोह मारा गया और औरंगजेब गद्दीनशीन हुआ, सामासिक संस्कृति का कलेजा, असल मे, उसी रोज फटा और तब से, यद्यपि, हम इस फटन को बार-बार सीने की कोशिश करते रहे है, किन्तु वह ठीक से सिल नही पाती।

दारा-शिकोह जवान होता हुआ भी, धार्मिक और अत्यन्त विचारशील था। हिन्दू पडितो, हिन्दू कवियो और हिन्दू साधको से उसका दरबार भरा रहता था। वह कट्टर मुसलमान नही होकर शुद्ध सूफी था। "मजमुअल बहरेन" (सागर-सगम) नामक अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में उसने हिन्दुत्व और सूफीमत के बीच पूर्ण समन्वय दिखलाया है। उसने कुछ उपनिषदो का भी फारसी मे अनुवाद किया था एव उसकी एकान्त कामना थी कि इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच कोई स्थायी सामजस्य उत्पन्न हो जाय।

किन्तु, अदृष्ट को यह मजूर नही था। हिन्दुओ और मुसलमानो ने मिल-जुलकर जो समान-सस्कृति उत्पन्न की थी, वह दारा के शरीर के साथ छिन्न हो गयी एवं औरगजेब ने, पाकिस्तान के पूर्वाभास के रूप मे, परस्पर मिलती हुई दो जातियो को अपनी धर्मान्ध नीति के जोर से अलग कर दिया।

दारा शिकोह और सम्राट अकबर, ये हिन्दू-हृदय को बहुत ही प्रिय रहे है। अकबर का आदर हिन्दुओ ने इसलिए नही किया कि वह कट्टर मुसलमान नही था, न इसलिए कि वह इस्लाम के जबर्दस्ती प्रचार किये जाने का विरोधी था, वरन्, इसलिए कि इस्लाम की तरह वह हिन्दू-धर्म का भी प्रेमी था तथा वह जनता के केवल तन ही नही, मन और ईमान की भी रक्षा करना चाहता था।

क्रान्तिकारी का साथी कोई नहीं

किन्तु, दोष एक ही तरफ का रहा हो, सो बात नही है। जब औरगजेब ने दारा-शिकोह का पीछा किया, बेचारा दारा बाज के द्वारा खदेडे हुए कपोत के समान सारे राज-स्थान और पजाब मे त्राण खोजता भागता फिरा। किन्तु, कोई भी हिन्दू माई का लाल ऐसा न ही निकला जो उसे शरण दे अथवा उसकी ओर से झडा लेकर खडा हो। सहायता करने की बात तो दूर रही, औरगजेब के हिन्दू मनसबदार जसवन्तसिंह और जयसिंह दारा के पीछे-पीछे दौड रहे थे। आखिर को, दर्रा-बोलान के पास एक पठान ने उसे शरण दी। किन्तु, ज्यो ही औरगजेब की सेना वहाँ पहुँची, उस पठान ने दारा को फौज के हवाले कर दिया और औरगजेब ने डका बजा कर दिल्ली मे उसकी हत्या कर दी।

अकबर-बीरबल-विनोद की कुछ ऐसी भी कहानियाँ सुनी जाती है, जिनमें ऐतिहासिक तथ्य तो नही है, किन्तु, जिनसे इस बात पर थोडा प्रकाश अवश्य पडता है कि अकबर की उदार धार्मिक नीति का जो प्रभाव हिन्दुओ पर पडना चाहिए था, वह नही पडा। कहते है, एक बार अकबर ने बीरबल से कहा कि कौरव-वश का जैसा महाभारत-पुराण हिन्दुओ में प्रचलित है, कुछ वैसा ही महाभारत मुगलिया-खान्दान का भी लिखा जाना चाहिए। बीरबल ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। किन्तु, कुछ दिनो बाद, उसने बादशाह से पूछा कि हिन्दुओ के महाभारत मे तो द्रौपदी के पाँच पति दिखलाये गये है, लेकिन, साम्राज्ञी के लिए जहाँपनाह कितने पति रखना चाहेगे। यह कहानी, सभवत, झूठी होगी। किन्तु, हिन्दू मुसलमानो से जो विलगाव कायम रखना चाहते थे, उसकी व्याख्या करने के लिए ऐसी कहानियो की सृष्टि हुई होगी।

क्रातिकारी नेताओ का जो हाल होता है, अकबर का भी वही हाल हुआ। उसका साथ न तो उच्च वर्ग के हिन्दुओ ने दिया, न मुसलमानो न। कट्टर मुसलमान उसे काफिर समझते रहे और ऊँचे तबके के हिन्दुओ ने भी उसे मुसलमान ही समझा। फिर भी, उसने जो प्रयत्न आरम्भ किया था, लस्टम-पस्टम, उसका कुछ-न-कुछ कल्याणकारी परि-

णाम अवश्य निकलता, यदि शाहजहाँ के बाद, औरंगजेब भारत का सम्राट नहीं बन बैठता।

धर्मान्धता का परिणाम

औरंगजेब इस्लाम की पाबन्दियों का पालन करने के कारण अच्छा मुसलमान समझा जाता है, किन्तु, शासक वह बहुत बुरा निकला। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मोगलों ने भारत की जिस सामासिक संस्कृति को पाल-पोस कर खड़ा किया था, उसे औरंगजेब ने एक ही झटके में तोड़ डाला और, साथ ही, उसने अपने साम्राज्य की कमर भी तोड़ दी। वह हिन्दुओं का ही नहीं, सूफियों का भी दुश्मन था और सरमद-जैसे सन्त को उसने शूली पर चढवा दिया था। हिन्दुओं पर तो उसने तरह-तरह के अन्याय किये। उन दिनों, "बिक्री के माल पर अढाई रुपया सैकड़ा चुंगी लगती थी। हिन्दुओं पर वह चुंगी पाँच रुपया सैकड़ा कर दी गयी। इसके बाद, मुसलमानों के माल पर से महसूल बिलकुल उठा दिया गया। मुसलमान बननेवालों को सरकारी ओहदे, तरक्की और कैद की माफी मिलने लगी। दिल्ली और अन्य बड़े-बड़े शहरों में संगीत बन्द करा दिया गया। शहरों में होली, दिवाली और मुहर्रम का जुलूस निकालना और स्त्रियों का कब्र पूजना रोका गया। काफिरों के मन्दिर और विद्यालय ढहा देने का हुक्म निकाला गया (१६६९ ई०)। उसके बाद, सब हिन्दू पेशकारों और दीवानों को राजकीय सेवा से निकालने का हुक्म हुआ, पर, पीछे, आधे पद हिन्दुओं को दे देने पड़े। इसके बाद, मूर्त्ति-पूजा रोकने का फरमान निकाला गया। अन्त में, औरंगजेब ने गैर-मुस्लिमों पर फिर से जिजिया लगा दिया (१६७९ ई०)"।[1] इस प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों को दो जातियों के रूप में अलग रखने का सचेष्ट प्रयास औरंगजेब ने किया। अजब संयोग की बात है कि भारत-विभाजन की प्रथम कल्पना भी उसी की थी। उसी ने यह वसीयत की थी कि उसके मरने के बाद, उसका सारा राज्य उसके तीन बेटों के बीच बाँट दिया जाय, यद्यपि, उसका यह सपना पूरा नहीं हुआ।

औरंगजेब ने इस्लाम की सेवा तो खूब की, लेकिन, प्रजा ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। जब मथुरा में मन्दिर तोड़ा गया, गोकुल जाट के नेतृत्व में वहाँ के किसानों ने बगावत कर दी। उज्जैन में जो कर्मचारी मन्दिर तोड़ने गये, उन्हें प्रजा ने मार डाला। दिल्ली के पश्चिम, नारनौल के जिले में, सतनामी लोग विद्रोह कर बैठे और महाराष्ट्र में शिवाजी ने ऐसा प्रचण्ड विद्रोह मचाया कि मोगल-साम्राज्य की नींव ही उखड़ गयी। किन्तु, औरंगजेब की धर्मान्धता पर सबसे विलक्षण टीका यह हुई कि उसके अन्याय से आहत होकर गुरु नानक का चलाया हुआ सिक्ख-सम्प्रदाय, जो शांत भक्तों का सम्प्रदाय था, खुलकर सैनिकों का सम्प्रदाय बन गया।

---

१ इतिहास-प्रवेश

अकबर और औरंगजेब

अकबर जितने लोकप्रिय हिन्दुओं में रहे[1], उतने लोकप्रिय वे मुसलमानो मे, शायद, नही थे। लेकिन, औरंगजेब को कोई भी हिन्दू पसन्द नही करता है। तब भी, मुस्लिम-समाज की जो विचार-धारा पाकिस्तान के निर्माण मे सहायक हुई, वह औरंगजेब को अकबर से श्रेष्ठ समझती है।

भारतीय इस्लाम के सब से बडे कवि सर मोहम्मद इकबाल ने अपनी फारसी कविता "रमूज़े-बेखुदी" में कहा है कि "शाह आलमगीर (औरंगजेब) महान् और प्रतापी राजा था। गुरगाँ-तैमूर के वंश का वह गौरव और अभिमान हुआ है। शाह आलमगीर के कारण इस्लाम की कीर्त्ति-पताका बहुत ऊँचाई पर उडी और पैगम्बर के नियमो का व्यापक सम्मान हुआ। कुफ्र और ईमान के युद्ध में वह हमारे तरकस का आखिरी तीर था। जब नास्तिकता का नापाक बीज, जिसका पालन अकबर ने किया था, दारा के हृदय में अंकुरित हुआ, तब प्रत्येक हृदय में धर्म की ज्योति मन्द पडने लगी और मुसलमानो की जमायत पतन और भ्रष्टाचार से सुरक्षित नही रह सकी। तब भगवान ने हिन्दुस्तान में विनम्र-हृदय योद्धा आलमगीर को धर्म की जागृति और ईमान की रक्षा के लिए चुन कर खडा किया, उसकी तलवार ने पाप और अपवित्रता की फसल मे आग लगा दी और धर्म की मशाल फिर से प्रज्वलित हो उठी।"[2]

संयोग की बात है कि जैसे औरंगजेब ने भारत-विभाजन की कामना की थी, वैसे ही, पाकिस्तान की भी कल्पना पहले-पहल सर इकबाल के ही भाषण मे प्रकट हुई जब वे मुस्लिम-लीग के सभापति हुए थे। उससे भी अधिक संयोग की बात यह है कि इकबाल ने जिस पीर को अपना गुरु बनाया था, वह शेख अहम्मद सरहिन्दी की ही परंपरा मे पडता था।

जब भी अमृत की धारा फूटती है, जहर अपना सिर ऊपर उठाने लगता है। अकबर ने चाहा था कि हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच का भेद कम-से-कम कर दिया जाय। शेख सरहिन्दी ने आन्दोलन चलाया कि इस्लाम की खैरियत इसी मे है कि वह हिन्दुत्व के स्पर्श से दूर रहे। वर्त्तमान युग में अकबरी नीति की परिणति महात्मा गाँधी में हुई और शेख सरहिन्दी के दर्शन का प्रतिनिधित्व जिन्ना साहब ने किया। अमृत और हलाहल

---

१ हिन्दी मे 'अर्ध-कथानक' नामक एक काव्य है, जिसके लेखक कविवर बनारसीदास हैं। बनारसीदास अकबर के समकालीन थे। यह काव्य उन्होने आत्म-चरित के रूप मे लिखा है। इस काव्य से मालूम होता है कि अकबर की मृत्यु का दु:संवाद सुन कर सारी जनता हाहाकार कर उठी थी। स्वयं बनारसीदास यह दु:संवाद सुनते ही बेहोश होकर गिर गये थे। ऐसे ही, जब गाँधी जी मरे, तब उनकी मृत्यु का समाचार सुनते ही कई लोग अचानक मर गये थे।

२ प्रोफेसर आरबेरी-कृत "द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस" नामक अंगरेजी अनुवाद से।

के इस संघर्ष में जीत अब तक हलाहल की ही हुई है। जब दारा-शिकोह मारा गया, तब जहर की जीत और अमृत की हार हुई थी। जब भारत का विभाजन हुआ, तब भी पराजय अमृत की ही हुई। लेकिन, क्या अकबर, दारा-शिकोह और गांधी आगे भी हारते ही जायेंगे और जीत उन्हीं की होती जायेगी जो शेख अहमद सरहिन्दी, औरंगजेब और नत्थूराम गोडसे के साथ है? यही वह सवाल है जिसका जवाब हिन्दुओं और मुसलमानों को साथ होकर ढूँढना है।

प्रकरण ८

सिक्ख-धर्म

गुरु नानक

भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ के मिलने से भारतवर्ष में जो धार्मिक जागृति उत्पन्न हुई, कबीर की तरह, नानक भी उसी जागृति के पुष्प थे। देश-विदेश में घूमकर उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियो और साधकों की संगति की थी। कहते हैं, वे बगदाद भी गये थे और वहाँ उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ था। बगदाद मे उनकी याद में एक मदिर भी है जिस पर तुर्की भाषा मे शिलालेख मौजूद है। गुरु नानक के सैयद-वंशी चेलो के उत्तराधिकारी अभी तक उस मंदिर की रक्षा करते है। ये सारी बातें बगदाद के एक अरबी पत्र 'दारुल सलाम' के ६ अप्रैल, १६१६ ई० वाले अक में छपी है।[1]

गुरु नानक ने जो पथ चलाया, वही सिक्ख-पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन सत-धारा के अनुसार, गुरु नानक भी निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जातपाँत और मूर्तिपूजा को नही मानते थे। उनका मत एक ओर जहाँ वेदांत पर आधारित है, वहाँ दूसरी ओर, वह तसव्वुफ के भी अनेक लक्षण लिये हुए है। विशेषतः, गुरु नानक की उपासना के चारों अग (सरम-खड, ज्ञान-खंड, करम-खंड तथा सच-खंड) सूफियों के चार मुकामात (शरीअत, मारफत, उकबा और लाहूत) से निकले हैं, ऐसा विद्वानो का विचार है। गुरु नानक और शेख फरीद के बीच गाढी मैत्री थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं।

गुरु साहब की वेशभूषा और रहन-सहन सूफियो-जैसी थी। अतएव, बहुत-से अर्वाचीन विद्वान यह अनुमान लगाते हैं कि गुरु नानक पर मुस्लिम-प्रभाव अधिक था। अतः, उनका धर्म इस्लाम का ही स्वतत्र आख्यान रहा होगा। इस अनुमान के समर्थन में, अक्सर, यह भी कहा जाता है कि गुरु नानक के शिष्य केवल हिन्दू ही नहीं, बहुत-से मुसलमान भी हुए थे। इस प्रसंग में, यदि सिक्ख धर्म-ग्रन्थों का प्रमाण खोजा जाय तो 'रहतनामा' मे गुरु की स्पष्ट आज्ञा मिलती है कि खालसा-धर्म (शुद्ध धर्म) हिन्दू और मुस्लिम, दोनों धर्मो से अलग है।[2] गुरु की इस आज्ञा को सही मानना चाहिए, क्योंकि गुरु नानक यदि हिंदुत्व या इस्लाम से पूर्णरूप से संतुष्ट होते तो उन्हे एक नवीन पंथ निकालने की चिन्ता ही नहीं होती।

हिंदुओ के लिए गुरु नानक के दिल में कितना दर्द था, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है कि "हिंदुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नही मानता, अपितु, अपनी ही

१ दे० मेडिवल मिस्टीसिज्म ऑव् इडिया ; आचार्य क्षितिमोहन सेन
२ दे० सिक्खिज्म, इट्स आयडियल्स एण्ड इस्टीट्यूशन्स ; तेजासिंह

बडाई मे लगा रहता है। उनके कान व हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओ से भरते जा रहे है और मुसलमान कर्मचारियो के निकट एक दूसरे की निन्दा करके लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे है। वे समझते है, रसोई के लिए चौका लगा देने मात्र से हम पवित्र हो जायँगे।" इसी प्रकार, अन्यत्र वे मुसलमानी शासन के लिए कर उगाहनेवाले हिन्दू कर्मचारियो को लक्ष्य करके कहते है कि "गौ तथा ब्राह्मणो पर कर लगाते हो और धोती,टीका एव माला-जैसी वस्तुएँ धारण किये रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-देकर तुर्कों के साथ सबध बनाये रहते हो। अरे, ये पाखड छोड क्यो नही देते।"[1]

इन पक्तियो मे हिन्दुओ की आलोचना तो है ही, किन्तु, उनके लिए कुछ तडप, सहानुभूति और दर्द भी है और सिक्ख-धर्म का सारा इतिहास हिंदुत्व के लिए इस तडप, इस सहानुभूति और इस दर्द से परिपूर्ण रहा है। अतएव, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि जैसे उन्नीसवी सदी मे हिंदुत्व ने अपनी रक्षा करने के लिए आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज का रूप लिया था, वैसे ही, इस्लाम से बचने के लिए उसने अपना निराकारवादी रूप प्रकट किया जिसके महान् व्याख्याता महात्मा नानक हुए।

सिक्ख-मत, हिन्दुत्व और इस्लाम

किसी पाश्चात्य लेखक ने चमत्कारपूर्ण शैली मे कहा है कि सिक्ख-धर्म सनातन-धर्म की अरबी टीका और आर्य-समाज इस्लाम का सस्कृत मे अनुवाद है। इसलिए, सिक्ख-धर्म को इस्लाम की शाखा मानना तो नितात भूल है, हम उसे हिंदुत्व की ही बाँह कह सकते है।

सच्ची बात तो यह है कि सिक्ख-धर्म के दर्शन और इस्लाम के दर्शन मे, विशेषत, ईश्वर के स्वरूप को लेकर वही भिन्नता है जो कुरान और वेदात के बीच मिलती है। हजरत मोहम्मद ईश्वरवादी थे, किन्तु, ईश्वर के बारे मे उनकी कल्पना यह थी कि वह सातवे आसमान पर रहता है एव मनुष्यो के सुख-दु ख तथा भक्ति-अभक्ति से उसका सबध है। किन्तु, गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है। "वह स्थान-विशेष मे रहकर सिंहास-नासीन होनेवाला नही है, बल्कि, सर्वात्म-भाव से अणु-अणु के भीतर ओतप्रोत है और उसके सार्वभौमिक नियमो का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ द्वारा, स्वभावत, होता जा रहा है"।[2] इससे विदित होता है कि गुरु नानक वेदात की भावना से भरे हुए थे एव उन पर सूफियो की धर्म-साधना का प्रभाव तो पडा था, किन्तु, इस्लामी दर्शन का उन पर कोई प्रभाव नही था।

उनका सृष्टि-विकास का सिद्धान्त वेदात का सिद्धात है। वे कर्म को मानते है, पुनर्जन्म को मानते है, निर्वाण और माया को मानते है एव ब्रह्मा, विष्णु और महेश के त्रिदेवत्व मे विश्वास करते है। उनका, गुरु-परपरा में, जो विश्वास है, वह सूफीमत से

---

१ उत्तर भारत की सत-परपरा मे 'आदि-ग्रथ' से उद्धृत। २ उत्तर भारत की सत-परपरा

खूब पुष्ट हुआ दीखता है। इस्लाम की मौलिक शिक्षा के विपरीत और सूफीमत की साधना के अनुसार, वे वैराग्य मे भी आस्था रहते है। इसके सिवा, नामजप, ध्यान, समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ वहुत महत्त्व है। सब मिलाकर गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित पथ सरल, सुकुमार, जनप्रिय एव विनयपूर्ण पथ था। उसकी सबसे वडी शिक्षा यह थी कि परमात्मा विश्व के कण-कण मे व्याप्त है। इसलिए, निखिल सृष्टि को ब्रह्म-मय समझ कर उसे प्रणाम करो।

सिक्ख-धर्म मे 'वाह गुरु' का जो धार्मिक नारा प्रचलित है उसकी एक व्याख्या कही से डोरोथी फील्ड ने उद्धत की है,[1] जिसके अनुसार, 'वा' का संकेत वासुदेव, 'ह' का हरि, 'गु' का गोविंद और 'रु' का राम की ओर है।

सिक्ख-धर्म, आरभ से ही, प्रगतिशील रहा है। जात-पाँत, मूर्त्तिपूजा और तीर्थ के साथ वह सती-प्रथा, शराव और तवाकू का भी वर्जन करता है। इस धर्म ने पर्दे को वरावर वुरा समझा। कहते है, तीसरे गुरु अमरदास से एक रानी मिलने को आयी, किंतु, वह पर्दे मे थी। इसलिए, गुरु ने उससे मिलना अस्वीकृत कर दिया।[2] यह धर्म, आरंभ से ही, व्यावहारिक भी रहा है एव जिस वैराग्य को गुरु उच्च जीवन के लिए आवश्यक मानते थे, उसे वे गृहस्थो पर जवर्दस्ती लादने के विरुद्ध थे। खान-पान मे खालसा-धर्म में वैष्णवो की कट्टरता कभी नही रही। प्रतापमल नामक एक हिंदू-पडित का वेटा जव मुसलमान होने लगा, तव उसने वेटे से कहा था कि खाने-पीने की स्वतन्त्रता के लिए हिंदू-धर्म को छोड़ना चाहते हो तो अच्छा है कि मुसलमान न होकर सिक्ख हो जाओ।[3]

गुरु और ग्रन्थ

सिक्ख-धर्म में गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक दस गुरु हुए जिनके नाम, क्रमश, नानक, अगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविंद, हरराय, हरकृष्णराय, तेगवहादुर और गोविंदसिंह है। प्रत्येक गुरु, अत समय मे, अपने उत्तराधिकारी को अपना पद सौपकर उसे पथ का गुरु घोषित कर दिया करते थे। गुरु गोविंदसिंह जव स्वर्गवासी होने लगे, तव उन्होने ग्रथ को ही पथ का गुरु घोषित किया और यह आज्ञा दे दी कि अव से कोई व्यक्ति गुरु नही होगा।

गुरु नानकदेव के वचनो को, पहले-पहल, गुरु अगद ने 'गुरुमुखी' लिपि मे लिखा। तभी से यह लिपि चालू हुई है। सिक्खो के मुख्य धर्म-ग्रन्थ, 'ग्रथ साहिव' का संकलन और सपादन सन् १६०४ ई० मे पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने किया। इस ग्रंथ मे आदि के पाँच गुरु और नवे गुरु तेगवहादुर के वचन और पद सगृहीत है। एक दोहा गुरु गोविंद सिंहजी का भी है एव इस ग्रथ में अन्य हिन्दू-संतो और सुधारको के भी पद है। गुरु

१ दे० रिलीजन ऑव् द सिक्खस
२ दे० सिक्खिज्म, इट्स आयडियल्स एड इस्टीट्यूशन्स ३. वही

गोविंदसिंह साहित्य के बहुत बडे विद्वान्, कवियो के प्रबल सरक्षक और स्वय भी हिंदी के अच्छे कवि थे। उनकी सभी रचनाओ को सिक्ख, 'दशम ग्रथ' के नाम से अभिहित करते हैं। उन्होने विचित्र-नाटक, जफरनामा, सौ साखी, जाप और चडी चरित्र, आदि अनेक ग्रथो की रचना की थी। उन्होने एक रामायण भी लिखी थी जिसे पटियाला कालेज के प्राध्यापक सत इद्रसिंह चक्रवर्ती ने, अभी हाल मे, 'गोविन्द-रामायण' के नाम से प्रकाशित किया है।

इस्लाम से टक्कर

सिक्खो का सप्रदाय शात, विनम्र एव भावुक भक्तो का सप्रदाय था, किंतु, उनके भीतर सामरिकता क्यो आ गयी, इसका दायित्व तत्कालीन शासको की धर्मांध नीति और तानाशाही मिजाज पर है। बात यो हुई कि जहाँगीर ने जब अपने भाई खुसरो को मारने के लिए खदेडा तब वह अपने प्राण बचाने को भाग निकला। इस क्रम में, उसने गुरु अर्जुनदेव से कुछ आर्थिक सहायता की याचना की और गुरु ने, दयाद्रवित होकर, उसे पाँच हजार रुपये दिये। यह कहानी किसी चुगलखोर ने जहाँगीर तक पहुँचा दी। इस पर, जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को दिल्ली बुलवाया एव उन पर दो लाख रुपयो का जुर्माना ठोक दिया तथा यह भी आज्ञा दी कि ग्रथसाहिब में से वे सभी पक्तियाँ निकाल दो जिनसे इस्लाम का थोडा भी विरोध होता है। किंतु, गुरु अर्जुनदेव ने दोनो आज्ञाओ के मानने से इन्कार कर दिया। इस पर जहाँगीर ने गुरु पर भयकर अत्याचार किये। 'उनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गयी, उन्हे जलती हुई लाल कडाही मे बिठाया गया और उन्हें उबलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। गुरु ने सब-कुछ सहन कर लिया और मुँह से आह तक नही निकाली।'[1] फिर रावी-स्नान के बहाने वे कैद से बाहर आये और रावी के तट पर जाकर उन्होने जीवन-लीला समाप्त कर दी। सिक्खो के प्रसग में सुविख्यात जहाँगीरी न्याय का यही उदाहरण ससार के सामने आया।

गुरु अर्जुन के बाद, छठें गुरु हरगोविंदजी हुए। इन्ही के समय से सिक्ख-सप्रदाय सामरिकता की ओर अग्रसर होने लगा। गुरु अर्जुन के साथ जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे, उन्हे भूलना किसी भी सिक्ख के लिए सभव नही था। साथ ही, इस घटना से सिक्ख होश मे भी आ गये और उन्होने देखा कि केवल जाप और माला से ही धर्म की रक्षा नही की जा सकती। यदि धर्म को बचाना है तो उसके लिए तलवार भी धारण की जानी चाहिए और उसके पीछे राज्य-बल भी होना चाहिए। इसीलिए, गुरु हरगोविंद ने सेली फाड कर गुरुद्वारे मे डाली और शरीर पर राजा और योद्धा का परिधान धारण कर लिया। यही से सिक्ख-सप्रदाय की युद्धवीरता की परपरा आरभ हुई। गुरु ने आज्ञा जारी की कि अब से भक्त गुरु-द्वारे मे चढाने के लिए द्रव्य नही भेजकर, अश्व और शस्त्रास्त्र भेजा करें।

---

१. उत्तर भारत की सत-परपरा

गुरु हरगोविन्द सन्त होने के साथ-साथ बडे भारी योद्धा और विक्रमी पुरुष थे। गुरु अर्जुनदेव के साथ जहाँगीर ने जो अत्याचार किया था, उसके कारण सिक्ख-सप्रदाय और मोगल-हुकूमत के बीच शत्रुता की परपरा आरभ हो गयी और राज्य की ओर से बार-बार यह कोशिश की जाने लगी कि सिक्ख-सप्रदाय को मटियामेट कर दिया जाय। किन्तु, गुरु हरगोविन्द का भी साहस और सगठन इतना प्रबल था कि हर लडाई मे तुर्को को मुँह की खानी पडी। गुरु हरगोविन्द के समय सिक्खो से मोगल तीन लड़ाइयो मे भिडे। पहली लडाई सन् १६२८ ई० मे, दूसरी सन् १६३० ई० मे और तीसरी सन् १६३४ ई० मे हुई। कहते है, सन् १६३४ ई० वाली लड़ाई काफी भयानक थी। उसमे मोगलो ने कोई पचहत्तर हजार की सेना लेकर गुरु हरगोविन्द पर चढाई की थी। किन्तु, तीनो लडाइयो मे जीत सिक्खो की हुई। इससे सिक्खों की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लग गये और सारा हिन्दू-समाज उन्हे धर्म और सस्कृति के रक्षक के रूप मे देखने लगा। सिक्ख-समाज को हिन्दुओ ने अपनी धर्म-रक्षक भुजा के रूप मे स्वीकार किया और सिक्खो की सख्या बढाने को, प्राय:, यह परपरा चल पडी कि हर हिन्दू-परिवार अपने ज्येष्ठ पुत्र को गुरु की शरण मे उत्सर्ग कर दे। अभी भी पजाब में ऐसे हिन्दू-परिवार है जिनका एक सदस्य सिक्ख होता है।

गुरु हरराय से भी औरगजेब की नही बनी। फिर, जब औरगजेब ने धर्म-परिवर्तन की नीति को जोरो से चलाना चाहा, तब कश्मीर के कुछ पडित धर्म पर आयी हुई विपत्ति की कष्ट-कथा लेकर गुरु तेगबहादुर के पास पहुँचे। गुरु ने कहा, "किसी महापुरुष के बलिदान के बिना हिंदू-धर्म की रक्षा असभव है।" कहते है, गुरु तेगबहादुर के पुत्र बालक गोविंद सिंह वही खडे थे। पिता की बात सुनते ही वे बोल उठे कि 'पिता जी! तो आपसे बढकर दूसरा महापुरुष कौन होगा ?" गुरु को बेटे की बात लग गयी। उन्होंने आनन-फानन अपने बलिदान की राह सोच निकाली और ब्राह्मणो से कहा कि औरगजेब को समाचार भेज दो कि तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर ले तो सभी हिंदू, खुशी-खुशी, मुसलमान हो जायँगे। निदान, यही हुआ और औरगजेब ने गुरु तेगबहादुर को अपने दरबार मे बुलवा भेजा। गुरु वहाँ हाजिर तो हुए, किन्तु, इस्लाम को कबूल करने से उन्होंने इन्कार कर दिया। इस सत्याग्रह का जो स्वाभाविक परिणाम होना था, वह अपनी पूरी भीषणता से घटित हुआ। गुरु तेगबहादुर शेर की तरह पिजडे मे डाले गये, उनपर भयानक से भयानक अत्याचार किये गये और, अत मे, उनकी हत्या भी कर दी गयी।

गुरु गोविन्द का अवतार

गुरु हरगोविंद ने अपने पिता की अकाल-मृत्यु से क्षुब्ध होकर सिक्ख-संप्रदाय को सैनिक रूप देना आरभ किया था। गुरु गोविंद ने इस प्रक्रिया को पूर्णता पर पहुँचा दिया। गुरु हरगोविंद ने शातिप्रिय सिक्ख-धर्म पर खड्गवाद की छोटी-सी कलम

लगायी थी। गुरु गोविद ने उसे विशाल वृक्ष बना दिया। सिक्ख-धर्म की सारी मानसिकता को बदलने के उद्देश्य से उन्होंने एक विचित्र लीला रची। आनन्दपुर के एक वैशाखी मेले मे, उन्होने सभी सिक्खो को एकत्र किया। फिर, एक बडे चबूतरे पर चारो ओर से कनात खडी करवायी और उसके भीतर कुछ बकरे बँधवा दिये। तब वे तलवार खीचकर कनात से बाहर आये और बोले कि धर्म की रक्षा के लिए चडी बलिदान चाहती है। तुम मे से जो प्राण देने को तैयार हो, वह कनात मे आवे। मै अपने हाथो महाचडी के आगे उसका बलिदान करूँगा। गुरु की ललकार पर एक आदमी कनात में जाता, गुरु उसे वही बिठा देते और एक बकरे की गरदन काटकर रक्त-भरी तलवार लिये बाहर निकल आते। इस प्रकार, पाँच वीर कनात के भीतर पहुँचे। जब छठाँ आदमी नही उठा, तब गुरु ने उन पाँच वीरो को बाहर निकाला और कहा कि ये 'पाँच प्यारे'[1] धर्म के खालिस अर्थात् शुद्ध सेवक है और उन्हें लेकर मै आज से खालसा-धर्म की नींव डालता हूँ। उसी समय, उन्होने एक कडाह मे पवित्र जल भरवाया, उनकी धर्मपत्नी ने उसमे कुछ बताशे घोले और गुरु ने तलवार से उस जल को आलोडित किया तथा तलवार से ही उसे 'पाँच प्यारो' पर छिडका। इसी अमृत[2] को पीकर लोग खालसा-धर्म की सेवा मे प्रवृत्त हुए।

सिक्ख-समाज का वर्त्तमान सगठन, बहुत कुछ, गुरु गोविन्द का ही किया हुआ है। सिक्खो मे पगडी बाँधने की प्रथा उन्ही की चलायी हुई है और उन्ही ने पच ककारो के धारण को सभी सिक्खो के लिए अनिवार्य बना दिया। ये पच ककार है—(१) कघी (बाल साफ करने के लिए), (२) कच्छा (फुर्ती के लिए), (३) कडा (यम, नियम और सयम का प्रतीक), (४) कृपाण (आत्मरक्षा के लिए) तथा (५) केश(जिसे, प्राय, सभी गुरु धारण करते आये थे)। सिक्ख-समाज में मदिरा और तबाकू का वर्जन भी गुरु गोविन्द सिंह ने ही आरभ किया। सिक्खो के लिए जो कर्म निषिद्ध है उनका उल्लेख रहतनामा मे मिलता है। रहतनामे मे केश-कर्तन को महान् अपराध माना गया है।

गुरु गोविंदसिंह की तैयारियो से औरगजेब घबरा उठा। उसने गुरु की राजधानी आनदपुर पर एक बार जबर्दस्त घेरा डाला। किंतु, गुरु हाथ नही आये। आनदपुर से भागते समय उनके दो बच्चे (जोरावर सिंह ९ साल और फतेह सिंह ७ साल) गायब हो गये। इन्हे किसी ने सरहिंद के शासक वजीरखाँ के हाथो मे सौंप दिया[3] और उस दुष्ट

---

१ ये पाँच प्यारे थे लाहौर के दयाराम, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचन्द, बीदर के साहिबचद और जगन्नाथपुरी के हिम्मत।

२ कहावत है कि इस कडाह का पानी दो गौरैयो ने पी लिया था और पानी पीते ही वे आपस मे लडने लगे थे।

३. कहते है, जिसने यह जघन्य कृत्य किया, उसका नाम गगू सोइयाँ था।

ने इन दो बच्चो को सिर्फ इसलिए दीवारो मे चुनावा दिया कि, पितृ-सस्कार के कारण, वे स्वेच्छा से मुसलमान होने को तैयार नही थे।

औरगजेब के मरने के बाद, उसके बेटे बहादुर शाह से गुरु गोविंदसिंह की मैत्री हो गयी। किंतु, उसी के राज्य-काल मे गोदावरी नदी के पास, गुरु गोविंदसिंह के सोते समय, एक पठान ने उनके पेट मे छुरा भोक दिया जिससे उनका स्वर्गवास हो गया। यही मरते समय गुरुगोविंद सिंह ने धर्म-ग्रथ को खालसा-धर्म का गुरु घोषित किया।

गुरु नानक अपने को न तो हिन्दू मानते थे, न मुसलमान और जिसे वे सिक्ख कहते थे वह उनकी दृष्टि मे सुधरा हुआ हिन्दू और सुधरा हुआ मुसलमान, दोनो हो सकते थे। आरभ मे, उनके पथ में बहुत-से मुसलमान भी दीक्षित हुए थे और कहते हैं, जब नानक मरे तब उनकी लाश को जलाने और दफनाने के लिए हिंदू और मुसलमान उसी प्रकार झगड पडे, जिस प्रकार वे कबीर की लाश पर झगडे थे। फिर भी, कालातर में, सिक्खो का मुसलमानो से वैर हो गया। इसे हम शासको की धर्मान्धता का ही परिणाम कहेंगे।

गुरु हरगोविन्द ने जो परपरा चलायी, उससे प्रत्येक सिख के दो रूप हो गये—एक वीर और सिपाहीवाला, दूसरा सत और भक्तवाला। किन्तु, गुरु गोविन्दसिंह ने सत और भक्त को गौण, शूर और वीर को प्रमुख बना दिया। असल मे, वे परशुराम के अवतार थे और सकट के समय, मनुष्यो को यह शिक्षा देने आये थे कि जीवन-सघर्ष मे विजय पाने के लिए केवल शास्त्र ही नही, शस्त्र की भी आवश्यकता होती है; केवल 'शाप' ही, 'शर' का भी प्रयोग करना पडता है। उनकी कविताओ के भीतर एक विचित्र प्रकार का तेज है, जो हमारी आँखो से ओझल हो गया है। जिस परमात्मा को गुरु नानक 'निरकार पुरुख' कहते थे, उसके नाम गुरु गोविंद ने 'असिध्वज', 'महाकाल' और 'महालौह' रखे। ये नामकरण बतला देते है कि गोविंदसिंह ने सिक्ख-धर्म को समेट कर किस दिशा मे मोडना चाहा था। हिंदी की रीतियुगीन कविताओ के बीच भूषण की कविता अपना अलग व्यक्तित्व रखती है, किंतु, गुरु गोविंदसिंह की कविताओ मे भी कुछ वैसे ही उज्वल मत्र है।

सेवक सिक्ख हमारे तारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।
जो हो सदा हमारे पच्छा, श्री असिधुजजी करियहु रच्छा।
मैं न गनेसहिं प्रथम मनाऊँ, किशन-बिशन कबहूँ नहीं ध्याऊँ।
महाकाल रखवार हमारे, महालोह मैं किंकर थारे।
अपना जान मुझे प्रतिपारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।

× × × × ×

धन्य जियो तेहि को जग में मुख ते हरि, चित्त में युद्ध विचारे।

× × × × ×

दशम कथा भागवत की, भाषा करी बनाय।
अवर वासना नाहिं कछु, धर्म-युद्ध को चाय।

कविता का उपयोग गुरु गोविंदसिंह ने अपने मतो का प्रचार करने के लिए किया, साधु-सिक्खो में सामरिकता भरने के लिए किया। युद्ध जब अवश्यभावी हो जाता है, तब ससार-त्यागी लोग उससे भाग खडे होते हैं। किंतु, जिन्हे ससार मे रहना है, वे उसे धर्मयुद्ध मानकर सोत्साह सघर्ष करते हैं। धर्मयुद्ध की परिभाषा है वह युद्ध, जिसे मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए लडना पडता है। सिक्ख लडाई नही चाहते थे। लडाई उन पर जबर्दस्ती लादी गयी थी। इसलिए, सिक्ख-सप्रदाय मे ऐसे गुरु निकल आये, जिन्होने युद्ध को धर्म से समन्वित कर दिया। आत्मरक्षा में लडाइयाँ तो राणा प्रताप और शिवाजी ने भी लडी, किंतु, वे युद्ध का दर्शन नही गढ सके। सिक्खो ने दर्शन भी गढा और खिलाफत-जैसा एक सगठन भी बनाया जिसमे एक ही व्यक्ति सारे सप्रदाय का राजा और गुरु, दोनो होता था। सच पूछिये, तो सिक्ख-धर्म में सगत या सगठन की जो प्रथा थी, उसी के कारण, मुसलमान सिक्खो से घबराते थे और उसी के कारण सिक्ख तबाह भी हुए। सभी सिक्ख एक समान बाल रखते थे, कडे पहनते थे, कघी रखते थे। इसलिए, मुसलमानो के लिए हर बालवाले के पीछे दौडना आसान था। सिक्ख राजपूताने के रेगिस्तान और पहाडो की तराइयो में छिपते फिरते थे और पीछे-पीछे शाही फौज के आदमी बालवालो को खोजते चलते थे। गुरुओ ने सिक्खो के हृदय मे वीरता और बलिदान की जो ज्वाला जलायी, वह तत्कालीन हिंदुओ मे नही थी। मुस्लिम-काल में धर्म के नाम पर सबसे ज्वलत बलिदान सिक्खो ने दिये या फिर मेवाड के राजपूतो ने, यद्यपि, राजपूतो में धर्माभिमान कम, अपने किलो, नगरो और बहू-बेटियो की रक्षा की चिंता अधिक थी। जैसे महाराणा प्रताप और शिवाजी महाराज हिंदू-मुस्लिम-सघर्ष से उत्पन्न हुए, उसी प्रकार, सिक्ख-धर्म भी हिंदुत्व और इस्लाम के मिलन से जनमा था। किंतु, कालक्रम मे, यह धर्म इस्लाम के विरुद्ध हिंदुत्व की तलवार बन गया। 'सत श्री अकाल' 'अल्लाह हो अकबर' का उत्तर-जैसा लगता है एव सिक्खो ने शूकर को भक्ष्य मान कर एक प्रकार से गो-भक्षण की प्रवृत्ति का जवाब निकाला था।

सिक्ख-मत और हिन्दुत्व

सिक्ख-धर्म और हिंदुत्व, ये दो नही, एक ही धर्म हैं। हिंदुत्व का स्वभाव है कि उस पर जब जैसी विपत्ति आती है तब वह वैसा ही रूप अपने भीतर से प्रकट करता है। इस्लामी हमलो से बचने के लिए अथवा उनका उत्तर देने के लिए हिंदुत्व ने इस्लाम के अखाडे मे अपना जो रूप प्रकट किया, वही सिक्ख या खालसा-धर्म है। सिक्ख-गुरुओ ने हिंदू-धर्म की रक्षा और सेवा के लिए अपनी गरदनें कटायी, अपने जीवन का बलिदान दिया तथा उन्होने अपना जो सैनिक सगठन खडा किया, उसका लक्ष्य भी हिंदू-धर्म को जीवित

एव जागरूक रखना था। इसी कारण, सिक्ख सारे भारतवर्ष मे हिंदुओ के प्रिय रहे हैं।

यद्यपि, गुरु नानक तथा अन्य गुरुओ ने बराबर निराकार की भक्ति पर जोर दिया, किंतु, सिक्ख-सम्प्रदाय कभी भी साकारोपासना का विरोधी नही हुआ। गुरु गोविंद ने वीरता की उमग में आकर 'किसुन-बिसुन' के अस्तित्व से इन्कार तो कर दिया, किंतु, चडी की स्तुति करना वे नही भूले और उन्होंने रामकथा पर भी सुदर खडकाव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिंदू देवी-देवताओ पर काफी श्रद्धा रखते थे। सिक्ख-धर्म-ग्रथ मे लिखा है—

रामकथा जुग-जुग अटल, जो कोई गावे नेत।
स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।

यही नही, हिंदू-समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख-समाज में कम नही हैं। सिक्खो में भी जात-पाँत है, छुआछूत है और विवाह-सबधो पर बहुत-कुछ वैसे ही नियन्त्रण हैं, जैसे हिंदुओ के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमार, ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख-सम्प्रदाय मे भी हिंदुत्व ही एक नया उपसर्ग लगाकर जी रहा है।

किंतु, इतना होने पर भी आज हिंदू और सिक्ख कुछ-कुछ भिन्न समझे जाते हैं, जिसका कारण यह है कि जब अगरेज यहाँ के शासक थे, तब उन्होने हिंदुओ और मुसलमानो के बीच भेद बढाने के साथ-साथ, हिंदुओ और सिक्खो के बीच भी काफी भेद बढा दिये। इस संबध मे, दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपने एक लेख मे लाला सतराम ने लिखा है कि "जब अगरेजो ने पहले सिक्खो को हरा कर पजाब पर अधिकार किया, तो उन्हें सिक्ख-पथ तथा सिक्ख-मत को लोगो की दृष्टि मे तुच्छ तथा हेय दिखलाने की आवश्यकता हुई, जिससे लोग उससे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य से उन्होने ट्रंप नाम के एक विद्वान से सिक्खो के धर्म-ग्रथ का अँगरेजी मे अनुवाद कराया। वह अनुवाद मैंने देखा है। उसमे उसने सिक्ख-मत तथा गुरुओ की खूब खिल्ली उडायी है। उसमे परस्पर-विरोधी बातें दिखला कर ग्रथसाहब को 'एक चूँ-चूँ का मुरब्बा' सिद्ध करने का यत्न किया गया है। इसके बाद, एक समय आया, जब अगरेजो को हिंदुओ तथा सिक्खों के बीच फूट डालने की आवश्यकता हुई। तब उन्होने मेकलाफ नामक एक दूसरे विद्वान से उसी धर्म-ग्रंथ का अनुवाद कराया। उसमें उसने सिक्ख-धर्म को हिन्दुत्व से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया"।

अँगरेजो ने सिक्ख-सत्ता को नष्ट किया और सिक्ख अगरेजो के ही भारी मित्र हो गये, यह भी इतिहास का व्यग्य है। सरदार खुशवत सिंह ने अपनी पुस्तक 'द सिक्ख' में लिखा है कि "लार्ड डलहौजी ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा था, 'सिक्ख-सत्ता का सपूर्ण विनाश मेरा ध्येय है। मुझे सिक्ख-वश को समाप्त करके सारी जाति को अपने अधीन लाना है।

यह कार्य मुझे शीघ्र करना है, सपूर्ण रूप से करना है और इस तरह करना है कि इस सबध मे आगे करने को कुछ भी नही रह जाय। डलहौजी ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही किया"।

सिक्ख-मत हिन्दू-धर्म के धड से वीर-बाँह की तरह निकला था। यह भुजा हिन्दुत्व की रक्षा की भुजा थी। सिक्खो ने जो अपरिमित बलिदान किये, उनका सुफल सबसे अधिक हिन्दुत्व को प्राप्त हुआ। फिर भी, आज हिन्दू और सिक्ख परस्पर लडते हैं क्योकि उनकी लिपियाँ दो हैं। इसे बुद्धि का दिवाला नही तो और क्या कहा जाय ?

प्रकरण ९

कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव

कला की भारतीय परंपरा

भारतीय जीवन चित्रो से सपृक्त है। यद्यपि, सामग्रियो के अभाव मे, प्रत्न के आधार पर, भारतीय चित्रो का इतिहास शृखलामय रूप मे नही रखा जा सकता, फिर भी, सिन्धु-सभ्यता मे रँगे भाण्डो और ठीकरो पर जो चित्रकारी हुई है, वह हमारे, प्राय , पाँच हजार वर्ष पहले के पूर्वजो के चित्र-प्रेम की साख भरती है। इन भाण्डो और ठीकरो पर अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियाँ मिलती है जो, मुख्यत , काले और फीरोजी रगो से बनी है। चित्रित आकृतियो मे वृक्ष तो आते है, किन्तु, पशु-पक्षियो के अकन नही के बराबर मिलते है। मानव-आकृति का कोई चित्र अब तक नही मिला है। अपवाद के रूप मे मोर की पीठ पर नृत्य करती हुई दो मानव-आकृतियाँ है। पशुओ के जो चित्र है, उनमे उनकी जातिगत विशेषताओ का अच्छा अध्ययन उपलब्ध होता है। ये जीव एकचश्म है और ऐसी मुद्रा मे अकित है जिससे वे देव-लोक के जीव मालूम होते है। फिर भी, उनमे पशु-सुलभ बल का अभाव नही है।

सिन्धु-सभ्यता के बाद एक बडा अन्तराल मिलता है, जिसमे चित्रो की ज्ञात सामग्री का सर्वथा अभाव है। हाँ, डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी का कहना है कि वेदो के समय मे भी चित्रो का चलन भारतवर्ष मे था। उनके अनुसार, ऋग्वेद मे अग्नि के चित्र का हवाला है जो चमडे पर बना रहा होगा। इसी प्रकार, यह भी साबित होता है कि उस समय इन्द्र की मूर्त्तियाँ दस गौओ पर बिकती थी। परन्तु, उत्तर-वैदिक-वाङ्मय में हम ऐसे शब्दो को पाने लगते है जो, पीछे चलकर, चित्र के प्रसग मे प्रयुक्त हुए है। इनमे से एक शब्द "छायातप" है जो जगत् के द्वन्द्व को परिलक्षित कराने मे प्रयुक्त हुआ है। जातको मे जिस समाज का वर्णन है, उसे हम चित्रकला से पूर्ण रूप से व्याप्त पाते है। जातको मे शिक्षा के अठारह विषयो का उल्लेख है, जिनमे से चार का पता तो चलता है, बाकी का पता नही चलता। इन चार विषयो मे चित्रकला भी एक थी। ये विषय शिक्षा के अनिवार्य अग थे और उस समय चित्रकला की शिक्षा भी अनिवार्य रही हो तो कोई आश्चर्य नही। राजकुमारो की शिक्षा के लिए तो यह अनिवार्य थी ही। उस समय कलाओ के पूर्ण अभ्यास के बिना कोई भी व्यक्ति पूर्णत शिष्ट और सुसस्कृत नही समझा जाता था। समाज मे चित्रकार का पूरा सम्मान था। हाँ, साथ-साथ एक आन्दोलन भी चल रहा था जिसे हम सुधारवादी अथवा पवित्रतावादी आन्दोलन कह सकते है। इस आन्दोलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि चित्रो का समाज पर इतना

अधिक प्रभाव था कि लोग उनके विरुद्ध सोचने को लाचार हो गये थे। बुद्ध के समय चित्र इतने मोहक बनते थे कि बुद्ध ने भिक्षुओ को चित्र देखने की मनाही कर दी थी। शुक्राचार्य ने भी इसे अस्वर्ग्य अर्थात् सासारिकता मे लगानेवाला कहा है। जान पडता है, बुद्ध के समय शवीह (व्यक्ति-चित्र) बनाने की विद्या पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। फलत, भगवान बुद्ध को अपनी शवीह बनाने और उसकी पूजा करने का निषेध करना पडा। ऐसा निषेध और भी कई धर्मों मे मिलता है।

वात्स्यायन ने कामसूत्र मे चित्र के षट्-अग माने गये है जो निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है —

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्र-षडगकम्।[1]

मानसोल्लास, कुमार-विहार और शिल्परत्न में भी चित्रकला की व्याख्या है। उत्तर-रामचरित में अर्जुन नामक चित्रकार-कृत वन के चित्र का जिक्र आया है। जैन ग्रथ नाय-धम्मकला मे भी एक मनोरजक कथा है जिससे उन दिनो चित्र की बहुलता सिद्ध होती है। विष्णुधर्मोत्तर में तो चित्रकला की विधिवत् सागोपाग व्याख्या ही उपलब्ध है।

चित्रो का विशेष गुण सादृश्य समझा जाता था। परवर्ती साहित्य मे सादृश्य का हमे वही अर्थ मिलता है जो दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान हो। किन्तु, भारतीय कलाकार इतने से ही सतुष्ट नही होते थे। सादृश्य की उपलब्धि हो जाने पर भी चित्र निष्प्राण रह सकते हैं। अतएव, चित्र को जीता-जागता बनाने के लिए उसमें भाव की प्रतिष्ठा की जाती थी। फलत, भारतीय चित्र मे आकृति निश्चल होते हुए भी, निश्चल नही है। वह सवेग है, व्यापार-पूर्ण है। इसकी उत्पत्ति के लिए चित्रकार दृश्य के उस चूडात का अकन करता है जिसमे सारे दृश्य की घटना-शृखला, उसकी प्रत्येक इकाई, सपुटित हो कर, बीज-रूप मे वर्त्तमान रहती है। चूडात के इस अकन मे, अतीत की इकाइयाँ ही नही, भविष्य की इकाइयाँ भी सपुटित हो जाती हैं। यह दृश्य भविष्य की ओर निर्देश करने में समर्थ है, यही उसकी पूर्णता है।

परवर्त्ती साहित्य जिस समाज का प्रतिबिम्ब है, उसमें चित्र का विशिष्ट स्थान मिलता है। प्रत्येक घर चित्र से अलकृत होता था और उसकी भित्ति पर चित्र बने होते थे। भित्ति-चित्र का इस देश मे इतना अधिक प्रचार था कि भित्ति शब्द ही यहाँ चित्रो के आधार के लिए रूढ हो गया, जैसे यूरोप मे चित्र का आधार केनवास समझा जाता है।

किन्तु, भारत के ऊष्मा-प्रधान देश होने के कारण, यहाँ पर अति प्राचीन चित्रो के उदाहरण अब प्राप्त नही हैं। केवल साहित्य के उल्लेखो से ही हम यह जानते हैं कि अति प्राचीन काल मे यहाँ चित्रकला का विकास हो चुका था।

---

१ तत्कालीन चीनी चित्रकार भी इन्ही लक्षणो को मानते थे। पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि ये लक्षण भारत से ही चीन गये होगे।

चित्र तीन प्रकार के फलको पर बनाये जाते थे। प्रथम फलक भित्ति या दीवार थी, जिस पर चित्र बनाने की परिपाटी भारत और इटली में खूब प्रचलित थी। दूसरा फलक चर्म था वस्त्र था, जिस पर चित्र बनाने का काम जापानियो ने बहुत किया था और तीसरा फलक लकडी, ताल-पत्र, पत्थर और हाथी के दांत होते थे। भारत में पुराने चित्रो के उदाहरण दीवारो पर मिलते है एव उनकी अपेक्षा नवीन चित्र तालपत्रो और कागज पर। अन्य चित्रो के उदाहरण अनुपलब्ध हो गये हैं।

भित्ति-चित्र के जो उदाहरण भारत मे उपलब्ध है, उनका वातावरण धार्मिक है। पहाडो को काट कर यहाँ चैत्य, विहार और मदिर बनाने की प्रथा थी एव उन्ही की दीवारो पर गच (पलस्तर) लगा कर चूने-जैसे किसी पदार्थ की घुटाई करके उस पर चित्र बनाये जाते थे। ऐसी गुफाओ में सबसे अधिक प्राचीन गुफा जोगीमारा की गुफा है जो सरगुजा-राज्य (मध्य प्रदेश) की रामगढ पहाडी मे अवस्थित है। यह गुफा ईसा से, कम-से-कम, एक सौ वर्ष पूर्व बनी होगी, ऐसा विद्वानो का अनुमान है।

किन्तु, भारतीय चित्रकला के चमत्कारो का असली खजाना अजंता की गुफाओ मे है। अजता की गुफाओ मे २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूप वाले विशाल भवन) है, जिनमे से तेरह में दीवारो, भीतरी छतो और स्तभो पर चित्र अकित है। इन गुफाओ में से कुछ तो बहुत पुरानी अर्थात् पहली-दूसरी ईसवी पूर्व की है और कुछ चौथी से लेकर सातवी सदी तक की एव उनके चित्र भी इन्ही तीन सौ वर्षो मे बने थे। वस्तुत, इन पहाडियो मे गुफा बनाने का सिलसिला मौर्यो के काल मे ही आरभ हुआ था। किन्तु, बाद के राजे भी उसमे वृद्धि करते गये। "महाराष्ट्र की रमणीक अजता पहाडी में, जिसमे पिछले मौर्यो और सातवाहनो के समय के दो-एक गुहा-मन्दिर थे, वाकाटक राजाओ के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजता की दीवारो पर गुप्त-युग मे, और बाद में, चित्र भी चित्रित किये गये, जिनमे कुछ आज तक मौजूद है। अजता-गुहाओ के ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरणो मे से है।"[1]

अजता के चित्रो के विषय, मुख्यत, बौद्ध धर्म के विषय है। "उनमे गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृ-पोषक-जातक, विश्वातर-जातक, षड्दत-जातक, रुरु-जातक और महाहस-जातक, आदि १२ जातको मे वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास तथा बुद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अकित है।"[2] ऐसे ही बगीचो, जगलो, रथो, राज-दरबारो, घोडे, हाथी, हरिण आदि पशुओ, हस आदि पक्षियो तथा कमल आदि पुष्पो के भी अनेक चित्र है। कई स्थानो पर वृहत्तर भारतीय आकृतियाँ मिली है, जिनमे एक राज-दरबार का दृश्य है। यहाँ राजसभा का पूरा ऐश्वर्य तो है ही,

---

१ इतिहास-प्रवेश

२ मध्यकालीन भारतीय सस्कृति गौ ही ओझा

हमें राजा को उपादान भेंट करते हुए, दो-तीन ईरानी वस्त्राभूषण एव आकृतिवाले पुरुष भी मिलते हैं। इस काल मे, पश्चिमी भारत का ईरान के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सवध था और चालुक्यो के काल मे कूटनैतिक सवध भी स्थापित हो गया था। फलत, विद्वानो ने यह अनुमान लगाया है कि इस दृश्य मे ६२६ ई मे आनेवाले उस दूत का दृश्य अकित हुआ है, जिसे इरानी बादशाह खुसरो ने पुलकेशी की सेवा मे भेजा था। किन्तु इस अनुमान के विपक्ष मे कई तर्क हैं। शैलीगत विशेषताओ को देखते हुए यह छठी सदी के प्रारभ का होना चाहिए। साथ ही, अजता मे अन्यत्र दो-तीन स्थानो पर ईरानी व्यक्तियो का चित्रण केवल विदेशियो को लक्षित करने के लिए हुआ है। अत, यह सभव है कि किसी जातक-कथा से, जिसमें विदेशी व्यापारियों की चर्चा रही हो, यह अकन प्रस्तुत किया गया हो। यह अटकल सबसे पहले डाक्टर मोतीचन्द्र ने लगायी थी और, सभव है, यह ठीक हो।

पर्सी ब्राउन ने नवी और दसवी गुफाओ के चित्रो को प्राचीनतम माना है तथा उनका अनुमान है कि ये गुफाएँ, अधिक-से-अधिक, पहली सदी मे बनी होगी। किन्तु, पहली सदी के होने पर भी, ये चित्र बतलाते है कि उनके पीछे कई सदियो की साधना और परपर विद्यमान है, जिसके उदाहरण अब नही मिलते। इस प्रकार, ब्राउन और ओझाजी के मतो को मिलाये तो अजता के चित्र पहली से लेकर सातवी सदी तक की भारतीय चित्रकारी के नमूने उपस्थित करते हैं। ब्राउन का यह भी विचार है कि दसवी गुफा के चित्रों पर किंचित् गाधार-कला (भारतीय और यूनानी कलाओ का मिश्रित रूप जो टिका नही) का भी प्रभाव है। परन्तु, अब यह तो निश्चित-सा जान पडता है कि जिस समय इस गुफा का चित्रण हुआ, उस समय गाधार-कला का कोई अस्तित्व नही था। पुलकेशी के दरबार वाले चित्र पर वे कुछ ईरानी प्रभाव भी बतलाते है। परन्तु, इसमें दो-तीन विदेशी आकृतियो को छोड, भारतीय परपरा से कही भी पार्थक्य नही है।

अजता की गुफाओ मे जिस कला के उदाहरण हैं, उसी के उदाहरण सिगिरिया (श्रीलका) और बाघ (ग्वालियर, मध्यभारत) की गुफाओ मे भी मिलते हैं। सिगिरिया की चित्रकारी छठी शती के अन्त की है और बाघ-गुफा के चित्र भी छठी या सातवी शती मे बने होगे। अजता, सिगिरिया और बाघ मे जो चित्र उपलब्ध हैं, उन्ही मे हम भारतीय चित्रकला की परिणति के प्रमाण देखते हैं। किन्तु, भारतीय चित्रकला की पूरी सामग्री इतनी ही नही है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ, भारतीय सस्कृति और कला भी भारत से बाहर पहुँची थी। अतएव, सीलोन, जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, खुतन, तिब्बत, जापान, हिन्द-चीन और चीन मे भी, भारतीय चित्रकारी के नमूने उपलब्ध है एव उनके अध्ययन के बिना भारतीय कला का अध्ययन पूरा नही कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार ने सपूर्ण एशिया की आत्मा को एक कर दिया था एव यह एकता एशिया की विभिन्न सस्कृतियो के मूल मे आज भी अनुस्यूत है। बोरोबुदुर (जावा) मे भारतीय कला का

स्मारक जो स्तूप है, उसमे बुद्धदेव के सवध की इतनी अधिक मूर्त्तियाँ है कि उन्हे यदि अगल-बगल विठा दिया जाय तो कतार आठ मील लम्बी हो जायगी। यह कला भारत से जावा गयी थी, किन्तु, आश्चर्य की वात है कि भारतीय कला का जैसा गौरवोज्ज्वल प्रमाण आज जावा मे वर्त्तमान है, वैसा प्रमाण भारत मे भी नही मिलता। भारत की प्राचीन चित्रकला के नमूने भी हमे वृहत्तर भारत मे यथेष्ट सख्या मे मिले है। वोरोवुदुर के समान ही, कवोडिया मे अंगकोर नामक स्थान पर जो भारतीय शिल्प का भग्नावशेष है, उससे यह कल्पना आसानी से लगायी जा सकती है कि एक समय कवोडिया, चम्पा, अन्नम और तोकिन मे भारतीय सभ्यता का प्राधान्य था। इन भूभागो मे केवल भारतीय मूर्त्तियाँ और मन्दिर ही नही, वहुत-से चित्र भी वने होगे, जिनके प्रमाण ढूंढने पर वहाँ अवश्य मिलेगे।

गुप्त-काल के वाद से हमारी चित्रकला का, धीरे-धीरे, ह्रास प्रारभ हुआ, जिसके क्रमिक उदाहरण हमे वेरुल (औरगावाद) वादामी (अइहोल, वम्वई राज्य), सित्तन-वासल (पुदुदु कोट्टा, मैसूर राज्य) एव दक्षिण के अनेक मदिरो से मिल सकते है। इन सव का अभी तक विस्तृत विवरण और अध्ययन अपेक्षित है। अकेले वेरुल मे उत्तर गुप्त-काल से लेकर १४ वी-१५ वी सदी तक, शृखलित रूप मे, चित्रो के पाये जाने की सभावना है। चित्रो का यह इतिहास, पर्त-पर-पर्त, कालिख और अन्धकार से दवा हुआ है। जहाँ-जहाँ यह आवरण खुलकर गिर गया है, वहाँ-वहाँ से हमे उन भले-विसरे दिनो की चित्रकला की झाँकी मिल जाती है। किंतु, चित्रो का असली भाडार तो अभी भी अलभ्य है। आश्चर्य का विपय है कि वेरुल के चित्रो की किसी ने भी सुव नही ली। यहाँ के चित्रो का विपय ब्राह्मणत्व है। इन चित्रो मे हम देखते है कि अजता की सुकोमल और मृदुल शैली मे अव जकडवन्दी शुरू हो गयी है। आँख शून्य मे अटक रही है एवं हनु और नाक नुकीली होने लगी है। प्राय, आठवी सदी तक रेखाओ मे वेग और आकृतियो मे सजीवता है। परन्तु, उसके वाद ह्रास और भी अधिक वढता है।

फलत, इस वीच दक्षिणी मदिरो मे हमे जो प्रमाण मिलते है, उनमे चित्रकला का अपभ्रंश-रूप स्थिर हो जाता है। उत्तरी भारत में इस प्रकार के भित्ति-चित्र केवल ललितपुर के अन्तर्गत मदनपुर नामक स्थान से प्राप्त हुए है। पर, यह नि सकोच कहा जा सकता है कि पालवशी राजाओ के विहार-वगाल राज्य एव नेपाल को छोडकर, चित्रो का यह अपभ्रंश-रूप सारे देश मे व्याप्त हो गया था। इतना ही नही, इसका प्रभाव वृहत्तर भारत मे भी यत्र-तत्र मिलता है।

इसी परपरा मे हमे, ११ वी शती के अन्त से वे चित्र मिलने लगते है, जिन्हे जैन विपयो की अधिकता के कारण, जैन-शैली अथवा क्षेत्रगत-दृष्टि से गुजरात या पश्चिमी भारतीय शैली के चित्र कहते है। परन्तु, यह नाम ठीक है या नही, यह नही कहा जा सकता, क्योकि पश्चिमी भारत मे इस शैली का न तो जन्म ही हुआ, न यह वही तक सीमित रही थी।

फलत , इसके लिए अपभ्रंश-शैली से अधिक समुचित नामकरण नही हो सकता, क्योकि इस शैली में जो कुछ है, वह अजतावाली गुप्तकालीन कला का ह्रास-मात्र है, जो मध्यकाल की निश्चित विशेषता थी। यह क्रम १६ वी शती तक चला, जब इस शैली मे एक बार फिर काफी सजीवता आ गयी।

देश की शिक्षा-सस्कृति पालो के समय में बहुत-कुछ सुरक्षित रही। अत , इस काल मे यहाँ जो चित्र बने, वे अपेक्षाकृत बहुत ही उत्तम कोटि के थे। उनके वर्ण-विधान, रेखाओ और आकृतियो मे अजता की झलक मिलती है। परन्तु, ये चित्र, मुख्यत , एकाकृति वाले है। इनमे बडे दृश्यो या घटनाओ का अभाव है। फलत , महायान बौद्ध धर्म की जो गिनी-चुनी आकृतियाँ मिलती है, वे परपरा से आबद्ध है, उनमे स्वतत्र कल्पना का अभाव है। फिर भी, इन चित्रो की मृदुलता दर्शनीय है।

१३ वी सदी के बाद भी इस शैली के छिट-पुट उदाहरण मिल जाते है, किंतु, उनमें पहलेवाली श्री नही है। यही दशा इसकी नेपाल में थी। परन्तु, इसके बाद, वहाँ भी इसका ह्रास प्रारभ होता है। परवर्त्ती तीन-चार सदियो तक वहाँ इस शैली में चित्र बनते रहे, पर वे अधिकतर निष्प्राण थे।

इस काल मे, अजता की परपरा कही जीवित मिलती है तो तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान मे। खुतन (पूर्वी तुर्किस्तान) बहुत काल तक हिन्दू राजाओ के अधीन रहा था ,ौर ये राजे वहाँ हिन्दू कलाओ का भी प्रचार किये हुए थे। इस सबध मे जो शोध हुए है, उनसे मालूम होता है कि खुतन में यूनानी, भारतीय, ईरानी और चीनी, चारो कलाओ के मिश्रण से एशियाई कला एक नया रूप ले रही थी। इस प्रात मे भित्ति-चित्र के जो उदाहरण मिले है वे, अधिकाश मे, अजता-कला के अनुकरण है और उनसे यह बात भली-भाँति प्रमाणित होती है कि जिस काल में भारत मे भारतीय कला के उदाहरण नही मिलते, उस काल मे, पडोस के देशो मे, यह कला कैसे फैल रही थी। यही परपरा सातवी-आठवी दयी के बाद तिब्बत मे भी जीवित मिलती है। तिब्बत के मदिरो और विहारो में भित्तियो पर जो चित्र है, वे बुद्धदेव के सबध के है और उनका निर्माण अजता-शैली पर हुआ है।

मुस्लिम-आगमन के बाद

जब पाठान इस देश में आये, तब कला का यहाँ पूर्ण ह्रास हो चुका था। स्वभावत , इस अर्द्धसभ्य जाति को चित्रकला से कोई रुचि नही थी और देश की आन्तरिक अस्त-व्यस्तता के साथ-साथ केन्द्रीय राज्याश्रय के अभाव मे चित्रशैली का पुनर्जन्म नही हो सका, जो १६ वी सदी के अन्त मे, महामना अकबर के हाथो होनेवाला था। इस समय पुरानी परपराएँ और पुराने रूप अपभ्रष्ट हो चुके थे ; पर, साथ ही, उनमे एक नयी सप्राणता आविर्भूत हो रही थी। फलत , अपभ्रश-शैली के इस स्थल पर हम रूपो में भले

ही ह्रास पायें, परन्तु, उनमे कही-कही ऐसी सजीवता है, जो उसे लोक-शैलियो के निकट ला देती है, मानो, वह एक नयी शैली को जन्म देने के लिए विकल हो रही हो। इस तरह, राज्याश्रय के अभाव में, चित्र लोक-जीवन के और निकट हो गया।

इस्लाम मे मूर्त्ति-पूजा सबसे भयानक शिर्क मानी जाती थी। इससे यह सिद्धान्त निकल आया कि मूर्त्ति और चित्र-रचना भी शिर्क हैं। १४ वी सदी के लेखक मौलवी नबी ने लिखा है कि, इस्लाम-धर्म के अनुसार, ईश्वर की सृष्टि का अनुकरण करके तस्वीरें बनाना गुनाह का काम है। इसलिए, जो लोग भी कपडे, कालीन, सिक्के या बरतन पर चित्र बनाते है, वे इस्लाम के नियम से गुनहगार हैं। इस निषेध का परिणाम यह हुआ कि साधारण मुस्लिम-सभ्यता मे मूर्त्ति-शिल्प और चित्रकारी को कभी भी प्रधानता नही मिली। मुसलमानो ने चित्रो और मूर्त्तियो का केवल भजन ही नही किया, सामान्य मुस्लिम-जनता ललित कला मात्र से उदासीन रहने लगी।

बाद के इस्लाम में जो उदारता आयी, वह ईरान के प्रभाव के कारण। कई सौ वर्षों तक ईरानी प्रभाव को पचाने के बाद, इस्लाम की आरंभिक कट्टरता बहुत-कुछ कम हो गयी और मुसलमान स्वय शेख और मुल्ला की खिल्ली उडाने लगे। इसी भावना से प्रेरित मुस्लिम-समाज कलाओ की ओर भी आकृष्ट हुआ एव चित्र और सगीत, ये वर्जित नही रहे। मोगल-काल तक आकर, भारत मे हिंदुत्व का प्रभाव भी इस्लाम की उदारता का कारण हुआ। इसके सिवा, जब बादशाह अपनी जीवनियाँ लिखवाने को उद्यत हुए, तब चित्रकारी का त्याग करना असभव हो गया। मोगलो के कला-प्रेम का एक कारण यह भी था कि तैमूर के वंशजो ने ईरान और तुर्किस्तान में कला की अच्छी उन्नति की थी। तैमूर-वश का नाम कला के जागरण से सबद्ध माना जाता है। बाबर इसी वंश की सतान था। अतएव, उसके वशजो मे कला का प्रेम जागा, यह कोई आश्चर्य की बात नही थी।

कुरान मे कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियो के चित्र बनाता है, वह सृष्टि के रचयिता के काम में दखल देता है। कयामत के दिन भगवान उससे कहेंगे कि तू ने मेरी बराबरी करना चाहा था। अतएव, अपने चित्रो में जीवन डालकर अपना काम पूरा कर। और जब चित्रकार यह काम नही कर पायेगा, तब भगवान उसे नरक भेज देंगे।

यो तो चित्रो की ओर सबसे पहले ध्यान हुमायूँ ने ही दिया था, किन्तु, कुरान की इस शिक्षा का तर्क-सम्मत खडन अकबर ने किया। उसने कहा कि बहुत-से लोग चित्रों से घृणा करते है, किन्तु, मै ऐसे लोगो को नापसद करता हूँ। मेरा ख्याल है, ईश्वर को पहचानने का चित्रकारो का अपना अलग ढग होता है। चित्रकार जब जीवित प्राणियो के चित्र बनाता है, तब अवयवो को तो एक-एक कर वह यथा-स्थान बिठा देता है, किंतु, सबके अन्त में, वह यह सोचे बिना नही रह सकता कि मूर्त्ति में प्राण डालने का काम भगवान

ही कर सकते हैं। इस प्रकार, चित्र बनाते-बनाते वह ईश्वर की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है।"[1]

मोगल-शैली

जो कला भारत में मोगल-कलम कही जाती है वह वास्तव में, भारतीय चित्र-शैली है। अब यह निश्चित हो गया है कि अकबर से पहले मोगलो के समय मे जो चित्र-शैली थी, वह ईरानी थी। शेरशाह से हारकर हुमायूँ जब भारत से भागा, तब कोई दस साल तक वह ईरान के बादशाह तहमास्प का मेहमान रहा था। वहीं उसने ईरानी चित्र-कला से परिचय प्राप्त किया और जब वह ईरान से भारत लौटा, तब पहले-पहल उसी ने अब्द-अल-समद और मीर सईद अली नामक दो चित्रकारो को ईरान से भारत बुलाया। ये दोनो चित्रकार भारत में ईरानी शैली के प्रचारक हुए। इनके चित्र मोगल-कलम के चित्र नही हैं। मोगल-कलम तो शुद्ध भारतीय कलम थी और उसके जन्म के लिए अकबर-जैसे भारतीयता-प्रेमी, उदारचेता एव कल्पनाशील व्यक्ति की आवश्यकता थी। अकबर के ये सभी गुण अकबरी चित्रो मे प्रतिफलित मिलते हैं। अकबरी चित्रो में से अधिकाश चित्र भारतीय एव प्राचीन हिन्दू-धर्म से संबद्ध हैं। दूसरी ओर, उनके चित्र-कारो मे, कुछ अपवादो को छोडकर, सभी भारतीय हैं, जिनमे हिन्दुओ की सख्या अधिक है। बाकी चित्रकार भारतीय मुसलमान हैं जो उन प्रदेशो से भी आये थे, जहाँ मध्यकाल मे चित्रकला के प्रसिद्ध केन्द्र थे। बहुत संभव है कि उक्त काल मे चित्रकारो की एक अलग जाति बन गयी हो, जो शूद्र-वर्ग के अन्दर थी, जैसे अन्य अनेक कारीगर-जातियाँ, रगरेज, जुलाहे आदि हैं। इस्लाम के प्रचार के समय ये जातियो की जातियाँ ही मुसलमान हो गयी। सभवत , तभी, आरभिक राजस्थानी शैली मे चित्रकारो के बहुतेरे नाम हमे इस्लाम-परक मिलते हैं, जबकि उनकी चित्र-शैली सर्वथा पारपरीण थी।

तैमूर-वंशी राजाओ के आश्रय में ईरानी कला ने पन्द्रहवी सदी मे सबसे ऊँची उडान ली थी। खुरासान के बादशाह सुलतान हुसेन के राज्य-काल में कमाल उद्दीन बेहजाद नामक चित्रकार हुआ, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। बाबर ने अपनी आत्म-कथा मे बेहजाद को दुनिया का सबसे बडा चित्रकार कहा है। जब अकबर का ध्यान चित्रकला को प्रोत्साहित करने की ओर गया, उसने बेहजाद के शिष्यो को भारत बुलाया और उन्ही कलाकारो ने भारत मे मोगल-कलम की नीव डाली। अकबर और जहाँगीर के समय अनेक विदेशी चित्रकार यहाँ के शाही दरबार में थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। अबुल फजल ने आईने-अकबरी में कलमक के फर्रख, शीराज के अब्दुल समद और तबरेज के मीर सईद अली (समद और मीर सईद हुमायूँ के लाये हुए थे) के नाम लिये हैं।

---

१ कोर्ट पैंटर्स आव् द ग्राण्ड मोगल्स (लेखक—आर्नाल्ड और विनोयन)

जहाँगीर के दरबार मे समरकन्द से भी चित्रकार आये थे। अकबरी दरबार के चित्रकारो मे दसवन्त, बसावन, मुकुन्दलाल और केशवदास के नाम भी बहुत प्रसिद्ध है।

अकबर के समय मे जिस कला का बीज-वपन किया गया, वह जहाँगीर के समय मे बढकर विशाल हो गयी। मोगल-दरबार मे चित्रकारी की जो लहर उठी, उससे मोगल-कुतुब-खाना पुस्तको ही नही, चित्रो का भी आगार बन गया। हिन्दुस्तान की सभी बडी-बडी रियासतो मे मोगल-कुतुबखानो के अवशेष मिलते है, जिनमे तत्कालीन चित्रो के नमूने भी उपलब्ध है। अकबर ने महाभारत का जो अनुवाद करवाया, उसके लिए हजारो चित्र बनवाये गये थे। इसी प्रकार, योग-वाशिष्ठ के फारसी अनुवाद के लिए भी बहुत-से चित्र बनवाये गये। मोगल-कालीन चित्रो के अधिक नमूने हिन्दुस्तान से बाहर चले गये। तब भी, देश के सार्वजनिक और वैयक्तिक सग्रहालयो मे कुछ सामग्रियाँ अब भी मौजूद है। जयपुर दरबार के पोथीखाने मे सचित्र रम्जनामे की सम्पूर्ण प्रति है। पटने की खुदाबख्स लाइब्रेरी मे "तारीखे तैमूरी" की प्रति है, जिसमे बहुत-से चित्र है। ये दोनो कृतियाँ अकबर की बनवायी हुई है।

अकबर के समय पचतत्र का फारसी अनुवाद ऐयारे-दानिश के नाम से अबुल फजल ने तैयार किया था। पचतत्र का एक दूसरा अनुवाद अनवार-सुहेली के नाम से भी प्रचलित था। इन दोनो पुस्तको की भी कई सचित्र प्रतियाँ मिली है। मोगल-दरबार मे जो चित्र-शैली जनमी थी, वह स्वतत्र नही रहकर बहुत-कुछ दरबारी हो गयी। दरबारी चित्रकला के सबसे अच्छे नमूने अकबरनामा, बाबरनामा आदि है।

अकबरी चित्रो मे भारतीयता बहुत अधिक है। परन्तु, कही-कही, आकृतियो मे, रगो में एव बाहरी नक्काशियो मे ईरानी परपराएँ चली आयी है। कही-कही तो चीनी तत्त्व भी वर्त्तमान है। अकबर के समय मे चित्रो की बडी उन्नति हुई, जो उनकी पुष्ट रेखाओ, मीने-जैसे दबीज रगो एव प्रवेगपूर्ण तथा प्रकाण्ड आलेखनो से स्पष्ट है। स्वर्ग, पाताल, दानव-लोक, परी-लोक, तिलिस्म, ऐयारी आदि के बडे-बडे दृश्यो के अकन में जितना अकबरी चित्रकार समर्थ हुआ है, उतना और कोई नही। भारतवर्ष मे चित्रकला का ऐसा ज्वलन्त रूप बहुत दिनो के बाद देखने में आया।

जहाँगीर यो चित्रो का बडा प्रेमी था, किन्तु, उसमे अकबर-जैसी मर्मज्ञता नही थी। ईरानी चित्रकारो की सगति से उसके समय मे चित्रो मे नफासत और बारीकी बहुत बढ गयी। जहाँगीर की आत्मकथावाले चित्रो के कुछ दृश्यो को छोडकर इस काल के चित्र दरबार या बादशाहो से ही सबद्ध मिलते है। जहाँगीर प्रकृति का भी भारी प्रेमी था। फलत, उसके समय मे फूलो और पशु-पक्षियो के भी बडे ही श्रेष्ठ चित्र बने। इन चित्रो में प्रकृति-निरीक्षण उत्तम कोटि का हुआ है, साथ ही, उनमे आलेखन की सुकुमारता भी है।

शाहजहाँ का ध्यान स्थापत्य की ओर अधिक रहा था, फिर भी, उसके समय के चित्रो-

में हम मोगल-चित्रो के गौरव की पराकाष्ठा पाते है। इस काल में बारीकी और नफासत की जितनी आराधना हुई, उतनी और कभी नही हुई थी। फलत, इस काल के चित्र मीने-जैसे दीखते है। परन्तु, यह सब शाही शान का अग-मात्र था। उन पर चित्रकार के व्यक्तित्व की कोई छाप नही है, मानो, वे आज्ञानुर्वातता मे तैयार हुए हो। उन चित्रो में मात्र दरबार के दृश्यो से दर्शको का जी ऊबने लगता है, दरबारी जकडबन्दी के कारण हम भी अपने-आपको शाही प्राचीरो में घिरा पाने लगते है। इससे मुक्ति यदि मिली है तो सतो के चित्रो मे जो मोगल-शैली की पुरानी प्रवृत्ति है।

शाहजहाँ के बाद औरगजेब का समय आया और मोगल-कला इसी काल में समाप्त हो गयी। डा० आनन्दकुमार स्वामी ने सत्य ही कहा है कि मोगल-कला का उद्भव, विकास और ह्रास, केवल दो सौ वर्षो में पूरा हो जाता है।[1] शाहजहाँ के राज्य-काल की समाप्ति के साथ मोगल-कलम का गौरव घटने लगा। औरगजेब ने ललित कलाओ के प्रति उपेक्षा की जो नीति बरती, उससे निराश होकर कलाकार दिल्ली छोडकर देश में इधर-उधर बिखर गये। अवध, बिहार, बगाल, राजपूताना और दक्षिण भारत, जिसे जहाँ आश्रयदाता अमीर मिल गये, वह वही जा बसा। इस छिन्न-भिन्नता का एक परिणाम यह हुआ कि जो कलाकार जहाँ बस गये, वे वहाँ की स्थानीय विशिष्टताओ को अपनी कृतियो मे प्रधानता देने लगे और, इस प्रकार, देश मे भौगोलिक नामो के साथ अनेक शैलियाँ चल पडी।

राजस्थानी-शैली

१५-१६ वी शती मे मालवा और राजस्थान सस्कृति, शाति और सुव्यवस्था के केन्द्र थे। फलत., ऐसा विश्वास करने का कारण है कि १६ वी शती में ही यहाँ एक नयी शैली का जन्म हुआ, जिसके कुछ निश्चित दृश्य अकबरी हम्जानामा मे मिलते है। १७ वी शती से यह शैली राजस्थान के अनेक केन्द्रो मे विकसित हुई, जिनमें मेवाड मुख्य है। विषय की दृष्टि से इस शैली मे, मुख्यत, राग-माला, नायिका-भेद, कृष्ण-लीला, बारहमासा आदि कथाचित्र बने है। चूँकि यह शैली परपरावादी एव अलकारिक और वर्ण-विधान मे अपभ्रश के अत्यत निकट है, अत, इस शैली को हिन्दू-शैली मानकर इसकी बहुत पूजा हुई है, परन्तु, उसके आरभिक चित्रकारो मे मुस्लिम नाम ही अधिक है।

१७ वी शताब्दी के अन्त में इस शैली मे अलकारिता कम होने लगी एव इसका वर्ण-विधान भी अपेक्षाकृत कम तीखा हो गया। इस काल में इसके चित्रो की सख्या असख्य ही कही जा सकती है। इसी समय इसके अनेक केन्द्रो यथा मेवाड, बीकानेर, जोधपुर, बूँदी, आदि का पर्याप्त विकास हुआ।

---

१ दे० इडियन सोसाइटी आव् ओरियटल आर्ट, कलकत्ता के समक्ष सन् १९१० ई० में "मोगल आर्ट एण्ड राजपूत-पेण्टिग" पर दिया गया भाषण।

१८ वी शती के मध्य मे जयपुर-केन्द्र ने भी प्रमुखता प्राप्त की और वहाँ बहुत ही भाव-पूर्ण चित्र बने, जिनमे रग बहुत ही आकर्षक और कलम सधी हुई है। इसी समय किशनगढ-शैली भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची।

१९ वी सदी मे राजस्थानी-शैली का ह्लास हो गया, परन्तु, वह किसी-न-किसी रूप में आज भी जीवित है।

पहाड़ी कलम

राजपूताने मे जैसे चित्र मिलते है, बहुत-कुछ वैसे ही चित्र (बल्कि, उनसे भी अधिक वेधक) पजाब की हिमालय की तराइयो मे भी मिलते हैं। काँगड़ा-राज्य मे बहुतायत से मिलने के कारण, इन चित्रो का नाम काँगड़ा-कलम दे दिया गया था। इस कलम के, प्राय, सभी नमूने नूरपुर, बसोहली, चम्बा और जम्मू मे मिले है, जो स्थान काँगड़ा से बहुत समीप हैं। इस शैली की परिपक्वता के प्रमाण अठारहवी सदी के अपरार्द्ध से मिलने लगते है, जिससे यह अनुमान होता है कि मोगल-कलम के चित्रकार जब दिल्ली से हटने लगे, तब उन्ही मे से कुछ लोग तराइयो में चले गये तथा वहाँ राजपूत-कलम की जो परपरा पहले से विद्यमान थी, उसमे मोगल-कलम का पुट डालकर उन्होने पहाडी नामक एक नयी कलम का विकास किया। उन्नीसवी सदी मे यह कलम तराई से बाहर निकली और अन्य राज्यो मे भी वर्द्धन और विकास पाने लगी। लाहौर और अमृतसर के सिक्ख राज-दरबारो मे पहाडी कलम को प्रश्रय मिला था एव पजाब के बहुत-से व्यक्तियो के पास इस कलम के चित्र पाये गये हैं। पहाडी-कलम राजपूत-कलम की दीर्घजीविनी परंपरा थी।

कुछ लोगो का यह भी कहना है कि अजता ने चित्र की जो परपरा स्थिर की थी, वह मरी नही थी, प्रत्युत, लोक-जीवन में घुल-मिलकर जीती चली आ रही थी। वैष्णव-मदिरो और राजभवनो में उसी के अनुकरण पर भित्ति-चित्र बनते आ रहे थे। जब अकबर ने ईरान से चित्रकार बुलवाये, तब आरभ मे तो उनके चित्र भारतीय रहे, किंतु, धीरे-धीरे ईरान की पुस्तकालेखन और लघुचित्रकारीवाली परपरा का मेल यहाँ की भित्ति-चित्रवाली परपरा से हो गया और, इसी सामजस्य से, मोगल-कलम का जन्म हुआ। यह मोगल-कलम जब राजपूत-कलम से मिलकर और अधिक भारतीय हो गयी, तब पहाडी-कलम का विकास हुआ।

पहाडी-शैली में एक ओर मोगल-शैली की परिपक्वता और दूसरी ओर भावना-पूर्ण चित्रवस्तु, इन दोनो तत्त्वो के मिलने से एक ऐसी उपलब्धि हुई है, जो भारतीय चित्रो के लम्बे इतिहास मे, अजता को छोडकर, बेजोड है। यहाँ चित्रकार उन्मुक्त वातावरण मे आ गया है, जहाँ विलास एव मोगलो के अन्त.पुर के सीमित वातावरण से मुक्ति पाकर उसकी कल्पना अनजान ऊँचाई तक उड सकी है।

पहाडी चित्रो का विषय अत्यन्त विस्तृत है। इन चित्रो मे भारतीय

ग्रंथ चित्रित हुए होंगे। पर, पहाड़ी चित्रों का सबसे मनोहर रूप कृष्णलीला के चित्रों में है। यहाँ बाल-सुलभ स्वभाव का जितना शिष्ट रूप चित्रकारोंने अंकित किया है, वह सूर के काव्य की तुलना में किसी प्रकार उन्नीस नहीं ठहरता।

शृंगार के कोमल पक्षों का जैसा निरूपण पहाड़ी शैली के अन्तर्गत नायिका-भेद के चित्रों में मिलेगा, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। आलेखन की कोमलता, आकृतियों की मृदुलता, हल्के और आकर्षक वर्ण-विधान, रेखाओं की सजीवता और, सर्वोपरि, बहुत ही सजीव दृश्य, ये यदि एक साथ कहीं मिलते हैं, तो पहाड़ी चित्रों में। इस प्रकार, ब्रजभाषा के चरमोत्कर्ष के समानान्तर यदि चित्रों में आन्दोलन था, तो पहाड़ी शैली का। वह यथास्थान वज्रादपि कठोराणि भी है, और मृदूनि कुसुमादपि भी।

अँगरेजों के आने के बाद जब एक स्थान से दूसरे स्थान का संपर्क बढ़ने लगा, तब पहाड़ी अथवा काँगड़ा-कलम की व्यक्तिगत विशेषताएँ भी घटने लगीं। फिर कलाकारों के वंशज भी कला-सेवा को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करने लगे। किन्तु, सब से भयानक बात यह हुई कि सन् १९०५ ई० में जो भूकम्प आया, उसमें काँगड़ा नगर विध्वस्त हो गया तथा केवल पहाड़ी कलम ही नहीं, उस कलम के बहुत-से कलाकार भी भूकम्प में नष्ट हो गये।

हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की विशेषताएँ

जातियों का जैसा दार्शनिक विश्वास होता है, वैसी ही उनकी कला और वैसे ही उनके कर्म भी होते हैं। हिन्दुओं का विश्वास शरीर पर कम, आत्मा पर अधिक रहा है। गीता ने जिस स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ अथवा कूटस्थ पुरुष का वर्णन किया है, वही भारतवासियों की कल्पना का आदर्श पुरुष है एवं उसी पुरुष के स्वभाव की अनुभूति एवं प्राप्ति को यहाँ के लोग अपना जीवनादर्श मानते हैं। कला के अन्यतम आचार्य डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने लिखा है कि "भारतीय धर्म का सर्वसम्मत सिद्धांत यह है कि कर्म में अनासक्ति होनी चाहिए। जीवन का यह ध्येय जो शब्दों में वर्णित है, वही यहाँ की मूर्त्तिकला एवं चित्रकला में अभिव्यक्त हुआ है। इन मूर्त्तियों और चित्रों में जब भी कोई देवता या मनुष्य किसी कार्य में रत दिखाया जाता है, तब उसकी आकृति पर अविचलित शांति की आभा वर्त्तमान रहती है। चित्र ध्वमक धर्मपाल का हो अथवा आलिंगन में आबद्ध पुरुष और प्रकृति का अथवा समाधिस्थ बुद्ध का, किन्तु, शांति की यह मुद्रा सर्वत्र विद्यमान मिलेगी। भारत की मूर्त्तियाँ और भारत के चित्र, सर्वत्र ही और, कदाचित्, अज्ञात भाव से इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि सारे कार्यों में काम केवल शरीर करता है, आत्मा सदैव गंभीर, अविचल एवं, अनासक्त रूप से, अलग खड़ी रहती है, मानो, वह द्रष्टा हो, मानो, वह कोई नाटक देख रही हो जिस नाटक की अभिनेत्री भी स्वयं वही है।"[१]

१. आर्ट एण्ड स्वदेशी : आनन्दकुमार स्वामी

लियोनार्डो द विन्सी ने एक स्थान पर कहा है कि "चित्रो मे सर्वोत्तम चित्र वही होता है, जो रूप मे जीवन डालनेवाले उद्वेगो को अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति देता हो।"[१] भारतीय परपरा मे शरीर जड और आत्मा चेतन मानी जाती है। अतएव, यहाँ के चित्रो और मूत्तियो मे आत्मा के गुणो की जैसी अभिव्यजना हुई है, वैसी शरीर के गुणो की नही। जीवन के वस्तुनिष्ठ रूप को भारतवासी उपेक्षा की वस्तु मानते रहे है एव उनका सारा ध्यान उसके आत्मनिष्ठ रूप पर केन्द्रित रहा है। हमारी मूत्तियो मे शरीर के अवयव शोर नही करते। वे शात भाव से, परस्पर मिले हुए, दिखलाये जाते है। यहाँ की मूत्तियो का जो असली प्रभाव है, उसे हम एक प्रकार की अनिर्वचनीय नि शब्दता की सज्ञा दे सकते है। हमारी अनेक बुद्ध-प्रतिमाओ के मुख पर जो रहस्यपूर्ण प्रसन्नता एव मुस्कान की आभा मिलती है, वह उन लोगो के लिए स्वाभाविक है जो आत्मनिष्ठ जीवन के विश्वासी है। आत्मा के चित्रण की जो परपरा इस देश मे वढी, वह केवल देवताओ की मूत्तियो तक ही सीमित नही रही, प्रत्युत, उसका प्रतिविम्व हम सतो, राजाओ, यहाँ तक कि कामिनी नारियो की मूत्तियो और चित्रो मे भी देखते है।

दैवी आदर्शो को मानवीय रूपो मे पचाने का यहाँ जो प्रयास हुआ है, उससे यहाँ की मूत्तियो और चित्रो का व्यक्तित्व बहुत-कुछ निर्वैयक्तिक हो उठा है। यह सुरम्य निर्वैयक्तिकता भारतीय कला की सबसे वडी विशेपता है। पाश्चात्य आलोचको में से कइयो ने भारतीय मूत्तियो और चित्रो पर यह आरोप लगाया है कि उनमे गति और चरित्र-चित्रण का अभाव है। इस आरोप का कारण यह है कि ये आलोचक गति और चरित्र के जो अर्थ लगाते है, भारतीय कलाकारो के सामने उनके वे ही अर्थ नही थे। वस्तुत:, यहाँ के कलाकार फोटोग्राफर नही, सच्चे अर्थो मे चित्रकार थे एव वे उन गतियो और चरित्रो का चित्रण करते थे, जो सामान्य जीवन मे भले ही उपलव्ध न रहे हो, किंतु, जिन्हे जीवन में उतारने का लक्ष्य यहाँ के सतो, दार्शनिको और कलाकारो, सवके सामने मौजूद था। ऐसी आलोचनाओ का कारण यह है कि इस युग मे जीवन की अनुकरणशीलता कला का मुख्य गुण मान ली गयी है एव विज्ञान और कला के उद्देश्य परस्पर उलझ-से गये है।[२] प्रकृति के वस्तु-निष्ठात्मक रूपो का चित्रण एशियाई कला का ध्येय नही रहा है। इसका ध्येय तो ध्वनि, सकेत और विशिष्ट भावो को प्रमुखता देना है। यह कला केवल उन्ही तत्त्वो पर जोर देती है, जिन्हे वह जीवन की मूल-वास्तविकता से सम्वद्ध मानती है और, इस प्रक्रिया मे, अपने विश्वासो के निकट पहुँचने के प्रयास मे, वह प्रकृति के रूपो को कुछ मोड-मार कर भी अपना काम निकालती है।

लियोनार्डो की एक दूसरी उक्ति यह है कि "अच्छे चित्रकारो को दो वस्तुओ का

१ That drawing is best which, by its action, best expresses the passion that animates the figure

२ आन् द स्टडी आव् इडियन आर्ट आनन्दकुमार स्वामी

चित्रण करना पडता है। एक वस्तु है मनुष्य की देह और दूसरी उसकी आत्मा की आकाक्षा। देह का चित्रण, फिर भी, अपेक्षाकृत सरल कार्य है, किन्तु, आत्मा की आकाक्षा का चित्रण कठिन होता है, क्योकि इस निराकार विषय को भी चित्रकार को अगो के घुमाव एव अवयवो की प्रवृत्ति के द्वारा ही चित्रित करना पडता है।" और यही वह क्षेत्र है जिसमे भारत का कलाकार दुनिया में अपना सानी नही रखता। "सीलोन मे स्थित सुन्दर-मूर्त्ति-स्वामी की आकृति मे जो उत्सुकता का भाव है, वह बडा ही उत्कट एव जो आश्चर्य का भाव है, वह अतुलित आनन्द से पूर्ण है। इन दोनो के मिश्रण से मूर्त्ति मे जो सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है, वह अत्यन्त अद्भुत एव अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार, ध्यानी बुद्ध की मुद्रा मे केवल शाति ही नही है, प्रत्युत, उस शाति के भीतर एक प्रकार की गति भी विद्यमान है। तथा धर्मपाल (यमराज) के चित्रो और मूर्त्तियो मे भी स्थिरता के वातावरण मे अनिलावर्तो की गति भरी हुई है। यूरोप के लोग मानव-रूप को केवल मुखाकृति मे देखते है एव शरीर को उसका सहायक मात्र मानते है। यहाँ तक कि यूरोप के कलाकार हाथ-जैसे प्रमुख अवयव को भी ठीक से नही देख पाते। किंतु, सच्चे मूर्त्तिकार के लिए मनुष्य केवल मुख ही नही होता, वह तो पर्वत के समान एक इकाई होता है, जिसमें मुख भी एक अवयव के स्थान का अधिकारी है।"[1] मुख्य वात यह है कि जो लोग कला मे केवल मनुष्य की देह का प्रतिफलन देखना चाहते है, उनके लिए भारतीय मूर्त्तियो और चित्रो में उसका अभाव है। किन्तु, जो चाहते हैं कि कला मनुष्य पर ही नही रुके, कुछ उस कल्पना की भी झाँकी दिखलाये, जो मनुष्य के दृश्य रूपो से परे है, उनके लिए भारतीय मूर्त्तियाँ और भारतीय चित्र अजस्र आकर्षण के स्रोत है।

अजता और सिगिरिया (सिंहगिरि, सीलोन) में जो चित्र हैं, वे ऊपर के लक्षणो से पूर्णरूप से युक्त हैं तथा मोगल-काल मे राजपूत-कला के जो उदाहरण मिलते है, उनकी भाव-धारा भी अजता के उत्स से फूटकर आगे वढती दिखायी देती है। राजपूत-कलम के चित्रो की प्रशस्ति मे अवुल फजल ने कहा था कि "वस्तुओ के विषय में हमारा जो ज्ञान है, ये चित्र उससे वहुत आगे का सकेत करते हैं। हिंदुत्व के सयम और वैराग्य, पवित्रता और योगाचार तथा कोमलता और क्रोध, सवका सम्यक् प्रतिनिधित्व इन चित्रो में हुआ है।"

ईरानी कला, मुख्यत, पुस्तको को सचित्र करने की कला थी, जिसमे चमकदार रगो के साथ बहुत काफी सोने की मिलावट रहती थी। इसके विषय भी सीमित होते थे। लडाई, मद्यपान और प्रेम के चोचले, ये ही ईरानी चित्रो के मुख्य विषय थे। व्यक्ति-चित्र (पोर्ट्रेचर) अधिक नही वने, किंतु, जो वने, उनके पीछे तैमूरी प्रभाव समझना चाहिए जो भारतीय कला पर भी पडा था। ईरानी कला मे सौन्दर्य, सामजस्य, प्रगीत-

---

१ फेसियल एक्सप्रेसन इन इडियन स्कल्पचर आनन्दकुमार स्वामी

भयता और रगो की चमक, ये सब कुछ है, किन्तु, उसके भीतर रागो का उद्वेग शिथिल है। ये चित्र हमे सुगधित वाटिकाओ मे ले जाते है एव साहसपूर्ण जीवन से भी परिचित कराते है। किन्तु, ईश्वर-प्रेम अथवा नर-नारी के विरह और मिलन से उत्पन्न होनेवाले भावो की अनन्तता उनमे नही मिलती। मानवात्मा का जो स्वभाव हे, अथवा पशुओ, वृक्षो और पहाडो मे जो आत्मा छिपी हुई है, उसकी झलक ईरानी चित्रो मे कही भी नही मिलती। इन चित्रो मे औपचारिकता अधिक, आदर्शवादिता वहुत अल्प है। वल्कि, दुहराहट और आडम्वर की प्रचुरता मे इनका आकर्षण दवकर रह जाता है।

ऐसा लगता है कि जव अकवर ने ईरान से चित्रकार वुलवाये, तव, आरभ मे, (हुमायूँ-कालीन परपरा के प्रभाव के कारण) ईरानी चित्रो की ये विपताएँ मोगल-कला पर भी चढी रही। सभी मोगल-कालीन चित्रो के लिए हिन्द-ईरानी नाम आनन्दकुमार स्वामी को पसन्द नही है। उनका कहना है कि हिन्द-ईरानी कला (जिसमें भारत और ईरान की कला-प्रवृत्तियो का मिश्रण है) केवल वही है जो सन् १५५० ई० से लेकर सन् १६१० ई० तक वढी। उसके वाद वह भारतीय हो गयी। "मोगल-कलम के सोलहवी सदी के सर्वोत्तम चित्रो मे ही ईरानी प्रभाव सवसे अधिक लक्षित होता है। सत्रहवी सदी मे जो चित्र वने, वे अत्यन्त भारतीय है। . .असली मोगल-कलम सत्रहवी सदी की कलम है, उससे पहले की नही, क्योकि उसके पहले उसका जन्म और विकास हो रहा था; और उसके वाद की भी नही, क्योकि सत्रहवी सदी के वाद उसका पतन आरंभ हो जाता है।"[1]

ईरान की कला का स्वभाव स्त्रैण था। इसके प्रतिकूल, मध्य एशिया मे तैमूर-वशी शासको के अधीन जो कला विकसित हुई, उसमे उद्दामता का अधिक जोर था। सत्रहवीं सदी में इन दोनो कलाओ के साथ भारतीय कला का मेल भारतवर्ष मे हुआ। इन विभिन्न कला-प्रवृत्तियो के योग से भारत मे एक नयी कला का जन्म हुआ, जो जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य-काल मे उन्नति के शिखर पर पहुँची और उसके वाद, क्रमश, नीचे आने लगी।

इस कला मे व्यक्ति की आकृति की प्रधानता है। इसकी दृष्टि केन्द्रित होकर वर्त्तमान काल पर है तथा उसके मुख्य विषय अमीरो के कारनामे है। यह कला जीवन को आदर्शोन्मुख नही करके, खुलकर उसका प्रतिनिधित्व करती है। "वैयक्तिक चरित्रो में गहरी दिलचस्पी, सश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण की प्रमुखता तथा सतो और महात्माओ की जगह पर राजाओ और दरवारियो से प्रेम,"[2] ये मोगल-कला के कुछ मुख्य लक्षण है। मुसलमान मूर्त्तिपूजक नही थे, अतएव, इस्लाम के धार्मिक महपुरुषो के चित्र नही वनाये जा सकते थे। धर्म की भूमि से अलग होने के कारण इस्लामी युग मे यह कला, पूर्ण रूप से, लौकिक हो गयी।

---

१ आन् मोगल एण्ड राजपूत पेंटिंग (आर्ट एण्ड स्वदेशी मे)   २. वही

राजपूत और मोगल कलमो के भेद

राजपूत-कलम से मोगल-कलम का मुख्य भेद यह है कि मोगल-कलम का जन्म अनेक कलमो के मिश्रित प्रभाव से हुआ, किन्तु, राजपूत-कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति से फूटकर निकली है। फिर भी, विभिन्न प्रभावो के बीच से जनमी हुई मोगल-कला ने एक प्रकार की मौलिकता प्राप्त कर ली और वह, धीरे-धीरे, भारतीय भी हो गयी। मोगल-कला में व्यक्ति-चित्रो की प्रधानता है। राजपूत-कला में ऐसे चित्र बहुत कम है। मोगल-कला जीवन को भाग, आनन्द और उल्लास की दृष्टि से देखती है। राजपूत-कलम के लिए जीवन अनन्त साधना का विषय है। मोगल-कलम, आरम्भ से अन्त तक, किताबो के पन्नो की चीज है। राजपूत-कलम किताब के पन्नो पर भित्ति से उतर कर आयी है। सोलहवी सदी मे राजपूत-कलम का जो रूप हम देखते हैं, वह उसके वार्द्धक्य का रूप है। अपने वार्द्धक्य मे भी वह मोहक और सूक्ष्म है। किन्तु, यह आभास दिये बिना वह नही रह सकती कि यह उसके उतार की ऋतु थी। इसके विपरीत, तत्कालीन मोगल-कला अपने उच्छल यौवन के काल मे है, उसमे प्रयोग का भरपूर साहस और विकास की अनन्त सभावनाएँ भरी हुई हैं। भारत के दार्शनिक दृष्टिकोण के समान ही, राजपूत-कलम मे हम एक प्रकार की अपरिवर्त्तनशीलता की छाप देखते हैं, एक प्रकार की सनातनता की आभा देखते है जो बुझकर भी नही बुझती और न कभी जोर से ऊपर ही उठती है। मोगल-कलम विवरणात्मक है, साहित्यिक है, वस्तुवादी और लौकिक है। इसके विपरीत, राजपूत-कलम मे धार्मिकता भी है और शृगारिकता भी। उसमे आदर्श की वही प्रधानता है जो अजता-कलम का गुण थी। मोगल-कलम दरबारियो के लिए थी, राजपूत-कलम जनता की हो चली थी। मोगल-कलम के विषय है आखेट और युद्ध, दरबार और मनोरजन की कहानियाँ एव पशु-पक्षी और फूल। राजपूत-कलम के विषय रामायण और महाभारत से आये हैं, वैष्णव-धर्म और, बाद को, कुछ शैव-धर्म से भी आये है। राजपूत-कलम मे प्रेम का चित्रण भी खूब हुआ है, किंतु, वह प्रेम, सदैव आदर्श का स्पर्श करता है।

राजपूत-कलम की कुछ बुरी कृतियाँ सोलहवी सदी मे भी बनी थी और कुछ अच्छी कृतियाँ उन्नीसवी सदी मे भी बनी। सच पूछिये तो यह कलम अब भी खत्म नही हुई है और उसके प्रभाव अर्वाचीन कलाकारो की तूलिकाओ में भी जहाँ-तहाँ मौजूद है।

उम्र की दृष्टि से मोगल-कलम अल्पायु सिद्ध हुई। वह सर्वथा नवीन वस्तु नही होकर भारतीय चित्रकला की ही एक तरग थी, जो ईरानी कलाकारो के सहयोग से उठी थी और उठकर फिर मुख्य धारा मे विलीन हो गयी। राजपूत-कलम की दुनिया जादू की दुनिया है, जिसमे सभी पुरुष वीर और सभी रमणियाँ सुन्दर एव लजीली होती है एव जिसके सारे पालतू और जगली जीव मनुष्य के मित्र होते है तथा इस दुनिया के तृण-तृण इतने चेतन है कि नव वधू के पैरो की आहट उन्हे सुनायी दे जाती है। इसके विपरीत,

मोगल-कलम की दुनिया वह दुनिया है, जिसमे हाथी से हाथी, बाघ से बाघ और शेर से शेर लडते दिखायी देते है। मोगल-कलम की चरम-परिणति बादशाहो एव सरदारो के व्यक्ति-चित्रो में हुई। राजपूत-कलम ने प्रेम और विरह की अनन्तता तथा अदृश्य के अनुसधान मे अपने को उत्सर्ग कर दिया। मोगल-कलम उस वश की समाप्ति के साथ समाप्त हो गयी, जिसने उसे जन्म दिया था। किन्तु, राजपूत-कलम अब भी जी रही है।

भौगोलिक दृष्टि से राजपूत कलम के दो क्रीडा-क्षेत्र रहे है, एक तो हिमालय की तराई और दूसरा राजस्थान का मैदान। तराई मे इस कला का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चमत्कार कांगडा-शैली मे अभिव्यक्त हुआ और मैदान में जयपुर की शैली मे।

रीतिकाव्य और राजपूत-कलम

किंतु, राजपूत-कलम की दुर्बलता यह है कि विकास की ओर उसके कदम नही हैं। बहुत दिनो की साधना के कारण अब उसकी सभावनाएँ शून्यवत् रह गयी है। उस पर अलकारिकता का भी प्रभाव पडा है एव सबसे बडी कठिनाई यह है कि परपरा का अच्छा ज्ञान नही रहने से चित्र, बहुधा, समझ मे कम आते हैं। यह मनुष्य-स्वभाव के साथ एक रहना चाहती है, किंतु, वास्तविकता की उपेक्षा करके। सच तो यह है कि राजपूत-कलम हिन्दी की रीतिकालीन कविता का अनुपूरक अग है। जैसे, तत्कालीन काव्य का आकर्षण उसके विषय नही, कलाकारिता को लेकर है, वैसे ही, इन चित्रों का भी मुख्य आकर्षण उनकी मँजावट मे है। कृष्णलीला, नायिका-भेद और रासलीला से प्रेरणा रीतिकालीन कवियो को भी मिली और चित्रकारो को भी। चित्रकारो ने एक फाजिल काम यह किया कि उन्होने राग-रागिनियो के भी चित्र बना डाले। रीतिकालीन कवियो पर इन चित्रकारो की बहुत रुझान थी। इन चित्रकारो ने केशव की कविताओ पर चित्र बनाये और दतिया-राज्य मे अष्टयाम, बिहारी-सतसई और मतिराम के रसराज पर भी अनेक चित्र बनाये गये। स्पष्ट ही, यह ईरानी प्रभाव था। ईरान मे पुस्तको को सचित्र करने की परिपाटी थी। उसका अनुकरण पहले अकबर के दरबार में हुआ और, बाद को, हिन्दू-नरेशो के यहाँ।

मोगल-कालीन चित्रो के विषय मे लिखते हुए कला-मर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी ने कहा है कि "इन चित्रो में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रगो की खूबी तथा शान-शौकत एव अग-प्रत्यग की लिखाई, दरबारी अदब-कायदो की जकडबन्दी, और शाही दबदबे के कारण भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि, एक प्रकार के सन्नाटे-सा पाया जाता है जिससे जी ऊबने लगता है।"[१] यह उक्ति बहुत कुछ रीतिकालीन कविता पर भी लागू की जा सकती है।

---

१. भारत की चित्रकला

रीतिकालीन हिन्दी कविता का एक लक्षण यह भी है कि उसके पिछले वर्षो की कविताएँ रीति के बन्धनो से बहुत-कुछ मुक्त हो जाती है एव उनमें एक नया आनन्द झलकने लगता है जो परिमार्जित शैली में हृदय की सच्ची अनुभूतियो के लिखने का आनन्द है। आलम, शेख, बोधा और घनानन्द, इसी आनन्द के कवि है। आश्चर्य की बात है कि जैसे अठारहवी सदी मे इन कवियो ने कविता मे फिर से प्राण डाल दिये, वैसे ही, इस काल मे पहाडी-कलम (काँगडा-शैली) के चलते, चित्रकला भी सजीव हो उठी। और जैसे आलम, बोधा और घनानन्द मे जो आकर्षण है, उसका उद्गम सूफी भाव-धारा और भारतीय भाव-धारा का मिलन-बिन्दु, है, वैसे ही, पहाडी-कलम मे भी ताजगी मोगल-कलम से आयी है। "पहाडी-कलम मोगल-कलम की सद्य सतति है। एव यही कलम अजता के बाद भारत की सबसे उच्च कलामय उडान भी है।"[1] घनानन्द की कविता मे जो हार्दिकता और उन्मुक्तता है, वही हार्दिकता और उन्मुक्तता पहाडी-शैली के भी गुण है। ये कलाकार जन-जीवन के बहुत समीप थे। उन्होने अनेक विषयो पर चित्र बनाये। "हिन्दी के प्रमुख और साधारण कवियो से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक, ऐसा एक भी विषय नही है, जिसे इस शैली के चित्रकारो ने छोडा हो।"[2]

मोगल और राजपूत कलमो के मेल से जो पहाडी कलम निकली, वह खूब कामयाब रही और उसने भारतीय भावनाओ की अभिव्यक्ति भी सफलता से की। किन्तु, मौर्यो के समय, भारत और यूनान की कलाओ के मेल से जो *गान्धार-कला* निकली थी, वह टिकाऊ न हो सकी, क्योकि वह भारत की आत्मा के अनुकूल नही थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कला के क्षेत्र में भारत का एशिया से तो पूरा मेल है, किन्तु, उसका यही मेल यूरोप के साथ नही बैठ सकता। साहित्य में भी, ईरानी भावो का भारतीय भावो से जो मिश्रण हुआ, उसे तो जनता ने उठा लिया है, किन्तु, अत्याधुनिक यूरोप की जो विशिष्ट-ताएँ भारतीय कविता में उतारी जा रही है, उन्हे जनता कभी ग्रहण भी करेगी या नही, यह सदिग्ध बात है।

स्थापत्य या वास्तु-कला पर प्रभाव

हिन्दुओ के यहाँ मन्दिर बनाने की दो शैलियाँ प्रचलित हुईं, एक उत्तर में और दूसरी दक्षिण मे, यद्यपि, दोनो शैलियाँ, मूलत, एक ही है। उत्तर के हिन्दू-मदिरो मे भुवनेश्वर (उडीसा), खजुराहो (मध्यप्रदेश), बोध गया, आबू और पालीताना (सौराष्ट्र) के मन्दिर प्रसिद्ध है। दक्षिणी शैली के अद्भुत नमूने मदुरा, श्रीरगम् (त्रिची), महाबली-पुरम्, काजीवरम् (काची) आदि के मन्दिर है। सच पूछिये तो मन्दिर-रचना की जो विशुद्ध सरणी दक्षिण मे देखने को मिलती है, वह उत्तर में नही है। हिन्दुत्व का गढ अब दक्षिण भारत ही रह गया है एव जिसने दक्षिण के मन्दिरो को नही देखा, उसे इसका

१ रायकृष्ण दास   २ वही

आभास दिलाना भी कठिन है कि हिन्दू-मन्दिरो की विशेषताएँ क्या होती थी। दक्षिण के मन्दिरो की रचना मे हिन्दू-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। ये मन्दिर बाहर से पाँच या सात प्राकारो से घिरे होते है और सबके केन्द्र में गर्भ-मन्दिर होता है, जिसमे देवता निवास करते है। इस गर्भ-मन्दिर मे वातायन नही होते, न उसका आकार ही बडा होता है। प्राकार शरीर के बाह्यावयवो के रूपक है और गर्भ-गृह आत्मा का सस्थान। तुलसीदास ने ज्ञानदीपक (उत्तरकाड) के प्रसग मे कहा है —

तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा,
उरगृह बैठि ग्रथि निरवारा।

मन्दिरो के गर्भ-गृह इसी उर-गृह के प्रतीक है।

किन्तु, हिन्दू-मन्दिरो की गणना भारत में ही समाप्त नही हो जाती। सीलोन, जावा, कबोडिया, श्याम, बर्मा, तिब्बत, खुतन, तुर्किस्तान, मगोलिया, चीन, कोरिया और जापान में भी हिन्दू-शैली के मन्दिर बने थे। भारत के अनेक मन्दिर तो आक्रमणो के क्रम में ध्वस्त हो गये, किन्तु, बाहर के बहुत-से मन्दिर अब भी विद्यमान है और उनके अध्ययन के बिना भारतीय वास्तु का अध्ययन अधूरा रह जाता है। भारत और, प्राय, समस्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर जावा मे है, यह बात अन्य देशो के विद्वान् भी मानते है।[1]

मन्दिर बनाने का शौक भारतीय राजाओ को बहुत था। सात-सात प्राकारो के जो बडे-बडे मन्दिर है, वे किसी एक राजा के राज्य-काल मे नही बने थे, प्रत्युत, उनमे कई पीढियों का परिश्रम और धन लगा था। मन्दिर बनाने की धुन हिन्दुओ मे ऐसी प्रचण्ड थी कि एक ओर तो उत्तर भारत मे मुसलमान मन्दिरो को मटियामेट कर रहे थे, दूसरी ओर, दक्षिण के राजे तब भी नये मन्दिर बनवा रहे थे। अनेक टूटे हुए मन्दिर भी हिन्दुओ ने कई बार बनवाये। सोमनाथ का मन्दिर पाँच बार तोडा गया था और पाँच बार, किसी-न-किसी, हिन्दू राजा ने उसे फिर से बनवा दिया।

इन मन्दिरो मे जो कला और कारीगरी है, उसका सम्यक् वर्णन करना लेखनी के बस के बाहर की बात है। मदुरा और तजोर के मन्दिरो को देखते-देखते मन किसी सुदूर दिशा मे उड़ने लगता है एव यह कल्पना दिमाग में किसी भी तरह नही आती कि कारीगरी इससे बाल भर भी आगे जा सकती है। दक्षिण के गोपुरो मे तो गुच्छ की गुच्छ सुन्दरताएँ एक साथ झूलती दिखायी देती है एव ऐसा भासता है, मानो, मूर्त्तिकला स्थापत्य की सेज पर नाना रूपो मे विहार कर रही हो। "बाडोली के मन्दिर की तक्षण-कला की प्रशसा करते हुए कर्नल टाड ने लिखा है—यहाँ हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। इसके स्तभ, छत और शिखर का एक-एक पत्थर छोटे-से मन्दिर का

---

१. दे० विल डुराण्ट-कृत आवर ओरियटल हेरिटेज

दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नही हो सकता।" भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मि० फरगुसन लिखते हैं कि आबू के मन्दिरो मे, जो सगमरमर के बने हुए है, अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओ की टाँकी से फीते-जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनायी गयी है कि उनकी नकल कागज पर बनाने मे कितने ही समय एव परिश्रम से भी मै सफल नही हो सका।"[१]

जब मुसलमान भारत आये, उसके पूर्व ही वे ग्रेनेडा, कैरो, रूसले और बगदाद में महलो के अद्भुत निर्माता सिद्ध हो चुके थे। भारत मे उन्होने जो भवन बनवाये, उनमें कुछ मस्जिदे, दिल्ली का लाल किला, फतहपुर सीकरी का किला, आगरे का ताजमहल तथा ससराम और दिल्ली के मकबरे बहुत प्रख्यात है। अफगान बादशाहो के समय भवन-निर्माण मे हिन्दू कारीगर ही, विशेष रूप से, रखे जाते थे और, कभी-कभी, मन्दिरो के पाये और वन्दनवार भी तोड कर उनमे लगा दिये जाते थे। इसलिए, इन निर्माणों का रूप वर्णसकर-जैसा लगता है। फरगुसन ने लिखा है कि अजमेर की जामा मस्जिद का नक्शा आबू के जैन मन्दिर पर से लिया गया था। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि हिन्दू-मदिरो को ही मुसलमानो ने मस्जिदो मे परिणत कर दिया। धारा नगरी की यज्ञशाला का यही हाल हुआ है। कहते है, कुतुब-मीनार में हिन्दू-कला की जो छाप है, वह इस कारण कि उसमे २७ मन्दिरो के खडित अश लगाये गये थे। दिल्ली के पास कुवातुल-इस्लाम नामक मस्जिद ठीक उसी जगह पर बनायी गयी, जहाँ पहले जैन मन्दिर था और उसके निर्माण मे मन्दिर के अनेक खडित अश ज्यो-के-त्यो लगा दिये गये।

विश्वकर्मा और जौहरी का मिलन

स्थापत्य मे भी समन्वय का आरभ अकबर ने ही किया। उसके फतहपुर सीकरी के किले में जो विराटता है, वह हिन्दू-वास्तु की स्वाभाविक विराटता का प्रभाव है। अकबर के समय में मोगल-कला ने अपनी प्रगति की राह पकडी, जहाँगीर के समय वह बढी और शाहजहाँ के समय में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। बाहर के कला-पारखी इस बात पर आश्चर्य करते है कि ताजमहल ईरान, मिश्र या स्पेन में नही बन कर, भारत मे क्यो बना। वस्तुस्थिति यह है कि ताजमहल का निर्माण मुसलमान भारत में ही कर सकते थे, क्योकि वास्तु की जैसी सूक्ष्म और जितनी विराट परपरा भारतवर्ष मे थी, वैसी ससार में और कही नही थी।

भारतीय वास्तु मे प्राणवत्ता, पौरुष और वैराट्य था। ईरानी कला के लालित्य, नारीत्व और सूक्ष्मता का जब उसके साथ मिश्रण हुआ, तब इस मिश्रण से एक नयी कला का जन्म हो गया जो अत्यन्त मनोहर और अपूर्व थी। ताज मे केवल वास्तु ही नही है।

---

१ मध्यकालीन भारतीय सस्कृति

उसके साथ मूर्त्तिकारी और चित्रकारी भी लगी हुई है। भवन के रूप मे ताज खड़ी हुई प्रतिमा के समान है एव सगमरमर के फलक पर उसे हम चित्र भी कह सकते हैं।

मदुरा, तजोर, भुवनेश्वर और वोध गया में हिन्दू-वास्तु का जो पौरुष, प्राणवत्ता और वैराट्य साकार है, फतहपुर सीकरी, दिल्ली और आगरे मे वही ईरानी लालित्य और प्रगीतमयता को अपनी गोद मे उठाये हुए है। कहते हैं, मोगल निर्माता निर्माण तो विश्वकर्मा की तरह करते थे, किन्तु, समाप्ति उनकी जौहरियो की तरह होती थी। लेकिन, यह विश्वकर्मा भारत का था, केवल जौहरी को ही हम ईरानी कह सकते हैं। अतएव, इस कहावत को वदल कर ऐसे रखना चाहिए कि विश्वकर्मा के समान विराट् निर्माण करने की क्षमता हिन्दुओं में थी और जौहरियो के समान समाप्त करने मे मुसलमान प्रवीण थे। मोगल-स्थापत्य में हम जो चमत्कार देखते है, वह इसी विश्वकर्मा और जौहरी के मिलन का चमत्कार है।

हिन्दू-वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पडता है, मुस्लिम-वास्तु का तफसीली वारीकी के कारण। एक मे शक्ति की शोभा है, दूसरे मे सौन्दर्य का सम्मोहन। हिन्दू-निर्माताओ मे राग था, उद्वेग और उद्दामता थी तथा उनकी उर्वरता का स्रोत कभी सूखता नही था। मुस्लिम-निर्माताओं मे रुचि थी, कला से आनन्द लेने की उमग थी और उद्दामता को वे नियत्रण मे रख सकते थे। हिन्दू मन्दिरो की दीवारो पर इतनी रचनाकारी कर देते थे कि सारा मन्दिर ही मूर्त्तिकला का उदाहरण वन जाता था। दीवारो को सजाने का चाव मुसलमानो मे भी था, किन्तु, इस चाव को उन्होने ज्यामिति के अनुपात मे लता और पुष्पो के खचन से पूरा किया।

हिन्दू-वास्तु मे पौरुष और प्रताप का तेज है। मुस्लिम-स्थापत्य से रजकता की लहर उठती है। किन्तु, विराटता रजकता की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी होती है। इसीलिए, भुवनेश्वर, तजोर और वोरोवुदुर (जावा) के मन्दिरो के पार्श्व मे ताजमहल वैसा ही लगता है जैसे नाटको की वगल मे सगीत[1], जैसे वाल्मीकि के पार्श्व मे कालिदास, जैसे तुलसी के पार्श्व मे विहारी या घनानन्द।

ऐसा लगता है कि चित्रकला मे मोगल-गरिमा जिस प्रकार निखरी, उससे अधिक वह स्थापत्य मे निखरी है। साहित्य, चित्र और स्थापत्य, प्राय., प्रत्येक क्षेत्र मे हिन्दुओ का उत्तराधिकार वहुत-कुछ महाकाव्य-कल्प था। मुस्लिम-प्रभाव ने उसे लिरिक (प्रगीत) की ओर मोडा। उर्दू मे कोई सर्वविदित मसनवी नही लिखी गयी, यह भारत मे इस्लामी सस्कृति की प्रगीतमयता का प्रमाण है। इसी प्रकार, पहाडी-कलम जो मोगल-कलम की सतति है, प्रगीतात्मक रही है। एवं मुस्लिम-वास्तु की स्त्रैण माधुरी का क्या कहना? ताजमहल भारतीय स्थापत्य का अद्भुत प्रगीत है।

---

१ विल डुराट आवर ओरियटल हेरिटेज

प्रकरण १०

साहित्य और भाषा पर प्रभाव

अनाध्यात्मिक काव्य

अपनी छोटी-सी पुस्तक "बँगला-काव्य की भूमिका" मे प्रोफेसर हुमायूं कबिर ने यह स्थापना रखी है कि धर्म-निरपेक्ष-काव्य की रचना बगाल मे इस्लामी प्रभाव के कारण आरभ हुई। उनका कहना है कि "दरबार मे अरब और फारस की कहानियो के चलन ने ही सामाजिक काव्य-रचना के लिए सामग्री जुटायी और उनका सासारिक एव अनाध्यात्मिक रूप भी दरबार की पेचीदा जिन्दगी की परछाई है।" बगाल के पठान-शासको ने रामायण और महाभारत का अनुवाद सस्कृत से बँगला में करवाया था। इस पर से हुमायूं कबिर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रामायण और महाभारत मे मुसलमानो की दिलचस्पी धर्म के कारण नही, केवल कथा को लेकर थी। उनका अनुमान, शायद, यह है कि जब मुसलमानो ने रामायण और महाभारत का महत्त्व धर्म के कारण नही, केवल कथा के कारण माना, तब उससे कवियो को यह प्रेरणा प्राप्त हुई कि कविता का एक क्षेत्र अनाध्यात्मिक कथानक भी हो सकता है।[1] ऐसी कविता के उदाहरण के रूप मे नाम कबिर साहब ने "मनसामगल" और "चडीमगल" काव्य के लिये है।

मनसामगल और चडीमगल, ठीक-ठीक, अनाध्यात्मिक काव्य हैं या नही, इस विषय मे सदेह प्रोफेसर कबिर को भी है। किन्तु, इस सदेह को वे यह कहकर टाल देते है कि "मनसामगल और चडीमगल का प्रधान उपादान सामाजिकता ही है।" उनका यह भी ख्याल है कि "चडी की कृपा से धनपति की प्राण-रक्षा की जो कहानी है, उससे आरब्योपन्यास (अरेबियन नाइट्स) की राक्षस-परी की कहानी का मूलगत कोई फर्क नही है।"

प्रोफेसर कबिर के चिंतन की दिशा यह है कि जब इस्लाम बगाल पहुँचा, उस समय "बगाल का मानसिक गठन ससार-विमुख और त्याग-धर्मी था।" इसके विपरीत, इस्लाम का दृष्टिकोण सन्यास-विरोधी और इहलौकिक रहा था। बगाल के कवियो पर इस्लाम के इसी सन्यास-विमुख इहलौकिक दृष्टिकोण का प्रभाव पडा और "इस्लाम के इस सघात

---

१ "लेकिन, पठान सुलतानो के लिए रामायण-महाभारत का मूल्य सामाजिक धर्म-प्रतिष्ठा की बजाय कथा के ही लिहाज से ज्यादा है, समाज को समझने के लिए ही उनकी जरूरत पडी। फारसी और अरबी साहित्य की कथा-रचना से भी उनका सजीव तथा सजग परिचय था, इसीलिए, मुसलमानी शासन-काल में ही बँगला कविता मे मनुष्य का सामाजिक और सहज सासारिक रूप पहले-पहल प्रकाशित हुआ।"—बँगला काव्य की भूमिका (पृ० २३)

से पश्चिम बगाल के हिन्दुओ मे जगी वैष्णव-कविता, पूर्व बगाल में जगा "मनसा-मगल"। वैष्णव-काव्य की साधना मानव-धर्म से ऊपर अति मानव के दायरे मे रही और "मनसा-मगल" की साधना थी लोकातीत को समाज-जीवन के सहज सबध में प्रकाशित करना।"

बँगला-साहित्य के प्रसग मे यह उक्ति कहाँ तक ठीक है, यह बात वे बतलायेंगे जिन्होंने मनसा-मगल और चडीकाव्य की परम्पराओ का अनुसन्धान किया है।[1] किन्तु, हम समझते है कि अनाध्यात्मिक काव्य की परपरा भारत मे अत्यत प्राचीन है। ऐसी कविता का सब से प्राचीन दृष्टान्त राजा हाल की 'गाथा-सप्तशती' है जिसकी रचना, कदाचित्, ईसा के जन्म के आस-पास हुई थी। मनसा-मगल और चडीकाव्य को शुद्ध अनाध्यात्मिक काव्य का नमूना हम मान भी नही सकते। विशुद्ध अनाध्यात्मिक काव्य तो गाथा-सप्तशती ही है जिसमे हम, पहले-पहल, स्फुट पदो मे ऐसे भाव पाते है जिनका परलोक से कोई सबध नही है, जो पूरी कलात्मकता के साथ जन-साधारण के प्रेम, विरह और सासारिक आनन्द को चित्रित करते है।

हाल की सप्तशती का भारतीय कवियो पर अच्छा प्रभाव पडा एव उसके अनुकरण पर सस्कृत मे भी रचनाएँ की जाने लगी। अमरुक-शतक और गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' इसके प्रमाण हैं। हाल की गाथा-सप्तशती प्राकृत मे है। किन्तु, प्राकृत मे विरचित ये गाथाएँ नैसर्गिक शृगार के घात-प्रतिघातो को जिस सहजता से व्यक्त करती है, उस सहजता को सस्कृत मे अक्षुण्ण रखने मे आचार्य गोवर्धन को कठिनाई अनुभूत हुई। उन्होने स्वीकार किया है कि मेरी कठिनाई यह है कि मै नीचे के पानी को ऊपर ले जाना चाहता हूँ, किन्तु, पानी ठीक से ऊपर को चढ नही पाता। ये पद्य भारतीय साहित्य के लिए बिलकुल नवीन थे। गाथा-सप्तशती, अमरुक-शतक और आर्या-सप्तशती के कवियो ने परलोक की चिंता से छुट्टी पा ली थी। वे दैनिक गार्हस्थ्य-जीवन के अत्यत समीप थे।

जब इस्लाम भारतवर्ष पहुँचा, उसके पूर्व ही ऐहिक काव्य की यह परपरा पूरे भारत में फैल चुकी थी और सस्कृत मे ऐसे लाखो स्फुट पदो की रचना की जा चुकी थी, जिनमे धर्म और परलोक की चिंता नही थी, जीवन के भोग्य रूपो का ही सरस बखान था। ऐसे पद सस्कृत के सुभाषित-सकलनो मे अब भी सचित मिलते हैं। इन पदो के भीतर, छिपे-छिपे, एक प्रकार की भावुकता भी पलती आ रही थी जो लडकियो की अदाओ पर न्योछावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक रूपो पर कुरबान थी, जो विरह के दाह से मुरझाने लगती थी एव मिलन की वर्षा मे भीग कर, क्षण मात्र मे, हरी हो जाती थी।

---

१ "द वेस्टर्न इनफ्लुएसेज आन् बेगाली लिटरेचर" मे डाक्टर प्रियरजन सेन ने भी लिखा है कि विद्यासुन्दर में हीरा और कामिनी-कुमार मे सोनामुखी की जो कथाएँ है, उनके विकास के पीछे युसुफ-जुलेखा और लैला-मजनूँ की कथाओ का प्रभाव है।

हिन्दी-साहित्य की गवाही यह है कि इस्लाम का प्रभाव भारतीय साहित्य के इसी भावुक पक्ष पर पड़ा।

और यह स्वाभाविक भी था। हिन्दू और मुस्लिम स्वभाव का विश्लेषण करते हुए किसी ने कहा है कि औसत हिन्दू ज्ञानी और औसत मुसलमान कवि होता है। यदि कोई व्यक्ति चिंतन की ऊँचाइयो तक उड़ना चाहे तो मैत्री उसे किसी हिन्दू विद्वान से करनी चाहिए। लेकिन, अगर उसे खेलने-कूदने और तैरने का शौक हो तो दोस्ती किसी मुस्लिम नौजवान मे अच्छी रहेगी। वैसे भी, अत्यत प्राचीन होने के कारण हिन्दू-सस्कृति भावुक से अधिक चिंतनशील थी। किन्तु, वय में नवीन होने के कारण इस्लाम का पूरा झुकाव भावुकता की ओर था।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय साहित्य के भावुकता वाले पक्ष पर ही क्यो पड़ा, इसका एक दूसरा कारण यह भी मानना चाहिए कि यही वह क्षेत्र था जहाँ धर्म की बाधा नही थी। हिन्दी में धार्मिक काव्य की रचना करनेवाले मुसलमान कवि कम हुए है। जो हुए भी, उनका प्रभाव साहित्य की प्रमुख धारा ने ग्रहण नहीं किया। जायसी, कुतुवन, मझन, उसमान आदि सूफी कवियो की परपरा उन्ही लोगो तक सीमित रह गयी। जब यह परपरा जीवित थी, तब भी, उस परपरा ने एक भी हिन्दू कवि उत्पन्न नही किया। इसी प्रकार, कबीर और दादू को जो शिष्य मिले, वे सनातन धर्मावलबी-समाज मे स्थान नही बना सके, न शिष्ट साहित्य उनमें से अधिकाश को अपना श्रेष्ठ कवि ही मानता है। किन्तु, रहीम, रसखान, रसनिधि, रसलीन, आलम और शेख तथा मुबारक, ये हिन्दी की अत्यत शिष्ट धारा के कवि है और हिन्दी की काव्य-परंपरा पर उनका प्रभाव भी माना जाता है। ये सभी कवि धर्मनिरपेक्ष कलाकार थे और रीतिकालीन हिन्दी कवियो के उस विशाल समुदाय में वे भली भाँति खप जाते है जिस समुदाय का उद्देश्य मनुष्य का सुधार नही, केवल सौन्दर्य और प्रेम का आख्यान था।

मुस्लिम-युगीन भारत मे धर्म-निरपेक्ष काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरण बँगला के मनसा-मगल और चडीमगल नही, हिन्दी की रीतिकालीन कविताएँ है जिनका धर्म में कोई सबध नही है तथा जिनके रचयिताओ में हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही जातियो के प्रतिभाशाली कवियो के उज्ज्वल नाम है। पश्चिमोत्तर भारत के बारे में प्रोफेसर हुमायूँ कविर का यह कहना नितान्त अशुद्ध है कि "दिल्ली-दरबार में फारसी की बाढ से देशभाषा को पनपने का मौका नही मिला।" हिन्दी भाषा ने अपने सपूर्ण इतिहास में जो सर्व-श्रेष्ठ-कवि उत्पन्न किये, वे, सब-के-सब, मुस्लिम-शासन-काल में ही जनमे थे। कबीर, जायसी, विद्यापति और दादूदयाल पठान-युग में उत्पन्न हुए थे तथा सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, मीरा बाई, रहीम, रसखान, देव, पद्माकर घनानन्द तथा उनके सैकड़ो अनुयायियो का समय मोगलो का शासन-काल था। हिन्दी-भाषा ससार के समग्र साहित्य के समक्ष अपनी जिस समृद्धि का दावा करती है, वह सारी-की-सारी समृद्धि

उसने पठानो और मोगलो के समय मे ही अर्जित की थी। प्रोफेसर कबिर की यह मान्यता भी बिलकुल अशुद्ध है कि नवाबी युग मे भारत की अन्य "देश-भाषाओ की तुलना मे बँगला का काव्य-विकास सर्वोत्तम था। भारत की किसी दूसरी भाषा मे, शायद, काव्य-साधना को इतनी सफलता नही मिली थी।" मात्र अज्ञान के कारण अच्छे चिंतक भी हास्यास्पद भूले कर बैठते है। कबिर साहब की यह उक्ति ऐसी ही भूल का दृष्टान्त है। मुस्लिम-काल मे आधुनिक भारतीय भाषाओ में जो साहित्य-सृजन हुआ, उसका सर्वोच्च शिखर हिन्दी-भाषा मे खडा हुआ था। बँगला काव्य का शिखर ऊँचाई पर तब पहुँचा, जब बगाल में माइकेल मधुसूदन दत्त और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर उत्पन्न हुए। किन्तु, ये बाते लोगो की समझ मे, शायद, तब आयेगी जब आज का भाषा-विषयक द्वन्द्व शमित हो जायगा और विद्वान् तथ्यो की परीक्षा किये बिना किसी भी भाषा की ओर से कोई बडा दावा नही करेगे।

श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिन्दी-काव्यधारा" के अनुसार हिन्दी के सब से पहले मुसलमान कवि अमीर खुसरो नही, बल्कि, अब्दुर्रहमान हुए है। अब्दुर्रहमान मुलतान के निवासी और जाति के जुलाहे थे। राहुलजी ने इनका समय १०१० ई० माना है। इनकी कविताएँ, वस्तुत, अपभ्रंश में है, किन्तु, उनकी भावधारा ऐहिकता-परक है एव नर-नारियो का मिलन और विरह ही उनका मुख्य विषय है। अरबी और फारसी के शब्द तो उन्होने नही रखे है, किन्तु, विचार से वे सासारिकता के ही समर्थक है। सभव है, यह प्रेरणा उन्हे इस्लाम से भी मिली हो, किन्तु, मूलत, प्रभाव उन पर उस भारतीय परपरा का था जिसके अधीन गाथा और आर्या-सप्तशतियो की रचना हुई थी। इसी प्रकार, अमीर खुसरो की हिन्दी-कविताओ का भी इस्लाम अथवा हिन्दू-धर्म से कोई सरोकार नही है। उनकी क्रीड़ा-स्थली धर्म-निरपेक्षता की भूमि है।

दर्द की नयी अदाएँ, रूपकों की नयी छटा

रीतिकाल के, सारे-के-सारे, कवि सस्कृत के प्रभाव मे थे। सस्कृत में जो, ढेर के ढेर, सरस, अनाध्यात्मिक श्लोक लिखे गये थे, उन्ही से प्रेरणा लेकर हिन्दी के कवियो ने भी असख्य दोहो, सवैयो और कवित्तो की रचना की। किन्तु, इन्ही कवियो मे, विशेषत, उनके मुस्लिम-सहकर्मियो में हम ऐसी भगिमा देखते है, जो फारसी के प्रभाव की सूचना देती है।

रसखान, मुबारक, आलम और शेख की कविताओ मे जो ताजगी, जो निरालापन और वेधकता मिलती है, वह उनके पूर्वज अथवा समकालीन कवियो का सामान्य गुण नही है। विशेषत, आलम और मुबारक मे एक विचित्र सम्मोहन है जो सस्कृत और हिन्दी की परपरा में होता हुआ भी अद्भुत और नवीन है। कहते है, आलम ब्राह्मण से

मुसलमान हुए थे, किन्तु, उनके विख्यात सवैये[1] में विरह की जो टीस है, दर्द की जो अदा है, वह उनके समकालीन कवि-बन्धुओ के लिए किंचित् नवीन रही होगी। अवश्य ही, इस नवीनता को हम इस्लामीय भावुकता का प्रभाव कहेंगे। इसी प्रकार, मुवारक के दोहे मे काफ की जो उपमा अलक से दी गयी है, वह इसलिए कि मुवारक मुसलमान थे और काफ के नक्शे मे अलक का चित्र उन्हें दिखायी दे सकता था।[2]

सस्कृत और हिन्दी कविता मे जुगुप्सा-व्यजक रूपको के प्रयोग की परपरा नही थी। यह परपरा फारसी मे थी और फारसी से ही उतर कर वह उर्दू कविता मे सर्वत्र फैल गयी। छुरी, कटार, कातिल, मकतल और खून के प्रतीको द्वारा प्रेम की अनुभूतियो का वर्णन फारसीवाले करते थे। लेकिन, यह परपरा उर्दूवालो को इतनी अच्छी लगी कि आज भी वह उनके साथ है।

चमन सैयाद ने सींचा यहाँ तक खूने-बुलबुल से,
कि आखिर रंग बन कर फूट निकला आरिजे-गुल से।
—अज्ञात

गले पै छुरी क्यो नहीं फेर देते,
असीरो को बेबालो-पर करनेवाले?
—यगाना चगेजी

बवक्ते-कत्ल मकतल में कोई हमदम न था अपना,
निगह कुछ देर तक लड़ती रही शमशीरे-कातिल से।
—हफीज जलन्धरी

हमीं को कत्ल करते हैं, हमीं से पूछते हैं वो,
शहीदे-नाज, बतलाओ, मेरी तलवार कैसी है?
—अज्ञात

लगता है, उर्दू के जन्म से पूर्व ही यह प्रभाव सीधे फारसी से उतर कर हिन्दी मे आ गया। और सयोग की वात यह कि इस परपरा के प्रवर्तको मे भी आदि नाम मुसलमान कवियो के ही मिलते हैं।

रहीम का एक दोहा मिलता है,

जुकिहारी जोबन लिये, हाट फिरै रस देत,
आपन मास चखाइ के, रकत आन को लेत।

---

१ जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठ चुन्यौ करैं।
जा रसना सो करी बहु वातन ता रसना सो चरित्र गुन्यौ करैं।
आलम जौन-सी कुजन मे करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन मे जे सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।

२ अलक मुवारक तिय वदन लटकि परी यो साफ,
खुशनवीस मुशी मदन लिख्यौ काँच पर काफ।

प्रेम के आदान-प्रदान का वर्णन "मास चबाने" और "रक्त पीने" के रूपकों में करना भारत के कवि नही जानते थे। हिन्दी मे यह नयी राह रहीम ने फारसी के असर में आकर तैयार की।

इसी प्रकार, रसखान के

कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवार,
नेजा, भाला, तीर कोउ, कहत अनोखी ढार।

इस दोहे मे भी प० विश्वनाथ मिश्र फारसी का प्रभाव मानते है, यद्यपि, नयन-बाण का रूपक सस्कृत और हिन्दी, दोनो भाषाओ मे चलता आया था।

भारतीय साहित्य की ऐहिक धारा मुस्लिम कवियो को अनुकूल मालूम हुई थी, इसका एक प्रमाण यह भी है कि हिन्दी में, सस्कृत के अनुकरण पर, नायिका-भेद की पहली पुस्तक रहीम ने ही लिखी। विशेषता की बात यह है कि रहीम ने "बरवा-नायिका" में नायिका-भेद का जो क्रम रखा, बाद के हिन्दी आचार्यो ने भी, अधिकाश मे, उसी क्रम को स्वीकार किया। इससे भी बडी बात यह है कि हिन्दी मे नायक-नायिकाओं की शाखा-प्रशाखाओ का जो अगम विस्तार हुआ, उसमे अधिक-से-अधिक नायिकाओ की सृष्टि एक मुसलमान कवि ने ही की। केशवदास ने नायिकाओ के ३६० भेद कहे थे, देव ने ३८४, किन्तु, सैयद गुलाम नबी "रसलीन" ने उन्हे १३५२ तक पहुँचा दिया[1]। किन्तु, नायिका-भेद की रचना करने की प्रेरणा इन कवियो को अरबी और फारसी से नहीं मिली थी। अरबी और फारसी मे यह परपरा थी ही नही। रहीम और रसखान ने नायिका-भेद का वर्णन शुद्ध सस्कृत-हिन्दी की परपरा मे किया है। देखने की बात केवल यह है कि हिन्दी के मुसलमान कवियो ने भारतीय साहित्य की उस शाखा की सेवा अधिक की जो ऐहिक और अनाध्यात्मिक थी।

प्रेम-पीड़ा की नयी भंगिमा

हिन्दी के भक्ति-काव्य मे प्रेम का आलबन ईश्वर का साकार रूप है। अतएव, भक्त कवि कृष्ण और राधा के लौकिक रूप का वर्णन करके अपनी सौन्दर्य-तृषा तथा प्रेम-भाव का भरपूर आख्यान कर देते थे। भक्त कवियो का प्रेम प्रेम के लिए नहीं,सदैव परमेश्वर के लिए उमड़ता था। किन्तु, सूफी-काव्य मे प्रेम, अपने आप मे, स्वतंत्र मूल्य बन गया। प्रेम की सार्थकता यह नही रही कि उसका लक्ष्य ईश्वर है। प्रेम केवल प्रेम होने से ही सार्थक और मूल्यवान् माना जाने लगा। इसका कारण यह था कि सूफी कवियो के यहाँ प्रेम का आलबन निराकार ईश्वर था। अतएव, उस प्रेम को दीप्त करने का कोई सुस्पष्ट आधार इन कवियो को सुलभ नही था। इसलिए, वे

१ दे० रसलीन-कृत अनगदर्पण।

(आलवन को अदृश्य पाकर अथवा उसे आकार देने का कोई आधार नही देखकर) प्रेम-भाव की महत्ता और उसकी तीव्रता का प्रतिपादन करने लगे। इसी तीव्रता को लाने के लिए इन कवियो ने आहो से बननेवाले वादलो की कल्पना की, विरह में हृदय के फटने और सूर्य के अधिक उत्तप्त हो उठने का मजमून बाँधा एव वे यह कहने लगे कि प्रेम के मार्ग पर वही चल सकता है, जो शीश की दक्षिणा चुका सके, जो अपने मस्तक को काटकर उस पर पाँव रख सके, जो घर फूँककर तमाशा देखने को तैयार हो।

जैसे भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव कवीर दास के समय से पडने लगा, वैसे ही, साहित्य में भी इस्लामी भावो का प्रवेश, सब से पहले, कबीर मे ही दिखायी देता है। प्रेम केवल ईश्वर-भक्ति का ही साधन नही, वह अपने आप मे भी कोई स्वतत्र मूल्य है, इस अनुभूति की पहली कविता हिन्दी में कवीर की ही मिलती है।

प्रेम न वारी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय,
राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय।
यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं,
सीस काटि भुइयाँ धरो तब पैठो घर माँहि।
सीस काटि भुइयाँ धरो, ता पर राखो पाँव,
दास कबीरा यो कहै, ऐसा हो तो आव।
मैं घर जारा आपना, लिया मुरैरा हाथ,
अब घर जारौं ताहि का जो चलै हमारे साथ।
पोथी पढि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय,
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।

कबीर ने प्रेम को केवल स्वतत्र मूल्य ही नही माना, उनकी अपनी प्रेम-पीडा की अनुभूति मे भी एक नयी भगिमा दिखायी देती है, एक नयी तडप मिलती है, जो हिन्दी के लिए, वहुत दूर तक, नयी चीज थी।

अँखियन तो झाँई पडी, पन्थ निहार-निहार,
जिह्वा तो छाला पड़ा, नाम पुकार-पुकार।
बिरह-भुअंगम तन डसा, किया करेजे घाव,
बिरहिन अंग न मोड़िया, जित चाहो तित खाव।
सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त,
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त।

"प्रेम-पीर" की यही नयी भगिमा हम मीरा बाई मे भी देखते हैं। अवश्य ही, दर्द की यह नयी अदा, विरह-वेदना का यह नया रूप उन्हें कवीर की ही परंपरा से मिला

होगा। किन्तु, दूर पर, कवीर और मीरा की इन बेचैनियों के पीछे, कहीं-न-कहीं, फारस के सूफियो की वेदना का हाथ था, इस अनुमान का खडन नही किया जा सकता।

हे री, मैं तो दरद की मारी दीवानी रे,
मेरा दरद न जाने कोय।

अथवा

काढ़ि करेजो मैं धरूँ रे, कागा, तू ले जाइ।
ज्याँ देसाँ मेरा पिउ बसे रे, वे देखैं, तू खाइ।

अथवा

घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री, म्हारी व्यथा न बूझै कोइ।

इन पक्तियो मे विरह का जो रूप है, उसकी परपरा न तो मेघदूत मे मिलेगी, न माघ, श्रीहर्ष और भवभूति मे। यहाँ तक कि विरह की इस वेदना का आभास हाल और गोवर्धनाचार्य की सप्त-शतियो मे भी नही है। सभव है, दर्द की यह तर्ज लोकगीतो से उठकर साहित्य के धरातल पर पहुँची हो, किन्तु, तब भी यह विदेशियो के ही साथ इस देश मे पहुँची होगी।

प० विश्वनाथ मिश्र ने भी प्रेम के इस अतिरेक को विदेशियो का प्रभाव माना है। किन्तु, वे इस प्रभाव को वही प्रत्यक्ष देखते है, जहाँ "भूंज सरागन्हि वह नित मासू" (जायसी), "सीस उतारे भुई धरे" (कवीर) अथवा "काढि करेजो मै धरूँ रे" (मीराबाई) जैसी जुगुप्सा-व्यजक पक्तियाँ आती है।[1] यह ठीक है, किन्तु, इस्लामी प्रभाव की सारी बाते यही खत्म नही हो जाती। वस्तुत, इस काल मे आकुल भावुकता का जहाँ भी हृदय-द्रावक आख्यान मिलता है, वहाँ फारसी के सूफी कवियो की व्याकुलता अवश्य याद आ जाती है।

प्रेम की जो बेचैनी कबीर दास और मीराबाई मे है, वही दर्द, शुद्ध ऐहिक धरातल पर, बोधा मे भी बोलता है, घनानन्द में भी टीस जगाता है। हिन्दी में रोमानी आन्दोलन का आरभ छायावाद से माना जाता है, किन्तु, सच पूछिये तो रोमानी भावो का जागरण बोधा और घनानन्द मे ही आरभ हो गया था। हिन्दी मे सूफी-कविता का रस जब भली भाँति भीग चुका और रीति-काव्य से लोग ऊबने-से लगे, तभी बोधा और घनानन्द में कविता एक नयी भगिमा के साथ प्रकट हुई। इसकी सब से बड़ी विशेषता उस नवीनता का ग्रहण था जो कबीर और मीरा में झलक दिखाकर छिप गयी थी अथवा जिसकी हल्की-सी झाँकी जब-तब हिन्दी के मुसलमान कवियो में दिखायी पड़ती थी। बोधा मे स्लामी भावुकता का प्रत्यक्ष तेज है और यही तेज उनकी कविता का मुख्य आकर्षण

१. विहारी की वाग्विभूति

भी है। वे ठीक रोमानी प्रेमी की तरह प्रेम की कठिनाई से घबराये हुए हैं और उन्हें यह भी क्षोभ है कि उनकी पीडा के समझनेवाले लोग उनके आस-पास नही हैं। फारसी का जो असर उर्दू-गजलो पर पडा, बहुत कुछ वही असर हम बोधा की कविताओ में भी देखते हैं।

यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है।

× × × ×

लोक की भीति डेरात जो मीत तो प्रीति के पैंरे परे जनि कोऊ।

× × × ×

हम कौन सो पीर कहैं अपनी, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

× × × ×

कहते ही बनै, सहते ही बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करे।

घनानन्द के समकालीन मीर और दर्द रहे होंगे। कितने सयोग की बात है कि जब मीर यह लिख रहे थे कि

वसीयत मीर ने मुझको यही की,
कि सब कुछ होना तो, आशिक न होना।

तब घनानन्द के मुख से यह पक्ति निकल रही थी कि

देह दहै, न रहै सुधि गेह की, भूलिहूँ नेह को नाँव न लीजै।

कविता में जब रोमानी भावदशा प्रकट होती है, तब कवियो का एक लक्षण यह होता है कि वे अपने आपको सब से अधिक प्यार करने लगते हैं और यह सकेत देने लगते हैं कि उनकी वैयक्तिक पीडाओ ने ही कविता का रूप ले लिया है। यह लक्षण मीर और घनानन्द, दोनो में मिलता है।

मीर कहते हैं,

मुझको शायर न कहो "मीर" कि साहब मैंने,
दर्दो-गम कितने किये जमा तो दीवान किया।

और घनानन्द का कहना है कि

लोग हैं लागि कबित्त बनावत, मोहि तो मेरे कबित्त बनावत।

इस्लामीय भावुकता और फारसी भाषा का थोडा-बहुत प्रभाव रीति-काल के अनेक कवियो पर देखा जा सकता है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक कवि की प्रेरणा सस्कृत से आती थी, केवल रचना के समय कुछ थोडा समकालीन प्रभाव उन पर पड जाता था। इस्लामी हुकूमत के मजबूत हो जाने पर मुस्लिम दरबारो और हिन्दू-राजवाडो में जो

विलासिता फैली, जो चाक-चिक्य और जगमगाहट उत्पन्न हुई, उसकी परछाईं विहारीलाल के दोहो में स्पष्ट दिखायी देती है। विहारीलाल तथा अन्य रीतिकारो में विरह-वर्णन का जो रूप मिलता है, उससे मिलता-जुलता रूप तत्कालीन उर्दू कवियो के भी विरह-वर्णन में है। उदाहरणार्थ, जब विहारीलाल यह लिख रहे थे कि

औंधाई सीसी सुलखि विरह-ज्वाल-बिललात,
बिच ही सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुयौ न गात।

तब उनके समकालीन उर्दू शायर आबरू पूछ रहे थे,

क्या सबब तेरे बदन के गर्म होने का सजन ?
आशिको में कौन जलता था, बदन जिसके लगा ?

विरह-जनित ताप का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन सस्कृत मे वहुत दिनो से होता आया था। सस्कृत से ही यह परपरा हिन्दी में आयी। पता नही, फारसी मे यह परपरा कहाँ तक वढी थी। यदि ईरानी कविता मे इस अत्युक्ति की परपरा कमजोर रही हो, तो मानना यही पडेगा कि भारत के फारसी और उर्दू के कवियो ने इस विषय मे अतिशयता की शिक्षा सस्कृत और हिन्दी से ही ग्रहण की होगी। लेकिन, अत्युक्ति की परंपरा सस्कृत और फारसी, दोनो ही भाषाओ में थी। सभव है, हिन्दी और उर्दू में वह सस्कृत और फारसी, दोनो ही भाषाओ से पुष्ट हुई हो।

फारसी और उर्दू मे पौराणिक प्रसग भी भारत के नही, अरब और ईरान के चलते थे। लेकिन, हिन्दी के किसी भी कवि ने इन प्रसगो को स्वीकार नही किया। केवल रसनिधि (जो मुसलमान थे) का एक दोहा मिलता है, जिसमे लैला और मजनूँ का प्रसग है।

कोऊ मजनूँ-गोर-ढिग, लेहु न लैला नाम,
दरदवन्त को नेकु तो लेन देहु बिसराम।

रसनिधि के ही एक दूसरे दोहे में हम "गरेबाँ चाक" का मुहाविरा और कज्जाक (अरबी में अर्थ होता है डाकू) शब्द का भी प्रयोग देखते है।

जेहि मग दौरत निर्दयी तेरे नैन कजाक,
तेहि मग फिरत सनेहिया किये गरेबाँ चाक।

जिन मरने थै जग डरै

मृत्यु को काम्य मानने का भाव भी भारतीय साहित्य मे कबीर से पहले नही मिलता है। यह देश निवृत्तिवादी था। यहाँ के दर्शनाचार्य लोक को असत्य और परलोक को सत्य बताते थे। लेकिन, इस दर्शन का सहारा लेकर कबीर से पहले के किसी भी भारतीय कवि ने यह नही कहा था कि चूँकि परलोक सत्य और लोक असत्य है, इसलिए, साधक को चाहिए कि वह, शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु को प्राप्त हो जाय।

मध्यकाल में भारत में भक्ति का जो विशाल आन्दोलन उठा, सन्यास और वैराग्य पर उसकी श्रद्धा अपार थी, किन्तु, भक्त कवि गार्हस्थ्य का विरोध नही सिखाते थे। उलटे, राधा और कृष्ण के प्रेम का वे जैसा वर्णन करते थे, उससे गार्हस्थ्य की महिमा बढती थी और नर-नारी-सबध किसी उच्च धरातल पर पहुँचने की प्रेरणा पाता था। ये कवि मृत्यु तो क्या, स्वय मोक्ष को भी काम्य नही समझते थे। मुक्ति के विरुद्ध इन कवियो का तर्क यह था कि जीव यदि ब्रह्म मे विलीन हो गया तो भगवान की सेवा करने का उसे अवसर कहाँ मिलेगा ? भक्त कवि मानते थे कि जैसी लीला भगवान ने मथुरा और गोकुल में की थी, वैसी ही लीला वे अपने परम धाम "गोलोक" में, शाश्वत रूप से, करते रहते हैं। अतएव, भक्तो की अभिलाषा रहती थी कि मरने के बाद हम गोलोक पहुँचे और वहाँ, मोक्ष से दूर रहकर, अनन्त काल तक भगवान की सेवा करते रहे। कृष्ण के भक्त जिस लोक को गोलोक कहते थे, राम के भक्त वैसे ही लोक को साकेत समझते थे और दोनो प्रकार के भक्त मुक्ति न माँगकर भगवान की सनातन सेवा के अधिकार की याचना करते थे। "देवा, तेरो भक्ति न छाडौं, मुक्ति न माँगौं, तव जस सुनौं-सुनावौं", यह कामना राम और कृष्ण, दोनो सम्प्रदायो के भक्तो की थी। रामाश्रयी वैष्णवो के परम अग्रणी सत गोसाई तुलसीदासजी ने काक-भुशुण्डी के मुख से कहलवाया है,

अस विचारि हरि भगत सयाने
मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।

और प्रसिद्ध कृष्णाश्रयी भक्त कवि परमानन्द दास कहते है,

कहा करौं वैकुंठहिं जाय ?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी, ग्वाल, न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

भक्त कवियो के मन में, भीतर-भीतर, अभिलाषा साकेत या गोलोक की भले ही रही हो, किन्तु, बाहर वे जो कुछ कहते थे, उससे जीवन के प्रति लोगो की आस्था बढती थी, जनता के बीच लोक को परलोक से श्रेष्ठ समझने का भाव उत्पन्न होता था तथा मनुष्य प्रकृति के दृश्य रूपो को प्यार करना सीखता था।

इसके विपरीत, सूफियो का दर्शन यह था कि जीव ब्रह्म से बिछुड कर जीव हुआ है। जब से जीव ब्रह्म से अलग हुआ, तभी से वह वियोग में है। इस वियोग की समाप्ति तब होगी, जब जीव शरीर से निकल कर स्वतत्र हो जायगा। जीव की स्थिति विरह की स्थिति है, यह दार्शनिक सिद्धान्त था। जब इस विरह की वेदनाओ का वर्णन कल्पना की भाषा में किया जाने लगा, साधक इस विरह की समाप्ति के लिए बेचैन हो उठे और

उसके अनेक मार्गो मे से एक मार्ग उन्हे मृत्यु में भी दिखायी देने लगा। कबीर ने यह बात पूरी सुस्पष्टता से कही है।[1]

जिन मरने थैं जग डरैं, सो मेरो आनन्द,
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरण परमानन्द।

मृत्यु भय की वस्तु नही, वह स्पृहणीय है, वह काम्य है, इस भाव का प्रचलन भारतीय साहित्य में सूफी-परपरा के प्रभाव से बढा है। कबीर के बाद मध्यकाल में हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओ मे इस भाव की आवृत्ति और कही हुई है या नही, यह हम नहीं बता सकते। किन्तु, आधुनिक युग मे इस भाव की अभिव्यक्ति हम हिन्दी और बँगला, दोनो ही भाषाओ मे पाते हैं। आधुनिक भारत के सब से बड़े कवि रवीन्द्रनाथ ने मृत्यु की मोहकता का वर्णन किया है तथा उसे आराध्य के समान आकर्षक और सुन्दर बताया है।

मरण रे तुहुँ मम श्याम समान।
मेघवरण तुझ, मेघ जटा-जूट,
रक्त-कमल-कर, रक्त-अधर-पुट,
ताप-विमोचन करुण कोर तव,
मृत्यु-अमृत करे दान।

रवि बाबू की "खेया" में भी एक कविता है, जिससे मृत्यु के प्रति उनका प्रेम प्रकट होता है, यद्यपि, मृत्यु के रूप में भी भगवान ही आते है, इस आरोप के कारण, यह मृत्यु-प्रेम सार्थक हो गया है।

आँधारे मुख ढाकिले स्वामी,
तोमारे तबू चिनिबो आमी,
मरण-रूपे आसिले प्रभू,
चरण धरि मरिबो हे।

रवीन्द्रनाथ जिस वातावरण मे पले थे, उसमे सूफी-सस्कार मौजूद था। ब्राह्म समाज में सूफी कविताओ का काफी चलन था। राममोहन राय और देवेन्द्रनाथ ठाकुर हाफिज आदि फारसी कवियो की गजलें बड़ी ही श्रद्धा से पढते थे। ये लोग स्नान-

---

१ कबीर इस सभावना मे भी विश्वास करते है कि विरह-समाप्ति का एकमात्र मार्ग मृत्यु ही नही है, मिलन का सुख जीवन-मुक्त को भी मिलता है।

हौं तोहि पूछौ हे सखी, जीवत क्यो न मराइ,
मूवा पीछे सत करै, जीवत क्यो न कराइ?

कबीर के शिष्य दादूदयाल ने भी कहा है,

मूवा पीछे मुकुति बतावै, दादू जग भरमावै।

पूजा के समय वेद-मंत्रो के साथ फारसी की गजलें भी गाया करते थे। ब्राह्म समाज के दूसरे नेता केशवचद्र सेन भी हाफिज के अच्छे प्रेमी और मर्मज्ञ थे।[१]

किन्तु, मृत्यु को काम्य मानने का जो भाव रवीन्द्रनाथ में कुछ-थोडा झिलमिल दीखता है, वह हिन्दी-कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा मे अत्यत स्पष्ट है। सूफियो ने जो यह सिद्धान्त चलाया था कि मृत्यु एक माध्यम है जिससे हमारा विकास होता है, उस सिद्धान्त की मनोरम एव अत्यत सुस्पष्ट कविताएँ भारत में महादेवीजी ने लिखी है।

अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास,
सृष्टि का है यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान।[२]

× × × ×

विसर्जन ही है कर्णधार, वही पहुँचा देगा उस पार।[३]

× × × ×

इस असीम तम में मिल कर मुझको पल भर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव, आज मेरा दीपक बुझ जाने दो।[४]

× × × ×

रहने दो हे देव, अरे, यह मेरा मिटने का अधिकार।[५]

जो भाव हम कबीर, रवीन्द्र और महादेवी मे देखते है, वह उर्दू-कवियो मे भी काफी सुस्पष्ट है। निश्चय ही, उर्दू-समेत भारत की अनेक भाषाओ में यह भाव ईरान के सूफी कवियो से आया होगा।

मर्ग इक मान्दगी का वक्फा है, यानी आगे चलेंगे दम ले कर।
—मीर

कैदे-हयात, बन्दे-गम, अस्ल में, दोनों एक है,
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यो?
—गालिब

कहा पतंग ने ये दारे-शमअ पर चढ कर,
अजब मजा है जो मर लें किसी के सर चढ कर।
—जौक

फकीरो से सुना है हमने हातिम,
मजा जीने का मर जाने में देखा।
—हातिम

---

१. द वेस्टर्न इनफ्लुएसेज आन् बेंगाली लिटरेचर
२. आधुनिक हिन्दी कवि
३ वही
४. नीहार
५ आधुनिक हिन्दी कवि

भक्तों का बहुरियावाद

गीता मे जिस भक्ति का प्रतिपादन है, उसमें परमेश्वर के साथ पति-पत्नी का सवन्ध जोडने का उपदेश नही है। आलवार भक्त भी अपने को प्रभु का दास ही समझते थे। केवल ओन्दाल ने कृष्ण को अपना पति माना था। रामानुजाचार्य ने भी विष्णु के साथ सेव्य-सेवक-भाव के सवन्ध का ही उपदेश दिया था। वल्लभाचार्य भी अपने को राधा और कृष्ण का दास ही समझते थे। अतएव, यह समझ मे नही आता कि आगे चलकर भक्तो ने भगवान के साथ पति-पत्नी का सवन्ध कैसे जोड लिया। आश्चर्य नही कि इसके पीछे भी सूफी-साधना का कही कोई हाथ हो।

धर्म के साथ मादन भावो का कुछ थोडा संयोग भारत में भी था और भारत से वाहर के ईसाइयो मे भी। सोलोमन के गीत एक ओर तो रहस्यवाद के गीत समझे जाते है, दूसरी ओर वे नर-नारी मिलन का भी वर्णन करते है। भारत मे ब्रह्मानन्द की उपमा कामानन्द से दी जाती थी। मादन भावो के उद्रेक के कारण, एक समय, भारत मे धर्म-साधना अत्यत व्याकुल हो उठी थी, इसका वर्णन हम दूसरे अध्याय के तंत्र-मार्गी प्रकरण मे कर आये है। फिर सहजयान ने नर और नारी को कृष्ण और राधा का प्रतीक मान लिया और साधक-साधिका का शारीरिक मिलन भी राधा-कृष्ण के मिलन का प्रतीक माना जाने लगा। इन सारी वातो का परिणाम यह हुआ कि मादन भाव धर्म के वृत्त मे अथवा उसके काफी समीप आ गये। जव इतनी वाते हो चुकी थी, तव भारत मे ईरान का सूफी-मत प्रचलित हुआ। अतएव, भक्त और भगवान के बीच पति और पत्नी-भाव की स्थापना मे उसे अधिक कठिनाई नही हुई।

वहुत कुछ सहज-यानियो के ही समान, सूफी साधक भी इश्क-मजाजी को इश्क-हकीकी का सोपान समझते थे। ये परमात्मा को परम सौन्दर्य (अर्थात् प्रेमिका) के रूप मे भजते थे। प्रेम का यह नाता कवीर दास ने भी ग्रहण किया। किन्तु, परमात्मा को उन्होने पति और अपने को उनकी "वहुरिया" माना[1] जिसका कारण यह था कि भारतीय परपरा में प्रेमकी प्रथम अभिव्यक्ति नारी ही करती आयी थी, फारसी की तरह नर नही। कवीर के वाद मीरावाई ने भी श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया जैसे भगतिन ओन्दाल ने माना था।[2] किन्तु, ओन्दाल और मीरावाई नारी थी। अतएव, परमात्मा को उन्होनें यदि पति माना तो इसमे कोई हेत्वाभास नही था। न हेत्वाभास का दोष हम ईरान के मर्द सूफियो पर लगायेंगे जो परमात्मा को अपनी प्रेयसी के रूप मे भजते थे। हेत्वाभास का दोष तभी होगा जव नारी परमात्मा को अपनी प्रेयसी माने और पुरुष अपना पति। किन्तु, भागवत-पुराण की प्रेमा-भक्ति और

---

१ राम मोर साईं, मैं राम की वहुरिया।

२ कहते है, फारस की सूफी भगतिन रविया का भी भगवान से ऐसा ही सवध था।

सहजयानियो की साधना से सेवित परपरा पर सूफियो के मादन भावो का कुछ ऐसा प्रभाव पडा कि सत-महात्माओ में से अनेक परमात्मा से पति-पत्नी का सबन्ध जोड बैठे। चैतन्य महाप्रभु ने अपने को ही राधा मान लिया तथा माधुर्य-भाव से भगवान को भजनेवाले अनेक भारतीय सतो ने यह घोषणा कर दी कि पुरुष तो एक कृष्ण है, बाकी सारी आत्माएँ उनकी राधा लगती हैं। यह भाव जब कृष्ण के सबध मे स्थापित हो गया, तब रामाश्रयी भक्तो ने भी, अपनी माधुर्य की पिपासा मिटाने के लिए, अपने यहाँ सखी-सप्रदाय का प्रचलन कर दिया।

कबीर ने परमात्मा को अपना पति मानकर विरह की बेचैनियो एव काल्पनिक मिलन के आनन्द का वर्णन ऐसे मार्मिक ढग से किया है कि बाकी भक्तो पर उसका प्रभाव पडे बिना नही रह सकता था।

चूड़ी पटकौं पलँग से, चोली लावौं आगि,
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गर लागि।
सोवौं तो सुपने मिले, जागौं तो मन माहिं,
लोचन राता, सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं।
नैनो की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय,
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय।
ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरति रहे पिय माहिं,
ऐसे जन जगमें रहैं, हरि को भूलत नाहिं।
सपने में साइँ मिले, सोवत लिया जगाय,
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना होय जाय।

और इसी परपरा के व्रती दादूदयाल भी थे। उनका भी कहना है,

पुरिख हमारा एक है, हम नारी बहु अंग,
जे-जे जैसी ताहि सौं, खेले तिस ही रंग।

और गुरु नानक भी परमात्मा के साथ इस सबध मे विश्वास करते थे।

भनति नानकु सभन का पिउ एको सोई,
जिस नो आदर करे सो सोहागण होई।

सास्कृतिक समन्वय का कार्य इसी अदृश्य गति से चलता है। एक समन्वय चीटी भी पैदा करती है, जब वह अनेक नाजो के कणो को एक जगह जमा कर देती है। किन्तु, यह समन्वय असली समन्वय का पर्याय नही होता। सच्चा समन्वय मधुमक्खी का काम है, जो रस तो अनेक फूलो से लाती है, किन्तु, मधु के स्वाद से सभी फूलो की अलग-अलग पहचान नही की जा सकती। भगवद्गीता, पाचरात्र, आलवारो की साधना, भागवत-पुराण और रामानुज के सिद्धान्तो से कबीर और चैतन्य का "बहुरियावाद"

बहुत दूर पडता है। किन्तु, वह उनके समीप भी है, क्योकि प्रेम और माधुर्य का, कुछ-न-कुछ, पुट पहले की भी भक्ति-परपरा मे था। उस परपरा को सूफियो के प्रभाव ने और भी तेज कर दिया।

भाषा पर प्रभाव

फारसी और अरबी भाषाओ का, बहुत जोर का, प्रभाव सिन्ध, कश्मीर और पजाब में पडा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सिन्धी, कश्मीरी और पजाबी भाषाएँ विशुद्ध आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं और सस्कृत तथा प्राकृत और अपभ्रश के साथ उनका वही सबध है जो हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाओ का माना जाता है। किन्तु, सिन्धी, पजाबी और कश्मीरी में अरबी और फारसी के इतने अधिक शब्द घुस पडे कि आर्य-भाषाओ की स्वाभाविक सस्कृत-निष्ठता इन भाषाओ से बहुत दूर हो गयी। जब से हिन्दी भारत की राज-भाषा घोषित की गयी है, सारा भारतवर्ष चाहता है कि राजभाषा हिन्दी सस्कृत-निष्ठ हो। किन्तु, सिन्ध, कश्मीर और पजाब के लोग हिन्दी में अधिक प्रचलन अरबी और फारसी के शब्दो का चाहते है, क्योंकि अरबी और फारसी शब्दो के साथ उनका परिचय बहुत अच्छा है। और तो और, अरबी और फारसी का प्रभाव इन भाषाओ के व्याकरण पर भी पडा है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उर्दू भी हिन्दी ही है, किन्तु, हिन्दी से भिन्न वह इसलिए समझी जाती है कि उसकी लिपि फारसी है और अपने गठन मे उसने अरबी-फारसी व्याकरणो के भी कुछ नियम कबूल कर लिये हैं।

अरबी और फारसी शब्दो का थोडा-बहुत प्रवेश मराठी और गुजराती मे भी हुआ, लेकिन, इन भाषाओ ने अरबी-फारसी के केवल शब्द ही लिये। उनका व्याकरण गुजराती और मराठी मे उतना ही अग्राह्य रहा जितना अग्राह्य वह हिन्दी मे रहा है। किन्तु, बँगला-भाषा ने अरबी-फारसी शब्दो के लिए कोई खास उत्साह नही दिखाया।

बँगला में अरबी-फारसी के शब्द, कदाचित्, उतने भी नही हैं जितने गुजराती और मराठी भाषाओ में पाये जाते हैं। कारण यह हुआ कि जो मुसलमान बगाल पहुँचे उनका सबध दिल्ली और आगरे से बहुत कम रह गया। अतएव, फारसी उनके लिए आदर की वस्तु तो रही, किन्तु, दैनिक कार्य-कलाप अथवा वार्तालाप मे उसका उपयोग असभव हो गया। एक कारण यह भी हुआ कि बगाल में झुण्ड के झुण्ड हिन्दू एक साथ मुसलमान हुए थे। अतएव, उनकी भाषा-विषयक स्वाधीनता अक्षुण्ण रह गयी। एक तो बगाल के शासक भारत मे इस्लाम के केन्द्र से दूर थे। उनके लिए यह शक्य नही था कि वे फारसी और अरबी से अपना नजदीकी सबंध बनाये रखें। दूसरे, बहुत बडी सख्या मे हिन्दू से मुसलमान होनेवाले बगालियो ने अपनी भाषा को इस्लामी सस्कृति की भी भाषा बना दिया। इसका एक सुपरिणाम यह है कि बगाल मे भाषा को लेकर कोई साप्रदायिक द्वन्द्व नही है।

परन्तु, मुसलमानो की राजधानी हिन्दी-भाषी भूभाग में थी, अतएव, अरबी और फारसी शब्दो का जितना अधिक प्रचलन देश के इस भाग मे हुआ, उतना कही और नही हो सका। अकबर के समय मे आकर जब फारसी भारत की राजभाषा हो गयी, तब फारसी उन सभी हिन्दुओ को सीखनी पडी जो राजकाज में सम्मिलित होना अथवा मुसलमानी दरबारो में इज्जत पाना चाहते थे। और मुसलमानी दरबार ही क्यो, अधिकाश हिन्दू-राजवाडो के यहाँ भी फारसी का ही चलन था। अतएव, जो भी व्यक्ति इन राजवाडो मे नौकरी करना चाहता, उसे फारसी सीखे बिना और कोई चारा नही था। फारसी का समाज पर ऐसा प्रभुत्व छा गया था कि अभी उन्नीसवी सदी के अन्त तक अच्छे-अच्छे हिन्दू रईस अपने बच्चो को फारसी जरूर पढाते थे, क्योकि समझा यह जाता था कि फारसी पढे बिना आदमी तमीजदार और सुसभ्य नही हो सकता। ऐसी स्थिति में अचरज की बात यह नही हुई कि हिन्दी-भाषा में अरबी और फारसी के बहुत अधिक शब्द प्रवेश पा गये। आश्चर्य इस बात पर होना चाहिए कि, ऐसे घमासान मे, हिन्दी ने अपनी सस्कृतनिष्ठ प्रकृति की रक्षा कैसे की। अवश्य ही, हिन्दी-भाषी ससार मुस्लिम-युगीन उन सतो, साधको एव समर्थ कवियो के ऋण-भार से कभी भी मुक्त नही होगा, जिन्होंने हिन्दी को अरबी और फारसी के समुद्र में गर्क होने से बचा लिया।

फिर भी, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि हिन्दी के तत्कालीन कवि इस बात से अवगत थे कि हिन्दी पर कोई विदेशी भाषा आक्रमण कर रही है और हम हिन्दी को उसके प्रहारो से बचा रहे हैं। सूरदास, तुलसीदास, केशव, बिहारी और मतिराम तथा उनके अन्य सहधर्मी मुस्लिम शासन के न तो विरोधी थे, न मुसलमानो से उन्हे कोई असतोष था। इसी प्रकार, उन्हे फारसी भाषा से भी घृणा नहीं थी। किन्तु, एक बात वे निश्चित रूप से जानते थे कि जिस भाषा मे हम लिख रहे हैं, वह फारसी नही, इसी देश की भाषा है। इस भाषा को सस्कृत से भिन्न तो वे समझते थे, किन्तु, सस्कृत की परपरा से अलग जाने का उनमे कोई भाव नही था। हिन्दी का हिन्दी, हिन्दुई हिन्दवी या रेखता नाम या तो ये कवि जानते ही नही थे, अथवा ये नाम उन्हें नापसन्द थे। जिस भाषा में वे लिख रहे थे, उसे और कोई नाम न देकर उन्होंने केवल भाखा कहा है[1]।

---

१. ससकिरत है कूप-जल, भाखा बहता नीर। —कबीरदास

पराकिरत मधि ऊपजे, ससकिरत सब वेद,
अब समझावै कौन करि पाया भाषा-भेद। —रज्जब

आदि अन्त जस गाथा अही,
कह चौपाई भाखा कही। —जायसी

जिन दिनो सूर, तुलसी और आचार्य केशवदास हुए अथवा जिस समय दक्खिनी हिन्दी के मुस्लिम कवि उर्दू का आरभ कर रहे थे, उन दिनो शब्दो के बहिष्कार की ओर ध्यान न तो हिन्दुओ का गया था, न मुसलमानो का। दक्खिनी हिन्दी के आरभिक मुस्लिम कवि छन्द तो फारसी के ही रखते थे, किन्तु, शब्द उनके अत्यधिक हिन्दी भाषा से ही आते थे। इसी प्रकार, हिन्दी के कवि, यद्यपि, यह जानते थे कि उनकी भाषा सस्कृत के समीप है, फिर भी, अरबी-फारसी शब्दो से बिलकुल बच कर लिखने की उनकी बान नही थी। पृथ्वीराज-रासो नामक महाकाव्य के रचयिता चदवरदाई लाहौर के थे, जहाँ मुस्लिम-राज्य पृथ्वीराज के कोई दो सौ वर्ष पहले से ही मौजूद था। चदवरदाई ने अपने महाकाव्य मे अरबी और फारसी शब्दो का इतना अधिक प्रयोग किया है कि देखकर आश्चर्य होता है।[1] अथवा आश्चर्य की इसमे कोई बात नही है। यह उस ऐतिहासिक स्थिति का परिणाम था जिसके कारण पजाबी, सिंधी और कश्मीरी भाषाओ में अरबी तथा फारसी शब्दो का अत्यधिक प्राचुर्य हो गया।

हिन्दी-कवियों की भाषा-नीति

अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग कबीर और उनके अनुयायियो ने काफी किया, यद्यपि, जायसी में हम ऐसे शब्दो की सख्या अपेक्षया कुछ कम पाते है। रसखान की रचनाओ और रहीम की हिन्दी-कविताओ में यह सख्या और भी न्यून है। जिस कवि के जैसे भाव होते है, शब्द भी उसके सामने वैसे ही आते है। जिसे हिन्दू और मुसलमान, दोनो को सबोधित करना था, उसने शब्द भी दोनो की भाषाओ से लिये। किन्तु, जिसका उद्देश्य केवल सूक्ति गढना अथवा सौन्दर्य का विधान था, उसे अरबी-फारसी की जरूरत बहुत कम पडी। लेकिन, हिन्दी-कवियो की दृष्टि साप्रदायिक थी या नही, इसका अन्तिम प्रमाण गोसाईं तुलसीदास की रामायण मे खोजा जा सकता है। रामायण हिन्दू-सस्कृति का महा-ग्रन्थ है। इस महाकाव्य मे लगभग छह हजार वर्षो के प्रगाढ़ हिन्दू-चिन्तन

भाषा-भणित मोरि मति थोरी,
हँसिवे जोग हँसे नहि खोरी। —तुलसीदास

भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास,
भाषा कवि भौ मन्दमति तेहि कुल केशवदास। —केशवदास

१ दे० 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' मे उद्धृत पृथ्वीराज-रासो का अश। चदवरदाई ने दावा किया है कि उनके काव्य में पुराण ही नही, कुरान का भी प्रतिपादन किया गया है।

उक्ति धर्म विशालस्य राजीनीति नव रस।
पट् भाषा पुराण च कुरान कथित मया।
—समय १, रूपक ३८

पृथ्वीराज का कवि और इस्लाम के प्रति यह आदर का भाव, यही हिन्दू-धर्म था।

का सार समोया हुआ है और इस ग्रन्थ का सम्मान भी वैसा ही है जैसा सम्मान बाइबिल अथवा कुरान का देखा जाता है। किन्तु, ऐसे धार्मिक काव्य मे भी हम अरबी और फारसी शब्दो के नि सकोच प्रयोग अनेक स्थलो पर पाते है जो इस बात का प्रमाण है कि गोसाईंजी मे भाषा को लेकर साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नही थी।[1] यह ठीक है कि अरबी-फारसी के शब्द गोसाईंजी ने बहुत कम लिये है, किन्तु, उतने शब्दो से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि अरबी-फारसी शब्दो से उन्हे घृणा नही थी।

तुलसीदास जिस भाषा में लिख रहे थे, वह अत्यन्त समर्थ और सक्षम भाषा थी। इसलिए, यह सोचना नितान्त भूल है कि अरबी और फारसी के शब्द उन्होने इसलिए ग्रहण किये कि हिन्दी मे उनके पर्याय नही थे। तुलसीदास चाहते तो अरबी-फारसी शब्दो का बहिष्कार, बडी आसानी से, कर सकते थे। किन्तु, बहिष्कार की नीति किसी भी विधायक कलाकार की नीति नही होती। इसीलिए, अरबी और फारसी के जो प्रचलित शब्द तुलसी की कल्पना के सामने उपस्थित हुए, महाकवि ने उनकी सेवा स्वीकार कर ली। अरबी और फारसी के सान्निध्य से हिन्दी में एक नयी शक्ति उत्पन्न हो रही थी, एक नया प्रवाह आ रहा था। भाषा के इस नवीन रूप को तुलसीदास ने अपनी रचना में स्थान दिया, इससे उनकी भाषा-मर्मज्ञता की ही सूचना मिलती है।

भाषा की शक्ति कठिन नही, आसान शब्दो के प्रयोग से निखरती है। भाषा का सौन्दर्य तब बढता है, जब लेखक उन सभी शब्दो को सहानुभूति से देखता है जो जनता की जीभ पर चढे हुए है। कोई भी शब्द केवल इसीलिए ग्राह्य नही होता कि वह सस्कृत-भण्डार का है, न शब्दो का अनादर केवल इसलिए उचित है कि वे अरबी या फारसी भण्डार से आये है। जो भी शब्द प्रचलित भाषा में चल रहे है, जो भी शब्द सुगम, सुन्दर और अर्थपूर्ण है, साहित्यिक भाषा भी उन्ही शब्दो को लेकर काम करती है, यह विचार आज भी समीचीन समझा जाता है और मध्यकाल के लेखक और कवि भी उसे उचित समझते थे। मध्ययुगीन हिन्दी कवियो की भाषा-नीति क्या थी, इसका अत्यत स्पष्ट उल्लेख कविवर भिखारी दास (जन्म सन् १६९८ ई०) ने किया है, जो काव्यशास्त्र के सम्मानित आचार्य थे।

---

१ गनी गरीब ग्रामनर नागर।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास।
बर लायक दुलहिन जग नाही।
बहु जिनस प्रेत-पिशाच जोगि जमात बरनत नहिं बने।
बन बाग कूप तडाग सरिता सुभग सब सक को कही।
चारु बजारु विचित्र अँबारी।
कुभकरन कपि फौज बिडारी।
राम धनुष तोरब सक नाही। इत्यादि।

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत-पारस्यो, पै अति सुगम जु होय।

अर्थात् विद्वानो की दृष्टि मे ब्रजभाषा अत्यंत मनोरम भाषा है और सस्कृत तथा फारसी के शब्द भी उसमें रखे जा सकते हैं यदि वे काफी आसान हो।

अन्यत्र भिखारीदासजी ने अपने इस मत की पुष्टि यह कहकर भी की है कि कवियों के अग्रणी नेता तुलसीदास और कवि गग है क्योकि उनकी भाषा मे अनेक भाषाओ के शब्द पाये जाते हैं।

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन को सरदार,
जिनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।

खिचडी भाषा नकली भी हो सकती है और स्वाभाविक भी। नकली वह तब होती है, जब हम खिचडी भाषा लिखने का जान-बूझ कर प्रयास करते हैं। स्वाभाविक वह तब बनती है, जब साहित्य मे अनेक भाषाओ के शब्द सहज गति से आकर अपनी जगहो पर बैठ जाते है। ऐसी खिचडी अथवा मिश्रित भाषा की बड़ाई भिखारीदास भी करते थे और उनके समय के अन्य लोग भी। हिन्दी मे किसी कवि का एक और दोहा प्रचलित है जिससे इस बात की पुष्टि होती है।

अन्तरवेदी नागरी, गौड़ी पारस देस,
अरु अरबी जामे मिले, मिश्रित भाषा-भेस।

हिन्दी में अरबी और फारसी शब्द

हिन्दी से अरबी का तो कोई पारिवारिक सबन्ध नही है, किन्तु, फारसी हिन्दी की मौसेरी बहन लगती है। जेन्दावेस्ता की भाषा और वैदिक सस्कृत कभी एक ही भाषा थी। जेन्दावेस्ता की भाषा से आगे चलकर फारसी उत्पन्न हुई और वैदिक सस्कृत की परपरा से हिन्दी का विकास हुआ है। आज भी फारसी और सस्कृत के अनेक शब्दो में आश्चर्यजनक समानता देखी जा सकती है।[1]

---

१ प० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी ने "हिन्दी पर फारसी का प्रभाव" नामक पुस्तक मे ऐसे शब्दो की काफी बडी तालिका दी है। उनमें से कुछ शब्द ये है :—श्वसुर, खसुर। पृष्ठ, पुश्त। अस्ति, अस्त। गो, गाव। आप, आव। अश्व, अस्प। शर्करा, शकर। हस्त, दस्त। बाहु, बाजू। पाद, पा। गोधूम, गन्दुम। तारा, तारा। पच, पंज। चत्वार, चहार। सप्त, हफ्त। हर्म्य, हरम। चक्षु, चश्म। चक्र, चर्ख। अहिफेन, अफयून। तृष्णा, तिश्ना। भ्रू, अब्रू। साय, शाम। क्षीर, शीर। मेघ, मेग। कर्पूर, काफूर। मुष्टि, मुश्त। इत्यादि।

हिन्दी मे अरबी और फारसी के कितने शब्द है, इसकी गिनती नही की जा सकती। विचित्रता की बात यह है कि हिन्दी के पास आज अरबी और फारसी के कुछ ऐसे भी शब्द है जिनके तत्सम या देशज पर्याय है ही नही। सभव है, इनके पर्याय पहले रहे हो और बाद को अरबी और फारसी शब्दो ने उन्हें पराजित करके मैदान से निकाल दिया हो। अथवा यह भी सभव है कि जिन चीजो के ये नाम है, वे चीजें इस देश में मुसलमानो के साथ आयी थी या उनके बाद पहुँची है। तब भी, पायजामा, इजारबन्द, रुमाल, शाल, दोशाला, पुलाव और अचार, इनका चलन भारतवर्ष में मुस्लिम-आगमन से पहले भी था, लेकिन, इन चीजो को यहाँ के लोग क्या कहते थे, अब इसका पता नही है। आभूषणो में हमेल, बाजूबन्द, जजीर और पायजेब पहले भी पहने जाते थे और इनके सस्कृत नाम पुस्तको मे मिलते भी है, किन्तु, इन गहनो के सस्कृत नाम अब सुनायी भी नही देते। तकिये को सस्कृतवाले उपधान कहते थे, किन्तु, उपधान क्षेत्र से बाहर चला गया। अब तकिया ही मौजूद है। इसी प्रकार, हुक्का, नैचा, चिलम, बन्दूक, तस्ता, बादाम (स० वाताम), मुनक्का, बेदाना, खूबानी, अजीर, सेब, अनार, जलेबी, बालूशाही, मुरब्बा, गुलाब, तश्तरी, चमचा, शीशी, शीशा, दलाल, वकील, सराफ, लिहाफ, तोशक, चादर, तबियत, मिजाज, बर्फ, दवात, चश्मा, सन्दूक, कुर्सी, लगाम, जीन, तग, रकाब, जहाज, पर्दा, दालान, रुख, मल्लाह, रसद और कारीगर, ये सभी शब्द अरबी या फारसी के है। अगर ये शब्द हिन्दी से निकाल दिये जायें तो इनकी जगह लेनेवाले हिन्दी मे और शब्द नही मिलेगे। कुछ शब्द ऐसे जरूर है जिनके सस्कृत पर्याय भी है, किन्तु, जनता इन सस्कृत पर्यायो के बदले विदेशी शब्दो को ही पसन्द करती है। कबूतर और कपोत, चेहरा और आकृति, मजदूर और श्रमिक, स्याही और मसि, दवात और मसिपात्र, कलम और लेखनी, गुलाब और पाटल तथा ताजा और नवीन मे से जनभाषा में प्रचलन उन्ही शब्दो का है, जो विदेशी है।

अरबी और फारसी के विशेषणो और सज्ञा-वाचक शब्दो को हिन्दी ने बडी ही उदारता से स्वीकार किया। परहेज हिन्दी ने केवल यह बरता है कि अपने व्याकरण पर अरबी और फारसी का उसने कोई भी प्रभाव पडने नही दिया। अरबी और फारसी शब्दो के भी बहुवचन हिन्दी मे हिन्दी-व्याकरण के ही अनुसार बनाये जाते है। सतर्कता की एक प्रथा यह भी है कि अरबी-फारसी शब्दो के साथ सस्कृत की विभक्तियाँ हिन्दीवाले नही लगाते।

लेकिन, केवल सज्ञा और विशेषण ही नही, अरबी-फारसी के बहुत-से शब्द क्रिया-विशेषणके भी क्षेत्र मे है, जिन्हे अगर हटा दिया जाय तो हिन्दी की लोच मे कमी आ जायेगी। -जल्द, बिलकुल, यानी, बेशक, अलबत्ता, जरूर-जरूर, हर्गिज, करीब-करीब, वगैरह, -फौरन, मसलन, शायद, खैर, वाकई, राजीखुशी, बदले, लायक, बाबत, खातिर, खैर, वास्ते, तरफ, बाद, सिवा, सिवाय, मगर, अलावा, लेकिन, या, वर्ना, बावजूद, बशर्ते,

अगर,अगर्चे, चूँकि, बल्कि, ताकि, गोया, कि, व आदि शब्द[1] ऐसे हैं जो अरबी और फारसी के होने पर भी हिन्दी भाषा के अंग हैं। इन्हें हिन्दी से निकालने की कोशिश हिन्दी को कमजोर बनाने की ही कोशिश होगी।

---

१ "हिन्दी पर फारसी का प्रभाव" से उद्धृत

प्रकरण ११

उर्दू का जन्म

खड़ी बोली में साहित्य-रचना

मुहम्मद गजनी, मुहम्मद गोरी और बाबर, इन तीन मुस्लिम-विजेताओं में से कोई भी, खान्दान से, ईरानी नही था। किन्तु, ईरानी या फारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा हो गयी थी एव भारत में भी जो मुसलमान आये, उनकी अपनी भाषा फारसी ही थी। आरभ में भारत के मुसलमान या तो फारसी में कविता करते थे या फिर खुसरो, जायसी, रहीम और रसखान की तरह, ब्रजभाषा और अवधी में। किन्तु खुसरो की हिन्दी-कविताओं से एक नयी चेतना जगी कि जो बोली दिल्ली और आगरे के पास बोली जाती थी, उसमें साहित्य का सर्जन सभव है।

जब हम खडी बोली के इतिहास को उठाते हैं, तब, निश्चित रूप से, हमें मानना पड़ता है कि इस भाषा का प्राचीनतम लिखित साहित्य खुसरो का ही है। इसलिए, खुसरो खडी बोली हिन्दी और उर्दू, दोनो के जनक माने जाते हैं। किन्तु, खुसरो ने केवल खडी बोली में ही कविता नही लिखी। उनके गीत और दोहे ब्रजभाषा अथवा उस काल की काव्य-भाषा में मिलते हैं। ठेठ खडी बोली अथवा बोलचाल की भाषा उनकी मुकरियो, पहेलियो और दो-सखुनो में ही प्राप्त होती है।[1]

इससे दो अनुमान निकलते हैं। एक तो यह कि खुसरो के समय में ब्रजभाषा का कोई मिश्रित रूप काव्य की भाषा हो चला था। दूसरा यह कि सामान्य जनता की भाषा खडी बोली थी, जिसमें खुसरो ने बच्चो, स्त्रियो एव जन-साधारण के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ और मुकरियाँ कही। खुसरो की मृत्यु के कोई ७८ वर्ष पूर्व नरपति नाल्ह ने बीसलदेव-रासो और कोई सौ वर्ष पूर्व, चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज-रासो लिखा था। किन्तु, इन काव्यों की भाषा अपभ्रंश से पीड़ित है। लगता है, नरपति नाल्ह और चन्दवरदाई उस भाषा में कविता कर रहे थे, जो परपरा से काव्य की भाषा मानी जा रही थी। तत्कालीन जनभाषा में काव्य रचने की बात उन्हें नही सूझी। खुसरो की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने समय की जनभाषा को पकड़ा। उनकी पहेलियों की ही नही, कविता की भाषा भी बहुत साफ है।

---

१. दे० हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल। किन्तु, इतिहासकार डा० रामप्रसाद त्रिपाठी यह सोचते हैं कि ये मुकरियाँ खुसरो की हैं या नहीं, यह नितान्त सदिग्ध माना जाना चाहिए।

खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग।

जो भाषा नरपति नाल्ह को नहीं दिखायी पड़ी, वह खुसरो के ध्यान पर कैसे चढ़ गयी, इसका कारण यह हो सकता है कि खुसरो परदेशी होने के कारण यहाँ के साहित्य से इतने प्रभावित नहीं रहे होंगे कि उसकी परंपरा उन पर आतंक जमाती। अपने मुख्य भाव तो वे फारसी में लिखते थे। हाँ, जनता के मनोरंजन के लिए कुछ चीजें उन्होंने यहाँ की भाषा में भी कह दीं। और जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए, उन्होंने जनता की बोली का आश्रय लिया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में खुसरो ने बहुत बड़ी क्रांति की और, सत्य ही, वे हिन्दी और उर्दू के प्रवर्त्तक कहलाने के योग्य हैं। जिस खड़ी बोली में खुसरो ने मुकरियाँ कही हैं, वह तत्कालीन जनभाषा थी, खुसरो का आविष्कार नहीं। इसका एक प्रमाण तो यह है कि प्रचलित जनभाषा को हेय मानकर परंपरा से आती हुई काव्य-भाषा में लिखनेवाले कवियों की भाषा में भी यह जनभाषा, जब-तब, झलक मार देती थी जिसका प्रमाण हेमचन्द्र (खुसरो से कोई सौ वर्ष पूर्व) की यह बहुधा उद्धृत पंक्ति है :—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु।

दूसरा प्रमाण यह है कि खुसरो से कोई सत्तर साल बाद होनेवाले महाराष्ट्र के संत कवि नामदेव की रचनाओं में हम खड़ी बोली का बहुत-कुछ सुस्पष्ट रूप पाते हैं :—

माई न होती, बाप न होते, कर्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया।

खुसरो की खड़ी बोली की अपेक्षा नामदेव की खड़ी बोली का रूप ईषत् हीन है। प्रचलित बोली का रूप वही रहा होगा, जिसके नमूने हमें खुसरो में मिलते हैं। नामदेव की भाषा के विकार का कारण कुछ तो सधुक्कड़ी प्रवृत्ति है और कुछ यह बात कि, जन्म-स्थान की दृष्टि से, नामदेव खड़ी बोली के क्षेत्र से दूर पड़ते थे।

खड़ी बोली पर उर्दू वालों का कभी भी एकाधिपत्य नहीं था, यह सिद्ध करने के लिए हिन्दी के विद्वान हेमचन्द्र से लेकर खुसरो, कबीर, दादू दयाल, मलूकदास, कुलपति, पद्माकर, नागरीदास, ग्वाल और सीतल तक के उदाहरण बटोर कर यह कहते हैं कि यद्यपि, हिन्दी-कविता की मुख्य भाषा अवधी या ब्रजभाषा ही थी, फिर भी, खड़ी बोली से हिन्दी-कवि अपरिचित नहीं थे तथा वे, समय-समय पर, उसका भी उपयोग कर लेते थे।[1]

---

१. भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु। —हेमचन्द्र (११५५ ई०)
अरथ तो इसका बूझेगा, मुँह देखो तो सूझेगा। —खुसरो (१२५० ई०)
मन मेरी सुई, तन मेरा धागा, खेचर जी के चरण पर नामा सिपी लागा।
—नामदेव (१३५० ई०)

किन्तु, इतना कह देने से इस बात का खडन नही होता कि खडी बोली को साहित्य की भाषा मुसलमानो ने ही बनाया। हिन्दी वाले अपभ्रंश का प्रभाव ढोते हुए एक खास परपरा में चल रहे थे और इस परपरा का जो मेल अवधी और ब्रजभाषा से बैठता था, वह मेल खडी बोली से नही बैठता था। इस परपरा से अनभिज्ञ अथवा अप्रभावित रहने के कारण, खडी बोली की ओर ध्यान मुसलमान कवियो का ही गया, क्योकि यही वह भाषा थी जिसमे राजधानी के आसपास के लोग बात करते थे और यही वह भाषा थी जिससे उनकी नजदीकी जान-पहचान हो सकती थी। श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने लिखा है कि "पचाल (रुहेलखड और कन्नौज) और शूरसेन (ब्रज) की बोलियो में से कोई एक सदा से भारत की राष्ट्र-भाषा बनती रही है क्योकि ये बोलियाँ तमाम आर्यावर्त्ती भाषाओ की केन्द्रवर्त्ती है।"[1] मुसलमानो के आगमन के समय इस प्रान्त मे खडी बोली का प्रचार था। यही खडी बोली पहले मुसलमानो के द्वारा गृहीत हुई, क्योकि मुसलमानो को यहाँ की भाषा की जरूरत थी, और राजधानी के पास की भाषा आसानी से उनकी जबान पर चढ गयी और फिर बाद को सारे भारत में समझी जाने लगी। आरम्भ के मुस्लिम शासक द्विभाषी थे। एक तो वे फारसी बोलते थे। दूसरे, भारतीय भाषा के रूप में

मुझको क्या तू ढूंढे बन्दे, मै तो तेरे पास मे।—कबीर (१४५० ई०)
सोच विचार करे मत मन मे जिसने ढूंढा उसने पाया। —नानक (१५०० ई०)
दादू बकता बहुत है, मथि काढै ते और।—दादू दयाल (१६०० ई०)
अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम,
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम।—मलूकदास (१६८५ ई०)
हूँ मैं मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख
दिल भरपूर रहे कहने जवाब से।
देर की न ताब, जान होत है कबाब, बोल,
हयाती का आब, बोल मुख महताब से।—कुलपति (१६७० ई०)
आया इश्क लपेट मे लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरै सब पेट।—नागरीदास (१७५० ई०)
गुलगुली गिलमे गलीचा है, गुणीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला है।—पद्माकर (१८२० ई०)
दिया है खुदा ने खूब खुशी करो "ग्वाल कवि"
खाव-पियो, देल-लेव, यही रहि जाना है।
आये परवाना पर चलै ना बहाना यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है।—ग्वाल (१८२० ई०)
कर छुए गुलाब दिखाता है, जो चौसर गूँथा बेली का।
गल बीच चपई रग हुआ मुस्कान कुन्द रद केली का।
दृग स्याह मरीचि लपेटे ही रँग हुआ सोसनी सेली का।
जानी, यह तद्गुण भूषण है, पचरगा हार चमेली का।—सीतल (१८०० ई०)

१. इतिहास-प्रवेश

उन्होंने खड़ी बोली को स्वीकार किया एव शासको के द्वारा गृहीत हो जाने पर, खड़ी बोली का चलन, आवश्यकतानुसार, सारे देश मे होने लगा।

यद्यपि, खड़ी बोली इसी देश के एक प्रात-विशेष के हिन्दुओ की ही बोली थी, परन्तु, मुसलमान शासको और साहित्यिको के द्वारा पहले अपनाये जाने के कारण, हिन्दू उसे, विशेष रूप से, मुसलमानो की भाषा समझने लगे। यही कारण था कि जब भी कोई हिन्दी-कवि खड़ी बोली लिखता था, तब उसके साथ अरबी और फारसी के दो-एक शब्द अवश्य मिला देता था।

यदि अपभ्रश-काव्य को बाद देकर देखे, तो अवधी और ब्रजभाषा मे साहित्य-रचना पीछे आरभ हुई, पहले वह खड़ी बोली मे ही लिखी जाने लगी थी। अमीर खुसरो का काव्य-काल तेरहवी सदी मे पडता है, जब कि "अवधी के प्रथम सत कवि कबीर १५ वी सदी मे हुए। ब्रज मे साहित्य-निर्माण, पन्द्रहवी सदी के अन्त मे, जब वल्लभाचार्य ब्रजमडल मे आकर रहने लगे, तब से आरभ होता है। मैथिली मे ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य का वर्णरत्नाकर १४ वी सदी के आरभ का है। डिगल का पृथ्वीराज-रासो पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द का कहा जाता है, पर, इस ग्रथ का वर्त्तमान उपलब्ध रूप उस समय का नही है, और १६ वी सदी का हो सकता है।"[1]

उर्दू के आरंभिक कवि

पडित रामनरेश त्रिपाठी[2] और डाक्टर बाबूराम सक्सेना[3] के मतानुसार उर्दू के पहले शायर वली हुए हैं। किंतु, इधर के शोधो से अब यह माना जाने लगा है कि वली, यद्यपि, आरभ के बडे कवि थे, किंतु, दक्खिन मे उनसे भी पहले दो-चार कवि हो चुके थे, जो फारसी छदो मे कविता लिखते थे।[4] श्री गोयलीयजी ने वली से पूर्व इब्राहीम आदिलशाह (१५७९-१६२६), मुहम्मद कुली कुतबशाह (१५८०-१६१२), सुलतान मुहम्मद कुतुबशाह (१६११-१६२५ ई०), सुलतान अब्दुल कुतुबशाह (१६२५-१६७४ ई०) एव अब्दुल हसन तानाशाह को उर्दू का आदि कवि माना है। ये सभी कवि दक्षिण के मुस्लिम-राज्यो के राजे थे। स्वय वली भी (१६६८-१७४४) औरंगाबाद (दक्खिन) के रहने वाले थे। इस प्रकार, तथ्य यह निकलता है कि उर्दू का जन्म दिल्ली और आगरे मे नही, प्रत्युत, दक्खिनी भारत मे हुआ।

उर्दू का जन्म दक्षिण में क्यों हुआ ?

उर्दू भाषा हिन्दू-मुस्लिम-एकता की भाषा के रूप मे उत्पन्न हुई। यदि मुसलमान

१ दक्खिनी हिन्दी, डा० बाबूराम सक्सेना
२ कविता-कौमुदी (चौथा भाग)
३ ए हिस्ट्री आव् उर्दू लिटरेचर
४ शेरो-सखुन (अयोध्याप्रसाद गोयलीय) और प० राहुल साकृत्यायन के निबन्ध।

हिन्दुओं से अपनी पृथकता बनाये रखने का आग्रह करते, तो उन्हें यहाँ की देश-भाषाओं में लिखने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, यह संभव नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की भिन्नता इस बात पर आश्रित थी कि विदेशी मुसलमान कितनी अधिक संख्या में भारत आते हैं। किंतु, यह संख्या कभी भी बहुत बड़ी नहीं हुई। तब भी, दिल्ली और आगरे में फारसी के श्रोता मिल जाते थे; कुछ तो इस कारण कि दिल्ली और आगरा इस्लामी संस्कृति के गढ़ थे और कुछ इस कारण कि बाहर से आनेवाले मुसलमान, विशेषत, इन्हीं केन्द्रों में ठहरते थे। अतएव, दिल्ली और आगरे के मुस्लिम कवि या तो अवधी और ब्रजभाषा में लिखते थे अथवा शुद्ध फारसी में।

परन्तु, दक्षिण में यह बात नहीं थी। असली मुसलमान सीमित संख्या में ही दक्षिण गये थे। बाकी मुसलमान वहाँ वे थे जो हिन्दू-वंशों से आये थे। यहाँ विदेशी मुसलमान भी कम पहुँचे, अतएव, इस्लाम की सांस्कृतिक कट्टरता, यहाँ अपेक्षाकृत अधिक ढीली थी। दिल्ली और आगरे की खड़ी बोली इन्हीं मुसलमानों के साथ दक्षिण को गयी और यही बोली वहाँ की राजभाषा हो गयी। फिर, राजभाषा होने के कारण, खड़ी बोली को दक्षिण के और लोग भी सीखने लगे।

दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य उत्तर की अपेक्षा कुछ अधिक पनपा, इस बात के भी उदाहरण हैं। अकबर से पूर्व ही, फिरोजशाह बहमनी ने दो हिन्दू महिलाओं से विवाह किया था जिनमें से एक विजयनगर के राजा देवराय (प्रथम) की पुत्री थी। बीजापुर के यूसुफ आदिलशाह ने मराठा सरदार मुकुन्दराव की बहन से ब्याह किया था एवं इस दंपत्ति की कन्याएँ पड़ोस के दक्खिनी शाही खान्दानों में ब्याही गयी थीं, जिनमें से एक की उत्तराधिकारिणी सुप्रसिद्ध चाँद बीबी हुई। हिन्दू से मुसलमान होनेवाले लोग मंत्री, सरदार और राजा हो जाने पर भी, हिन्दुओं के यहाँ शादी-ब्याह करते रहे, इसके भी अनेक प्रमाण हैं। राजकाज में भी हिन्दुओं को ऊँचा पद देने में यहाँ के मुसलमान राजाओं ने कोताही नहीं की। गोलकुंडा के कुतुबशाही राजे हिन्दू मंत्री रखते थे। इसी प्रकार, यूसुफ आदिलशाह भी विश्वास के पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति उन्मुक्त भाव से करता था। बीजापुर का इब्राहीम आदिलशाह हिन्दुओं के प्रति इतना उदार था कि इसी गुण के कारण उसकी मुस्लिम प्रजा भी उसे "जगद्गुरु" कहती थी। हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम की भावना इस भाग में इतनी सुदृढ़ थी कि कृष्णदेवराय जब विजयनगर के राजा हुए, तब वे भी अपनी सेना में काफी मुसलमानों को रखते रहे।[1]

दिल्ली से दूर, दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के विकास का कारण यह था कि वहाँ मुस्लिम-शासन का सूत्रपात ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य से हुआ था। बहमन-वंश का प्रथम मुस्लिम शासक गंगू नामक ब्राह्मण के प्रति इतना श्रद्धालु और विनम्र था कि जब

१. टेक्स्ट बुक आव् माडर्न इंडियन हिस्ट्री : सरकार और दत्त

सन् १३४७ ई० मे वह बादशाह बना, तब कृतज्ञता-स्वरूप गगू ब्राह्मण की स्मृति को अमर रखने के लिए वह अपने नाम के आगे गगू बिरहमन लिखने लगा जिसका अपभ्रंश वहमन हो गया।[1] वहमन-वश की बादशाहत के विनाश के बाद, बीजापुर, गोलकुडा और अहमदनगर, तीन छोटे-छोटे राज्य कायम हुए। किंतु, इन राज्यो में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की वहमनी-परपरा पूर्ण रूप से बनी रही। इन सारी बातो का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर खूब निकट आ गये।

साप्रदायिक सद्भावना के इसी वातावरण मे दक्षिण के मुस्लिम कवियो ने खड़ी बोली मे कविताएँ लिखनी शुरु की जिनके छन्द तो फारसी के, लेकिन, अधिकांश शब्द इसी देश के थे। आगरे और दिल्ली के मुस्लिम कवि, काव्य-रचना मे, या तो विशुद्ध भारतीय रहे (जैसे कबीर, जायसी, उसमान, रहीम, रसखान, शेख, आलम, रसलीन, रसनिधि आदि) अथवा खालिस ईरानी। दक्षिण के मुसलमानो ने एक नया रास्ता निकाला जो ईरान की रागिनी को भारत की भाषा मे अदा करने का रास्ता था। दक्षिण मे वे अगर फारसी मे लिखते तो उन्हे श्रोता मुश्किल से मिलते और अगर अवधी और व्रजभाषा में लिखते तो उन भाषाओ का भी वहाँ चलन नही था। मुस्लिम-विजेताओं के साथ दक्षिण मे आगरे और दिल्ली की ही बोली पहुँची थी। अतएव, उसी बोली मे काव्य लिखने की बात मुस्लिम कवियो को उचित और आसान दिखायी पड़ी। भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे भारतीय मुसलमानो की मानसिकता, कम-से-कम, तीन रूपो मे दिखायी पडी। जो लोग अरबी-ईरानी सस्कृति से तनिक भी दूर जाना नही चाहते थे, उन्होने अपनी सारी रचनाएँ फारसी मे की। जिन मुसलमानो का विचार यह था कि भारतीय मुसलमानो का भाग्य भारत की बाकी जनता के भाग्य से मिलकर ही विकास पा सकता है, उनकी समस्त अथवा अधिकाश रचनाएँ अवधी, व्रजभाषा या खड़ी बोली मे मिलती है। लेकिन, बहुत-से लोग ऐसे भी थे जो फारसी, अवधी और व्रजभाषा, तीनो को अनुपयुक्त समझते थे। फारसी को इसलिए कि उसके श्रोताओ की सख्या न्यून थी और औरगजेब के बाद वह और भी न्यून हो गयी, तथा अवधी और व्रजभाषा को इसलिए कि उसमे लिखी गयी कविताओ पर अरब और ईरान का रग नही चढ़ पाता था। इसी तीसरे प्रकार के मुसलमानों ने खडी बोली का ईरानीकरण आरभ किया जिससे उर्दू का जन्म हुआ है।

---

१ दौलताबाद पर अधिकार सन् १३४७ ई० मे जाफर खाँ ने किया था। उसी ने वाहमनी-वश की नीव डाली। फरिस्ता ने लिखा है कि गगू नामक एक ब्राह्मण ज्योतिषी दिल्ली में जाफर का सहायक रहा था। उसी के नाम पर जाफर ने वहमनी नाम चलाया था। अब लोग कहते है कि जाफर अपना सबंध ईरान के राजा वहमन शाह से जोडता था, इसीलिए, अपने खान्दान का नाम उसने वहमनी रखा।

फारसी भाषा मे अब जो छन्द चलते है वे फारसी मे अरबी से लिये गये थे। ये ही छन्द दक्षिण के कवियो ने फारसी से लेकर खडी बोली में उतार दिये। लेकिन, फारसी छन्द जिस आसानी मे खडी बोली में फिट हो गये, उसी आसानी से अरबी-फारसी के शब्दो का प्रयोग नही किया जा सका। खडी बोली मे जो कविताएँ सुलतान कुतुब अलीशाह ने लिखी है, उनमे फारसी और अरबी के शब्द बहुत थोडे है।

तुज याद में जग मोहिया, है जग ऊपर तेरा मया।
जो जग मँगे सो तूँ दिया, तूँ ही जगत का है दया।
चन्द्रमुख तुज, लाल लब है, दसन जूँ तेरे तारे हैं।
कहो यह चाँद काँ का है, किस असमाँ ये उतारे हैं।[1]—कुली कुतुबशाह

दक्खिन के अन्य कवियो की भी भाषा यही है।

पिउ मूरत देखो सोने में, जब जागो तब रहूँ सपने में।
ला दीपक विरहा अपने में, तन जाये झकझक जीने में।

—अली आदिलशाह

नहीं मुझसे पीत लगाये मन लेता रे।
अल्ला मुझे आशिक अपना तूं कंता रे।

—बुर्हानुद्दीन जानिम

स्वय वली की कविताओ में जो भाषा मिलती है, वह भी बहुत कुछ यही भाषा है।

विरागी जो कहाते हैं उसे घर बार करना क्या?
हुई जोगिन जो कोइ पी की उसे संसार करना क्या?
जो पीवें पिर्त का पानी उसे क्या काम पानी सों?
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आहार करना क्या?[2]

मतरूकात या बहिष्कार की नीति

जिन दिनो खडी बोली मे दक्खिन के मुसलमान कवि यह साधना कर रहे थे, उन दिनो, वहाँ के राजे स्वतत्र थे एव दिल्ली का उन पर कोई बडा प्रभाव नही था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भाव वहाँ काफी मजबूत था एव साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नही थी। किंतु, उन्ही दिनो, उत्तर मे औरगजेब गद्दी पर आया और बाबर से लेकर शाहजहाँ तक एकता का जो पट बुना जा चुका था, उसके तानो-बानो को वह अलग करने में लग गया। सन् १६८६ ई० मे उसने दक्षिण के राज्यो पर अधिकार किया एव औरगाबाद को उसने अपना केंद्र बनाया। अब आगरे और दिल्ली के मुसलमान दक्खिन अधिक जाने लगे

१. दक्खिनी हिन्दी

२ दक्खिनी हिन्दी

एव बीजापुर और गोलकुंडा के शायर भी अब, ज्यादातर, औरंगाबाद मे ही रहने लगे। यहीं से उत्तर की साम्प्रदायिकता दक्षिण पहुँची और उसका प्रभाव कविता पर भी पड़ने लगा।

वली दो बार दिल्ली आये थे। एक बार सन् १६६० ई० मे औरंगजेब के शासन-काल मे और दूसरी बार सन् १७२४ ई० मे उसके मरने के बाद। दिल्ली मे वली के काव्य-सग्रह का बडा आदर हुआ। दिल्ली मे उन दिनो जो मुसलमान कवि फारसी मे कविता कर रहे थे, उन्हे यथेष्ट पाठक नहीं मिलते थे। वली के प्रयोग को देखकर उन्हे पता चला कि हिन्दी मे भी वे भाव प्रभावपूर्ण ढग से कहे जा सकते है जिनकी अभि-व्यक्ति के लिए दिल्ली और आगरे के कवि फारसी का आश्रय ले रहे थे, यद्यपि, फारसी मे लिखने और समझनेवालो की सख्या दिनों-दिन घटती जा रही थी। दिल्ली मे ही शाह गुलशन ने (जो फारसी के शायर थे और वयोवृद्ध एवं समादरणीय व्यक्ति थे) वली को सलाह दी कि अपनी कविताओ में फारसी शब्द रखो तो इन कविताओं का रग और भी निखर जाय।[1] वली पर इस परामर्श का पूरा असर हुआ और बाद को उन्होंने जो कविताएँ लिखी, उनमें फारसी की प्रधानता हो चली। फिर भी, वली की पिछली गजलो मे भी, हिन्दी का थोडा-बहुत रग मौजूद ही रहा—

लिया है जब सूँ मोहन ने तरीका खुदनुमाई का।
चढ़ा है आरसी पर तब से रंग हैरत-फिजाई का।

उत्तरी भारत में उर्दू कवियो में 'फाइज' सबसे प्राचीन माने जाते हैं। ये वली के समकालीन थे और, वली की ही तरह, उनकी कविताओ मे भी हिन्दी के शब्द मौजूद मिलते हैं। शेरो-सखुन मे इनकी जो थोडी-सी पक्तियाँ उद्धृत है, उनमे नयन, भवाँ, पलक, सजीले, मुख, छब, राम-राम, केवल, कली, चपा, अनूप, रूप, सरूप, ये सभी शब्द आये हैं। ऐसा लगता है कि वली को हिन्दी-शब्दो का बहिष्कार करने का जो परामर्श दिल्ली मे दिया गया था, वह अप्राकृतिक था और खुद दिल्ली के शायर भी जब तक हिन्दी शब्दो को दूर रखने के लिए लाठी लेकर तैयार नहीं हो जाते, तब तक हिन्दी शब्दों को रोकना उनके लिए कठिन होता था। उर्दू हिन्दू-मुस्लिम-सामासिक-संस्कृति की भाषा बनकर आ रही थी और फारसी छन्दो को देशज शब्दो से तैयार करने की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव था। लेकिन, दिल्ली के शायर फारसी पर फिदा थे। उनकी श्रुति-चेतना कविता में देशज शब्दो का प्रयोग सह नहीं सकती थी। यह समय भी अकबर का नहीं, औरंगजेब का था। अतएव, शायरो को यह सूझा ही नहीं कि उर्दू को उसके स्वाभाविक विकास के मार्ग पर जाने देना चाहिए। मन से वे ईरानी बने रहना चाहते थे, इसलिए, उर्दू को ईरानी भावनाओं, मनोदशाओ एव विचारो का माध्यम

१ दे० शेरो-सखुन

वनाने के प्रयास मे उन्होने चुन-चुन कर हिन्दी-शब्दो को उर्दू गजलो से निकालना शुरू किया और तव तक दम नही लिया जव तक हिन्दी के सारे शब्द दूर नही हो गये। "दक्खिनी हिन्दी के कवियो मे सस्कृत और हिन्दी के वहुत अधिक शब्द मिलते हैं, जिन्हे आगे चलकर कम-से-कम करते-करते, अत में, व्याकरण को ही हिन्दी रहने दिया गया।"[१] "कुछ थोडे-से मुसलमान शायरो और शाहजादो ने हिन्दी मे से हिन्दवीपन और हिन्दी के शब्द निकाल-निकाल कर अरवी-फारसी के तत्सम और अप्रचलित शब्दो की भरमार कर एक नयी वनावटी जवान उर्दू वना ली।"[२] उर्दू का जन्म खडी वोली मे से सस्कृत और हिन्दी के शब्दो को निकाल कर हुआ। यह भी ध्यान देने की वात है कि जव तक खड़ी वोली मे हिन्दी और सस्कृत के शब्द वने रहे, तव तक उसका प्रचलित नाम भी हिन्दी, हिन्दवी अथवा रेख्ता ही रहा। किन्तु, जव इस भाषा पर फारसी और अरवी का पूरा प्रभुत्व हो गया, तव से वह उर्दू कहलाने लगी।[३] वली वगैरह की भाषा के विषय में लिखते हुए सुनीति वावू ने कहा कि "तव की भाषा पश्चात्कालीन उर्दू की तरह फारसी से विलकुल लदी हुई नही थी। फारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम सख्या में मिलाये जाते थे। एक पक्ति मे कही-कही छितरे हुए (रेख्ता) रहते थे। इसलिए, आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आद्य रूप 'रेख्ता' कहलाता था।"

डाक्टर वावूराम सक्सेना ने लिखा है[४] कि वली की भाषा में जो "भाषा" के शब्द थे, उनमें से अनेक ऊटपटाँग और असुन्दर थे तथा कला की कृतियो में वे खपाये नही जा सकते थे। इसलिए, उर्दू के कवि, पीढी-दर-पीढी, उनका वहिष्कार करते गये और अन्त मे, उन्होने अपनी पसन्द की एक भाषा खडी कर ली। फिर उन्होने यह भी कहा है कि "भाषा" के सभी शब्दो का निकालना अच्छा नही हुआ। किन्तु, सोचने की वात

---

१ राहुल साकृत्यायन, नया समाज, अपरेल १९५१ ई०

२ साहित्य-चिन्तन डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा

३ राष्ट्रवीणा के अपरेल, १९६२ ई० वाले अक मे पण्डित अम्विकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि तुर्किस्तान के लोग खानावदोश की तरह साल भर घूमते-फिरते रहते थे। इनकी घर-गिरस्ती छकडो पर लदी चलती थी। ये जहाँ डेरा डाल देते, उसे उर्त कहते थे। जब य डेरे या छावनियाँ वडी हो जाती, तव वे उर्दू कहलाती थी। मोगलो के समय भारतीय सेना में तुर्को की सख्या वहुत अधिक रहती थी। ये जो भाषा वोलते थे, वह थी तो भारत की ही भाषा, लेकिन, उसमें ये अपने शब्द मिला दिया करते थे। ये ही लोग पुराने अभ्यास के कारण अपने डेरो को उर्दू कहने लगे। इसी से, उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा का नाम उर्दू हो गया। इसी कारण, मुसलमानी हिन्दी का नाम उर्दू पड गया और जिस हिन्दी शब्द का व्यवहार हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो की भाषा के लिए होता था, वह केवल हिन्दुओ की हिन्दी के लिए रह गया।

४ ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर

है कि ये शब्द क्यो निकाले गये ? कला की कौन वह प्रवृत्ति थी जो भाषा के शब्दो से टकरा कर घबराने लगती थी ? जब तक भारतीय भावो का आख्यान कवियो का ध्येय रहा, वे (जायसी, कबीर, रहीम, रसखान आदि) भाषा के शब्दो का आदर करते रहे। किन्तु, जभी यह ध्येय प्रमुखता पाने लगा कि भाषा हिन्दुस्तान की और भाव ईरान के होने चाहिए, तभी भारतीय शब्दो का स्थान अरबी और फारसी के शब्द लेने लगे। यदि उर्दू का जन्म अकबर के समय हुआ होता तो बहिष्कार की नीति मुसलमान कवियो को सूझती ही नही। मतरूकात की नीति पर चलने की प्रेरणा उन्हे इसलिए मिली कि जब उर्दू का जन्म हो रहा था, तब इस देश की राजनीति साम्प्रदायिक हो गयी थी और उस राजनीति का प्रभाव साहित्य पर भी जोरो से पडा।

एक दूसरा कारण यह भी हुआ कि उर्दू के विकास का काल, सयोग से, मोगल-गरिमा के ह्रास के समय पड गया। जब उर्दू का निर्माण हो रहा था, उस समय देश की सल्तनत टूटकर खड-खड होती जा रही थी। राजे विलासी और दरबारी पातकी हो रहे थे। कवियो का जनता से तो कोई सबध था ही नही, वे सन्त-सुधारको के आन्दोलन से भी दूर थे। ऐसे कवियो मे जीवन की सीधी सच्ची प्रेरणाएँ उठे, यह असंभव बात है। परिणाम यह हुआ कि फारसी के जो भाव इन कवियो ने देखे थे, उन्ही के अनुकरण पर, वे उर्दू को सजाने लगे और सारा उर्दू-साहित्य भारतीय जीवन से दूर, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रेरणाओ से रहित, फारसी का निरा जूठन-मात्र हो गया। वली से लेकर गालिब तक (तत्कालीन हिन्दी कवियो के ही समान) उर्दू का कोई भी कवि ऐसा नही हुआ जिसमें अन्याय का विरोध करने की उमग रही हो अथवा जो कभी यह देखने की भी चिन्ता करे कि जिस समाज में वह पल रहा है, उसका हाल क्या है। इनकी कविताओ मे प्रेम और विरह के जो भी बखान है, सभी झूठे है, सभी ख्याली हैं। सच्चा स्वर अगर है तो निराशा का जो सभी कवियो मे खुशनुमाँ और रगीन दिखायी देता है। धार्मिक या सामाजिक चेतना के अधिक-से-अधिक पास, इस काल मे केवल अनीस और दबीर पहुँचते हैं जिनके मर्सियो मे, और नही तो, इस्लाम की गरिमा को कुछ ताजा कर देने की शक्ति अवश्य है। या फिर उर्दू-कविता का सामाजिक पक्ष नजीर अकबराबादी की रचनाओ मे ऊँचा उठा। जैसे बीसवी सदी मे महाकवि अकबर ने सम्राट् अकबर के हिन्दू-मुस्लिम-एकता के स्वर को ताजा किया, वैसे ही, अठारहवी सदी के अन्त मे महाकवि नजीर ने इस एकता की लता को निश्छलता से सीचा। इसलिए, इन दोनो कवियो को केवल मुसलमान ही नही, हिन्दू भी अपने प्यारे कवि मानते है।

काव्य में जब भी शैली प्रधान हो उठती है और भाव गौण हो जाते है, तभी कविता जन-जीवन से दूर होने लगती है। यह कहना, शायद, सत्य ही है कि उर्दू के कवि कला के शौक मे ही भारत से निकल कर ईरान चले गये। फिर तो उर्दू का

स्टैन्डर्ड इतना विचित्र हो उठा कि नजीर अकबराबादी-जैसे कवि भी श्रेष्ठ कवियो की पक्ति से वहिष्कृत माने जाने लगे। उर्दू के आलोचक इसका कारण यह बताते है कि नजीर उर्दू-ए-मुअल्ला के मालिक नही है, यानी उन्होने फसीह और टकसाली उर्दू नही लिखी है। लेकिन, बहुत-से लोग यह मानते है कि उर्दू के अदीबो ने नजीर अकबराबादी का उचित सम्मान इसलिए नही किया कि उनके अधिकाश विषय भारतीय है और भारतीय शब्दो का प्रयोग भी उन्होने धडल्ले से किया है। "मौलाना हाली और नजीर, दोनो का एक पाप तो यह था कि वे दिल्ली मे पैदा नही हुए थे और दूसरा यह कि उनकी जवान मे हिन्दी के अलफाज भी होते थे, यद्यपि, यह किसी ने स्वीकार नही किया है, तथापि मौ० हाली ने नजीर की चर्चा में गुप्त रूप से यह बात कह डाली है। अनीस के बारे में लिखते हुए मौ० हाली ने कहा है, 'अगरचे नजीर अकबराबादी ने शाद, मीर, अनीस से ज्यादा अलफाज इस्तेमाल किये है, मगर, उनकी जवान को अहले-जवान कम मानते है।' इसमे नजीर का क्या कसूर? यह उर्दू शोअरा के तअस्सुव के सिवा और क्या कहा जा सकता है?" (अ० प्र० बा०)।

खडी बोली में से इस देश के शब्दो का निकाला जाना अच्छा नही हुआ। इससे एक तो उर्दू नकली भाषा बन गयी। दूसरे, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की जो सेवा इस भाषा के द्वारा हो सकती थी, वह केवल इसी कारण न हो सकी कि कवियो ने इस भाषा का रुख अरब और ईरान की ओर फेर दिया। इस स्थिति पर विलाप करते हुए मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने लिखा है कि "उर्दू में फारसी का रग बहुत तेजी से आया। यह रग अगर उसी कदर आता कि जितना चेहरे पर उबटने का रग या आँखो में सुरमा तो खुशनुमाई और बीनाई (नेत्र-ज्योति) दोनो को मुफीद होता। मगर, अफसोस कि फारसी की शिद्दत (अधिकता) ने हमारे कूवते-बयान और आँखो को सख्त नुकसान पहुँचाया। और जवान (साहित्य) को खाली बातो से फक्त तवोहुमात का स्वाग (खोखला रूप) बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू मे जमीन-आसमान का फर्क हो गया।"[1]

कभी-कभी मन मे यह विचार आता है कि क्या उर्दू के कवियो ने हिन्दुत्व से अलग रहने को ही उर्दू को फारसी शब्दो से भर दिया। क्या, सचमुच ही, उर्दू का ईरानीकरण औरगजेब की साम्प्रदायिक नीति का परिणाम था? किन्तु, सच बात यह है कि ऐसा कहने का सुदृढ और सुनिश्चित आधार नही है। उर्दू, आरभ से ही, ईरानी लिपि में लिखी जाती थी। लिपि-साम्य होने के कारण, वह अरबी और फारसी की तरह, विशेष रूप से, मुस्लिम-सस्कृति की भाषा मानी जाने लगी और इसी लिपि-साम्य के चलते,

---

१ शेरो-सखुन में "आबेहयात" से उद्धृत

उर्दू के कवियो का ध्यान हिन्दी की अपेक्षा फारसी और अरबी शब्दो की ओर अधिक जाने लगा। फारसी शब्दो के "इस प्रकार के अधिकाधिक समावेश से एक तो लेखक के धार्मिक एव सास्कृतिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता था और दूसरे, लेखक को अपने "मुसलमानी-भाषा" के पाडित्य-प्रदर्शन का अवसर मिलता था। इस प्रकार, हिन्दुओ की भाषा हिन्दवी को, उत्तर भारतीय मुसलमानो की इच्छा एव झुकाव के अनुरूप, मुसलमानी स्वरूप दे दिया गया।"[1]

डाक्टर अब्दुल हक साहब ने लिखा है कि "अगर उर्दू को अरबी नशोनुमा (साहित्यिक विकास) दकन मे हासिल न हुई होती तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फारसी अरूज के हिन्दी अरूज होता, क्योकि दोआबा-गगे-जमुन मे आसपास हिन्दी थी और मुल्क की आम जबान थी।" लेकिन, दक्खिन के उर्दू-कवि वली को दोआब के ही शायरो ने समझाया था कि अपनी गजलो मे अरबी और फारसी के शब्द अधिक रखो।

हिन्दी से उर्दू या उर्दू से हिन्दी ?

जो लोग यह कहते है कि हिन्दी उर्दू से निकली है, उन्हें यह भी कहना चाहिए कि हिन्दुस्तान अरब और ईरान के पेट मे था। वही से कढकर वह हिमालय और हिन्द-महासागर के बीच फैला है। "हिन्दी से उर्दू बनी है, उर्दू से हिन्दी नही। हिन्दी मे अरबी, फारसी, तुर्की शब्द बढा देने और फारसी मुहाविरे चला देने से उर्दू का जन्म हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी के बिना उर्दू एक पग नही धर सकती और उर्दू के बिना हिन्दी के महाग्रन्थ लिखे जा सकते है।" (अ० प्र० बा०)।

यह मत केवल हिन्दी के ही विद्वानो का नही है, बल्कि, उर्दू के भी निष्पक्ष विद्वान यही मानते है कि उर्दू का जन्म हिन्दी से हुआ है एव हिन्दी की सहायता के बिना उर्दू जी ही नही सकती। "वजै-इस्तलाहात" (परिभाषा-निर्माण) नाम की अपनी पुस्तक में उस्मानिया कालेज के भूतपूर्व प्रोफेसर मौलवी वही-उद्दीन साहब "सलीम" पानीपती मरहूम ने लिखा है कि उर्दू जिस जमीन पर खडी है वह जमीन हिन्दी की है। "इसी जमीन पर फारसी और अरबी के पौधे लगाये गये है। इसी तख्ते पर गैर-जबानो ने (दूसरी भाषाओ ने) आकर गुलकारी की है। अगर यह जमीन यानी हिन्दी निकाल दी जाय तो फिर उर्दू जबान का नामोनिशान भी बाकी नही रहेगा। हिन्दी को हम अपनी जबान के लिए उमुल्लिसान (भाषा की जननी) और हमूलाये-अव्वल (मूलतत्त्व) कह सकते है। इसके बगैर हमारी जबान की कोई हस्ती नही है। इसकी मदद के बगैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नही बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नही रखते, वह उर्दू जबान के हामी नही है, फारसी, अरबी या किसी दूसरी जबान के हामी हो तो हो।"[2]

---

१. डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी

२. हिन्दी पर फारसी का प्रभाव

उर्दू और हिन्दी के बीच जो भेद बढा, उसकी जिम्मेवारी उर्दू-कवियो के माथे मढी जानी चाहिए यह मत डाक्टर अब्दुल हक का भी था। उन्होने लिखा है, "बाद के उर्दू शोअरा (शाइरो) पर फारसी का रग ऐसा गालिब आया कि यह खुसूसियत (विशेषता) उर्दू शाइरी से बिलकुल उठ गयी और रफ्ता-रफ्ता बहुत-से हिन्दी अलफाज़ (शब्द) जबान से खारिज हो गये और उस्तादी अलफाज के मतरूक (परित्यक्त) करने में रह गयी।"[1]

अचरज की बात है कि इतना होने पर भी, अनेक विद्वान् यह कह बैठते है कि बहिष्कार की नीति से हिन्दी का जन्म हुआ है,[2] उर्दू का नही। अर्थात् भाषा तो इस देश की हमेशा से फारसी-अरबी-मिश्रित थी, हिन्दीवालो ने ही उसमें फारसी और अरबी शब्दो को चुन-चुन कर बाहर फेंक दिया और एक कृत्रिम भाषा, हिन्दी उत्पन्न कर ली। अवश्य ही, ऐसी बातें इसलिए कही जाती है कि हिन्दी और उर्दू की एकता बढे। किन्तु, एकता की सेवा भी सचाई से ही की जा सकती है। असत्य के प्रचार से जैसे जीवन के अन्य मूल्य नष्ट होते है, वैसे ही, एकता और प्रेम भी।

साधु हिन्दी की परंपरा

हिन्दी उर्दू की तुलना मे नयी भाषा नही है, न वह उर्दू में से फारसी और अरबी शब्दो को निकालकर बनायी गयी है। बुजुर्ग-बिन-शहरयार (अरब) की लिखी किताब "अजायबुल हिन्द" मे लिखा है कि "अब्दुल्ला एराकी ने हिन्द के राजा अलूरा के लिए सन् २७० हिजरी (सन् ८९२ ई०) में कुरान का हिन्दी जबान मे तर्जुमा किया था।"[3] कालिंजर के राजा नद ने सन् ४१३ हिजरी (१०३५ ई०) में सुलतान महमूद की शान में हिन्दी मे लिखकर शेर भेजा था। हिन्दी के कवि जिस भाषा मे कविता लिखते थे, वह भाषा या भाखा कहलाती थी। लेकिन, बोलचाल की भाषा दूसरी थी। इसी भाषा मे हिन्दू और मुसलमान बातचीत तथा साधारण लिखा-पढी भी करते थे। इसका चलन गाँवो में कम, नगरो मे अधिक था। इसीसे यह भाषा नागरी भी कहलाती थी। आरभ मे इस भाषा मे भी सस्कृत शब्द ही अधिक चलते थे। सस्कृत शब्दो पर मुस्लिम बादशाहो का भी प्रेम था, क्योकि सस्कृत शब्द ही इस देश में अधिक समझे जाते थे। सांप्रदायिकता से पीडित बादशाह औरगजेब भी हिन्दी शब्दो के सौदर्य को पहचानता था जिसका प्रमाण यह है कि एक बार जब उसके बेटे मुहम्मद आजमशाह ने उसे कुछ आम भेजे और उनका

---

१ वही

२ "Modern High Hindi was developed from Urdu by the ejection of Persian words and substitution of those of Sanskrit origin" (डा० बाबूराम सक्सेना-कृत ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर)

३. कविता-कौमुदी, चतुर्थ भाग (भूमिका)

नामकरण करने का अनुरोध किया, तब औरंगजेब ने उनके नाम "सुधारस" और "रस-नाविलास" रखे थे।"[1]

डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "मआसिरे-आलमगीरी के अनुसार, १६६० ई० के आरम्भ में जब औरंगजेब दक्खिन में था, तब बड़ी दूर बंगाल से एक मुसलमान प्रवास करता हुआ बादशाह से मिलने कृष्णा नदीवाले प्रदेश मे पहुँचा और वहाँ पहुँच कर उसने बादशाह से कहा—'आप मुझे अपना मुरीद बना लीजिए।' इस पर औरंगजेब ने उसे निम्न देशज पद्य की पंक्तियाँ कह कर फटकारा —

टोपी लेन्दे, बावरी देन्दे, खरे निलज्ज।
चूहा खान्दा बावली, तू कल बंधे छज्ज॥

अर्थात् तुम अपने लम्बे बालो को छोड़कर (फकीर की) टोपी लेना चाहते हो। अरे खरे निर्लज्ज! तुम्हारा घर तो चूहा खाये जा रहा है और तुम कल उस पर छप्पर छाने की बात करते हो।"

औरंगजेब की साम्प्रदायिकता सिद्ध तथ्य है, फिर भी, उसके मुख से हिन्दी के ही शब्द निकलते थे, इसका कारण यह था कि औरंगजेब के पूर्व, साम्प्रदायिक भाषा का जन्म नही हुआ था। वह तब बनी, जब यहाँ की राजनीति दूषित होने लगी।

सच बात यह है कि जब मुसलमान आये, तब यहाँ भाषा दो रूपो में चल रही थी, जिनमें से एक का उदाहरण चंद, विद्यापति आदि की कविताओ में है और दूसरे का खुसरो की पहेलियो और मुकरियो मे। उस समय तक, हिन्दी वालों के यहाँ खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में गृहीत नही हुई थी। सारे देश के हिन्दी कवि उस समय ब्रज या अवधी में लिखते थे, जिसमे रहीम, रसखान, मुबारक, आलम और शेख ने भी कविताएँ लिखी।

अकबर ने जिस सामासिक संस्कृति पर जोर दिया, वह ईरानी कम, भारतीय अधिक थी। यही वह संस्कृति थी, जिसमे हिन्दू-मुस्लिम-एकता की वास्तविक झलक दिखायी देती थी। इस संस्कृति के पोषक मुसलमान इस देश की भाषा को अपनी भाषा मानने लगे थे। "१६ वी सदी के अन्त तक, सभी भारतीय मुसलमान (विदेशी, देशज अथवा मिश्रित रक्तवाले) फारसी को एक विदेशी भाषा के रूप मे अनुभव करने लगे थे और देशज भाषाओ को पूर्णतया स्वीकार कर चुके थे। और जब उन्होने उत्तरी भारत में देश की भाषा में रचना करना आरम्भ किया, तब उन्होंने देशज भाषाओ मे सर्वाधिक प्रतिष्ठित ब्रजभाषा को ही चुना।" (डा० सुनीति कुमार)।

मुस्लिम-काल में हिन्दी स्वतन्त्र भाषा के रूप में जीवित थी, इसका एक प्रमाण यह भी है कि मुस्लिम बादशाह अपने कार्यालयो मे फारसी-नवीस के साथ हिन्दी-नवीस भी रखते थे। प्रत्युत, राज्य से जन-सम्पर्क की भाषा हिन्दी ही थी और हिसाब-किताब भी

१. वही

हिन्दी में ही रखे जाते थे। फारसी की, राज्य-भाषा के रूप में, घोषणा अकबर ने की और वह भी राजा टोडरमल के आग्रह के कारण।

उन्नीसवी सदी की समाप्ति के पूर्व तक, उर्दू नाम का चलन साहित्यिक धरातल पर नही था। हिन्दी-क्षेत्रो की भाषा का नाम लोग हिन्दी ही जानते थे जिसके प्रमाण अनेक कवियो की कविताओ मे मिलते हैं।[1]

हिन्दी और उर्दू का गद्य

यदि गद्य की बात ली जाय तो भी यह कहने का कोई आधार नही है कि उर्दू गद्य का निर्माण और चलन पहले हुआ एव उस गद्य मे से फारसी और अरबी के शब्द हटाकर हिन्दी भाषा बाद को गढ ली गयी। डा० रामबाबू सक्सेना के अनुसार, उर्दू-गद्य का प्राचीन-तम प्रमुख उदाहरण फजली का लिखा हुआ "दह-मजलिस" नामक ग्रन्थ है जिसकी रचना सन् १७३२ ई० में हुई थी। किन्तु, इसे सक्सेना महोदय कोई उत्कृष्ट या साफ गद्य का उदाहरण नही मानते। वे केवल यह कहते हैं कि दह-मजलिस ही उर्दू-गद्य का प्राचीन-से-प्राचीन उपलब्ध उदाहरण है।[2] और उनका ऐसा मानना ठीक भी है क्योकि "दह-मजलिस" पर तुकबाजी सवार है एव लेखक स्वय भी मानता है कि उसके पाँव लडखडा रहे हैं।

दह-मजलिस के गद्य का एक उदाहरण कविता-कौमुदी (चतुर्थ भाग) में उद्धृत है जो इस प्रकार है —

"फिर दिल मे गुजरा कि ऐसे काम को अक्ल चाहिये कामिल और मदद किसू तरफ की होय शामिल। लिहाजा कोई इस सनअत का न हुआ और अब तक तर्जुमे-फारसी ब-इबारते-हिन्दी नसर न हुआ।"

---

१ शर्मो-हया दर हिन्दी लाज।
हासिल कहिए बाज खिराज।
—खुसरो

अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि।
—जायसी

मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब ?
सब जानते हैं, तुर्क की हिन्दी जबाँ नहीं।
—आतिश (मृत्यु १८४५ ई०)

२. The earliest Specimen of note of Urdu prose is DAH-MAJLIS, written by one, Fazli in 1145 A H. or 1732 A. D, in the reign of Muhammad Shah, Its only value is that it furnishes the earliest specimen of any of Urdu prose now extant.. the style is crude and immature (ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर)

स्पष्ट है कि फजली समझ रहे थे कि वे हिन्दी ही लिख रहे हैं, क्योंकि उर्दू नाम का चलन उस समय था ही नही।

इस प्रसग में देखा जाय तो हिन्दी-गद्य की परपरा बहुत पीछे तक पहुँचती है। हिन्दी मे प्राचीन गद्य के उदाहरण तीन शैलियो मे मिलते है। एक तो ब्रजभाषावाली शैली है, जिसके अन्दर कुछ गोरखपथी ग्रन्थ (१३५० ई०) भी आते हैं। किन्तु, इस शैली के पुष्ट प्रमाण पुष्टि-मार्ग के साधक विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ-लिखित, क्रमश, शृगार-रस-मडन, "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" आदि है। ये ग्रन्थ बोलचाल की ब्रजभाषा मे लिखे गये है तथा इनमे छिट-पुट फारसी के भी शब्द हैं, जो उस समय तक प्रचलित हो गये थे। नाभादासजी का "अष्टयाम" (१६०० ई० के बाद का), वैकुण्ठमणि शुक्ल का "अगहन-माहात्म्य" और "वैसाख-माहात्म्य" (१६२३ ई०) तथा किसी अज्ञात लेखक का "नासिकेतोपाख्यान" (१७०० ई० के बाद का) ब्रजभाषा गद्य के स्वच्छ उदाहरण माने जाते हैं। इसी शैली मे, सन् १७१० ई० मे सूरति मिश्र ने "वैताल-पच्चीसी" लिखी तथा सन् १८०० ई० के लगभग लाला हीरालाल ने "आईने-अकबरी" का "भाषा-वचनिका" नाम से अनुवाद किया। इनके सिवा, काव्यो पर कुछ टीकाएँ भी ब्रजभाषा-गद्य मे की गयी थी, किन्तु, उनका, शैली के विकास की दृष्टि से, कोई खास महत्त्व नही है। फोर्ट विलियम मे अँगरेजो के अधीन हिन्दी-गद्य का काम सँभालनेवाले लल्लूलालजी गद्य की इसी धारा के लेखक हुए हैं और उन्होने राजनीति (१८०९ ई०) तथा माधोविलास (१८१७ ई०) नाम से जो दो ग्रन्थ लिखे, वे हिन्दी मे ब्रजभाषावाली गद्य-धारा के अन्तिम उदाहरण है। किन्तु, यह धारा लल्लूलालजी तक ही आकर अवरुद्ध हो गयी। आज हम जिस गद्य का प्रयोग करते हैं, वह खडी बोली का गद्य है।

सच पूछिये तो ब्रजभाषा का गद्य कोई सुगठित गद्य नही था। यह भाषा काव्य की भाषा थी। गद्य की परपरा के नही रहने के कारण, इसका गद्य कभी गठन नही पा सका।

ब्रजभाषा के ही समान, राजस्थानी-गद्य के भी उदाहरण बारहवी-तेरहवी शती से ही मिलने लगते हैं, किन्तु, राजस्थानी का भी गद्य सदैव दुर्बल रहा। इस गद्य मे सस्कृत की समासयुक्त शली, अपभ्रश, खडी बोली और ब्रजभाषा, सब का प्रभाव मिश्रित है और सबने मिलकर इस गद्य की शक्ति को घटाया ही है, बढाया नही।

खड़ी बोली मे गद्य का आरभ अकबर के समय मे हो गया था, इसका प्रमाण गग कवि का "चन्द छन्द बरनन की महिमा" है। गग की गद्य-भाषा उर्दू नही, हिन्दी है।[1]

---

१ "सिद्धिश्री १०८ श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहिजी आम-खास मे तख्त ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमे तमाम उमराव आय-आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करे और अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नही, सो रेसम के रस्से मे रेसम की लूमे पकड-पकड के खडे ताजीम मे रहे।" —चन्दछन्द बरनन की महिमा से

ऐसा लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय हिन्दी खडी वोली शिष्ट समाज की भाषा हो चली थी, यद्यपि, गद्य-निर्माण की ओर लोगो की अभी दृष्टि नही थी।

किन्तु, इन उदाहरणो को हम हिन्दी-गद्य के सुनिश्चित आरभ का प्रमाण नही मानते, यद्यपि, गग की भाषा में हिन्दी-गद्य का रूप काफी सुस्पष्ट दीखता है। हिन्दी-गद्य का, निश्चित रूप से, सुस्पष्ट प्रमाण हमे रामप्रसाद निरजनी के "भाषा-योग-वाशिष्ठ" नामक ग्रथ में मिलता है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-गद्य का आदि-ग्रन्थ कहा है। रामप्रसाद निरजनी पटियाले के थे और सन् १७४१ ई० में उन्होंने यह ग्रन्थ वनाया था। "दह-मजलिस" से, यद्यपि, यह ग्रन्थ दस साल वाद का है, किन्तु, इससे यह वात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है कि "खडी वोली को मुसलमानो द्वारा जो रूप दिया गया, उससे सर्वथा स्वतन्त्र वह अपने प्रकृत रूप मे भी दो-ढाई सौ वर्ष से लिखने-पढने के काम मे आ रही है।"[१]

निरजनीजी की भाषा और आज की प्रचलित हिन्दी मे वहुत अधिक अन्तर नही है। "भाषा-योग-वाशिष्ठ" के गद्य का एक सुव्यवस्थित उदाहरण इस प्रकार है —

"हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नही है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट मे राग-द्वेष नही करता क्योकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मो का कारण है। ऐसी वासना को छोडकर जव तुम स्थित हो तव तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष, शोक आदि विकारो से जव तुम अलग रहोगे तव वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्म-तत्त्व पाया है, वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्म-तत्त्व को देखो। तव विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के वन्धन मे न आओगे।"

यह सच है कि योग-वाशिष्ठ में प्रयुक्त भाषा की प्राजलता सर्वत्र इस कोटि तक नही पहुँचती, किन्तु, आज के-से प्राजल हिन्दी-गद्य का रूप भाषा-योग-वाशिष्ठ के अनेक स्थलो में वर्त्तमान है। इस वात से हिन्दी गद्य की प्राचीनता सहज ही प्रमाणित हो जाती है। क्या डा० रामवावू सक्सेना अथवा किसी अन्य विद्वान के पास कोई प्रमाण है जिससे यह समझा जाय कि "भाषा-योग-वाशिष्ठ" से पूर्व, उर्दू-गद्य का निर्माण हो गया था और उसमें से फारसी और अरवी शब्दो को निकाल कर वर्त्तमान साधु-हिन्दी का रूप तैयार किया गया?

फजली की "दह-मजलिस", यद्यपि, 'भाषा-योग-वाशिष्ठ" से दस साल पुरानी मानी जायगी, किन्तु, उसका गद्य ठीक-ठीक गद्य नही है। वह तो गग के "चन्द छन्द वरनन की महिमा" से भी दुर्वल और अस्तव्यस्त है। असल मे, उर्दू काव्य-भाषा के रूप में उठी और कविता में ही उसका परिमार्जन होता रहा। दह-मजलिस मे फारसी-मिश्रित गद्य का प्रथम

१. प० रामचन्द्र शुक्ल

प्रयोग है। इसीलिए, उस पुस्तक की भाषा तुर्की की "रेशमी लूमें" पकड कर लँगड़ा-लँगडा कर चलती है। इसके विपरीत, भाषा-योग-वाशिष्ठ की भाषा पूर्ण रूप से "शृखलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित" है। यह भी ध्यान देने की बात है कि योग-वाशिष्ठ के गद्य मे जो प्रौढता है, वह रामप्रसाद निरजनी की आकस्मिक सृष्टि नही रही होगी। ऐसी प्रौढता काफी दिनो के अभ्यास और परिमार्जन से ही उत्पन्न हो सकती है। अतएव, इस अनुमान से भागना असभव है कि मुसलमान चाहे जैसी भी भाषा लिखते या बोलते रहे हो, किन्तु, हिन्दुओ के यहाँ सस्कृतनिष्ठ हिन्दी की परपरा बराबर चली आ रही थी। उसी हिन्दी का व्यवस्थित और परिपुष्ट रूप हम योग-वाशिष्ठ मे देखते हैं। यदि जनता की रुचि की बात को ले तो वह इतने से ही प्रत्यक्ष है कि, प्रकाश मे आते ही, योग-वाशिष्ठ का प्रचार गाँवो मे उसी व्यापकता से हो गया जिस व्यापकता से राम-चरित-मानस और सुखसागर का प्रचार हुआ था।

इसी प्रकार, सन् १७६१ ई० मे मध्य-प्रदेश-निवासी प० दौलतराम ने रविषेणाचार्य-कृत जैन "पद्म-पुराण" का भाषानुवाद किया। इस ग्रन्थ की भाषा योग-वाशिष्ठ की भाषा के समान व्यवस्थित तो नही है, किन्तु, इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि हिन्दुओ के यहाँ खडी बोली के जिस रूप का प्रचार था, उसमे व्रजभाषा और अवधी का पुट तो रहता था, किन्तु, फारसी और अरबी के शब्द उसमे नही चलते थे।

ग्रामो में प्रचलित तीसरे प्राचीन गद्य-ग्रथ "सुखसागर" की रचना मुशी सदासुख-लाल "नियाज" ने की थी, जो दिल्ली के रहनेवाले थे तथा जिनका जन्म सन् १७४६ ई० मे तथा मृत्यु सन् १८२४ ई० मे हुई। सुखसागर की भाषा भी योग-वाशिष्ठ की भाषा के समान ही सस्कृतनिष्ठ एव व्यवस्था-युक्त है। यथा —

"इससे जाना गया कि सस्कार का भी प्रमाण नही; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष मे चाडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरत ही ब्राह्मण से चाडाल होता है। यद्यपि, ऐसे विचार से हमे लोग नास्तिक कहेंगे, हमे इस बात का डर नही। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।"

सुखसागर की रचना अठारहवी सदी के अन्त में हुई और उन्नीसवी सदी के आरंभ से ही उसका गाँवो मे प्रचार होने लगा। क्या कोई कह सकता है कि सुखसागर की भाषा उर्दू-गद्य मे से अरबी-फारसी शब्दो को हटाकर गढी हुई कृत्रिम भाषा है? और अगर है तो उर्दू का वह गद्य कहाँ है जिसके अनुकरण पर सुखसागर के गद्य का निर्माण हुआ?

दह-मजलिस में, यद्यपि, उर्दू-गद्य का प्रथम प्रयोग है, किन्तु, सभी विद्वान मानते है कि यह प्रयोग सफल नही हुआ। अर्थात् दह-मजलिस से उर्दू-गद्य का आरभ नही माना जाता है। उर्दू-गद्य का वास्तविक आरभ फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना

(सन् १८०० ई०) के बाद से होता है, जब गिलक्राइस्ट अपने यहाँ मौलवी रखकर उर्दू की किताबें लिखवाने लगे। किन्तु, "भाषा-योग-वाशिष्ठ", "पद्मपुराण" और "सुख-सागर", हिन्दी-गद्य के इन तीन पृथुल एव बहु-प्रचलित ग्रथो की रचना उससे बहुत पूर्व ही हो चुकी थी। यह सत्य है कि हिन्दी-गद्य की पुस्तकें लिखवाने को भी फोर्ट विलियम कालेज में प० लल्लूलाल (गुजराती) और प० सदल मिश्र (बिहारी) की नियुक्ति की गयी थीं, किन्तु, लल्लूलाल ने ब्रजभाषा-सेवित गद्य का निर्माण किया जो शैली हिन्दी में आगे चली नहीं। हाँ, प० सदल मिश्र की गद्य-शैली हिन्दी में स्वीकृत अवश्य हुई और वह इसलिए कि सदल मिश्र के आदर्श रामप्रसाद निरंजनी थे। और क्या कोई यह भी कह सकता है कि फोर्ट विलियम में लल्लूलाल और सदल मिश्र उर्दू-गद्य मे से अरबी और फारसी शब्दो को छाँटकर एक नयी भाषा निकालने के काम पर नियुक्त किये गये थे?

फारसी-मिश्रित भाषा (उर्दू या हिन्दुस्तानी) को अँगरेज जरूर चलाना चाहते थे, किन्तु, इसके भी प्रमाण हैं कि उनके अफसर बार-बार यह शिकायत करते थे कि यह भाषा जनता नहीं समझती है। फिर भी, अँगरेज अपने हठ पर डटे रहे क्योंकि राज-नैतिक कारणो से यह आवश्यक था। शासको की देखादेखी मिशनरियों ने भी, आरभ मे, फारसी-मिश्रित भाषा में अपना प्रचार आरभ किया, किन्तु, जब उन्होंने देखा कि अपढ जनता इस भाषा को खाक नहीं समझती है, तब वे भी अपनी प्रचार-पुस्तिकाओ में सस्कृत-निष्ठ हिन्दी का प्रयोग करने लगे। क्या इन उदाहरणो से यह प्रमाणित होता है कि इस देश की भाषा अरबी-फारसी-मिश्रित थी और साधु हिन्दी बाद को जबर्दस्ती बनायी गयी?

यदि फोर्ट विलियम के बादवाले दौर को लें, तब भी, यही दिखायी देता है कि हिन्दी के लेखक रामप्रसाद निरजनी की शैली को आगे लिये जा रहे हैं। स्वामी दयानन्द (१८२४ से १८८३ ई०), प० श्रद्धाराम फुल्लौरी (कार्यकाल सन् १८५३-१८८१ ई०), नवीनचन्द्र राय (कार्यकाल सन् १८६३-१८८० ई०) एवं राजा लक्ष्मण सिंह (सन् १८२६-१८६६ ई०) सस्कृतनिष्ठ हिन्दी के लेखक थे और यह हिन्दी उन्होंने उद्योगपूर्वक गढी नहीं थी, प्रत्युत, उन्हें वह पूर्व पुरुषो से—रामप्रसाद निरंजनी, दौलत राम और सदासुखलाल तथा सदल मिश्र, आदि से—सहज उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुई थी। इस बीच, राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५ ई०) ही एक मात्र ऐसे लेखक निकले, जिन्होंने फारसी और अरबी शब्दो को अपनी भाषा मे जबर्दस्ती ठूँस कर अपने को गौरवान्वित[1] एव अपने महाप्रभुओ को प्रसन्न करना चाहा। किन्तु, उनकी चेष्टा

---

१ राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का विश्वास था कि जो भाषा कचहरियो में चलती है, वही "फैशनेबिल" भाषा है एव उसके शब्दो को अपनाये बिना आदमी प्रतिष्ठा का पात्र नहीं हो सकता।

विफल हो गयी। सारे देश ने तो उन्हे धिक्कारा ही, इगलैण्ड से पिनकाट नामक एक अँगरेज हिन्दी-भक्त ने भी भारतेदु को पत्र लिखा कि "राजा शिवप्रसाद वडा चतुर है। वीस बरस हुए, उसने सोचा कि अँगरेज साहवो को कैसी-कैसी वाते अच्छी लगती है, उन वातों को प्रचलित करना चतुर लोगो का परम धर्म है। इसलिए, वडे चाव से उस काव्य को और अपनी भाषा को भी बिना लाज छोडकर, उर्दू के प्रचलित करने में वड़ा उद्योग किया। राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सब से भारी बात है।"

वास्तव मे, यह कहने का कोई आधार नही है कि हिन्दी का गद्य नया और उर्दू का गद्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। सच्ची बात यह है कि जिस भाषा को अब उर्दू कहते है, वह मुसलमानो के वीच शायरी मे पोषित हो रही थी, किन्तु, उसके प्रभावो से सर्वथा मुक्त सस्कृत-निष्ठ हिन्दी का विकास हिन्दुओ के यहाँ स्वयमेव होता आ रहा था। आज हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते है, उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ वर्ष से वहती आ रही है। रामप्रसाद निरजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, सदल मिश्र, स्वामी दयानन्द और लक्ष्मण सिह, ये इस धारा के मुख्य प्रकाश-स्तभ है। इनमे से किसी के भी सामने उर्दू का प्राजल गद्य मौजूद नही था, जिसमे से अरबी-फारसी के शब्दो को निकाल कर उन्हे नयी भाषा गढनी पडती।

विवाद का समाधान

उम्र के लिहाज से नयी भाषा हिन्दी नही, उर्दू है। मतरूकात की नीति से भी हिन्दी नही, उर्दू का निर्माण हुआ है। हिन्दी और उर्दू के बीच पैदा होनेवाली भिन्नता के ऐतिहासिक कारण जो भी रहे हो, किन्तु, आज उर्दू, मुख्यत, इस्लामी भावनाओ की भाषा है, जैसे हिन्दी को लोग हिन्दू-भावनाओ की भाषा मानते है। भावो की दृष्टि से दोनो भाषाओ के बीच कुछ थोड़ी एकता राष्ट्रीय कविताओ को लेकर बढी थी और कुछ महात्मा गाँधी के प्रयत्नो से जो दोनो भाषाओ को एक करना चाहते थे। गाँधीजी के समय मे लोग यह समझते थे कि हिन्दी और उर्दू का विलय अगर हिन्दुस्तानी मे कर दिया जाय तो भारत की भाषागत समस्या का समाधान प्राप्त हो जायगा। किन्तु, अब वह बात नही है। स्वाधीन भारत ने हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है और वगला, असमी, उडिया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी और गुजराती भाषाओ की ओर से माँग यह है कि राष्ट्रीय हिन्दी को सुगम तो होना चाहिए, किन्तु, वह सस्कृतनिष्ठ नही हुई, तो सारे देश मे उसका प्रचलन कठिन हो जायगा। इसके विपरीत, उर्दू, पजाबी, कश्मीरी और सिंधी भाषाओ की माँग है कि हिन्दी मे अरबी और फारसी के शब्द अधिक रहने चाहिए। जो मूल हिन्दी-भाषी लोग है, वे प्रचलित अरबी-फारसी शब्दो का बहिष्कार करने के पक्ष मे नही है। किन्तु, सारे देश के सामने हिन्दीस्भाषियो की नही चलेगी। सभावना यह है कि अरबी-फारसी के बहु-प्रचलित

शब्द हिन्दी मे चलते रहेगे, किन्तु, सिंधी, पजाबी, कश्मीरी और उर्दू भाषाएँ बोलनेवालो को बहुत-से ऐसे शब्द सीखने ही पडेगे जिनका उन्हे अभी ज्ञान नही है। वस्तुत, असख्य नये शब्दो का ज्ञान उन्हे भी प्राप्त करना है जो हिन्दी, बगला, मराठी, असमी, गुजराती, उडिया अथवा कोई द्राविड भाषा बोलते हैं।

उर्दू भारतीय सस्कृति के उस एक अग का प्रतिनिधित्व करने मे दक्ष है जिसका विकास बारहवी सदी के बाद हुआ है। लेकिन, भारतवर्ष, कम से कम, छह हजार वर्ष पुराना देश है। भारत के सपूर्ण इतिहास का प्रतिनिधित्व वे भाषाएँ कर सकती हैं, जिनके तार सस्कृत से अनुस्यूत हो। हिन्दी अपने राष्ट्रभाषा-पद को सार्थक तभी कर सकती है, जब वह भारत के सपूर्ण इतिहास, उसकी समग्र सस्कृति का प्रतिनिधित्व कर सके। इस समग्र सस्कृति मे वह सस्कार भी सम्मिलित है जिसका विकास बारहवी सदी के बाद हुआ है। इसीलिए, सविधान ने शर्त लगा दी है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी में हिन्दुस्तानी के भी रूप, शैली और अभिव्यजना का समावेश होना चाहिए।

प्रकरण १२

सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप

तन से भारतीय, मन से ईरानी

पठानो और मोगलो का भारत में आगमन व्यापार करने अथवा उपनिवेश बसाने वाले विदेशियो के रूप मे नही हुआ था। वे यहाँ बसने को आये थे। अतएव, जब वे इस देश मे बस गये, उन्होने इसे अपना ही देश मान लिया। भारत को अपना देश पहले की भी कुछ विदेशी जातियो ने माना था, किन्तु, उनके और मुसलमानो के बीच एक भारी भेद था। शक और हूण भारत मे कभी वह राजनैतिक प्रबलता प्राप्त नही कर सके थे, जो प्रबलता मुसलमानो ने प्राप्त की। इस देश पर मुसलमानो का राज्य, प्राय, छह सौ वर्षो तक रहा था। इसलिए, यद्यपि, शक और हूण, धीरे-धीरे, हिन्दुत्व मे समा गये, किन्तु, मुसलमान हिन्दुत्व से अलग बने रहे। एक तो वे देश के शासक थे और शासितो के झुण्ड मे उनके विलीन होने की बात ही नही उठती थी। दूसरे, हिन्दुत्व की पाचन-शक्ति भी अब बहुत खराब हो चुकी थी। इससे भी वह मुसलमानों को अपने भीतर नही पचा सका। यदि बहुसख्यक हिन्दू मुसलमान हो गये होते तो, शायद, हिन्दुओ और मुसलमानो का अन्तर बहुत न्यून हो गया होता। किन्तु, कई सुलतानो के बहुत उत्साह दिखाने पर भी अधिक हिन्दू मुसलमान नही हुए। परिणाम यह हुआ कि भारत हिन्दुओ का देश रह गया और मुसलमान अल्पसंख्यको के आँकडे से आगे नही बढे। लेकिन, मुसलमानी सल्तनत के समय ये अल्पसख्यक लोग ही बहुसख्यको के भाग्य का निर्णय करते थे।

मुसलमानो के आगमन के पूर्व, भारत मे एक प्रकार की सास्कृतिक एकता कायम थी। धर्म, रीति-रिवाज, भाषाएँ और सस्कृतियाँ तो तब भी अनेक थी, किन्तु, सब लोगो के हिन्दू होने के कारण, ये विविधताएँ एक ही भाषा की अनेक बोलियो के समान एक-दूसरी के समीप थी, एक-दूसरी से गुँथी हुई थी। किन्तु, मुस्लिम-धर्म के आगमन से भारत में सस्कृति की दो धाराएँ बहने लगी। ये दोनो धाराएँ समानान्तर रूप से चलती हैं। एकाध जगह वे एक-दूसरी का स्पर्श भी करती हैं, किन्तु, मिलकर वे एक नहीं हो पाती।

जब तक मोगल-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर अवस्थित रहा, बहुसख्यक हिन्दू अल्पसख्यक मुसलमानो की अधीनता मे जीते रहे और देश मे हिन्दू-मुस्लिम-सबध के बारे में वह चिन्ता ही नही उठी, जो उन्नीसवी सदी के बाद उठनेवाली थी। किन्तु, जभी मुसलमानो के हाथ से सल्तनत निकलने लगी, उनमे एक प्रकार की घबराहट का

भाव जगने लगा। पठान और तुर्क न तो अरबी थे, न ईरानी, लेकिन, मुसलमान-मात्र की दृष्टि में अरब और ईरान ही इस्लाम के असली देश थे। भारत के मुसलमान मन से सपना अरब और ईरान का ही देखते थे। हिन्दुस्तान उनके शरीर का घर था, आत्मा का घर अरब और ईरान था। सौदा ने अपने मन की यह पीडा नि सकोच भाव से लिख दी है।

गर हो कशिशे-शाहे-खुरासान तो "सौदा",
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमीं पर।

मुसलमानी शासन के समय अरब और ईरान से नये मुसलमान यहाँ आते रहते थे और उनकी इज्जत इस देश मे उन लोगो से अधिक होती थी जिनके बाप-दादे ईरानी नही, प्रत्युत, भारतीय थे। इस्लाम-धर्म की भाषा और सस्कृति अरबी और ईरानी थी, अतएव, मुसलमान होते ही अरब और ईरान की ओर देखने लगना हर व्यक्ति अपना धर्म समझता था। सस्कृति और तहजीब के क्षेत्र मे, उन दिनो एशिया मे ईरान का लगभग वैसा ही आदरणीय स्थान था, जैसा स्थान अब यूरोप मे फ्रास का है। कुछ इस कारण भी, ससार भर के मुसलमान ईरान से अपनी सास्कृतिक प्रेरणा लेते थे।

हिन्दुत्व का प्रभाव

हिन्दू और मुसलमान घुल-मिलकर एक तो नही हो सके, फिर भी, दोनो जातियो की बहुत-सी बाते एक हो गयी। प्रहार और बचाव के काम शिक्षितो एव पडितो में ही चला करते हैं। बाकी जनता आपस मे मित्रता का नाता आसानी से पैदा कर लेती है। वह नाता हिन्दू और मुस्लिम जनता के बीच, स्वभावत ही, जुड गया तथा शहरो की अपेक्षा गाँवो के लोग इस एकता के तार मे, अधिक स्वाभाविकता से, बँध गये। दुर्भाग्य की बात यह रही कि शिष्ट और सुसस्कृत मुसलमान गाँवो में कम, नगरो में बहुत अधिक रहते थे। सच पूछिये तो मुस्लिम-सस्कृति के केन्द्र भारत के नगर ही थे। अतएव, गाँवो की एकता का प्रभाव नगरो पर नही पड सका।

हिन्दुओ के बीच अधविश्वास और रूढियाँ बहुत अधिक प्रचलित थी। इनके प्रभाव से मुस्लिम-समाज मे भी कुछ रूढियाँ उत्पन्न हो गयी और हिन्दुओ की देखादेखी मुसलमान जनता भी गजनी मियाँ, पाँच पीर, पीर बदर, ख्वाजा खिजिर आदि कल्पित देवताओ की पूजा करने लगी। मुसलमानो के ये पीर, अक्सर, ग्राम-देवता बन बैठे और हिन्दू-मुस्लिम, सब दरगाह पर माथा टेकने लगे। दशहरा और रथ-यात्रा-उत्सवो के अनुकरण पर मुहर्रम मे ताजिये निकाले जाने लगे एव ताजियो में हिन्दू और मुसलमान, बिना किसी भेद-भाव के, सम्मिलित होने लगे। ताजियो के पीछे चूँकि हजरत अली के बेटे हजरत इमाम हुसेन की याद थी और हजरत अली बल के आगार थे, इसलिए, ताजियो की सरक्षता गाँवो के नामी पहलवान करते थे जिनमे बहुधा हिन्दू पहलवानो

की भी गिनती होती थी। अखाडो मे जैसे हिन्दू "जय महावीर" का नारा लगाते थे, वैसे ही, ताजियो के जुलूसो में सभी हिन्दू उल्लास के साथ "या अली" पुकारते थे। हिन्दू मुसलमान का छूआ हुआ नही खाते थे, फिर भी, दोनो जातियो का सामाजिक रिश्ता मजबूत होने लगा और एक घर से दूसरे घर मे मिठाइयो के उपहार भी भेजे जाने लगे।

हिन्दुओ के बहुत-से रिवाज ऊँचे तबको के मुसलमानो मे, आप-से-आप, चल पडे। आँख लगने से बचने के लिए न्योछावर उतारने की परिपाटी बादशाहो की भी हवेलियो मे थी। शाहजादे भी यात्रा पर निकलने से पहले बाँहो पर मन्त्र-सिद्ध यंत्र बँधवाते थे। मुहम्मद तुगलक लडाइयो पर जाने से पहले हिन्दू योगियो से आशीर्वाद माँगा करता था। बहुत-से शेख और मुस्लिम पीर, हिन्दू-मठो की नकल पर, गद्दियाँ भी स्थापित करते थे।

कहते है, राजपूतो की देखादेखी कुछ मुसलमानो ने भी जौहर की प्रथा अपना ली थी। भटनेर के सूबेदार कमाल उद्दीन ने, तैमूर से लड़ने जाने के पहले, अपने फौजियो की पत्नियो को आग में कूद जाने का आदेश दिया था।

जहाँगीर जब कश्मीर गया, तब वहाँ उसने कुछ ऐसे मुस्लिम राजे भी देखे, जो सती-प्रथा को मानते थे तथा जिनका शादी-विवाह हिन्दू-घरानो मे होता था।

छत्र-चमर, हीरे-मोती, जडाऊ खड्ग, कीमती राजसी पोशाक और सजे हुए हाथी और घोडे, ये विशेषताएँ हिन्दू राज-दरबारो की थी। इस्लाम की परपरा सादगी और मितव्ययिता की परपरा थी। किन्तु, मुसलमान जब भारत पर राज करने लगे, तब उन्होने भी इन आडम्बरो को अपना लिया, केवल अपना ही नही लिया, उनमे बहुत-से इजाफे भी कर दिये। इसी प्रकार, पान खाने की आदत मुसलमानो ने हिन्दुओ से ली थी, लेकिन, पीछे चलकर पान चबाने में भी हिन्दुओ को उन्होने मात दे दिया। कहते है, १४ वी सदी मे पान खाने का रिवाज हजाज और यमन तक फैल गया था।

फलो से अचार तैयार करने की प्रथा भारत की प्रथा थी। वह मुसलमानो के यहाँ भी चल पडी। भारत के मोहन-भोग का प्रभाव पुलाव पर पडा। भारतीय मुसलमानो का पुलाव और कोरमा वही नही रहा जो ईरान और खुरासान मे था।

चीरा और पाग मुसलमानो ने हिन्दुस्तानियो से लिया और, बदले में, कसे-चुस्त पायजामे राजपूतनियो ने मुस्लिम-नारियो से लिये। इस्लाम की परपरा रेशम, मलमल और कीमती जेवरो के विरुद्ध थी, लेकिन, भारत में बस जाने पर मुसलमानो ने इन्हें भी अपना लिया।

हिन्दुस्तान समृद्ध देश है, उसके तौर-तरीके और सामाजिक आचार आकर्षक है, ये बाते भारत के बाहर भी खूब प्रचलित थी। अतएव, जब मुसलमान हिन्दुस्तान आये, वे बडी ही शीघ्रता के साथ यहाँ के तौर-तरीके सीखने लगे। इब्न-बतूता ने अपनी

किताव में सुलतान मुहम्मद तुगलक की वेटी के विवाह का भी वर्णन लिखा है। उससे मालूम होता है कि मुसलमानो पर हिन्दू-प्रभाव उस समय भी बहुत काफी पड चुका था।

रमल फेंककर सगुन विचारने की प्रथा अरव मे भी थी, किन्तु, यह प्रथा इस्लाम में अच्छी नही समझी जाती थी। भारत में बसने के बाद मुसलमान हिन्दुओ के ही समान सगुन मे विश्वास करने लगे।

मुस्लिम अमीरो के अधविश्वास मे कुछ नफासत भी आने लगी। हुमायूँ और अकवर हर रोज पोशाक उस रग की पहनते थे जो उस दिन के स्वामी-ग्रह का रग होता था। सौभाग्यवती मुस्लिम स्त्रियाँ भी माँग मे सिन्दूर लगाने तथा नाक मे नथ और हाथ मे शख की चूडियाँ पहनने लगी। विवाह के अवसर पर सोहागपुरा ले चलने की प्रथा भी मुसलमानो के यहाँ हिन्दुओ की देखादेखी चली है। हिन्दू जैसे श्राद्ध करते है, कुछ उसी प्रकार मुसलमान भी मृत व्यक्तियो के नाम पर भोज करने और खैरात बाँटने लगे। हिन्दुओ की जाति-प्रथा ने भी मुस्लिम-समाज को प्रभावित किया और मुसलमान भी शरीफ और रजील जातो का भेद करने लगे एव जुलाहो और धुनियो के साथ शरीफ जात वालो को खाने-पीने मे आपत्ति होने लगी। बिहार मे छोटी जात के मुसलमान भी छठ का व्रत (सूर्य-पूजा) रखने लगे और बगाल में वे शीतला-माता की पूजा करने लगे। सच पूछिये तो हिन्दुत्व के दर्शन-पक्ष का प्रभाव इस्लाम पर उतना ही रहा, जितना सूफी-मत पर पड चुका था। वाकी वातो में हिन्दू-समाज की रूढियो और अन्ध-विश्वासो का ही प्रभाव मुस्लिम-समाज पर पडा और वह इस कारण कि मुसलमान, प्राय, छोटे हिन्दू ही हुए थे जो वडे हिन्दुओ के नैतिक रोव-दाव में थे। ये वेचारे इस्लाम मे दीक्षित होने पर भी अपने पैतृक समाज की कुरीतियो को नही छोड सके।

मोगल-काल आते-आते शवेरात का पर्व सारे भारत के मुसलमानो मे मनाया जाने लगा। यह, शायद, शिवरात्रि का अनुकरण था क्योकि शिवरात्रि उस समय बडी ही धूम-धाम से न मनायी जाती थी। ताजिये का रिवाज भी भारत छोडकर और किसी देश मे नही है। यह, कदाचित्, रथयात्रा के अनुकरण पर निकला था।

हिंदुओ ने मुसलमानो को जातिवाद का जहर पिलाया, वदले में, मुसलमानो ने हिंदुओ को पर्दे का शाप दिया। हिंदुओ की देखादेखी, मुसलमानो मे भी ऊँच-नीच का भेद चलने लगा एव यह प्रथा प्रचलित हो गयी कि सैयद शेख की वेटी ले सकता है, किंतु, शेख सैयद की वेटी से ब्याह नही कर सकता। पर्दे का चलन प्राचीन विश्व की कई जातियो मे था। महाभारत मे द्रौपदी की कथा से पर्दे की थोडी-बहुत झलक जरूर मिलती है और यह प्रथा सिद्ध-साधुओ के युग मे भी थी। किंतु, इसकी कट्टरता मुसलमानो के समय मे वढी, क्योकि एक तो मुसलमानो मे पर्दे का रिवाज था (रजिया बेगम दरबार में भी पर्दे मे बैठती थी), हिंदू गृहस्थ अपनी बहू-बेटियो को भय से भी छिपाकर

रखना चाहते थे। हिंदुओ मे पर्दे की प्रथा पठानो के कारण वढी और पठान मोगलो के आने के वाद पर्दे को और भी कडा करने लगे।[१]

स्नान की आदत मुसलमानो ने हिंदुओ से ली। अरव के लोग पानी के अभाव मे स्नान कम करते थे। पीछे हर देश मे मुसलमान नही नहाने अथवा कम नहाने को अपना कर्त्तव्य मानने लगे। लेकिन, भारत मे स्नान-जनित आनन्द से वे काफी प्रभावित हुए। मोगलो के समय तो मुसलमानो मे नहाना इतना लोकप्रिय हो उठा कि वडे-वडे शहरो मे स्नानागार के रोजगार वैसे ही चलने लगे जैसे आज होटल चलते है। एक आगरा शहर मे ही कोई आठ सौ हम्माम थे।

ऊँचे तवको के हिंदुओ ने मुसलमानी खान-पान और पोशाके, खुशी-खुशी, अपना ली। वाकी तवको मे भी, हिंदुओ की पगडी मुसलमानो ने और मुसलमानो की अचकन हिंदुओं ने अपनायी। विरियानी पकाने का रिवाज भारत मे मध्य-पूर्वी एशिया से आया और हुक्के का रिवाज यहाँ इसलिए चला कि पुर्तगाली लोगो ने, मुसलमानो के समय मे ही, भारत मे तम्वाकू का प्रचार किया था। हिंदुओ और मुसलमानो के वीच जो समान रीति-रिवाज और आदते प्रचलित है, उनकी काफी लवी सूची राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, "खडित भारत" में दी है।

मुसलमानो के भीतर कई सप्रदाय है, जिनका उद्भव और विकास हिंदू-प्रभावो के कारण हुआ है। इनमे से एक सप्रदाय का नाम इस्माइलिया है। खोजा लोग इसी सप्रदाय के है। खोजा-सप्रदाय के कई विश्वास ऐसे है जिनमें हिंदुत्व के वैष्णव-मत और इस्लाम के शिया-पन्थ का मिश्रण दिखायी देता है। इस सप्रदाय की एक मान्यता यह भी है कि हजरत अली विष्णु के दसवे अवतार थे। (टामस-कृत मुचुअल इनफ्लुएसेज आव् मोहमडन्स एण्ड हिंदुज इन इडिया)। खोजा लोगो की मस्जिदें अलग होती है। सामान्यत, वे सावारण मस्जिदो मे नमाज पढने नही जाते है। इसी प्रकार, अली-इलाहिया सप्रदाय के मुसलमान आत्मा के आवागमन मे विश्वास करते हैं।

अहिंसा और मुसलमान

मास-भक्षण और भोग-लौलुप्य भारत मे कम नही है। फिर भी शाकाहार, अहिंसा और गरीबी मे सतुष्ट रहने का भाव, ये तीन गुण, विशेप रूप से, भारतीय माने जाते है।

---

१ The purdah system, in all probability, was unknown in ancient India Its general adoption is subsequent to the advent of Muslims in India.. .. .The Hindus adopted Purdah as a protective measure The tendency to imitate the ruling class was another factor (द पोजीशन आव् वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन डाक्टर अल्तेकर)

यदि यह जानना हो कि किसी विदेशी पर भारत का प्रभाव कहाँ तक पडा है, तो देखना यह चाहिए कि उस आदमी ने मास खाना कुछ कम किया है या नही, वह पहले की अपेक्षा अब अधिक जीवो को मारता है या कम जीवो को और गरीबी के प्रति उसका दृष्टि-कोण क्या है।

भारतीय अहिंसा का प्रभाव, सबसे पहले, इस्लाम के सर्वोत्तम मानवो, यानी, सूफियो पर पडा। बल्कि, यह प्रभाव इस्लाम पर अरब में ही पडने लगा था। जब इस्लाम भारत मे फैलने लगा, मुस्लिम साधु और फकीर, अधिक-से-अधिक, शाकाहार की ओर मुड़ने लगे। उनकी देखा-देखी मासाहार का कुछ थोडा त्याग गृहस्थ भी करने लगे। किंतु, अहिंसा का प्रभाव हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर पर सबसे अधिक था। हुमायूँ जब फारस से लौटकर दुबारा भारत-विजय के काम मे लगा, तब कई महीनो तक उसने मास खाना और शराब पीना छोड दिया था। उसका निश्चित मत था कि भक्ति और मासाहार, ये दो काम साथ-साथ नही चल सकते और जो व्यक्ति ईश्वर का भक्त है, उसे गोमास तो हरगिज नही खाना चाहिए। अकबर, सामान्यत, मास खाना पसन्द नही करता था। शुक्रवार और रविवार तथा हिंदू-मास की प्रतिपदा तिथि को वह नियम-पूर्वक निरामिष भोजन करता था। इसके सिवा, वर्ष के दो खास महीनो मे वह किसी भी दिन मास नही खाता था। इन दो महीनो मे एक वह था जो अकबर का जन्म-मास पडता था। पीछे चलकर तो अकबर ने मास खाना बिलकुल ही छोड दिया था—यहाँ तक कि वह प्याज और लहसुन से भी परहेज करने लगा था। जहाँगीर मास का प्रेमी था, लेकिन, वह भी गुरुवार और रविवार को मास-मछली नही खाता था।[1]

स्त्रियों की स्थिति

नारियो को दबाकर रखने की थोडी-बहुत प्रथा एशिया के सभी देशो में थी। किंतु, तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस विषय में हिंदू मुसलमानो की अपेक्षा कुछ अधिक उदार थे। इसलिए, मुसलमान जब भारत आये, तब इससे नारी-जाति की उन्नति नही हुई, कुछ अकल्याण ही हुआ। हिंदू नारियाँ उतनी दबी हुई नही थी जितनी दबी वे उत्तर भारत मे दिखायी देती हैं। कम-से-कम वे उतनी स्वतत्र अवश्य थी जितनी उनकी दक्षिण-देश-वासिनी बहनें हमेशा से रही हैं। यह इसलिए कि इस्लाम का प्रभाव उत्तर में अधिक, दक्षिण मे बहुत कम पडा है।

मुसलमान, नारियो के विषय में, किस दृष्टि के कायल थे, यह इस्लाम के सब से बडे दर्शनाचार्य अल-गजाली (मृत्यु १११७ ई०) की उक्तियो से प्रत्यक्ष हो जाता है। अल-गजाली ने लिखा है, "औरतो से राय लेना ठीक है, लेकिन, आचरण हमेशा उसके

१ पी० एन० चोपरा-कृत "सोसाइटी एण्ड कलचर इन मोगल एज"

विपरीत करना चाहिए नबी ने कहा है, औरत की रचना छाती की टेढी हड्डी से की गयी थी। इसलिए, तुम औरत को अगर झुकाना चाहोगे तो वह टूट जायगी और स्वतत्र छोडोगे तो वह और भी टेढी हो जायगी। इसलिए, उचित है कि उसके साथ नर्मी से पेश आओ।"

पर्दा-प्रथा का कठोर समर्थन करते हुए अल-गज़ाली ने लिखा है कि "जहाँ तक सभव हो, औरतो को घर से बाहर जाने देना नही चाहिए, न उन्हे छत पर जाने, न दरवाजे के पास खडा होने देना चाहिए।"

अल-गज़ाली ने यह भी लिखा है कि औरते न तो अजनबियो को देखे, न उन्हे अपने आपको देखने का मौका दे क्योकि सारी शरारतो की जड निगाह में होती है।

पतियो की दासता करने की जो शिक्षा भारतीय रमणियो को अपने धर्म से मिली थी, वही शिक्षा उन्हे इस्लाम से भी प्राप्त हुई। अल-गजाली कहते है, "स्वय नबी ने कहा है, ईश्वर के बाद यदि किसी और को पूजना आवश्यक ही हो तो औरतो को पूजा अपने शौहरो की करनी चाहिए।"[१]

शिक्षा और भाषा की स्थिति

भारत मे शिक्षा नि शुल्क दी जाती थी और माँ-बाप बच्चो को इसलिए नही पढाते थे कि पढ-लिखकर वे नौकरी करेगे और धन कमायेगे। कागज, किताब और शिक्षा-विभाग के अभाव के कारण शिक्षित व्यक्ति की योग्यता इस कसौटी पर परखी जाती थी कि उसने किस गुरु के पास बैठकर विद्या पढी है। हिंदू पाठशालाओ मे पढते थे और मुसलमान मदरसो में। कभी-कभी मुस्लिम छात्र भी ज्योतिप और गणित सीखने के उद्देश्य से पाठशालाओ मे पढा करते थे। जब तक फारसी राजभाषा नही बनायी गयी, तब तक मदरसो में हिंदू बच्चे बहुत कम जाते थे। अकबर के राज्यारोहण तक सरकारी हिसाब हिन्दी मे रखा जाता था। मोगलो के समय जैसे हिंदू-शिक्षा के मुख्य केन्द्र काशी, नदिया और मिथिला में थे, वैसे ही, इस्लामी शिक्षा के केन्द्र आगरा, दिल्ली, जौनपुर और लाहौर मे थे।

हिंदुओ के बीच साधु हिंदी की परपरा मुसलमानो के समय भी चालू थी एव ग्रथो की टीका, सतो और पडितो के उपदेश तथा ग्रंथ-रचना के काम इसी सस्कृत-निष्ठ-भाषा मे चलते थे। मुसलमानो के समय सस्कृत-टोल भी काफी थे। फिर भी, राजकीय कारणो से एव दरबारदारी और नौकरी के प्रभाव से फारसी की इज्जत बहुत बढी हुई थी तथा हिंदू भी उसके रोब मे थे। मुस्लिम-काल मे, प्राय, हर भले आदमी का विश्वास था कि फारसी सीखे बिना बच्चो में "तमीज" नही आती है। इसलिए, खाने-पीने से

१, डी० एम० डोनाल्डसन-कृत "स्टडीज इन मुस्लिम-एथिक्स"

अच्छे लोग अपने दरवाजो पर मौलवी रखा करते थे। बहुत जगहो पर तो यह रिवाज था कि सस्कृत के साथ-साथ बच्चो को फारसी भी पढायी जाती थी।

फारसी का यही प्रभाव आगे चलकर उत्तर भारत में एकता का बाधक हुआ। अगरेजो के आने के समय, इस देश की राज्य-भाषा फारसी थी, अतएव, यह स्वाभाविक था कि अँगरेज भी फारसी को ही चलाये। किंतु, जब अँगरेजो ने अगरेजी को यहाँ की राज-भाषा बना दिया, तब भी वे (अब केवल मुसलमानो को प्रसन्न करने के लिए) फारसी और उर्दू के पक्षपाती बने रहे। इधर हिन्दुओ ने उन्नीसवी सदी के सास्कृतिक जागरण के समय, अपनी खोयी हुई सास्कृतिक सत्ता पुन प्राप्त कर ली थी और वे उसी साधु हिंदी को सर्वत्र चलाने की माँग करने लगे जिसे मुस्लिम-काल मे खुलकर फैलने की राह नही मिली थी। इससे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमे मुसलमान कहने लगे कि हिंदी नकली भाषा है तथा, वास्तव में, भारत की भाषा फारसी-मिश्रित उर्दू ही हो सकती है।

हिंदुओ और मुसलमानो के बीच मतभेद के कारण अनेक हैं, लेकिन, अभी यह स्पष्ट दीखता है कि सबसे बडा मतभेद भाषा को ही लेकर है। अगरेजो ने जब फारसी को हटाकर भारत की राजभाषा का पद अगरेजी को दिया, तब भी कचहरियो में उन्होंने उर्दू को रहने दिया जो फारसी लिपि मे लिखी जाती है। इस पर उत्तर भारत के हिंदुओ ने आन्दोलन उठाया कि फारसी लिपि का ज्ञान जनता को नही है, न जनता अरबी और फारसी के शब्द ही समझती है, अतएव, फारसी के साथ-साथ नागरी लिपि को भी कचहरियो में स्थान मिलना चाहिए। यह माँग इतनी अकाट्य थी कि अगरेज उसकी उपेक्षा नही कर सके और नागरी लिपि को भी कचहरियो मे स्थान उन्होंने दे दिया। लेकिन, नागरी में भी भाषा उन्होंने वही रखी जो फारसी लिपि मे लिखी जाती थी। अगरेजो के इस फैसले से मुसलमानो को घोर निराशा हुई। कचहरियो में फारसी लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि भी चले, इतनी-सी बात भी उन्हे गवारा नही हुई। यह चोट मुसलमानो के हृदय मे इतनी गहरी होकर लगी कि आज तक उसका दर्द खटक रहा है। सन् १९३७ ई० मे काग्रेस ने जो सरकारे बनायी, उन पर भी मुसलमानो ने उर्दू के साथ गैर-इन्साफी का दोष लगाया। सर सैयद अहमद हिंदुओ से अलग क्यो हो गये, इसका रहस्य समझाते हुए डाक्टर आबिद हुसेन ने, अभी हाल मे, लिखा है[1] कि जब कचहरियो मे हिंदुओ के दबाव से उर्दू की जगह पर साहित्यिक हिंदी चला दी गयी, तब सर सैयद का हृदय फट गया। लेकिन, यह बिलकुल गलत बात है। कचहरियो में हिंदी उर्दू को हटाकर नही लायी गयी थी, बल्कि, उर्दू के साथ हिंदी का भी चलन जारी किया गया था। और नागरी अक्षरो मे जो हिंदी कचहरियो में लिखी जाती थी, वह ठीक वही भाषा थी

१. द नेशनल कलचर आव् इंडिया

जो फारसी लिपि मे मुसलमानो की सुविधा के लिए, लिखी जाती थी। साहित्यिक तो नही, हाँ, दफ्तरो मे कठिन हिंदी का प्रवेश इधर दस-बारह साल के भीतर हुआ है।

अन्य आदान-प्रदान

इस्लाम का प्रभाव अमीरो की पोशाक और खान-पान पर भी पडा तथा रहन-सहन एव लिवास मे ऊँचे तबको के हिंदुओ और मुसलमानो मे कोई फर्क नही रह गया। मोगल अमीरो ने बहुत-सी बाते हिंदुओ की अपना ली। इसी प्रकार, हिंदू अमीर भी बहुत-सी बातो मे मुसलमानी ढग अपनाने लगे।

सगीत इस्लाम मे वर्जित था, किंतु, सूफी तब भी सगीत के बडे प्रेमी थे। बल्कि यह कहना चाहिए कि सूफियो के यहाँ सगीत साधना का एक अग समझा जाता था। भारतीय एव ईरानी सगीत के मिलन से नयी-नयी चीजे निकल पडी। ख्याल का आविष्कार जौनपुर के नवाब सुलतान हुसेन शर्की ने किया था एव कौव्वाली, कदाचित्, अमीर खुसरो की ईजाद है। कौव्वाली का आरभ और प्रचार धार्मिक सगीत के रूप मे हुआ, यद्यपि, मस्जिदो मे कौव्वाली भी नही पहुँच सकी। बाजो मे रबाव, सरोद, दिलरुवा और ताऊस ऐसे है जो, शायद, मुसलमानो के लाये हुए है अथवा इनके ये नाम मुसलमानो के दिये हुए हैं। अमीर खुसरो के बारे मे कहा जाता है कि वीणा को देखकर सितार का अविष्कार उन्ही ने किया था तथा मृदग पर से तबले भी उन्ही ने निकाले थे। बीजापुर के इब्राहिम अदीलशाह ने सगीत पर "नौरस" नाम की किताब लिखी थी। सगीत मे हिंदू और मुसलमान परस्पर जितने समीप हुए, उतने समीप वे और कही नही आये।

कई धातुओ से रसायन बनाने का रिवाज मुस्लिम-आगमन के बाद विकसित हुआ। कागज बनाना और कलई करना भी यहाँ मुसलमानो ने आरभ किया। पत्थर, चाँदी और सोने पर मीनाकारी के काम, जामदानी, कलाबत्तू, जरदोजी, किमखाब और जामेवार भी मुस्लिम-काल मे ही चले।

गणित, ज्योतिष और वैद्यक में हिंदू बहुत उन्नति किये हुए थे। इन विद्याओ का ज्ञान इस्लाम के भारत-आगमन के पूर्व ही, अरब पहुँच चुका था। अरब वाले, बाद को, कुछ ज्ञान यूनान से भी लाये एव इन दोनो को मिलाकर उन्होंने भी इन विद्याओ मे अच्छी प्रगति की थी। जब मुसलमान भारत आये उनका यह सामासिक ज्ञान भारत को भी प्राप्त हुआ। ज्योतिष के कुछ पारिभाषिक शब्द, इस प्रकार, इस्लाम की देन है। हमारी देशान्तर और अक्षाश रेखाएँ गिनने की प्रणाली भी मुसलमानो से ली हुई है। जन्म-पत्री बनाने की ताजक-पद्धति भी यहाँ मुसलमानो के आगमन के बाद चालू हुई। ज्योतिष की अरबी पद्धति के आने के बाद ही, महाराज जयसिंह ने हिंदू-पचाग का सुधार किया और जयपुर, मथुरा, दिल्ली तथा काशी मे वेधशालाएँ बनवायी।

ज्योतिष पर विदेशी प्रभाव इसलिए पडा कि भारत में इस विद्या का व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। राजाओ और धनियो को वरावर ग्रह-शाति करवाने अथवा अपना भविष्य जँचवाने की उत्सुकता रहती थी। और इस उत्सुकता का अनुकूल लाभ पडितो को प्राप्त होता था। इसलिए, राजे जव जिस भाषा के प्रेमी हुए, तव यहाँ के ज्योतिषियो ने उस भाषा का थोडा-वहुत सहारा लिया। यूनानियो के आगमन के वाद भारतीय ज्योतिष मे रोमकशास्त्र लिखा गया जिसके नाम मे ही रोमन या यूनानी शव्द मौजूद है। कहते है, होरा-चक्र की पद्धति भी यूनान से ही यहाँ आयी थी। जब शासन मुसलमानो का हुआ, तव अरव का प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर पडना स्वाभाविक हो गया। ताजक-शास्त्र वर्ष-फल, मास-फल आदि वताने की अरवी पद्धति है। इस शास्त्र के वीस-पच्चीस ग्रथ अपने यहाँ लिखे गये। इसी प्रकार, अरवो के वीच रमल फेंक कर सगुन विचारने की जो प्रथा थी, वह भी भारत पहुँची और रमल-शास्त्र पर भी यहाँ काफी पुस्तके लिखी गयी। ताजक-शास्त्र की पुस्तको मे जो श्लोक मिलते है, उनमे अरवी और फारसी शव्दो का प्रयोग खुल कर किया गया है।

स्यादिक्कवालः इशराफयोगः

× × ×

खल्लासरम् रद्दमुथोदुफालिः

कुत्थम् तदुत्थोयदिवीरनामा।[1] —इत्यादि

यूनानी सपर्क के समय होरा, कौर्प्य, जूक, लेय, हेलि आदि दर्जनो यूनानी शव्द थे जिनका रूप सस्कृतवत् हो गया था। मुस्लिम-सपर्क से कितने ही अरवी और फारसी के शव्द सस्कृत मे समा गये। एक श्लोक मे तारीख शव्द का ऐसा प्रयोग है, मानो, वह पाणिनि का ही शव्द हो।

सिद्धो के समय से भारत मे जो निराकारवादी सप्रदाय पनपते आ रहे थे, उनके वहुत-से सदस्य तो मुसलमान हो गये और वहुत ऐसी जगहो पर रह गये जो हिंदुत्व और इस्लाम, दोनो से नजदीक थी। वगाल के वाउल ऐसे ही सप्रदायो के यादगार है। अजमेर मे कुछ लोग अपने को हुसेनी ब्राह्मण कहते है। ये न तो कट्टर हिंदू है, न कट्टर मुसलमान। राजपूताने और आगरा जिले के मलकाना राजपूत मुसलमान है, मगर, वे हिंदू के समान रहते है, राम-नाम जपते है और दरगाहो पर भी जाते है। गुजरात के खोजा-सप्रदाय पर वैष्णव-धर्म का वहुत प्रभाव पडा था। वल्लभाचार्यी वैष्णवो के समान, खोजा लोग भी अपने को गुरु का परम दास मानते है एव गुरु को वे साक्षात् कृष्ण का अवतार समझते है। इनके वहुत-से रीति-रिवाज हिंदुओ के-से थे। किंतु,

---

१ प० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत "हमारी साहित्यिक समस्या" से

इधर वे भी कट्टरता की ओर लौट रहे हैं। वगाल के वाउल घरो में तो मुसलमानो की तरह रहते हैं, किंतु, वे न तो कट्टर हिंदू हैं, न कट्टर मुसलमान।

हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य मे जो वृद्धि मोगल-काल में हुई, वह अब भी शेष है। आगरे के मलकाना राजपूत मियाँ ठाकुर कहलाना पसन्द करते हैं। क्षिति वाबू ने लिखा है कि अजमेर के पास कुछ ब्राह्मण है जो हुसेनी ब्राह्मण कहलाते हैं। कच्छ के मेमो लोग त्रिदेव को पूजते हैं एव मामाशाह को ब्रह्म का अवतार मानते है। विहार मे भी कुछ ब्राह्मणो की पदवी खाँ है। उत्तर प्रदेश मे कुछ ऐसे भी मुसलमान है जो राजपूत मुसलमान, तेली मुसलमान और ब्राह्मण मुसलमान कहलाते है।

वगाल मे हिंदू और मुस्लिम सस्कृतियो के वीच जो मिश्रण हुआ, उसका एक प्रमाण "सत्यपीर" की पूजा भी मानी जा सकती है। यह पूजा हुसेन शाह के समय प्रवर्तित की गयी एव सत्यनारायण की पूजा इसका मूल स्रोत थी। विशेषता यह हुई है कि सत्य-पीर का पूजन करने एव उनका माहात्म्य सुनने को हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही जातियो के लोग जमा होते थे। वगाल में रमाई पडित ने एक शून्य-पुराण भी लिखा (१४ वी सदी) जिसमे कहा गया है कि ब्राह्मणो से सतधर्मी जब वहुत पीडित होने लगे, तव उनकी रक्षा के लिए धर्म ने ही मुसलमानी रूप धारण किया और सभी देवता पैजामा पहन-पहन कर ब्राह्मणो को मारने को आ गये।

हिंदू-धर्म की विशेषता यह है कि वह वाहर से आयी हुई सस्कृतियो से मिलकर जाग्रत और नवीन हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर, इस्लाम से हिंदुत्व का मिलन अनेक अशो मे मगलकारी हुआ। इस्लाम के आगमन के वाद, भारत की राष्ट्रीय एकता में वृद्धि हुई एव जनता को मोगलो के समय सुदृढ केन्द्रीय सत्ता के आश्रय मे शाति और सुव्यवस्था का सुख मिला। सापत्तिक दृष्टि से भी, मोगलो का राज्य-काल भारत के लिए सुवर्ण-काल के समान रहा। सास्कृतिक दृष्टि से इस काल का और भी महत्त्व है। हमारी सारी आधुनिक देश-भाषाएँ इसी काल मे उठकर खडी हुई एवं जिस प्राचीन साहित्य का अभिमान ये भाषाएँ करती है, उसका अधिकाश इसी काल में लिखा गया। भारत की मृतप्राय कला इसी युग मे आकर पुनरुज्जीवित हुई। किन्तु, सबसे वडी वात यह हुई कि वुद्धदेव ने वृहत् मानवता का जो आन्दोलन चलाया था, वह इस काल के सतो और सुधारको के प्रचार से और भी पुष्ट हो गया। ब्राह्मण हमेशा से समाज मे विशिष्ट अधिकारो का उपभोग करते आये थे और किसी भी राजा ने उनके अधिकारो में हस्तक्षेप नही किया था। अतएव, पठान-काल मे जब जिजिया का कर उन पर भी लगा दिया गया, तव समाज को इस वात का कुछ अधिक ज्ञान हुआ कि ब्राह्मण और अब्राह्मण में भेद नही है।

मोगलो के पतन के समय, ऊँचे तवको के लोग विलासी, अकर्मण्य और आचारहीन अवश्य हो गये थे, किंतु, निर्गुनियाँ सतो की परपरा तव भी अपना काम करती रही और

निचले तबको की जनता के सामने जीवन का पवित्र आदर्श तब भी कायम रहा। राम-लीला, रासलीला और उसमें सम्मिलित होनेवाली जनता अंध-विश्वासी भले रही हो, किन्तु, अमीरो के दरबारो में जो पतनशीलता आ गयी थी, उससे निम्न जनता का वर्ग बेदाग बच गया। इस काल मे लालदासी, नारायणदासी और सतनामी सम्प्रदाय जनता को जाग्रत रखने का काम करते रहे। धरनीदास, चरणदास और उनकी शिष्याओ, सहजो-बाई और दयाबाई, ने भी इस परपरा को आगे बढाया। १९ वी सदी मे भी इस परपरा के सत दूलनदास, भीखादास और पलटूदास हुए। इनके चेले गृहस्थ और, साधारणत, सदाचारी होते थे। इनकी बानियो में चिन्तन की गहराई नाम को भी नही है। ये केवल बानियो के द्वारा नैतिक मूल्यो का प्रचार करते थे। फिर भी, ऊँचे ज्ञान के लिए इन्होने जनता मे सात्विक तृषा को जगाये रखा तथा, इस प्रकार, आगे आनेवाले सतो—दयानन्द और रामकृष्ण परमहस—के लिए इन्होने जमीन तैयार रखी।

मुसलमानो की राज्य-सत्ता ज्यो-ज्यो हिलती गयी, त्यो-त्यो उनका स्वभाव भी कोमल होता गया एव हिंदुओ के हृदय का भय भी निकलता गया। इससे, इस काल मे, हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य की भावना, जनता के धरातल पर, आप-से-आप पुष्ट होती गयी। राज्य-सत्ता से अलग रहनेवाले हिंदू और मुसलमान, आपस मे, इस काल मे जितना समीप आये, उतना पहले कभी नही आये थे।

किंतु, इस काल मे ऊपरवाले तबको के हिंदुओ और मुसलमानो मे सँडाँध समा गयी थी एव दिनोदिन वे खोखले होते जा रहे थे। एक ओर वे विलास मे मग्न थे, दूसरी ओर, देश की छाती पर यूरोप की दो-तीन जातियाँ हडकम्प मचा रही थी। मुसल-मानो के आगमन के समय हिंदुओ की जैसी दयनीय स्थिति थी, मोगल-राज्य की समाप्ति के समय, मुसलमान भी बहुत-कुछ वैसी ही स्थिति मे आ गये थे। शराब, इश्क और गजलो की खुमार से देश तद्रा मे झूम रहा था कि इतने मे पलासी के मैदान मे क्लाइव की तोपे गरज उठी। यह गर्जन, असल मे, एक नये युग की पुकार थी, जिसका विवरण हम आगे के अध्याय मे पढेंगे।

चतुर्थ अध्याय

(भारतीय संस्कृति और यूरोप)

प्रकरण १

भारत में यूरोप का आगमन

पुर्तगाल

बहुत प्राचीन काल मे भी, रोम और भारत एक-दूसरे से अपरिचित नही थे। सिकन्दर के समय (ई० पू० चौथी सदी) यूरोप में भारत का नाम काफी प्रसिद्ध था। लोग जानते थे कि भारत धन और ज्ञान, दोनो का आगार है। इसी प्रसिद्धि ने सिकन्दर को भारत की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी थी। सिकन्दर की चढाई के बाद तो भारत और यूरोप का संबध और भी गहरा हो गया। दोनो देशो के विद्वान् दोनो देशों में आते-जाते थे और दोनो देशो के बीच व्यापार सीधे होता था। उस समय दर्जनो यूनानी शब्द भारत पहुँचे और सस्कृत भाषा मे गृहीत हो गये। आज 'केन्द्र' शब्द को देखकर किसी को भ्रम भी नही होता है कि यह विदेशी शब्द होगा। किन्तु, तथ्य यह है कि यह, मूलतः, यूनानी शब्द (केंटर) से निकल कर सस्कृत में आ मिला है। इसी प्रकार, हमारे ज्योतिष के रोमक-शास्त्र और पौलिश-शास्त्र भी यूनान के ज्योतिष से आये हैं। किन्तु, जब यूरोप और भारत के बीच के देशो में मुस्लिम-साम्राज्य स्थापित हो गया, तब रोम और भारत के बीच का सीधा संबध टूट गया एव व्यापार के मामले मे अरब के मूर और दूसरे मुसलमान भारत और यूरोप के बीचवान हो गये। भारत का माल भारतीय एव अरबी व्यापारियो के द्वारा अरब और मिश्र तक जाने लगा और इटली तथा वेनिस के व्यापारी मिश्र से यूरोप तक का व्यापार करने लगे। भारत में रूढ़ियाँ बढ़ने लगीं और यह माना जाने लगा कि जिन देशो में आर्य नही बसते, वहाँ जाना पाप है। इस प्रकार, भारतवासियो की सास्कारिक जकडबन्दी का प्रभाव उनके व्यापार पर भी पड़ा और वे सारी दुनिया को भूलकर केवल अपने देश के आदमी रह गये।

इस बीच, यूरोपवाले भी भारत का भौगोलिक पता भूल गये, यद्यपि, यह बात उन्हें भली भाँति याद थी कि यूरोप से पूर्व, भारत नाम का कोई देश है, जहाँ कोई पहुँच जाय तो वह सोने से अपनी नाव भर कर लौट सकता है। सन् १४९२ ई० में कोलंबस नामक स्पेन का व्यापारी भारत का पता लगाने को समुद्र की राह से निकला, पर, भटकता-भटकता अमेरिका पहुँच गया। कुछ साल तक यूरोप अमेरिका को ही भारत मानता रहा, किन्तु, कुछ लोगो को यह शंका भी बनी रही कि असली भारत का अभी पता नही लगा है। तब सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल का एक नाविक, वास्को-डि-गामा, अपनी नावो का बेड़ा लिये, सचमुच ही, भारत आ पहुँचा और कालीकट में समुद्र के किनारे उसकी नाव २७ या २८ मई को लगी। कहते हैं, वास्को-डि-गामा का मार्ग-प्रदर्शक

कोई अरबी मुसलमान था[1], जिसने उसे सीधे भारतवर्ष पहुँचा दिया। पहली शती म, भारत के व्यापारी इटली केवल १६ सप्ताहो में पहुँच जाते थे, किन्तु, वास्को-डि-गामा को लिस्बन से भारत पहुँचने में कोई ग्यारह महीने लगे थे। कालीकट मे वास्को-डि-गामा से जमोरिन ने जब यह पूछा कि 'कहाँ आये हो?' तब उसने कहा, 'ईसाइयो और मसालो की खोज में।' सत्य ही, यूरोपवाल भारत की ओर दो कारणो से प्रवृत्त हो रहे थ। एक तो ईसाइयत का प्रचार करने को, दूसरे व्यापार द्वारा धन बटोरने को।

कालीकट का राजा वास्को-डि-गामा से मिलकर वहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने पुर्तगाल के राजा को पत्र लिखा कि अब से हम और तुम मित्र है और हम दोनो के देशो के बीच खुलकर व्यापार चलना चाहिए। लेकिन, पुर्तगाल के राजा ने, जवाब में, कालीकट को अपना उपनिवेश मान लिया और यह हुक्म देकर पुर्तगाल से एक वडा-सा बेडा भारत भेज दिया कि उस देश में ईसाइयत का प्रचार करो और, जहाँ जरूरत हो, वहाँ युद्ध भी।

मालाबार-तट के सरदार व्यापार चाहते थे, इसलिए, उन्हें पुर्तगालियो का आना अच्छा लगा, किन्तु, गुजरात के सुलतान महमूद बेगडा को नवागन्तुको के आगमन में खतरे की घटी सुनायी पडी। विशेषत, उसे यह चिन्ता हुई कि इन पुर्तगालियो को हिन्द-महासागर पर आधिपत्य न मिल जाय। अतएव, उसने समुद्र में उनके साथ कई लड़ाइयाँ लडी। लेकिन, अन्ततोगत्वा, इन लड़ाइयो का कोई परिणाम नही निकला और पुर्तगाली लोग गोआ में अपना किला बनाने में (सन् १५१० ई०) सफल हो गये।

भारतवर्ष की कमजोरी यह थी कि इस देश के राजे नावो और जहाजो के महत्त्व को नही जानते थे। सच तो यह है कि समुद्र भी राज्य का अग होता है, इस बात पर यहाँ के राजाओ का ध्यान ही नही था। अतएव, पुर्तगाली लोग पानी पर अपना अधिकार बढाते गये और वहुत शीघ्र इस अवस्था मे पहुँच गये कि उनका हुक्म लिये बिना समुद्र में कोई अपनी नाव ही नही भेज सकता था। कहते है, अकबर को भी अपनी नाव लाल सागर की ओर भेजने के पूर्व पुर्तगालियो से परवाना लेना पडता था।

पुर्तगालियो को यह विजय कैसे मिली, कैसे वे इस्लाम के द्वारा शासित देश में अपनी सत्ता बनाने मे सफल हो गये, इसका मुख्य कारण यह था कि दक्षिण भारत के हिन्दू राजे मुसलमानी सत्ता के खिलाफ थे। जब उन्होने देखा कि पुर्तगाली भी इस्लाम के दुश्मन है, तब वे खुलकर या भीतर-भीतर पुर्तगालियो की सहायता करने लगे। विजयनगर के हिन्दू राजाओ से तो पुर्तगालियो की प्रगाढ़ मैत्री थी। हिन्दू राजे सबसे अधिक प्रसन्न इस बात से थे कि पुर्तगालियो के हाथो उन्हें शस्त्रास्त्र मिलते थे और पुर्तगालियो को खुशी इस बात की थी कि ये हिन्दू भी इस्लाम के वैसे ही विरोधी थे, जैसे स्वय पुर्तगाल के लोग। इस्लाम के विरुद्ध पुर्तगाली लोग एशिया मे भी उसी प्रकार पडे हुए थे जैसे

१. रत्नस्वामी ने (इडिया फ्राम द डान) मे लिखा है कि यह मार्ग-प्रदर्शक गुजराती था।

यूरोप में। क्रूसेड या धर्म-युद्ध की भावना ने सभी यूरोपीय लोगो को इस्लाम का द्रोही बना दिया था। एशिया मे आने पर भी, पुर्तगाली इस द्रोह को जोर से निभाना चाहते थे। जब पुर्तगाली लोग मलाया पहुँचे, उन दिनो, वहाँ इस्लाम भी नया-नया ही पहुँचा था और सभी द्वीपो मे हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच सघर्ष चल रहा था। पुर्तगालियो ने इस सघर्ष से पूरा लाभ उठाया। मलाया मे अपने आदमियो को प्रोत्साहित करते हुए अलबूकर्क ने कहा था, "मलाया मे हमे परमात्मा की बडी सेवा करनी है। हमें मूरो (मुसलमानो) को निकाल कर इस देश से बाहर फेक देना है और मोहम्मद के सप्रदाय की आग को इस तरह बुझा देना है कि वह फिर नही जले। यदि ये लोग इन द्वीपो से निकल गये तो फिर सारे यूरोप को मसाला पहुँचाने का काम पुर्तगाल करेगा।" धर्म-प्रचार का काम और मसालो का व्यापार, पुर्तगालियो की दृष्टि में, दोनो उद्देश्य एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ थी।

जमीन पर पुर्तगालियो का अधिकार केवल बन्दरगाहो तक सीमित रहा। ये बन्दरगाह कभी तो उन्होने बल से लिये और कभी हिन्दू राजाओ से सौदा करके। किंतु, जहाँ-जहाँ वे रहे, वहाँ उनकी आत्मतंत्रता अक्षुण्ण रही, वहाँ उनका अपना कानून चलता रहा और वहाँ के लोगो पर उन्होने पुर्तगाली धर्म और तरीके लादने शुरू कर दिये। यूरोप मे इस्लाम और ईसाइयत के बीच काफी दुश्मनी थी, इसलिए, पुर्तगालियों ने यहाँ भी, मुसलमानो के प्रति दुश्मनी का भाव बनाये रखा। किन्तु, हिन्दुओ के भी वे मित्र नही हुए। सन् १५४५ ई० में गोआ के गवर्नर ने कहा था कि इस देश में हम एक हाथ मे क्रूस (ईसाइयो का धर्म-चिह्न) और दूसरे मे तलवार लिये हुए आये हैं। पुर्तगाल वालो का यह बर्बर अहकार आज भी गोआ के वाइसराय-गेट पर मूर्त्तिमान है, जहाँ एक पुर्तगाली साधु एक भारतवासी की छाती पर खड़ा होकर तलवार से भारतवर्ष की ओर इगित कर रहा है।

पुर्तगाली गवर्नर अलबूकर्क (१५०९ से १५१५ ई० तक) कुछ भला आदमी जरूर था, किन्तु, वह पुर्तगाली अन्याय का अवरोध नही कर सका। पुर्तगाली राज्य स्वेच्छा-चारियो का राज्य था, अन्यायियो का राज्य था एव हिन्दुओ और मुसलमानो के सामने उसने इसके सिवा और कोई रास्ता नही छोडा था कि चाहे तो वे क्रिस्तान हो जायँ अथवा पुर्तगाल के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी बितायँ। भारतवासियो की बहू-बेटियो पर गोरे जुल्म तो करते ही थे, किन्तु, यदि कोई गृहस्थ उन पर हाथ छोडता तो बिना किसी जाँच-पडताल के उसके हाथ काट लिये जाते थे। सन् १५६० ई० मे पुर्तगालियो ने अपने कब्जे के नगरो और गाँवो में इनक्विजिशन की प्रथा जारी की, जिसके अनुसार, पुर्तगाल या ईसाइयत की हल्की भी आलोचना करनेवाला व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया जाता था और उसे क्रूर-से-क्रूर सजाएँ दी जाती थी। यही नही, ऐसे व्यक्तियों को वे पुर्तगाल भेज देते थे, जहाँ उनकी किस्मतो का आखिरी फैसला इनक्विजिटर-

जेनरल के हाथों होता था। किस्मत का आखिरी फैसला यह था कि अपराधी जीवित ही आग में झोंक कर जला दिया जाय।

ईसाइयत का आगमन भारत के दक्षिणी तट पर दूसरी या तीसरी सदी में ही हो चुका था[1], किन्तु, उसके प्रति भारतवासियो का कोई द्वेष नही था। पुर्तगालियो ने ईसाइयत को जिस रूप में उपस्थित किया, उससे भारतवासियो को इस धर्म के प्रति भयानक घृणा हो गयी और अठारहवी सदी के अपरार्द्ध तक पुर्तगाल के अधिकार मे जो बस्तियाँ थी, उन्हे छोडकर बहुत-से लोग अन्यत्र भाग गये।

पुर्तगालवालो की कोठियाँ पूर्वी भारत मे भी थी, जहाँ उनका प्रधान केन्द्र हुगली था। अतएव, पुर्तगालियो के जुल्मो के नमूने देश के विभिन्न भागो मे दिखलायी पडने लगे। भारत के राजे पुर्तगालियो को दडित करना तो चाहते थे, किन्तु, इन मक्कार लोगो को दड पूरा कभी मिल नही पाता था। वे डाके डालते थे, दिन-दहाडे लूट मचाते थे और भारतवासियो की इज्जत पर धावा करते थे। 'माडर्न इडिया एण्ड द वेस्ट' मे मनूची नामक यूरोपीय यात्री का यह मत उद्धृत है कि चटगाँव के पास पुर्तगालियो ने ऐसे-ऐसे जुल्म किये कि उन्हे देखकर ग्लानि से मनुष्य का मस्तक झुक जाता है। आदमी को गुलाम बनाकर बेचने की उन्हे चाट लग गयी थी। औरत, मर्द और बच्चे—यहाँ तक कि दूध पीते बच्चे को भी वे माँ की छाती से छीनकर बाजार में बेच देते थे। मनूची लिखता है कि "ऐसे लोगो को ईसाई तो क्या, मनुष्य कहना भी गुनाह है।" आखिर, शाहजहाँ को एक बार क्रोध आया और उसने बगाल में दस हजार पुर्तगालियो को कत्ल करवा डाला और पाँच हजार को जेलो मे बन्द कर दिया। सन् १६३२ ई० में हुगली और बगाल मे पुर्तगालियो का ऐसा दमन हुआ कि वे बगाल मे फिर कभी मस्तक नही उठा सके।

हालैण्ड का आगमन

इसी समय के आसपास भारत-समुद्र में हालैंड के नाविको ने प्रवेश किया और प्रवेश करते ही वे इस समुद्र पर छा गये। उन्होंने पुर्तगालियो को खदेड कर सभी स्थानो से निकाल बाहर किया। सन् १६४८ ई० मे हालैंड और पुर्तगाल के बीच जो सधि हुई उसके अनुसार गोआ, दामन और दिउ के सिवा, सभी स्थानो से पुर्तगालवाले निकल गये और उन पर अधिकार डच जाति का हो गया। किन्तु, हालैंडवाले भारत मे ठहरे नही। वे मसालो के व्यापार के लिए भारत आये थे और मसाले जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीपो मे अधिक थे। अतएव, डच लोग भारत से खिसक कर मलाया

1. कहते हैं, इग्लैडवालो को यह पता था कि मद्रास के मयलापुर मे सन्त टामस का गिरजाघर है और राजा आल्फ्रेड ने उस गिरजे मे उपहार चढाने को कोई दूत भी भारत भेजा था।

की ओर चले गये, जहाँ उन्होने इन्डोनेशिया मे अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन्डोनेशिया से हालैंडवाले तब निकले, जब अँगरेज भारत से निकलने पर मजबूर हुए।

पुर्तगाल का सांस्कृतिक प्रभाव

पुर्तगालवाले सिमट कर तीन ही जगहो पर रहे, किन्तु, उन्होने जो सस्कार फैलाया था, वह सारे भारत मे फैल गया। लगभग डेढ सौ वर्षो तक, वे ही एकमात्र यूरोपीय थे जो भारत मे स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। देश के प्रत्येक कोने में उनके अड्डे थे, व्यापार के क्रम मे वे सारे भारत मे आते-जाते थे और समुद्र का मालिक होने के कारण उनका कुछ रोब भी था। वे लोग अँगरेजो की आदत के विपरीत, भारत की स्त्रियो से विवाह-सबध भी करते थे। अतएव, उनकी सतानो से एक नयी जाति भारत मे उत्पन्न हुई, जिसका समावेश यूरेशियन-सप्रदाय मे हुआ। किन्तु, भारतीय सस्कृति को उनकी सबसे बडी देन नये-नये शब्दो के रूप में थी। उनकी भाषा कुछ तो हिन्दुस्तानी नौकरो और कुछ व्यापारियो मे फैली थी, किन्तु, यही टूटी-फूटी किस्म की पुर्तगाली उन दिनो, भारत और यूरोप के सबध की मुख्य भाषा हो चली थी। पुर्तगालियो के बाद जो डच, फ्रासीसी और अँगरेज यहाँ आये, उन्हे बाध्य होकर पुर्तगाली सीखनी और बोलनी पडती थी, क्योकि यही वह यूरोपीय भाषा थी जिसे कुछ भारतवासी समझ लेते थे। यह परपरा काफी दिनो तक चलती रही। लार्ड क्लाइव कोई भी भारतीय भाषा नही जानता था, किन्तु, पुर्तगाली थोडी-बहुत उसे भी आती थी। अतएव, वह भी भारतीयो के साथ, स्थान-स्थान पर, पुर्तगाली मे ही बाते करता था। इसी समय, पुर्तगाली भाषा के सैकडो शब्द भारतीय भाषाओ मे प्रवेश पा गये। हिन्दी में तो ये शब्द इस प्रकार घुल-मिल गये है कि अब उन्हे कोई अलग ही नही कर सकता। कमरा, नीलाम, पादरी, मारतौल, मेज, कुजी, कमीज, अलमारी, गिरजा, पाउँ (रोटी), फालतू, ये और ऐसे अन्य अनेक शब्द पुर्तगाली भण्डार के हैं।

पुर्तगाल की दूसरी देन हुक्का और तम्बाकू है। यूरोप के लोग तम्बाकू की खेती अमेरिका से अपने देश मे लाये थे। वहाँ से पुर्तगालियो ने उसे भारतवर्ष पहुँचाया। कहते है, तम्बाकू भारत मे आते ही, सभी तबको के लोगो मे आसानी से फैल गयी और घर आनेवाले अतिथि को हुक्का या चिलम पिलाना स्वागत का सबसे सुलभ एव प्रिय रूप हो उठा। तम्बाकू के इस व्यापक प्रचार से शाहजहाँ को घबराहट हुई थी। उसने फरमान निकाल कर लोगो को समझाना चाहा कि तम्बाकू बुरी चीज है, क्योकि इसका परिणाम मनुष्य के शरीर और मन के लिए अनिष्टकारी होता है। किन्तु, बादशाह की बात पर भी लोगो ने ध्यान नही दिया और बहुत-से लोग अनेक रूपो में इस नयी वस्तु का उपयोग करने लगे।

पुर्तगाल की और भी अनेक देने है। अनानास, पपीता और अमरूद, ये पुर्तगाल

वालो के लाये हुए फल है। कोवी (गोभी) की खेती भी यहाँ पुर्तगालवालो ने चलायी और आलू भी उन्होने ही दिया है। कलमी आम का विकास, विशेषत, बम्बई के अलफेजो का विकास पुर्तगालियो ने किया था। भारत के फल-फूल और पौधों का पहला विवरण यूरोपीय भाषा मे पुर्तगालवालों ने लिखा। भारत में पहला छापाखाना भी गोआ में ही खुला था।

सिफिलिस या उपदश की बीमारी भारतवर्ष में नही थी। यह रोग यूरोप से भारत में आया और इसके लानेवाले पुर्तगाल के ही लोग थे। कहते है, उपदश का रोग यूरोप मे भी नही था। यूरोप में वह अमेरिका से पहुँचा और वहाँ से सारे विश्व में फैला है। इगोन फ्रिडेल[1] ने लिखा है कि यूरोपवालो ने नवीन विश्व (अमेरिका) से केवल मकई और तम्बाकू, टोमैटो और केला, आलू और कोको तथा वनीला और कोचिनियल ही नही लिये, वल्कि, सोना और सिफलिस भी। प्लेग की बीमारी भी भारत में यूरोपवालो की ही लायी हुई है।

पुर्तगाली लोग व्यापार भी चाहते थे, राज्य और रियासत भी तथा अपने धर्म का प्रचार भी। यहाँ की स्त्रियो से विवाह करके उन्होंने एक नयी जाति भी खडी की थी। किन्तु, डचो के सामने व्यापार ही प्रधान था। वे राज्य नही चाहते थे अथवा चाहते भी थे तो उतना ही, जिससे व्यापार के अड्डे सुरक्षित रहें। यहाँ की स्त्रियों से विवाह करने की नीति भी उन्हें पसन्द नही आयी और वे बहुत-कुछ उसी ढग से अलग रहे जैसे उनके बाद अँगरेज रहते थे। हाँ, एक बात हुई कि उन्होने यह भाव स्पष्ट कर दिया कि व्यापार भी तभी निभ सकता है जब कि व्यापार के अड्डे किलो के समान हो, उनमे सेनाओं की टुकडियाँ रखी जायें और, सभव हो तो, आसपास के गाँव भी अपने अधीन रहें। इस नीति का पूरा लाभ अँगरेजो ने उठाया। भारत में अँगरेजी राज्य कैसे-कैसे बढा, इसकी व्याख्या करते हुए इगलैड के प्रधान मत्री लार्ड पामर्स्टन ने कहा था, "आरम्भ की यूरोपीय जाति ने व्यापार के अड्डे बनाये, अड्डे बढते-बढते किले हो गये, किले बढकर जिलो मे परिवर्तित हुए और जिलो से फिर प्रान्तों का विकास हुआ।"

फ्रांस का आगमन

डचो के बाद फ्रासीसी लोग आये, किन्तु, उनका भारतीय संस्कृति पर कोई खास प्रभाव नही पडा। ओमैले ने लिखा है[2] कि फ्रासीसियो ने जो नीति बरती, उसका भी फायदा अँगरेजो ने ही उठाया। भारतीय राजाओ से सधि-सबध बढाने का काम पहले-पहल फ्रासीसियो ने किया था। भारतीयो को यूरोपीय ढग की सैनिक शिक्षा भी सबसे पहले उन्होंने ही दी थी और उन्होंने ही इन सैनिको के सहारे बन्दरगाह से बढकर देश

१. A Cultural History Of The Modern Age, जिल्द-१
२. माडर्न इडिया एण्ड द वेस्ट

के भीतर घुसने का पहले-पहल साहस किया था। किन्तु, फ्रासीसी शक्ति डावाँडोल रही। सन् १७४१ ई० मे डुप्ले ने पाडिचेरी मे फ्रासीसी राज्य स्थापित किया। किन्तु, बीस ही वर्ष बाद, मद्रास में फ्रासीसियो की शक्ति चौपट हो गयी। तब भी, फ्रासीसी सेनापति यहाँ के राजाओ के काम करते रहे। उन दिनो का जो विवरण मिलता है, उससे मालूम होता है कि फ्रासीसी अफसर और सैनिक भारतवासियो के साथ अच्छा व्यवहार करते थे एव जनता के बीच वे बदनाम नही थे।

फ्रास की राज्य-क्राति के दिनो में फ्रासीसी लोग एक बार फिर भारत मे उठते दिखायी दिये। मैसूर के सुलतान टीपू ने क्रान्तिकारी फ्रास से सधि की और सिरगापट्टम मे उसने स्वतन्त्रता के वृक्ष का रोपण किया। हैदराबाद के निजाम का सेनापति उन दिनो फ्रासीसी योद्धा रेमाण्ड था। क्रान्ति के जो-जो चिह्न फ्रांस मे चलते थे, उनका प्रचलन रेमाण्ड ने हैदराबाद मे भी किया था। अत, कहा जा सकता है कि फ्रास की राज्य-क्रान्ति से, एक तरह का, प्रतीकात्मक सबध भारतवर्ष का भी था।

पुर्तगालवाले पन्द्रहवी सदी के अन्त में आये थे। सत्रहवी सदी मे हालैडवालो ने आकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। अठारहवी सदी में फ्रांसीसी और अँगरेज आये और उन्होंने डचो को पीछे ढकेल दिया। इस प्रकार, भारत की जमीन पर तीन-चार यूरोपीय जातियो का सघर्ष चलता रहा। मजे की बात यह रही कि यह सघर्ष इस बात को लेकर छिडा था कि कौन भारतवासियो को सभ्य बनाता है और कौन इस दीक्षा की दक्षिणा वसूल करता है।

अंगरेजों का आगमन

अँगरेज जाति का कौन आदमी पहले-पहल भारत आया था, इसका ठीक पता नही है, लेकिन, जो अँगरेज पहले-पहल भारत मे आ बसा, उसका नाम टामस स्टीफेन्स था और वह ईसाइयत का प्रचार करने के उद्देश्य से सन् १५७६ ई० मे गोआ आया था। स्टीफेन्स ने इस देश मे चालीस वर्ष तक रहकर ईसाइयत की सेवा की।

तब महारानी एलिजाबेथ का पत्र लेकर तीन अँगरेज भारत आये और सम्राट् अकबर के दरबार में उपस्थित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना सन् १६०० ई० में हुई एव १६०८ ई० में जहाँगीर ने कम्पनी को सूरत मे तम्बाकू की कोठी खोलने की अनुमति प्रदान की। तभी से तम्बाकू का भारत मे एक नाम "सुरती" प्रचलित हुआ।

अँगरेज भारत मे, मुख्यत, व्यापार के लिए आये थे, अतएव, आरभ में राज्य-स्थापना अथवा धर्म-प्रचार की ओर उनका ध्यान नही था। फिर भी, कुछ यात्रियो ने भारत का जो विवरण यूरोप मे उपस्थित किया, उससे वहाँ के लोग दग रह गये। यूरोपवालो के मन मे भारत सोना-चाँदी, हीरा-जवाहर और रेशम तथा किमखाब से सुसज्जित देश

हो उठा। मिल्टन की कविताओ मे भारत तथा पूर्वी देशो का जहाँ भी उल्लेख आया है, वहाँ रेशम और जवाहर की जगमगाहट खूब दिखायी देती है। १७ वी सदी का भारत मोगलो का भारत था, जो सोने से चमचमा रहा था। इस भारत की सुनहरी झाँकी ड्राइडन के नाटक 'औरगजेब' मे भी आयी है। यूरोप में भारत की धनधान्य-पूर्णता का प्रचार फ्रास के दो भारत-यात्रियो, टवर्नियर और बर्नियर ने भी किया, जिससे सारा यूरोप भारत आकर सोना लूटने को बेकरार हो उठा।

गुजरात के सूबेदार बहादुरशाह से हुमायूँ की जो लडाई हुई थी, उसमे पुर्तगालियो ने बहादुरशाह का साथ दिया था, जिसके पुरस्कार-स्वरूप शाह ने पुर्तगालवालो को मुम्बई और बसई के द्वीप दे दिये थे। सन् १६६१ ई० मे यही मुम्बई द्वीप इगलैड के राजा को दहेज में प्राप्त हुआ।

बगाल के एक सूबेदार ने एक अँगरेज डाक्टर के इलाज से खुश होकर सन् १६५१ ई० मे अँगरेजो को हुगली में कोठी बनाने की अनुमति दे दी। सन् १६७९ ई० में औरगजेब ने उन्हें हुगली नदी मे जहाज चलाने का भी अधिकार दे दिया।

सन् १६९० ई० मे अँगरेजो ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम किले का निर्माण किया। अब उनके भीतर राज्य स्थापित करने का लोभ जगने लगा, यद्यपि, औरगजेब के जीते-जी उनका यह मनसूबा पूरा नही हो सकता था। किन्तु, औरगजेब के बाद देश की केन्द्रीय सत्ता कमजोर होने लगी और राजे आपस मे लडाइयाँ लडने लगे। तब बहती गगा मे पाँव पसारने की घडी अँगरेजो को साफ दिखायी पडी और उन्होने इससे लाभ उठाने मे एक क्षण भी विलब नही किया। भारत मे लडाइयाँ तो अँगरेजो ने पहले भी लडी थी, किन्तु, देश मे उनकी धाक बिठानेवाली विजय उन्हे पलासी के मैदान मे मिली (१७५७ ई०) और बक्सर की लडाई उन्होने सन् १७६४ ई० मे जीती, जिसमें अवध के नवाब शुजाउद्दौला और बादशाह शाह आलम ने मीर कासिम का साथ दिया था। इस लडाई मे भारतवासियो की पराजय का अर्थ था समस्त भारतीय शक्तियो की पराजय। हारे हुए नवाब और बादशाह से इलाहाबाद मे क्लाइव ने अपनी शर्तें मजूर करवायी (१७६५ ई०) और, इस प्रकार, मनमाने ढग पर उसने बगाल, बिहार और उडीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। भारत में अँगरेजी शासन का वास्तविक आरभ यही से होता है।

भारत असगठित था। भारत बैर-फूट से पीडित था। भारत सैनिक और सामुद्रिक दृष्टि से पिछडा हुआ था और भारत के मुसलमान राजे विलासी और कमजोर थे। फिर भी, अँगरेज भारत को उस सरलता से अपने अधीन नही ला सके, जिस सरलता से मुसलमान विजयी हुए थे। भारत-विजय में अँगरेजो को सौ साल लग गये। यही के रुपयो और यही के आदमियो को लेकर अँगरेजो ने भारत मे छोटी-बडी १११ लडाइयाँ लडी। तब कही जाकर भारत उनके अधीन हुआ।

सन् १८५७ ई० तक भारत मे ईस्ट इडिया कम्पनी का राज्य रहा। तव गदर के रूप में भारत ने अचानक महाक्रान्ति कर दी। यह क्रान्ति दवा दी गयी, किन्तु, उसी के वाद भारत का भार अँगरेजी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया और यह भार उसके कधो से ६० साल वाद उतरा, जब सन् १६४७ ई० मे भारत स्वाधीन हुआ एव अँगरेज अफसर, सैनिक और व्यापारी, शान्ति के साथ, अपने देश को लौट गये।

जव तक भारत गुलाम रहा, अँगरेज यही कहते रहे कि हम भारत में अपने लिए नही हैं। असल मे, भारत मे हम सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं, वहाँ के लोगो को आपसी मार-काट में पडने से वचा रहे हैं। किन्तु, जैसा कि अमरीकी दार्शनिक श्री विल डुराट ने लिखा है, "भारत-विजय का काम धर्म और सभ्यता के सिद्धान्त से नही, डारविन और नीत्से के सिद्धान्त से जायज था। जिस जाति मे अपना शासन आप चलाने की शक्ति नही रहती, जो जाति अपने धन-जन का आप विकास नही कर सकती और जिस देश का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त को तथा एक जाति दूसरी जाति को वरावरी का दर्जा देने को खुद तैयार नही होती, वह जाति और देश उन लोगो का गुलाम होकर रहता है, जिन्हें लोभ की वीमारी और शक्तिमत्ता का रोग है।"

ईसाइयत के प्रचारक

पुर्तगाली लोग जुल्मी और अविचारी तो थे, पर जनता से उनका सपर्क जरूर था। वाद के यूरोपीय लोगो की कमजोरी यह रही कि वे यहाँ की जनता से कभी भी एकाकार नही हुए। एकाकार होने की वात तो दूर रही, अँगरेज भारत मे जहाँ भी रहे, इगलैंड मे रहे। उन्होंने कभी यह सोचा ही नही कि जिस देश मे वे वस रहे हैं, वहाँ के लोगो से हिलना-मिलना भी उचित है।

यूरोपीय जाति की इस कमी को ईसाइयत के प्रचारको (मिशनरियो) ने पूरा किया। भारत में धर्म-प्रचार करनेवाले मिशनरी-सघो में तीन के नाम वहुत उल्लेखनीय माने जाते हैं। सवसे पहले सोलहवी सदी में पुर्तगाली मिशन आया, तव सत्रहवी सदी मे (१६०६ ई०) इटलीवालो का दल पहुँचा और, अन्त मे, अठारहवी सदी से डेनमार्क के मिशनरी भी भारत में धर्म-प्रचार करने लगे। वहुत दिनो तक इनका प्रचार-क्षेत्र भारत के दक्षिणी भाग मे सीमित रहा, जहाँ पहले से ही ईसाइयत का थोडा-वहुत प्रचार था। किन्तु, वहाँ भी धर्म-परिवर्तन करनेवाले हिन्दू मिशनरियो को कठिनाई से मिलते थे। पुर्तगाली मिशन के प्रधान, फ्रासिस जेवियर ने काफी दिनो तक प्रयास किया, किन्तु, जव उसे धर्म वदलनेवाले लोग यहाँ नही मिले, तव वह यह कहकर जापान चला गया कि "इस देश में तो ईसा की शरण में जाने के उपदेश को लोग मृत्यु की शरण में जाने का उपदेश मानते हैं।"

भारतवासियो को धर्म के तत्त्व किताबो मे कम, धार्मिक मनुष्यो के व्यक्तित्व में

अधिक दिखायी देते हैं। किन्तु, पुर्तगालियो और कुछ मिशनरियो के जो भयानक रूप उन्होंने देखे थे, उससे भारतवासी घबरा उठे और ईसाइयत से उन्हें चिढ़-सी हो गयी। टेरी नामक एक अँगरेज ने जब कुछ हिन्दुओं से ईसाई बन जाने को कहा, तब वे लोग बोल उठे, "ईसाई लोग बुरे होते हैं, वे शराब पीते हैं; दूसरो को पीटते और गालियाँ देते हैं।" एक दूसरे पादरी से किसी हिन्दू दूकानदार ने कहा था, "क्या मैं भी ईसाई हूँ कि तुम्हें धोखा दूँगा ?"[1]

स्पष्ट ही, भारतवासियो ने ईसाइयत के विषय में ऐसा मत लोभ और क्रूरता में सलग्न यूरोपीय लोगो को देखकर बनाया था। अन्त मे, पादरियो ने आजिज आकर हिन्दुत्व की सीधी राह पकडी। उन्होंने अत्यन्त सरल और साधु जीवन बिताने के निमित्त ब्राह्मणों का बाना धारण किया; वे छुआछूत को मानने लगे और ईसाई तथा हिन्दू, दोनों ही, सम्प्रदायो में जाति की प्रथा का भी पालन करवाने लगे। अचरज यह है कि ऐसा करने की अनुमति उन्हें खुद पोप ने दी थी। इस आडम्बर से ईसाइयत का प्रचार तो कुछ बढा, किन्तु, वह स्थायी नही हुआ। अतएव, सन् १७५६ ई० में पोप ने इस नकली तरीके को रोक दिया।

अकबर ईसाई धर्म का भी प्रेमी था, अतएव, उसने ईसाइयत के प्रचार में रोडा नही अटकाया। जहाँगीर के समय में भी ईसाइयत का प्रचार चलता रहा, बल्कि, उसके समय में तो ईसाइयो ने आगरे में एक कालेज और एक गिरजाघर भी बनवा लिया। उन्ही दिनो, ईसाई प्रचारक बगाल में भी काम करने लगे।

ईसाइयो ने बहुत शीघ्र धर्म-प्रचार के लिए स्कूल और विद्यालय खोलने शुरू कर दिये और वे यहाँ की भाषाएँ सीखकर ईसाइयत का साहित्य भी देश में फैलाने लगे। बाइबिल का अनुवाद उन्होंने तमिल में किया एव तमिल में मिशनरी-कवियो ने प्रार्थना के गीत भी लिखे। टामस स्टीफेंस (जो १५७६ ई० में गोआ आया था) ने मराठी और कोकणी पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया एव कोकणी में उसने एक ईसा-पुराण लिखा, जिसका उन दिनों, यथेष्ट आदर हुआ था। मराठी भाषा की स्टीफेंस ने भूरि-भूरि प्रशसा की है एव उसकी उपमा उसने फूलो में जूही, पक्षियो में मोर और सुगधो में मुश्क से दी है।

तमिल-साहित्य में बेश्ची ने बडा नाम किया। वह मदुरा मिशन में १७०० ई० में आया था और सन् १७४२ ई० में तमिल का अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पडित कहला कर मरा।

जो काम दक्षिण की भाषाओ में, मदुरा आदि स्थानों में हो रहा था, वही काम सिरामपुर (बगाल) के मिशन में हिन्दी, बँगला और उर्दू के लिए किया जाने लगा। सिरामपुर मे मिशनरियो ने छापेखाने खोले, अखबार और पुस्तकें निकाली-एव गद्य मे

---

१. माडर्न इडिया एण्ड द वेस्ट

उन्होंने ढेर-का-ढेर साहित्य तैयार किया। वस्तुत, उत्तरी भारत में धर्म-प्रचार की राजधानी ईसाइयो ने सिरामपुर मे ही स्थापित की।

मनुष्य, सामान्यत, यह बर्दाश्त नही कर सकता कि उसका कोई भी धर्म-बन्धु अपने धर्म को छोड कर किसी अन्य धर्म को स्वीकार करे। इस दृष्टि से ईसाइयत का प्रचार भारत मे भी लोकप्रिय नही हुआ है। किन्तु, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भारत की नयी भापाओ की जो सेवा की, वह भूलने की चीज नही है। आवश्यकता तो उनकी अपनी थी कि यहाँ की भापाओ को सीख कर लोगो को अपनी वात समझायें, किन्तु, यह कार्य उन्होने वड़े मनोयोग से किया। प्राय., प्रत्येक भापा के उन्होंने प्राथमिक व्याकरण लिखे; प्राय, प्रत्येक भापा के अक्षरो के उन्होने टाइप ढलवाये और, प्राय:, प्रत्येक भापा के गद्य को उन्होने आगे वढाया। हिन्दी का गद्य, यद्यपि, पहले से ही आ रहा था, किन्तु, यहाँ भी ईसाई धर्म-प्रचारको की एक सेवा प्रत्यक्ष है। अँगरेजों ने राजनैतिक कारणो से यह चाहा था कि नागरी मे भी उर्दू ही चलायी जाय, जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते थे। उनके अफसर वार-वार यह शिकायत करते थे कि उर्दू-भापा यहाँ की जनता नहीं समझती, किन्तु, शासक अपनी जिद पर अड़े थे। मगर, प्रचारकों को तो भाषा लादनी नहीं थी। जब उन्होने देखा कि नागरी में लिखी फारसी-मिश्रित हिन्दी से उनका काम नहीं चलता है, तब वे अपनी पुस्तकों में खुलकर संस्कृत-निष्ठ अथवा साधु-हिन्दी का प्रयोग करने लगे, जिसकी परंपरा हिन्दुओं के यहाँ बहुत पहले से चली आ रही थी और जिसमें भाषा-योग-वासिष्ठ एवं पद्म-पुराण-जैसे ग्रन्थ लिखे जा चुके थे।

वनियाँ राज

अँगरेजो की राजधानी कलकत्ते मे थी। वे राजा नही, व्यापारी थे और समुद्र के किनारे राजधानी रखने से उनके व्यापार को लाभ था। किन्तु, धीरे-धीरे, जब उनमे राजमद उभरा, उन्होंने मुगलो की नकल करनी चाही। ताजमहल का जवाब लिखने को अँगरेजो ने कलकत्ते में विक्टोरिया-मेमोरियल वनवाया और सन् १९१२ ई० में वे राजधानी को कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले गये। उस समय महाकवि अकवर इलाहावादी ने एक शेर लिखा था जो वड़ा ही अर्थपूर्ण था।

कदम अँगरेज कलकत्ते से अब दिल्ली में धरते हैं।
तिजारत देख ली, देखें, हुकूमत कैसी करते हैं।

मगर, हुकूमत अँगरेजो का उद्देश्य नही थी। हुकूमत वे इसलिए कर रहे थे कि इससे उनकी तिजारत को फायदा था। जब तिजारत को फायदा नहीं रहा, वे हुकूमत छोडकर चले गये।

भारत में अँगरेजो के आरंभिक आवास व्यापार के केन्द्र थे, जिनमे कारखाने थे, दूकानें थी और गोदाम थे। इन आवासो मे से, प्राय, सब-के-सब या तो समुद्र के किनारे

पडते थे या किनारे से वहुत समीप। पश्चिम मे उनके आवास सूरत, अहमदावाद और कालीकट में थे तथा पूर्व में उनके केन्द्र मद्रास, मछलीपट्टम, गजाम, वालासोर और कलकत्ते मे। केवल वम्वई ऐसा द्वीप था जो चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाल से दहेज में मिला था। राजा ने सन् १६८१ ई० मे वम्बई को भी कम्पनी के हवाले कर दिया।

लेकिन, व्यापार के केन्द्र वढते-वढते राज्य क्यो वन गये, इसके कारण अनेक थे। सवसे वडा कारण यह था कि देश की राज्य-व्यवस्था कडी नही थी। यहाँ की केन्द्रीय सत्ता कमजोर थी और अपने राज्य की सीमा के वादवाले भाग मे जनता का क्या हाल है, इस पर यहाँ के राजाओ की दृष्टि नही थी। जब-जब राज्यहीनता की अवस्था उत्पन्न हुई, व्यापारियो को अपने हित मे, वहाँ का राज्य-भार सँभालना पडा। भारत मे यह परपरा तो पुर्तगालियो के ही समय से आ रही थी कि जहाँ व्यापार का केन्द्र हो, वहाँ कानून भी अपने देश के चले। अँगरेज भी उसी राह पर चले और शाति-सुव्यवस्था कायम रखकर व्यापार करने के लिए उन्हे कुछ फौज भी रखनी पडी, तथा कुछ पुलिस और मैजिस्ट्रेट भी। इस प्रकार, अँगरेजी राज्य का विकास यहाँ व्यापार की रक्षा और विकास की दृष्टि से किया गया, जिसका प्रभाव अँगरेजी ढग के राज्य-संगठन पर अव तक विद्यमान है। लार्ड वेलेस्ली (१७६८-१८०५) ने इस वात की शिकायत की थी कि "भारत पर राज्य राजधानी से नही, वल्कि, पैसा गिननेवाले दफ्तर से चलाया जा रहा है। यहाँ राज्य राजे नही, वल्कि, वे लोग चला रहे है जो मलमल और नील की खुदरा विक्री का काम करते है।"

अँगरेजी राज्य की इडियन सिविल सर्विस-जैसी प्रतिष्ठित सस्था भी व्यापार के बीच से जनमी थी। पब्लिक स्कूल से निकला हुआ कोई अँगरेज लडका जो कम्पनी के मालिको का कृपा-पात्र होता था, कम्पनी के दफ्तर मे काम करने को भारत भेज दिया जाता था। यहाँ कम्पनी उसे, सवसे अधिक, हिसाव-किताव का काम सिखलाती थी। ये ही लोग आगे चलकर इडियन सिविल सर्विस के आरभिक सदस्य हुए। ये लडके पहले किरानी (Writer) होते थे, पीछे फैक्टर (फैक्टरी से) और तव वे जूनियर सौदागर वना दिये जाते थे। कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे जो मुख्य अफसर होता था, उसे प्रेसिडेट कहते थे। उसी के नाम पर, आगे चलकर, मद्रास, वगाल और ववई के प्रात प्रेसिडेंसी कहलाने लगे। राइटर (किरानी) के नाम के कारण ही, पश्चिमी वगाल का सेक्रेटेरियेट अभी तक राइटर्स विल्डिग कहलाता है। लेकिन, व्यापार के सामने नौकरी क्या चीज है? व्यापारी को जो लाभ होता है, वह क्या किसी भी नौकर को दिया जा सकता है? किन्तु, कम्पनी के राज्य में यही हुआ। जो छोटे सौदागर आइ० सी० एस० वनाये जाने लगे, उनकी क्षतिपूर्ति के लिए तरह-तरह मे उनकी आमदनी वढाने की शर्ते रखी गयी। उनका वेतन तो वहुत अधिक रखा ही गया, यहाँ तक कि गवर्नर-जनरल का वार्षिक वेतन २० हजार पौंड, प्रेसिडेंसी के गवर्नर का वेतन १० हजार

पौंड और कौंसिलर का वेतन ६ हजार पौंड रख दिया गया। वेतन की इस भयानक दर पर सारा संसार आश्चर्य प्रकट करता है। किन्तु, स्वतन्त्रता के बाद, विधान-परिषद् में जब यह बात उठी कि आइ० सी० एस० के अफसरों का वेतन घटाया जाना चाहिए, तब सरदार पटेल बिगड़ उठे और उन्होंने कहा कि ऐसा करोगे तो मैं सरकार छोड़ कर बाहर चला जाऊँगा। दुःख है कि आइ० सी० एस० वालों को खुद भी यह नहीं सूझता कि वे वेतन में स्वेच्छा से उचित कटौती कर दें। ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने सौदागर अफसरों को जो वेतन देती थी, गरीब भारतवर्ष को अपने अफसरों को वही वेतन देना पड रहा है।

कंपनी-राज्य की एक दूसरी विशेषता यह थी कि चूँकि कम्पनी का प्रधान दफ्तर इंग्लैंड में था, इसलिए, रिपोर्ट, नोट और मिनट (विवरण) लिखने की अफसरों को बहुत जरूरत पड़ती थी। अफसर यहाँ की भाषा नहीं समझते थे, यहाँ की अवस्था का उन्हें काफी ज्ञान नहीं था, इसलिए, रिपोर्टों पर भरोसा करना जरूरी समझा जाने लगा और जो अफसर बढ़िया-से-बढ़िया रिपोर्ट लिख सके, वही श्रेष्ठ माना जाने लगा। इस प्रकार, शासन की सारी योग्यता सिमट कर कलम में आ गयी और राज-काज में कर्म से अधिक वाणी (लिखित) के आदर की परंपरा चल पड़ी। आज भी वे अफसर बुरे नहीं समझे जाते, जिनसे वास्तविक काम तो कम होता है, किन्तु, जो लिखने में होशियार हैं। मैकॉले ने कहा था कि पूर्व की ओर जानेवाले अँगरेज राजनीतिज्ञ के लिए यह आवश्यक है कि वह खूब लिख सके, जैसे इंग्लैंड में रहनेवाले राजमन्त्रियों के लिए यह जरूरी है कि वे सभाओं में गरज सकें।

व्यापार की वृद्धि और करों की वसूली, ये ही दो उद्देश्य थे, जिनके लिए कंपनी इस देश पर राज्य कर रही थी। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि अँगरेजी राज के सबसे क्रियाशील और शक्तिशाली अफसर का नाम ही कलक्टर (तहसीलदार) पड़ गया।

अँगरेजी राज्य का देशी राजवाड़ों से जो संबंध था, वह भी व्यापार पर आधारित था। अवध की बेगमों के बारे में ब्रिटिश पार्लमेंट में शेरिडान ने जो भाषण दिया था, उसमें उसने "नीलाम की डाक बोलनेवाले राजदूत", "व्यापार करनेवाले सेनापति", "एफीडेविट के जरिये क्रान्ति करनेवाले क्रान्तिकारी" और "गिरफ्तारी के काम पर निकलनेवाली सेनाओं" की काफी निन्दा की थी। उसने यह भी कहा था कि हैंडनोट की वसूली के लिए हिन्दुस्तान के नगरों पर घेरा डाला जाता है और बादशाह गद्दी से इसलिए उतार दिये जाते हैं कि उनके पास अँगरेजों के कुछ पैसे बाकी हैं।

प्रकरण २

शिक्षा में क्रान्ति

शिक्षा की भारतीय परंपरा

जब इस देश मे अँगरेजी राज फैलने लगा, उस समय ऐसा नही था कि यहाँ शिक्षा का प्रचार न रहा हो। मुस्लिम-राज्यकाल में फारसी उत्तर भारत मे काफी प्रचलित हो गयी थी और फारसी के मदरसे उत्तर भारत के, प्रायः, सभी नगरो में काम कर रहे थे। जगह-जगह धनी-मानी लोग अपने घरो पर भी मौलवी रखा करते थे, जो फारसी पढाते थे। इसके सिवा, सारे देश में सस्कृत टोल और पाठशालाएँ भी काम करती थी। यही नही, नगरो और गाँवो मे रहनेवाले प्रत्येक पडित का घर छोटी-मोटी पाठशाला होता था। तत्कालीन सस्कृत-विद्यालय आज की तरह सुसगठित तो नही थे, किन्तु, उनकी सख्या काफी अच्छी थी। और प्राथमिक पाठशालाओ की सख्या तो बहुत अधिक थी, जिनमे पढ-लिखकर लोग व्यावहारिक काम-काज में लग जाते थे। इनके सिवा, उच्च विद्यालय भी थे, जिनका उद्देश्य न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य और ज्योतिष् तथा आयुर्वेद की उच्च शिक्षा देना था। तत्कालीन शैक्षणिक स्थिति पर ऐडम (Adam) की जो रिपोर्ट निकली थी, उसमें कहा गया था कि बगाल-बिहार मे हर चार सौ व्यक्तियो पर एक स्कूल था। सन् १८२१ ई० मे मद्रास के गवर्नर सर टामस मनरो ने जो जाँच करवायी थी, उससे यह पता चला था कि मद्रास की सवा करोड जनसख्या में से कोई दो लाख लोग विद्यालयो मे पढ रहे थे। श्री एम० आर० पराजपे ने लिखा है कि उस समय मद्रास के प्रत्येक गाँव मे एक स्कूल था।

किन्तु, भारत की यह शिक्षा-पद्धति जीर्ण-शीर्ण, गतानुगतिक और निष्प्राण थी। जो बातें पुरानी पोथियों मे लिखी हुई थी, लोग उन्हें ही पढते जा रहे थे। नयी बातें सोचने अथवा नया ज्ञान खोज निकालने की प्रवृत्ति विद्वानो में थी ही नही। व्याकरण, साहित्य, दर्शन और ज्योतिष् के सिवा यदि कोई और पाठ्यक्रम था तो वह अत्यत साधारण गणित का था। इतिहास, भूगोल, ज्यामिति और स्वास्थ्य-विज्ञान तक का प्रचार इस देश से उठ गया था। पुराणो में जो कुछ लिखा हुआ था अथवा बाप-दादो से अतिरजित कथाओ के रूप मे जो कुछ सुनने को मिल जाता था, वही तक छात्रो की इतिहास-विषयक शिक्षा थी और धार्मिक शिक्षा के नाम पर मुसलमानो के यहाँ कुरान और हिन्दुओ के यहाँ स्तोत्र रटवाने की परिपाटी थी। कविता और काव्य-शास्त्र का देश मे अच्छा प्रचार था, किन्तु, अन्य आवश्यक विद्याएँ अत्यन्त सीमित अवस्था मे थी।

मोगलो के समय से शासन की भाषा फारसी रही थी। वही फारसी धीरे-धीरे कंपनी की भी राजभाषा बन गयी। फारसी पढे-लिखे लोग आसानी से मिल जाते थे, इसलिए, आरभ में, कम्पनी को स्कूल खोलने की फिक्र ही नही हुई। कंपनी-राज जनता को शिक्षित करने का दायित्व उठाना नही चाहता था, न जनता ही तब तक स्कूलो की माँग करने की अवस्था मे थी। अतएव, काफी लबे समय तक शिक्षा की ओर अँगरेजी शासन का ध्यान नही गया।

अँगरेजी का पाँव फैलना

फिर भी, अँगरेजो के भारत में आ जाने से अँगरेजी भाषा थोड़ा-बहुत पाँव फैलाने लगी थी और इस काम में उसके सहायक कुछ तो कंपनी के कर्मचारी थे, कुछ धनी, मानी, उदार भारतीय लोग और सबसे अधिक ईसाई धर्म-प्रचारक। कंपनी के कर्मचारी भारतवासियों को अँगरेजी सिखाना इसलिए चाहते थे कि उनके अपने काम मे आसानी हो, धर्म-प्रचारक इसलिए कि अँगरेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति आसानी से क्रिस्तान बनाया जा सकता था[1] और भारतीय अमीर इस भाव से प्रेरित थे कि अँगरेजी पढ़े-लिखे बाबुओ का अँगरेजो के यहाँ सम्मान था। किन्तु, कंपनी-शासन इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना नही चाहता था। इसका एक कारण तो यह था कि अँगरेज इस देश मे अपने राज की जड जमाना चाहते थे, अपने देश की सभ्यता फैलाना नही। दूसरे, अभी तक उन्होंने यह तय नही किया था कि भारतवर्ष को अँगरेजी सिखाना ठीक होगा या नहीं।

तब सन् १७८१ ई० मे वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में एक मदरसा खोला, जिसमें एक मौलवी और चालीस मुस्लिम छात्र थे और जिसका उद्देश्य मुसलमानो को धार्मिक शिक्षा देना था। भारतवर्ष मे शिक्षा का यही पहला काम था, जिसे कंपनी सरकार ने अपने कंधे पर लिया। इसके ठीक दस वर्ष बाद, सन् १७९१ ई० में बनारस के रेजिडेंट जोनाथन डकन के कहने पर लार्ड कार्नवालिस ने बनारस मे हिंदुओ के लिए भी एक संस्कृत कालेज की स्थापना की जो शिक्षा के क्षेत्र में कंपनी-सरकार का दूसरा कदम कहा जा सकता है।

भारतवासियो को अँगरेजी की शिक्षा दी जाय, यह विचार पहले-पहल सर चार्ल्स ग्राट के मस्तिष्क मे सन् १७९२ ई० में आया और उन्होने कंपनी के डायरेक्टरों के बोर्ड के समक्ष यह प्रस्ताव सन् १७९३ ई० मे रखा। किन्तु, इस प्रस्ताव पर उस समय

---

१ पाश्चात्य संपर्क के बाद भारत में जो पहले मेधावी गणितज्ञ निकले, उनका नाम रामचद्र था। वे दिल्ली में रहते थे, किन्तु, क्रिस्तान थे। सुप्रसिद्ध कवयित्री तोरू दत्त क्रिस्तान थी, उनके पिता गोविन्दचद्र दत्त भी क्रिस्तान थे। बंगाल मे अँगरेजी के जो पहले विद्वान हुए, उनका नाम साहेबचद्र बनर्जी था। वे भी क्रिस्तान थे और माइकेल मधुसूदन के धर्म-परिवर्तन की बात तो प्रसिद्ध ही है।

गंभीरता से विचार करने को बोर्ड का कोई भी सदस्य तैयार नही हुआ। सिरामपुर मिशन के धर्म-प्रचारक बड़े उत्साह में थे। उनके संसर्ग मे आनेवाले हिन्दुओ में से कुछ लोग अँगरेजी सीख गये थे और, खास कर, ऐसे ही लोग आरंभ में क्रिस्तान भी हुए। इससे प्रोत्साहित होकर ईसाई धर्म-प्रचारक अँगरेजी शिक्षा के पक्ष में आ गये थे। किन्तु, ठीक इसी कारण से कपनी के डायरेक्टर डरते भी थे। पुर्तगालियो ने भारत मे ईसाइयत का प्रचार करके जो दुर्नाम कमाया था, वह अँगरेजो के लिए सबक हो गया था। अतएव, वे इस गलती को दुहराना नही चाहते थे। १८०८ ई० मे डायरेक्टरो ने कपनी को सुनिश्चित आदेश दे दिया था कि भारतवासियो के धर्म मे हस्तक्षेप बिलकुल नही किया जाना चाहिए। फिर भी, ये ईसाई धर्म-प्रचारक बाज नही आये और वे ईसाइयत का प्रचार करते ही गये।

सच पूछिये तो धर्म-प्रचार के लिए केवल अँगरेजी ही नही, देश-भाषाओ की भी शिक्षा आवश्यक थी। ईसाई धर्म-प्रचारक अपना मौखिक उपदेश और लिखित साहित्य, दोनो ही हिन्दुओ के बीच बिखेरने लगे थे। अतएव, यह आवश्यक था कि जनता मे शिक्षा का प्रचार हो, जिससे वह लिखित साहित्य से प्रभावित की जा सके। धर्म-प्रचार के हित में ही मिशनरी स्कूलो की भी जरूरत समझी गयी, क्योकि छात्रो के धार्मिक विश्वास मे सीधे हस्तक्षेप नही करने पर भी स्कूलो में उन्हें, अन्य बीसियों प्रकार से, प्रभावित किया जा सकता था। सिरामपुर मिशनवालो ने अपना छापाखाना ही नही, कागज का कारखाना भी कर रखा था और उन्होंने बाइबिल का अनुवाद इस देश की छब्बीस भाषाओं मे प्रकाशित कर दिया था। इन अनुवादो का सदुपयोग तभी सभव था, जब देश-भाषाओ के स्कूल खुलते और खास ढग की स्कूली पुस्तकें तैयार की जाती।

कलकत्ते के मदरसे और काशी के सस्कृत कालेज के बाद, कपनी-सरकार ने कई वर्ष तक शिक्षा की दिशा में तीसरा कदम नही उठाया। कलकत्ते में सन् १८०१ ई० में जो फोर्ट विलियम कालेज खुला, वह तो सिर्फ कपनी के नये अफसरो को देश-भाषाओं की शिक्षा देने को था। इसी प्रकार, सन् १८२० ई० में धर्म-प्रचारको ने कलकत्ते मे एक अपनी सस्था खोली, जिसका नाम बिशप कालेज था। बगाल में इस समय तक कुछ लोग उत्पन्न हो गये थे जो अँगरेजी भाषा की महिमा जानते थे। स्पष्ट ही, ऐसे लोगो में राममोहन राय अग्रणी थे। इनके उद्योग से काशी मे एक स्कूल खुला, जिसमे अँगरेजी के साथ-साथ हिन्दी, फारसी और बँगला पढाने का भी प्रबध था। राजा राममोहन राय बराबर कपनी-सरकार के सामने यह आन्दोलन कर रहे थे कि भारत में अँगरेजी शिक्षा का आरभ अविलब किया जाना चाहिए, किन्तु, सरकार तब तक इस बात के लिए तैयार नही थी। अतएव, अपने दो मित्रो की सहायता से (जिनमे से एक मिस्टर डेविड हेयर नामक घडीसाज और दूसरे सर हाइड ईस्ट, चीफ जस्टिस थे) राममोहन राय ने सन् १८१६ ई० मे कलकत्ते में हिन्दू महाविद्यालय की स्थापना की, जो आगे चलकर प्रेसिडेन्सी

कालेज कहलाने लगा। इस कालेज की स्थापना इस प्रकार हुई कि राममोहन राय के आग्रह से सर हाइड ईस्ट ने कलकत्ते के कुछ संभ्रात सज्जनो को अपने घर पर बुलाया और उनके समक्ष यह बात रखी कि हिन्दू युवको की शिक्षा के लिए कलकत्ते में एक कालेज का खोला जाना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्ताव को सभी लोगो ने सहर्ष स्वीकार किया और कोई पचास हजार रुपये का वचन भी तत्क्षण ही प्राप्त हो गया। किन्तु, जब लोगो को यह ज्ञात हुआ कि इस योजना के पीछे राममोहन राय का हाथ है, तब वे सब-के-सब उलट गये और उन्होंने राय के साथ सहयोग करने से बिलकुल इन्कार कर दिया। किन्तु, राममोहन राय ने इस अवसर पर बड़े ही धैर्य का परिचय दिया और दूरदर्शितापूर्वक उन्होंने समिति से अपना नाम वापस ले लिया। इस प्रकार, उनकी बुद्धिमत्ता के फलस्वरूप, इस कालेज की स्थापना की जा सकी। राममोहन राय फारसी और अरबी के प्रगाढ विद्वान् तो थे ही, उनका रहन-सहन और खान-पान भी मुसलमानो के समान था और मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध उन्होंने खुलकर प्रचार भी किया था। परिणाम यह हुआ कि उनके ही धर्म के लोग उनका बहिष्कार कर बैठे।

शिक्षा की दिशा मे ये, लगभग, गैर-सरकारी प्रयत्न थे। सरकारी प्रयत्न का वास्तविक आरभ तो सन् १८१३ ई० के ईस्ट इडिया ऐक्ट मे हुआ, जिसमें पहले-पहल, कानूनी तौर पर, यह बात दर्ज की गयी कि भारत मे शिक्षा के काम पर भी प्रति वर्ष सरकारी कोष से एक लाख रुपये खर्च किये जा सकते है। किन्तु, इस अनुदान की रकम भी शिक्षा-प्रसार के नाम पर कलकत्ता बुक सोसायटी और कलकत्ता स्कूल सोसायटी को दे दी गयी। असल में, एक लाख रुपये भी सरकार ने इसलिए दिये थे कि उनसे भारतीय विद्याओ की रक्षा और उन्नति की जा सके। अभी तक सरकार ने यह बात स्वीकार नही की थी कि भारतवासियो को अँगरेजी पढाने का काम आरभ किया जाय। अतएव, राजा राममोहन राय के इस हठ के बावजूद कि भारतवर्ष मे सस्कृत की शिक्षा फैलाने से प्रकाश नही आयगा, सरकार ने एक कालेज कलकत्ते मे (सन् १८२४ ई०) तथा दूसरा दिल्ली में (सन् १८२५ ई०) इस उद्देश्य से खोल दिया कि इन सस्थाओ के द्वारा भारत की तीन प्राचीन भाषाओ (सस्कृत, अरबी और फारसी) की शिक्षा दी जा सके। सरकार के इस कृत्य की राममोहन राय ने घोर रूप से आलोचना की और लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिख कर उन्होंने यह कहा कि इग्लैण्ड की पार्लमेंट के सदस्य यह चाहते ही नही कि भारत मे ज्ञान का प्रकाश फैले, अन्यथा वे अँगरेजी के बदले भारत की प्राचीन भाषाओ का इतना पिष्टपेषण नही करते। राममोहन राय दूरदर्शी पुरुष थे। वे समझ गये थे कि भारत का भविष्य विज्ञान, शिल्प, इतिहास, राजनीति और पाश्चात्य शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करने मे है। जो बात उन्हे दिखलायी नही पडी, वह यह थी कि पाश्चात्य विद्याओ का ज्ञान जिस तेजी के साथ भारतीय भाषाओ द्वारा फैलाया जा सकता था, उस तेजी के साथ वह अँगरेजी के द्वारा नही फैल सकता था। राममोहन

राय पाश्चात्य विद्याओ के प्रचार का एक मात्र साधन अँगरेजी को मानते थे। अतएव, वे सुगठित ढग से अँगरेजी के प्रचार के लिए बेचैन हो उठे। यही से शिक्षा के क्षेत्र में प्राच्यवादियो और अँगरेजी के समर्थको के बीच द्वन्द्व आरभ हुआ।

शिक्षा के लिए जितना सुचिन्तित प्रयास बगाल मे किया गया, उतना अन्यत्र नही। मद्रास मे टूटी-फूटी अँगरेजी का ज्ञान बहुत-से लोगो को आप-से-आप हो गया था, क्योकि वहाँ अँगरेजी कितने ही भारतवासियो के बीच स्थानीय बोली के समान चलने लगी थी। बम्बई मे अरबी, फारसी और सस्कृत का स्थान सुदृढ नही था। उधर के लोग देश-भाषा के पक्ष में थे और देश-भाषाओ की शिक्षा के क्रम में अँगरेजी आप-से-आप आ गयी थी। प्राच्य और पाश्चात्य का झगडा, मुख्यत, कलकत्ते में ही चला और वहीं लार्ड मेकाले के परामर्श से लार्ड विलियम बेंटिक ने अपनी सन् १८३५ ई० वाली घोषणा मे यह एलान किया कि भारतवर्ष मे शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होगी। यह बडे ही महत्त्व की घोषणा थी, क्योंकि इसीके कारण, भारत का मानसिक काया-कल्प पूर्ण हुआ। इस घोषणा के अनुसार, प्रत्येक जिले मे एक जिला स्कूल खोलने का काम तुरन्त आरभ हो गया और उनकी देखा-देखी और भी स्कूल खुलने लगे। कहते है, यह ज्ञान की अपूर्व जागृति का समय था। हिन्दू कालेज से निकले हुए नौजवान जगह-जगह स्कूल खोल कर लोगो को अँगरेजी की शिक्षा देने लगे और प्रत्येक अँगरेजी पढे-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी से मिलनेवाली प्रतिष्ठा और सुविधा का उपभोग करते देख कर बहुत-से छात्र अँगरेजी शिक्षा की ओर दौड पडे। अँगरेजी शिक्षा, सहसा, इतनी लोकप्रिय हो उठी कि उत्सुक छात्रो के लिए स्कूलो और स्कूली किताबो का प्रबध करना सरकारी और गैर-सरकारी सस्थाओ के लिए असभव हो गया।

सन् १८३५ ई० के बाद, अँगरेजी शिक्षा का जोर बेतरह बढने लगा और जनता, के उत्साह को देख कर सरकार भी शिक्षा-विषयक व्यय में वृद्धि करने लगी, यद्यपि, भीतर-ही-भीतर, सरकार यह जानती थी कि शिक्षा का जो प्रबध किया जा रहा था, उसका लाभ केवल उच्च वर्गवालो को ही पहुँचनेवाला था। सरकार की यह आशा थी कि ऊँचे वर्गवालो मे जब ज्ञान पहुँच जायगा, तब उसका बहुत-सा अश देश-भाषाओ के द्वारा सामान्य जनता में भी प्रसरित हो जायगा। किन्तु, शिक्षा-विशेषज्ञो की यह आशा पूरी नही हुई और अँगरेजी का माध्यम होने के कारण, शिक्षित भारतीयो का ज्ञान अशिक्षित समुदाय के बीच नही पहुँच सका। इस ज्ञान का जो भी अश जनता को प्राप्त हुआ, वह राष्ट्रीय आन्दोलनो के बाद, जब अँगरेजी पढे-लिखे लोग जनता के पास जाने लगे।

जिस वर्ष भारत मे सिपाही-विद्रोह हुआ, ठीक उसी वर्ष कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में यूनिवर्सिटियाँ भी कायम की गयी। आगे चल कर, सन् १८८२ ई० में, लाहौर मे पजाब यूनिवर्सिटी बनी और सन् १८८७ ई० में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। फिर तो, देश में स्कूलो और कालेजो की धूम मच गयी—यहाँ तक कि

सन् १८८२ ई० में इन सस्थाओ मे अँगरेजी पढनेवाले भारतीय नवयुवकों की संख्या २०-२५ लाख तक पहुँच गयी।

मिशनरियों की आशा

आरभ मे अँगरेज क्यो रुके रहे, बाद में उन्होने सस्कृत और फारसी को क्यो बढ़ाया और फिर वे कैसे अँगरेजी की अनिवार्यता पर आ गये, इन बातो को लेकर काफी आलोचना चलती है। एक मत यह है कि शिक्षा-प्रचार के पीछे ईसाई धर्म-प्रचारको का जो इतना बडा समर्थन रहा, उसका कारण यह था कि वे भारतीयो के बीच अपने ढग की शिक्षा-पद्धति चला कर इस देश भर को क्रिस्तान बनाना चाहते थे। आदिम जातियो के बीच उनका प्रवेश शिक्षा के सहारे हुआ था और शिक्षा के सहारे ही उन्होने इन जातियो के लोगो को अपने धर्म में भी दीक्षित किया था। कुछ उच्च वर्गीय बगाली हिन्दू भी शिक्षा के जाल मे ही खिसकते-खिसकते क्रिस्तान हो गये थे। अतएव, धर्म-प्रचारको को बहुत बडी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही वे सारे हिन्दू-समाज को ईसाई बनाने मे समर्थ हो जायँगे। सरदार के० एम० पनिक्कर का भी अनुमान है कि अँगरेजी को भारत में शिक्षा का माध्यम बनानेवाले अधिकारियो के मन में यही आशा थी।[१] सरदार पनिक्कर के अनुमान का थोडा-सा समर्थन मोनियर विलियम्स की बातो से भी होता है। उन्होने संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी नामक अपने महाग्रथ की भूमिका (१८९९ ई०) में लिखा है कि मेरे गुरु कॉलोनल बोडेन की अन्तिम इच्छा थी कि "ईसाइयत के धर्म-ग्रन्थो का अनुवाद संस्कृत में किया जाना चाहिए, जिससे हमारे देशवासी भारतीयो को ईसाइयत में दीक्षित करने के कार्य में प्रगति कर सकें।" मोनियर विलियम्स ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुए ही यह बृहत् कोष तैयार किया, जिससे ईसाई धर्म-ग्रन्थो के भारतीय भाषाओ मे अनुवाद के काम मे सहायता हो और धर्म-प्रचारको को यह पता चल सके कि "हमारे पूर्वी साम्राज्य के लोगो की धार्मिक आवश्यकताएँ क्या है?"[२]

एक दूसरा अनुमान यह है कि अँगरेजी की शिक्षा भारत में इस उद्देश्य से चलायी गयी थी कि यहाँ के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय, किन्तु, मन से अँगरेज हो जायँ, जिससे अँगरेजो का विरोध करने की उनकी इच्छा ही नही हो। किन्तु, दो मे से एक आशा भी पूरी नही हुई। अँगरेजी के सपर्क से हिन्दू-धर्म मे जागृति की एक ऐसी लहर

---

१ It is true that the authors of the scheme had hoped that as a result of infiltration, Hindu Society which was then considered to be in the process of dissolution, would disappear and the population of India would be saved for Christ. (Asia and Western Dominance)

२. Sanskrit-English Dictionary, लेखक Monier Williams.

उठी कि हिन्दुत्व का रोग ही दूर हो गया और अँगरेजी पढने के कारण ही भारतीयो में राष्ट्रीयता की उमग उठी, जिससे व अपने अधिकारो की माँग करने लग। अँगरेजी भाषा और भारत म चलनेवाले अँगरेजी शासन मे कभी सामजस्य उत्पन्न नही हुआ। अँगरेजी भाषा के द्वारा भारतीय छात्रो को वे विचार सिखाये जाते थे जो स्वतन्त्रता के विचार थे, जो क्राति के विचार थे, जो गौरव, वीरता और बलिदान के विचार थे। किन्तु, इन विचारो से प्रेरित भारतीय जब अपन मस्तक को ऊपर उठाना चाहते थ, तब उन पर दमन की लाठी चलायी जाती थी। सन् १६२० ई० के बाद से, भारत के कालेजो मे बोथाम, कारलाइल और मिल-जैसे उत्तेजक विचारको के लेख छात्रो के लिए निर्धारित कम किये जाने लगे और बी० ए० की कक्षाओ मे उन्हे शैली-सौदर्य का लोभ दिखा कर "ट्रैवेल्स विद ए डकी" (आर० एल० स्टीवेंसन) जैसी तृतीय श्रेणी की पुस्तकें पढायी जाने लगी, किन्तु, इससे कुछ बिगडा नही। इन विचारको की पुस्तकें भारत भर में उपलब्ध थी और अँगरेजी जाननेवाला कोई भी व्यक्ति उन्हे कही से भी पढ सकता था। वास्तव मे, पाश्चात्य विचारो को इस देश मे फैला कर अँगरेज शासक उनके प्रभावो को रोक नही सकते थे। डाडवेल ने एक वाक्य खूब लिखा है कि "हमन विद्रोह का साहित्य पढा कर शासको की जाति खड़ी करनी चाही।"[१]

अँगरेजी के गुण और दोष

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ, लोग अँगरेजी शिक्षा के विरुद्ध बहुत-सी बाते कहने लगे है। इस शिक्षा का सबसे बडा दोष यह बताया जाता है कि इसके कारण भारत के शिक्षितो और अशिक्षितो के बीच एक खायी-सी खुद गयी और जो भी आदमी ग्रेजुएट हुआ, वह अपने ही लोगो के बीच अजनबी बन गया। इसी प्रकार का अपरिचय अँगरेजी शिक्षावालो का उन लोगो के भी साथ है जो केवल हिन्दी, सस्कृत, फारसी, बगला, तमिल या और देश-भाषाएँ पढकर शिक्षित हुए हैं। एक दूसरा दोष यह है कि अँगरेजी सीखने के लिए जो श्रम किया जाता है, वह तो फिर भी सार्थक है, क्योकि हम एक नयी भाषा सीख लेते ह, किन्तु, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र और अन्य सारी विद्याओ का अँगरेजी मे सिखाया जाना अनावश्यक बोझ है। यदि देश-भाषाओ के द्वारा हम विविध विद्याओ की शिक्षा देते तो युवको के मस्तिष्क पर उतना बडा बोझ नही पडता, जितना अँगरेजी के माध्यम से सीखने मे पडता है। यह भी हुआ कि भाषा की साधना मे सदैव लीन रहने के कारण, छात्रो का सारा मन साहित्यिक हो उठा, ज्ञान-सचय की विशेषता की ओर उनका ध्यान जोर से कभी नही जा सका। आज

---

१. We tried to raise a race of administrators on the literature of revolt.
[A Sketch of the History of India—1858-1918]

तक हमारे छात्र केवल इसी चिन्ता से त्रस्त रहे हैं कि शुद्ध-शुद्ध अँगरेजी लिखने की योग्यता वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। भाषा की योग्यता से अलग जो ज्ञान के अनेक क्षेत्र हैं, उनमे विचरण करने का अवकाश छात्रो को मिलता ही नही है। एक यह दोष भी बताया जाता है कि विदेशी भाषा के साथ जो विदेशी मनोदशा, विदेशी चिन्तन-पद्धति और विदेशी सस्कृति आयी, उसे भारत के भीतर पचाने के क्रम मे दो-तीन पीढियो का समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया।

किन्तु, इस शिक्षा से, हानि की तुलना मे, लाभ कुछ अधिक हुआ है, इसे अस्वीकार करने का प्रयास व्यर्थ है। वस्तुत, वर्त्तमान भारत का जन्म ही अँगरेजी-शिक्षा-पद्धति की गोद मे हुआ। जब अँगरेज आये, भारत का बहुत ही बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे; वे बाहर का तो क्या, अपने देश का भी भूगोल ठीक से नही जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत मे बहुत दिनो से चला आ रहा था, इस काल मे आकर और भी बढ गया था। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्त्तव्य है, इस बात को लोग बिल्कुल ही भूल बैठे थे। इस अवस्था के बीच, पहले-पहल अँगरेजी शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ, जिसका उद्देश्य समाजिक था, जो केवल अपने को ही नही, अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियो का जन्म हुआ है। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतवासी से विभक्त करता है और यह चेतना भारत को यूरोपीय सपर्क से मिली है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एव अन्धविश्वास की जकडबदी से छुडाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारो को प्रेरित करने का काम अँगरेज शासको ने नही किया, किन्तु, नयी विद्या के प्रचार से ये सारे कार्य आप-से-आप हो गये। नयी शिक्षा का एक अन्य श्रेष्ठतम परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी के भीतर से यूरोप के तेजपूर्ण विचारो का सेवन करते-करते शिक्षित भारतवर्ष की मानसिक एकता मे वृद्धि हुई। सस्कृत के सार्वदेशिक भाषा होने के कारण, पहले भी सारा भारत एक था, किन्तु, सस्कृत का भारत मे जितना अन्त प्रान्तीय प्रचार था, उससे कुछ अधिक प्रचार अब अँगरेजी का हो गया। अतएव, भारत की भौगोलिक एकता अब कुछ और प्रबल हो गयी एव देश-भाषाओ की विभिन्न दीवारे जो एक भाषा-क्षेत्र को दूसरे भाषा-क्षेत्र से अलग किये हुए थी, स्वयमेव छोटी हो गयी। फारसी के जरिये जो भाषागत एकता उत्पन्न हुई थी, वह दक्षिण तो पहुँची ही नही थी, उत्तर मे भी वह बहुत कमजोर थी। किन्तु, अँगरेजी के सार्वदेशिक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत ही पुष्ट हो गयी। आज भी हमारी एकता का सबसे बडा आधार अँगरेजी भाषा ही है, जिसमे हमारी सरकार और ससद के अधिकतर काम चल रहे हैं। देश ने यह निर्णय किया है कि जिस राष्ट्रीय एकता को आज अँगरेजी

सँभाले हुए है, वह बोझ हिन्दी उठा ले और जनता अपनी देश-भाषाओ में ही अपना काम करे, किन्तु, ऐसा लगता है कि यह कार्य, शनै -शनै- ही, पूरा होगा।

सबसे बड़ी बात यह हुई कि जब अँगरेजी भाषा भारत में अपना पाँव फैला रही थी, ठीक उसी समय, यूरोप में स्वतत्रता, राष्ट्रीयता, प्रजातत्र और उदार भावनाओ के जोर-दार आन्दोलन चल रहे थे। अठारहवी सदी मे यूरोप में क्रातिकारी विचारो के जो नेता उत्पन्न हुए, अनेक हलचलो और क्रातियों के बाद, उन्नीसवीं सदी मे आकर उनके विचारो ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आन्दोलित करने लगे। विचारो का यह आन्दोलन सहस्र धाराओ मे चल रहा था एवं कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, दर्शन, भाषण और शास्त्रार्थ तथा राजनैतिक दलो एव सरकारो के सगठनो में से, सब-के-सब, इन विचारो से ओत-प्रोत हो रहे थे। फ्रासीसी क्राति का "स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्व" वाला महान् उद्घोष अब पिघलकर उदारतावाद में ढल गया था। खुद इगलैण्ड मे उस समय कानूनी सुधारो को लेकर घमासान आन्दोलन चल रहा था। राज्य वही अच्छा है जिसमे अधिक-से-अधिक लोगो का अधिक-से-अधिक कल्याण हो, ये और ऐसे अनेक अन्य विचार इग्लैण्ड में भी गृहीत होते जा रहे थे। इन सारे विचारो और आन्दोलनो का उत्तराधिकार भारत को, आप-से-आप, प्राप्त हो गया, क्योंकि अँगरेजी भाषा के द्वारा इस देश के चिन्तक यूरोपीय विचारो के गहन सपर्क मे थे। भारतवर्ष में अँगरेजी की पुस्तकें और समाचार-पत्र धड़ल्ले से आ रहे थे, अतएव, यूरोप मे चलनेवाले वैचारिक आन्दोलनो के साथ भारत अनायास सबद्ध हो गया एव जिन भावनाओ की चोट से यूरोप के मस्तिष्क की शिराएँ थरथरा रही थी, उन भावनाओ की चोट भारत को भी महसूस होने लगी। यूरोप को वैचारिक क्रांतियो मे उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही न दिया हो, किन्तु, उनका प्रभाव ग्रहण करने मे यह देश यूरोप से पीछे नही रहा।

कंपनी-सरकार की शिक्षा-नीति

कंपनी सरकार भारतवासियो की शिक्षा की जिम्मेवारी लेने को तैयार नही थी। सरकार कई प्रकार की कठिनाइयों से डरती थी। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि अगर सारी जनता को शिक्षित करने का कार्यक्रम बनाया जाय तो इस विशाल कार्य के लिए धन कहाँ से आयेगा। दूसरी कठिनाई यह थी कि जनता को शिक्षित करना है तो यह शिक्षा किन-किन भाषाओं मे दी जा सकती है। तीसरी कठिनाई यह थी कि यूरोपीय विद्याओ का ज्ञान अगर भारत मे बिखेरना है तो ये विद्याएँ भारतीय भाषाओ मे उतारी कैसे जायें। एक चौथी कठिनाई इस बात को लेकर थी कि अगर यूरोपीय ज्ञान भारतीयो को दिया गया तो वे स्वराज्य की माँग करेंगे और कपनी-शासन के सामने मुसीबत खड़ी हो जायगी।

कपनी का चार्टर हर बीस साल के वाद वदला जाता था। सन् १७९३ ई० में जब कपनी को नया चार्टर दिया जाने लगा, तव चार्ल्स ग्राण्ट (१७४६-१८२३) ने वहुत कोशिश की कि कपनी की जिम्मेवारियो मे शिक्षा भी सम्मिलित कर दी जाय। लेकिन, उस समय उसे कामयावी नही मिली। परन्तु, उसी के उद्योग से सन् १८१३ ई० वाले चार्टर मे कपनी को शिक्षा की जिम्मेवारी दे दी गयी और इस मद में उस समय केवल एक लाख रुपये रखे गये। बीस वर्ष वाद, जव १८३३ ई० मे कपनी को नया चार्टर दिया जाने लगा, तव यह रकम वढा कर दस लाख कर दी गयी।

चार्ल्स ग्राण्ट के विचार भारतवासियो के वारे में वहुत वुरे थे। भारतवासियो को वह मूर्ख, धर्म-आचार-विहीन तथा पतनशील समझता था। सवसे पहले उसी ने इस विचार को प्रोत्साहन दिया कि भारतवासियो के सुधार का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हे अँगरेजी पढायी जाय। उसका कहना था कि जव विदेशियो को शिक्षित करना होता है, तव शिक्षा उन्ही की भाषा मे दी जाती है, यह ठीक है। लेकिन, भारत का हाल दूसरा है। वहाँ वहुत-से लोग खुद ही अँगरेजी सीख रहे है। यह भी कि विजेता अगर विजित समाज को अपने रग मे रँगना चाहे तो इसका सवसे सुगम उपाय यह है कि वह उसे अपनी भाषा सिखा दे। मुसलमानो ने अपने शासन-काल में हिन्दुओ को फ़ारसी पढायी थी। नतीजा यह हुआ कि हिन्दू उन्हे अपने से श्रेष्ठ मानने लगे। यही नीति अँगरेजों को भी अपनानी चाहिए। ग्राण्ट ने व्रिटिश सरकार को सवसे वड़ा लोभ यह दिखाया कि अँगरेजी के जरिये हिन्दुओ को ईसाइयत का पूरा ज्ञान हो जायगा और ईसाइयत पर लट्टू होकर वे आसानी से क्रिस्तान हो जायेंगे।

सन् १८१३ ई० से लेकर सन् १८५४ ई० तक शिक्षा की सारी नीति कपनी के अफसरो और मिशनरियो के अधीन थी। इस काल में मुख्य प्रश्न दो थे। पहला यह कि शिक्षा का माध्यम क्या हो? और दूसरा यह कि शिक्षा के तरीके क्या हो? सन् १८५४ ई० के पूर्व तक कपनी ने जन-शिक्षा की जवावदेही की वात ही नही चलायी, क्योकि जन-शिक्षा का कार्यक्रम तभी पूरा हो सकता था, जव शिक्षा के माध्यम भारतीय भाषाएँ वनायी जाती। इसलिए, अँगरेजो ने भारत की नही, अपनी सुविधा की राह पकडी और एक नयी नीति का आविष्कार किया, जिसे वे फैल कर नीचे पहुँचने का सिद्धान्त (Downward filtration theory) कहते थे। इस नीति का अर्थ यह था कि चूँकि सव को शिक्षित करना असभव है, इसलिए, केवल ऊपर के तवको को पढा दो। शिक्षा, आप-से-आप, नीचे की सतह तक फैल जायेगी। इसमें अँगरेजो का एक भाव यह भी था कि कपनी-शासन के स्थापित होने से जिनका स्वत्व छिना है, वे ऊपर के ही तवको के लोग हैं। वे अँगरेजी पढ कर नौकरी और इज्जत पा गये तो समाज मे खलवली नही मचेगी।

शिक्षा के माध्यम का प्रश्न

जिन दिनो कंपनी-सरकार इस द्वन्द्व मे पडी थी कि भारतवासियो को शिक्षा किस माध्यम से दी जाय, उन दिनो भारत के शासको मे तीन प्रकार के मत प्रचलित थे। हेस्टिंग्स और मिण्टो सस्कृत, फारसी और अरबी के पक्षपाती थे। उस समय के वरिष्ठ अफसरो मे से, प्राय, सभी लोग इसी मत के थे। उनका विचार था कि इन्ही भाषाओ को जनता की शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए और इन्ही भाषाओ के द्वारा यूरोपीय विद्याओ का प्रचार सारे देश में किया जाना चाहिए।

हेस्टिंग्स और मिण्टो से अलग मनरो और एलफिंस्टन थे, जिनका विचार यह था कि सस्कृत, अरबी और फारसी के द्वारा भारतवासियो की शिक्षा व्यापक नही बनायी जा सकती। उनकी शिक्षा का माध्यम आधुनिक भाषाएँ ही हो सकती है। यदि यूरोप के नये ज्ञान को हमें भारतीय जनता तक ले जाना है तो यह कार्य केवल उन भाषाओ के जरिये किया जा सकता है जो जनता की चालू भाषाएँ है।

तीसरा दल चार्ल्स ग्राण्ट के अनुयायियो का था जो यह मानता था कि नवीन विद्याएँ भारतवासियो को अँगरेजी के ही माध्यम से दी जा सकती है। इस दल मे प्रबलता मिशनरियो की थी और नये सिविलियन भी इसी मत को मानते थे। वैसे, यह दल काफी कमजोर था, किन्तु, जब मेकाले आया, उसने इसी पक्ष को सबल बना दिया।

एक ही समय में अनेक प्रयोग

विचित्र बात है कि आगे चल कर भारत का जो प्रान्त राष्ट्रीयता का अग्रणी होनेवाला था, भारतीय भाषाओ का सबसे अधिक विरोध उसीने किया। बगाल मे जो विवाद उठा, वह सस्कृत और अँगरेजी के बीच था। वहाँ उस समय किसी ने यह सोचा ही नही कि शिक्षा का माध्यम बँगला और हिन्दी भाषाएँ भी हो सकती है। मिशनरी लोग अपना प्रचार बँगला और हिन्दी भाषाओ मे कर रहे थे। तब तक बँगला मे बाइबिल-जैसे ग्रन्थ का अनुवाद किया जा चुका था। किन्तु, मेकाले ने जब यह कहा कि भारत के इस भाग की भाषाएँ (यानी बँगला और हिन्दी) बिलकुल रद्दी है और उनमे यूरोप की नवीन विद्याओ का अनुवाद भी नही किया जा सकता,[१] तब उसके इस आक्षेप का किसी ने भी प्रतिवाद नही किया। शोक की बात तो यह है कि मेकाले के भारतीय

---

१ The dialects, commoly spoken by the natives in this part of India contain neither literary nor scientific information and are moreover so poor and rude that until they are enriched from some other quarter. it will not be easy to translate any valuable work in them.

—लार्ड मेकाले

सहधर्मी, आज स्वतन्त्रता के १५ वर्ष बाद भी, वही बात कह रहे हैं और हमारे प्रतिवादों का उन पर आज भी कोई प्रभाव पड़ता दिखायी नही देता है।

बगाल मे सन् १८२३ ई० में "जेनरल कमेटी आव् पब्लिक इस्ट्रक्शन" नामक संस्था बनायी गयी, जिसने सन् १८२३ ई० से लेकर १८३३ ई० के बीच कलकत्ते में एक मदरसा और एक सस्कृत कालेज की स्थापना की, बनारस में सस्कृत कालेज खोला तथा आगरे और दिल्ली मे भी ओरियटल कालेजो की स्थापना की। इस समिति ने सस्कृत और अरबी में पुस्तके छापी एव विद्वानो को सस्कृत और अरबी मे अँगरेजी की पुस्तके अनूदित करने के काम पर नियुक्त किया।

इस समिति का विरोध भारतीयो की ओर से हुआ। विरोधियो मे सबसे प्रमुख राजा राममोहन राय थे, जिन्होने सन् १८२३ ई० में कलकत्ते मे सस्कृत कालेज की स्थापना का घोर विरोध किया। समिति ने इस विरोध का सामना यह कहकर किया, कि अँगरेजी पढानेवाले शिक्षको का अभाव होने के कारण सस्कृत और अरबी का माध्यम बदला नही जा सकता। किन्तु, इसका कोई परिणाम नही निकला। जनमत अँगरेजी के पक्ष मे था। मिशनरियो ने जिन्हें अँगरेजी पढा दी थी, वे नौकरी पा गये थे। बाकी लोग भी उन्ही का अनुकरण करना चाहते थे।

माध्यम भारतीय भाषाएँ हो

अपनी भाषागत कठिनाइयो का जो समाधान भारत आज खोज रहा है, उस समाधान पर सबसे पहले एलफिस्टन की दृष्टि गयी थी। एलफिस्टन (Mountstuart Elphinstone) सन् १८१६ ई० से लेकर सन् १८२७ ई० तक बबई के गवर्नर थे। सन् १८२४ ई० में शिक्षा पर उन्होने जो मिनट तैयार किया था, उसके दो उद्देश्य थे :—

(१) नैतिक और प्राकृतिक विज्ञानो की पुस्तके भारत की आधुनिक भाषाओ में तैयार करवायी जायँ और उन्ही भाषाओ के द्वारा भारत की जनता को शिक्षित किया जाय।

(२) जो लोग एक क्लासिक भाषा के रूप मे अँगरेजी सीखना चाहें तथा अँगरेजी सीख कर यूरोपीय ज्ञान के सपर्क मे सीधे आना चाहे, उनके लाभ के लिए अँगरेजी के स्कूल खास तौर से अलग खोले जायँ।

लेकिन, एलफिस्टन के इस प्रस्ताव को वार्डन (Warden) ने काट डाला जो उस समय एक्जेक्युटिव कौन्सिल का सदस्य था। वह अँगरेजी का हिमायती, जन-शिक्षा का विरोधी और फिलट्रेशन-सिद्धान्त का जनक था। अतएव, एलफिस्टन का प्रस्ताव उसके गले नही उतर सका।

ग्राण्ट, वार्डन और मेकाले भारतीय जनता के हितचिंतक नही थे। उनका उद्देश्य भारत को बदल कर उसे नकली इंगलिस्तान बनाना था। लेकिन, एलफिस्टन उन थोड़े-से अँगरेजो में भी श्रेष्ठ थे, जिनका लक्ष्य भारत को आत्मनिर्भरता प्रदान करके उसे

अपने पाँवो पर खडा होने के योग्य बनाना था। एलफिस्टन ने जन-शिक्षा के निमित्त "बबई नेटिव एजुकेशन सोसायटी" की स्थापना की थी, जिसकी नीति यह थी कि "भारतीय जनता की मानसिक और नैतिक उन्नति के कार्य में अँगरेजी का स्थान गौण है।" सोसायटी ने अँगरेजी स्कूलो का महत्त्व उनके लिए बताया, जिनमे अँगरेजी सीखने की विशेष प्रवृत्ति हो अथवा जिनके पास उसके लिए आवश्यक समय और अवकाश हो। बाकी लोगो के बारे मे सोसायटी का निश्चित मत था कि "जनता में पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार केवल अँगरेजी के द्वारा होना असंभव है।"[१]

इस सोसायटी ने अपनी १८२५-२६ ई० की रिपोर्ट मे कहा था कि पाश्चात्य साहित्य, दर्शन और विज्ञान की बातें भारतीय छात्रो को सुगमता से तभी प्रदान की जा सकती है, जब शिक्षा का माध्यम उनकी अपनी मातृभाषा हो। यदि ये विचार अँगरेजी के माध्यम से दिये जायेंगे तो यह कार्य न तो सफल होगा, न सुगम।[२]

जिन प्रश्नो को लेकर स्वाधीन भारत के नेता बार-बार माथापच्ची कर रहे है, उन प्रश्नो पर एलफिस्टन के सहयोगियो का भी ध्यान गया था और जो समाधान भारतीय भाषाओ के समर्थको को आज दिखायी देता है, वही समाधान तत्कालीन भारत-हितैषी अँगरेजो को भी दिखायी पडा था। तत्कालीन बबई की शिक्षा-नीति पर कैप्टेन कैण्डी (Captain Candy) की एक रिपोर्ट उपलब्ध है जिसमें कैण्डी ने स्पष्ट लिखा है कि "भारत के नैतिक और बौद्धिक विकास के कार्य में अँगरेजी को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देना व्यर्थ है, उसका जरूरत से ज्यादा भरोसा करना भी बेकार है। भारतीयों की शिक्षा के क्रम में अँगरेजी केवल विषय और विचार दे सकती है, वह शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। जिस भाषा के द्वारा जनता शिक्षित की जायगी, वह भाषा जनता की मातृभाषा ही हो सकती है, अँगरेजी और संस्कृत नहीं। संस्कृत को मैं उस महान् भाण्डार के रूप में देखता हूँ जिससे आधुनिक भाषाएँ शक्ति और सौंदर्य ग्रहण कर सकती है[३]।"

---

१. ". . it was of the opinion that western knowledge could never be spread to the people through the medium of English language alone."

२. "English can never become the most facile and successful medium of communicating to the natives, as a body, the literature, science and morality of Europe"

३. "Sanskrit I conceive to be the grand store-house from which strength and beauty must be drawn for the vernacular languages"

[ये उद्धरण सैयद नूरुल्लाह तथा जे० पी० नायक-कृत हिस्ट्री आव् एजुकेशन इन इंडिया से है]

एलफिंस्टन की नीति को अगर हम निचोड के रूप मे रखना चाहे तो वह यह है कि (१) ज्ञान की सामग्री हमे अँगरेजी के भाण्डार से लेनी है ; (२) जनता तक यह ज्ञान हमे आधुनिक भाषाओ के द्वारा पहुँचाना है ; और आधुनिक भाषाओ की शक्ति बढ़ाने के निमित्त सहायता हमे प्रमुख रूप से सस्कृत से ग्रहण करनी है।

सन् १८३८ ई० मे विलियम बेंटिक ने ऐडम (Adam) को बगाल मे शिक्षा-सर्वेक्षण के काम पर नियुक्त किया था। ऐडम ने सरकार को जो रिपोर्ट दी थी, उसमे भी कहा गया था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को ही होना चाहिए।[1]

लेकिन, चार्ल्स ग्राण्ट, वार्डन और मेकाले के कारण एलफिंस्टन की नीति नही चल सकी। यदि वह चल गयी होती तो भारत उस कठिनाई में नही फँसता, जिसमें आज वह गिरफ्तार है। दु ख इस बात का है कि मेकाले ने एलफिंस्टन का पीछा आज भी नहीं छोड़ा है। मेकाले के अनुयायी आज भी प्रबल और एलफिंस्टन के समर्थक आज भी लाचार हैं। मेकाले ने जिस नकली इंगलिस्तान की रचना की थी, वह असली हिन्दुस्तान को आज भी दबाये हुए है। और तब भी हम मानते है कि भारत स्वाधीन है।

मराठी में शिक्षा

एलफिस्टन के समय बबई मे जिला प्रायमरी स्कूलों की सख्या काफी अधिक हो गयी थी। ये स्कूल, असल मे, माध्यमिक विद्यालय थे, जिनमे इतिहास, भूगोल, ज्यामिति, ट्रिगानामेट्री, बीजगणित और दर्शन की पढाई मराठी मे की जाती थी। इन स्कूलो मे मेडिकल कोर्स भी था, जिसकी पढाई मराठी मे चलती थी। इन विषयों पर उन दिनों भारतीय भाषाओ मे अनेक पुस्तके भी लिखी गयी थी। यदि यह परंपरा कायम रही होती तो नये शब्दो की खोज को लेकर देश में आज जो विवाद चलता है, वह उठा ही नही होता, क्योकि शब्द अब तक तैयार हो गये होते।

एलफिस्टन ने जो नीति निर्धारित की थी, उसे कार्य का रूप जगन्नाथ शंकर सेट (१८०३-१८६५ ई०) ने दिया। इन्होने विचार यूरोप से लिये, भाषा जनता की उठायी और नये शब्दो का निर्माण संस्कृत-भाण्डार से किया।

हिन्दी में प्रयोग

पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा-सस्था का नियन्त्रण बंगाल से निकल कर प्रान्तीय सरकार के हाथ मे सन् १८४३ ई० में आया। यहाँ के भी लेफ्टिनेंट गवर्नर थामसन (Thomson) बबई के गवर्नर एलफिस्टन के ही समान भारतीय जनता के हितैषी थे। उनका भी विचार जनता मात्र को शिक्षित करने का था। अतएव, उनकी शिक्षा-योजना भी मातृभाषा पर ही आधारित थी। बगाल मे सारा जोर शिक्षा का

१ अनाथनाथ वसु-कृत एजुकेशन इन माडर्न इडिया

माध्यम अँगरेजी को बनाने पर था। थामसन ने अपने प्रान्त में मातृभाषाओ का पक्ष लिया। पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा-सबधी एक वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि इस भूभाग में बगाल की तरह अँगरेज अधिक नही है। जो है भी, उनकी माली हालत अच्छी नही है। विदेश से भी यहाँ अँगरेज कम आते है और विदेशी उपकरणो का भी यहाँ प्रचलन कम है। अतएव, अँगरेजी के अनुकूल वातावरण का यहाँ अभाव है। उत्तर प्रदेश मे उन दिनो, महाराष्ट्र की ही तरह, जन-शिक्षा का कार्य हिन्दी और उर्दू में चलता था तथा इन भाषाओ में विविध विषयो की पुस्तकें भी प्रकाशित होती थी।

भारत-भक्त अँगरेजों की भाषा-नीति

जब अँगरेज भारत की शिक्षा के माध्यम को लेकर चिंता कर रहे थे, उस समय ऐसे भारतवासियों का सर्वथा अभाव था जो भारत की आधुनिक भाषाओ का पक्ष ले सकें। उतने बडे दूरदर्शी नेता राजा राममोहन राय को भी यह नही सूझा कि एक वार वे बँगला और हिन्दी के वारे में भी सोच ले। उस समय आधुनिक भाषाओ की ओर ध्यान कुछ अँगरेजो का ही गया। यह मार्के की बात है कि जिस अँगरेज ने जनता की भाषाओ के प्रति जितनी ही अधिक भक्ति दिखलायी, जनता का वह उतना ही अधिक प्यारा हो गया।

एलफिस्टन बवई मे इतना अधिक लोकप्रिय था कि जब उसने अवकाश ग्रहण किया (१८२७ ई०), तब जनता ने दो लाख रु० चन्दा एकत्र करके उसकी स्मृति मे एलफिस्टन इस्टीटयूट की स्थापना की। इसी प्रकार, जब मद्रास के गवर्नर सर टामस मनरो मरे, तब जनता मे हाहाकार मच गया और लोग "टामस मनरो बहादुर, रैयत का शुभाकाक्षी और जनता का पिता" कह कर विलाप करने लगे। ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रवर-समिति के सामने गवाही देते हुए इसी मनरो ने कहा था कि हिन्दू यूरोपवालो से हीन नहीं है।[1]

अँगरेजी और शराब

अलेक्जेंडर डफ (१८०६-१८७८ ई०) भारत में धर्म-प्रचार के लिए आया था, लेकिन, सबसे अधिक प्रचार उसने अँगरेजी का किया। बँगला भाषा वह खाक नही जानता था, फिर भी, उसने कह दिया कि इस भाषा में ज्ञान की कोई भी बात नही है। और मेकाले ने भी ऐसी ही अनर्गल बात हिन्दी और बँगला के विषय मे कही थी, गर्चे, वह भारत की किसी भी भाषा से परिचित नही था। आज भी मेकाले के भारतीय अनुयायी

---

१. The Hindoos were not inferior to the natives of Europe. If civilization were to become an article of trade between the two countries, I am convinced that England would greatly benefit from the import of Cargo. (नूरुल्ला के ग्रन्थ से)

भारत की किसी भी भाषा को जाने बिना ही देश की सभी भाषाओ को अयोग्य और अविकसित कह देते है।

भारतीय भाषाएँ बहुत अयोग्य नही थी। उनमे बाइबिल के अनुवाद आसानी से किये जा चुके थे। उन दिनो विज्ञान भी अपने बचपन मे था। उसका अनुवाद उस समय उतना कठिन नही होता, जितना वह आज है। फिर विज्ञान उस समय था ही कितना जो भारतीय भाषाओ मे नही अमाता ? भारतीय भाषाओ को शिक्षा का माध्यम नही बनाने से भारत की जो हानि हुई है, उसका असली परिमाण आँका नही जा सकता। तब भी, देश के कर्णधार अँगरेजी से देश को निकलने देना नही चाहते। मेकाले का जादू मेकाले के शिष्यो के सिर चढ़कर बोल रहा है।

पहले इस देश के लोग शराब नही पीते थे। जब सरकार ने आबकारी-विभाग चलाया, तब उस विभाग की कृपा से शराब की लत बहुतो को लग गयी। फिर तो शराब के लोग इतने प्रेमी हो उठे कि अब वे टैक्स के भार को भी कुछ नही समझते और शराबबन्दी की बात करनेवालो को अपना शत्रु समझते है। यही बात अँगरेजी के बारे में भी हुई है।

सन् १८५४ का डिस्पैच

कपनी-सरकार की डावाँडोल भाषा-नीति, अन्त मे, सन् १८५४ ई० के डिस्पैच में आकर निश्चित हो गयी, जिसे "वुड का एजुकेशन डिस्पैच" भी कहते है। इस डिस्पैच मे खुल कर यह एलान किया गया था कि सरकार का उद्देश्य भारतीय भाषाओ को हटा कर उनकी जगह पर अँगरेजी को लाना नही है। सरकार ने बराबर इस बात का ध्यान रखा है कि काम उन्ही भाषाओ मे किये जाने चाहिए, जिन्हे इस देश की विशाल जनता जानती और समझती है। शासन के काम मे, अदालत के काम में और अफसरो तथा जनता के सपर्क के काम मे सरकार ने, इसीलिए, फारसी के बदले अँगरेजी नहीं, बल्कि, जनता की भाषाओ को स्थान दिया है।

इस डिस्पैच के द्वारा सरकार की शिक्षा-नीति यह निरूपित हुई कि जो लोग ऊँची शिक्षा पाना चाहेंगे, उन्हे वह शिक्षा अँगरेजी के माध्यम से दी जायगी, किन्तु, जनसाधारण की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रहेगी। साथ ही, यह आशा भी व्यक्त की गयी कि इस क्रम से भारत की अपनी भाषाओ का भी विकास होगा, उनमें यूरोप की पुस्तको के अनुवाद प्रकाशित किये जायेंगे और मौलिक कृतियो का भी निर्माण होगा। शिक्षा-माध्यम की इस द्वैध नीति का परिणाम यह है कि आज तक भी भारत में शिक्षा का व्यापक प्रसार नहीं हुआ और भारतीय भाषाओ के बारे में देश के अनेक शिक्षा-विशेषज्ञ सन् १९६२ ई० में भी वही बात कह रहे है जो वुड (Wood) ने सन् १८५४ ई० में कही थी। एक सौ आठ वर्षो के सुदीर्घ प्रयोग से यह बात अंधे को भी दिखायी देनी चाहिए

कि वुड की नीति से भारतीय भाषाओ का विकास नहीं हो सकता। किन्तु, भारतीय शिक्षा के जो लोग कर्णधार समझे जाते हैं, वे आज भी वुड की नीति को छोड़ने को तैयार नहीं ह। यह दृश्य भगवान के ही देखने योग्य है।

शायद, मेकाले, सचमुच ही, जीत गया है। भारतीय जनता का जो भाग अँगरेजी नही जानता अथवा कम जानता है, आज भारतीयता का सबसे अधिक ध्यान उसी समुदाय को है। जो लोग अँगरेजी मे माहिर और देश के सचालक और सूत्रधार है, वे भारत के अतीत को भूलने की मुद्रा मे है। जिस दिन अँगरेजी भारत की राजभाषा बनायी गयी, उसी दिन यह घोषित हो गया कि अँगरेज भारत के अतीत पर पर्दा डालने को तैयार है। और मेकाले के जादू का यह हाल है कि स्वराज्य के बाद भी भारत के अँगरेजी-परस्त भारतीय इस पर्दे को ऊपर उठाना नहीं चाहते।

भारतीय अतीत का अनुसंधान

स्कूलो और कालेजो मे जो यूरोपीय ज्ञान सिखाया जाने लगा, वह मनुष्य की आँख खोलनेवाला था। किन्तु, इसके साथ ही एक और कार्य हुआ, जिसने भारतवासियो के भीतर आत्मगौरव को उत्तेजना दी और उनके भीतर यह आत्मविश्वास पैदा कर दिया कि भारत ससार मे सबसे महान् देश है, उसकी सभ्यता सबसे पुरानी है और उसके साहित्य और दर्शन की तुलना ससार की किसी भी जाति के दर्शन और साहित्य से नही की जा सकती।

इस कार्य का श्रीगणेश सन् १७८४ ई० मे बगाल की एशियाटिक सोसायटी की स्थापना से हुआ। भारत के अतीत के अनुसधान का कार्य पहले अँगरेजो ने आरभ किया और तब भारत के भी अनेक विद्वान उस मार्ग पर चल कर भारत के प्राचीन इतिहास का पता लगाने लगे। इस सम्मिलित प्रयास का परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते भारत का प्राचीन इतिहास देदीप्यमान हो उठा और सभी भारतवासी अपने इतिहास पर अभिमान करने लगे।

शिक्षा का माध्यम यद्यपि अँगरेजी ही रही, किन्तु, अनुसधान के क्रम में सस्कृत की जो महती उपादेयता प्रमाणित हुई, उसके कारण सरकार ने सस्कृत को भी प्रोत्साहित करना आरभ किया। सस्कृत को भारतवासी केवल इस दृष्टि से पूजते आये थे कि वह उनके धर्म और कवित्व की भाषा थी। अब वे यह मानने लगे कि सस्कृत के विधिवत् अध्ययन के बिना भारत का इतिहास लिखा ही नही जा सकता। भारत का सारा अतीत सस्कृत की गोद में सोया हुआ था। जब भारतवासियो को मालूम हुआ कि अनुसधान की क्रियाओ से यह अतीत जगाया जा सकता है, तब, सचमुच ही, यह अतीत खँडहरो से उठ कर पुस्तकालयो, विद्यालयो और सभा-मडपो में आ खडा हुआ।

प्राचीन भारत और नवीन यूरोप

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यूरोप का भारत-आगमन भारतीय ज्ञान के लिए नही, प्रत्युत, मसालो के व्यापार और ईसाइयत के प्रचार के लिए हुआ था। यूरोप भारत को धन-धान्य से पूर्ण देश समझता था, नवाबो और मुगल बादशाहो का देश समझता था एव नवाब और मोगल, ये शब्द यूरोप मे धनियो पर किये जानेवाले व्यग्य के पर्याय हो गये थे। यूरोपवालो का विश्वास था कि सभ्यता का आरभ यूनान और फिलिस्तीन मे हुआ है एव इन देशो से अधिक पुरातन सभ्यतावाला देश ससार मे और है ही नही। भारत को तो यूरोपवाले अर्द्धसभ्य ही मानते थे।

किन्तु, जब ईसाईधर्म-प्रचारक इस देश में आये, उन्होने पहले तो यहाँ की देश-भाषाएँ सीखी। फिर वे सस्कृत सीखने का भी प्रयत्न करने लगे। कहते है, पाडिचेरी के धर्म-प्रचारको ने यजुर्वेद का कच्चा-पक्का एक फ्रासीसी अनुवाद L' Ezour vedam नाम से तैयार किया था, जिसकी प्रति वाल्तेयर ने भी देखी थी।[1] एक अन्य पादरी ने सन् १७३२ ई० में सस्कृत का एक व्याकरण तैयार किया था जो सन् १७९० ई० मे रोम मे छपा था। सन् १७४० ई० मे एक दूसरे पादरी ने भारत का एक विवरण लिखा, जिसमें भारत के षड्-दर्शन के परिचय के सिवा जैन और बौद्ध मतो का भी परिचय था। किन्तु, भारतीय जीवन का प्रथम विशद विवरण यूरोपवालो को एवी दुबोय के "हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सिरीमनीज़" नामक ग्रथ से प्राप्त हुआ, जिसका प्रकाशन सन् १८१७ ई० में हुआ था।

किन्तु, इन विवरणो से यूरोप का मन चमत्कृत नही हुआ। यूरोप को चमत्कृत करनेवाले कार्यों का आरभ दुपरोन (Anquetil Duperron) के "औपनिखत" नामक ग्रथ से होता है। दुपरोन फ्रास का नवयुवक विद्वान् था जो १७६० ई० के लगभग भारत आया था। यहाँ से वह कोई अस्सी पाडुलिपियाँ अपने साथ फ्रास ले गया। उनमे से एक पाडुलिपि दाराशिकोह-कृत उपनिषदो के फारसी अनुवाद की थी। दुपरोन ने इसी का लातीनी अनुवाद औपनिखत (Oupnekhat) के नाम से दो जिल्दो मे प्रकाशित करवाया। जर्मनी के दार्शनिक आर्थर शापेनहार को इसी अनुवाद की प्रति मिली थी, जिसे पढ कर वह विस्मय-विमुग्ध हो गया था और उपनिषदो की विचार-धारा की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए उसने कहा था कि "यह अनुपम ग्रंथ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक, गंभीर और बड़े ही ज्योतिष्मान् विचार ऊपर उठते है। हमारे चारो ओर भारतीयता का वातावरण आप-से-आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है, मानो, ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हो। हमारे मनो पर यहूदी-संस्कारों की जो रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास

---

१ माडर्न इडिया एण्ड द वेस्ट

छाये हुए है, वे इन विचारो के स्पर्श मात्र से एकबारगी घुल जाते है। सारे संसार में इसके जोड़ का कोई और ग्रंथ नहीं हो सकता। जीवन भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है, और मृत्यु-पर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा।"

उपनिषदो के अध्ययन से जर्मनी मे विचारो का जागरण कुछ उसी प्रकार आया, जैसे, रिनासाँ के काल मे यूनानी प्राचीन साहित्य के सपर्क से सारे यूरोप मे जागा था। जोहान फिक्टे और पाल डूसान ने भी वेदान्त के सत्य को ससार का सबसे वडा सत्य माना। नीत्से को जब मनुस्मृति देखने को मिली, तब उसने भी मनुस्मृति को बाइबिल से अनेक गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया।[1]

इस बीच, भारत के अँगरेज शासको का ध्यान भी संस्कृत की ओर जा रहा था। वारेन हेस्टिंग्स को यह सूझा कि न्याय के क्षेत्र मे हिन्दुओ पर शासन उनके धर्म-शास्त्रो के अनुसार किया जाना चाहिए। अतएव, उसने धर्म-शास्त्रो का अनुवाद पहले फ़ारसी में करवाया और फिर अँगरेजी मे। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नही था। इग्लैण्ड से आये हुए जजो और वकीलो को सस्कृत की ओर लगाना अनिवार्य हो गया। ये विद्वान् संस्कृत की ओर गये तो थे कचहरी की आवश्यकता से, किन्तु, वहाँ भावो और विचारो का जो अद्‌भुत पुज इन्हें दिखायी पड़ा, उससे वे पूर्णरूपेण अभिभूत हो उठे। सन् १८७५ ई० में सर चार्ल्स विलकिन्स ने भगवद्‌गीता का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया। सर विलियम जान्स ने, जो जज थे और सन् १७८४ ई० मे जिन्होने एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की थी, कालिदास के शकुंतला-नाटक का अनुवाद किया। उन्होने ऋतु-संहार का भी सपादन करके उसका एक सस्करण निकलवाया था। सन् १७९४ ई० में उन्होने मानव-धर्म-शास्त्र के नाम से मनुस्मृति का प्रकाशन किया। जोन्स सस्कृत भाषा के अद्‌भुत भक्त थे। एशियाटिक सोसायटी के १७८६ ई० वाले अधिवेशन मे उन्होने यह घोषणा की थी कि "संस्कृत परम अद्‌भुत भाषा है। वह यूनानी से अधिक पूर्ण और लातीनी से अधिक संपन्न है।" जोन्स ने ही पहले-पहल यह अनुमान भी लगाया था कि गोथिक और केल्टिक, दोनो परिवारो की भाषाएँ उसी उद्‌गम से निकली होगी, जिससे सस्कृत निकली है। इस प्रकार, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जो महल फ्रांज बाप, मैक्समूलर और ग्रिम ने खड़ा किया, उसकी नीव जोन्स ने ही रखी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत से सपर्क के पूर्व, यूरोप में किसी को उच्चारण-शास्त्र (फ़ोनेटिक्स) से परिचय नही था। भारतीय निरुक्त और व्याकरण को देख कर ही यूरोप के विद्वानो ने फोनेटिक्स लिखना आरभ किया।

---

१. "A work which is spiritual and superior beyond comparison, which even to name in one breath with the Bible would be a sin against the Holy Ghost." नीत्से (एन्टिक्रिस्ट में)

विलियम जोन्स के वाद, सबसे बडे प्राच्य-विद्या-विशारद कोल ब्रुक हुए। उन्होंने हिन्दू-धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिप और धर्म का वडा ही विलक्षण अध्ययन प्रस्तुत किया, जो एशियाटिक रिसर्चेज मे प्रकाशित हुए। सन् १८०५ ई० मे वेदों का भी प्रामाणिक विवरण सबसे पहले उन्होने ही निकाला। कोई आश्चर्य नही कि उन दिनो इग्लैण्ड में एक कहावत चल पडी थी कि मेधावी अँगरेज अब ब्राह्मण होते जा रहे हैं।

ठीक इसी समय एक विलक्षण घटना घटी। ईस्ट इडिया कम्पनी का एक कर्मचारी अलेक्जेंडर हैमिल्टन सन् १८०२ ई० में पेरिस मे ठहरा हुआ था कि अँगरेजों और नैपोलियन के बीच खटपट शुरू हो गयी और हैमिल्टन कैद हो गया। हैमिल्टन सस्कृत जानता था। अतएव, उसने जेल में लोगो को सस्कृत पढाना आरंभ किया। चेजी नामक एक फ्रासीसी विद्वान स्वय ही थोड़ी-सी सस्कृत सीख चुका था। किसी प्रकार चेजी का सपर्क हैमिल्टन से हो गया और उससे चेजी ने अच्छी सस्कृत सीख ली। वाद में, चेजी और हैमिल्टन से श्लीगल नामक दो जर्मन भाइयो ने सस्कृत सीखी। एक अन्य फ्रांसीसी विद्वान यूजीन वर्नाफ ने भी सस्कृत पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। मैक्समूलर इसी वर्नाफ का शिष्य था, जिसने सायण के भाष्य पर तीस वर्ष तक काम किया और, उसके वाद, वेदो पर उसका जो भाष्य प्रकाशित हुआ, उससे यूरोप-समेत भारत के सभी विद्वान् चकित रह गये। लगता है, सायण की आत्मा ही जर्मनी में मैक्समूलर वन कर जनमी थी, क्योकि वेदो के उद्धारको मे जैसा स्थान इस विद्वान का माना जाता है, वैसा और किसी का नही है।

किन्तु, वेदो का भाष्य करने से भी वढ कर, मैक्समूलर न यह काम किया कि उसने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की परपरा आरभ की। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से जो तथ्य सामने आया, उससे यूरोप की अज्ञानता दूर हुई एव उन लोगो का मोह फट गया जो यह मानते थे कि फिलस्तीन और यूनान से पुराना और कोई देश नही है तथा हेब्रू भाषा से प्राचीन और कोई भाषा नही हो सकती। वाइविल के अनुसार यह भी माना जाता था कि यह सृष्टि केवल चार हजार वर्ष पुरानी है। अतएव, वेदो का काल-निर्णय करने मे पाश्चात्य विद्वानो को कठिनाई हुई और वे जोर-जवर्दस्ती करके उसे ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व से आगे जाने देने को तैयार नहीं हुए। किन्तु, वीसवी सदी में जव महजोदरो और हरप्पा की खुदाई हुई, तव यह सीमा भी टूट गयी और यूरोप के धर्ममूढ विद्वान् भी यह मानने लगे कि सृष्टि चार हजार वर्ष से अधिक पुरानी हो सकती है।

मैक्समूलर के कामो से यह वात प्रत्यक्ष हो गयी कि ससार की प्राचीनतम भाषा हेब्रू नही, सस्कृत है और विश्व की प्राचीनतम जाति यूनानी और यहूदी नही, प्रत्युत, हिन्दू और ईरानी जातियाँ हैं। भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म का जो वखान जर्मन विद्वानो ने किया, उससे एक लाभ यह भी हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारक भारत से वाहर

भारतवासियों के विषय में जो मिथ्या प्रचार कर रहे थे, उसका खोखलापन चिन्तकों के सामने प्रत्यक्ष होने लगा एवं धीरे-धीरे अँगरेज यह सोच कर गौरव अनुभव करने लगे कि उनके साम्राज्य में भारत-जैसा देश है। मैक्समूलर ने भारत की सेवा अनेक प्रकार से की। उसने परमहंस रामकृष्ण का जीवन-चरित लिखा, उसने पूर्वी विश्व के धर्म-ग्रंथों की ग्रंथमाला प्रकाशित की और एक पुस्तक केवल इस विषय पर लिखी कि भारत विश्व को क्या सिखा सकता है।

यूरोप के रोमांटिक आंदोलन पर भारतीय प्रभाव

जर्मनी और इंग्लैण्ड में जो रोमांटिक जागरण हुआ, उसके पीछे कुछ-न-कुछ भारतीय प्रभाव भी था, ऐसा मानने का सुनिश्चित आधार है। श्लीगल-बन्धुओं ने जर्मन-भाषा के द्वारा यूरोप में भारतीय ज्ञान का अपरिमित आख्यान किया। वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता और मनुस्मृति तथा शकुंतला और ऋतुसंहार को देख कर जर्मनी के कवि और विद्वान अभिभूत हो गये। चूँकि यह साहित्य अनपेक्षित देश से आया था, इसलिए, उनका विस्मय और भी प्रखर था। फिर, इस साहित्य में जो भाव और विचार थे, वे सर्वथा नवीन क्षितिज से उतरते दिखायी देते थे। इन सब का मिश्रित प्रभाव यह हुआ कि इस अछूती सुन्दरता को देख कर जर्मन कवियों का मन किसी- रोमांटिक लोक में विचरण करने लगा। श्लीगल ने जब भगवद्गीता पढ़ी, तब भगवान् कृष्ण की स्तुति में उसके मुख से एक पूरी गद्य-कविता ही फूट पड़ी कि "गुरु के आदर को ब्राह्मण सभी कर्मों में श्रेष्ठ मानते हैं। अतएव, ओ परम पवित्र पैगम्बर! ओ ईश्वरत्व के व्याख्याता! ओ इस काव्य के कर्त्ता! अथवा सत्यों के बीच तुम्हारा जो भी नाम हो, तुम्हारी वाणी के प्रभाव से मनुष्य का हृदय, ऐसे अकथनीय आनन्द की भूमि पर पहुँच जाता है, जो अत्यन्त उच्चता पर अवस्थित तथा सनातन और ईश्वरीय है। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ और तुम्हारे चरणों पर अपना अभिनन्दन भेंट करता हूँ[1]।"

भारतीय काव्य की विलक्षणताओं का आख्यान रुकर्ट (Rukert) ने भी किया और गेटे ने तो शकुंतला की प्रशंसा में जो कविता लिखी, उसे अनेक भारतवासी जानते हैं।[2] गेटे के फाउस्ट नाटक में जो प्रोलोग (पूर्वभास) है, उसका गुम्फन उसने भारतीय नाटकों के सूत्रधारवाले दृश्य के अनुकरण पर किया है। शीलर की "मेरिया स्टूअर्ट"

---

१. श्री रावलिसन के लेख में उद्धृत अंश का अनुवाद (माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट)

२. Wouldst thou the young year's blossoms
And the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
Enraptured, feasted, fed,

नामक कविता मे निर्वासिता रानी बादलो को जो सदेश देती है, वह कालिदास के मेघदूत से प्रेरित है। ये कुछ स्फुट उदाहरण हैं। कहा जाता है कि श्लीगल से लेकर हाइने (Heine) तक जर्मन कविताओ मे भारतीय भाव और चित्र सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

अचरज की बात है कि समकालीन अँगरेजी कविताओ पर भारतीय प्रभाव के उतने प्रमाण नही मिलते, जितने जर्मन भाषा की कविताओ मे मिलते है। किन्तु, इसका कारण, कदाचित्, यह है कि अँगरेज "अति सामीप्यात् अवज्ञा" के भाव मे थे। शासक होने के कारण अँगरेज यह नही चाहते थे कि यूरोप मे भारत की प्रशसा हो अथवा यूरोप के लोग भारतीय भावो का अनुकरण करे। उन्हे भारत मे अपना राज चलाना था और कम्पनी के साहब इग्लैण्डवालो पर यह प्रकट होने देना नही चाहते थे कि भारत कोई महान् देश है। अथवा यह भी सभव है कि अँगरेजी कविता नेतृत्व के लिए, सचमुच ही, बराबर फ्रास और जर्मनी की ओर देखती रही हो। फिर भी शेली, वर्डस्वर्थ और कारलाइल में भारतीय प्रभावो के स्पष्ट लक्षण विद्यमान हैं। कारलाइल पर वेदान्त का प्रभाव जर्मनी होकर पडा था। "ओड आन इटीमेशन्स आव् इमार्टेलिटी" नामक अपनी कविता मे वर्डस्वर्थ आत्मा के पूर्व जन्म की ओर सकेत करता है जो, स्पष्ट ही, भारतीय प्रभाव है। उसने वनस्पतियो मे जो चेतना के होने की बात की है, वह भी जैन विचारो की छाया-सी लगती है। शेली की एडोनाय (Adonai's) नाम्नी कविता की कल्पना उपनिषदो की कल्पना पर आधारित है एव उक्त कविता के कितने ही भाव शुद्ध वेदान्त के भाव हैं।

भारतीय विचारो का यह सक्रामक प्रभाव अमेरिका भी पहुँचा था, यह बात एमर्सन और थुरो की रचनाओ से स्पष्ट हो जाती है। एमर्सन ने ब्रह्म शीर्षक देकर एक पूरी कविता ही लिखी है और भारत नाम की पवित्रता का जो प्रभाव थुरो पर पडा था, वह उसके इस वाक्य से प्रत्यक्ष है कि "वाल्डन का जल गगा के पवित्र प्रवाह से मिल कर एकाकार हो गया है।" एक अन्य अमेरिकन कवि जे० जी० ह्लीटियर ने सोम पर कविता लिखी है, जिसका शीर्षक "ब्रूइग आव् सोम" है।

महारानी विक्टोरिया के युग मे अँगरेजी कविता पर भारतीय प्रभाव कम लक्षित हुआ[1], किन्तु, उसके बाद, आयरलैण्ड के दो कवियो पर भारतीय दर्शन का प्रभाव अत्यन्त

Wouldst thou the earth and Heaven itself,
In one sole name combine?
I name thee, O Sakuntala!
And all at once is said.

—गेटे की जर्मन कविता का अँगरेजी अनुवाद

१ यद्यपि टेनिसन की दो कविताओ (1. Siege of Lucknow तथा 2. Akbar's dream) की याद यहाँ हो आती है।

सुस्पष्ट है। जार्ज रसल (ए० ई०) ने कई कविताएँ लिखी—(1. Over Soul, 2. Krishna, 3. The veils of maya, 4 Om और 5 Indian song) जिनमे शुद्ध भारतीय भाव हैं। इसके सिवा, अपने एक पत्र में उन्होने खुल कर भारतीय चिन्तन-धारा की प्रशसा की है। "जीवनी शक्ति और ज्ञान की उच्चता की दृष्टि से, गेटे, वर्डस्वर्थ, एमर्सन और थुरो, आधुनिको में ये चार ही चिन्तक श्रेष्ठ हैं। किन्तु, उन्होने जो कुछ भी कहा है, वह और उससे वहुत अधिक बातें हमे पूर्वी विश्व के ग्रथो में मिलती है। भगवद्गीता और उपनिषदो मे प्रत्येक विषय पर ज्ञान की ऐसी सम्यक् पूर्णता है कि ऐसा लगता है, मानो, इनके रचयिताओ ने अपने पीछे के सहस्र जीवनो को अत्यन्त समीप से देखा हो और उनके सबध मे इतने सहज विश्वास से लिखा हो कि उनकी बातो को हमारी आत्मा अनायास स्वीकार कर लेती है।"

डब्ल्यू० बी० येट्स ने भी कई कविताओ में (1. Anushay and Vijay, 2. The Indian upon God तथा 3. The Indian to his love) भारतीय भाव रखे हैं। उन्होने कुछ उपनिषदो के अनुवाद भी निकाले थे, जिस कार्य में श्री भगवान पुरोहित नामक एक भारतीय विद्वान् उनके सहायक थे। स्कॉटलैण्ड के एक कवि जोन स्टूबर्ट ब्लेकी (१८०६-१८९५ ई०) ने भी एक कविता लिखी है, जिसका नाम त्रिमूर्त्ति है।

किन्तु, अँगरेजी कविता के क्षेत्र में, भारतीयता का सपूर्ण आख्यान कही मिलता है तो वह "लाइट आव् एशिया" मे, जिसके रचयिता सर एडविन आर्नाल्ड (१८३२-१९०४ ई०) पूना मे डेकन कॉलेज के प्रिंसपल थे। जिस भक्ति से आर्नाल्ड ने बुद्धदेव पर श्रद्धाजलि चढायी है, वह अत्यन्त विलक्षण और श्रद्धा उपजानेवाली है। बुद्ध के प्रति भक्ति के भाव से देखे, तो कहना कठिन है कि अश्वघोष बडे हैं या एडविन आर्नाल्ड।

वर्त्तमान युग में इलियट में भारतीयता का प्रभाव काफी दिखायी पडता है। अब भारत भी अँगरेजो के अधीन नही है। अतएव, सभव है, इग्लैंड के विचारक और कवि भारतीय भाव-धाराओ की ओर कुछ वेग से उन्मुख हो।

भारतीय प्रभाव के प्रति शंका

भारत के दूरगामी अतीत पर से पर्दा उठाने का काम अँगरेजो ने ही आरभ किया था। किन्तु, भारत के अतीत पर जब सारा ससार चकित होने लगा, तब अँगरेज घबरा कर ठमक गये। लेकिन, अँगरेजो ने सूत्र को जहाँ पर छोडा था, जर्मनो ने उसे वही से उठा लिया। असल में, भारत की कीर्त्ति को विश्वव्यापी बनाने की दिशा में सबसे अधिक प्रयास जर्मनी के ही विद्वानो ने किया। जर्मनी के दार्शनिको में से शेलिंग, फिक्टे, हीगेल और शापेनहार ने, जर्मनी के कवियो में से गेटे, शीलर, नोवालिस और ब्रटेनो ने तथा इतिहासकारो मे से हर्डर और श्लीगल ने भारतीय सस्कृति के प्रति अपना मुक्त

अभिनन्दन व्यक्त किया तथा इस सूचना पर वे आनन्द से पागल हो उठे कि भारत आदि-धर्म की जन्मभूमि है, भारत विश्व-धर्म का जन्मस्थान है, भारत की भूमि मनुष्यो की सर्वोत्तम जाति की जन्मदात्री एव सर्वश्रेष्ठ साहित्य, दर्शन और अध्यात्मशात्र की क्रीडा-स्थली है।

यूरोप के जो भी चिंतक परोक्ष सत्ता के विश्वासी थे, उन्हे भारतीय विचारो से अपरिमित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसके विपरीत, जो लोग प्रत्यक्षवाद (Agnosticism) में विश्वास करते थे, भारत की कोई-कोई बात उन्हे भी अनुकूल दिखायी पडी। डाक्टर राधाकृष्णन का कहना है कि आगस्ट कामटे का प्रत्यक्ष ज्ञानवाद (Positivism) बौद्ध दर्शन का वह सस्करण है जो नयी सभ्यता के लिए प्रस्तुत किया गया है। यह भी कहा जाता है कि शापेनहार को सबुद्धि मे विश्वास करने की बात भारतीय उपनिपदो के कारण सूझी थी, क्योकि उपनिषद् बुद्धि को सर्वत्रगामी नही मानते है। इसी प्रकार, नीत्से के विचारो मे जो उग्रता है, उसे लोग जरथुस्त्र की देन तथा उसमे जो विरल धार्मिकता है, उसे भारत का प्रभाव समझते हैं।

भारत का प्रभाव सबसे अधिक गहराई मे केवल जर्मनी मे पहुँचा और वही से वह पाश्चात्य जगत् के मन पर थोडा-बहुत सर्वत्र प्रसरित हुआ है। वैसे, राष्ट्रो के बीच विचारो के आदान-प्रदान का कार्य हमेशा इसी क्रम से चलता है और विश्वजनीनता के लिए वह अच्छा भी है। फिर भी, भारत के इस प्रभाव को कोई-कोई विद्वान् अब शका से देखने लगे है। "द सोल आव् इडिया"[१] के लेखक का अनुमान है कि जर्मनी ने भारतीय सस्कृति को अपने मन में स्थान देकर अपने-आपको यहूदी और लातीनी संस्कारो से मुक्त करने का प्रयास किया है। भारतीय चिन्ताधारा का यूरोप मे प्रवेश दुपरोन ने किया था। तब से इस चिन्ताधारा का प्रभाव सूक्ष्म रूप से अपना काम कर रहा है। भारत के भाव और विचार यूरोप के मानस-समुद्र में डूबे हुए हैं। सामान्यत, सतह से ऊपर वे कभी नही आते। किन्तु, यूरोपीय सभ्यता का समुद्र जब सूखने लगेगा, तब पूर्वी विश्व के ये विचार अपना असर दिखाने को प्रकट हो सकते है।

पता नही, लेखक ने ये बातें किस उद्देश्य से लिखी है। किन्तु, यदि ऐसा हुआ तो ससार को उससे डरना नही चाहिए। जैसे वैरागियो के लिए एक सीमा तक भोग में फँसना पथ्य है, उसी प्रकार, वैराग्य की एक छोटी खुराक से भोगवादियो का भी कल्याण ही होगा।

१. The Soul Of India लेखक—Amaury Riencourt

प्रकरण ३

ईसाई धर्म और भारतीय जनता

संसार के धर्मों में तीन ही बहुत प्राचीन हैं, हिन्दू-धर्म, जरथुस्त्र-धर्म और यहूदी-धर्म। इनमें से पहले दो आर्यों के बीच उत्पन्न हुए और तीसरा धर्म सामी जाति के बीच जनमा। विचित्रता की बात यह है कि जैसे प्राचीन हिन्दुत्व (वैदिक धर्म) से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, ईसाई धर्म भी यहूदी धर्म की कुक्षि से उत्पन्न हुआ है। दूसरी विचित्रता यह हुई कि भारत में पिता (हिन्दुत्व) ने पुत्र (बौद्ध मत) को निर्वासित दिया, किन्तु, फिलस्तीन में पुत्र (ईसाइयत) ने ही पिता (यहूदी-धर्म) को अपदस्थ कर दिया।

एक तरह से देखिये तो यहूदी-धर्म से, ईसाइयत और इस्लाम, दोनो का संबंध है। यहूदियो की तरह, ईसा और मोहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर रूप से मूर्तिपूजक थी। मूर्तिपूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले हजरत इब्राहीम ने दिया जो यहूदियो के आदि पैगम्बर हुए हैं। चूंकि हजरत इब्राहीम ने मूर्त्तिपूजा का विरोध किया और एकवाद की प्रथा चलायी, इसलिए, मुसलमान भी उनकी पैगम्बरी में विश्वास करते हैं। इन्हीं हजरत इब्राहीम के खानदान में ईसा और मोहम्मद, दोनो हुए हैं। हजरत दाऊद, ईसा और मूसा, ये तीन पैगम्बर हजरत इब्राहीम के बड़े बेटे हजरत इसहाक के खानदान में हुए और हजरत मोहम्मद इब्राहीम के छोटे बेटे इस्माइल के वंश में हुए हैं।

यहूदी-धर्म के दो पैगम्बरो के नाम हजरत दाऊद (David) और हजरत मूसा (Moses) हैं। बाइबिल दो प्रकार की मिलती है। पुरानी बाइबिल (अथवा ओल्ड टेस्टामेंट) का कुछ भाग हजरत दाऊद का लाया हुआ है और अधिकांश हजरत मूसा का। हजरत ईसा ने जो नयी बाइबिल कही, उसका नाम न्यू टेस्टामेंट है। इन दोनो बाइबिलो में बहुत-कुछ वही संबंध हैं जो संबंध वेद और उपनिषद् अथवा वेद और बौद्ध धर्म में हो सकता है। किन्तु, यहूदी लोग नयी बाइबिल को नही मानते। इसी प्रकार, ईसाइयो का विश्वास पुरानी बाइबिल में नही है। मुसलमान जनता दाऊद, मूसा और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, लेकिन, इस्लाम यह स्वीकार नही करता कि हजरत ईसा परमात्मा के पुत्र थे। फिर भी, इन पैगम्बरो के प्रति इस्लाम के बड़े ही आदरयुक्त भाव हैं। मुसलमान हजरत मूसा को कलीम-उल्लाह (प्रभु से बातें करने-वाला), हजरत ईसा को रूह-उल्लाह (प्रभु की आत्मा) और हजरत मोहम्मद को रसूल-उल्लाह (प्रभु का दूत) कहते हैं।

भारत का वैदिक धर्म प्रवृत्तिमार्गी धर्म था। उसमें यज्ञो की प्रधानता थी, पशु-हिंसा निषिद्ध नही थी और यज्ञ लोग इसलिए करते थे कि यज्ञो से वृष्टि होती थी, अच्छी फसल उपजती थी, देवता प्रसन्न और शत्रु दुर्बल होते थे। किन्तु, पशु-हिंसा की अति से जब चिंतको का जी उकताने लगा, तब उन्होने, कर्मकाड-प्रचुर वैदिक धर्म मे से उपनिषदो का ज्ञान-मार्ग निकाला और यही ज्ञान-मार्ग बौद्ध धर्म के अभ्युदय का भी कारण हुआ। नयी बाइबिल का ईसाई धर्म भी, इसी प्रकार, पुरानी बाइबिल मे प्रतिपादित यहूदी-धर्म का सुधरा हुआ रूप है। यहूदी-भाषा (हिब्रू) मे ईश्वर को "इलोहा" (अरबी "इलाह") कहते है। किन्तु, हजरत मूसा ने यहूदियो के मुख्य उपास्य देव का नामकरण "जिहोवा" कर दिया। यह जिहोवा शब्द यहूदी-भाषा का शब्द नही है। वह खाल्दी भाषा के "यवे" (सस्कृत "यल्ह") से निकला बताया जाता है। "यहूदी लोग मूर्त्तिपूजक नही है। उनके धर्म का मुख्य आचार यह है कि अग्नि मे पशु या अन्य वस्तुओ का हवन करे, ईश्वर के बतलाये हुए नियमो का पालन करके जिहोवा को सतुष्ट करे और उसके द्वारा इस लोक मे अपना तथा अपनी जाति का कल्याण प्राप्त करे। अर्थात्, सक्षेप मे कहा जा सकता है कि वैदिकधर्मीय कर्मकाण्ड के अनुसार, यहूदी-धर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। इसके विरुद्ध, ईसा का अनेक स्थानो पर उपदेश है कि "मुझे (हिंसा-कारक) यज्ञ नही चाहिए, मै ईश्वर की कृपा चाहता हूँ।" (मैथ्यू : ९१/२)। "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनो को साथ लेना सभव नही।" (मैथ्यू, ६/२४)। "जिसे अमृतत्व की प्राप्ति करनी हो, उसे बाल-बच्चे छोड कर मेरा भक्त होना चाहिए।" (मैथ्यू, १९।२१)। और जब ईसा ने शिष्यो को धर्म-प्रचारार्थ देश-विदेश मे भेजा, तब सन्यास-धर्म के इन नियमो का पालन करने के लिए उनको उपदेश किया कि "तुम अपने पास सोना-चाँदी तथा बहुत-से वस्त्र-आभरण भी न रखना।"

राजनीति, समाज और साहित्य के समान धर्म मे भी कोई सिद्धान्त अचानक नही निकल पडता। उसकी कुछ-न-कुछ पृष्ठभूमि होती है। वैदिक धर्म से बौद्ध धर्म सीधे नही निकल सकता था। वैदिक कर्मकाड के विरुद्ध प्रतिक्रिया पहले उपनिषदो में ध्वनित हुई और तब उस प्रतिक्रिया ने बौद्ध क्रांति का रूप लिया। इस दृष्टि से देखने पर यह सहसा समझ मे नही आता कि प्रवृत्तिमय यहूदी-धर्म मे से अचानक ईसा का सन्यास-युक्त भक्तिमार्ग कैसे निकल पडा। इसका समाधान यह कह कर किया जाता है कि ईसा से कोई दो सौ वर्ष पूर्व, यहूदियो के बीच एसी या एसीन नामक सन्यासियो का एक पथ आविर्भूत हुआ था, जिसके सदस्य हिंसात्मक यज्ञ-याग को छोड कर अपना समय किसी शात स्थान मे बैठ कर ईश्वर-चिन्तन में विताया करते थे। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ये लोग उदर-पोषणार्थ "खेती के समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्य-मास से परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, सघ के साथ मठ मे रहना और जो किसी को कुछ द्रव्य मिल जाय, उसे पूरे सघ की सामाजिक

आमदनी समझना आदि उनकी मडली के मुख्य तत्त्व थे।" पडितो का अनुमान है कि सन्यास की यह प्रेरणा यहूदी-धर्म में कही वाहर से आयी होगी और इस सवध में पाश्चात्य पडितो को आभास होता है कि वह यूनान के दार्शनिक पिथेगोरस के अनुयायियों की देन रही होगी। किन्तु, इतना कहने से समस्या का पूरा समाधान नही होता। यह सच है कि पिथेगोरस पर भारतीय विचार-धारा का प्रभाव खूब पडा था, किन्तु, ईसाई धर्म और बौद्ध धर्म में समानता इतनी अधिक है कि उसे बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव माने विना चल नही सकता। जीवो पर दया तथा सब के साथ मैत्री, करुणा और अहिंसा का व्यवहार, पाप से घृणा और पापी से प्यार, सन्यास और यती-वृत्ति, साधुओ का मठो में रहना और लवा झूल पहनना, ये सारी बातें ऐसी है जिनका प्रवर्तन और प्रचलन जैन एव बौद्ध साधुओ ने किया था। और तो और, जिस क्रास को ईसाई लोग सूली का चिह्न जान कर धर्म-भाव से धारण करते हैं, वह स्वस्तिक-चिह्न के सिवा और कुछ नही है। वैदिक तथा बौद्ध धर्मवाले भारतीय, ईसा के सैकडो वर्ष पूर्व से ही, स्वस्तिक-चिह्न को पवित्र और शुभदायक मानते आये थे। अजब नही कि स्वस्तिक का प्रचार सभी देशो में ईसा के पहले से ही रहा हो। फिर वही चिह्न ईसाई धर्म का चिह्न हो गया।

ईसा और बुद्ध के जीवन में भी विलक्षण समानता है। बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व बुद्ध को मार की चढाइयो का सामना करना पडा था। और ईसा को भी शैतान ने लुभाने के अनेक प्रयत्न किये थे। ईसा ने सिद्धि-प्राप्ति के पूर्व चालीस दिनो का उपवास किया था। बुद्ध के विषय में भी कथा है कि नेरजना-नदी के तट पर सुजाता के हाथो खीर खाने के दिन से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति के समय (अर्थात् ४९ दिनो) तक उन्होंने वायु के सिवा कोई आहार नही लिया। बुद्ध ने अगुलिमाल डाकू का उद्धार किया एव वेश्या अम्बपाली को सन्यासिनी बनाया। ईसा द्वारा भी शरणागत चोरो और वेश्याओ के सदगति दिये जाने की कथा कही जाती है। वस्तुत, ईसा और बुद्ध के व्यक्तित्व तथा उपदेशो में इतनी अधिक समता है कि लोग यह अनुमान लगा बैठे हैं कि, हो-न-हो, ईसा अपनी साधना के दिनो मे भारत आये थे और उन्होंने यहाँ के साधुओ की सगति की थी तथा बौद्ध धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया था।[1]

---

१. (क) था शिष्य ईसा हिंदुओ का यह पता भी है चला।
ईसाइयो का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला। (भारत भारती)

(ख) 'नैपाल के एक बौद्ध मठ के ग्रथ में यह स्पष्ट वर्णन है कि उस समय ईसा हिंदुस्थान में आया था और वहाँ उसे बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ग्रथ निकोलस नोटोविश नाम के एक रूसी के हाथ लग गया था। उसने फ्रेंच भाषा मे उसका अनुवाद सन् १८९४ ई० मे प्रकाशित किया है।" (गीतारहस्य परिशिष्ट-भाग, ७)

(ग) There was a book written a year or two ago by a Russian gentleman, who claimed to have found out a very curious

किन्तु, यह अनुमान ही अनुमान है। इस बात का निश्चित पता तो अब तक भी नही चला है कि ईसा भारत आये थे या नही। हाँ, यह सत्य है कि ईसाई धर्म का विकास बुद्ध के प्रयोगो की दिशा मे हुआ है और इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है, क्योकि यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस भू-भाग मे ईसाई धर्म उठा, वहाँ ईसा के बहुत पूर्व से ही, बौद्ध साधुओ का आना-जाना जारी था। आरभ मे ईसाई धर्म मे भी त्याग, सन्यास और साधना का वही महत्त्व था जो भारतीय अथवा एशियाई धर्मों का लक्षण है। किन्तु, जब ईसाइयत यूरोप पहुँची, उसके रूप-रग बदल गये। वह सासारिकता के बहुत समीप आ गयी। अतएव, ईसाई धर्म के दो रूप देखने मे आये। एक तो वह जो एशियाई और मौलिक था। दूसरा वह जो यूरोपीय और सासारिकता से अनति दूर था। भारत मे ईसाइयत के इन दोनो रूपो का आगमन हुआ। एशियाई रूप तो, शायद, ईसा के दो-तीन सौ वर्ष बाद ही पहुँच गया था। भारत के ये ईसाई सीरियन ईसाई कहलाते है, क्योकि अपना धर्म उन्होने सीरिया से लिया था। किन्तु, ईसाइयत का यूरोपीय रूप भारत मे पुर्तगालियो के साथ आया।

पुर्तगालियो से पहले, ईसाई धर्म का भारत मे यथेष्ट आदर था। दक्षिण के हिन्दू राजे गिरजा-घरो की भी सेवा, उसी प्रकार, करते थे जैसे हिन्दू-मन्दिरो की। गिरजा-घरो के लिए भूमि का दान दिया जाता था और ईसाई सन्तो की सुविधा और सत्कार के लिए भी दान दिये जाते थे, यह प्रमाणित बात है। ईसाई धर्म के सम्मुख बाधा तब आयी, जब भारतीय जनता ने पुर्तगालियो के दुर्व्यवहार देखे और जब अँगरेज यहाँ के शासक हो गये। जब ईसाइयत शासको का धर्म हो गयी, भारतीय जनता का चौकन्ना हो जाना बिलकुल स्वाभाविक हो गया।

यह ठीक है कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा के पहले भी अँगरेज शासक ईसाई धर्म-प्रचारको की सहायता खुल कर नही करते थे, किन्तु, धर्म-प्रचारक शासक जाति के है, इस बात की कोई काट नही थी। इसके सिवा, यह बात भी शासको के मन में अवश्य थी कि धर्म-प्रचारक भारत मे अच्छा कार्य कर रहे है, अतएव, उन्हें सफलता मिलनी चाहिए। धर्म-प्रचारक शासक जाति के थे, इसलिए, जनता पर उनका रोब, आप-से-आप, जम जाता था।

---

life of Jesus Christ and in one part of the book he says that Christ went to the temple of Jagannath to study with the Brahmins, but, became disgusted with their exclusiveness and their idols and so he went to the Lamas of Tibet instead, became perfect and went home"

(विवेकानन्द, द मेसेज आव् इडिया)

सौभाग्य की बात

उन्नीसवी सदी के आरम्भ-काल मे भारतीय जनता का अत्यन्त बुरा हाल था। हिंदुत्व की तो अवस्था ऐसी जर्जर और विषण्ण थी कि वैसी अवस्था उसकी पहले कभी नही हुई थी और, ऐसे समय मे, एक ऐसी जाति 'भारत का शासक' हो गयी, जो पुरुषार्थ में प्रवीण, साहस मे अग्रणी और लोभ में अतिशय प्रचण्ड थी। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी जो इग्लैण्ड भारत आया था, वह टयूडर या स्टूअर्ट काल का इग्लैण्ड नही था। टयूडर और स्टूअर्ट कालीन इग्लैंड मे धार्मिक जोश बहुत अधिक था। यदि उन्नीसवी सदी में भी इग्लैंडवालो मे वही धर्मोन्माद रहा होता, तो भारत मे हिन्दुत्व और इस्लाम, दो मे से एक भी जीवित रहता या नही, यह सदिग्ध है। किन्तु, सौभाग्य से उन्नीसवी सदी तक इग्लैंडवाले बहुत कुछ सुधर चुके थे। यूरोपीय रिनासाँ के समय से यूरोप में उदार भावनाओ का जो विकास होता आया था, उन्नीसवी सदी तक वे यूरोप के चिन्तकों और शिक्षित लोगो के बीच भलीभाँति पच-खप गयी थी। फ्रासीसी राज्य-क्राति का भी सास्कृतिक प्रभाव लोगो की उदारता को विकसित करनेवाला सिद्ध हुआ। विज्ञान के जो नाना आविष्कार हुए, उनके फलस्वरूप भी, यूरोप मे बुद्धिवाद का जोर बढा और दार्शनिक चिन्तनो के कारण, यूरोप के पडितो मे यह भाव जगा कि धार्मिक उन्माद ठीक नही है। सभव है, हमारे धर्म मे जितनी गहराई है, दूसरे धर्मों मे उससे कुछ अधिक गहराई हो। ये गुण ईसाइयत के विरोधी तो नही थे, किंतु, इतना अवश्य था कि अब यूरोपवाले अपने धर्म के फैलाने के लिए अधिक जोर-जबर्दस्ती नही करना चाहते थे। यही कारण है कि इस्लाम के प्रचार के लिए भारत में जो वर्बरता बरती गयी थी, उसका सहस्राश भी ईसाइयत के प्रचार मे दिखायी नही पडा। अपने धर्म-बन्धुओ के बीच अन्य धर्मो का प्रचार किसी को भी अच्छा नही लगता, किन्तु, तब भी ईसाई शासको और प्रचारको का शील भारत म कभी भी बहुत निन्दित नही हुआ। यही कारण है कि हमारे अँगरेजी पढे-लिखे विद्वान् जब क्रूरता के लिए किसी की निन्दा करते है, तब उनके मुख से अ-ईसाई या अन-क्रिश्चियन शब्द निकल जाता है। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि हम भारतवासी ईसाइयत को आदमी का अच्छा गुण और ईसाई धर्म को, अपनी जगह पर, अच्छा धर्म समझते है।

ईसाइयत और हिन्दुत्व का संघर्ष

यह भी सोचने की बात है कि भारत में ईसाई धर्म का लगातार प्रचार सन् १५०० ई० से होता आया है। औरगजेब के बाद से तो, दिनो-दिन, भारत की राजनैतिक स्थिति बिगडती ही गयी और ईसाइयो को घटते पानी में मछली मारने का काफी अवसर मिला। किन्तु, इसका लाभ उन्हें बहुत ही कम पहुँचा है। दो सौ साल के अँगरेजी राज्य में ईसाई धर्म-प्रचारको ने कोई बात उठा नही रखी। फिर भी, सारे भारत में ईसाइयो की सख्या

आज साठ लाख से अधिक नही है और इनमे भी, प्राय:, सब-के-सब वे ही लोग हैं जो हिन्दुत्व के अन्दर छोटी जातो में गिने जाते थे अथवा जो आदिवासी और वन्य होने के कारण प्रचलित हिन्दू-वृत्त से दूर थे। इस्लाम का प्रचार भी इसी वर्ग के भीतर हुआ था, किन्तु, मुसलमान कुछ अच्छे हिन्दू भी हुए थे। किन्तु, कितने उच्चवशीय हिन्दू या मुसलमान क्रिस्तान हुए हैं, इस प्रश्न का उत्तर नगण्य है। भारत में धर्म-परिवर्तन, मुख्यत, उन्ही लोगो ने किया है जो हिन्दुत्व के भीतर अनादृत और त्रस्त थे, जिनकी सुधि लेनेवाला कोई नही था। इतने आलोडनो और झकोरो की चपेटे खाने के बाद भी हिन्दू-जाति की धर्म-प्राणता ढीली नही हुई। और बातो मे वह चाहे जिसे भी अपना गुरु मान ले, किन्तु, धर्म के क्षेत्र में वह अब भी अपने को निखिल भूमडल का गुरु समझती है।

एबी दुबोय (Abbe Dubois) ने सन् १८१५ ई० में धर्म-प्रचार-सबधी अपना जो अनुभव लिखा, उससे ज्ञात होता है कि तब तक भारत मे ईसाइयत को फैलने की राह नही मिल रही थी। वह लिखता है कि "मैंने आँसू तो बहुत बहाये, किन्तु, वे नंगे पत्थरो पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थे, उनमे से दो-तिहाई धर्म को छोडकर अपने मूल-वृत्त मे वापस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं, उनकी सख्या केवल ३३००० है। साठ साल से हम लोग प्रचार कर रहे है, किन्तु, उच्चवर्गीय हिन्दुओ पर हमारा कोई प्रभाव नही पडा है। पिछले तीस वर्षो मे हमने केवल तीन सौ लोगो का धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमे से दो सौ तो केवल अछूत हैं। हिन्दुओ का धर्म बदलना आसान नही है। इनके बीच प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही, सारी जनता विरोध में खडी हो जाती है। जिस दिन सरकार इस काम में हाथ डालेगी, उसी दिन उसके राजनैतिक अस्तित्व का लोप हो जायगा।"[1]

किन्तु, हिन्दुत्व का यह अवरोध उस समय था, जब अँगरेजी शासन भारत मे ठीक से अपनी जड नही जमा सका था। जड के जमते ही, बाते बदलने लगी और धर्म-प्रचारको का आगमन अधिकाधिक संख्या में होने लगा। शासन खुल कर तो उनके साथ नही था, किन्तु, वह काफी बचाव के साथ, उन्हे पूरा प्रोत्साहन दे रहा था। अँगरेजो को आशा थी कि भारतवर्ष एक-न-एक दिन अवश्य ईसाई हो जायगा।

धर्म-प्रचारको पर जो प्रतिबध था, वह सन् १८१३ ई० मे उठा लिया गया। फिर तो, सारा उत्तरी भारतवर्ष ईसाइयत के प्रहारो के लक्ष्य मे आ गया। कैरी, डफ और विलसन के नेतृत्व मे सारा धर्म-प्रचारक-समुदाय हिन्दू-समाज पर टूट पडा और, इस बार, वह अपना लक्ष्य उच्चवर्गीय हिन्दुओ को बनाने लगा। अँगरेजी शिक्षा से, कदाचित्, उन्हे कुछ विशेष आशा हो चली थी। अतएव, बाइबिल के उपदेश और

---

१. माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट

सडको तथा गलियो में भाषण, यह आम बात हो गयी। इसी काल में मिशनरियों ने अनेक कालेजों की स्थापना की। कलकत्ते के बिशप कालेज और डफ कालेज (अब चर्च असेम्बली कालेज), त्रिचिनापल्ली के बिलसन और एस० पी० जी० कालेज, ये सारी सस्थाएँ इसी काल मे खुली और शिक्षा के माध्यम से ये ईसाई-धर्म का प्रचार करने लगी।

इस आन्दोलन का प्रभाव ईसाइयो के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ। कहते है, सन् १८१५ ई० मे ईसाइयो की सख्या भारत मे कोई दो लाख तक पहुँच गयी थी। शिक्षा के साथ-साथ ईसाई धर्म जिस प्रकार फैलने लगा था, शायद, उसीको देखकर मेकाले ने कहा था कि थोड़ी-सी पाश्चात्य शिक्षा से ही बंगाल में मूर्त्ति पूजनेवाला कोई नहीं रह जायगा।" और ईसाई पादरी, मेकाले की इस आशा से, पूर्ण रूप से सहमत थे। चर्चो की एक सभा के समक्ष, सन् १८३५ ई० मे डाक्टर डफ ने यह घोषणा की थी कि "जिस-जिस दिशा में पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करेगी, उस-उस दिशा में हिन्दुत्व के अंग टूटते जायँगे। और अन्त में जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अंग साबित नहीं रहेगा।" उन्ही दिनो, लार्ड शाफ्ट्सबरी ने कहा था कि "जो भी हिन्दू, ईसाई परमात्मा का ध्यान करेगा, वह ब्रह्मा और विष्णु को स्वयमेव भूल जायगा।" और, सत्य ही, अँगरेजी शिक्षा हिन्दुत्व की प्रचडतम शत्रु होती जा रही थी।

हिन्दुत्व में कंपन

हिन्दुत्व का स्वभाव रहा है कि वह कठिनाइयो के अभाव मे भी सो जाता है और निद्रा उसकी तब टूटती है, जब उसके अग पर वज्राघात किया जाय। ईसाई लोग, काफी अर्से से, अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे, किन्तु, हिन्दुत्व की नींद नही टूटी थी। यही देख कर धर्म-प्रचारको का मनसूबा बढता जा रहा था। किन्तु, धीरे-धीरे, वज्राघात का समय आ गया। अँगरेजी शिक्षा से जो प्रकाश निकला, उससे हिन्दू युवक, सभी दिशाओ से मुड कर, केवल पश्चिम की ओर देखने लगे। उन्होने जो दृष्टि प्राप्त की, उससे पूरब के ससार में उन्हें केवल दोष-ही-दोष दिखायी देने लगे। और यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी। उपनिषदो के युग मे और बौद्ध काल में भारत के मनीषियो ने जो सूक्ष्म चिन्तन किया था, जिस प्रकार शकाओ, प्रश्नो और बौद्धिक समस्याओ का सामना किया था, उसकी कहानी अब किसी को याद नही थी। सिद्धो और निर्गुणियाँ सन्तो ने क्रांति की जिस मशाल को जीवित रखा था मोगलकालीन विलास से वह भी बुझ चुकी थी। कबीर के बाद न तो भारत मे विचारो का कोई क्रान्तिकारी सन्त जनमा था, न तुलसी और कृष्ण-चैतन्य के बाद, उनके समान कोई भक्त। हिन्दुत्व सिमट कर पौराणिक हो गया था और अन्ध-विश्वास को छोड़ कर उसका कोई और रूप दिखायी नही देता था।

इधर, अँगरेजी पढ कर जो हिन्दू नवयुवक तैयार हो रहे थे, उनका मस्तिष्क बुद्धिवादी तर्कों से भरा हुआ था। वे मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नही मानना चाहते थे। तीर्थों और मन्दिरो के पीछे किसी आध्यात्मिक सत्य का पता उन्हे नही चलता था, न वे धर्म के हिन्दू-अनुष्ठानो को बुद्धि से समझ सकते थे। एक तो उनके मन मे बुद्धिवाद का जोर था और उनका हृदय उदारता और क्रान्ति के भावो से भरा हुआ था; दूसर, उनके कान मे अनवरत ईसाई धर्म-प्रचारक हिन्दुत्व की निन्दा की वृष्टि कर रहे थे।[1] हिन्दू-धर्म पर, चारो ओर से, आलोचना के वाण वरस रहे थे, किन्तु, उनका उत्तर देनेवाला कोई नही था। हिन्दू-धर्म का नेता पडा और पुरोहित-वर्ग था, जिसकी सबसे वडी पूँजी रूढियाँ और अन्ध-विश्वास थी। भला, यह वर्ग क्या कह कर निन्दको को जवाब देता?

नव-शिक्षित युवक

निदान, हिन्दू-कालेज से निकला हुआ युवको का पूरा-का-पूरा दल, एकदम, वहक गया और वह वडी ही निर्ममता के साथ, ठीक उसी प्रकार, हिन्दुत्व की निन्दा करने लगा, जिस प्रकार से ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये नौजवान प्रतिमा-भंजक क्रातिकारी थे। उन्होने, सचमुच ही, मूर्त्तियो पर तो हाथ नही उठाया, किन्तु, अपने पूर्वजो के धार्मिक और नैतिक असवावो पर उनकी कोई श्रद्धा नही रह गयी। घर-घर मे यह विवाद छिड गया कि ईश्वर को मानना ठीक है या नही। ईश्वर साकार है या निराकार? मन्दिरो में जाना अन्ध-विश्वास और मूर्त्ति की पूजा रूढि की आराधना क्यो नही है? जाति की प्रथा दूपित और सारा हिन्दू-धर्म ही कलकित और दोषपूर्ण क्यो नही माना जाय? उनका निश्चित मत हो गया कि पुराण की कथाएँ गप्पो के अम्बार है और यज्ञोपवीत, चन्दन, कठी, माला और शिखा, ये फालतू चीजे है।

---

१ (क) "वह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवताओ के समान नही है जो मर-मिटे है। रामचन्द्र लक्ष्मण के शोक में सरजू नदी मे डूब मरा। कृष्ण प्रभास-तीर्थ के वन मे भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। विष्णु को शिव, जो उसके काले वाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय मे प्राण तजा। इस रीति से सब देवता, जिन पर तुम मुक्ति की आशा रखते हो, मर-मिटे।"

(ख) "मै बुरा तो हूँ, परन्तु, देवताओ से बुरा तो नही हूँ। वरन्, उनसे कही भला हूँ। शिव के समान जाति से अनादरित और अप्रतिष्ठित नही हुआ और ब्रह्मा की नाई कामातुर हो के अपनी कन्या से कुकर्म नही किया और विष्णु की नाई पराई स्त्री को नही ठगा और उनके अवतारो की रीति प्रतिज्ञा-भजक और निर्दोपियो को घातक और नास्तिक मत और अधर्म का उपजायक नही हुआ और इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नही किया।"

(श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक साहित्य में उद्धृत)

जो नौजवान कुछ अधिक जोशीले थे, उन्होने कस कर मदिरा-पान करना आरभ किया और अपने पिता, चचा और बाधवो को वे यह दिखलाने लगे कि हम तुम से सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी अधिक उन्मत्त नवयुवक बीसियो प्रकार से अपने बाप-दादो को चिढाने लगे और मन्दिरों मे गोमास अथवा गाय की हड्डी फेंक देना आम बात हो गयी। इस स्थिति पर विलाप करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि बच्चा जभी पढ़ने को स्कूल भेजा जाता है, पहली बात वह यह सीखता है कि उसका बाप बेवकूफ है, दूसरी बात यह कि उसका दादा दीवाना है, तीसरी बात यह कि उसके सभी गुरु पाखण्डी हैं और चौथी यह कि सारे-के-सारे धर्म-ग्रन्थ झूठे और बेकार है।

इन युवको में से जो अधिक विचारवान् थे, उन्होने भी घोषणा कर दी कि हिन्दुत्व के नवीन और प्राचीन, वैदिक और पौराणिक, साकारवादी और निराकारवादी, सभी रूप व्यर्थ हैं। पाठ्य-क्रम मे धर्म का स्थान नही रहने के कारण इन्हे अपने धर्म से तनिक भी परिचय नही था। सस्कृत भाषा से वे अनभिज्ञ थे। यदि सस्कृत ये पढते भी थे तो काव्य और नाटक के लिए। इसके विपरीत, उन विज्ञान-सम्मत विचारो से ये ओत-प्रोत थे, जिनकी कसौटी पर यूरोप मे भी धर्म की आलोचना चल रही थी। फिर, अपने धर्म की ये निन्दा भी काफी सुन रहे थे। परिणाम यह हुआ कि धर्म के मामले में वे बिलकुल शून्य मे जा लटके। ये लोग अपने को मुक्त चिन्तक कहते थे। विचारो से वे अँगरेजो की सन्तान हो गये थे, किन्तु, सामाजिक दृष्टि से वे किसी समाज के सदस्य नही थे। अपने घर मे वे विदेशी थे। अपने गाँव मे उनका कोई आत्मीय नही था। ये ठीक उसी प्रकार के भारतीय थे, जिनकी कल्पना मेकाले ने की थी—तन से भारतीय, किन्तु, मन से अँगरेज। ये ही वे शिक्षित युवक थे, जिन्हे देखकर शासको और धर्म-प्रचारको को यह आशा हो चली थी कि भारतवासियो को क्रिस्तान बनाने के लिए किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नही है, उन्हे केवल अँगरेजी पढाना काफी होगा। इनकी वाणी, इनके विचार और इनके व्यवहार से सारा सिन्दू-समाज दु खी हो उठा और वे हिन्दुत्व के सबसे बडे शत्रु माने जाने लगे। पर्सिवल ने अपनी "लैण्ड आव् द वेदाज़" नामक पुस्तक में तत्कालीन एक समाचार-पत्र का उद्धरण दिया है, जिसमें सपादक ने कहा था कि "क्या हिन्दू-कालेज में एक नये ढग के मनुष्यो की नीव नही रखी जा रही है? हिन्दू-कालेज से समाज की धार्मिक भावनाओ को जैसी गहरी ठेस पहुँची है, क्या उसका शताश भी मिशनरियो के आन्दोलनो से पहुँची थी?"

जहाँ शून्य होता है, वही अवाछित वस्तुएँ अपनी राह बनाती है। इन मुक्त चिंतको ने जब हिन्दू-धर्म मे अपनी जगह छोड दी, तब वे क्रिस्तान भी होने लगे। किन्तु, धर्म-परिवर्तन वे इसलिए नही करते थे कि ईश्वर में उनका अटल विश्वास था अथवा आत्मा के लिए वे उपयुक्त वातावरण खोज रहे थे। अक्सर, धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य सामाजिक

सुविधा होती थी।[1] बहुतो ने इसलिए भी धर्म छोडा कि हिन्दू-समाज मे जाति की कड़ी प्रथा और पर्दे का रिवाज था। इस दोनो नियत्रणो के रहते हुए प्रेम की लीला मानो-वाछित ढग से नही चल सकती थी। स्वय माइकेल का भी धर्म-परिवर्तन पेट से अधिक प्रेम के कारण हुआ था। यूरोपीय रोमाटिक कविताएँ और कहानियाँ तथा नाटक पढकर युवको में उद्दाम प्रेम की तृषा जागी और उसकी तृप्ति की राह हिन्दू-समाज मे अवरुद्ध देखकर, उनमे से कितने ही लोग ईसाई हो गये। दिमाग मे स्वतत्र विचारो के तूफान और दिल में जवानी की रगीन उमगे, किन्तु, सारा समाज पर्दे की प्रथा से पीडित ! निदान, युवको ने प्रेम के कारण भी अपने धर्म का परित्याग किया।

भारतीय युवको मे जो उच्छृखलता दिखायी पड़ी, वह ईसाई धर्म का परिणाम नही थी। धर्म का काम मनुष्यो को उच्छृखल बनाना नही, न ईसाई धर्म इस नियम का अपवाद है। उच्छृखता का कारण यूरोपीय साहित्य में अभिव्यक्ति निर्बन्ध विचार थे। उच्छृखलता का कारण यूरोप से गृहीत यह विश्वास था कि, धर्म की ही अथवा व्यवहार की, कोई भी ऐसी बात मानने योग्य नही है जो बुद्धि की पकड़ मे नही जाती हो। भारतवर्ष में मुक्त चिन्तन का मार्ग कई सौ वर्ष पहले ही अवरुद्ध हो चुका था। धर्म और समाज, दोनो ही क्षेत्रो मे भारतवासी अपने शास्त्र को देखकर चलते थे और शास्त्र के मानी वे सभी पुराण भी थे, जिनमें परस्पर-विरोधी बाते गूँथी हुई थी। भारतवासियो की बुद्धि इतनी जड हो गयी थी कि कोई यह सोचता ही नही था कि छुआछूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा-विवाह नही होने देना नारी-जाति के प्रति अन्यान्य है, कि शूद्र और नारी को वे ही अधिकार मिलने चाहिए जो उच्च वर्णो के पुरुषो को प्राप्त हैं। समाज मे भ्रूण-हत्याएँ चलती थी, बालिकाओ का वध चलता था, जहाँ-तहाँ सती की प्रथा भी कायम थी और लोग छिप कर नीच जाति की स्त्रियो से सबध भी करते थे। किन्तु, इन बातो के खिलाफ समाज मे कोई नही सोचता था। तीर्थो मे व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। महन्तो के घर पापाचार के आश्रय थे और मूर्त्तियो को पुजवानेवाले

---

१ "एक बार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त किसी काम से दक्षिणेश्वर आये थे। वे अपने काम को समाप्त करके श्री रामकृष्ण से भेंट करने गये। शास्त्रीजी (नारायण शास्त्री) उस समय वही थे। शास्त्रीजी ने माइकेल से खिस्ती-धर्म स्वीकार करने का कारण पूछा। माइकेल बोले, "मैंने पेट के लिए ऐसा किया।" इस उत्तर को सुन कर शास्त्रीजी क्रोध मे आकर बोल उठे, "क्या इस क्षणभगुर ससार मे पेट की खदक को भरने के लिए अपने स्वधर्म का त्याग किया ? धिक्कार है ऐसे मनुष्य को। एक दिन मरना तो है ही। यदि अपने धर्म म रहते हुए ही आप मर जाते तो क्या ससार सूना हो जाता ?" माइकेल के चले जाने पर शास्त्रीजी ने श्री रामकृष्ण के दरवाजे पर कोयले से लिख दिया, "पेट के लिए स्वधर्म त्यागनेवालो को धिक्कार है।"

(रामकृष्ण-लीलामृत, प्रथम भाग)

पड़े विलास में डूबे हुए थे। किन्तु, इन बातों का रोकनेवाला कोई नहीं था। सब समझते थे कि इन्हें रोकने से धर्म का अपमान होगा।

यूरोप से जो ज्ञान आया था, उसके प्रकाश में वे लोग समाज की बुराइयों और धर्म की रूढियों को स्पष्ट देखने लगे, जिन्हें अँगरेजी की शिक्षा मिली थी। यूरोप और भारतवर्ष की टकराहट से एक बार फिर वह भाव सोते से जग पड़ा जो बुद्ध के समय प्रकटा था, जो कबीर के समय प्रत्यक्ष हुआ था और लोग, गंभीरता से, धर्म और समाज के ढाँचे पर एक बार फिर उसके, मूल से ही, सोचने लगे। किन्तु, ये चिंतक सामान्य कोटि के लोग थे। असल में, उन्हें चिंतक कहना भी नहीं चाहिए। वे शंकाओं से त्रस्त छोटे-छोटे मनुष्य थे, जिन्हें हिन्दुत्व की हर चीज छूँछी और निस्सार दिखायी देती थी, जो अपने समाज और धर्म की कुरूपताओं से शरमाये हुए थे और जिन्हें इस रहस्य का तनिक भी पता नहीं था कि बुद्धिवाद और उदारता के तत्त्व भी हिन्दुत्व में विद्यमान है।

इन नव-शिक्षितों की मनोवृत्ति पराजितों की मनोवृत्ति हो गयी और अपने ईसाई शिक्षकों, ईसाई दोस्तों एवं अँगरेजी से रौशन दिमागवालों के सामने अपने मस्तक को उठाये रखने के लिए उन्होंने खुल कर अपने धर्म की भर्त्सना आरंभ कर दी। धर्म-त्याग इनमें से थोड़े ही लोगों ने किया। किन्तु, जो किसी भी कारण से अपने धर्म के भीतर रह गये, वे भी हिन्दुत्व को निर्ममता से झकझोरने लगे। ये भारत में प्रविष्ट यूरोप के नवीन विचारों के आरंभिक नेता थे और घर, छात्रावास, गाँव, शहर एवं विद्यालयों में इनकी जो बकवास चलती थी, उससे हिन्दुत्व का पक्ष, दिनोंदिन, कमजोर पड़ता जा रहा था और ईसाई धर्म का मार्ग प्रशस्त होता जाता था।

किन्तु, एक बात हुई जिससे ईसाई धर्म का मार्ग, पूर्णत, नहीं खुला। और वह बात यह थी कि भारत के नव-शिक्षित युवक हिन्दू-धर्म की निन्दा और ईसाइयत की प्रशंसा चाहे जितनी भी करते हो, किन्तु, स्वयं उनके भीतर धार्मिकता का कोई चिह्न नहीं था। हैट-बूट से सुसज्जित घोर रूप के संसारी मनुष्य थे, जिनके आमिष-भोजन और मदिरा-पान की कहानियाँ सर्वत्र प्रचलित थीं। भारत में धर्म के साथ एक प्रकार की फ़कीरी, एक प्रकार का आत्म-त्याग और अपरिग्रह का भाव सदा से वर्त्तमान रहा है। अतएव, इन बकवासी युवकों का भारतीय जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे, वह उनसे घृणा करने लगी।

इस घृणा के शिकार ईसाई धर्म-प्रचारक भी हुए। भारत में इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारों की तुलना करने पर एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि इस देश में इस्लाम का अधिक प्रचार इसलिए भी संभव हुआ कि उसके प्रचारक सूफ़ी सन्त थे, जो सांसारिकता से दूर थे, जो अपने शरीर को कष्ट में रखने के अभ्यासी थे, जिनका राज-दरबारों से कोई संबंध नहीं था और जो मुसलमानों के गिरोह के आदमी नहीं थे। इसके विपरीत, ईसाई धर्म-प्रचारकों को यहाँ की जनता ने संन्यासी नहीं समझा। जनता को वे नये

शासन की धार्मिक सेना के सिपाही नजर आये। सूफियो और सन्यासियो के जीवन की सरलता और तपश्चर्या यदि ईसाई प्रचारको के जीवन मे रही होती तो, निश्चय ही, उन्हे अधिक सफलता मिली होती और हिन्दुत्व का अधिक विनाश हुआ होता। हिन्दू-जनता बराबर उस आदमी को पूजती है जो इच्छा मात्र से ससार त्याग कर सन्यास ले सके। ईसाई प्रचारको मे इस त्याग का अभाव था और जनता को यह शका हो गयी थी कि ये प्रचारक, मौका पाते ही, गद्दीनशीन भी हो सकते है।

हिन्दुत्व पर आक्रमण का काम इसलिए भी कठिन है कि हिन्दू-धर्म रेजिमेंटेशन (जकडबन्दी) से घृणा करता है। इस धर्म का दार्शनिक पक्ष अधिक-से-अधिक उदारता को मनुष्य का उत्तम गुण मानता है। अपने विचारों के लिए उचित से अधिक आग्रह करना, दूसरो के धर्म, मत या विचार का निर्ममतापूर्वक अनादर करना अथवा अपने विश्वास पर कट्टर होकर खड़ा रहना, ये बाते हिन्दुत्व के खिलाफ है और प्रत्येक हिन्दू अपने अन्तर्मन मे ऐसा काम करनेवालो का अविश्वास करता है। ईसाई धर्म-प्रचारक प्रचार के उत्साह मे आकर इस प्रकार के काम खूब करते थे। अतएव, यहाँ की जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त नही हो सका। जिस प्रकार, अँगरेज शासक भारत में राज करते हुए भी इग्लैण्ड मे ही बने रहे, उसी प्रकार, ईसाई प्रचारक भी यहाँ की जनता के झुड मे प्रवेश नही पा सके।

चूंकि ईसाई प्रचारक भारतीय समाज से अलग रहते थे, इसलिए, जनता को यह जानने का अवसर नही था कि उनके वैयक्तिक जीवन में कितनी सरलता और कितना तप है। उनकी प्रशसा करनेवाले नव-शिक्षित हिन्दुओ ने समाज मे अपने आचार का जो प्रमाण दिया, वही आचार ईसाई पादरियो का भी मान लिया गया और, दोनों के दोनो, भोगवादी समझे जाकर आँखो से उतार दिये गये। गागुली नामक एक बगाली ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया था और धर्म-प्रचारको मे उसका आदर भी यथेष्ट था। सन् १८६० ई० मे उसने लिखा था कि "ईसाई धर्म के विषय मे हिन्दुओ का यह ख्याल है कि ईसाई होने के लिए यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-पिता से दुर्व्यवहार करें[1], गाय और सूअर का मास खाये तथा मदिरा का पान करे। यह भी कि ईसाई होने की दूसरी शर्त यह है कि आदमी भी जानवरो के समान खाने के बाद मुँह नही धोये और उन सारी चीजो से घृणा करे जो हिन्दुत्व से सबद्ध है, चाहे वे सुन्दर और उपयोगी ही क्यो न हो।"

---

१. यह उदाहरण अधिकतर उन लोगो ने उपस्थित किया, जिन्हे इग्लैंड या यूरोप जाने का अवसर मिला था। वहाँ से लौटने के बाद ये युवक अपने पिता को प्रणाम करने में शरमाते थे और अगर अपने साथ वे मेम लाते तो माँ-बाप को छोड़ कर अलग घर बसा लेते थे।

ईसा का एशियाई रूप

भारत में ईसाइयत अँगरेजो के प्रताप के काल मे भी उतना नही फैल सकी, जितने की आशका थी और इसका सबसे बडा कारण यह था कि वह भारतीयता का वरण करने मे असमर्थ रही। ईसाई धर्म इस देश को यूरोप बनाना चाहता था। सन् १६३१ ई० मे प्रोफेसर शेषाद्रि ने एक बार कहा था कि भारतीय ईसाई ईसाई होते ही मास खाना, हैट पहनना, शराब पीना और भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से अपने-आप को अलग रखना आवश्यक समझने लगते हैं। आरभ में, स्वय गाधीजी भी यह समझते थे कि जो आदमी ईसाई बनना चाहता हो, उसे गोमास खाना, शराब पीना और यूरोपीय लिबास पहनना ही पडेगा। केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाजी थे। किन्तु, विचारो मे वे सोलह नही तो बारह आने क्रिस्तान अवश्य थे। किन्तु, उन्हे भी ईसाइयत का यह पाश्चात्य रूप खटकता था। उन्होने एक बार कहा था कि "लगता यह है कि ईसा हम लोगो के बीच अँगरेज बन कर आये हैं। उनके रग-ढग और तौर-तरीके अँगरेजी हैं। उनका मिजाज और उनकी आत्मा भी अँगरेजो का मिजाज और अँगरेजो की आत्मा है। इसीलिए, हिन्दू उनसे बिदकते है। यदि आप ईसा को हमारे बीच लाना ही चाहते हैं तो उन्हें सुसभ्य यूरोपीय व्यक्ति बना कर मत लाइये। बल्कि, उन्हे एशिया के सन्त के रूप में भेजिये, जिसकी सारी पूंजी उसकी समाधि और जिसका सारा धन उसकी प्रार्थना में है।"

स्वय विवेकानन्दजी महाराज को तत्कालीन शिक्षित युवको से घोर असतोष था। "तुम बकवास करते हो, आपस में विवाद और झगडे करते हो तथा उन सभी वस्तुओ की खिल्ली उडाते हो जो हमारे लिए पवित्र हैं। तुम्हे इसका ध्यान ही नही है कि प्राचीरो के बाहर असख्य भारतीय जनता उस अमृत की एक बूंद पीने को बेचैन है जो हमारे प्राचीन शास्त्रो मे भरा पडा है।"[१] ईसा का यूरोपीय रूप विवेकानन्द को भी पसन्द नही था। अपने भाषण में उन्होने कहा था कि "लोग अक्सर यह भूल जाते है कि ईसा एशियाई थे। वे चित्रो मे ईसा की आँखें नीली और बाल पीले दिखलाते हैं। किन्तु, इससे कुछ आता-जाता नही। ईसा तो फिर भी एशियाई ही है। बाइबिल में जो उपमाएँ हैं, जो चित्र हैं, जो दृश्य, प्रवृत्ति, काव्य और प्रतीक हैं, वे एशिया के हैं, पूर्वी विश्व के हैं। बाइबिल का आकाश चमकीला है, उसके वातावरण मे गर्मी है, उसके भीतर मरु-प्रदेश का सूर्य हैं, उसके भीतर प्यासा आदमी और पिपासित जीव हैं। बाइबिल में उन कूपो का उल्लेख है, जिनसे पानी लेने को नर और नारियाँ दूर गाँवो से आते हैं।—ये सारे दृश्य एशिया के हैं, यूरोप के नही।"[२]

ईसाइयत का हिन्दू-समाज पर ऐसा प्रभाव इसलिए पडा कि नव-शिक्षित हिन्दू युवक लिबास और विचार से अँगरेज हो रहे थे एव भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से उन्हें

---

१. कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर

२ क्राइस्ट, द मेसेंजर

घृणा होने लगी थी। नयी शिक्षा आवश्यक थी, क्योंकि रोजी अब फारसी नही, अँगरेजी पढ कर ही कमायी जा सकती थी। किन्तु, अँगरेजी का प्रभाव हिन्दुत्व के लिए घातक होता जा रहा था। वाहर मिशनरी थे जो पुस्तके छाप कर, अखवार निकाल कर और सड़को, गलियो, कचहरियो, वाजारो और स्कूलो तथा कालेजो मे भाषण देकर निर्भीकता-पूर्वक हिन्दू-धर्म की धज्जियाँ उडा रहे थे। और घरो मे नव-शिक्षित हिन्दू युवको का तेजस्वी समुदाय था जो हिन्दुत्व को सैकड़ो प्रकार से अपमानित करके अपने समाज की छाती कुरेद रहा था। राजा ईसाई, प्रचारक ईसाई, शिक्षा ईसाई और शिक्षितो पर ईसाइयत का दिनोदिन वढता हुआ व्यापक प्रभाव! धर्म एक वार फिर महा विपत्ति के घेरे मे था और आस्तिको के मन मे भगवान् की यह वाणी अस्फुट स्वरो मे गूंज रही थी कि

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

प्रकरण ४

हिन्दू नवोत्थान

अवतार, अपने काल का स्वर

गीता का यह वचन ठीक है कि जब-जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब ससार में ऐसी आत्माएँ अवतीर्ण होती है, जिन्हें अवतार कहते हैं। ये अवतार साक्षात् भगवान होते है या नही, इस विचिकित्सा मे पड़ना व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति जिस ब्रह्म का स्वरूप है, औसत व्यक्तियो से बड़े व्यक्ति भी उसी ब्रह्म के स्वरूप होते हैं। किन्तु, स्वर्ग मे कोई खास चाक नही है, जिस पर अवतारो, पैगम्बरो और सुधारको का निर्माण होता हो। निर्माण उनका इसी भूमि पर ही होता है और स्वभाव एव विचार उनके क्या हो, इसका निर्णय भी उस समाज की आवश्यकताएँ करती है, जिसके बीच इन अवतारो का जन्म होता है। सन्त और सुधारक, मुख्यत, अपने ही समय की शकाओ का उत्तर देने को आते हैं। अतएव, एक सुधारक की वाणी दूसरे सुधारक की वाणी से ईषत् भिन्न होती है, क्योकि समाज की शकाएँ सदा एक-सी नही रहती। बुद्ध का उपदेश हिंसा के त्याग का उपदेश था, निवृत्ति और सन्यास का उपदेश था, क्योंकि जिस समाज मे बुद्ध उत्पन्न हुए थे, वह याज्ञिक हिंसा से पीड़ित था और लोग प्रवृत्ति के मार्ग पर इतनी दूर तक चले गये थे कि मर कर भी वे स्वर्ग में वही सुख भोगना चाहते थे जो उन्हे इस ससार मे उपलब्ध था। इसी प्रकार, शकराचार्य ने निराकार ब्रह्म और मायावाद को प्रमुखता इसलिए दी कि शून्यता के सिद्धान्त को अगीकृत किये बिना वैदिक धर्म बौद्ध-धर्म को पराजित नही कर सकता था। फिर रामानुज, वल्लभ आदि आचार्यो ने साकार ईश्वर पर इसलिए जोर दिया कि जनता निराकार और निर्गुण की उपासना से सतुष्ट नही थी, न निराकार ब्रह्म को लेकर उसके भीतर भक्ति का ज्वार उठाया जा सकता था। इसी प्रकार, कबीर और नानक फिर निराकार की ओर इसलिए चले गये कि अब भारत मे इस्लाम आ गया था एव सुधारको ने देखा कि निराकार ब्रह्म की उपासना के द्वारा ही हिन्दुओ और मुसलमानो की पारस्परिक दूरी कम की जा सकती है। किन्तु, सूर, तुलसी, मीराबाई और कृष्ण चैतन्य साकार से, तब भी, इसलिए लिपटे रहे कि साकार भक्ति की धारा दबना नही चाहती थी, न सनातन-धर्म का वैदिक स्रोत उपेक्षित होने को तैयार था।

नवोत्थान का स्वरूप

उन्नीसवी सदी से पूर्व भारत में जो भी सुधारक सत हुए, उनका एक मात्र विषय धर्म था, क्योकि धर्म ही तत्कालीन समाज की मुख्य सास्कृतिक धारा थी एव राजनीति

और समाज की चेतना तब तक उसके वृत्त से बाहर की चीज थी अथवा यह कहना चाहिए कि राजनैतिक तथा सामाजिक चेतना तब तक उतनी नही बढी थी कि वह धर्म को भी प्रभावित करे। किन्तु, उन्नीसवी सदी तक आकर समस्या का रूप बदल गया और जो धर्म पहले अपने-आप मे ही पूर्ण समझा जाता था, उसकी जाँच अब सामाजिकता की कसौटी पर की जाने लगी। भारत मे यूरोपीय ज्ञान के आगमन के बाद भारतीय धर्मो की जो आलोचना चलने लगी थी, उसका भी मुख्य कारण यह नही था कि हिन्दू-धर्म और इस्लाम ईसाइयत के सामने तुच्छ थे अथवा भारतीय धर्मो की त्रुटियाँ ईसाई धर्म में नही थी। बल्कि, इस आलोचना को प्रेरणा इस बात से मिल रही थी कि ईसाई धर्म चाहे जैसा भी रहा हो, किन्तु, ईसाई समाज हिन्दू और मुस्लिम समाजो से अधिक जाग्रत, अधिक कर्मठ और अधिक उन्नत एव उदार था। भारत यूरोप के साथ आनेवाले धर्म से नही डरा, बल्कि, भय उसे यूरोप के विज्ञान को देख कर हुआ, उसकी बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता से हुआ। अतएव, भारत मे नवोत्थान का जो आन्दोलन उठा, उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परपरा और अपने विश्वासो का त्याग नही, प्रत्युत, यूरोप की विशिष्टताओ के साथ उनका सामजस्य बिठाना था।

जब से यूरोप का आधिभौतिक उत्थान हुआ है, ससार मे ईसाइयो की सख्या बेहद बढी है। गरीब के कान का सच्चा सोना भी सन्देह से देखा जाता है, किन्तु, अमीरो के गले मे कोई पीतल भी डाल दे तो लोग उसे पीतल समझने का साहस नही करेंगे। ईसाई धर्म, यो भी, बहुत उत्तम धर्म था। किन्तु, प्रतापी यूरोपीय जातियो का धर्म होने के कारण उसका प्रताप और भी चमक उठा और जहाँ भी यूरोप के सौदागर और विजेता गये, वहाँ की सभ्य या अर्घ-सभ्य जातियो ने, अनेक प्रकार के रोब मे आकर, उनका धर्म स्वीकार कर लिया। केवल भारत ही ऐसा देश निकला, जहाँ शासको का धर्म होने पर भी ईसाइयत उतनी प्रगति नही कर सकी, जितनी की सभावना थी। और यह स्वाभाविक भी था। क्योकि भारत कोई हाल-साल का देश नही है, न यहाँ की सभ्यता ही हजार-पाँच सौ वर्ष की चीज है। यहाँ की सभ्यता, कम-से-कम, छह हजार वर्ष प्राचीन है एव जितना धार्मिक सस्कार अनेक अन्य देशो के लोग जीवन भर साधना करके प्राप्त करते हैं, उतना सस्कार यहाँ के अशिक्षित व्यक्ति को भी, बहुधा, पैतृक उत्तराधिकार के रूप मे, आप-से-आप, प्राप्त हो जाता है। यदि आधिभौतिक चाकचिक्य को ले तो उसका भी भारतीयो के मन पर अधिक प्रभाव नही पडता। वैभव-विलास के अनेक दृश्य यह देश देख चुका है। अनेक बार यहाँ वैभव के सूर्य उगे और अनेक बार वे अस्त हुए हैं। और प्रत्येक बार भारतीयो को यही दिखलायी पडा कि यह बाहरी चमक केवल टीम-टाम है। जीवन जिसे खोज रहा है, मनुष्य जिसे प्राप्त करके शाति लाभ करता है, वह पदार्थ रुपयो के हुडदग मे नही, मनुष्य के शील मे छिपा हुआ है। ऐसी अनुभवी जाति कभी आधिभौतिकता के शिकजे मे नही आ सकती। और यूरोप की

अधीनता में पडने के बाद भी, भारत इस शिकंजे में गिरफ्तार नही हुआ। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि आधिभौतिकता की टकराहट से भारत की ऊँघती हुए बूढी सभ्यता की नीद खुल गयी और वह इस भाव से अपने घर के सामानो पर नजर दौडाने लगी कि जो चीजे लेकर यूरोप भारत आया है, वे हमारे घर मे है या नही। भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।

चूँकि भारत पराधीन था और केवल ईसाई पादरी ही नही, बल्कि, अगरेजी पढे-लिखे भारतीय भी भारत के धर्म और सस्कृति की निन्दा कर रहे थे, इसलिए, यह नही समझना चाहिए कि भारतीय सस्कृति ने यूरोप को अपने से, सर्वतोभावेन, श्रेष्ठ मान कर उसके सामने घुटने टेक दिये या वह अपना सब-कुछ भूल कर यूरोप का अनुकरण करने लगी। यूरोप का अनुकरण तो वे कर रहे थे जो भारतीय धर्म और सस्कृति के खिलाफ थे। ये लोग नवोत्थान के नेता नही, प्रत्युत, उसकी कुत्सा, आलोचना और दड के पात्र थे। नवोत्थान नव-शिक्षित हिन्दुओ के नेतृत्व में नही, उनके विरुद्ध आया था और उसका उद्देश्य उन लोगो को भारतीय वृत्त में सुरक्षित रखना था जो नयी लहर मे बहते हुए परिधि से बाहर जा रहे थे। नवोत्थान उस प्रक्रिया का नाम है, जिससे भारत सँभला, जिससे उसने यूरोप से नैतिक कुश्ती लडते समय अपने हिलते हुए पाँव को स्थिर किया, जिससे उसे यह विश्वास हुआ कि मै, सचमुच, उतना बुरा नही हूँ जितना कि नये लोग बता रहे है, बल्कि, मेरे पास कुछ ऐसे अनुभव भी है, जिनका इन बच्चो को पता नही है।

नवोत्थान की रीढ़

भारतीय नवोत्थान का एक प्रधान लक्षण अतीत की गहराइयो का अनुसन्धान था। यूरोप के पास जो पूँजी थी, उसमें विज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व था, जो भारत को नवीन लगा और जिसे भारत ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। बाकी प्रत्येक दिशा मे, भारत ने अपने अतीत की पूँजी टटोली और अपने प्राचीन ज्ञान को नवीन करके वह नये मार्ग पर अग्रसर होने लगा। अँगरेजी भाषा मे एक शब्द 'रिवाइवलिज्म' है जो दूषित अर्थ देता है। जो भी व्यक्ति आज के सत्य को अनादृत करके भूतकाल की मरी हुई बातो को दुहराता है, उसे हम पुनर्जागरणवादी या रिवाइवलिस्ट कहते है। और पुनर्जागरणवादी होना कोई अच्छा काम नही है। किन्तु, नवोत्थान में भी अतीत की बातें दुहरायी जाती हैं। जब नवोत्थान का समय आता है, जातियो के कुछ पुरातन सत्य दुबारा जन्म लेते है। यह पुनर्जागरण नही, सत्यो का पुनर्जन्म है। बहुत-से सत्य ऐसे है, जो मिटना नही जानते, जो कुछ दिनो के लिए प्रच्छन्न तो हो जाते है, किन्तु, समय पाकर जिन्हें मनुष्य फिर से प्राप्त कर लेता है। भारत मे ऐसे सत्य वेदान्त के सत्य रहे हैं। जब-जब भारत मे नवोत्थान हुआ है, तब-तब वेदात की भूमिका मनुष्य के सामने प्रकाशित हो उठी है। वेदात ने बुद्ध का साथ दिया, वेदात ने शकर को चमकाया, वेदात के आधार

पर कबीर और नानक सत्य सिद्ध हुए और उसी वेदांत की नयी व्याख्या करके रामानुज ने भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जब ईसाइयत और विज्ञान भारत पहुँचे और भारत को उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करनी पड़ी, तब भारत ने एक बार फिर वेदांत का सहारा लिया। जिस नवोत्थान का आरंभ राममोहन राय, दयानन्द और विवेकानन्द ने किया था, और जिसकी धारा में हम आज भी तैरते हुए आगे जा रहे हैं, वेदांत उस आन्दोलन की रीढ़ है।

निवृत्ति का त्याग

नवोत्थान का दूसरा प्रधान लक्षण निवृत्ति का त्याग था। कुश्ती का अखाड़ा यदि केवल धार्मिक रहा होता, तो, संभव था, कि भारत इस बार भी निवृत्ति को नहीं छोड़ता; क्योंकि उपनिषदों और बुद्ध के समय से वैराग्य का जहर उसकी नसों में बराबर उतारा जा रहा था और निवृत्तिवाद भारतीय स्वभाव का अंग हो गया था। किन्तु, इस बार यूरोप के क्रांतिकारी विचारों का भागीदार बन जाने के कारण, भारत पराधीनता के दाह को बेचैनी से अनुभव करने लगा और उसे यह ज्ञान होने लगा था कि यूरोप की श्रेष्ठता का कारण केवल यही नहीं है कि उसके पास युद्ध के अधिक उन्नत शस्त्र हैं, बल्कि, यह भी कि जीवन-विषयक उसका दृष्टिकोण प्रवृत्तिमार्गी है। वह जीवन से भाग कर अपना सुख नहीं खोजता, प्रत्युत, उसके भीतर पैठ कर उसका रस पाता है। इस्लाम भी हिन्दुत्व की तुलना में प्रवृत्तिमार्गी ही था, किंतु, हिंदुओं ने इस्लाम से प्रवृत्ति की शिक्षा नहीं ली थी, प्रत्युत, इस्लाम का भी सूफी-अंश ही हिंदुओं को पसन्द आया था और यह सूफी-अंश उतना ही निवृत्ति-प्रधान था, जितना हिंदुओं का धर्म समझा जाता है। बल्कि, भारत में रहते-रहते निवृत्तिवाद का जहर अब इस्लाम में भी प्रवेश कर गया था।

किंतु, अब जो हिंदुत्व और इस्लाम यूरोप से टकराये तो उन्हें यह सोचने को बाध्य होना पड़ा कि निवृत्ति जीवन की सच्ची राह नहीं है। लेकिन, यहाँ भी यह आभास नहीं मिलता कि प्रवृत्ति को भारतवासियों ने नया दर्शन समझ कर अपनाया। नहीं, स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने वेदांत और गीता की ही नयी व्याख्या करके यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति है। यह हिंदुत्व की बात है। इस्लाम का विश्लेषण हम अलग से करेंगे। जीवन सत्य है, संसार सपना नहीं है, वैराग्य जीवन की पराजय को नहीं कहते हैं तथा कर्माकर्म का विचार ऐसा नहीं होना चाहिए कि मनुष्य के इहलौकिक सुखों का ही नाश हो जाय, ये और ऐसे उपदेश इस काल के चिंतकों के मुख से बार-बार सुनायी देते हैं।

असल में, उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान, भारत में प्रवृत्तिवाद का ही अनुपम उत्थान था। राममोहन, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति पर इतना अधिक जोर दिया कि सारा हिंदू-दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स-सा दीखने लगा और

सन्यास से गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ समझने में जो बाधा थी, वह आप-से-आप क्षीण होने लगी। जातियाँ जैसे दर्शनो में विश्वास करती हैं, उनके कर्म भी वैसे ही हो जाते है। हिंदुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। अतएव, जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान था, जिसका अस्तित्व नही था। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे, जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता मे कोई भेद नही था, अन्याय और न्याय में कोई अतर नही था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था, जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवी सदी से पूर्व के भारतीय साहित्य मे कोई भी लेखक या कवि ऐसा नही हुआ, जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और और हम इस अन्याय का विरोध करने को आये हैं। किन्तु, उन्नीसवी सदी के बाद से भारतीय साहित्य में क्रांतिकारी और अनय-विरोधी स्वर बडे जोर से गूँजने लगे। यह, स्पष्ट ही, गीता और वेदात की प्रवृत्तिमार्गी टीका का परिणाम है।

इसीलिए, हमें ऐसा लगता है कि, यद्यपि, भारत में सस्कृति के बड़े-से-बड़े नवोत्थान हुए हैं, किंतु, वर्त्तमान नवोत्थान उन सबसे अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ है। इसने वैदिक धर्म की प्रवृत्तिमार्गी धारा को प्रत्यावर्तित किया है। इसने संसार की सत्यता में मनुष्य के विश्वास को बढ़ाया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता में वृद्धि की है। इसने शूद्रो को गौरव का मार्ग बताया है और नारियो को सहस्राब्दियों की कारा से विमुक्त किया है। इसने भारत के विस्मृत इतिहास को जीवित रूप दिया है तथा, सबसे अधिक, इसने मनुष्यो में सात्विक शका की प्रवृत्ति स्फुरित कर दी है, जिससे मनुष्य किसी भी बात को केवल इसलिए मानने को तैयार नही है कि वह शास्त्रो द्वारा अनुमोदित है अथवा वह बाप-दादो के समय से चली आ रही है। इस नवोत्थान से भारत का कायाकल्प हुआ है, धर्म की रूढियाँ धूलवत् झड गयी हैं, मनुष्य की उदारता में वृद्धि हुई है और हिन्दू-धर्म सशोधित होकर इस रूप में खड़ा हो गया है जिसे हम विश्वधर्म की भूमिका कह सकते है। नवोत्थान ने किन प्रक्रियाओ से अपने को प्रकट किया, इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसके कुछ सास्कृतिक आदोलनो और नेताओ से परिचय प्राप्त करें।

प्रकरण ५

ब्राह्म-समाज

भारत मे ईसाइयत का प्रचार, ईसाइयो के द्वारा भारतीय धर्मों की निन्दा, यूरोप के क्रातिकारी, बुद्धिवादी विचार और अँगरेजी पढे-लिखे हिंदुओ द्वारा हिंदुत्व की भर्त्सना, ये कुछ कारण थे, जिनसे हिंदुत्व की नीद टूटी। उसकी पहली अँगडाई ब्राह्म-समाज में प्रकट हुई और उसके नवोत्थान के आदि पुरुष राजा राममोहन राय हुए। राममोहन साधक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ और सामाजिक नेता अधिक थे। इसलिए, धर्म के अध्ययन और विश्लेषण से उन्होने वह शक्ति निकालनी चाही, जिससे हिंदू क्रिस्तान होने से बच सकते थे, जिससे वे यूरोप के ज्ञान और यूरोप की पद्धति को अपना कर अपने खोये हुए अधिकार फिर से प्राप्त कर सकते थे। वे धर्म के सुधारक कम, सामाज के सुधारक अधिक थे। उन्होने जो कुछ किया, उसे हम सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का कार्य कह सकते है। भारत की राजनैतिक राष्ट्रीयता इसी सास्कृतिक राष्ट्रीयता का विकसित रूप है।

राममोहन राय

राममोहन का जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० मे बगाल के बर्दवान जिले के राधानगर गाँव मे हुआ था। वे जाति के ब्राह्मण थे। आरभिक शिक्षा-दीक्षा के बाद वे अरबी और फारसी पढने को पटने गये और पटने से वे इन भाषाओ के महापडित होकर घर लौटे। पटने मे इस्लाम और उसके तसव्वुफ-अश का राममोहन ने जो अध्ययन किया, उससे प्रतिमा-पूजन के विषय मे उनके मन मे भयानक शका उत्पन्न हो गयी, यहाँ तक कि मूर्त्ति-पूजा से उनका विश्वास ही उठ गया। समव है, इसका कुछ कारण तो इस्लाम की शिक्षा और कुछ ईसाइयो का प्रचार रहा हो। कहते है, सोलह-सत्रह साल की उम्र मे, जब वे घर पर पिता के साथ थे, उन्होने मूर्त्ति-पूजा के खडन मे फारसी में कोई पुस्तक लिखनी आरभ की। यह पुस्तक पूरी हुई या नही, इसका प्रमाण नही मिलता, क्योकि उसका कोई भी अश अब तक प्राप्त नही हुआ है। किंतु, पिता ने उनके इस प्रयास से अप्रसन्नता प्रकट की और राममोहन पिता का गृह छोडकर भाग गये। उनकी आत्मकथा से विदित होता है कि घर से भाग कर उन्होने सारे भारत का भ्रमण किया एव, इसी क्रम में, उन्होने तिब्बत जाकर लामाओ के यहाँ बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया।

उनके जीवन के आरभिक तीस वर्षो का विवरण नही मिलता। हाँ, सन् १८०३ ई० मे मुर्शिदाबाद से उन्होने 'तुहफतुल-मुवाहिदीन' नामक एक पुस्तक फारसी मे निकाली, जिसकी भूमिका अरबी भाषा मे थी। इस पुस्तक मे उन्होने मूर्त्ति-पूजा का खडन किया था,

एकेश्वरवाद की प्रशंसा की थी तथा विश्व-धर्म को आवश्यक बतलाया था। इन्ही दिनो या उससे कुछ पूर्व वे कम्पनी-सरकार की नौकरी मे आये और सन् १८०६ ई० में रंगपुर के कलक्टर के दीवान हो गये। बाद में, वे किसी नाबालिग जमींदार के मैनेजर नियुक्त किये गये और सन् १८१५ ई० में उन्होंने नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया। राममोहन राय अरबी, फारसी और संस्कृत तो जानते ही थे, अँगरेजी सीखना उन्होंने २२ वर्ष की अवस्था मे आरम्भ किया। पीछे चल कर उन्होंने हिब्रू और ग्रीक भाषाएँ भी सीख लीं एवं यहूदी और ईसाई बाइबिलों का अध्ययन उन्होंने मूल-भाषाओं मे किया।

सुधार के कार्य

जब अँगरेज शासक इस दुविधा मे पड़े हुए थे कि भारतीयो की शिक्षा अँगरेजी में हो या संस्कृत और फारसी के द्वारा, तब राममोहन राय ने अँगरेजी का पक्ष लिया। अदूरदर्शिता उनकी यह रही कि उन्होंने इस बात पर विचार ही नहीं किया कि शिक्षा का माध्यम हिंदी और बंगला-जैसी आधुनिक भाषाएँ भी हो सकती थीं। जिन दिनों बंगाल मे यह द्वंद्व छिड़ा हुआ था कि शिक्षा का माध्यम अंगरेजी हो अथवा संस्कृत और फारसी, उन दिनो बंबई में एल्फिन्स्टन और पश्चिमोत्तर प्रदेश मे थामसन यह मान कर चल रहे थे कि भारतीय जनता की शिक्षा उसकी प्रचलित भाषाओं में ही होनी चाहिए, अंगरेजी, संस्कृत, अरबी और फारसी में नहीं। किन्तु, राजधानी उस समय कलकत्ते में थी। अतएव, राजधानी मे उठनेवाला विवाद ही सारे देश का विवाद हो गया और निर्णय केवल अंगरेजी एवं भारत की क्लासिक भाषाओं के बीच सीमित कर दिया गया। ऐसी स्थिति में राममोहन राय केवल अंगरेजी का ही पक्ष ले सकते थे और उसी का पक्ष उन्होंने लिया भी।

भारत में प्रचलित सती-प्रथा के उन्मूलन का प्रयास सबसे प्रथम अकबर ने किया था, किन्तु, तब भी यह प्रथा चलती ही आ रही थी। राममोहन की अनुपस्थिति में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया एवं उनकी भावज सती हो गयी। इस दुर्घटना का राममोहन राय के हृदय पर भयानक आघात लगा तथा उन्होंने सती-प्रथा के विपक्ष में तभी से आन्दोलन आरम्भ किया। सन् १८२९ ई० मे लार्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करके इसके विरुद्ध कड़ा कानून बना दिया। यह राममोहन राय के ही प्रयत्नों का शुभ परिणाम था। राममोहन राय ने 'संक्षिप्त वेदान्त' नाम से वेदान्त का एक सटीक संग्रह प्रकाशित किया तथा केन, ईश, मुंडक और कठ उपनिषदों का अनुवाद भी। हिंदू-ईश्वरवाद एवं सती-प्रथा पर 'शास्त्रार्थ' नामक भी उनके निबंध मिलते हैं।[1]

---

१. Abridgement of Vedant, Defence of Hindoo Theism तथा Conferences on Sati

ईसाइयत पर विचार

सन् १८२० ई० से सन् १८२३ ई० तक उनका विवाद ईसाई पादरियों से भी चला था और, इसी सिलसिले मे, उन्होने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम 'The precept of Jesus, the guide to peace and happiness' था। इस ग्रंथ मे उन्होने ईसा की विवेकपूर्ण शिक्षाओ को उनके व्यक्तित्व के चमत्कारवाले अंशो से अलग करके दिखलाया था। इस ग्रंथ को देखकर सिरामपुर के पादरी नाराज हो गये और उसके लेखक को उन्होने मूर्त्ति-पूजक अथवा नास्तिक कह डाला। इस पर राममोहन राय ने 'ईसाई जनता से अपील' शीर्षक के अन्दर तीन लेख लिखे और यह सिद्ध कर दिखाया कि ईसा ईश्वर के पुत्र नही थे, न ईसाइयो का ईश्वर-त्रयवाला सिद्धान्त (फादर, सन और होली घोस्ट) ही ठीक है। उन्होने ईसाइयत के इस सिद्धान्त पर भी शंका की कि पश्चात्ताप करने से मनुष्य सारे पापो से छूट जाता है। इन निबन्धो में राममोहन ने बाइबिल तथा ईसाई पुराणो का ऐसा गहरा ज्ञान प्रदर्शित किया कि ईश्वर-त्रय मे विश्वास करनेवाला एक ईसाई पादरी अपना धर्म छोड़ कर एकेश्वर-शाखा (यूनिटेरियन) में चला गया।

ईसाई पादरी हिन्दू-धर्म की जिस प्रकार छीछालेदर कर रहे थे, उससे राममोहन राय अत्यत दु खी थे। इन्ही निबन्धो मे एक जगह वे कहते है—"यह स्वाभाविक बात है कि जब एक जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है,तब उसका अपना धर्म चाहे जितना भी हास्यास्पद हो, किंतु, हँसी वह उनके धर्म की उडाया करती है, जो उसके पाँव के नीचे आये हुए है। उदाहरणार्थ, मुसलमानो ने जब भारत को जीता, तब हिन्दुओ के धर्म के प्रति उन्होने शत्रुता दिखलायी। चंगेज खाँ[1] के अनुयायी स्वयं तो ईश्वरहीन एव स्वभाव मे जगली जानवरो के समान थे, किन्तु जब वे पश्चिमी भारत में आये, तब उन्होने वहाँ के लोगो की आस्तिकता एव परलोक-सबधी विश्वासो का काफी मजाक उडाया। प्राचीन काल के यूनानी और रोमन लोग मूर्त्तिपूजक थे एवं उनके जीवन में पापाचार का भी आधिक्य था। किन्तु, वे अपनी यहूदी-प्रजा के धर्म की खिल्ली उड़ाते थे, क्योकि यहूदी जनता एकेश्वरवाद मे विश्वास करती थी। इसलिए, आज यदि अँगरेज धर्म-प्रचारक, जो विजेता वर्ग के है, भारतवासियो के धर्म की भर्त्सना करते है अथवा उसका मजाक उडाते है तो यह कोई असाधारण बात नही है।"

विश्ववादी और भारतीय

किन्तु, ईसाइयत की पौराणिक बातो एव ईसाई धर्म-प्रचारको के दुष्प्रचारों के वे जितने विरोधी थे, उससे कही कठोर आलोचक वे अपने धर्म और समाज के थे। हिंदू-धर्म

१. चगेज खाँ मुसलमान नही, भ्रष्ट किस्म का बौद्ध था, यह हम पहले ही कह आये हैं।
—लेखक

को रूढियो से मुक्त करके वे उसे एक नया रूप देना चाहते थे। हिंदू जनता धर्म के विषय मे बिल्कुल पौराणिक सस्कारो से भरी हुई थी। इस चट्टान को तोड कर वे हिंदू-हृदय को शुद्ध धर्म के आलोक से भरना चाहते थे। कभी-कभी लोग यह कह बैठते है कि राममोहन राय पूरे भारतीय नही थे। वे ईसाई पादरियो के प्रहारो से भीत होकर हिंदू-धर्म का ईसाई अनुवाद प्रस्तुत करना चाहते थे, जिससे ईसाइयो की आलोचना बन्द हो जाय और हिंदू जनता क्रिस्तान नही बने। यह किंचित् भ्रमपूर्ण बात है। ईसाई आलोचको का मुँह बन्द करना वे अवश्य चाहते रहे होगे, किंतु, उनका यह तो निश्चित मत था कि हिंदू जनता हिंदू ही रहे। उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज हिंदू-धर्म का ईसाई अनुवाद नही था। ब्राह्म-समाज को ईसाइयत की ओर केशवचद्र सेन ने मोडा। राममोहन राय ने हिंदुत्व, इस्लाम और ईसाइयत, तीनो धर्मो का गहन अध्ययन किया था और तीनो धर्मो पर वे समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। हिंदुत्व की पवित्रता, इस्लाम की रुचि तथा ईसाइयत की सफाई (तर्क) उन्हे बेहद पसद थी।[1] उनका वैयक्तिक रहन-सहन मुसलमानो-जैसा था। एकेश्वरवाद मे अटल विश्वास तथा मूर्त्ति-पूजा का विरोध, ये दो बाते हिंदुत्व मे भी थी और इस्लाम मे भी। ईसाई धर्म से, कदाचित्, उन्होने कुछ भी नही लिया। जो कुछ लिया, वह ईसाई देशो के सामाजिक जीवन से, ईसाई देशो के राजनैतिक सगठन और विज्ञान से। प्रतिमा-पूजन का विरोधी और एकेश्वरवादी होने के कारण, हिन्दुत्व में उन्हे अपना आश्रय केवल वेदात में मिला। इसलिए, उनकी इस्लाम-प्रियता उनके हिंदुत्व की विरोधिनी नही हुई।

विभिन्न धर्मो का गभीर अध्ययन करने से एव वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न हो जाने के कारण वे विश्ववादी हो गये। फ्रास के वैदेशिक मत्री को सन् १८३१ ई० में पत्र लिखते हुए उन्होने कहा था कि, "केवल धर्म से ही नही, प्रत्युत, अदूषित सामान्य बुद्धि एव विज्ञान से भी यही ज्ञात होता है कि सारी मनुष्य-जाति एक परिवार है तथा जो अनेक जातियाँ और राष्ट्र है, वे उसी एक परिवार की शाखाएँ है।" उसी पत्र मे राममोहन राय ने यह भी लिखा था कि देश-देश के बीच पासपोर्ट की जो पद्धति प्रचलित है, उसे उठा देना चाहिए तथा सभी राष्ट्रो के ऊपर कोई ऐसी सस्था बनायी जानी चाहिए जो राष्ट्र-राष्ट्र के बीच चलनेवाले मतभेदो को नियन्त्रित कर सके। सारे ससार मे विश्ववाद के सबसे प्रथम व्याख्याता राममोहन राय हुए है। राममोहन के पीछे-पीछे भारत में जो राष्ट्रीयता उत्पन्न हुई, उसका रग राष्ट्रीय भी था और अन्तर्राष्ट्रीय भी। कोई आश्चर्य नही कि जिस जाति का दर्शन राममोहन और विवेकानन्द ने रचा, उस जाति के कर्मठ नेता महात्मा गाँधी और उसके कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर हुए।

१. कहा जाता है कि भोजन के विषय मे भी राममोहन राय का कहना था कि सबसे अच्छा भोजन मुसलमान का है, यदि वह हिंदू के घर मे पके और अँगरेज की मेज पर खाया जाय।

विज्ञान और वेदान्त का मेल

राममोहन ने शिक्षा-दीक्षा से जो सस्कार अर्जित किया था एव उनके आगे जो समस्याएँ खडी थी, उन दोनो की प्रेरणा से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के प्राचीनतम सत्यो का यूरोप के नवीन सिद्धातो के साथ सामजस्य विठाये विना भारत का कल्याण नही है। सभी धर्मो के समान ईसाई धर्म मे भी पौराणिक बाते थी, रूढियो, चमत्कार की कहानियो और अन्ध-विश्वासो का ढेर था। किंतु, जो सैनिक उस धर्म को इस बार भारत ले आये थे, वे अन्ध-विश्वासी नही थे, न वे रूढियो के आगे मस्तक झुकाने को तैयार थे। ईसाई धर्म हिन्दुत्व से कई गुना बलवान दीखता था। उसका सामना करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत यूरोप की वैज्ञानिकता को ग्रहण करे और इस वैज्ञानिकता के साथ अपने धर्म को भी ससार के सामने रखे। अतएव, वैज्ञानिकता का वेदात से मणिकाचन-सयोग नवोत्थान का प्रधान लक्षण हो गया और राममोहन राय हिन्दुत्व के उस पक्ष का आख्यान करने लगे, जिसमे मूर्त्ति-पूजा नही थी, अवतारवाद नही था, न जिसमे मन्दिरो और तीर्थों की ही कोई बात थी। राममोहन की विशेषता यह थी कि एक ओर तो वे वेदात के स्थान से हिलने को तैयार नही थे, दूसरी ओर, वे अपने देशवासियो को अँगरेजी के द्वारा पाश्चात्य विद्याओ मे निष्णात बनाना चाहते थे। भारतवासी सस्कृत, अरबी और फारसी पढ कर बस मान ले अथवा वे अँगरेजी पढ कर क्रिस्तान हो जायँ, इन दोनो खतरो से वे भारतवर्ष को बचाना चाहते थे। किंतु, उनका यह भी मत था कि हिंदुत्व का कोई भी ऐसा रूप मान्य नही रहना चाहिए जो विज्ञान और बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नही उतरता हो। उनकी जीवनी-लेखिका मिस कालेट ने यह खूब लिखा है कि "इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़ कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा और नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्ध-विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतत्र के बीच जो अतराल है तथा बहुदेववाद एव शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयो पर पुल बाँध कर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजनेवाले महापुरुष राममोहन राय है।"

ब्राह्म-समाज के जन्म की वेदना

हिन्दुओ के बीच नये धर्म के मतव्यो का प्रचार करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने सन् १८१६ ई० मे कलकत्ते में वेदांत कालेज की स्थापना की। उससे एक वर्ष पूर्व, वे धार्मिक चर्चा के उद्देश्य से आत्मीय सभा की स्थापना कर चुके थे। कलकत्ते के तत्कालीन रईसो और पडितो मे से अनेक इस सभा के सदस्य थे। इसके अधिवेशनो मे धर्म के रहस्य पर चर्चा और विवाद होता था तथा, अन्त मे, सब लोग मत्रो एव प्रार्थनाओ का गान करते थे। एक बार इसी सभा के तत्त्वावधान मे मद्रास के पडित सुब्रह्मण्य शास्त्री

के साथ राममोहन राय का मूर्त्ति-पूजा के विषय मे शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमे शास्त्रीजी को राममोहन से हार माननी पडी थी। यह सभा सन् १८१९ ई० तक ठीक से चली। उसके वाद वह वन्द हो गयी। तब राममोहन राय ने कलकत्ता यूनिटेरियन सोसायटी के नाम से एक अन्य सभा स्थापित की जो, मूल उद्देश्य मे, आत्मीय सभा का ही अँगरेजी रूप थी। इसके सदस्य कुछ अँगरेज वैरिस्टर थे और कुछ वे लोग भी (द्वारकानाथ टैगोर, प्रसन्नकुमार टैगोर आदि) जो आत्मीय सभा के सदस्य रह चुके थे।

यूनिटेरियन सोसायटी पर किस दृष्टिसे विचार किया जाय,इसका ठीक निश्चय नही हो सकता। इसके सदस्य अँगरेज भी थे, अतएव, हिन्दू-धर्म का सुधार इस समिति का मूल उद्देश्य तो नही ही रहा होगा। हाँ, यह जानकर कि वगाल में कुछ हिंदू ऐसे भी है जो ईसाई धर्म के एकेश्वरवादी रूप को भी अपना ही धर्म समझते है, ईसाइयो के बीच हिंदू-धर्म का थोडा सुयश अवश्य वढता होगा। अतएव, इस समिति का प्रचारात्मक पक्ष ही प्रधान रहा होगा। किन्तु, इस समिति से राममोहन के हृदय को सतोप नही हुआ। वे हिन्दू-धर्म मे जो सुधार लाना चाहते थे, उसके लिए यह पाश्चात्य समिति विल्कुल अयोग्य थी। अतएव, राममोहन राय ने एक ऐसी सभा स्थापित करने का विचार किया, जो, शुद्धत , औपनिषदिक सत्यो पर आधारित हो।

ब्राह्म-समाज का जन्म

तदनुसार २० अगस्त, सन् १८२८ ई० को उन्होने ब्राह्म-समाज की स्थापना कलकत्ते मे की। इस समाज का रूप, निर्विवाद रूप से, भारतीय था और भारतीय परपरा में कहे तो कह सकते है कि यह अद्वैतवादी हिन्दुओ की सस्था थी। इस सभा के अधिवेशन मे दो तेलुगू ब्राह्मण वेद का पाठ करते थे। वे वेदो का पाठ पर्दे के भीतर से करते थे, जहाँ अब्राह्मणो का प्रवेश निषिद्ध था। उत्सवानन्द उपनिषदो का पाठ करते थे और रामचद्र विद्यावागीश उसका अर्थ वँगला मे समझाते थे। कभी-कभी राममोहन-रचित उपदेशो का पाठ भी किया जाता था और अधिवेशन की समाप्ति के पूर्व प्रार्थना नियम-पूर्वक गायी जाती थी।[1]

यूरोप के सपर्क से जैसे भारत मे नयी मानवता का जन्म हो रहा था, वैसे ही, हिन्दू-धर्म भी नया रूप ले रहा था। ब्राह्म-समाज इसी अभिनव हिन्दुत्व का एक रूप था। इसने मूर्ति-पूजा का वहिष्कार किया, अवतारो को नही माना और लोगो का ध्यान उस निराकार, निर्विकार, एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। किन्तु, ब्राह्म-समाज की इससे भी वडी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील और उदार था। राममोहन राय ने समाज के लिए जो भवन

१. शिवनाथ शास्त्री-लिखित हिस्ट्री आव् ब्राह्मो-समाज, जिल्द १

खडा किया, उसके ट्रस्ट के दस्तावेज मे (सन् १८३० ई०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज मे होनेवाली पूजा मे किसी भी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नही की जायगी, जिसकी थोडे-से लोग भी पूजा या आराधना करते हो तथा इस समाज मे केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायँगे, जिनसे सभी धर्मो के लोगो के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती हो। कोई कहना चाहे तो यह कह सकता है कि ऐसे प्रतिबन्ध इसलिए रखे गये थे कि समाज के प्रवर्त्तक का उद्देश्य राजनैतिक और राष्ट्रीय था। क्योकि एक ओर जहाँ हिन्दुओ और मुसलमानो की एकता आवश्यक थी, वहाँ दूसरी ओर ईसाई मत का उस समय डट कर विरोध भी सभव नही था। किन्तु, इसका दूसरा पक्ष यह है कि नवोत्थान के समय हिन्दू सुधारको ने जो आत्म-मथन किया, उससे उन्हें स्पष्ट भासित होने लगा कि एक धर्म और दूसरे धर्म मे विभेद करना मूर्खता है। सभी धर्म समान है और ससार के सभी लोग आपस मे भाई-बहन होते है।

राममोहन की उदार दृष्टि

समाज की स्थापना के केवल दो वर्ष बाद, राममोहन राय विलायत गये, जहाँ से वे फिर लौटे नही। २७ सितम्बर, १८३३ ई० को ब्रिस्टल मे उनका देहान्त हो गया। उनके समस्त कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने के बाद, ऐसा लगता है कि उनका प्रधान विषय धर्म नही, समाज था। धार्मिक सुधारो की बात उन्होने, शायद, इसलिए उठायी थी कि एक ओर उन्हे जहाँ ईसाइयो का सामना करना था, वहाँ, दूसरी ओर, उन्हे हिन्दू-समाज को भी कुरीतियो और अन्ध-विश्वासो के विरुद्ध सचेत करना था। फिर भी, वे अधार्मिक नही, धार्मिक थे। यह बडे ही मार्के की बात रही कि जहाँ अठारहवी सदी का यूरोप अपने नवोत्थान के जोश मे आकर धर्म से दूर होता जा रहा था, वहाँ उन्नीसवी सदी मे भारत मे जो नवोत्थान हुआ, उसका आधार धर्म था। यह भी ध्यान देने की बात है कि राममोहन ने विश्व-मानवता की जो बात कही, वह कही तो यूरोप मे भी जाती थी, किन्तु, यूरोप की विश्व-मानवता सकीर्ण थी। उसमें पूर्वी जगत् के लिए स्थान नही था, दुर्बल जातियो की गणना नही थी। यूरोप की दृष्टि मे विश्व-इतिहास का अर्थ यूरोप और अमेरिका का इतिहास तथा विश्व-मानवता से अभिप्राय यूरोप और अमेरिका की मानवता से था। किन्तु, राममोहन राय की विश्व-मानवता का वृत्त बहुत अधिक विस्तृत था, जिसमे समस्त भूमडल की स्वतत्र, समृद्ध, पराधीन, दलित और निष्पेषित जातियो के लिए एक समान स्थान था। नवोत्थान ने भारत मे विश्व-मानवता की जो कल्पना चलायी थी, वह, भारत की स्वाधीनता के बाद, भारत की ही वैदेशिक नीति मे आकार लेने लगी है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद, ब्राह्म-समाज के नेतृत्व का भार महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर के कधो पर पडा। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर सत और रहस्यवादी हिन्दू थे, किन्तु, यूरोप से आनेवाले बुद्धिवाद पर उनकी अपार भक्ति थी और हिन्दुत्व के रूढिवादी रूप से लज्जित होकर वे भी अपने धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप ससार के सामने रखना चाहते थे। राममोहन राय के भी निश्चित रूप से ऐसे ही भाव थे। किन्तु, उनकी विशेषता यह थी कि वेद और उपनिषदो पर उनका अचल विश्वास था एव किसी भी अवस्था मे वे वेदो पर अविश्वास करने को तैयार नही थे। राममोहन राय ने ब्राह्म-समाज की स्थापना इसलिए की थी कि वे हिन्दू-धर्म के मौलिक (वेद-सम्मत) रूप को ईसाइयत की महफिल मे प्रतिष्ठा के साथ स्थापित करना चाहते थे, जिससे ईसाई लोग भी यह जान जायँ कि हिन्दुत्व का मूल रूप ऐसा नही है, जिसकी हँसी उडायी जा सके। किन्तु, महर्षि देवेन्द्रनाथ के समय मे आकर ब्राह्म-समाज अपनी जड (हिन्दुत्व) से दूर जाने लगा और केशवचद्र के समय मे तो वह हिन्दुत्व से इतना अलग और ईसाइयत के इतना समीप,जा पहुँचा कि लोगो को सात्विक भ्रम हो गया कि यह और कुछ नही, सपूर्ण हिन्दू-समाज को एक साथ ईसाइयत मे दीक्षित करने का आयोजन मात्र है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ की भी अपनी एक सभा थी, जिसका नाम तत्त्व-बोधिनी सभा था। इस सभा मे भी लोग धार्मिक विचार-विमर्श किया करते थे। सन् १८४२ ई० मे यह सभा ब्राह्म-समाज में मिला दी गयी और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सभी अनुयायी ब्राह्म-समाज मे सम्मिलित हो गये। इसी समय से ब्राह्म-समाज उनके नेतृत्व मे काम करने लगा। देवेन्द्रनाथ ने आरभ मे ब्रह्मोपासना की जो विधि और स्तोत्र तैयार किया, वह हिन्दुत्व के परम अनुकूल था, क्योकि उपासना के सारे मत्र उपनिषदो और तत्र-ग्रथो से लिये गये थे। किन्तु, कुछ ही दिनो के बाद ब्राह्म-समाजी पडित और विद्वान् इस सशय मे जा पडे कि वेद अतिम प्रमाण है या नही। विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि अन्तिम प्रमाण वेदो को भी नही माना जा सकता। वेदो के उपदेश भी वही तक मान्य है, जहाँ तक वे हमारी बुद्धि से मेल खाते है।

केशवचंद्र सेन

केशवचद्र सेन ने ब्राह्म-समाज मे प्रवेश सन् १८५७ ई० में किया, जब उनकी उम्र केवल उन्नीस साल की थी। वे बडे ही तेजस्वी एव मेधावी नवयुवक थे तथा, आरभ से ही, देवेन्द्रनाथ उनके प्रभाव मे आने लगे। अँगरेजी पढे-लिखे हिन्दू नवयुवको मे हिन्दुत्व के खिलाफ जो विद्रोह की आग भडक रही थी, केशवचन्द्र सेन मे भी उसका पूरा जोर था। वे यूरोप के धर्म और सस्कृति, दोनो पर आसक्त थे एव ब्राह्म-समाज को वे आरभ से ही अभीप्सित दिशा मे मोडने लगे। पहले उन्होने देवेन्द्रनाथ के द्वारा

ब्राह्मसमाजियो को यह शिक्षा दी कि हिन्दू-अनुष्ठानो में प्रतिमा-पूजन के संस्कार भरे होते हैं, अतएव, हमे इन अनुष्ठानो से अलग ही रहना चाहिए। तब वे इस बात पर आये कि जाति-प्रथा गलत चीज है, हम ब्राह्मसमाजियो को इससे भी कोई सरोकार नही रखना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि सभी द्विज-सदस्यो ने अपना जनेऊ उतार कर फेक दिया। इसके बाद, केशवचन्द्र सेन ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया और उनके प्रत्येक सुधार को देवेन्द्रनाथ अनिच्छापूर्वक मानते गये। देवेन्द्रनाथ हिन्दू थे, वे ब्राह्म-समाज को भी हिन्दू-सस्था ही रखना चाहते थे। किन्तु, केशवचन्द्र सेन मे सामाजिक क्रांति के लिए पूरा उत्साह था। वे, असल मे, ईसा के परम भक्त थे और हिन्दू-धर्म को भी वे ईसाइयत की दिशा में ले जाना चाहते थे। अन्त मे, गुरु और शिष्य में मतभेद हो गया एव केशवचद्र सेन ने सन् १८६६ ई० मे अपना समाज अलग कर लिया, जिसका नाम ब्राह्म-समाज ही बना रहा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अधिकार मे जो समाज रह गया, उसे वे आदि-ब्राह्म-समाज कहने लगे। इन दोनो समाजो का सबध इतना कटु हो गया कि जब सन् १८७२ ई० में केशवचद्र सेन ब्राह्म-विवाह-कानून बनवाने लगे, तब आदि-समाजवालो ने उसका घोर विरोध किया।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया से निकलने के बाद, ब्राह्म-समाजी लोग ईसाइयत की ओर निश्चिन्त होकर चलने लगे। बाइबिल और ईसाई पुराणो का अध्ययन समाज के अन्दर उत्साह से किया जाने लगा और ईसामसीह सभी ब्राह्म-समाजियो के पूज्य पथ-प्रदर्शक हो गये। इस समय, चारो ओर लोग एक ही बात कहते थे कि केशवचद्र सेन अब क्रिस्तान होगे। किन्तु, वे क्रिस्तान हुए नही। हाँ, अपने समाज को विश्व-धर्म का व्याख्याता बताने के लिए उन्होने सभी धर्मो की उपासना आरभ की। उनके पथ-प्रदर्शन मे समाज का जो प्रार्थना-सग्रह तैयार हुआ, उसमें हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम और चीनी, सभी धर्मो की प्रार्थनाएँ सम्मिलित थी। साथ ही, केशवचद्र ने वैष्णव-कीर्तन के भी गीत अपनी प्रार्थना मे मिला लिये और ढोलक-झाँझ के साथ वे कीर्तन गाते हुए सड़को पर भी निकलने लगे। किन्तु, वैष्णवी कीर्तन उनके ईसा-विषयक प्रेम में कमी नही ला सका। मिशनरियों के यहाँ उनकी काफी इज्जत थी और सन् १८७० ई० मे जब वे इग्लैड गये, तब वहाँ के ईसाइयो ने उनका भव्य स्वागत किया।

सारी बाते, प्राय, ठीक से ही चल रही थी कि बीच मे एक भयानक काण्ड उपस्थित हो गया। केशव बाबू प्रचड समाज-सुधारक थे। वे हिन्दुओ से सबध नही रखना चाहते थे। साथ ही, ब्राह्म-समाजियो के विवाह-सबध के लिए उन्होने जो कानून बनवाया था, उसमें वर-वधू के बालिग होने का प्रतिबन्ध था। किन्तु, कूच-विहार के राजकुमार से जब केशव बाबू की पुत्री के ब्याह का प्रस्ताव आया, तब चारो ओर कानाफूसी चलने लगी कि देखें, अब केशवचद्र क्या करते है। कूच-विहार के राजा

हिन्दू थे। यह पहली बाधा थी। दूसरी बाधा यह थी कि वर और वधू, दोनो नाबालिग थे। ब्राह्म-समाज की प्रतिष्ठा इस बात में थी कि केशवचद्र इस प्रस्ताव को ठुकरा देते। किन्तु, यह उनसे नही हो सका। उलटे, अपने अनुयायियो से उन्होने यह कहा कि ईश्वर का आदेश है कि यह विवाह होना चाहिए। ईश्वर का आदेश तो पूरा हो गया, किन्तु, केशवचद्र की प्रतिष्ठा पर भयकर आँच आ पडी और ब्राह्म-समाज एक बार फिर टूट गया। जो समाजी केशवचंद्र के विरोधी थे, उन्होने अपने समाज को साधारण ब्राह्म-समाज कहना आरभ किया और केशव बाबू ने जो सभा अपने साथ रखी, उसका नाम उन्होने नव-विधान-सभा कर दिया। नव-विधान अँगरेजी के न्यू डिस्पेंसेसन का अनुवाद था और केशव बाबू का निश्छल मत था कि जैसे प्रथम विधान यहूदी-धर्म और द्वितीय विधान ईसाई-धर्म है, उसी प्रकार, नव-विधान को ईसाई समाज तृतीय विधान के रूप में स्वीकार कर ले।

शेख ने काबा बना मिस्मार बुतखाना किया।
तब तो इक सूरत भी थी, अब साफ वीराना किया।

ब्राह्म-समाज तक तो, खैर, यह कहा जा सकता था कि यह, अधिक-से-अधिक, सर्व-धर्म-समन्वय का प्रयास था, किन्तु, नव-विधान-सभा ने तो खुल कर अपने को यहूदी और ईसाई धर्मों का वारिस ही बना लिया। होम, आरती और कुछ व्रतो के नवीन सस्करण, बस ये ही दो-चार बाते हिन्दू-धर्म की रहीं, नव-विधान मे बाकी सारी बातें ईसाई-धर्म की आ गयी। यह कहना अधिक अनुचित नही है कि ब्राह्म-समाज के जिस रूप का प्रवर्तन केशवचद्र सेन ने किया, वह ईसाइयत का ही प्रतिरूप था, केवल उसके पूज्य ईसामसीह नही थे।

यूरोपीय सस्कृति, ईसाई धर्म और वैज्ञानिक विचार-धारा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही, ब्राह्म-समाज सदैव थोडे-से लोगो का धर्म रह गया। इसमें, अधिकतर वे ही लोग सम्मिलित हुए, जिनके पास धन या विद्या अथवा दोनो का प्राचुर्य था। बगाल मे भी जन-साधारण ने इस धर्म को कभी कोई प्रश्रय नही दिया। फिर भी, ब्राह्म-समाज-आन्दोलन भारतीय सस्कृति के महान् आन्दोलनो मे से एक है, क्योकि यूरोप से आनेवाले अनेक विचारो ने, आरभ मे, ब्राह्म-समाज के भीतर से ही हिन्दू-धर्म मे प्रवेश किया। भारतवर्ष यूरोप के साथ अपना समन्वय खोज रहा था। ब्राह्म-समाजियो ने प्रयोग करके, मानो, यह घोषणा की कि इस समन्वय का रूप ऐसा होगा। किन्तु, स्मरण रहे कि ब्राह्म-समाज यूरोप का भारतीयकरण नही, प्रत्युत, भारत के ही यूरोपीयकरण का प्रयास था।

शरमाये हुए शूरमा

फिर भी, याद रखने की बात है कि राममोहन राय का उद्देश्य भारत को यूरोप बनाना नही था। वे तो भारत के प्राचीन सत्यो का समन्वय यूरोप के नवीन अनुसन्धानो

के साथ करना चाहते थे। साथ ही, उनका उद्देश्य ईसाइयत के आक्रमणो से हिन्दुत्व की रक्षा करना भी था। यह उद्देश्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर में भी स्पष्ट था। जव उमेश-चद्र सरकार ईसाई हो गये, तव कलकत्ते मे इस धर्म-परिवर्तन से वडी खलवली मची और देवेन्द्रनाथ ने कलकत्ते के सभी नामी हिन्दुओ को अपने यहाँ वुला कर, सव के विचारार्थ, यह प्रस्ताव रखा कि ईसाइयत की यह वाढ कैसे रोकी जा सकती है। केशवचद्र सेन भी, अपने जीवन के अन्तिम काल मे, भारतीयता और एशियाईपन की ओर वहुत अधिक झुक गये थे। किन्तु, एक वात सच है कि ब्राह्म-समाज के सभी नेता हिन्दुत्व की घवराहट के प्रतीक थे। वे हिन्दुत्व की रक्षा उसके सपूर्ण रूप मे करने से घवराते थे। निदान, वे हिन्दू-धर्म की उन्ही वातो को ऊपर ला रहे थे, जो वुद्धिवाद की कसौटी पर ठहर सकती थी, जिनका मजाक उडाने में ईसाइयो को दुविधा हो सकती थी। किन्तु, यह वहुत-कुछ शरमाये हुए लोगो का युद्ध था। यह रक्षापरक लड़ाई थी। यह वहुत-कुछ कवीर-की-सी उलझन की आवृत्ति थी। कवीर ने राम का नाम तो लिया था, किन्तु, कौन राम, ऐसा पूछा जाने पर उन्होने स्पष्ट कह दिया था कि मै दाशरथि-राम का भक्त नही हूँ।

संतो, आवै जाय सो माया।
दसरथ के घर ब्रह्म न जनमे, ई छल माया कीन्हाँ।

ब्राह्म-समाजी विद्वान् भी हिन्दुत्व की ओर से वोलने को खडे हुए थे, किन्तु, उनकी यह हिम्मत नही हुई कि वे हिन्दुत्व के समग्र रूप—पुनर्जन्म, अवतारवाद, तीर्थ, मन्दिर और मर्त्ति-पूजा आदि—का समर्थन कर सके। हिन्दुत्व का जो रूप उन्होने लिया, वह ईसाइयत और इस्लाम से अधिक भिन्न नही था। ईसाइयत और हिन्दुत्व के युद्ध का यह पहला मोर्चा था, जिसमे हिन्दुत्व कुछ लजाया हुआ और प्रतिपक्षी की प्रवलता से आतकित था। वे लोग वाद को आये, जिन्होने हिन्दुत्व के समग्र रूपो का समर्थन वीरता से किया। पहले भी कवीर के वाद तुलसी आये थे और जिस राम का उपासक वनने मे कवीर को शर्म लगी थी, उस राम मे अपना अटल विश्वास प्रकट करते हुए तुलसीदास ने घोपणा की थी कि हाँ, मेरा देवता तो दशरथ का ही पुत्र है।

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सुदसरथ अजिर-विहारी।

ब्राह्म-समाजी नेता और स्वामी दयानन्द, इनका भाव वहुत-कुछ कवीर का ही भाव था। यद्यपि, स्वामी दयानन्द पर लज्जित होने का दोष ठीक से नही वैठता है। हाँ, तुलसी की वीरता और निश्छलता की आवृत्ति परमहस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द मे हुई।

मुस्लिम-युग में सिक्ख-धर्म हिन्दू-इस्लाम वनने को उठा था। अँगरेजो के समय ब्राह्म-समाज ने हिन्दू-ईसाइयत वनने की कोशिश की। यह हिन्दुत्व का अँगरेजी में अनुवाद था, जैसे सिक्ख-धर्म सनातन धर्म की अरवी व्याख्या वन कर प्रकट हुआ था।

प्रकरण ६

महाराष्ट्र मे नवोत्थान

परमहंस-समाज और प्रार्थना-समाज

उन्नीसवी सदी के हिन्दू-नवोत्थान की मूल प्रेरणा सामाजिक थी, यद्यपि, बगाल मे उसने धार्मिक रूप लिया था। किन्तु, महाराष्ट्र म वह आरभ से ही सामाजिक रही। सन् १८४९ ई० मे बम्बई में परमहस-समाज नामक एक सस्था बनी थी, जिसका उद्देश्य जाति-प्रथा का भजन था। इसके सदस्य छिप कर तथाकथित नन्ही जातिवालो के हाथ की रसोई खाते थे और समझते थे कि छिप कर वे क्राति का बीज वपन कर रहे है। किन्तु, एक बार जो यह भेद खुला तो ऊँची जातिवालो मे खलबली मच गयी। परिणाम यह हुआ कि यह सस्था समाप्त हो गयी।

तब सन् १८६४ ई० में केशवचद्र सेन बम्बई गये और वहाँ उन्होंने ब्राह्म-समाज की शाखा खोलनी चाही। उनके प्रभाव से बम्बई मे ब्राह्म-समाज की शाखा प्रार्थना-समाज के नाम से खुली, जिसके मुख्य उद्देश्य चार थे—१ जाति-प्रथा का विरोध, २ विधवा-विवाह का समर्थन, ३ स्त्री-शिक्षा का प्रचार और ४ बाल-विवाह का अवरोध। हिन्दू-समाज के इन चार दोषो पर बाहरवालो की दृष्टि सीधे पडती थी और इन दोषो का समर्थन कट्टर लोग भी नही कर पाते थे। अतएव, सुधारवादियो ने सबसे पहले इन्ही पर ध्यान दिया। महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज की और भी कई शाखाएँ खोली गयी, जिनमें से कुछ सस्थाएँ अपने को ब्राह्म-समाज भी कहती थी।

सभी धर्मो के बीच एकता बिठाने का जो प्रयास बगाल के ब्राह्म-समाजी करते थे, कुछ वैसा ही ध्येय प्रार्थना-समाजियो का भी था। प्रार्थना-समाज की भी प्रार्थनाओ में मत्र वेद, उपनिषद, कुरान, जेन्दावेस्ता और बाइबिल, सभी धर्म-ग्रन्थो से लिये जाते थे और समाज के सदस्य सभी धर्मों पर एक समान श्रद्धा रखते थे।

महादेव गोविन्द रानाडे

जिस प्रकार बगाल में हिन्दू-नवोत्थान के पहले नेता राजा राममोहन राय हुए, उसी प्रकार, महाराष्ट्र म इस आन्दोलन का श्रीगणश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। बौद्धिक ऊँचाई मे रानाडे, प्राय, राममोहन राय के समकक्ष थे। उनकी मेधा, उनका ज्ञान और उनका पावन चरित्र, सब ने मिल कर उन्हे देश के सर्वोच्च महापुरुषो में स्थान दे रखा था एव महाराष्ट्र मे उनकी पूजा होती थी। गोपाल कृष्ण गोखले रानाडे के शिष्य थे। उन्होने लिखा है कि "रानाडे ने, प्राय, तीस वर्ष तक भारतवर्ष के ऊँचे से

ऊँचे विचारो तथा ऊँची-से-ऊँची आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व किया था।" प्रोफेसर कर्वे ने लिखा है कि कोई बाईस साल तक पूने का सारा इतिहास रानाडे के कृत्यो का ही इतिहास था।

रानाड चितपावन ब्राह्मण थे। उनका जन्म सन् १८४२ ई० म नासिक जिले में हुआ था। वे साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पडित थे। वे सरकारी नौकरी मे थे एव, अन्त मे, वे हाईकोर्ट के जज भी हुए थे। नौकरी के सिलसिले मे वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने लोगो मे नया जीवन डाल दिया। उनके हाथो अनेक सस्थाओ का जन्म हुआ। पूने मे तो उन्होंने इतनी सस्थाएँ खोली कि पूना सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ का तीर्थ ही हो गया।

ईसाइयत और यूरोपीय विचारो के आक्रमणो से बचने के लिए हिन्दुत्व ने जैसे बगाल में राममोहन राय को उत्पन्न किया था,वैसे ही,महाराष्ट्र मे उसने रानाडे को जन्म दिया और राममोहन राय के समान ही, रानाडे भी यूरोप का जवाब यूरोप के साधनो से देना चाहते थे। वे उत्कट सुधारवादी थे एव रूढियो को मिटा कर वे हिन्दुत्व का निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु, उनका समय सुधारो के केवल जन्म का समय था एव हिन्दू-कट्टरता सुधारको से उस समय दबने को तैयार नही थी। कुछ वह दुर्भाग्य भी उनके साथ रहा, जिसने बगाल में केशवचद्र का पीछा किया था। बात यह हुई कि रानाडे की पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया और दूसरा विवाह उन्होंने विधवा से नही करके एक ग्यारह साल की कुमारी बालिका से किया। कहते है, यह विवाह उन्हें अपनी इच्छा और भावना के विरुद्ध, अपने पिता के दुराग्रह के कारण करना पडा था। किन्तु, दण्ड इसका उन्हे भोगना पडा और आजीवन वे आलोचको के ताने नीरव होकर सुनते रहे।

रानाडे, आगरकर और तिलक

यह भी इतिहास का व्यग्य ही था कि रानाडे जिन सुधारो को समाज मे लाना चाहते थे, उनका विरोध लोकमान्य बाल गगाधर तिलक को करना पडा। जीवन भर रानाडे और तिलक दो विरोधी शिविरो मे विभक्त रहे और जीवन भर रानाडे पर तिलक के बाण बरसते रहे।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंड मार्क्स इन लोकमान्यस लाइफ' मे श्रीयुत केलकर ने लिखा है कि "तिलकजी न तो पाषण्डी हैं, न सामाजिक सुधारो के मामले मे वे आगा-पीछा करनेवाले मनुष्य हैं। अपने ढग पर वे भी व्यावहारिक सुधारक हैं। अपनी बेटियो को उन्होंने अच्छी शिक्षा दी है और उनका विवाह भी उन्होंने शास्त्र-निर्धारित सीमा के अन्तिम छोर पर ही पहुँच कर किया है। उन्होंने जाति-प्रथा की कट्टरता को मिटाने की बात कही है और सामाजिक सुधारो के प्रति उनकी, साधारणत, सहानुभूति रही है। फिर भी, वे सुधारवादी दल के विरोधी रहे हैं, जिसका कारण यह है कि ये

सुधारक, इन सुधारको के उनके तरीके और सुधार के लिए उनके द्वारा नियत काल तिलकजी को पसद नही है।"

किन्तु, इतना होते हुए भी तिलकजी रानाडे के आलोचक रहे। यही नही, श्रीयुत आगरकर से भी उनकी नही पटी, क्योकि आगरकर भी क्रान्तिकारी सुधारक थे और हिन्दुत्व की कट्टरता, कहीं-न-कहीं से, तिलकजी की सहानुभूति पर अपना अधिकार रखती थी। सन् १८९१ ई० में जब 'एज आव् कान्सेन्ट बिल' इपीरियल काउन्सिल में पेश हुआ, तब उसका तीव्र विरोध तिलकजी ने किया था।

ऐसा लगता है कि तिलकजी अपने समकालीन अन्य सुधारको से कुछ अधिक व्यावहारिक और कालज्ञ थे। उन्नीसवी सदी की हिन्दू-जनता भयानक रूप से कट्टर थी। वह जात-पाँत और छुआछूत के मामलो में अत्यन्त सतर्क रहती थी और किसी को भी थोडी-सी भी छूट देने को तैयार नही थी। सन् १८९० ई० में पूने के कोई पचास ब्राह्मण एक मिशनरीके निमत्रण पर उसके घर गये। वहाँ आतिथेय ने अतिथियो के स्वागतार्थ मेज पर चाय और बिस्कुट रखवाये। कहते हैं,तिलक और रानाडे ने चाय और बिस्कुट का स्पर्श भी नही किया। किन्तु, दूसरे ही दिन नगर में कोलाहल मच गया और धर्म-धुरीण पडितो ने इतना वावेला मचाया कि तिलक और रानाडे, दोनो को प्रायश्चित्त करना पडा।

दूसरी घटना शारदा-सदन नामक सस्था को लेकर घटी। यह संस्था पडिता रामा बाई की कायम की हुई थी। पडिता रामा बाई ब्राह्मणी थीं एव सस्कृत विद्या पर उनका असाधारण अधिकार था। हिन्दू-समाज में नारियो का जो अत्यन्त निम्न स्थान था, उससे रामा बाई बहुत क्षुब्ध थीं एव देश भर में वे नारी-जागरण का सदेश लिये घूमती फिरती थी। बगाल पहुँच कर उन्होने एक अब्राह्मण से विवाह कर लिया था, यद्यपि, वे शीघ्र ही विधवा हो गयी। उनके इस साहस से महाराष्ट्र की जनता बहुत कुपित हो उठी। इसी बीच, रामा बाई इंगलैंड और अमेरिका चली गयी तथा वहाँ से वे ईसाई बन कर वापस आयीं।

शारदा-सदन उन्होने बालिकाओ की शिक्षा के लिए खोला था। किन्तु, उनके उग्र विचारो और आचरणो के कारण बहुत-से लोग उनके खिलाफ हो गये। रानाडे और आगरकर मानते थे कि हिन्दू बालिकाएँ शारदा-सदन में पढें, इसमें कोई दोष नही है। किन्तु, तिलकजी का कहना था कि यह संस्था हिन्दू बालिकाओं को ईसाइयत की राह पर ले जानेवाली है। अतएव, इसका बहिष्कार होना चाहिए। आरम में, लोग तिलकजी की बातो को अनसुनी करते रहे। किन्तु, जब तिलकजी ने अपने पक्ष के अनेक प्रमाण प्रकाशित कर दिये, तब रानाडे और आगरकर ने भी शारदा-सदन से अपना सबध तोड लिया।

महाराष्ट्र में सुधार की हवा जोर से उठी थी, किन्तु, कई कारणो से उसके परिणाम थोडे रह गये। कासेंट बिल, शारदा-सदन-काण्ड और मिशनरी के यहाँ चाय और

विस्कुटवाली घटनाओ से सुधारको का आदर घट गया था। उस पर, सन् १८९३-९४ ई० मे बम्बई और पूने मे जो हिन्दू-मुस्लिम-दगे हुए, उन्होने परिस्थिति को और भी विगाड दिया। इन्ही दगो के बाद तिलकजी ने महाराष्ट्र में गणेश-पूजा और शिवाजी-महोत्सव का प्रवर्तन किया, जिससे हिन्दू-राष्ट्रीयता के भाव जोर से लहरा उठे। अतीतोन्मुखी भावनाओ की इस बाढ के सामने सुधारको के पाँव उखड गये और महाराष्ट्र का नेतृत्व तिलकजी के हाथ मे चला गया। श्रीयुत केलकर ने लिखा है कि उस समय सुधारको का दल गणेश-पूजा पर जितनी ही बौखलाहट मचाये हुआ था, मुसलमानो के अत्याचारो पर वह उतना ही मौन था।[1] सरकार मुसलमानो के साथ थी। अतएव, जनता ने समझा कि सुधारक सरकार के भय से नही बोलते हैं। स्पष्ट ही, यह तिलकजी के सुयश और सुधारको के अपयश के बढने की घडी थी।

तिलक और गोखले

नवोत्थान के क्रम मे महाराष्ट्र मे विचारो के चार नेता उत्पन्न हुए, जिनमे से केवल आगरकर का प्रभाव अपने प्रान्त तक सीमित रहा। बाकी तीन नेताओ—रानाडे, गोखले और तिलक—का प्रभाव सारे देश पर पडा। रानाडे, प्रधानत, समाज-सुधारक थे, किन्तु, गोखले और तिलक राजनीति के भी अग्रणी नेता हुए हैं। गोखले और तिलक की तुलना करते हुए श्रीयुत् पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है[2] कि गोखले का विषय शासन और उसमें सुधार था, किन्तु, तिलक सारे राष्ट्र को बदलना चाहते थे। गोखले का आदर्श सेवा और प्रेम था, किन्तु, तिलक सेवा और यातनाओ के प्रेमी थे। गोखले विदेशियो पर ज्ञान, तर्क और प्रेम से विजय पाना चाहते थे, तिलक का उद्देश्य उन्हे देश से बाहर निकाल देना था। गोखले अपनी बातें बुद्धिजीवियो को सुनाना चाहते थे, तिलक का श्रोता जनता का विशाल समुदाय था। गोखले के जौहर काउन्सिल चैम्बर मे खुलते थे, तिलक का तेज ग्रामो के मडपो मे प्रकट होता था। गोखले का लक्ष्य स्वायत्त-शासन की प्राप्ति था, तिलक स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। गोखले के भाषणो की भाषा अँगरेजी थी, किन्तु, तिलकजी के भाषण और लेख मराठी मे होते थे। तिलकजी गोखले से कोई दस साल बडे थे, यद्यपि, गोखले तिलक से पाँच वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधार गये।

परशुराम और राम

इडियन अनरेस्ट (प्रथम प्रकाशित १९१० ई०)[3] के लेखक ने तिलकजी को भारतीय विद्रोह का पिता कहा है, किन्तु, हम लोग राममोहन राय के समान उन्हे भारतीय

---

१ लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव् तिलक
२ कांग्रेस का इतिहास,
३ लेखक सर वलेनटाइन शिरोल

राष्ट्रीयता का जनक कहते है। राष्ट्रीयता के साथ लोगो मे एक ओर जहाँ शासन करनेवाली जाति के प्रति घृणा जगती है, वहाँ स्वदेश के लिए गौरव और अभिमान का भी उदय होता है। राममोहन राय और रानाडे में इस राष्ट्रीयता का केवल गौरव जगा था, उसका अभिमान-पक्ष लोकमान्य तिलक मे आकर साकार हुआ। तिलक से पूर्व के लोगो एव उनके आरम्भिक समकालीनो में राजनैतिक कर्म की प्रेरणा नहीं थी। यह प्रेरणा भी भारत मे तिलकजी ने जगायी। इसीलिए, उनमे केवल स्वदेश-प्रेम ही नही, विदेशियो के विरुद्ध घृणा के भी भाव थे और इसीलिए देश को निर्भयता का पाठ पढाने का आदि श्रेय भी तिलक को ही प्राप्त हुआ। श्री डी० एस० शर्मा[1] ने खूब कहा है कि जब तिलक जी का दाय गाँधीजी को मिला, तब एक प्रकार से, राष्ट्रीयता के धनुष का भार परशुराम से छूट कर राम के हाथो में आया था। गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने ही यह घोषणा की थी कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने ही यह कहा था कि प्रस्तावो और भाषणो से कुछ होनेवाला नहीं है, हमें ठोस काम करना चाहिए। और गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने यह भी बताया था कि हमारा ठोस काम असहयोग का रूप ले सकता है। गाँधी-युग में देश मे बलिदानों का ताँता लग गया था, किन्तु, इस सरणी का भी आरभ लोकमान्य ने अपने बलिदानो से किया था।

प्रार्थना-समाज का रूप

रानाडे, यद्यपि, राजनीति में नही उतरे, किन्तु, सास्कृतिक धरातल पर उन्होंने जो कुछ किया, उससे भारत की राष्ट्रीयता को यथेष्ट उत्तेजना मिली। उनका प्रार्थना-समाज, यद्यपि, बगाल के ब्राह्म-समाज का ही नूतन सस्करण था, किन्तु, रानाडे नव-विधान की बात नही करते थे। प्रार्थना-समाज को हिन्दू-धर्म से अलग ले जाकर उसे एक नये सप्रदाय का रूप देना उनका अभीष्ट नही था। प्रार्थना-समाज जाति-प्रथा का विरोधी था, जन्मना एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम मानने की प्रथा को वह तोडना चाहता था एव स्त्री-शिक्षा तथा नर-नारी की समानता का वह पोषण करना चाहता था। इस समाज के लोग निराकारवादी थे, यह ठीक है, किन्तु, मूर्त्ति-पूजा एव परपरागत अनुष्ठानो के त्याग की शर्त इस समाज में नही थी, जैसी अनेक शर्तें बगाल में ब्राह्म-समाजियो ने लगा रखी थी। ब्राह्म-समाजी बगाल मे केवल धनी विद्वान् वर्गों के ही लोग हुए थे, किन्तु, रानाडे चाहते थे कि प्रार्थना-समाज में अशिक्षित जनता का भी प्रवेश हो, यद्यपि, उनका यह अरमान कभी पूरा नही हुआ। मध्यकालीन महाराष्ट्र में भक्ति का जो आन्दोलन उठा था, उसीके समान रानाडे प्रार्थना-समाज को

१ रिनासाँ ऑव् हिन्दुइज्म

ी सर्वत्र ले जाना चाहते थे और इसमे कोई दोष भी नही था। ज्ञानदेव, एकनाथ, ुकाराम, रामदास और जनार्दन पत, ये सत बहुत उदार रहे थे। उन्होने मनुष्य की समानता को प्रश्रय दिया था। वे धर्म के वाह्याचारों के आलोचक थे और जाति-प्रथा की कट्टरता का उन्होने विरोध किया था। इसी भक्ति-आन्दोलन को सामने रख कर रानाडे प्रार्थना-समाज को सर्व-जन-ग्राह्य बनाना चाहते थे। सन् १८९३ ई० मे लाहौर मे भाषण देते हुए उन्होने कहा था कि "हिन्दू-जनता इतनी बुरी नही है कि हम उसे सडाँध से भरा हुआ बर्बादियो का अम्वार कहे। यह जनता कुछ दूर तक कट्टर अवश्य है, किन्तु, इसी कट्टरता ने उसकी रक्षा भी की है। जो जाति अपने विश्वास और नैतिकता को, अपने आचारो और सामाजिक आचरणो को फैशन के समान आसानी से बदल दे, वह इतिहास मे किसी बडे उद्देश्य की प्राप्ति से वचित रहेगी। साथ ही, यह भी सच है कि हमारी कट्टरता इतनी भयानक भी नही है कि हम नये विचारो और नूतन प्रयोगो को अपने भीतर, धीरे-धीरे, नही पचा सके।"[1]

रानाडे बिलकुल ठीक थे। उस समय समाज ने सुधारको का चाहे जो भी विरोध किया हो, किन्तु, आज तो ऐसा लगता है कि हिन्दू-समाज ने रानाडे और आगरकर, राम-मोहन राय और केशवचन्द्र सेन तथा दयानन्द और विवेकानन्द के एक-एक उद्देश्य को अपने हृदय मे बिठा लिया है और उनमे से प्रत्येक का हम यथाशक्ति आचरण भी करते जा रहे है। किन्तु, यह भी ठीक है कि ब्राह्म-समाज या प्रार्थना-समाज के धार्मिक सिद्धान्तो को इस देश की जनता ने पसन्द नही किया।

१९वीं सदी और मध्यकाल

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन और उन्नीसवी सदी के सास्कृतिक नवोत्थान मे थोडी-सी समता जरूर है। विशेषत, ब्राह्म-समाज और आर्य-समाज की निराकारो-पासना निर्गुणवादी सतो की निराकारोपासना की प्रतिध्वनि के समान लगती है। जाति-प्रथा, मूर्त्ति-पूजा और तीर्थ आदि के विरुद्ध जिस जोर से उन्नीसवी सदी के नेता बोले, उससे, कदाचित्, अधिक जोर से कबीर, दादू आदि बोले थे। उन्नीसवी सदी का नवोत्थान परपराओ और रूढियो का उतना ही विरोधी था, जितना मध्यकालीन नवोत्थान। किन्तु, एक बात थी जिसके कारण ब्राह्म-समाज के पाँव इस देश में नही जम पाये और जिसके कारण वह भक्ति-आन्दोलन से भी पूरा मेल नही खाता है। ईसाई धर्म के सभी तत्त्वो पर ब्राह्म-समाज ने बहुत अधिक जोर दिया। किन्तु, हिन्दू-धर्म की केवल बुराइयाँ ही उसकी दृष्टि मे आयी। अतएव, वह हिन्दुओ की दृष्टि मे विनयशील कम, प्रतिमा-भजक अधिक हो गया। मूर्त्ति-पूजा का खडन तो, खैर, अलग बात थी, किन्तु,

---

१ रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म

अवतारवाद का खडन करके उसने मनुष्य को ईश्वर से विच्छिन्न कर डाला और धरती तथा आकाश के बीच फिर वही खाई खोद दी जो बुद्ध के दिनो मे खुदी थी।

सच पूछिये तो ब्राह्म-समाज का जन्म ही घबरायी हुई मनोवृत्ति से हुआ था। राममोहन राय ने मोक्ष के लिए व्याकुलता नही प्रकट की। वे तो ईसाइयत की चोट से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आये थे। उनका उद्देश्य सामाजिक था एव ब्राह्म-समाज उसी सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए बनाया गया था। देवेन्द्रनाथ और केशवचद्र ने, व्यर्थ ही, उसे आध्यात्मिक सिद्धि का सोपान बनाना चाहा।

प्रकरण ७

आर्य-समाज

स्वाभिमान का उदय

सत्यार्थ-प्रकाश के एकादश समुल्लास मे स्वामी दयानन्द ने ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के विषय मे निम्नलिखित वाते लिखी है —

"जो कुछ ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाजियो ने ईसाई मत मे मिलने से थोडे मनुष्यो को वचाये और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्त्ति-पूजा को हटाया, अन्य जालग्रथो के फदो से भी वचाये इत्यादि अच्छी वाते है। परन्तु, इन लोगो मे स्वदेश-भक्ति वहुत न्यून है। ईसाइयो के आचरण वहुत-से लिये है। खान-पान, विवाहादि के नियम भी वदल दिये है। अपने देश की प्रशसा और पूर्वजो की बडाई करनी तो दूर रही, उसके वदले पेट भर निन्दा करते है। व्याख्यानो मे ईसाई आदि अँगरेजो की प्रशसा भर पेट करते है। ब्रह्मादि महर्षियो का नाम भी नही लेते। प्रत्युत, ऐसा कहते है कि विना अँगरेजो के सृष्टि मे आज पर्यन्त कोई विद्वान् नही हुआ। आर्यावर्त्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये है। वेदादिको की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु, निन्दा करने से भी पृथक् नही रहते। ब्रह्म-समाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओ की सख्या मे ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे है। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नही लिखा।"

केशवचन्द्र और रानाडे की तुलना मे दयानन्द वैसे ही दीखते है, जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र मे हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज, पहले-पहल, तिलक मे प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही सस्कृति के क्षेत्र मे भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द मे निखरा। ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नेता अपने धर्म और समाज मे सुधार तो ला रहे थे, किन्तु, उन्हे वरावर यह खेद सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे है, वह विदेश की नकल है। अपनी हीनता और विदेशियो की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा, कही-न-कही, दवी हुई थी। अतएव, कार्य तो, प्राय, उनके भी वैसे ही रहे, जैसे स्वामी दयानन्द के, किन्तु, आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे दर्प से नही वोल सके। यह दर्प स्वामी दयानन्द मे चमका। रूढियो और गतानुगतिकता मे फँस कर अपना विनाश करने के कारण उन्होने भारतवासियो की कडी निन्दा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक सस्कारो की धूल मे छिप गया है। इन सस्कारो की गदी पत्तो को तोड फेको। तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है, जिस पर आरूढ होने से तुम फिर से विश्व-विजयी हो सकते हो। किन्तु, इससे भी कडी फटकार उन्होने ईसाइयो पर और मुसलमानो पर भेजी, जो दिन-दहाडे हिन्दुत्व की निन्दा करते

फिरते थे। ईसाई और मुस्लिम पुराणो में घुस कर उन्होंने इन धर्मों में भी वैसे ही दोष दिखला दिये, जिनके कारण ईसाई और मुसलमान हिन्दुत्व की निन्दा करते थे। इससे दो बातें निकली। एक तो यह कि अपनी निन्दा सुन कर घबरायी हुई हिन्दू-जनता को यह जान कर कुछ सतोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नही है। दूसरी यह कि हिन्दुओ का ध्यान अपने धर्म के मूलरूप की ओर आकृष्ट हुआ एव वे अपनी प्राचीन परपरा के लिए गौरव का अनुभव करने लगे।

आक्रामकता की ओर

राममोहन और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लडी थी, जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने आक्रामकता का थोडा-बहुत श्रीगणेश कर दिया, क्योकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है। सत्यार्थ-प्रकाश में जहाँ हिन्दुत्व के वैदिक रूप का गहन आख्यान है, वहाँ उसमे ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना पर भी अलग-अलग दो समुल्लास हैं। अब तक हिन्दुत्व की निन्दा करने वाले लोग निश्चित थे कि हिन्दू अपना सुधार भले करता हो, किन्तु, बदले में हमारी निन्दा करने का उसे साहस नही होगा। किन्तु, इस मेधावी एव योद्धा सन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यही नहीं, प्रत्युत, जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नही आयी थी, उस बात को लेकर स्वामी दयानन्द के शिष्य आगे बढे और उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्थामें अपने धर्म में वापस आ सकता है एव अहिन्दू भी यदि चाहे तो हिन्दू-धर्म में प्रवेश पा सकते है। यह केवल सुधार की वाणी नही थी, जाग्रत हिन्दुत्व का समर-नाद था। और, सत्य ही, रणारूढ हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई नही हुआ।

इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि स्वामी दयानन्द की गिनती महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द की सरणी में की जाने लगी। किन्तु, स्वामी दयानन्द मुसलमानो के विरोधी नही थे। स्वामीजी का जब स्वर्गवास हुआ, तब सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ ने जो समवेदना और शोक प्रकट किया, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुस्लिम जनता के बीच भी स्वामीजी का यथेष्ट आदर था। स्वामी जी के बाद आर्य-समाज और मुस्लिम-सप्रदाय के बीच का संबध अच्छा नही रहा, यह सत्य है ; किन्तु, स्वामीजी के जीवन-काल में ऐसी बात नही थी।

सच पूछिये तो स्वामीजी केवल इस्लाम के ही आलोचक नहीं थे, वे ईसाइयत और हिन्दुत्व के भी अत्यन्त कडे आलोचक हुए है। सत्यार्थ-प्रकाश के त्रयोदश समुल्लास मे ईसाई मत की आलोचना है और चतुर्दश समुल्लास मे इस्लाम की। किन्तु, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासो में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अगो की बखिया उधेडी गयी

है और कबीर, दादू, नानक, बुद्ध तथा चार्वाक एव जैनो और हिन्दुओ के अनेक पूज्य पौराणिक देवताओ मे से एक भी वेदाग नही छूटा है। वल्लभाचार्य और कवीर पर तो स्वामी जी इतना वरसे है कि उनकी आलोचना पढ कर सहनशील लोगो की भी धीरता छूट जाती है। किन्तु, यह सब अवश्यभावी था। यूरोप के बुद्धिवाद ने भारतवर्ष को इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्व के बुद्धि-सम्मत रूप को आगे लाये विना कोई भी सुधारक भारतीय सस्कृति की रक्षा नही कर सकता था। स्वामी जी ने बुद्धिवाद की कसौटी वनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर निश्छल भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खड-खड हो ही गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैकडो कमजोरियाँ लोगो के सामने आ गयी।

किसी का भी पक्षपात नहीं

चूँकि ईसाइयत और इस्लाम हिन्दुत्व पर आक्रमण कर रहे थे, इसलिए, हिन्दुत्व की ओर से वोलने वाला प्रत्येक व्यक्ति ईसाइयत या इस्लाम अथवा दोनो का द्रोही समझ लिया गया। किन्तु, इस प्रसग से अलग हटने पर स्वामी दयानन्द विश्व-मानवता के नेता दीखते हैं। उनका उद्देश्य सभी मनुष्यो को उस दिशा में ले जाना था, जिसे वे सत्य की दिशा समझते थे। उन्होने सत्यार्थ-प्रकाश की भूमिका में स्वय लिखा है कि "जो जो सव मतो में सत्य वातें हैं, वे वे सव मे अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मत-मतान्तरो में मिथ्या वातें है, उन उनका खडन किया है। इसमे यह भी अभिप्राय रखा है कि जव मत-मतान्तरो की गुप्त वा प्रकट वुरी वातो का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सव साधारण मनुष्यो के सामने रखा है, जिससे सव से सव का विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरो की झूठी वातो का पक्षपात न करके यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही, दूसरे देशस्थ या मतोन्नति वालो के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालो के साथ मनुष्योन्नति के विपय में वर्त्तता हूँ वैसा विदेशियो के साथ भी तथा सव सज्जनो के भी वर्त्तना योग्य है। क्योकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और वन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु, ऐसी वातें मनुष्यपन से वाहर हैं।" अन्यत्र चौदहवें समुल्लास के अन्त में भी स्वामी जी ने कहा है कि "मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नही है। किन्तु, जो सत्य है, उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसे छोडना-छुडवाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त के प्रचलित मतो में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु, मैं आर्यावर्त्त वा अन्य देशो में जो अधर्म-

युक्त चाल-चलन है, उनको स्वीकार नहीं करता और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नही करता, न करना चाहता हूँ क्योकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के विरुद्ध है।"

सुधार नहीं, क्रान्ति

उन्नीसवी सदी के हिन्दू-नवोत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि जब यूरोपवाले भारतवर्ष मे आये, तब यहाँ के धर्म और सस्कृति पर रूढ़ि की पर्त्तें जमी हुई थी एवं यूरोप के मुकाबले मे उठने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्त्तें एकदम उखाड फेंकी जायें और हिन्दुत्व का वह रूप प्रकट किया जाय जो निर्मल और बुद्धिगम्य हो। स्वामी जी के मत से यह हिन्दुत्व वैदिक हिन्दुत्व ही हो सकता था। किन्तु, यह हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओ के नीचे दबा हुआ था। उस पर अनेक स्मृतियों की धूल जम गयी थी एव वेद के बाद के सहस्रो वर्षो में हिन्दुओ ने जो रूढियाँ और अन्ध-विश्वास अर्जित किये थे उनके ढूहो के नीचे यह धर्म दबा पडा था। राममोहन राय, रानाडे, केशवचन्द्र और तिलक से भिन्न स्वामी दयानन्द की विशेषता यह रही कि उन्होंने धीरे-धीरे पपडियाँ तोडने का काम न करके, उन्हें एक ही चोट से साफ कर देने का निश्चय किया। परिवर्त्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब सुधार कहलाता है। किन्तु, वही जब तीव्र वेग से पहुँच जाता है, तब उसे क्राति कहते हैं। दयानन्द के अन्य समकालीन सुधारक केवल सुधारक मात्र थे, किन्तु, दयानन्द क्रातिके वेगसे आये और उन्होंने निश्छल भाव से यह घोषणा कर दी कि हिन्दू-धर्म-ग्रथो में केवल वेद ही मान्य है, अन्य शास्त्रों और पुराणो की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नही जानी चाहिएँ। छह शास्त्रो और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नही था, अतएव, स्वामी जी ने इन सारे कृत्यो और विश्वासो को गलत घोषित किया।

वेद को छोड कर कोई अन्य धर्म-ग्रथ प्रमाण नही है, इस सत्य का प्रचार करने के लिए स्वामीजी ने सारे देश का दौरा करना आरभ किया और जहाँ-जहाँ वे गये, प्राचीन परपरा के पडित और विद्वान् उनसे हार मानते गये। संस्कृत भाषा का उन्हें अगाध ज्ञान था। सस्कृत में वे धारावाहिक रूप से बोलते थे। साथ ही, वे प्रचंड तार्किक थे। उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्म-ग्रथो का भी भलीभाँति मथन किया था। अतएव, अकेले ही, उन्होंने तीन-तीन मोर्चों पर सघर्ष आरंभ कर दिया। दो मोर्चे तो ईसाइयत और इस्लाम के थे, किन्तु, तीसरा मोर्चा सनातन धर्मी हिन्दुओ का था, जिनसे जूझने में स्वामीजी को अनेक अपमान, कुत्सा, कलक और कष्ट झेलने पड़े। उनके प्रचंड शत्रु ईसाई और मुसलमान नहीं, सनातनी हिन्दू ही निकले और, कहते हैं, अन्त में, इन्हीं हिन्दुओ के षड्यत्र से उनका प्राणात भी हुआ। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर

न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई, न पुराणो पर पलने वाले हिन्दू पडित और विद्वान्। हिन्दू-नवोत्थान अब पूरे प्रकाश मे आ गया था और अनेक समझदार लोग, मन-ही-मन, यह अनुभव करने लगे थे कि, सच ही, पौराणिक धर्म मे कोई सार नही है।

आर्य-समाज की स्थापना

सन् १८७२ ई० मे स्वामीजी कलकत्ते पधारे। वहाँ देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने उनका बडा सत्कार किया। ब्राह्मसमाजियो से उनका विचार-विमर्श भी हुआ, किन्तु, ईसाइयत से प्रभावित ब्राह्म-समाजी विद्वान् पुनर्जन्म और वेद की प्रामाणिकता के विषय में स्वामीजी से एकमत नही हो सके। कहते है, कलकत्ते मे ही केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को यह सलाह दी कि यदि आप सस्कृत छोड कर हिन्दी में बोलना आरभ करें तो देश का असीम उपकार हो सकता है। तभी से स्वामीजी के व्याख्यानो की भाषा हिन्दी हो गयी और हिन्दी-प्रातो मे उन्हें अगणित अनुयायी मिलने लगे। कलकत्ते से स्वामीजी बम्बई पधारे और वही १० अप्रैल सन् १८७५ ई० मे उन्होने आर्य-समाज की स्थापना की। बम्बई मे उनके साथ प्रार्थना-समाजवालो ने भी विचार-विमर्श किया। किन्तु, यह समाज तो ब्राह्म-समाज का ही बम्बई-सस्करण था। अतएव, स्वामीजी से इस समाज के लोग भी एकमत नही हो सके।

बम्बई से लौट कर स्वामीजी दिल्ली आये। वहाँ उन्होने सत्यानुसधान के लिए ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पडितो की एक सभा बुलायी। किन्तु, दो दिनो के विचार-विमर्श के बाद भी लोग किसी निष्कर्ष पर नही आ सके। दिल्ली से स्वामीजी पजाब गये। पजाब मे उनके प्रति बहुत उत्साह जाग्रत हुआ और सारे प्रात में आर्य-समाज की शाखाएँ खुलने लगी। तभी से पजाब आर्यसमाजियो का प्रधान गढ रहा है।

थियोसाफी और स्वामी दयानन्द

जब थियोसाफिस्ट लोग भारत आये, तब थोडे दिन उन लोगो ने भी आर्य-समाज से मिल कर काम किया। किन्तु, थियोसाफिस्टो की भी बहुत-सी बातें स्वामीजी के सिद्धातो के विपरीत पडती थी। अतएव, वे लोग भी आर्य-समाज से अलग हो गये। किन्तु, अलग होने पर भी स्वामीजी पर थियोसाफिस्टो की भक्ति ज्यो-की-त्यो बनी रही। स्वामीजी के देहावसान के बाद मादाम ब्लेवास्की ने लिखा था कि "जन-समूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई सगमर्मर की मूर्त्ति भी स्वामीजी से अधिक अडिग नही हो सकती थी। एक बार हमने उन्हे काम करते देखा था। उन्होने अपने सभी विश्वासी अनुयायियो को यह कह कर अलग हटा दिया कि तुम्हे हमारी रक्षा करने की कोई आवश्यकता नही है। भीड के सामने वे अकेले ही खडे हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंह के समान वे स्वामीजी पर टूट पडने को तैयार थे। किन्तु, स्वामीजी की वीरता,

ज्यों-की-त्यों, बनी रही।.......... यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो'।" स्वामीजी की मृत्यु के बाद थियोसाफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था कि "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन व्यूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदयों में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।"

आर्य-समाज की विशेषता

कहा जाता है कि जैसे सिक्ख-धर्म सनातन-धर्म का अरबी अनुवाद है, वैसे ही, आर्य-समाज भी इस्लाम की संस्कृत-टीका है। सिक्ख-धर्म के विषय में यह उक्ति कुछ दूर तक सही समझी जा सकती है, किन्तु, आर्य-समाज के विषय में यह कहाँ तक सत्य है, यह बताना कठिन है। स्वामीजी ने ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों को अनादि माना है, किन्तु, यह तो इस्लाम से अधिक भारतीय योग-दर्शन का मत है। विशेषता यह है कि स्वामीजी यह नहीं मानते कि भगवान पापियों के पाप को क्षमा करते हैं। बल्कि, भगवान की कृपा के सहारे पाप करने की बात के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की बार-बार आलोचना की है। हाँ, जिन बुराइयों के कारण हिन्दू-धर्म का ह्रास हो रहा था तथा अन्य धर्मों के लोग जिन दुर्बलताओं का लाभ उठा कर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे, उन बुराइयों को स्वामीजी ने अवश्य दूर किया, जिससे हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में वही दृढ़ता आ गयी जो इस्लाम में थी। स्वामीजी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। आर्य-समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए विधवा-विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या-शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य-समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रांतों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गयी और हिन्दी के कवि कामिनी-नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे। पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हों, नारियाँ शिक्षिता और सबला हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें, कोई भी हिन्दू मूर्ति-पूजा का नाम न ले, न पुरोहितों, देवताओं और पंडों के फेर में पड़े, ये उपदेश उन सभी प्रांतों में कोई पचास साल तक गूँजते रहे, जहाँ आर्य-समाज का थोड़ा-बहुत भी प्रचार था।

यह विस्मय की बात है कि स्वामीजी ने संहिताओं को तो प्रमाण माना, किन्तु, उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखायी। वेद से उनका अभिप्राय केवल "चारों वेद

'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से उद्धृत।

(विद्या-धर्म-युक्त, ईश्वरप्रणीत संहिता, मंत्र-भाग) और चारो वेदो के ब्राह्मण, छह अंग, छह उपांग, चार उपवेद और ११२७ वेदो की शाखा"[1] से है। इसी प्रकार, युग-युग से पूजित गीता को उन्होने कोई महत्त्व नही दिया और कृष्ण, राम आदि को तो परम पुरुष माना ही नही। वर्णाश्रम का आधार उन्होने गुण-कर्म को माना। उन्होने 'देव' का अर्थ विद्वान्, 'असुर' का अविद्वान्, 'राक्षस' का पापी और 'पिशाच' का अनाचारी माना। पुरुषार्थ को उन्होने प्रारब्ध से बडा बताया तथा सुख-भोग को स्वर्ग तथा दु ख-भोग को नरक कहा। यह हिन्दू-धर्म की बुद्धिवादी टीका थी। यह विज्ञान की कसौटी पर चढे हुए हिन्दुत्व का निखार था।

किन्तु, स्वामीजी ने भी देश मे एक नूतन अन्ध-विश्वास को जन्म दिया। उनके पूर्व भी वेद हिन्दुओ के पूज्य ग्रथ थे और आज भी वे पूज्य हैं। किन्तु, पूज्य होने के मानी यह तो नही हैं कि वेद मे त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। स्वामीजी ने कहा है कि वेद मे केवल धर्म की ही बाते नही हैं, उसमे विज्ञान की भी सारी बाते प्रच्छन्न हैं। पुराणो, शास्त्रो और स्मृतियो के पाश से मुक्त करके जनता को वेदो की ओर ले जाने का यह ढग प्रशसनीय अवश्य था, किन्तु, वेदो को सभी ज्ञानो का कोष मान लेने से लोगो के ज्ञानोन्मेष में बाधा भी पडी। आश्चर्य की बात है कि श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द का समर्थन ही नही किया है, प्रत्युत, यह भी शिकायत की है कि स्वामीजी ने वेदो के महत्त्व को घटा कर ही कहा है।"[2]

आर्यवाद का एक दुष्परिणाम

उन्नीसवी सदी के नवोत्थान से एक और बात निकली, जिसका कुफल देश को आज भी भोगना पड रहा है। जब इस्लाम और ईसाइयत से हिन्दुत्व सघर्ष कर रहा था, उस समय नेताओ, सुधारको और पडितो ने हिन्दुत्व की ओर से जो कुछ प्रमाण दिये, सस्कृत से लेकर दिये और यह ठीक भी था, क्योकि सारे देश में फैले हुए हिन्दुत्व की भाषा सस्कृत थी। पीछे, जो यूरोपीय इतिहासकार भारत के अतीत का इतिहास तैयार करने लगे, उसमे भी मूल उद्धरण सस्कृत से ही आये। किन्तु, स्वामी दयानन्द ने तो सस्कृत की सभी सामग्रियो को छोड कर केवल वेदो को पकडा और उनके सभी अनुयायी भी वेदो की दुहाई देने लगे। परिणाम इसका यह हुआ कि वेद और आर्य, भारत मे ये दोनो सर्व-प्रमुख हो उठे और इतिहासवालो मे भी यह धारणा चल पडी कि भारत की सारी सस्कृति

१ सत्यार्थ प्रकाश, स्वमतव्यामतव्य-प्रकाश-प्रकरण

२ "वेदो मे केवल धर्म ही नही, विज्ञान भी है, दयानन्द के इस विचार मे चौकने की कोई बात नही है। मेरा विचार तो यह है कि वेदो में विज्ञान की ऐसी बाते भी हैं जिनका पता आज के वैज्ञानिको को नही चला है। इस दृष्टि से देखने पर तो यह दीखता है कि दयानन्द ने वेदो में निहित ज्ञान के विषय मे अत्युक्ति नही, बल्कि, अल्पोक्ति से काम लिया है।"—श्री अरविन्द (दयानन्द, द मैन एण्ड हिज़ वर्क)

और सभ्यता वेदवालो अर्थात् आर्यों की रचना है। भारत में जो अनेक जातियो क समन्वय हुआ था, उसकी ओर उस समय किसी ने देखा भी नही। हिन्दू केवल उत्त भारत में ही नही बसते थे और न यही कहने का कोई आधार था कि हिन्दुत्व की रचन में दक्षिण भारत का कोई योगदान नही है। फिर भी, स्वामीजी ने आर्यावर्त्त की जे सीमा बाँधी है, वह विन्ध्याचल पर समाप्त हो जाती है।[1] आर्य-आर्य कहने, वेद-वेद चिल्लाने तथा द्राविड भाषाओ में सन्निहित हिन्दुत्व के उपकरणो से अनभिज्ञ रहने क ही यह परिणाम है कि आज दक्षिण भारत में आर्य-विरोधी आन्दोलन उठ खडा हुआ है। हिन्दू सारे भारत में बसते है तथा उनकी नसो में आर्य के साथ द्राविड रक्त भी प्रवाहित है। हिन्दुत्व के उपकरण केवल सस्कृत में ही नही, प्रत्युत, सस्कृत के ही समान प्राचीन भाषा तमिल में भी उपलब्ध है और दोनो भाषाओ में निहित उपकरणो को एकत्र किये बिना हिन्दुत्व का पूरा चित्र नही बनाया जा सकता। इस सत्य पर यदि उत्तर के हिन्दू ध्यान देते तो दक्षिण के भाइयो को वह कदम उठाना नही पडता, जिसे वे आज उपेक्षा और क्षोभ से विचलित होकर उठा रहे है।

हिन्दुत्व की वीर भुजा

यह दोष चाहे जितना बडा हो, किन्तु, आर्य-समाज हिन्दुत्व की खड्गधर बाँह साबित हुआ। स्वामीजी के समय से ले कर, अभी हाल तक, इस समाज ने सारे हिन्दी-प्रांत को अपने प्रचार से ओंट डाला। आर्य-समाज के प्रभाव में आ कर बहुत-से हिन्दुओ ने मूर्त्ति-पूजा छोड दी, बहुतो ने अपने घर के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को तोड़ कर बाहर फेंक दिया, बहुतो ने श्राद्ध की पद्धति बन्द कर दी और बहुतो ने पुरोहितों को अपने यहाँ से विदा कर दिया। जो विधिवत् आर्य-समाजी नही बने, शास्त्रो और पुराणो में उनका भी विश्वास हिल गया और वे भी, मन-ही-मन, शका करने लगे कि राम और कृष्ण ईश्वर है या नही और पाषाणो की पूजा से मनुष्य को कोई लाभ हो सकता है या नही। आर्य-समाजियो ने जगह-जगह अपने उद्देश्यानुकूल विद्यालय स्थापित किये, जिनमें संस्कृत की विशेष रूप से पढाई होती है और जहाँ के स्नातक स्वामी दयानन्द के उद्देश्यो के मूर्त्तिमान रूप बन कर बाहर आते है। इन विद्यालयो में कन्या और युवक ब्रह्मचर्य-वास भी करते हैं।

आगे चल कर आर्य-समाज ने शुद्धि और संगठन का भी प्रचार किया। सन् १९२१

---

१. "आर्यावर्त्त देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि, इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते है, परन्तु, इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारो के बीच में जितना देश है, उसको आर्यावर्त्त कहते और जो इसमें सदा रहते, उनको भी आर्य कहते हैं।" (सत्यार्थ-प्रकाश : स्वमतव्यामंतव्य-प्रकाश)

ई० मे मोपला (मालावार) मुसलमानो ने भयानक विद्रोह किया और उन्होने पडोस के हिन्दुओ को जवर्दस्ती मुसलमान वना लिया। आर्य-समाज ने इस विपत्ति के समय सकट के सामने छाती खोली और कोई ढाई हजार भ्रष्ट परिवारो को फिर से हिन्दू वना लिया। इसी काण्ड के वाद आर्य-समाजियो ने राजस्थान के मलकाना-राजपूतो की शुद्धि आरभ की, जिससे मुस्लिम-सप्रदाय में क्षोभ उत्पन्न हुआ और लोग कहने लगे कि आर्य-समाजी मुसलमानो से शत्रुता कर रहे है। किन्तु, शत्रुता की इसमे कोई वात नही है। जव अन्य धर्मवालो को यह अधिकार है कि वे चाहे जितने हिन्दुओ को क्रिस्तान या मुसलमान वना सकते है, तव धर्म-भ्रष्ट हिन्दुओ को फिर से हिन्दू वना लेने मे ऐसा क्या अन्याय है? किन्तु, आर्य-समाजियो के इस साहस से मुसलमान वहुत घवराये एव भारतीय एकता का शकट कुछ पीछे की ओर घुडक गया।

आर्य-समाजियो ने अपने साहस का दूसरा परिचय सन् १९३७ ई० में दिया जव हैदरावाद की निजाम-सरकार ने यह फरमान जारी किया था कि हैदरावाद-राज्य में आर्य-समाज का प्रचार नही होने दिया जायगा। इस आज्ञा के विरुद्ध आर्यसमाजियो ने सत्याग्रह का शस्त्र निकाला और, एक-एक करके, कोई वारह हजार आर्यसमाजी सत्याग्रही जेल चले गये।

ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणो से हिन्दुत्व की रक्षा करने मे जितनी मुसीवते आर्य-समाज ने झेली है, उतनी किसी और सस्था ने नही। सच पूछिये तो उत्तर भारत में हिन्दुओ को जगा कर उन्हे प्रगतिशील करने का सारा श्रेय आर्य-समाज को ही है। पडित चमूपति ने सत्य ही कहा है कि "आर्य-समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदड की हड्डी थी ही नही। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उडाये, उसके देवताओ की भर्त्सना करे या उसके धर्म पर कीचड उछाले, जिसे वह सदियो से मानता आ रहा है, फिर भी, इन सारे अपमानो के सामने वह दाँत निपोर कर रह जाता था। लोगो को यह उचित शका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नही, इसे आवेग भी चढता है या नही अथवा यह गुस्से में आ कर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नही। किन्तु, आर्यसमाज के उदय के वाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी। हिन्दुओ का धर्म एक वार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुन कर चुप नही रह सकता। जरूरत हुई तो धर्म-रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है[1]।"

१ द कलचरल हेरिटेज आव् इडिया, जिल्द २

प्रकरण ८

थियोसाफिकल सोसायटी या ब्रह्मविद्या-समाज

थियोसाफिकल सोसायटी का नाम विदेशी है और यह सस्था भी विदेश मे ही जनमी थी। इसके सदस्यो की सख्या भी कभी इतनी नही हुई कि इसकी गिनती भारत के महान् सास्कृतिक आन्दोलनो मे की जा सके। किन्तु, फिर भी इस सस्था की एक सभा-नेत्री श्रीमती एनी बीसेंट ने हिन्दुत्व के नवोत्थान एव भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिए इतना कुछ किया कि उनकी सेवा भुलायी नही जा सकती। आजकल एक दर्शन प्रचलित है, जिसके अनुसार व्यक्ति कुछ भी नही है। जो कुछ भी है, वह समूह है। किन्तु, एनी बीसेंट-जैसे व्यक्तियो के विषय मे यह दर्शन गलत ठहरता है। मानवता का रथ, प्राय, मन्द-मन्द ही चलता है, यह समूह की गति है। किन्तु, कोई-कोई ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके एक ही धक्के मे यह रथ बहुत आगे निकल जाता है। श्रीमती एनी बीसेंट ऐसा ही व्यक्तित्व रखती थी और उनके जीवन का सब से बडा कार्य यह रहा कि उन्होने ऊँघते- हुए हिन्दुओ मे आत्माभिमान भर दिया एव जब ईसाई मिशनरी भारत के बाहर भारत के विषय मे कुप्रचार करके यहाँ के लोगो को ईसाई बना रहे थे, तब इस ईसाई महिला ने खुल कर भारत और हिन्दुत्व का पक्ष लिया।

थियोसाफी शब्द दो यूनानी शब्दो के योग से बना है। यूनानी मे थियोस (Theos) ईश्वर को कहते हैं और सोफिया (Sophia) का अर्थ ज्ञान है। अतएव, थियोसाफी का अर्थ ब्रह्मविद्या बताया जाता है।

सोसायटी का जन्म

इस सस्था का जन्म यो हुआ कि रूस में एक महिला थी जिनका नाम हेलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की था। वे प्रेत-विद्या की जानकार समझी जाती थी। उन दिनो अमेरिका मे भी प्रेत-विद्या की चर्चा छिडी हुई थी और कॉलोनल आलकाट नाम के एक सज्जन इस विद्या से गहरी दिलचस्पी रखते थे। ब्लेवास्की न्यूयार्क गयी, तब वहाँ उनका परिचय आलकाट साहब से हुआ और वही दोनो ने मिल कर थियोसाफिकल सोसायटी की नीव ७ सितम्बर १८७५ ई० में रखी। कहा जाता है कि तिब्बत मे कुछ श्रेष्ठ आत्माएँ थी, जिनका सपर्क श्रीमती ब्लेवास्की से था। इन्ही आत्माओ के पथ-प्रदर्शन में ब्लेवास्की काम करती थी। अतएव, अपनी सस्था का मुख्य उद्देश्य उन्होने उन अगोचर नियमो का अनुसधान और प्रचार रखा, जिनके अधीन यह सृष्टि सचालित होती है।

पीछे चल कर, इस सस्था के उद्देश्य कुछ और विशद एव विस्तृत हो गये। सृष्टि के परोक्ष नियमो के अनुसधान की बात तो रही ही, आगे यह भी जोड दिया गया कि

संस्था के सदस्यो का कर्त्तव्य होगा कि वे उच्च नैतिकतापूर्ण, पवित्र जीवन व्यतीत करें एव विज्ञान के साथ जिस आधिभौतिकता की वृद्धि हो रही है, उसका विरोध करें। यह भी कि किसी भी धर्म की कट्टरता को वे प्रश्रय नही देंगे। सस्था का एक उद्देश्य यह भी माना गया कि पूर्वी देशो मे धर्म और ज्ञान के जो तत्त्व छिपे हुए हैं, उनका सम्यक् प्रचार पाश्चात्य देशो मे किया जाना चाहिए। इस प्रकार, वेद, बौद्ध ग्रथ, जेन्दावेस्ता और कन्फ्यूसियस के उपदेश, ये सभी साहित्य थियोसाफिस्टो के विशेष अध्ययन के विषय वन गये। किन्तु, सस्था का सब से महान् और उपयोगी उद्देश्य यह करार दिया गया कि विश्व-मानवता के आविर्भाव और प्रचार के लिए यह दिखलाया जाय कि धर्म की भिन्नता से एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नही हो जाता है। सभी मनुष्य एक ही परम-सत्ता से निकले हैं और सभी धर्मो के अच्छे लोग एक समान पवित्र हैं।

आगे चल कर तिब्बत की सत आत्माओ ने ब्लेवास्की को यह सदेश दिया कि तुम अपनी सस्था को ले कर भारत चली जाओ। तदनुसार, ब्लेवास्की और आलकाट, १६ फरवरी, १८७९ ई० को बम्बई आ पहुँचे, जहाँ आर्य-समाज ने उनका भव्य स्वागत किया। आते ही, वे लोग ईसाई मिशनरियो के प्रचार के रोकने का उपाय सोचने लगे एव इस बात पर जोर देने लगे कि भारत की शिक्षा-पद्धति मे परिवर्तन होना चाहिए तथा यहाँ सस्कृत-विद्या का पठन-पाठन अधिक महत्त्वपूर्ण ढग से चलना चाहिए। सन् १८८२ ई० में थियोसाफी-समाज का प्रधान कार्यालय अडयार (मद्रास) ले जाया गया, जहाँ वह आज तक अवस्थित है। कुछ दिनो के बाद ब्लेवास्की बीमार हो कर इग्लैण्ड चली गयी और फिर नही लौटी। इग्लैण्ड मे उन्होने 'द सिक्रेट डाक्ट्रिन' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिस पर पत्रो मे कई प्रकार की आलोचनाएँ निकली। इसी पुस्तक को पढ कर श्रीमती एनी बीसेट थियोसाफी-समाज मे दीक्षित हुई थी। कहते हैं, ब्लेवास्की ने उनका सपर्क तिब्बत की आत्माओ से करा दिया था और उनमे भी परोक्ष शक्तियो का विकास हो गया था।

एनी बीसेंट

श्रीमती एनी बीसेट १६ नवम्बर सन् १८९३ ई० में भारत आयी जब उनकी अवस्था छियालीस साल की थी। आते ही, वे भारत के सास्कृतिक आन्दोलन मे कूद पडी और भारत के साथ-साथ उन्होने थियोसाफी-समाज का नाम भी बहुत ऊँचा कर दिया। कॉलोनल आलकाट का देहान्त सन् १९०७ ई० मे हुआ और तब से ले कर अपनी मृत्यु पर्यन्त (१९३३ ई०) थियोसाफी-समाज की सभानेत्री श्रीमती एनी बीसेंट ही रही।

श्रीमती एनी बीसेंट मानती थी कि पूर्व जन्म मे वे हिन्दू थी। आते ही उन्हे भारतवर्ष ऐसा लगा, मानो, अनेक जन्मो से वे यहाँ जन्म लेती आयी हो। हिन्दू-धर्म को वे विश्व के धर्मो मे सब से प्राचीन ही नही, सब से श्रेष्ठ भी मानती थी। यहाँ आते ही, उन्होने

गाउन छोड़ कर साड़ी पहनी और शुद्ध भारतीय खान-पान को अपना लिया। वे तीर्थों में भी घूमती थी एवं अमरनाथ तक पैदल ही गयी हुई थी। हिन्दुत्व की प्रधान भूमि काशी उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। बनारस में रह कर उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जिसका विकसित रूप आज का हिन्दू विश्वविद्यालय है। बनारस में ही रहते हुए उन्होंने गीता का अनुवाद किया, रामायण और महाभारत की सक्षिप्त कथाएँ लिखीं एवं हिन्दू-धर्म तथा सस्कृति-विषयक अनेक ओजस्वी भाषण दिये।

श्रीमती बीसेंट अँगरेज थी एव वे अत्यन्त कुलीन वश की कन्या थी। इग्लैण्ड में वे फेबियन सोसायटी में काम करती थी जहाँ उनके सहकर्मी जार्ज बर्नार्ड शॉ थे। शॉ ने लिखा है कि उस समय इग्लैण्ड में उनके समान ओजस्वी भाषण देनेवाला कोई व्यक्ति नही था।[1] अँगरेजी भाषा पर उनका असाधारण प्रभुत्व था। उनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक वाक्य उच्च साहित्य का वाक्य होता था। ऐसे बहुत-से लोग अभी इस देश मे मौजूद है, जिन्हें श्रीमती बीसेंट का भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमें से कितनो ही का कहना है कि जब वे सभा में बोलने को खडी होती थी, तब ऐसा दीखता था, मानो, स्वय सरस्वती ही आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आ गयी हो। उनके भाषण का विषय हिन्दुत्व होता था। काशी में एक बार उनका भाषण सुन कर एक प्रतिष्ठित पडित ने उन्हें सर्व-शुक्ला-सरस्वती की उपाधि दे डाली थी।

एनी बीसेंट की भारत-भक्ति

भारत और हिन्दुत्व को श्रीमती बीसेंट एक-दूसरे का पर्याय मानती थी। अपने एक भाषण में उन्होंने हिन्दुओ से कहा था कि, "भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते है। हम बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी भी प्रशंसा करें, किन्तु, आपका उद्धार आपके ही हाथ है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। हिन्दुत्व के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नही है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गडा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भारत-रूपी वृक्ष सूख जायगा। भारत में प्रश्रय पानेवाले अनेक धर्म हैं, अनेक जातियाँ हैं, किन्तु, इनमें से किसी की भी शिरा भारत के अतीत तक नहीं पहुँची है। इनम से किसी में भी यह दम नही है कि भारत को वे एक राष्ट्र के रूप में जीवित रख सकें। इनमें से प्रत्येक भारत से विलीन हो जाय, तब भी भारत भारत ही रहेगा। किन्तु, यदि हिन्दुत्व विलीन हो गया तो क्या शेष रहेगा? तब, शायद, इतना याद रह जायगा कि भारत नामक कभी कोई भौगोलिक देश था। भारत के इतिहास को देखिये, उसके साहित्य, कला और स्मारकों को देखिये, सब पर हिन्दुत्व, स्पष्ट रूप से, खुदा हुआ है।"

---

१. शॉ के शब्द है—Greatest orator in England and possibly in Europe.

यह दर्द और उत्साह किसी भारतीय में ही हो सकता था। दर्द इसलिए कि इतने सुन्दर देश को मिशनरी लोग यूरोप में बदनाम कर रहे थे। और उत्साह इसलिए कि श्रीमती बीसेंट मानती थी कि हिन्दुत्व के जागरण से ही अखिल विश्व का कल्याण हो सकता है। श्रीमती बीसेंट ने भारत मे रह कर तो हिन्दुओ को जगाया ही, वे यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया जा कर वहाँ के लोगो को भी हिन्दू-धर्म की गरिमा का दर्शन कराती थी और उनके इन प्रयत्नो से भारत के विषय मे बाहरवालो की उत्सुकता एव एक प्रकार की अस्पष्ट भक्ति बढती जा रही थी।

श्रीमती बीसेंट ने उन्नीसवी सदी के भारत का जो हाल देखा था, वह काफी दर्दनाक था। "लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच झटके खा रहे थे। आधिभौतिकता की बाढ के मारे राष्ट्र का जीवन विशृंखलित हो गया था। अँगरेजी पढे-लिखे लोग हक्स्ले, मिल और स्पेंसर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु, अपने साहित्य का उन्हे कोई ज्ञान नही था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे, अत, भविष्य के विषय में उनका कोई विश्वास नही था। वे अन्धे हो कर अँगरेजो के तौर-तरीको की नकल कर रहे थे एव अपने कला-कौशल और शिल्प का विनाश करके अंगरेजी असबाबो से अपना घर सजा रहे थे। राष्ट्रीय जोश का उनमें लेश भी नही था। राष्ट्रीय जीवन की गति बताने वाली कोई भी क्रिया कही दिखायी भी नही पडती थी एव यह सदिग्ध था कि भारतीय राष्ट्र के हृदय मे कोई धडकन भी शेष है या नही।"

कॉलोनल आलकाट ने सन् १८७९ ई० मे भारत-पदार्पण के बाद जो पहला व्याख्यान दिया था, उस पर विचार करते हुए 'अमृत बाजार पत्रिका' की टिप्पणी थी कि "जब रोगी ही ऐंठ कर अकड गया हो, तब डाक्टर की सहायता से क्या होगा ? भारत का गौरव और अभिमान मृतप्राय है। भारतीयो से भारत के उद्धार की बात करना वैसा ही व्यर्थ है, जैसा समुद्र की सिकता को सिखावन देना[1]।"

अखंड हिन्दुत्व का समर्थन

मुर्दनी, पस्तहिम्मती और निराशा की इस खाई को भरने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दुओ के भीतर अपने धर्म के प्रति आस्था और अपने इतिहास के प्रति अभिमान जगाया जाय। आखिर, जिस जाति के पास उपनिषद, गीता और दर्शन, विचारो और भावो का इतना अपार साहित्य मौजूद रहा हो, उसे किसी से लज्जित होने की क्या आवश्यकता थी ? यही कार्य ब्राह्मसमाजी और आर्यसमाजी कर रहे थे। किन्तु, उनके कार्यो में एक त्रुटि थी। इन दोनो समाजो के नेता केवल सशोधित हिन्दुत्व का समर्थन करना चाहते थे। किन्तु, केवल सशोधित हिन्दुत्व से समग्र हिन्दुत्व का त्राण

१ 'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से

नहीं था। आखिर, इस बात का क्या जवाब था कि ब्राह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों के होते हुए भी सारी जनता पत्थर को पूज रही थी, राम और कृष्ण को अवतार मान रही थी एवं पुराणो और पुरोहितो को छोड़ने को तैयार नही थी ? ब्राह्मसमाजियो का सशोधित हिन्दुत्व ईसाइयत का भारतीय सस्करण हो गया था। उसी प्रकार, आर्य-समाज भी प्रचलित हिन्दुत्व से ईषत् पृथक दीखता था। ऐसी अवस्था में, श्रीमती एनी बीसेंट और उनके समाज को यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होने खडित नहीं, अखड हिन्दुत्व का वीरतापूर्ण आख्यान किया। उन्होने केवल वेद, उपनिषद् और गीता का ही हवाला नही दिया, प्रत्युत, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र और महाकाव्य, जब जहाँ जो बात मिली, सब के द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना आरभ किया। उनके मुख से पुनर्जन्म, अवतार, देवता, योग और अनुष्ठान तथा चौरासी लाख योनियों की बाते सुन कर ऊँघते हुए हिन्दू भी अकचका कर बैठ गये और उनमे से कितनों का हिलता हुआ विश्वास फिर से स्थिर हो गया। और यह भी नही है कि हिन्दुत्व के इन रूपो का समर्थन उन्होने किसी जोश में आ कर किया हो। सन् १९१४ ई० में उन्होंने एक भाषण में कहा था कि "चालीस वर्षों के सुगंभीर चिन्तन के बाद मैं यह कह रही हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू-धर्म से बढ़ कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नहीं है।"

भारत की निन्दा करनेवाले यूरोपियनों और भारतवासियो को जैसा मुँहतोड जवाब श्रीमती बीसेंट ने दिया, वैसा किसी और से नही दिया जा सका। यूरोप के मिशनरी भारत और, विशेषत., हिन्दू-धर्म के प्रति भयकर विष का वमन कर रहे थे। उनका प्रतिविष भी भगवान ने यूरोप से ही मँगाया। यह एनी बीसेंट और मैक्समूलर-जैसे लोगो की ही निष्पक्षता और उदारता का परिणाम था कि मिशनरियो के दल में कमी आयी और ससार भारत के सात्विक रूप को पहचानने में समर्थ हुआ। सर वैलेनटाइन शिरोल ने, सत्य ही, लिखा है कि "जब अत्युच्च बौद्धिक शक्तियो एवं अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन भारत जा कर भारतवासियों से यह कहें कि उच्चतम ज्ञान की कुजी यूरोपवालो के नही, तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन और तुम्हारी नैतिकता की यूरोपवाले छाया भी नही छू सकते, तब इसमें क्या आश्चर्य है कि भारतवासी हमारी सभ्यता से पीठ फेर ले' ?"

राजनीति के क्षेत्र में

सन् १९१४ ई० से श्रीमती एनी बीसेंट भारत की राजनीति में भी भाग लेने लगीं। तिलक जी के द्वारा चलाये हुए होम रूल आन्दोलन का पक्ष उन्होंने बड़े ही जोर से लिया।

...इंडियन अनरेस्ट से

इस अपराध मे मद्रास-सरकार ने उन्हे सन् १९१७ ई० मे नजरबन्द कर डाला। इस पर देश मे इतने जोर का बावेला मचा कि नजरबन्दी फौरन उठा ली गयी। इसी अवसर पर देश ने उन्हे भारतीय काग्रेस का सभापतित्व अर्पित किया जिस पद को उन्होंने बड़े ही गौरव से सँभाला। असल में, एनी बीसेंट और एड्रूज, ये दो अँगरेज ऐसे हुए हैं, जो हृदय से बिल्कुल भारतीय थे।

तीन-चार साल तक एनी बीसेंट राजनीति में भी भारत की परम मत्रदात्री रही एव इस सुप्त देश मे राजनैतिक चेतना जगाने की दिशा मे भी उन्होंने बडा काम किया। किन्तु, गाँधीजी के आगमन के बाद से उनका प्रभाव घटने लगा एव गाँधीजी के तौर-तरीको को नही समझ सकने के कारण, वे देश की राजनीति से पीछे छूट गयी। फिर भी, यह सत्य है कि गाँधीजी के आविर्भाव के लिए जमीन तैयार करनेवालो मे एक अमर नाम श्रीमती एनी बीसेंट का भी है। अथवा हम गाँधी जी के ही शब्दो मे कह सकते है कि "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनी बीसेंट की सेवाएँ भी जीवित रहेंगी, जो उन्होने इस देश के लिए की थी। उन्होने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था। उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उन्होने भारत के चरणो पर चढा दिया था, इसीलिए, भारतवासियो की दृष्टि मे वे उतनी प्यारी और श्रद्धेया हो गयी।"

थियोसाफिस्ट लोगो की सख्या तो नगण्य रही, किन्तु, उनका साथ देनेवाले लोग बहुधा ऊँचे विचारक, चिंतक और साहित्यकार थे। साथ ही, यह सस्था अन्तर्राष्ट्रीय थी। अतएव, उसके द्वारा भारत के पक्ष मे, सारे ससार मे अच्छा प्रचार हुआ। थियोसाफिस्टो ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धात मे वैसा ही विश्वास अभिव्यक्त किया, जैसा विश्वास हिन्दुओ का है। परिणाम इसका यह हुआ कि बहुत-से अभारतीयो के द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार होते देखकर उन भारतवासियो की आँखे खुली जो इस्लाम और ईसाइयत के प्रभाव मे आ कर हिन्दुत्व को शका से देखने लगे थे।

धर्म नहीं, धर्म की संजीवनी

थियोसाफी कोई स्वतत्र धर्म नही है। यह सभी धर्मो मे समन्वय चाहती है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहूदी आदि जो भी चाहे, अपने धर्म को मानते हुए थियोसाफिस्ट हो सकता है। थियोसाफी धर्म नही, धर्म का आश्रय है। थियोसाफिस्ट होने के लिए अपना धर्म छोडने की आवश्यकता नही होती। बल्कि, आवश्यकता यह होती है कि आदमी अपने धर्म मे और भी जोर से विश्वास करे। थियोसाफिस्ट होकर मुसलमान अच्छा मुसलमान, हिन्दू अच्छा हिन्दू और ईसाई अच्छा ईसाई बने, थियोसाफी का यही उद्देश्य है। प्रत्येक धर्म मे जो उसका असली तत्त्व है, उसे थियोसाफिस्ट अपने विश्वास का उपकरण मानते है। धर्म का मुख्य तत्त्व उसका बाह्याचार नही,

प्रत्युत, वह अंश है, जिससे मनुष्य परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस प्रकार देखने पर, मुसलमानों में सूफी, ईसाइयों में नास्टिक्स (Gnostics) और हिन्दुओं में ब्रह्मवादी वास्तविक थियोसाफिस्ट हैं। थियोसाफी वह असली गहराई है जिसमें से सभी धर्म निकले हैं, अतएव, इस आन्दोलन का ध्येय है कि सभी धर्मों में जो तत्त्व समान हैं, उन्हें ले कर सभी धर्मों के बीच एकता स्थापित की जाय।

उन्नीसवीं सदी में भारत में तीन धर्म आपस में बुरी तरह टकरा रहे थे। अतएव, उस समय सभी धर्मों की एकता पर जोर देनेवाले इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का भारत पधारना अत्यंत मंगलकारी हुआ। ये धर्म एक तो अब भी नहीं हुए हैं, किन्तु, सभी धर्मों में ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो कट्टरता को मनुष्य का दोष मानते हैं, जो सच्चे मन से यह प्रयास कर रहे हैं कि धर्मों का पारस्परिक द्वेष-भाव शमित हो जाय। विश्व-बन्धुत्व, तुलनात्मक धर्म और परलोक-विद्या का संधान, थियोसाफी के ये तीन उद्देश्य अत्यंत स्पष्ट हैं। इनमें से केवल परलोक-विद्या के संधान को ही बुद्धिवादी लोग व्यर्थ समझते हैं। बाकी दो उद्देश्य तो ऐसे हैं जिन पर पहुँचे बिना विश्व का कल्याण ही नहीं है। विश्व-बन्धुत्व के लिए प्रयास अब सारे संसार में होने लगा है। लक्ष्य दूर अवश्य है, किन्तु, मनुष्य वहाँ पहुँच कर रहेगा। अधीर होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य के विकास का कदम धीमा होता है।

> कितनी धीमी गति है! विकास कितना अदृश्य हो चलता है!
> इस महावृक्ष में एक पत्र सदियों के बाद निकलता है।[1]

---

१ रश्मिरथी

प्रकरण ६

धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज की सीमाएँ

स्वामी दयानन्द से परमहस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वय रामकृष्ण के पास नही गये थे, परमहस ही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये थे। रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पडा, वह उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार वर्णित है—"दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हे थोड़ी-बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्ष स्थल सदैव आरक्त दिखायी पडता था। वे वैखरी अवस्था मे थे। रात-दिन लगातार शास्त्रो की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यो के अर्थ मे उलट-फेर कर दिया है। 'मै ऐसा करूँगा, मै अपना मत स्थापित करूँगा' ऐसा कहने में उनका अहकार दिखायी देता है।"[१]

बहुत-से बगाली ब्राह्मसमाजी विद्वान् परमहस रामकृष्ण के अनुगत थे। ब्राह्म-समाजियो के सिरमौर केशवचन्द्र सेन तो परमहसजी के परम भक्तो मे से थे। केशव-चन्द्र सेन परमहस रामकृष्ण के आश्रम में, अक्सर, जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब-तब केशवचन्द्र सेन के घर या उनके ब्राह्म-मदिर मे पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण ब्राह्म-मन्दिर में पहुँचे तो वहाँ उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहाँ जो कुछ देखा, वह उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार वर्णित है—"ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय तक वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा, अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान करें।' मै समझा, अब ये लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या? दो मिनट मे ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से कही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है? उन लोगो के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर देख रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला—"तुममे से बहुतो को ध्यानावस्थित देख कर मुझे कैसा लगा, बताऊँ? वहाँ दक्षिणेश्वर मे कई बार झाऊतल्ला की ओर वानरो का झुण्ड आता है। वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते है। देखनेवाले समझते है, 'अहा, कितने अच्छे है ये! इनको लन्द-फन्द, छलछिद्र, कुछ भी मालूम नही है। ये कितने शात है!' पर, क्या वे सचमुच शात रहते हैं? छि, राम का नाम लो। किसके बगीचे मे फल लगे है, किसकी बाडी मे ककडी और कुम्हडा है, कहाँ इमली है, यही

१ श्री रामकृष्ण-लीलामृत, पहला भाग

सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर में एकदम छुप करके कूदते-फाँदते वे क्षणार्द्ध में अदृश्य हो जाते हैं और किसी बगीचे में धड़ाधड़ कूद कर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहाँ भी मुझे बहुतों का ध्यान वैसा ही दिखायी दिया।"[1]

आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु, उनकी जो कमजोरियाँ थीं, वे रामकृष्ण को ठीक दिखायी पड़ीं। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह सन्यासी, प्रचण्ड तार्किक और उद्भट विद्वान् थे और उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता अत्यन्त प्रमुख थी। ब्राह्म-समाज में तार्किकता अधिक नहीं थी तथा भक्ति और उपासना का भी उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु, ब्राह्मसमाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुत:, उतनी भक्ति-विह्वलता उनमें थी नहीं।[2] ब्राह्मसमाजियों की भक्ति ज्ञान की नोक से उठायी हुई चीज थी। उद्देश्य ब्राह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु, अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में, ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु, किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढँकने के लिए उन्होंने धर्म का एक सायबान खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुत, उनका विश्वास हिन्दू-ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती ?

इसके सिवा, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रांत देख कर राममोहन राय, दयानन्द और केशवचन्द्र में यह उत्साह जगा कि हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु, जब वे रक्षा को तत्पर हुए, तब उन्हें यह दिखायी पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना, जिसका आख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्त्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता, कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को ले कर बैठ गये। किन्तु हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है, जो अपार हिन्दू-जनता के हृदय में घर किये हुए हैं। सच पूछिये तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खंड मात्र था। यही कारण हुआ कि, यद्यपि, दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू-विचारों की दिशा में महान् क्रांति उपस्थित की, किन्तु, हिन्दू-जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिये तो हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रति-

१ श्री रामकृष्ण-लीलामृत, दूसरा भाग
२. ब्राह्म-समाज से प्रेरित काव्य में भी भक्ति और रहस्यवाद का जो रूप उतरा, उसमें सहजता कम, बौद्धिकता अधिक थी।

निधित्व श्रीमती एनी बीसेंट ने किया, क्योकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति और गीता, हिन्दुओ के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एव यज्ञ और परलोक, सब की ओर से एक समान उत्साहसे बोल रही थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसाफी और ब्राह्म-समाज सिमट कर धनियो और विद्वानो की महफिल मे बैठे रहे, तब आर्यसमाज का प्रचार समाज के कुछ विस्तृत क्षेत्रो मे भी हुआ। किन्तु, जिसको, सचमुच, जनता का मुक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनो आन्दोलनो मे से किसी को भी प्राप्त नही हो सका। हिन्दू और थियोसाफी-पडित ईसाई और मुस्लिम पडितो से विद्या का विवाद कर रहे थे, किन्तु, जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नही थी।

भारतवर्ष की परपरा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतकित नही होती। पडितो का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नही। हम तर्क से पराजित होनेवाली जाति नही हैं। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमे जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नही खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी की समझ मे आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी बीसेंट के प्रचारो से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नही, वरेण्य है, किन्तु, जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। धर्म का यह जीता-जागता रूप उसे तब दिखायी पडा, जब परमहस रामकृष्ण (सन् १८३६ से सन् १८८६ ई०) का आविर्भाव हुआ।

पंडित और सन्त का भेद

दयानन्द, राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातो मे भिन्न थे। दयानन्द भारतीय परंपरा के उद्भट पडित और ब्राह्मसमाजी नेता अँगरेजी ढग के विद्वान् थे। किन्तु, रामकृष्ण, बहुत-कुछ, अपढ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन मैदान मे इसलिए आये थे कि विधर्मियो की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु, रामकृष्ण को किसी भी धर्मवालो के प्रति कोई आक्रोश नही था। दयानन्द, राममोहन और केशवचन्द्र, सस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु, रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नही था। वे अपनी बाते सुनाने को अपने आश्रम से बाहर नही गये, न हिन्दुओ से उन्होने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे मे है।

पडित और सत मे वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि मे है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नही समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरगो का नाम है। किन्तु, अनुभूति समुद्र की अन्तरात्मा में बसती है। अनुभूति का एक कण कई टन ज्ञान से कही अधिक मूल्यवान् है। परमहस रामकृष्ण अनुभूतियो के आगार थे और उनके जीवन को देख कर, एक बार फिर, यह

स्पष्ट हो गया कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान का द्वार उसके सामने स्वयं उन्मुक्त हो जाता है तथा सारी विद्याएँ उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवी सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू धर्म बहुत दिनो से रूढ़ियों और अन्धविश्वासो से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब अँगरेजी शिक्षा के प्रसार एव ईसाइयो के कुप्रचार से ये रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सबध काफी सघन हो चुका था, किन्तु, दुर्भाग्यवश, तत्कालीन अँगरेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एव उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानो के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धातो का पता चला था, उनसे भी यह साहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अँगरेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय सुधारको के सामने एक नही, तीन शत्रु थे। १. हिन्दू-धर्म की रूढ़ियाँ एव अन्धविश्वास, २ ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरतर की जानेवाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा ३. अँगरेजी पढ़े-लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढग और साधन अनिवार्य थे, उनका सधान इन सुधारको ने कर लिया था। किन्तु, धर्म, वास्तव में, कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नही दे सके थे।

फिलासाफी नहीं, दर्शन

तर्क और पाडित्य से धर्म प्रमाणित किया भी नही जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पाडित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। विशेषत., हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नही, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पडितो की नही, सतो और द्रष्टाओ की रचना है। हम फिलासाफी को और कुछ नही कह कर 'दर्शन' कहते है, क्योकि हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नही गये थे, प्रत्युत, ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से, उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पाडित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धातो और सगठनो से धर्म की सिद्धि नही होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं, जिसने धर्म के महासत्यो को केवल जाना ही नही, उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया है।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय है और उनके सामने ससार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उन्नीसवी सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत, भारत के शिक्षित नास्तिको के

प्रसग मे उसका यह भी उद्देश्य था कि धर्म पर से शिक्षितो की हिलती हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनायी जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को ले कर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु, इन विवादो से उभय पक्ष मे से एक को भी शान्ति नही मिलती। ईश्वरवादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा ले, किन्तु, ईश्वर-सिद्धि के लिए उसके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते है और निरीश्वरवादी पडित भी चाहे जितने तर्क निकाल कर यह सिद्ध करे कि ईश्वर नही है, अतएव, धर्म की कोई आवश्यकता नही होनी चाहिए, किन्तु, उसके अन्तर्मन मे एक विरल शका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नही है? पश्चिम के एक अभिनव विचारक[1] ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर की परिभाषाएँ लुप्त होती जा रही है; मूर्तियाँ डगमगा रही है और प्रतीक टूट कर बिखरते जा रहे है, किन्तु, तब भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व बराबर उभरना चाहता है, वह बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को बेचैन है।" एक अन्य चिन्तक[2] ने भी कहा है कि "तीन कारणो से मैं नास्तिक नही हूँ। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धात अनुर्वर और रूढिग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिको का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्घाटन नही कर सकती। किन्तु, सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यो का उद्घाटन किया जाय।"

सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्घाटित नही होते। इसके लिए एक विचित्र प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है जो पडित नही, सन्त के साथ आती है। सहजानुभूति ज्ञान से अधिक शक्तिशालिनी वस्तु है। विज्ञान की छडी ने सृष्टि के रध्र-रध्र में प्रवेश करके मनुष्य को यह बता दिया है कि अब कही भी कोई तत्त्व अविश्लिष्ट नही है। फिर भी, एमर्सन की यह अनुभूति जब कानो मे पड़ती है कि "प्रकृति का पर्दा अत्यन्त झीना और महीन है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस पर्दे के तार-तार से झाँक रही है। अय मेरे भाइयो! ईश्वर का अस्तित्व है। प्रकृति के केन्द्र मे एक आत्मा बसती है; मनुष्य की इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य मे ईश्वर और मनुष्य का मिलन हो रहा है।" तब भावुक मनुष्य अगोचर अस्तित्व के इस आभास से चौके बिना नही रहता।

पंथ नहीं, अनुभूति

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस मे इस प्रश्न पर लड रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नही, तब परमहस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल-तत्त्व को अपने जीवन मे साकार करके, मानों, सारे विश्व को यह सदेश

---

१. O. B. Frothingham

२. J. H Holmes

दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। और परमहस का जो उपदेश था, उसे उन्होंने अपने जीवन मे उतारा। उन्होंने हिन्दुत्व के सभी मार्गों की साधना की। यही नही, वे कुछ दिन सच्चे मुसलमान बन कर इस्लाम की भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने ईसाइयत का भी अभ्यास किया था। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बडा और अधिक उपयोगी समाधान और कोई हो नही सकता। क्रम-क्रम से, वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बन कर परमहस रामकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मो के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूल तत्त्व मे कोई फर्क नही पडता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। शान्ति मार्ग से नही, अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

धर्म की साकार प्रतिमा

परमहस रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और, सब-के-सब, समान दीखते है, जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नही पहुँचती; जहाँ धर्म अपनी राजनैतिक एव सामाजिक गध को छोड कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालको के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छींटो से ही जन्म-जन्म की तृषा शात हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खडा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एव पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण, दैवी अवतार की भाँति, आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चल कर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसाफिस्ट लोगो ने जिस सत्य की ओर सकेत किया, अदृश्य की ओर से आ कर परमहस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन मे साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सब से नवीन पुष्प बन कर चमके और उन्हें देख कर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियो और सतो की कथाएँ सुनी जाती है, वे झूठी नही हैं।

रामकृष्ण में आ कर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म की विविध साधनाएँ एव जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नही हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन

भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था। किन्तु, रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परपरा ही देह धर कर खडी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अँगरेजी जानते थे, न वे सस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओ मे भाषण देते थे, न अखबारो मे वक्तव्य। उनकी सारी पूँजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम-स्मरण-मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयो मे डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हे गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना की दीक्षा उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वय उनकी कुटी में आ गये थे। तन्त्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी जो स्वय घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थी। इसी प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविंद राय थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाइयत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी जो ईसाई धर्म-ग्रथो के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओ मे रम कर धर्म के गूढ रहस्यो की छानबीन करते हुए भी काली के चरणो मे उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वय अपनी चिन्ता नही करता, उसी प्रकार, रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नही करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी माँ से करता है, वैसे ही, रामकृष्ण भी हर चीज काली से माँगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नव युग के मनुष्यो के सामने पोगा-पथी कहानी-सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वय तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये, तब रामकृष्ण मे कुछ अलभ्य लक्षण देख कर उन्होंने सहसा कहा था, "क्या तू अद्वैत की साधना करेगा?" रामकृष्ण बोले, "मै कुछ नही जानता। माता से पूछ कर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूँगा।" तोतापुरी ने समझा, इसकी, सचमुच की, कोई माँ होगी। किन्तु, रामकृष्ण जब मन्दिर मे जा कर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा मे इसकी ऐसी अटल आस्था है।

हिन्दू-धर्म मे जो गहराई और माधुर्य है, परमहस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियाँ पूर्णरूप से उनके वश मे थी। रक्त और मास के तकाजो का उन पर कोई असर न था। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हे घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन मे निरत रहते थे। सासारिक सुख-समृद्धि, यहाँ तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई मूल्य नही था।

कंचन से विरक्ति

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श-मात्र से उसमे विचित्र प्रतिक्रियाएँ

उत्पन्न होने लगती थी। रुपये, पैसे, सोने-चाँदी आदि का स्पर्श वे सह नही सकते थे और यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नही था। विवेकानन्द होने के पूर्व, नरेन्द्रदत्त बड़े ही शकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खीच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नही छूते और द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीडा होने लगती है, इस बात की जाँच करने के लिए उन्होने एक दिन, चोरी-चोरी, परमहस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया। रामकृष्ण लौट कर जो बिस्तर पर बैठे तो उन्हे ऐसा लगा, मानो, बिच्छू ने डक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगो ने चारो ओर देखा, मगर, कही भी कोई चीज नही थी। निदान, उन्होने बिस्तर हटा कर नीचे देखा तो क्या देखते है कि उसके नीचे एक रुपया पडा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल नरेन्द्र अचरज के मारे गभीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, "ठीक है रे ; गुरु की जाँच जी भर कर लेनी चाहिए।"

द्रव्य के प्रति यह वितृष्णा उनमे बढती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ मे कपड़ा लपेटे बिना वे काँसे के बरतन को भी नही छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बरतनो में चलने लगा था।

कामिनी के प्रति अनासक्ति

रामकृष्ण एक ऐसे सन्यासी हुए है जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृह-त्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और, सच पूछिये तो, विधिवत् उन्होंने गृह-त्याग किया भी नही था क्योकि, सिद्धावस्था आने पर भी, वे अपने गाँव गये और वहाँ अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिल कर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिए। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिली एव परमहसजी ने उन्हे अपने साथ रखने मे तनिक भी आनाकानी नही की। उनकी माता वही दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने मे रहती थी। उन्ही के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु, पत्नी के साथ उनका शारीरिक सबध नही हुआ, यह सभी विवरणो से विदित होता है। श्री रामकृष्ण-लीलामृत नामक जो रामकृष्ण का जीवन चरित है, उससे अच्छा जीवन-चरित मैने और नही देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एव उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमे लिखा है कि "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा, मझको आप कौन समझते है ?" श्रीरामकृष्ण बोले, "जो माता उस काली-मन्दिर म ह, वही इस शरीर को जन्म दे कर अभी नौबतखाने में निवास करती है और वही यहाँ पर इस समय मेरे पैर दबा रही है। तू मुझे, सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखायी देती है।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही, चाहे तो, त्याग का भी पावन यत्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होने अभ्यास से सीखा था, किन्तु, अभ्यास के क्रम में उन्हे द्वन्द्वो का सामना करना नही पडा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे पुण्य की ओर सकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हे सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देख कर अपने मन को सबोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन, इसी को स्त्री-शरीर कहते हैं। सारा ससार इसी को परम भोग्य वस्तु मान कर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रह कर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु, इसके ग्रहण करने से देहासक्ति मे सदा के लिए फँस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असभव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख। तुझे यह शरीर चाहिए कि ईश्वर चाहिए? यह शरीर चाहिए तो यह देख, वह यहाँ तेरे पास ही पडा है, इसे ग्रहण कर।' ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यो ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करनेवाले थे कि उनका मन कुठित हो कर उन्हे गहरी समाधि लग गयी और रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशसा करते हुए उन्होने कहा है, "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती तो हमारे सयम का बाँध टूट कर मन मे देह-बुद्धि का उदय हो जाता या नही, यह कौन कह सकता है?"

नानक और कबीर, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रह कर ही उन्होने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किस की क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नही है। हाँ, कबीर का एक दोहा चलता है —

नारी तो हमहूँ करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार।

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नही की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशसा ही की है। हाँ काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रह कर ही अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होने एक बार कहा था, "उन दिनो तो मुझे स्त्रियो से डर लगता था।.. अब वह अवस्था नही रही। अब मैंने मन को बहुत कुछ सिखा-पढा कर इतना कर लिया है कि स्त्रियो की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जान कर देखा करता हूँ। तो भी, यद्यपि, स्त्रियाँ जगदम्बा के ही अश है, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही है।"

कामिनी और काचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहाँ तक बचता है, यही वह कसौटी है जिस पर भारतीय महापुरुषो की जाँच होती

आयी है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे। उन्होने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हे अपनी साधना के पथ पर आगे बढाया, इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियो के प्रति उनके मन मे कोई घृणा या द्वेष नही था।

तर्क बनाम अनुभूति

रामकृष्ण के अद्भुत गुणो से आकृष्ट हो कर तत्कालीन बडे-बडे तार्किक और विद्वान उन्हे घेरे रहते थे। इनमे से ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शकालु थे, जो साधु-सतो के चमत्कारो को ढोग समझते थे। किन्तु, रामकृष्ण के सामने शकाओ के उठने या टिकने का सवाल ही नही था। न तो वे चमत्कार दिखा कर लोगो को प्रभावित करते थे, न किसी से आस्तिकता-नास्तिकता को ले कर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नही कह कर अपने आचरणो से बताते थे। फिर आँखो-देखी बात पर शका होती क्यो?

वे, प्राय, अपढ मनुष्य थे, किन्तु, भावना के बल से वे उस मूल उत्स पर पहुँच गये थे जहाँ से सभी ज्ञान उठ कर ऊपर आते है, जहाँ से दर्शनो की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसीलिए, उनके उपदेश विद्वान् और अविद्वान्, सभी के लिए ग्राह्य है। वे सब की समझ में आते है एव जिसमे उडने की जितनी शक्ति है, वह उन्हे ले कर उतनी दूर तक उड सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पडती थी, तब बडे-से-बडे तार्किक अपने आप में खो कर मूक हो जाते थे। केशवचन्द्र सेन से एक बार रामकृष्ण ने कहा, "केशव! तू अपनी वक्तृता के द्वारा सभी को हिला देता है। मुझे भी तो कुछ बता!" केशवचन्द्र इस पर नम्रता से बोले, "मै क्या लोहार की दुकान में सुई बेचने आऊँ? आप ही कहते जाइये। मै सुनता हूँ। आप के ही श्रीमुख की दो-चार बातें मै लोगो को बताता हूँ जिन्हे सुन कर वे गद्गद हो जाते है। बस, यही मै करता हूँ।"

संत-पद्धति से उपदेश

उनकी विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियो तथा पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परपरा से भारतीय सतो के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्को का सहारा कम लेते थे, जो कुछ समझाना होता उसे उपमाओ और दृष्टान्तो से समझाते थे। सत सुनी-समझी बातो का आख्यान नही करते, वे तो आँखो-देखी बाते कहते है, अपनी अनुभूतियो का निचोड दूसरो के हृदय में उतारते है।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ है, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होने कहा, "कामिनी-काचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय, तो देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे

उसके भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुल कर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनो अलग-अलग दीखने लगते है (वैसे), या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय मे कह सकते है कि म्यान और तलवार दोनो भिन्न चीजे है, वैसे ही, देह और आत्मा के वारे में जानो।"

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन मे वास्तविक महत्त्व है, इस विचार को समझाने के लिए वे कहते, "जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह, प्रतिमा पर से ईश्वर की याद आती है।"

"माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है, तव क्या ईश्वर भी हमारे समान ही मायावद्ध है?" इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते, "अरे, नही रे भाई! वैसा नही है। यही देखो न? सर्प के मुंह में सदा विष रहता है। उसी मुंह से वह हरदम खाता-पीता है, पर, वह स्वय उस विष से नही मरता।"

मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नही है, इस शिक्षा को समझाने का उनका ढंग यह था कि मनुष्य, मानो, केवल तकिये के गिलाफ है। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रग और अकार के होते है, वैसे ही, मनुष्य भी कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई दुष्ट होता है। बस, इतना ही अन्तर हे। पर, जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार, सभी मनुष्यो मे वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।"

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग वताते हुए वे कहते, "जव तुम काम करते होओ तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पाँव पकड़े रहो। जव काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणो को दोनो हाथो से पकड लो।"

सकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, "अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूँ। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता हैं।"

तर्को से वे वहुत घवराते थे। कहते, "शास्त्रार्थ को मै नापसद करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है, वह ईश्वरमय है। फिर तर्को से क्या फायदा? वागीचो मे तुम आम खाने जाते हो, न कि पेडो के पत्ते गिनने। फिर मूर्त्ति-पूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को ले कर यह विवाद क्यो चलता है?"

वुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान को भी वे स्थायी महत्त्व नही देते थे। सहज ज्ञान के द्वारा वुद्धि की सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। किन्तु, वुद्धि के परे की अनुभूतिवाली भूमि मे सहज ज्ञान की आवश्यकता नही रहती। तव तो ईश्वरीय कृपा का ही एक मात्र प्रकाश वच जाता है। इसलिए, वे कहा करते थे कि पाँव मे एक काँटा गड जाय तो उसे दूसरे काँटे से निकालना होता है। किन्तु, काँटे के निकल जाने पर तो दोनो काँटो को फेक ही देना चाहिए।

परिपक्व मनुष्य जाति-भेद को नही मनता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते थे कि ताड और खजूर को देखो न! आरंभ मे वे कितने पत्ते लिये रहते हैं। किन्तु,

उनके खूब बढ़ जाने पर क्या होता है ? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते है और कुछ थोड़े-से पत्ते ही शेष रह जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशसा करते हुए वे बोले, पक्का विद्वान् कभी भी अहकार नही दिखाता। आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है।

विद्वत्ता और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे। अनुशासन और नैतिकता से विहीन विद्वानो के लिए उनमें आदर का भाव नही था। उनका कहना था कि विद्या की बडी शक्ति है। लेकिन, केवल विद्या से क्या होगा ? गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता तो है, मगर, आँख उसकी बराबर मुर्दे पर लगी रहती है। बहिर्मुखी विद्वान् समुद्र के समान होता है। परन्तु, वरुणदेव को पता ही नही कि उनके भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं। बहुत-से अमीर अपने सभी नौकरो के नाम भी नही जानते, न उन्हें यही पता होता है कि कौन चीजें कहाँ रखी हैं !

ससार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कहते, कटहल छूने के पहले उँगली में तेल लगा लिया करो। मन दूध है और दुनिया पानी। दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो। तब जो मक्खन निकलेगा, वह पानी मे नही घुलेगा।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नही होना चाहिए, इस उपदेश को वे यों रखते थे कि धन से क्या मिलता है ? भोजन, वस्त्र और मकान। मगर, इनसे ऊँची चीजें धन से नही मिल सकती। इसलिए, जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता।

विनोदप्रियता

विनोदप्रियता रामकृष्ण में कूट-कूट कर भरी थी और उनके विनोद मार्मिक होते हुए भी बडे ही आनन्ददायी होते थे। एक बार केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-समाज की व्यास-गद्दी से प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना करते-करते उन्होने एक वाक्य कहा कि हे प्रभो ! हमे अपने आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो। प्रार्थना के बाद, किसी दूसरे प्रसग में, रामकृष्ण ने कहा, अरे केशव ! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की प्रार्थना बेकार है। तुम्हारे आँगन में तो साड़ियाँ सूखती हैं। तुम्हारे लिए यही उचित है कि समुद्र में एक डुबकी लगा कर फिर बाहर आ जाओ। नही तो इन साड़ियों का क्या होगा ?

नरेन्द्रनाथ (आगे चल कर विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे। एक दिन एक पद गाते-गाते वे बोले, "भजन साधन तार करो रे निरन्तर।" रामकृष्ण एकदम बोल उठे—"छि, ऐसा मत कह। उसके बदले 'भजन-साधन तार करो रे दिने दुवारें' ऐसा कह ! अपने को जो कभी करना ही नहीं है, उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब ?"

केशवचन्द्र सेन से वे, अक्सर, मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूँछ झड़ गयी है। जब तक पूँछ नही झड़ जाती तब तक मेढक पानी से बाहर नही निकलता। पर, जब पूँछ झड़ जाती है तब वह पानी मे भी रह सकता है और पानी से बाहर भी रह सकता है।" कभी कहते "केशव, तुम वह पक्षी हो जिसकी दुम में पत्थर बँधा है। यह पक्षी समाधि मे जा सकता है, मगर, बाल-बच्चे उसे नीचे खीच लेते है।"

ब्राह्म-समाज बँट कर दो पक्षो मे विभक्त हो गया था, किन्तु, उसके दोनो पक्षो के लोग रामकृष्ण के यहाँ आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचन्द्र अपने कुछ अनुयायियो के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुँचे। ऐसी अचानक भेट हो जाने से दोनो पक्षवालो को सकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में आते ही वे बोले—'सुनिये! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान शंकर और श्रीरामचन्द्र में कुछ विवाद हो गया और दोनो में युद्ध होने लगा। अब शकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों मे पूर्ववत् मैत्री होने मे देरी नही लगी। पर, शकर की सेना के भूत-प्रेतो और राम की सेना के वानर-रीछो की मैत्री नही हुई। इसीलिए कहता हूँ कि जो होना था, सो हो गया। अब, कम-से-कम, तुम दोनो के मन मे तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर वैर-भावना या वैमनस्य नही रहे। और यह भाव यदि रहे तो रहने दो अपने वानर-रीछो और भूत-प्रेतो मे।"

ऐसा था वह मनुष्य जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनो मे शास्त्रार्थ किये बिना, केवल अपने आचरणो और अपनी अनुभूतियो से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का, केवल वेद-उपनिषद्वाला ही नही, बल्कि, वह रूप भी सत्य है जिसका आख्यान पुराणो एव सन्तो की जीवनियो में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नही, प्रत्युत, उन्हे अपना बना कर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर रामकृष्ण की श्रद्धा एक समान थी। क्योकि, बारी-बारी से, सब की साधना करके उन्होने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

मनीषियों द्वारा अभिनन्दन

रामकृष्ण का नाम उनके जीवन-काल में भी दूर-दूर तक पहुँचा था। किन्तु, उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशो को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि ससार के कोने-कोने मे उनका नाम गूँज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर एक जीवन-चरित रोम्याँ रोलाँ ने भी प्रकाशित किया। गाँधीजी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते है, केशव-चन्द्र सेन के समय, ब्राह्म-समाज मे भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्राह्म-

समाजियो की रामकृष्ण से सगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्राह्म-समाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचद्र मजुमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व, धर्म किसे कहते है, यह कोई समझता भी नही था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की सगति का लाभ होने पर जान पड़ी।" आचार्य प्रतापचद्र मजुमदार की एक और उक्ति है जिसके उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवादी विद्वानो पर रामकृष्ण के व्यक्तित्व का कैसा प्रभाव था। प्रतापचद्र लिखते है कि "उनके और मेरे बीच समानता क्या है? मै यूरोपीयकृत, सुसभ्य, अर्ध-नास्तिक और तथाकथित सुशिक्षित तार्किक व्यक्ति हूँ जिसकी सारी चिन्ता अपने ही निमित्त है। और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्त्तिपूजक एव निस्सहाय हिन्दू भक्त है। भला मै उनकी सेवा मे घटो क्यो बैठा करूँ—मै, जिसने डिज़रेली और फाकेट के विचार सुने है, जिसने स्टानले और मैक्समूलर की विद्याएँ प्राप्त की है, जिसने यूरोप के बीसियो विद्वानो और धर्म-पुरुषो के विचारो का पान किया है? किन्तु, केवल मै ही नही, यहाँ तो मेरे-जैसे दर्जनो लोग है जो यही करते है। ..वे (रामकृष्ण) राम की पूजा करते है, शिव की पूजा करते है, काली को पूजते है और, साथ ही, वेदान्त मे भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमापूजक है, किन्तु, निरजन और निराकार की पूर्णता का ज्ञान कराने मे भी उनसे बढ कर कोई और माध्यम नही हो सकता। उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व एक विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला से प्रदीप्त रहता है।"[1]

---

१. 'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ' (लेखक—स्वामी निर्वेदानन्द) में उद्धृत

प्रकरण १०

कर्मठ वेदान्त, स्वामी विवेकानन्द

गंगा के भगीरथ

परमहस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थी, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धात निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्भुत यत्र थे। उनकी दृष्टि समाज या व्यक्ति के सुधार पर नही थी, न वे इस्लाम या ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आतुर थे। देश मे बौद्धिकता के साथ नास्तिकता का प्रचार बढता जा रहा था, किन्तु, रामकृष्ण को इसकी भी चिन्ता नही थी। वस्तुत', ससार से उन्हे कोई प्रयोजन नही था। वे आत्मानन्द की खोज में थे एव आनन्द का सब से सुगम मार्ग उन्हे यह दिखायी पड़ा था कि अपने आपको वे काली की कृपा के भरोसे छोड दे। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यत्र बन गये थे जिसमें कालिमा नही थी, मैल नही थी, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा सकता था। बहुत दिनो से हिन्दुओ का विश्वास रहा है कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एव चित्त में छल की छाया भी नही रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति, पूर्ण रूप से, जाग्रत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर, आप-से-आप, जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन मे यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हे आप-से-आप प्राप्त हो गयी। उन उपलब्धियो के प्रकाश मे विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एव उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल मे, रामकृष्ण के ही दिये हुए समाधान है। रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उनकी व्याख्या बन कर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू-धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमडलु मे बद थी। विवेकानन्द इस गगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमडलु से निकाल कर सारे विश्व मे फैला दिया।

तन से राजसी, मन से जिज्ञासु

" स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई० की १२ जनवरी को कलकत्ते मे एक क्षत्रिय परिवार मे पैदा हुए थे। उन्होंने कालेज मे

शिक्षा पायी थी और बडी योग्यता के साथ बी० ए० पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवको के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तको की विचार-धारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एव धर्म को शका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एव यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुप का सब से तेजस्वी लक्षण मानते थे।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मास-पेशियाँ सुपुष्ट थी। वे कुश्ती, वाक्सिग, दौड, घुडदौड और तैरना, सभी के प्रेमी और सब में भलीभाँति दक्ष थे। वे सगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने मे उस्ताद थे। इस प्रकार, विवेकानन्द में वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो रामकृष्ण को नही मिले थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल और कमजोर था। उनके स्वभाव में भी स्त्रीत्व का अश अधिक था एव, आरंभ से ही, उनमें सात्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुप के वेगो मे उच्छल एव उद्दाम था तथा, आरभ से ही, उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब-करीब, अपढ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जब कि नरेन्द्रनाथ सस्कृत और अँगरेजी के उद्भट विद्वान् एव यूरोप के तार्किको एव दार्शनिको की विद्याओ मे परम निष्णात थे। उनमें सहज वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचड रूप से जल रही थी। उनमे यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसधान मे लगी रहती है, जो किसी भी कथन को प्रमाण नही मान कर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है तथा जो सत्य की खोज मे विवेक और बुद्धि को छोड कर और किसी वस्तु का सहारा नही लेती।

नरेन्द्रनाथ हर्बर्ट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एव हीगेल के वस्तु-निष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रासीसी राज्य-क्राति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत मे जोरो से फैल रहा था एव नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धात-त्रय में बडे उत्साह से विश्वास करते थे। यूरोपीय सस्कारो का उनमें पूरा जोर था, और कहते है, अपने छात्र-जीवन मे वे केवल शकावादी ही नही, प्रचड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगो के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरो में उठा करती है, अवतारो और धर्म-सस्थापको में जगा करती है, जो सभी प्रश्नो से ऊपर उठ कर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे? मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जायेंगे? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है? यही जिज्ञासा आरभ में उन्हें

ब्राह्म-समाज की ओर ले गयी और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हे दक्षिणेश्वर मे आयी जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना मे लीन थे, किन्तु, जहाँ से यह सवाद सारे बगाल मे फैल रहा था कि भारत मे धर्म फिर से जीता-जागता रूप ले कर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

श्रद्धा और बुद्धि का मिलन

रामकृष्ण धर्म के उन रूपो के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारको का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओ की भी समझ मे नही आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओ के मूर्तिमान रूप थे एव उनके भीतर वे सारे सस्कार वर्तमान थे जिनके कारण अँगरेजी पढे-लिखे हिन्दू हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुत, नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गये, तब, असल मे, नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का आलिंगन था। इन दो मूर्तियो मे से एक तो पुराणों के सत्यो से लिपटी हुई थी, धर्म के वाह्याचारो को भी सत्य मान कर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओ का आदर करना चाहती थी। और दूसरी तर्क से उच्छल थी एव धर्म के वाह्य बन्धनो को तोड कर वह प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नही लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्यदर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ मे उतार कर उन्होंने उन्हे विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन मे पूर्वी और पश्चिमी जगतो का ही मिलन सपन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक सस्कारो को आत्मसात् करेंगे, भूमडल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शाति-साधको के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व पूर्व और पश्चिम पश्चिम है, तथा दोनो का मिलन नही होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलेगा और, ठीक उसी प्रकार, मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

निवृत्ति की परंपरा

उपनिषदो के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियो का देश रहा था। एक दृष्टि [illegible] देखिये तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनी[illegible] और रोमाटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पडितो की [illegible] ही निवृत्ति के पर्दे मे प्रवृत्ति का रस लेते हैं; बाहर त्याग का उपदेश [illegible] निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मान [illegible] उपभोग [illegible]

इस दगाबाजी से जन-साधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपच और दांव-पेंच उतने नही होते जितने पडितो के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पडित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते है, जनता के कर्म बहुत-कुछ उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चो वाले होते थे। जो लोग वैदिक मत्रो के स्रष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धातो के आविष्कर्त्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतो मे काम तथा गउओ का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एव अतिथियो की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नही होता। उस समय हलवाहे और विद्वान्, दोनो, एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगो का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क मे कोई वैर नही था। तब उपनिषदो का समय आया और पडितो ने यह सिद्धात निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है, और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान सन्यासी होने लगे और नारियो की मर्यादा समाज मे घटने लगी। फिर भी, वैदिक सस्कार अभी नि शेष नही हुआ था, इसीलिए उपनिषदो में कही-कही हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नही है, यदि वह त्याग के साथ किया जाय (तेन त्यक्तेन भुजीथा)। किन्तु, जैन और बौद्ध धर्माचार्यो ने सन्यास की इतनी महिमा गायी कि सारा समाज सन्यासियो से भर गया। फिर तो, भारत मे सदियो तक निवृत्ति-निवृत्ति की भयानक ध्वनि गूंजती रही और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नही हुआ, जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति की अतिशयता मनुष्य को कायर एव दरिद्र बना देती है। भक्ति-काल मे आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु, भक्त पडित और कवि स्वय निवृत्ति के सस्कारो से ग्रसित थे और, यद्यपि, कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कह रहे थे, किन्तु, अन्तर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' वाला सिद्धात ही सत्य है। कबीर, नानक और वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसा कर ससार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमे भी नही था। कबीर आदि निर्गुणवादियो के उपदेश तो, निश्चित रूप से, निवृत्ति को बढावा देनेवाले थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओ ने उसे, सचमुच ही, असत्य मान लिया एव देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनोदिन कम होती चली गयी। प्रत्येक हिन्दू, माँ के पेट से ही, इस विश्वास को ले कर आने लगा कि परलोक की साधना सब से श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथो से छूट ही क्यो न जाय। इसीलिए, कठी, माला, आरती और घटे मे मग्न हिन्दुओ को यह बात कभी अखरी ही नही कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे है। यह विचित्र बात है कि धर्म को अफीम कहने वाला चिन्तक यूरोप मे जनमा, जब कि धर्म ने सबसे अधिक विनाश हिन्दुओ का किया है।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता

उन्नीसवी सदी के अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू अपने धर्म के इन कुपरिणामो को समझने लगे थे। एक यह भी कारण था कि धर्म पर से उनकी श्रद्धा हटने लगी थी। अतएव, जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हे अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखायी पडे। सब से बडा कार्य धर्म की पुन स्थापना का कार्य था।" बुद्धिवादी मनुष्यो की श्रद्धा धर्म पर से केवल भारत मे ही नही, सभी देशो मे हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो उसकी इहलौकिक विजय के मार्ग मे बाधा नही डाले। दूसरा काम हिन्दू-धर्म पर, कम-से-कम, हिन्दुओ की श्रद्धा जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव मे आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार न थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशसा नही करें। और तीसरा काम भारत-वासियो मे आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हे अपने सस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परपराओ का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।"

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु मे हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि मे ही उन्होने उपर्युक्त तीनो कार्य सपन्न कर दिये। राममोहन राय के समय से भारतीय सस्कृति और समाज मे जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशव सेन, दयानन्द, रानाडे, एनी बीसेंट, रामकृष्ण एव अन्य चिन्तको तथा सुधारको ने भारत मे जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमे से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो-कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट सकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र है, जिसमे धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढना चाहिए।" अरविन्द का वचन है कि "पश्चिमी जगत् मे विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नही जगा है, वरन्, वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढी के लोगो मे उन्होने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एव उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारो से लोगो में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे है। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सदेश नही दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओ के सपर्क मे आया, उसमे देशभक्ति और राजनैतिक मानसिकता आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामीजी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किन्तु, राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है, उसका लघु अंग मात्र है। स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं; हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत, हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे अधिक है। स्वामीजी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जनमी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

शिकागो-सम्मेलन

सन् १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महा-सम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जायँगे और अनेक प्रचंड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामीजी इस सम्मेलन में जा सके, क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ, जैसा न तो कभी पहले हुआ था, न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। हाँ, गूँज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से स्वामीजी की अमेरिका-यात्रा उतनी ही सफल हुई, जितनी पंडित जवाहरलाल नेहरू की रूस-यात्रा (१९५५ ई०) समझी जाती है।

स्वामीजी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्ध-विश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे, भारत के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही न करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नयी कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग हैं एवं संपूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं

कि स्वामीजी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन मे जाने को आतुर हो उठे हो।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मत्र-मुग्ध और, पहले ही दिन से, उनके भक्त हो गये। प्रथम दिन तो स्वामीजी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नही था, उन्हे कोई जानता या पहचानता नही था। किन्तु, उसके बाद, सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होने प्रति दिन सभा के अन्त में ही दिये, क्योकि सारी जनता उन्ही का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणो पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यू यार्क हेराल्ड' ने लिखा था कि धर्मों की पार्लमेंट मे सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द है। उनका भाषण सुन लेनें पर, अनायास, यह प्रश्न उठ खडा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजने की बात कितनी बेवकूफी की बात है।"

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामीजी अमेरिका और इग्लैण्ड मे तीन साल तक रह गये और इस अवधि में भाषणो, वार्तालापो, लेखो, कविताओं, विवादो और वक्तव्यो के द्वारा उन्होने हिन्दू-धर्म के सार को सारे यूरोप में फला दिया। प्राय, डेढ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक ससार मे हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामीजी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियो ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामीजी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुन कर गद्गद हो रहा है, तब हिन्दू भी अपने धर्म और सस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँगरेजी पढ कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियो को समझाना बहुत ही कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होने देखा कि स्वय यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामीजी के शिष्य बन कर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे है, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड कर वे भी स्थिर होने लगे। इस प्रकार, हिन्दुत्व को लीलने के लिए अँगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के रूप मे जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-जैसे विशाल वक्ष से टकरा कर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा

स्वामीजी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होने सयम और त्याग का महत्त्व समझाया, किन्तु, भारतवासियोका ध्यान उन्होने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एव धर्म को उनके सामने ऐसा बना कर रखा, जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नही पड़े। अमेरिका की उच्छल

जीवनी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का सगठन, वहाँ की सौन्दर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनो का उपयोग, ये बातें स्वामीजी को बहुत पसद आयी थी। किन्तु, यूरोपीय सभ्यता के जो दोष है, वे उनकी आँखो से ओझल नही रहे। बोस्टन में दिये गये अपने एक भाषण में स्वामीजी ने इन दोषो का ऐसा पर्दाफाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी, स्वामीजी ने अमरीकी और यूरोपीय लोगो को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नही किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड है, धर्म और सस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबो के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनैतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग है, उन्हें स्वामीजी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशो के श्रोताओ के सामने वे इनका खुल कर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनो की रक्षा और शांति के लिए स्वामी जी धर्म को आवश्यक मानते थे, अतएव, यूरोप को धर्म से विमुख होते देख कर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश, उसी प्रकार, अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए है। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।

रूढियो, आडम्बरो और बाह्याचारो से ऊपर उठ कर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की।\\ "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न तो पुस्तको में है, न धार्मिक सिद्धातो में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" "धर्म अन्ध-विश्वास नही है, धर्म अलौकिकता में नही है, वह जीवन का अत्यत स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द, ये निचले स्तर पर नही हैं, उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहाँ ऊँचा स्तर आता है, वही धर्म का आरभ होता है। "जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इद्रियो का आनन्द वही अत्यन्त प्रखर होता है। खाने मे जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह भोजन के समय मनुष्य मे नही दिखायी देता। कुत्तो और भेडियो का सारा आनन्द उनकी इद्रियो मे केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशो के निचले स्तर के मनुष्य इद्रियो के आनन्द मे अत्यन्त उत्साह दिखाते है। किन्तु, जो सच्चे अर्थो मे शिक्षित और सुसस्कृत व्यक्ति है, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु, आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यत सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियो पर स्वामीजी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधि-भौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियो पर निर्भर नही करके आध्यात्मिक उन्नति

पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनय-शीलता, सचाई, नि स्वार्थता और प्रेम का विकास करे तथा वाद को अन्य गुणो का।

भारत को प्रवृत्ति का उपदेश

यूरोप और अमेरिका मे भोग की सामग्रियाँ प्रचुर परिणाम मे उपलब्ध थी। इस लिए स्वामीजी ने वहाँ के निवासियो को सयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एव यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणो से वियुक्त हो गये थे। अतएव, भारतवासियो को उन्होने जो उपदेश दिया, वह केवल धर्म के लिए नही था, प्रत्युत, उन्होने यहाँ के लोगो मे असतोष जगाना चाहा, उन्हे कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियो से आती हुई निवृत्ति की विषैली जजीरो से मुक्त करके उन्होने भारतवासियो को प्रवृत्ति के कर्म-मार्ग पर आरूढ करने का प्रयास किया। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामीजी ने ईसाइयो के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, "तुम ईसाई लोग मूर्त्तिपूजको की आत्मा के वचाव के लिए भारत मे धर्म-प्रचारक भेजने को वहुत ही आतुर दीखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजको को शरीर की क्षुधा की ज्वाला से वचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो ? भयानक दुर्भिक्षो के समय लाखो भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु, तुम ईसाइयो से कुछ भी नही वन पडा। भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे वनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हे यह ज्ञात नही है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नही। धर्म एशियावालो के पास अब भी बहुत है। वे दूसरो से धर्म का पाठ नही पढना चाहते। जो जाति भूख से तडप रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ मे दर्शन और धर्म-ग्रथ रखना उसका मजाक उडाना है।"

कहते हैं, एक वार कोई नवयुवक स्वामीजी के पास गया और बोला, "स्वामीजी ! मुझे गीता समझा दीजिए।" स्वामीजी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक क्षेत्र फुटवाल का मैदान है। जाओ, घटे भर खेल-कूद लो, गीता तुम स्वय समझ जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द ससार मे घूम कर देख चुके थे कि नयी मानवता कितनी उच्छल और वलवती है। उसकी तुलना मे भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखायी दिये। अतएव, भारत मे उनके अधिकाश उपदेश उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गये। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु सन्यासियो का देश वनाना नही चाहते थे, न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग, अनिवार्यत, शाक-भोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दश सहे और मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि सन्यासियो को मास-मछली

खानी चाहिए या नहीं, स्वामीजी ने कहा, "हाँ, निन्दा का भय माने बिना मास-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीनेवाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति मे दमकती हुई काति, हृदय में अदम्य उत्साह और कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्व की पहचान हैं। इसके विपरीत, तमस का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है। कौन भोजन शुद्ध और कौन अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे अथवा इद्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है? हमारा लक्ष्य इद्रियो का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इद्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मास-पेशियो और फौलाद की नाडी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योकि इन्ही के भीतर वह मन निवास करता है जो शपाओ एव वज्रो से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्रह्म-तेज, इनके समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिए।" "मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय वस में आयेगा। सभव हो तो जीवन को छोड कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र-शिव से एकाकार हो जाओ।"

सस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत करना था। स्वामीजी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकाली एव रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगो का आराध्य बना दिया। स्वामीजी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारो, धर्मों और आचारो से कायरता की वृद्धि एव पौरुष का दलन होता है, स्वामीजी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की, स्वामीजी ने, कभी भी खुल कर प्रशसा नहीं की, बल्कि, एक बार तो उन्होने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओ के पीछे "भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।" स्वामीजी न तो धर्म-युद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौडना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित्, वे सभी स्थितियो मे त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा कि "महाराज! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामीजी ने तडाक से उत्तर दिया, "क्यो?

बदले मे उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए, जब तुम्हारी भुजा मे विजय की शक्ति वर्त्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सत थे जिनकी अनुभूतियो मे पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते है, प्राचीन दर्शन की परतें छूट कर गिर जाती है और जग लगे विचार धुल कर चमकने लगते है। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परपराएँ भारतवासियो की उन्नति का मार्ग रोके अथवा धर्म उन्हे निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदो का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक है, क्योकि वे सब-की-सब एक ही परब्रह्म के असख्य प्रतिबिम्ब मात्र है। इस सिद्धात से स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते है, वह सभी जीवो के योग से अधिक नही है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओ की सेवा मे अपने आपको लगा दे। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन मे घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। "ससार के अगणित नर-नारियो मे परमात्मा भासमान है।" "मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध सघर्ष करना है जो परलोक मे आनन्द देने के बहाने इस लोक मे मुझे रोटियो से वञ्चित रखता है, जो विधवाओ के आँसू पोछने मे असमर्थ है, जो माँ-बाप से विहीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकडा नही दे सकता।" केष्टा नामक सथाल को भोजन करा कर उन्होने कहा था, "तुम साक्षात् नारायण हो। आज मुझे सतोष है कि भगवान् ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, "वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखानेवाले दर्शनो के स्वामीजी प्रचड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियो के प्रति भी उनमे आदर का भाव नही था। "भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनो ही दृष्टियो से, मर चुके है।"

मातृजाति के प्रति उदारता

स्वामीजी स्वय सन्यासी थे। सन्यासियो का एक बृहत् मठ भी उन्होने खडा किया था एव समाजसेवी युवको को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नही मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और सन्यासी भी नीच हो सकता है। "मैं सन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नही करता। सन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमे भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते है, मेरा मस्तक उसीके सामने झुक जाता है।"

नारियो के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे कि "ईसा अपूर्ण थे क्योकि जिन बातो में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नही उतार सके। उनकी अपूर्णता का सब से बडा प्रमाण यह है कि उन्होने नारियो को नरो के समकक्ष नहीं माना। असल में, उन्हे यहूदी सस्कार जकडे हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नही बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योकि उन्होने नारियो को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया था।"

एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज! बौद्ध मठो मे भिक्षुणियाँ बहुत रहती थी। इसीलिए तो देश मे अनाचार फैल गया।" स्वामीजी ने इस आलोचना का उत्तर नही दिया, किन्तु, वे बोले, "पता नही, इस देश मे नारियो और नरो में इतना भेद क्यो किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सब मे एक ही आत्मा निवास करती है। तुम लोग नारियो की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु, कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है? स्मृतियाँ रच कर तथा गुलामी की कडियाँ गढ कर पुरुषो ने नारियो को बच्चा जनने की मशीन बना कर छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ है। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया, तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है। ससार की सभी जातियाँ नारियो का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई है। जो जाति नारियो का सम्मान करना नही जानती, वह न तो अतीत मे उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक त्रिया-जाति की वेदनाओ और पीडाओ का प्रश्न है, स्वामीजी को भारत और यूरोप, दोनो ही महादेश आँसुओ से सिक्त दिखायी पडे थे। स्वामीजी ने कहा था, विपत्तियाँ भारत में भी है और पश्चिमी देशो में भी। यहाँ विधवाएँ रोती है, वहाँ कुमारियाँ।

ब्राह्मण-रूपी सर्प

स्वामीजी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और सस्कृति, ये परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते है। भारतवर्ष मे राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनैतिक थे। किन्तु, बहुत-से कारण ऐसे भी थे, जिनका सबध धर्म से था। अतएव, स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओ को दृष्टिगत रख कर करना आरभ किया और इस प्रक्रिया मे उन्होने कडी-से-कडी बाते भी बडी ही निर्भीकता से कह दी। "शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगो से 'ब्राह्मण' भारतीय सस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस सस्कृति को सब के पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस सस्कृति को

जनता मे जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानो का आक्रमण सभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने सस्कृत के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमे से कुछ भी लेने नही दिया, इसीलिए, हजारो साल तक जो भी जातियाँ भारत मे आती रही, हम उनके गुलाम होते गये। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सास्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए, प्रायश्चित्त भी सब से पहले उसीको करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डँसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

एकता का मंत्र

ऊँची और तथाकथित नीची जातियो के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को ले कर जो सघर्ष है, स्वामीजी ने उससे पैदा होनेवाले खतरो पर भी विचार किया था। इस सबध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियो को सतोष होता है तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओ मे यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण है। इससे भारत को बहुत बडी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो देश मे जातियो का भेद आप-से-आप समाप्त हो जायगा। दूसरे, सभी वर्णो के लोग ब्राह्मण-सस्कृति को स्वीकार करके आज के सास्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जायेंगे। हाँ, स्वामीजी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जायँ, किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष मे अब भी सस्कृत-भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठावाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे सस्कृत मे दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्त्व स्वामीजी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप मे रखा। "अथर्ववेद मे एक मत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल मे देवताओ का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे है। मनुष्य देवताओ की अर्चना इसलिए करते है कि देवताओ का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण, इन तुच्छ विवादो मे पड कर तुम जितना ही झगडते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायगी, तुम्हारा सकल्प एकता से उतना ही दूर पडता जायगा। स्मरण रखो कि शक्ति-सचय और सकल्प की एकता, इन्ही पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियो का सचय नही करते, जब तक एक-मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य मे नही लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नही है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढग पर सोचता है, किन्तु, मुट्ठी भर जापानियो का

मन एक है। इसके जो परिणाम निकले है, उन्हे तुम भलीभाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास मे यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामीजी ने भारतीयो के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर दे कर कहा कि "हमारे देशवासियो मे से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है,तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं। किन्तु, यदि कोई विदेशी आ कर हमे ठोकर मारता है, तो हम समझते है, यह ठीक है। हमे इन तुच्छताओ की आदत पड गयी है। लेकिन, अब गुलामो को अपना मालिक आप बनना है। ,इसलिए, दास-भावना को छोड दो। अगले पचास वर्षो तक भारत-माता को छोड कर हमे और किसी का ध्यान नही करना है। भारतमाता को छोड कर और सभी देवता झूठे है। उन्हें अपने मन से निकाल कर फेक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पडते हैं। सर्वत्र उसके पॉव विराजमान है, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिविम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता है, नीद में है। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

यह अकरणीय है

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भाग कर गुफा मे नाक-कान दबा कर प्राणायाम करने की परपरा की, भारत मे, बडी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परपरा की महिमा एक झटके मे उडा दी। "आधा मील की खाई तो हमसे पार नही की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते है। यह होनेवाली बात नही है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि मे चला जाय, यह गलत बात है। यह असभव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्म-सकुल विश्व के साथ मिलन और सघर्ष तथा सध्या समय बैठ कर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है! तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से हो कर तुम्हारे पास चले जायेंगे? क्या यह भी कोई मजाक है? ये सारी बेवकूफी की बाते है। जिस चीज की जरूरत है, वह है चित्त-शुद्धि और चित्त-शुद्धि कैसे होगी? सबसे पहली पूजा विराट की होनी चाहिए, उन असख्य मानवो की, जो तुम्हारे चारो ओर फैले हुए है। संसार मे जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु है, सभी परमात्मा है, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्व प्रथम हमें अपने देशवासियो की पूजा करनी चाहिए। आपस मे ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस मे झगडा और विवाद के बदले, तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मो ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु, फिर भी हमारी आँख नही खुलती।"

पश्चिम से विनिमय

गाँधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् और जवाहरलाल मे हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सदेश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दु.खी, किन्तु, यूरोप समृद्ध एव असतुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिये अनेक दुर्गतियो को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियो पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु, उच्च जीवन की राह उसे, मानो, मिली ही नही। विश्व का कल्याण इसमे है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और, इस प्रकार, ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नही आये। इसी प्रकार, यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जग कर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की सगति से आयेगा। स्वामीजी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पडी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होने घोषणा की कि जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। "क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिम वालो के चरणो के पास बैठ कर सब-कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहे ! क्या हम केवल लेते ही रहेगे ? देना हमे कुछ भी नही है ? पश्चिम से हम यत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बाते अच्छी हैं, जिन्हे पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु, हमें उन्हे कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सपत्ति की प्रतीक्षा मे है, जो पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। इसलिए, सकीर्णता को छोड कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिमवालो से हमे एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हे देंगे और, बदले मे, भौतिक साधनो का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सभव नही होती और समानता वहाँ आयेगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है, और दूसरा उसका सनातन शिष्य ?"

औसत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामीजी भावी सभ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि ससार पर धीर और अनुग्र हिन्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नही। "हिन्दू-जाति की महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नही है। राजनैतिक महत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, न कभी आगे होनेवाला है।" हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति मे हिन्दुओ को अपना अशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क के द्वारा ही प्रदान करना होगा।

स्वामीजी के समय में ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राजनैतिक शक्ति का आगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी स्वामीजी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटा कर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ बैठा लेगा।

भारत को स्वामीजी ने यह भी सुझाया था कि यूरोप में गरीबी और पाप सहगामी माने जाते है। किन्तु, अपने देश मे गरीबी पाप नही है। उलटे, इस देश के सब से बडे लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण

हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नही था। उनके गुरु परमहस रामकृष्ण ने तो छह महीनों तक, विधिवत्, मुसलमान हो कर इस्लाम की साधना भी की थी। इस सस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु, भारत ने भी अपने विजेताओ में से प्रत्येक पर सास्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नही है। शिक्षित मुसलमान, प्राय, सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओ के विश्वास से भिन्न नही होते। इस्लामी सस्कृति के भीतर भी हिन्दू-विचार प्रविष्ट हो गये हैं। विख्यात मोगल सम्राट अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम मे इग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पडेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माई मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामीजी तीन-चार दिनो की एकात समाधि से लौट कर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोच कर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानो ने हिन्दुओ के मदिरो को क्यो तोडा, उनके देवी-देवताओ की मूर्त्तियो को क्यो भ्रष्ट किया। किन्तु, आज माता ने (काली ने) मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी मूर्त्तियो को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातो पर सोच-सोच कर तू क्यो दुखी होता है?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामीजी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यत, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बाते अनिवार्य रूप से आ जाती है, किन्तु, इस्लाम, मुख्यत, भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पथ देह-दडन, सन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एव तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्ति-मार्ग से उसका कोई विरोध नही था। इसलिए, स्वामीजी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये बिना वेदान्त

के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नही हो सकते। सन् १८९८ ई० मे उन्होने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था कि "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिल कर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरंभ राममोहन-राय की अनुभूतियो मे हुआ था एव उन्होने हिन्दू-धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, वह विश्व-धर्म की भूमिका से तनिक भी कम नही थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रख कर भी धर्म-च्युत नहीं होने की योग्यता, हिन्दू-धर्म के ये पुराने लक्षण रहे है। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी। उसने वेदो को अपौरुपेय भी माना है और पौरुपेय भी। विश्वासो मे यह जो प्रचड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नही होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एव किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँक कर पहुँचाने मे वह विश्वास नही करता। जब थियोसाफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो, बारी-बारी से, मुसलमान और क्रिस्तान हो कर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर ही लगा दी कि ससार के सभी धर्म एक है, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञता की बात है।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। ससार मे जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु, देश-देश मे अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक है। इसी प्रकार, धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एव देश-देश मे उसके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनके विषय मे स्वामीजी का कहना था कि हमें इन धर्मो को केवल बर्दाश्त करना नही है। ये सभी धर्म हमारे अपने धर्म है, इस भाव से, उन सब को हमें अपना लेना है।

धार्मिक एकता पर विचार

ससार के धर्मो में एकता कैसे लायी जाय, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल मे अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, ससार भर के मनुष्यो को उसी धर्म मे दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारको ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो मे जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि ससार मे सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका

निर्णय कर लिया जाय। किन्तु, उस सम्मेलन में स्वामीजी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सबध मे मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मै नही करूँगा। किन्तु, इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी धर्मो का विनाश है, तो मै उससे निवेदन करूँगा कि बन्धु! तुम्हारी आशा पूरी नही होगी। क्या मै यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ? भगवान करे कि ऐसा न हो। क्या मै यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जायँ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नही होना है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिकता की, पूर्ण रूप से, रक्षा करते हुए उन नियमो के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे है।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु, जातियो की भाषाएँ अनेक होती है। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियो की विविध भाषाओ तथा रीति-रिवाजो मे अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामीजी व्यक्ति और समाज, दोनो के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध ससार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नही, धर्म के गलत प्रयोग का है, ठीक वैसे ही, जैसे विज्ञान से उठनेवाली भीषणताओ का दायित्व विज्ञान पर नही हो कर उन लोगो पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते है। स्वामीजी का विचार था कि "धर्म को समाज पर जिस ढग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढग से वह लागू किया ही नही गया है।" हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओ को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु, यदि कभी भी कोई विश्व-धर्म-जैसा धर्म उत्पन्न होनेवाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल मे कही भी सीमित या आबद्ध नही होगा, जो, परमात्मा के समान ही, अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियो पर तथा सतो और अपराधियो पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सब के योग और सामजस्य से उत्पन्न होगा।"

भारत पर अशेष ऋण

विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नही चुकाया जा सकता। उनके उपदेशो से भारतवासियो ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान् है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए।

उनके उपदेशो से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन सस्कृति प्राणपूर्ण एव आज भी विश्व का कल्याण करनेवाली है। अँगरेजी पढे-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और सस्कृति की खिल्ली उडाने मे ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशो और कर्तृत्व से ही अन्तिम वार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशो से ही भारत-वासी अपने पतन की गहराई भाप सके, अपने शारीरिक क्षय एव आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रियाविमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी मे ही सास्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एव लोगो मे अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा सचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है। भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी मे यह दम नही है कि वह अव भारत को रोक सके। भारत अव फिर से निद्रा मे नही पडेगा। यह भीमाकार देश , फिर से, अपने पाँवो पर खडा हो रहा है।"

जव नरेन्द्रनाथ परमहस रामकृष्ण की सगति मे आये, रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक वार परमहसजी ने कहा था, जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशव जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियो का नरेन्द्र मे पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वय नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा मे रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो! मुझे मालूम है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवो की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुन. शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परपरागत भाषा है। किन्तु, विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह तो हम भी कह सकते हैं। वर्त्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। वाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे है।" जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके इजीनियर हुए।

प्रकरण ११

प्रवृत्ति का उत्थान : लोकमान्य तिलक

प्रवृत्ति-निवृत्ति

यूरोपीय सभ्यता और विचारधारा से भारत का जो सपर्क हुआ, उसका सब से कल्याणकारी प्रभाव प्रवृत्ति की दिशा मे पडा। प्रवृत्ति का अर्थ है 'सन्यास न ले कर मरण-पर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म' करते जाना। प्रवृत्तिवादी विश्व को निस्सार नही मानता, न उसका यही भाव होता है कि मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य ध्यान और समाधि है। इसके विपरीत, निवृत्ति का मार्ग सन्यास का मार्ग है, कर्म-त्याग का मार्ग है एव निवृत्तिवादी यह मानता है कि विश्व माया है, सारहीन है, 'कुछ नहीं' में कुछ का भ्रम है; अतएव, मनुष्य का चरम लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह सन्यास ले कर अपने मोक्ष की खोज करे तथा लोक का त्याग करके परलोक को सुधारने की चेष्टा मे मग्न हो जाय। यह पिछला दृष्टिकोण भारत का सब से बडा शाप प्रमाणित हुआ और इसी दर्शन मे आसक्त रहने के कारण भारतवासियो ने लोक की उपेक्षा कर दी। कहावत प्रसिद्ध है कि जब यूरोपवाले जीवन के व्यूह में प्रविष्ट हो कर रस और आनन्द का उपभोग करते रहे, पूर्व के लोग, विशेषत भारतवासी, अँधेरे में भटकते हुए जीवन के अर्थ की खोज करते रहे हैं।

भारत का वैदिक काल जीवन के प्रति आस्था का काल था। वैदिक आर्य मरणोत्तर आरभ होनेवाले जीवन की कल्पना मे बहुत ग्रस्त नहीं थे। तब, उपनिषदो का युग आया और समाज मे सन्यास की भावना फैलने लगी। किन्तु, उपनिषदो के युग मे भी प्रवृत्ति का एक आदर्श जनक के व्यक्तित्व मे प्रस्फुटित हुआ, जिसका लक्ष्य यह था कि ससार का कोई भी कर्म इतना गर्हित नही है कि उसे करते हुए हम मोक्ष से वचित रह जायँ। योग को भोग मे निहित रखो अथवा यह कि सच्चा योग वह है जो भोग के भीतर भी अक्षुण्ण रहता है, यह जनक के जीवन की सब से बडी शिक्षा थी। किन्तु, औपनिषदिक विचारधारा से जब बौद्ध और जैन धर्म निकले, तब उन्होंने सन्यास को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला एव लोकाराधना का महत्त्व उसी परिमाण मे न्यून हो गया। तब से भारतवासी कर्मठता को हीन, गार्हस्थ्य को मलिन तथा सन्यास को देदीप्यमान धर्म समझने के आदी हो गये। बौद्ध और जैन विचार-धाराओ का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पडा और उसीके फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिद्धि के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हजारो वर्ष तक यह सुनते-सुनते कि गार्हस्थ्य हीन एवं सन्यास उच्च धर्म है, भारत के गृहस्थ भी विचारो से संन्यासी हो गये एव समाज

मे फैले हुए अविचारो तथा देश पर आनेवाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा वे सदैव मन्दिरों मे आरती सजाने तथा प्राणायामपूर्वक मोक्ष खोजने को अपना महत् कर्म समझने लगे।

जीवन-जय का मार्ग

किन्तु, उन्नीसवी सदी मे जो सास्कृतिक नवोत्थान हुआ, उससे भारतीयों की आँखें खुल गयी और वे स्पष्ट देखने लगे कि सपूर्ण इतिहास मे उनका सबसे बडा दोष इसी निवृत्ति की उपासना थी। अतएव, इस नवोत्थान के सभी नेताओ ने यह घोषणा की कि प्रवृत्ति का मार्ग जीवन पर विजय का मार्ग है एव जो भी निवृत्ति की ओर जाता है, वह, वास्तव मे, पलायनवादी हो कर जीवन से भाग रहा है। वेदान्त को लोग सन्यास का पन्थ मानते आये थे। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द के मुख से वही वेदान्त घोर कर्म-निष्ठा का समर्थक बन कर उतरा तथा हिन्दुत्व का सारा दर्शन उनकी वाणी में प्रवृत्तिवादी हो उठा। किन्तु, इस दिशा में, दर्शन के स्तर पर, सब से बडा काम लोकमान्य बाल-गगाधर तिलक ने किया, जिनका गीता-विषयक ग्रथ, कर्मयोगशास्त्र, अभिनव हिन्दुत्व का सर्वश्रेष्ठ आचार-ग्रथ माना जाता है। वास्तव में, राममोहन से ले कर विवेकानन्द तक भारतीय दर्शन मे जो विपुल मंथन हुआ था, कर्म-योग-शास्त्र मे हम उसका तर्क-सम्मत दार्शनिक रूप देखते है। यह ग्रन्थ हिन्दुत्व की उस अवस्था का परिचायक है, जब यूरोपीय सस्कृति की टकराहट से उठनेवाला कपन समाप्त हो जाता है एव हिन्दुत्व नवीन जन्म ग्रहण करके अपने अनुयायियो को नयी परिस्थितियो से लोहा लेने का उपदेश देता है।

स्वामी विवेकानन्द और तिलक समकालीन थे। किन्तु, स्वामीजी, प्रधानत., धर्म के मनुष्य थे एव उनका उद्देश्य मनुष्य-मनुष्य को समीप ला कर विश्व-मानव के जन्म को सभव बनाना था। अतएव, विश्व-मानवता के जो गुण उन्हे भासित हुए, उन्हे हिन्दुत्व मे प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया से ही उन्होने हिन्दुत्व का सुधार किया। किन्तु, तिलकजी, प्रधानत, समाज और राजनीति के पुरुष थे तथा विश्ववाद से उन्हे अधिक प्रेम नही था। वे हिन्दुओ की पतनशीलता से दु खी थे। वे पराधीनता से क्षुब्ध थे। वे हिन्दू-जाति की निवृत्ति-भावना से आकुल और उसकी कर्त्तव्य-विमुखता से अधीर थे। अतएव, गीता की व्याख्या के बहाने उन्होने समस्त हिन्दू-दर्शन को मथ कर उसे नवीन कर दिया तथा हिन्दू-जाति में वह प्रेरणा भर दी, जिससे मनुष्य प्रतिकूल परि-स्थितियो पर विजय पाता है, जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निश्चयन मे दार्शनिक सूक्ष्मताएँ उसके मार्ग का अवरोध नही कर सकती, तथा जिससे वह परिस्थितियो के अनुसार धर्माधर्म का ठीक-ठीक समाधान कर पाता है। हिन्दुओ की पराजयो मे से अनेक का कारण यह था कि व्यवहार और धर्म में द्वंद्व उपस्थित होने पर हिन्दू किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते

थे। तिलकजी ने कर्मयोगशास्त्र के द्वारा हिन्दुओ की यह द्विधा दूर कर दी एव उन्हे इस योग्य बना दिया कि ऐसे द्वद्व के समय वे धर्म के व्यावहारिक पक्ष का सहारा ले सके।

उपनिषद, वेदान्त और गीता, ये हिन्दुओ के प्रधान ग्रथ रहे है तथा, समय-समय पर, हिन्दुत्व के भीतर जो भी सन्त और सुधारक उत्पन्न हुए, उनमे से कइयो ने इन तीनो पर टीकाएँ लिख कर हिन्दुत्व को उस दिशा की ओर मोडने की कोशिश की, जिधर वे उसे ले जाना चाहते थे। तिलकजी ने इन तीनो मे से केवल गीता को लिया, क्योकि उपनिषदो और वेदान्त के अपेक्षाकृत पीछे छूट जाने पर भी, गीता का, हिन्दुओ के घर-घर मे, प्रचार था और उसकी व्याख्या के द्वारा ही तिलकजी हिन्दुओ के भीतर नयी मानसिकता उत्पन्न करना चाहते थे।

गीता पर निवृत्ति के बादल

बौद्ध धर्म के पतन के बाद, भारतवर्ष मे, वैदिक धर्म के जो अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए (जैसे अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैत तथा त्रैतवादी) उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक-आचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर टीकाएँ लिखी थी। इनमे से शकराचार्य-कृत टीकाओ का भारत मे व्यापक प्रचार हुआ, प्रत्युत, कहना यह चाहिए कि बौद्ध धर्म के लोप के बाद, हिन्दुत्व का जो रूप प्रचलित हुआ वह वही था, जिसका आख्यान शकराचार्य ने किया था। किन्तु, शकर भी वैदिक धर्म के प्रवृत्तिमार्गी रूप को जनता के समक्ष नही ला सके। उन्होने श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक धर्म की रक्षा करते हुए जिन दार्शनिक विचारो को उत्थान दिया, वे निवृत्ति के विचार थे। उन्होने जिस धर्म को जनता के सम्मुख रखा, वह उपनिषदो का सन्यास-धर्म था। स्मृतियो में गृहस्थ के जो कर्त्तव्य बताये गये है, उन्हे शकराचार्य ने आवश्यक तो बताया, किन्तु, उन्होने यह भी कहा कि "इन कर्मो का आचरण सदैव न करते रहना चाहिए, क्योकि इनका त्याग करके, अन्त में, सन्यास लिये बिना मोक्ष नही मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अधकार और प्रकाश के समान, परस्पर-विरोधी है, इसलिए, सब कर्मो और वासनाओ से छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञान की पूर्णता नही हो सकती।"

यही निवृत्ति का मार्ग है और इसी को सन्यास-निष्ठा तथा ज्ञान-निष्ठा भी कहते हैं। शकराचार्य ने उपनिषद और ब्रह्मसूत्र की टीकाओ मे इसी ज्ञान-मार्ग का निरूपण किया तथा गीता पर जो शाकर भाष्य है, वह भी यही शिक्षा देता है कि गीता का मार्ग सन्यास का मार्ग है, ससार-त्याग और कर्म-न्यास का मार्ग है। गीता जब पहले-पहल लिखी गयी थी तब, शायद, वह सन्यास का समर्थन नही करती थी। किन्तु, शकराचार्य ने उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की उससे सभी के हृदय पर यह बात बैठ गयी कि गीता का उपदेश केवल योग और ज्ञान का उपदेश है तथा उसमें प्रयुक्त योग का अर्थ सासारिक कर्म नही, केवल साधना और समाधि है। तिलकजी का विचार है कि "गीता के प्रवृत्ति-

विषयक रूप को निकाल बाहर करके उसे निवृत्ति-मार्ग का साम्प्रदायिक रूप शांकर भाष्य के द्वारा ही मिला है।"

शकराचार्य के बाद भी गीता पर कई टीकाएँ लिखी गयी, किन्तु, किसी भी टीका में यह भाव प्रत्यक्ष नही हो सका कि गीता प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन देती है अथवा वह कर्म की विरोधिनी नही है। रामानुजाचार्य ने प्रस्थानत्रयी की टीका से यह तो सिद्ध किया कि शंकराचार्य का माया-मिथ्यावाद और अद्वैत-सिद्धान्त, दोनो झूठे हैं, किन्तु, गीता में प्रवृत्ति की प्रेरणा अथवा कर्म के लिए स्थान है, इसे वे भी नही स्वीकार कर सके। "शांकर सम्प्रदाय के अद्वैत-ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति स्थापित करके रामानुजाचार्य ने भेद तो किया, परंतु, आचार-दृष्टि से उन्होंने भक्ति को ही अन्तिम कर्त्तव्य माना है। इससे वर्णाश्रम-विहित सासारिक कर्मों का मरण-पर्यन्त किया जाना गौण हो जाता है और यह कहा जा सकता है कि गीता का रामानुजीय तात्पर्य भी, एक प्रकार से, कर्म-सन्यास-विषयक ही है। कारण यह है कि कर्माचरण से चित्त-शुद्धि होने के बाद ज्ञान की प्राप्ति होने पर, चतुर्थाश्रम स्वीकार करके ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न रहना या प्रेमपूर्वक निस्सीम वासुदेव-भक्ति में तत्पर रहना, कर्मयोग की दृष्टि से, एक ही बात है। ये दोनो मार्ग निवृत्ति-विषयक ही हैं।" इसी प्रकार, मध्वाचार्य ने भी अपने गीता-भाष्य मे यह बताया कि, यद्यपि, गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है; अन्तिम निष्ठा तो केवल भक्ति है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना और न करना समान हो जाता है। और यही हाल वल्लभाचार्यजी का रहा, क्योंकि उन्होंने भी पुष्टि-मार्ग में परमात्मा के अनुग्रह को ही सब-कुछ माना एव "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" वाले श्लोक से यह अर्थ निकाला कि भगवदनुग्रह प्राप्त होने पर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

गीता की टीकाओ मे महात्मा ज्ञानेश्वर-कृत भाष्य (ज्ञानेश्वरी) का भी बड़ा नाम है। किन्तु, ज्ञानेश्वर महाराज का भी यही कहना है कि गीता में सांसारिक कर्मों का समर्थन नही है। वह, मुख्यतः, योग का ग्रन्थ है और भगवान ने अर्जुन को, सर्वतोभावेन, योगी होने की शिक्षा दी है। ज्ञानेश्वर स्वय योगी थे, अतएव, योग को उन्होंने 'पंथराज' कहा है एव यह माना है कि गीता की सबसे बडी शिक्षा योग ही है।

साराश यह कि हिन्दू-धर्म के जितने भी आचार्य हुए, उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि गृहस्थ के कर्म भी धार्मिक कर्म हो सकते हैं अथवा यह कि गृहस्थ भी अपने आप में पूर्ण मनुष्य है। परपरा से एक बात देश मे चली आ रही थी कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष सन्यास से प्राप्त होता है। स्पष्ट ही, यह सिद्धान्त गृहस्थ के पद को नीचे ले जानेवाला सिद्धात है। गार्हस्थ्य को लोग बहुत-कुछ अनिवार्य हीनता के रूप में देखते थे तथा प्रत्येक गृहस्थ के मन में यह भाव रहता था कि कब उसे सुयोग मिले कि वह सन्यासी हो जाय। भक्तो और योगियों ने संन्यास के स्थान पर भक्ति और योग

को अवश्य प्रतिष्ठित किया, किन्तु, जहाँ तक सासारिक कर्मो का सबध था, सभी ने उन्हे त्याज्य ही बताया। योगी और सन्यासी तो प्रत्यक्ष ही गृहस्थ-धर्म से दूर थे। रह गये भक्त, सो, उनमे भी कर्मचेष्टा उद्दामता तक नही जा सकती थी, क्योकि भक्त के हृदय मे भी यह कामना तो रहती ही है कि बाल-बच्चो की चिन्ता और सासारिक कर्मो के जाल से आदमी जितना शीघ्र मुक्ति पाये, उसके लिए उतना ही अच्छा होगा। मूल्यो की दृष्टि से देखें तो सन्यास, भक्ति और योग, ये सभी पन्थ गृहस्थ के मूल्य को गिरानेवाले थे, क्योकि, सब-के-सब यह मान कर चलते थे कि गार्हस्थ्य निश्चित रूप से त्याज्य है। हाँ, गार्हस्थ्य को छोड कर व्यक्ति क्या करे, इस सबध में उनके अलग-अलग सिद्धान्त अवश्य थे। एक तो गृहस्थो को सन्यासी बनाना चाहता था, दूसरा योगी और तीसरा भक्त। किन्तु, कोई भी पन्थ कर्मठ गृहस्थ को योगी, सन्यासी अथवा भक्त के समकक्ष मानने को तैयार नही था। यह अवस्था, बहुत-कुछ, उपनिषदो के समय से आ रही थी। बौद्धो ने उसकी तीव्रता को और भी बढा दिया था। तथा शकराचार्य और उनके बाद के वैष्णवाचार्य, यद्यपि, यह सोचते होगे कि निवृत्ति को ग्राह्य बताकर हिन्दुत्व की वे रक्षा कर रहे हैं, किन्तु, दर्शन के भीतर जो विष पहुँच गया था, उससे हिन्दुओ की रक्षा इनमे से कोई भी नही कर सका। यह कार्य विवेकानन्द और, उनसे भी अधिक, लोकमान्य तिलक के लिए रुका हुआ था तथा इसमें कोई सन्देह नही कि हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ट जिस कालकूट को किसी भी तत्त्वचिंतक की दृष्टि नही देख सकी थी, उसे तिलक की आँखो ने देख लिया। तिलकजी ने उसे केवल देखा ही नही, प्रत्युत, अपनी प्रखर बुद्धि से उसे उन्होने दूर भी कर दिया। इसलिए, हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान कृष्ण के मुख से कही गयी। किन्तु, दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने किया है। इन दोनो के बीच की अन्य सारी टीकाएँ और व्याख्याएँ गीता के सत्य पर केवल बादल बन कर छाती रही है।

सदियो से चली आती हुई परपराओ के विरुद्ध 'गीता-रहस्य' मे तिलकजी ने सुस्पष्ट घोषणा की कि गीता का उद्देश्य निवृत्ति नही, प्रवृत्ति का प्रतिपादन है। "भारतीय युद्ध का आरभ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र मे दोनो पक्षो की सेनाएँ लडाई के लिए सुसज्जित हो गयी थी और जब एक-दूसरे पर शस्त्र चलने ही वाला था कि इतने में अर्जुन ब्रह्म-ज्ञान की बडी-बडी बाते बतलाने लगा और विमनस्क होकर सन्यास लेने को तैयार हो गया। तभी, उसे क्षात्र-धर्म मे प्रवृत्त करने के लिए भगवान ने गीता का उपदेश दिया है। भगवान श्रीकृष्ण का यह उद्देश्य नही था कि अर्जुन सन्यास-दीक्षा लेकर और वैरागी बन कर भीख माँगता फिरे या लँगोटी लगा कर और नीम के पत्ते खाकर मृत्यु-पर्यन्त हिमालय में योगाभ्यास साधता रहे। भगवान का यह भी उद्देश्य नही था कि अर्जुन धनुष-बाण को फेंक दे और हाथ मे वीणा तथा मृदग लेकर कुरुक्षेत्र की धर्म-भूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्र-समाज के सामने, भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ, बृहन्नला

के समान और एक बार अपना नाच दिखावे।" योग और भक्ति में अकर्मण्यता का जो पुट है, उसकी ओर हिन्दू-जाति का ध्यान पहले-पहल तिलकजी ने ही आकृष्ट किया। ऊपर के उद्धरण मे योग और भक्ति पर जो सूक्ष्म व्यग्य है, वे तिलक महाराज के इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य

निवृत्तिवादियो ने हिन्दुओ को पग-पग पर अहिंसा बरतने को कहा था, जीवन के आनन्द से मुख फेर लेने का उपदेश दिया था एव ससार को निस्सार बता कर, उसके कर्माकर्म से तटस्थ रहने की शिक्षा दी थी। परिणाम यह हुआ कि उच्च मानवता की खोज करते-करते हिन्दू सामान्य मानवता भी खो बैठे। अन्याय का प्रतिकार, पराधीनता का उच्छेदन और स्वाभिमान की रक्षा, ये महान् उद्देश्य हैं, किन्तु, अति धार्मिक मनुष्य के लिए ये कर्म रुचिकर नही कहे जा सकते। परोपकार के निमित्त आत्म-नाश का वरण यदि श्रेष्ठ कर्म है तो फिर धर्म यही है कि हम पर चाहे जो बीते, किन्तु, हम हाथ नही उठायेंगे। हिन्दू-जाति इस अति-धार्मिकता के महाजाल मे फँसी हुई थी। तिलकजी ने पहले-पहल उसके सामने धर्म का व्यावहारिक पक्ष उपस्थित किया और उसे यह बात समझायी कि धर्म वही नही है जो स्मृतियो मे लिखा हुआ है, प्रत्युत, योग्य उपायो के द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयास एव अन्याय का विरोध भी धर्म का ही अग है। "किसी की हिंसा मत करो, नीति से चलो, सच बोलो, गुरु और बडो का सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो, इत्यादि", सब धर्मों मे पाये जानेवाली साधारण आज्ञाओ का यदि पालन किया जाय तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के झगडे मे पडने की क्या आवश्यकता है? परतु, इसके विरुद्ध यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि जब तक इस ससार के सब लोग उक्त आज्ञाओ के अनुसार बर्ताव करने नही लगते है, तब तक सज्जनो को क्या करना चाहिए? क्या ये लोग अपने सदाचार के कारण दुष्ट जनो के फदे मे अपने को फँसा ले? या अपनी रक्षा के लिए 'जैसे को तैसा' होकर उन लोगो का प्रतिकार करे?[1] यद्यपि उक्त साधारण नियमो को नित्य और प्रमाण-भूत मान भी ले, तथापि, कार्य-कर्त्ताओ को अनेक बार ऐसे मौके आते हैं कि उस समय उक्त साधारण नियमो मे से दो या अधिक नियम एकदम लागू होते हैं। उस समय 'यह करूँ या वह करूँ' इस चिंता मे पड कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है, परन्तु, अब कल्पना कीजिये कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री या कन्या पर बलत्कार करने के लिए अथवा हमारे घर मे आग लगाने के लिए या हमारा धन छीनने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ मे शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा

---

१ शठम् प्रति शाठ्य इति तिलक। शठ प्रत्यपि सत्य इति गान्धि। (गाधीसूत्रम्)

करनेवाला कोई न हो, तो उस समय हमको क्या करना चाहिए ? क्या 'अहिंसा परमो धर्म' कहकर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय ? या यदि वह सीधी तरह नही माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय ? मनुजी कहते है —

गुरुर्वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।

अर्थात् ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, किन्तु यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है । शास्त्रकार कहते है (मनु० ८।३५०) कि ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नही लगता, आततायी मनुष्य अपने ही अधर्म से मारा जाता है । इस जगत् मे ऐसे-ऐसे सूक्ष्म जन्तु है,जिनका अस्तित्व, यद्यपि, नेत्रो से दीख नही पडता, तथापि तर्क से सिद्ध है । ऐसे जन्तु है कि हम अपनी आँखो की पलक हिलावे, उतने ही से उन जन्तुओ का नाश हो जाता है । ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहे कि "हिंसा मत करो, हिंसा मत करो" तो उससे क्या लाभ होगा ? अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया,शान्ति आदि गुण शास्त्रो मे कहे गये है, परन्तु, सब समय शान्ति से कैसे काम चल सकेगा ? सदा शान्त रहनेवाले मनुष्यो के बाल-बच्चो को भी दुष्ट लोग हरण किये विना नही रहेंगे ? न श्रेय सतत तेजो, न नित्य श्रेयसी क्षमा । तस्मान्नित्य क्षमा तात पडितैरपवादिता" ।[1]

तिलक और गाँधी

गाँधी-युग के भारतीयो को तिलकजी का यह कर्माकर्म-विचार अपूर्ण दीखता है । अपूर्ण इसलिए कि कर्त्तव्य की जिस कल्पना का आख्यान तिलकजी ने किया है, वह बहुत दिनो से ससार मे आचरित होती रही है और उसी का यह परिणाम है कि ससार में युद्ध आज भी चल रहे हैं । सभी लोग यदि यही सोचे कि मुझे जो आँखें दिखायेगा उसकी आँखें निकाल लूँगा, तो फिर युद्ध की इति हो चुकी ! किन्तु, दूसरा प्रश्न यह है कि व्यक्ति तो दूसरो को अपनी आँखे निकाल लेने दे, किन्तु, क्या समाज को भी उसका अनुकरण करना चाहिए ? परन्तु, यदि सभी समाज एक-से उन्मत्त रहे तो विश्व में शाति कैसे आयेगी ? प्रश्न वडा विकट है । यह प्राचीन असिव्रत करने के समान है । यह ज्वालाओ मे बैठ कर यह दिखाने का प्रयास करना है कि मैं जल नही रहा हूँ । गाँधीजी का प्रयोग नष्ट नही हुआ । उससे जो परिणाम निकले है, उन्हें पाथेय मान कर स्वतत्र भारत की वैदेशिक नीति चल रही है । शकाएँ अब भी है । किन्तु, यह प्रयोग बडी-बडी सभावनाओ से भी युक्त है । इसके विपरीत, तिलकजी ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था, वह भी अभी नष्ट नही हुआ है । भारत के बाहर तो आज भी उसी नीति का बोलबाला है ।

---

१ गीता-रहस्य.

ये आज की बातें हैं। किन्तु, जिस समय तिलकजी का आविर्भाव हुआ, उस समय तिलक के ये उपदेश वीरता, निर्भीकता और सचाई के सब से बड़े उपदेश थे। हिन्दू-जाति लोकमान्य की चिर ऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस्य छुड़ा कर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के पथ पर लगा दिया। जातियाँ जैसे दर्शनो मे विश्वास करती है, उनका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, उनका आचरण और साहित्य भी वही रूप ले लेता है। यही कारण है कि जब कि हमारा अधिकाश प्राचीन साहित्य हमे जीवन से विमुख करने का काम करता था, आज का सारा-का-सारा भारतीय साहित्य मनुष्यो को जीवन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहा है।

योग का अर्थ

योग शब्द का सामान्य अर्थ भारत मे प्राणायाम और हठ-योग किया जाता था। तिलकजी ने ही यह बतलाया कि योग का अर्थ गीता मे कर्म है। "योगी और कर्मयोगी, दोनो शब्द गीता मे समानार्थक है और इनका अर्थ युक्ति से कर्म करनवाला होता है। बडे भारी कर्मयोग शब्द का प्रयोग करने के बदले, गीता और महाभारत मे छोटे-से योग शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। महाभारत में भी योग और ज्ञान, दोनो शब्दो के विषय में स्पष्ट लिखा है, 'प्रवृत्तिर्लक्षणो योग. ज्ञानं सन्यास-लक्षणम्।' अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित मे यह दिखलाने के लिए कि गृहस्थाश्रम मे रह कर भी मोक्ष की प्राप्ति कसे की जा सकती है, जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम योग है। इसलिए, गीता के योग शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिए। क्योकि गीता के अनुसार (३।२०) जनक का ही मार्ग उसमे प्रतिपादित किया गया है।"

प्रकरण १२

स्वर्ग का भूमीकरण : महायोगी अरविन्द

हिन्दू-नवोत्थान का विवरण अधूरा रह जाय यदि उसमे अरविन्द की साधना का उल्लेख नही हो। किन्तु, उनकी साधना का विश्लेषण आसान नही है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे आइन्स्टीन के सापेक्ष्यवाद की व्याख्या जितनी कठोर है, अध्यात्म के क्षेत्र मे अरविन्द के अतिमानव और अतिमानस की व्याख्या भी उतनी ही दुरूह सिद्ध हुई है। अरविन्द, आरभ मे, अँगरेजी के कवि और चिन्तक तथा देश के प्रतापी राजनैतिक नेता थे। कदाचित्, उनकी आध्यात्मिक साधना, तब भी, भीतर-भीतर, चल रही थी। वे तेजस्वी पत्रकार भी थे और एक समय उनके पत्र 'वन्दे मातरम्' ने देश के भीतर उग्र राष्ट्रीयता के उद्बोधन की दिशा मे बडा ही अद्भुत काम किया था। आज देश के जो भी बडे-बूढे नेता जीवित है, उनके हृदयो मे 'वन्दे मातरम्' से ही देशभक्ति की पहली हिलकोर उठी थी। अरविन्द पर आतकवादी होने का आरोप करके सरकार ने उन पर मुकदमा भी चलाया था। किन्तु, उस मुकदमे से वे निर्दोष छूट गये। इसी बीच, उनके भीतर आध्यात्मिक प्रेरणाएँ उद्‌बुद्ध हो उठी एव उन्होने राजनीति को छोड कर आध्यात्मिक साधनाओ मे अपने को मग्न कर दिया।

काल की पृष्ठभूमि

अरविन्द के आविर्भाव का काल भारत मे राष्ट्रीयता के आरभिक ताप का काल था। यूरोप के आगमन और सपर्क से हिन्दुत्व मे जो कँपकँपी उठी थी, वह अब खत्म हो चुकी थी एव कुछ तो पुरातत्व की प्रगति से भारत के उज्ज्वल अतीत के साकार हो उठने के कारण, और कुछ दयानन्द और विवेकानन्द के द्वारा भारतवासियो मे स्वाभिमान जगाने के प्रयास से, हिन्दू अब यूरोप के सामने मस्तक झुकाने के बदले, गर्व से सिर तानने लगे थे। यह वह समय था जब इटली के राष्ट्रीय नेता मैजिनी के विचार भारत में जोर से फैलने लगे थे और भारतवासियो का भी यह विश्वास हो चला था कि प्रत्येक जाति का कोई-न-कोई सदेश होता है, जिसे समग्र विश्व को उसे देना ही चाहिए। मैजिनी का कहना था कि जातियाँ जब तक पराधीन रहती है, उनका व्यक्तित्व दबा रहता है तथा जो सदेश उनके पास निहित है, उनकी अभिव्यक्ति पराधीनता के काल में नही की जा सकती। इसलिए, आवश्यक है कि जातियाँ पराधीनता से मुक्ति पायें और तब विश्व के निमित्त उनके पास जो सदेश है, उन्हे अपने आचरणो के द्वारा अभिव्यक्त करें।

भारतवासी जान चुके थे कि यूरोप की शक्ति और समृद्धि, यद्यपि, श्लाघनीय और काम्य है, किन्तु, वह मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय नही हो सकती। मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय

तो अपने चौकोर व्यक्तित्व का निर्माण होना चाहिए, जिससे वह बाहर और भीतर के, दोनो जगतो मे सम्यक् रूप से अपना विकास कर सके। यूरोप मे बाह्य-समृद्धि बहुत काफी थी, किन्तु, भीतर से वह रिक्त दीख रहा था। अतएव, भारत के विचारको में यह चेतना जगने लगी कि, हो-न-हो, मनुष्य की पीडाओ का समाधान उसके आभ्यतर विकास से होगा और मनुष्य को यह आभ्यतर विकास केवल भारत दे सकता है। तभी से, भारत के कवि, विचारक और सत यह सकेत देते आ रहे है कि यूरोप का अनुकरण हमे काफी सावधान रह कर करना है, कही ऐसा न हो कि अपने-आपको यूरोपीय बनाने के प्रयास मे, भारतवासी उन मूल्यो को ही खो बैठे जो भारत के अपने मूल्य है, जिनका प्रयोग भारत मे सदियो से होता आया है और जिनकी ओर चचलता से पीड़ित विश्व अब भी इस आशा से देख रहा है, मानो, इन मूल्यो की स्वीकृति से उसकी पीड़ाएँ शमित हो सकती हो।

विश्ववाद की कल्पना का सूत्रपात भारत मे राममोहन राय ने किया था और विवेकानन्द में आ कर यह कल्पना प्रत्यक्ष रूप ले चुकी थी। परमहस रामकृष्ण ने, बारी-बारी से, इस्लाम, ईसाइयत और हिन्दुत्व के अनेक पथो की साधना करके यह अनुभव प्राप्त कर लिया था कि सभी धर्म समान ह तथा सब के द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। वस्तुत, राममोहन से ले कर रामकृष्ण तक हिन्दुत्व ने अपने भीतर जो सशोधन स्वीकार किया, उससे उसकी प्राचीनता की परते झर गयी थी और वह विश्व-धर्म की भूमिका बन गया था। भारतीय सुधारको की विशेषता यह रही कि हिन्दुत्व का सुधार उन्होने इस दृष्टि से नही किया कि उन्हे केवल भारतीय समस्याओ का समाधान करना था, प्रत्युत, इस दृष्टि से कि हिन्दुत्व का नवीन रूप उपस्थित करके वे समग्र विश्व को यह सदेश देना चाहते थे कि यदि अपनी विविधताओ मे सामजस्य चाहते हो तो इसका मार्ग वह है, जिसे भारत ने अपनाया है तथा यदि आधिभौतिक समृद्धियो के बीच भी तुम्हारे मन को शाति नही मिलती तो कुछ उस पथ पर भी विचार करो, जिसे हजारो वर्ष से भारतवासियो ने जुगा रखा है।

रामकृष्ण और अरविन्द

श्री अरविन्द पर विवेकानन्द और रामकृष्ण, दोनो का प्रभाव था। किन्तु, अपनी समस्त बौद्धिकता को लिये हुए भी, वे विवेकानन्द से अधिक रामकृष्ण के समान थे। सन्त तो विवेकानन्द भी थे, किन्तु, भगवान का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्म-भावना को जगाना चाहते थे। किन्तु, अरविन्द में दिव्य शक्ति के भरोसे काम करने का भाव अधिक था। विवेकानन्द की दृष्टि भारत के आधिभौतिक उत्थान पर थी और उन्होने धर्म को यह कह कर ग्राह्य बनाना चाहा था कि धर्म आधिभौतिक उन्नति का बाधक नहीं है। आरभ में, अरविन्द भी, कदाचित्, यही चाहते थे, किन्तु, साधना-मन्दिर मे पहुँचते ही उनकी दृष्टि भारत से निकल कर मानव-जाति पर जा पडी

और वे उन दुर्बलताओ के मूल मे पहुँच गये जिनके कारण मनुष्य शोषण करता है, लोभ में आ कर दूसरो को दु ख देता है, दूसरो को अपनी पराधीनता में रखता है तथा विविध इच्छाओ की अधीनता में रह कर स्वय भी दु खी तथा अशान्त रहता है। विश्व-पीडाओ का निदान और समाधान घोषित करते हुए उन्होने कहा कि "यूरोप की कुशल यह मानने मे है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक है। इसी प्रकार, एशिया का कल्याण यह स्वीकार करने मे है कि जीवन और मन की भौतिक स्थितियाँ सत्य है, क्योकि उनके बिना जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को कार्य मे परिणत करने का अधिकार नही मिल सकता। मनुष्य की चिन्तन-शक्ति के सामने सब से बडी समस्या यह है कि वह इस बात का पता लगाये कि मानव-जीवन का सम्यक् आदर्श क्या हो सकता है तथा भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सम्यक् सामजस्य स्थापित करने का उपाय क्या है? मनुष्य के भीतर प्राचीन काल से जो सनातन सत्य गूंजता आया है, उसे अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए, जिससे वह हमारी आधिभौतिक प्रवृत्तियो को प्रभावित कर सके, उनके भीतर अपनी व्याप्तियाँ फैला सके। मनोवैज्ञानिक आत्मानुशासन तथा आत्म-विकास के गभीर साधन क्या हो सकते है, इन पर मनुष्य को विचार करना है तथा उनके विकास से अपने मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवन को इस योग्य बनाना है कि उनके द्वारा जीवन के आध्यात्मिक ध्येय की अभिव्यक्ति हो सके।"

सारे जगत् की एक समस्या

अरविन्द को सारा विश्व रूपान्तरण की अवस्था से गुजरता दिखायी पडा। उन्होने कहा है कि इस रूपान्तरण के वेग का केन्द्र, यद्यपि, प्रगतिशील यूरोप है, किन्तु, पूर्वी विश्व भी इस मथनशील विचार-समुद्र की ओर बड़ी ही तेजी से खिचता जा रहा है तथा इस क्रम मे पुराने विचार और पुरानी सस्थाएँ टूटती जा रही है। "कोई भी देश या जाति अब विश्व से अलग नही रह सकती। इस युग की प्रधान समस्या यह है कि मनुष्य की भावी प्रगति आधुनिक जगत् की आर्थिक एव आधिभौतिक बुद्धि के नेतृत्व मे होगी जो पश्चिम का गुण है अथवा उस आध्यात्मिक सस्कृति और ज्ञान के अनुशासन मे जो बुद्धि से ऊँची और आर्थिक विचारो से श्रेष्ठ है।" अरविन्द आधिभौतिकता का तिरस्कार नही करते, न यूरोप की समृद्धियो को ही वे दुर्गुण मानते हैं। उनका मत है कि जैसे सारा ससार बदल रहा है, उसी प्रकार, भारत को भी बदलना चाहिए। भारत भौतिक समृद्धि से हीन है, यद्यपि, उसके जर्जर शरीर मे अब भी आध्यात्मिकता का तेज वास करता है। यह देश यदि पश्चिम की शक्तियो को ग्रहण करे और अपनी शक्तियो का भी विनाश नही होने दे, तो उसके भीतर से जिस सस्कृति का उदय होगा, वह अखिल विश्व के लिए कल्याणकारिणी होगी। वास्तव मे वही सस्कृति विश्व की अगली सस्कृति बनेगी।

बुद्धि की अराजकता

बुद्धि को विकास का आवश्यक सोपान मानते हुए भी अरविन्द उसे शका से देखते हैं। आज की बुद्धि मनुष्य के सारे ध्यान को आर्थिक और भौतिक जीवन पर केन्द्रित किये हुए है। परिणाम यह है कि मनुष्य एक प्रकार की सुसभ्य बर्बरता के गर्त्त के कगारे पर आ बैठा है। मनुष्य के भीतर भविष्य की कल्पना मुरझा गयी है, उसके सामने अध्यात्म की झाँकी नही रह गयी है, वह अपने आगे के मार्ग को देखने मे असमर्थ हो रहा है। उसकी मानसिक शक्तियो का प्रबल विकास अवश्य हुआ है, किन्तु, ये शक्तियाँ मानव के उस अह की दासी हो रही हैं जो स्वय अंधा है, जो स्वयं अंधी इच्छाओ और वासनाओ के इशारो पर नाच रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के चरणो पर जो अपरिमेय शक्ति रख दी है, उससे मनुष्य का आधिभौतिक जीवन तो एक हो गया है, किन्तु, उसके आभ्यतर जीवन की एकता का मार्ग उसे नही सूझ रहा है। उलटे, मनुष्य का सारा जीवन इच्छाओ की बेचैनी और विचारो के कोलाहल से पूर्ण है। ससार में सर्वत्र व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुख, आनन्द और सतोष प्राप्त करने के परस्पर-विरोधी अधिकारो को ले कर आपस मे टकरा रहे हैं। ससार मे तरह-तरह के नारे सुनायी पड़ रहे हैं और लोग प्रत्येक नारे के लिए मरने और मारने को तैयार हैं तथा सब-के-सब इसी भ्रम मे उत्साह दिखला रहे हैं, मानो, उनका आदर्श, सब से महान् हो।

अतिमानस की कल्पना

आदर्श और विचारो की इस अराजकता से विश्व को ऊपर ले जाने का जो मार्ग अरविन्द को दिखायी पड़ा है, वह विकास (इवोल्यूशन) की महान् प्रक्रिया का मार्ग है। अरविन्द यह नही मानते कि छोटे-मोटे उपदेशो अथवा आचरण के सामान्य नियमो पर जोर देने से मनुष्य सुधर सकता है। उनका विश्वास है, जिस प्रकार जड़ से जीवन और जीवन से मानस की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, मानस से अब अतिमानस का विकास होना चाहिए। मानस अथवा बुद्धि के स्तर पर मनुष्य यथेष्ट समय तक रह चुका। अब विकास की प्रक्रियाओ मे उसे एक और नया कदम उठाना चाहिए। यह कदम जिस स्तर पर पड़ने वाला है, उसका नाम अरविन्द अतिमानस का स्तर देते है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना नही पड़ेगा कि प्रत्येक अन्य मनुष्य उसका अपना ही अश है, प्रत्युत, इस सत्य को वह स्वय अनुभव कर लेगा।

अतिमानस की कल्पना क्या है, यह बात आसानी से समझायी नही जा सकती। यह, कदाचित्, वह अवस्था है जब मनुष्य की जानकारी सूचना की स्थिति से ऊपर उठ जायगी, जब मनुष्य तर्कों से किसी बात को समझने के बदले उसे प्रत्यक्ष रूप से जान लेगा, जैसे हम आँखो-देखी चीज को बुद्धि की प्रक्रिया से समझने की आवश्यकता का अनुभव नही करते है। अतिमानस के उदय होने पर मानस समाप्त हो जायगा, ऐसी बात नही

है। मनुष्य जड़ से निकल कर जीव-कोटि में आया और सोचने की शक्ति पा कर वह जीव-कोटि से भी ऊपर उठ कर मानव-कोटि में आ गया है। फिर भी, जड़ उसके साथ है और जीव तो वह है ही। किन्तु, उसका व्यक्तित्व पशुओं से भिन्न हो गया है, क्योंकि पशु सोच नहीं सकते और मनुष्य सोच सकता है। सोचने की शक्ति ही मानस है और मानस अतिमानस के भी साथ रहेगा। किन्तु, मानस की शक्तियाँ सीमित हैं और मन अज्ञान की दिशा में भी सोचने का आदी रहा है। अतिमानस की सार्थकता यह होगी कि मनुष्य सोचने में गलती नहीं करेगा, प्रत्युत, कहना यह चाहिए कि उसका प्रत्येक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का रूप ले लेगा जिस से मन को भूल करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए अरविन्द कहते हैं, 'व्यक्तियों में सर्वथा नवीन चेतना का संचार करो; उनके अस्तित्व के समग्र रूप को बदलो जिससे पृथ्वी पर नये जीवन का सूत्रारम्भ हो सके।

बुद्धि नहीं, संबुद्धि

स्पष्ट ही, मनुष्य-समाज को इस स्थिति में ले जाने के लिए उन मूल्यों को कस कर पकड़ने की आवश्यकता है, जिनके प्रतीक धर्म और अध्यात्म हैं। धर्महीन बुद्धि की आराधना से जो फल निकलते हैं, उनका स्वाद संसार काफी ले चुका। इस आराधना में और देर तक लगे रहने का परिणाम सर्व-विनाश होगा। अतएव, अरविन्द मनुष्यों के सामने दो विकल्प रखते हैं। निरे तर्क और बुद्धि पर आश्रित होने का परिणाम तुमने देख लिया। अब कुछ उन सम्भावनाओं की भी परीक्षा करो जिनके पास तक मनुष्य आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जगा कर जा सकता है। बुद्धि सीमित है। वह जब भी किसी वस्तु की परीक्षा करती है, उससे अलग रह कर करती है। इससे वस्तुओं के आभ्यंतर सत्यों का उसे पता नहीं चलता और मनुष्य अंश को सम्पूर्ण मान कर गलती कर जाता है।[1] अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य चाहे तो इस गलती से बच सकता है, क्योंकि ज्ञान के और भी साधन मनुष्य को सुलभ हैं, जिनसे दैवी शक्ति से एकाकार हो कर विश्व के आभ्यंतर अर्थ तक पहुँचने का मार्ग सबसे सही मार्ग है। बुद्धि के विरुद्ध अरविन्द की सबसे बड़ी शंका इस बात को ले कर है कि बुद्धि से अर्जित ज्ञान सतह पर का ज्ञान होता है। साथ ही बुद्धि विश्लेषण की पद्धति पर चलती है एवं वस्तुओं का संश्लिष्ट ज्ञान

१. "मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नहीं जानता है, जो जानने की कोशिश तो करता है, किन्तु असल में कुछ जान नहीं पाता। उसे जो कुछ दिखलायी पड़ता है, वह धूमिल दर्पण में पड़नेवाली धुँधली छाया के समान है। तब भी, इस शक्ति का एक उपयोग है कि वह सांसारिक व्यवहार के प्रसंग में सार्वभौम सत्य की एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, सार्वभौम सत्य का न तो उसे परिचय प्राप्त है, न उसका वह पथ-प्रदर्शन ही कर सकती है।" (लाइफ डिवाइन)

उसे प्राप्त नही हो पाता। वस्तुओ के विश्लिष्ट एव विभक्त रूपो को अरविन्द सत्य नही मानते। उन्हे वे अवास्तविक वास्तविकता का नाम देते है। इसीलिए, विज्ञान की उपलब्धियो से उन्हे सतोष नही है। ये सारी उपलब्धियाँ विभाजन के दोष से पूर्ण है। असल मे, सारा जीवन, निखिल ब्रह्माण्ड एक है और इस एकत्व का ज्ञान अध्यात्म-पोषित सहज ज्ञान या सबुद्धि से ही होता है।

भारत पर अरविन्द की अचल भक्ति का भी कारण यही है कि इस देश मे जो द्रष्टा और सत हुए, उनका सत्यान्वेषण का मार्ग बुद्धि नही, सबुद्धि का मार्ग था, विश्लेषण नही, सश्लेषण का मार्ग था। उन्होने जिस सत्य को प्राप्त किया, सभी इन्द्रियो की गवाही में प्राप्त किया। केवल तर्क और ऊहापोह को वे अपूर्ण मानते थे और सत्य की जब तक पूरी अनुभूति उन्हे नही हो जाती थी, वे अपने अनुसधानो के परिणाम को विश्व मे नही सुनाते थे।[1]

भोग और वैराग्य से परे

जिस प्रवृत्ति-मार्ग का आख्यान तिलक और विवेकानन्द ने किया, अरविन्द मे भी उसका खडन नही मिलता है। जडवादी कहता है कि दृश्य के परे और कुछ नही है, इसलिए, दृश्य जगत् के सुखो का खुल कर भोग करना ही श्रेयस्कर कार्य है। इसके विपरीत, निवृत्ति-मार्गी मानता है कि दृश्य माया है, वह नश्वर और निस्सार है, तथा सच्चे सुख का देश वह है जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है; अतएव, उचित यह है कि हम दृश्य के लोभ मे न पडे तथा जीवन की जो आवश्यकताएँ छोडी जा सकती है, उन्हे छोडते ही चले जायँ। अरविन्द दोनो की सार्थकता मानते हुए भी, मनुष्य को दोनो से आगे जाने का उपदेश देते है। सच्चिदानन्द सर्वत्र विद्यमान है। भेद केवल यह है कि निचले स्तर पर (जड तत्त्व मे) वह सोया हुआ है, अचेतन अथवा अवचेतन का आवरण लिये हुए है। किन्तु, उसकी अवज्ञा भी सच्चिदानन्द की ही अवज्ञा है। जडवादी और वैरागी, दोनो के मार्ग सीमित और अपूर्ण है। जडवाद आत्मा के विरुद्ध भूत का विद्रोह है। इसी प्रकार, निवृत्ति या वैराग्यवाद भूत के विरुद्ध आत्मा का विद्रोह कहा जा सकता है। सच तो यह है कि आत्मा का स्वतन्त्र हो कर फैलने का दावा

---

१ "भारत मे सहज ज्ञान का उद्भव पहले हुआ और वौद्धिक शक्तियो का विकास वाद को, जब दर्शन और विज्ञान रचने का समय आया। वैदिक युग की पीठ पर ही भारत मे वह युग आया जिसे हम दर्शन और वौद्धिकता के विस्फोट का काल कह सकते है। किन्तु, इस युग में भी विचारो के आधार आध्यात्मिक थे एव जिन आध्यात्मिक सत्यो को लोग पहले सहज ज्ञान से जान चुके थे, उन्ही से परिचय, अब वे नये ढग से, वुद्धि द्वारा कर रहे थे।" ('आर्य' से)

उतना ही उचित है, जितना भूत या द्रव्य का यह आग्रह कि वह आत्मा की इस उडान का साँचा या आधार बनेगा।

ये कुछ स्थूल बातें है जो अरविन्द-साहित्य के पाठको की पकड मे आसानी से आ जाती हैं। किन्तु, हमारा विचार यह है कि इतने से अरविन्द की वह महत्ता सिद्ध नही होती, जिसका अनुमान उनकी भुवन-व्यापिनी कीर्ति से होता है। अरविन्द जन-साधारण के सत या दार्शनिक नही हैं, न सामान्य पाठक उन्हे अपना कवि ही मान सकता है। वे उन विद्वानो, चिंतको और दार्शनिको के विचारक और सन्त थे जो प्रत्येक देश मे वहाँ की जनता के वैचारिक नेता समझे जाते हैं, जो मानवता के नवनीत और विश्व-विचारो के स्तभ हैं। अतएव, मनुष्य की समस्यायो का उन्होने कोई-न-कोई ऐसा समाधान अवश्य उपस्थित किया होगा जो अब तक किसी भी सत, साधक या उपदेष्टा को दिखायी नही पडा था।

विज्ञान की सीमा

मनुष्य की समस्याएँ दो प्रकार की है। एक समस्या शरीर की है, जिसका समाधान रोटी और वस्त्र तथा अन्य आधिभौतिक सुविधाएँ मानी जा सकती है। किन्तु, सब प्रकार से सुखी मनुष्य भी दु ख, दौर्मनस्य, रोग, शोक, जरा और मरण का शिकार होता है। इस समस्या का समाधान न तो रोटी और वस्त्र, न मोटर और महल हो सकते हैं। प्राचीन और मध्यकालीन विश्व शारीरिक समस्याओ से अधिक अपनी आध्यात्मिक समस्याओ को प्रमुख मानता था। इसीसे उस समय अध्यात्म-विद्या का सभी देशो मे विकास हुआ। तब विज्ञान का उत्थान हुआ और मनुष्य मानने लगा कि जो सत्य प्रयोगशाला में परखा नही जा सकता, डाक्टर के स्टेथस्कोप और सर्जन की छुरी से नही छुआ जा सकता, वह या तो सत्य ही नही है, अथवा है तो ऐसा है, जिसकी ओर मनुष्य को ध्यान नही देना चाहिए। और विज्ञान ज्यो-ज्यो नयी विजय प्राप्त करता गया, त्यो-त्यो अधिकाधिक मनुष्य उसके भक्त बनते गये, यहाँ तक कि अध्यात्मवादियो को भी आवश्यकता अनुभूत होने लगी कि अपनी बातो को वे, जहाँ तक सभव हो, विज्ञान की भाषा मे रखें। किन्तु, विज्ञान की वृद्धि से भी मनुष्य की शाश्वत समस्याएँ दूर नही हुईं। वह आज भी दु खी है। वह आज भी रोग, शोक, जरा और मरण का शिकार होता है तथा सबसे बडी बात तो यह है कि पहले जिन सुखो की लोग कल्पना भी नही कर सकते थे, उन सुखो के शैल पर बैठा हुआ मनुष्य भी चचल, विषण्ण और अशात है तथा उतना अशान्त है जितना पहले के युग मे, शायद ही, कोई रहा हो। अतएव, चिंतकों पर यह प्रतिक्रिया हुई कि मनुष्य की समस्याओ का समाधान विज्ञान भी नही है, क्योकि विज्ञान से शरीर चाहे जितना सुखी हो जाय, आन्तरिक सतोष में वृद्धि नही होती, उलटे, दिनो-दिन उसकी मात्रा घटती जाती है।

व्यष्टि-समष्टि

भौतिकता, विज्ञान और बुद्धिवाद के विरुद्ध, विश्व भर में जो गहन, गभीर चिंता-धारा फूटी है, अरविन्द उसी धारा के ऋषि है। ससार विज्ञान को पा कर धर्म से अलग हो गया था। अब उसे दिखलायी पडने लगा कि विज्ञान भी यथेष्ट नही है। ससार के सामने यह समस्या नही है कि धर्म और विज्ञान मे से हम किसे ले और किसे छोड दे, प्रत्युत, उसकी समस्या का रूप यह है कि कौन वह उपाय है जिससे धर्म वैज्ञानिक तथा विज्ञान धार्मिक बनाया जा सके।

एक बात और है कि जब से ससार मे व्यक्ति और समाज को ले कर द्वद्व छिडा है, तब से हमारी प्रत्येक समस्या के साथ यह प्रश्न भी उपस्थित होने लगा है कि समाधान व्यक्ति के लिए खोजा जाय या समष्टि के लिए। प्राचीन और मध्यकालीन विश्व में, प्राय, प्रत्येक देश के लोग वैयक्तिक मुक्ति को मानव-जीवन का सबसे बडा लक्ष्य मानते थे। किन्तु, उन्नीसवी सदी मे जा कर मार्क्स ने कहा कि व्यक्ति की मुक्ति की कल्पना हास्यास्पद और निरी मूर्खता, निरे स्वार्थ की बात है। मुक्ति, वास्तव मे, समाज की होनी चाहिए। मार्क्स की इस घोषणा का विश्व के विचारको पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के बदले समूह को प्रधानता देने लगे। किन्तु, समूह तो निराकार होता है। उसके सुख और दु ख की कल्पना कैसे की जाय? समूह दु खी है, इसका सामान्य अर्थ तो यही होता है कि उसमे रहने वाला व्यक्ति दु खी है। और समाज सुखी है, इसका भी अर्थ इतना ही होता है कि उसमे रहनेवाला व्यक्ति सुखी है। अतएव, भारत मे एक नया सदेश मुखरित हुआ। गाँधीजी ने कहा कि समाज की मुक्ति की कल्पना केवल कल्पना ही हो सकती है। वास्तव मे, मुक्ति समाज की नही, व्यक्ति की ही होती है। हाँ, वैयक्तिक मुक्ति की खोज का उपाय यह नही है कि मनुष्य ससार छोड कर वन या गुफा मे चला जाय, प्रत्युत, यह कि समाज मे रह कर वह उसकी सेवा करे और समाज-सेवा का भी अर्थ समाज मे बसनेवाले व्यक्तियो की ही सेवा है।

स्वर्ग का भूमीकरण

अरविन्द इन सभी धरातलो से ऊपर उठे हुए है। वैयक्तिक मुक्ति की उन्हें परवाह नही है, न वे यही मानते ह कि मुक्ति मृत्यु के उपरान्त ही पायी जा सकती है। केवल वैयक्तिक मुक्ति की आशा मे साधना और समाज-सेवा करने मे जो नैतिक दोष है, वे उससे भी भलीभाँति परिचित हैं तथा वैयक्तिक मुक्ति के सधान को वे जीवन का बहुत बडा आदर्श नही मानते। बल्कि, उनका विचार है कि मोक्ष के रूप मे जिस दिव्य जीवन की कल्पना अब तक होती आयी है, वह इसी देह से भोगा जा सकता है, वह इसी पृथ्वी पर उतारा जा सकता है।

समाज-सेवा का उपयोग चाहे जितना बडा समझा जाय, अरविन्द उसे भी मनुष्य की समस्या का मौलिक समाधान नही मानते। समाज-सेवा दया का कार्य है, इसलिए, वह सत्कर्म माना जाता है। किन्तु, समाज-सेवियो की चाहे जितनी बडी सेना प्रस्तुत कर ली जाय, व्यक्ति को वे रोग और शोक सताते ही रहेंगे, जिनसे आक्रात हो जाने पर उसे समाज-सेवी की आवश्यकता होती है। उत्तम सरकार, उत्तम शासन, शाति-रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और मनुष्यो मे सद्‌गुणो का प्रचार, ये सभी अच्छे और आवश्यक कार्य है। किन्तु, वे भी मानव की समस्याओ के अन्तिम समाधान नही है। इन सगठनो का उतना ही महत्त्व है जितना उन पहरेदारो का जो किसी ऐसे गाँव पर पहरा देते हैं, जिसके निवासी स्वेच्छया उपद्रवो से अलग नही रह सकते।

अरविन्द मनुष्यो के स्वभाव मे आमूल परिवर्तन चाहते है और इसके लिए उन्हें सगठन और सदुपदेश बहुत ही अयथेष्ट लगते हैं। कदाचित्, यही कारण है कि जब अन्य धर्माचार्यो और सतो के उपदेश अलग से सकलित मिलते है, पाण्डिचेरी से ऐसी कोई भी पुस्तक नही निकली है जिसमे अरविन्द के उपदेश सगृहीत हो। अरविन्द उपदेशक नही, अपने ढग के अवतार थे, जिनका उद्देश्य अपने भीतर शक्ति जगा कर सब को शक्ति-सपन्न बनाना था, जिनका उद्देश्य मनुष्य की जाति को बदल कर उसे किसी उच्चतर जाति या स्पेसीज में पहुँचा देना था।

अरविन्द की शिक्षा छोटे-छोटे उपदेशो मे नही, प्रत्युत, कठोर-सुदीर्घ साधना मे विद्यमान है। जहाँ कपडा फट जाय, वहाँ पैबन्द लगाना आवश्यक हो जाता है और, वैसे, पैबन्द लगाना फटेहाल घूमने से अच्छा काम भी है। किन्तु, अरविन्द, कदाचित्, यह मानते हैं कि मानवता के वस्त्र बिल्कुल चिथडे-चिथडे हो गये हैं और आवश्यक है कि उसे कोई नया परिधान दिया जाय। यह नया परिधान अतिमानस की अवतारणा और अतिमानव का विकास है। अरविन्द की दृष्टि मे मानवता की समस्याओ का उचित समाधान यह है कि मनुष्य जिस बौद्धिक स्तर पर बैठा हुआ है, उससे ऊपर उठ कर वह एक नयी भूमि पर अवस्थित होने का प्रयास करे जो अतिमानस की भूमि है। आज का मनुष्य जितने भी कलुष और अत्याचार करता है, बुद्धि से प्रेरित हो कर करता है। और आज के सतो, सुधारको और विचारको का उपदेश भी यही है कि मानवीय बुद्धि को निर्मल बनाओ, उसका कलुष धो डालो, मनुष्य के कर्म आप-से-आप सुधर जायँगे।

अरविन्द का ऐसा विश्वास नही है। वे बुद्धि से बुद्धि का सुधार करने मे विश्वास नही करते। उनके विचार से यह अधकार से अधकार हटाने के समान असभव कार्य है। बुद्धि के कलुष तभी दूर होगे जब मनुष्य अतिमानस का स्वामी होगा। बुद्धि में बहुत सारा अज्ञान भी रहता है, किन्तु, अतिमानस पूर्ण रूप से प्रकाशित स्थिति है। अतएव, मनुष्य यदि अज्ञान से बचना चाहे तो उसे अतिमानस में प्रवेश करना चाहिए। विश्व के अन्य चिंतको और विचारको की प्रक्रिया सशोधन और सुधार की प्रक्रिया है।

अरविन्द सुधारो से सतुष्ट नही हैं। उनकी आस्था विकास पर है। जड से जीवन और जीवन से मस्तिष्क, ये तीन कदम मनुष्य उठा चुका है। मस्तिष्क से ऊपर अतिमानस का देश है। जब तक मनुष्य इस देश मे पाँव नही रखता, उसका कल्याण नही होगा।

अतिमानव का स्वप्न

अरविन्द मानव को अतिमानव बनाना चाहते हैं। अतिमानव (सुपरमैन), यह नाम सर्वथा नवीन नही है। \\अरविन्द से पूर्व, जर्मन दार्शनिक नीत्से ने अतिमानव की कल्पना की थी। किन्तु, उसने यह सोचा था कि अतिमानव दबग मानव ही होगा जो सब को मार-पीट कर आगे निकल जायगा। और हुआ भी यही कि नीत्से की कल्पना के अनुसार ही जर्मनी मे हिटलर का जन्म हुआ। एक दूसरी कल्पना उर्दू और फारसी के विख्यात भारतीय कवि इकबाल में भी प्रस्फुटित हुई। इकबाल की कल्पना का अतिमानव भी व्यक्ति ही है, अतिमानवीय समाज की कल्पना इकबाल ने भी नही की है। इकबाल कहते हैं कि औरो से अनूठा और भिन्न होना, यही व्यक्तित्व का गुण है। किन्तु, विश्व-ब्रह्माड मे सबसे अनूठा व्यक्तित्व ईश्वर का है, अतएव, सबसे बडा व्यक्ति भी वही होगा जो ईश्वर के अधिक-से-अधिक समान होगा। जो व्यक्ति ईश्वर के अधिक-से-अधिक समान हो, इकबाल उसे ही अतिमानव कहते हैं और धरती पर उसीका वे राज्य भी चाहते हैं। उनका विचार है कि प्रजा-सत्ता कोई अच्छी वस्तु नही है। मनुष्य पर सबसे अच्छा शासन अतिमानव का शासन होता है। वह एक साथ मनुष्यो का धर्म-गुरु और उनका राजा भी होता है। अतिमानव का राज्य पृथ्वी पर परमेश्वर का ही राज्य होगा। बल्कि, आतिमानव अपना शासन परमेश्वर का नायब (वाइस-रिजेंट) बन कर चलायेगा।

अरविन्द की अतिमानव की कल्पना इन दोनो कल्पनाओ से भिन्न है। वे यह नही मानते कि एक व्यक्ति अतिमानव होगा तथा बाकी सभी लोग सामान्य मनुष्य बन कर उसकी अधीनता में रहेंगे। बल्कि, उनका विचार है कि अतिमानस से सबलित सभी मनुष्य अतिमनुष्य हो जायँगे। उनका यह भी कथन है कि अतिमानस, सभव है, पहले किसी समूह या व्यक्ति में उतरे। किन्तु, उसके बाद वह फैलता ही जायगा एव फैलते-फैलते, एक दिन वह अखिल मनुष्य-जाति को अतिमनुष्यो की जाति में बदल देगा।

संश्लिष्ट योग

तो अरविन्द ने घूम-घूम कर उपदेश देने के बदले अपने को एक आश्रम मे क्यो बन्द कर लिया? यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है। किन्तु, उसका उत्तर भी कम समीचीन नही है। अपनी साधनाओ के द्वारा अरविन्द को यह दिखलायी पडा कि विकास की

दो गतियाँ हैं। एक गति तो यह है कि नीचे के धरातल पर के जीव ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। किन्तु, ऊपर के धरातल पर जो चित्-शक्ति है, वह भी नीचे आना चाहती है। अर्थात्, परमात्मा की कृपा और मनुष्य के प्रयास, इन दोनो के योग के बिना मनुष्य का विकास नहीं होता। अरविन्द की यह भी मान्यता है कि एक या अनेक व्यक्ति यदि चाहें तो वे अपनी साधना के द्वारा चित्-शक्ति को नीचे उतरने को प्रेरित या बाध्य कर सकते हैं। क्योंकि विश्व के सभी मनुष्यों को साधना और तपस्या मे लगाना असंभव है, इसलिए, अरविन्द ने अपने तथा अपने आश्रमवासी शिष्यों के ऊपर यह भार रखा कि वे साधनापूर्वक दिव्य जीवन को पृथ्वी पर अवतरित होने को बाध्य करें। और इस साधना का जो मार्ग उन्होंने निर्धारित किया है, उसका नाम योग है—वह योग नही जो हठयोग का पर्याय है, प्रत्युत, वह योग जिसमे कर्म, ज्ञान और भक्ति, तीनो समाहित हैं। अरविन्द संश्लिष्ट-योग के पक्षपाती हैं, जिसमे साधक अपने कर्मों को निर्मल रख कर तथा सत्य का शुद्ध ज्ञान लिये हुए संपूर्ण भावावेग से परमात्मा का चिन्तन और ध्यान करता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के इस सश्लेषण से भी यही शिक्षा निकलती है कि अरविन्द भूत (द्रव्य), जीवन और मस्तिष्क, इन तीनो को दिव्य बना कर इसी जीवन मे दिव्य जीवन की अवतारणा करना चाहते थे।

प्रकरण १३

भूमि का स्वर्गीकरण : महात्मा गाँधी का प्रयोग

महात्मा गाँधी ने भारतीय सस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओ मे प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए समव नही दीखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एव धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, भारत मे आज जो भी आचार या विचार प्रचलित है, उनमे से प्रत्येक पर, कही-न-कही, गाँधीजी की छाप है। यहाँ तक कि उनके आलोचको और विरोधियो में भी ऐसे अनेक लोग है, जिनकी पोशाक नही तो खान-पान मे, विचार नही तो सामाजिक आचार मे, महात्मा गाँधी का प्रभाव मौजूद है। आज का भारत गाँधी का भारत है और गाँधी नाम आज के भारत नाम का पूरा पर्याय है, इसमें कोई सदेह नही। गाँधीजी के इस महाव्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए यह सरल कार्य नही है कि हिन्दू-नवोत्थान की पृष्ठ-भूमि पर उनका समग्र रूप आँका जा सके। जन्म और विकास तो उनका भी सास्कृतिक नवोत्थान के कारण ही हुआ, किन्तु, काल को खीच कर वे अपनी दिशा की ओर ले गये। महापुरुषो के सकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता है। किन्तु, चूँकि प्रकरण यहाँ हिन्दू-नवोत्थान की व्याप्तियो के विश्लेषण का उपस्थित है, इसलिए, उसीके पृष्ठाधार पर हम महात्माजी के विचारो और प्रयोगो को समझने की चेष्टा करेंगे।

अहिंसा भारत में ही क्यों ?

ससार का ध्यान गाँधीजी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होने पशु-बल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपो और मशीनगनो का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया। किन्तु, सोचने की बात यह है कि अहिंसा का आश्रय उन्होने लिया क्यो ? क्या इसलिए कि अँगरेजो के विरुद्ध हिंसा का आश्रय ले कर वे भारत को स्वाधीन नही कर सकते थे ? अथवा इसलिए कि मानव-समाज को वे यह शिक्षा देना चाहते थे कि मनुष्य जब तक पाशविक साधनो का प्रयोग करने को बाध्य है, तब तक वह पूरा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही हो सकता ? पहली बात अहिंसा को किंकर्त्तव्य-विमूढ एव निरुपाय व्यक्ति का साधन बताती है, जिसका अर्थ यह होता है कि तोपें जब हमारे पास नही है, तब सत्याग्रह ही सही। किन्तु, दूसरी बात अहिंसा को मनुष्य के विकास का साधन बनाती है, उसके रूप को निर्मल बनाने का उपाय सिद्ध करती है।

यह सच है कि गाँधीजी के नेतृत्व मे जब भारतवासी ब्रिटेन से सघर्ष कर रहे थे, तब

उनमें से अधिकाश का यही भाव था कि अहिंसा साधन भर है, जिसका अवलम्ब हमने इसलिए लिया है कि हिंसक साधनो से अँगरेजो का सामना करने की हमे सुविधा और सुयोग नही है। किन्तु, स्वय गाँधीजी इस विचार को नही मानते थे। अहिंसा को गँवा कर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नही थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बडा लक्ष्य थी, किन्तु, उससे भी बडा ध्येय मानव-स्वभाव मे परिवर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयो की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनो से भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

गाँधीजी का मुख्य उद्देश्य अपने देशवासियो के कष्टो का निवारण नही, प्रत्युत, मनुष्य के पाशवीकरण का अवरोध था। घृणा, क्रोध और आवेश, ये पशुओ को भी होते है और वे भी अपने प्रतिपक्षी का सामना उन शस्त्रो से करते है, जो प्रकृति की ओर मे उन्हे मिले हुए हैं। लेकिन, मनुष्य पशु से भिन्न है, अतएव, उचित है कि वह अपने आवेगो पर नियत्रण लगाये और अपने दैनिक जीवन की समस्याओ के सुलझाने मे उन उपायो से काम ले, जो पशुओ के लिए दुर्लभ, किन्तु, मनुष्य के लिए सुलभ है।

प्रश्न उठता है कि गाँधीजी ने ऐसा निश्चय क्यो किया? और अहिंसा का यह प्रयोग किसी अन्य देश मे आरभ न हो कर भारत में ही क्यो आरभ हुआ? बहुत-से लोग इस प्रश्न को यह कह कर टाल देंगे कि यह आकस्मिक बात थी। किन्तु, आकस्मिक बात यह थी नही। कहते है, सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा की कल्पना अमेरिका के चिन्तक थुरो ने भी की थी और इसकी थोडी-बहुत झलक रूस के सन्त-साहित्यकार टाल्सटाय को भी मिल चुकी थी। गाँधीजी थुरो और टाल्सटाय, दोनो के विचारो से परिचित थे। यहाँ अपने देश मे भी गाँधीजी से पूर्व, अरविन्द सविनय अवज्ञा और असहयोग का सुझाव देश के सामने रख चुके थे[1]। फिर भी, बात रह जाती है कि इसका प्रयोग सब से पहले भारत ने ही क्यो किया?

---

१ एक बार श्री गोपालकृष्ण गोखले ने अरविन्द के अनुयायी राष्ट्रवादियो पर यह आक्षेप लगाया कि उनके आशय शातियुक्त है या नही, इसमे सदेह है। इसके उत्तर मे अरविन्द ने अपने एक भाषण मे कहा था कि "हम तो जनता से कह चुके हैं कि शातिमय उपायो से स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। हमने कहा है कि अपना सहायक आप होकर हम सविनय-अवज्ञा के साधन से स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। सविनय-अवज्ञा के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यह है कि कुछ बातो में हम देश की सरकार से तब तक असहयोग करेंगे, जब तक हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हमें प्राप्त नही हो जाता। दूसरा यह कि असहयोग के क्रम मे यदि हम पर दमन होने लगे तो उसका प्रतिकार हम हिंसा से नही करके कष्ट-सहिष्णुता, सविनय अवरोध और कानूनी तरीको से करेंगे। अपने नौजवानो से हमने यह तो नही कहा है कि जब अत्याचार हो तब तुम प्रतिशोध लो। हमने तो यही कहा है कि दमन की वेदनाओ का सहन करो।"

(श्री रगनाथ दिवाकर-कृत 'महायोगी' से)

उत्तर स्पष्ट है कि आत्म-बल शारीरिक वल से श्रेष्ठ है, इस सत्य को जितना भारतवासी जानते थे, उतना अन्य देशो के लोग नही। थुरो, टाल्सटाय अथवा एमर्सन और रोम्याँ रोलाँ मे इस प्रकार की जब भी कोई भावना जगी, तब उसके पीछे भारतीय दर्शन की उत्तेजना काम कर रही थी। यह ठीक है कि थुरो और टाल्सटाय ने सविनय अवज्ञा की कल्पना भारत के किसी बहु-प्रचलित उपदेश को सुन कर नही की होगी, क्योकि ऐसा कोई उपदेश राजनीति की भाषा मे तब तक भारत मे भी प्रचलित नही हुआ था। किन्तु, सविनय अवज्ञा की कल्पना तक जाने का दर्शन इस देश मे विद्यमान था और इस कल्पना तक वही व्यक्ति जा सकता था, जो या तो भारतीय विचारधारा से प्रभावित हो, अथवा अनायास उस प्रकार की चिन्तन-पद्धति पर आ गया हो जो भारत की पद्धति रही है। थुरो एव टाल्सटाय के सबध में दोनो ही विकल्प सभव रहे होगें। रह गये अरविन्द, सो वे तो भारतीय थे ही।

जैसा चिंतन, वैसा कर्म

एक प्रकार से देखिये तो जिस नवोत्थान के सास्कृतिक नेता राममोहन और केशवचन्द्र, दयानन्द और एनी बीसेंट, रामकृष्ण और विवेकानन्द तथा अरविन्द और रवीन्द्र हुए, उसके राजनैतिक नेता महात्मा गाँधी ही हो सकते थे। प्रत्येक महापुरुष अपने समय का परिणाम होता है। काल के हृदय मे जो अनुभूतियाँ एकत्र होती हैं, उन्ही की अभिव्यक्ति के लिए समय कवि, सत और सुधारक को जन्म देता है। उन्नीसवी सदी के आरभ से भारत जो कुछ भी सोच रहा था, वह इस दिशा मे नही था कि भारतवासी भी यूरोप का अन्धानुकरण करके इद्रियो के वैसे ही दास हो जायँ, जैसे सुखी और सपन्न देशो के लोग हैं, तथा वे भी शारीरिक वल की अति वृद्धि करके अपने देश को स्वाधीन बनाये और अन्य देशो को जीत कर उन पर राज्य करे। हिन्दू-नवोत्थान की शिक्षा कुछ और थी। हमारे सभी नेता और सुधारक, यूरोपीय सभ्यता की दुर्बलताओ अर्थात् उसकी धन-लोलुपता एव विलास के निमित्त अन्य राष्ट्रो का शोषण करने की नीति के विरोधी थे। इसके सिवा, विवेकानन्द-जैसे लोग, यूरोप की हिंसापरायणता को भी उसकी सस्कृति का दोष मानते थे। इधर, भारत में राममोहन राय से लेकर विवेकानन्द तक विश्व-प्रेम की जो भावना फैली, वह उच्च मानवता को उत्तेजना देनेवाली थी। नवोत्थान के सभी नेताओ ने प्रेम को मनुष्य का सब से बडा धर्म एव परोपकार को उसका सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। शासको के प्रति घृणा का उत्कट भाव केवल लोकमान्य तिलक मे था और उन्ही मे हम हिंसा का भी यत्किंचित् समर्थन पाते हैं। बाकी सुधारको मे घृणा और विद्वेष नही था, न वे हिंसा का उपदेश देनेवाले थे।

वास्तव मे, भारतवर्ष मे, राष्ट्रीयता भी सस्कृति की कुक्षि से उत्पन्न हुई थी। पहले इस देश मे सास्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ और लोग इस स्वाभिमान से भरने

लगे कि हम अत्यत प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी है तथा यूरोप मे आधिभौतिक सुखो का चाहे जैसा भी अम्बार लग गया हो, किन्तु, हम उन मूल्यो के उत्तराधिकारी है, जिन्हे ऊँची मानवता वरण करती है। इस चेतना के जन्म ले लेने पर उसीके निष्कर्ष-स्वरूप भारत मे राजनैतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत मे सास्कृतिक राष्ट्रीयता के उन्नायक धार्मिक व्यक्ति थे। हिन्दुत्व के धार्मिक पक्ष पर विधर्मियो के प्रहार से चौक कर यह देश जगा था। अतएव, धार्मिक व्यक्ति ही इस जागरण के आदि उन्नायक हुए। यही कारण था कि उनके अनुसधानो और उपदेशो से जो सस्कृति उत्पन्न हुई, वह धर्म के स्तर से नीचे नही उतरी, न उसने आधिभौतिक उन्नति के प्रस्ताव को उचित से अधिक महत्त्व दिया। हमारे नवोत्थान की सारी प्रक्रिया का क्रम कुछ इस ढग का रहा है, मानो, भगवान भारत की आध्यात्मिक साधनाओ को फिर से जीवित करके शेष विश्व के सामने कोई समाधान उपस्थित कर रहे हो। और इसमे कोई सदेह नही कि नवोत्थान के भीतर से भविष्य की ओर प्रगति करती हुई भारत की प्राचीन परपरा ने महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और प्रयोग मे अपनी परिणति प्राप्त की।

ऐसा लगता है, मानो, गाँधीजी के जन्म और विकास को सभव बनाने के लिए ही राममोहन राय ने सास्कृतिक जागरण का आरभ किया था। लगभग सौ वर्षों तक इस आध्यात्मिक देश ने जो आत्म-मथन किया, पराधीनता की ग्लानि को धोने के लिए अपनी श्रेष्ठ शक्तियो का जो चिंतन और ध्यान किया, गाँधीजी उसी तपस्या के वरदान बन कर प्रकट हुए। नवोत्थान से प्रेरित भारत अपनी भी स्वाधीनता खोज रहा था और विश्व की समस्याओ का समाधान भी। महात्मा गाँधी ने उसकी दोनो कामनाएँ पूर्ण की।

नय नहीं, आचार

गाँधीजी न तो दयानन्द और अरविन्द के समान मेधावी पडित एव बहुपठित विद्वान् थे, न उनमें विवेकानन्द की तेजस्विता थी। अपने समग्र जीवन मे उन्होने कोई भी ऐसी बात नही कही, जो उनके पूर्ववर्त्ती लोगो ने न कही हो।[1] किन्तु, साधनापूर्वक उन्होने सभी प्राचीन सत्यो को अपने जीवन में उतार कर ससार के सामने यह उदाहरण उपस्थित किया कि जो उपदेश अनन्त काल से दिये जा रहे है, वे सचमुच ही, जीवन मे उतारे जाने के योग्य है। गाँधीजी से पहले के सतो और सुधारको ने पुस्तकीय ज्ञान के बल पर अथवा अनुभवो के आधार पर जितनी भी अच्छी बाते कही थी, गाँधीजी ने उन सब पर

१. नये सिद्धातो को जन्म देने का दावा मैं नही करता। मैंने तो केवल अपने ढग पर सनातन सत्यो को दैनिक जीवन और समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया है। (हरिजन, २८ मार्च, १९३६ ई०)

आचरण करके मनुष्यता को चौका दिया और उसके भीतर इस आशा को जाग्रत कर दिया कि दुर्बल-से-दुर्बल मनुष्य भी चाहे तो मानवता के चरम-शिखर पर पहुँच सकता है। ज्ञानी ससार मे बहुत हुए थे। गाँधीजी ने यह बतलाया कि मनुष्य की सार्थकता जानने मे नही, करने मे है।

धर्म सभी क्षेत्रों के लिए

ससार की बाते तो जाने ही दीजिये, अपने इस धर्मप्राण देश मे भी लोग यही समझते आये थे कि जीवन की सारी भूमि धर्म की भूमि नही है। उपनिषदो के युग मे तथा बौद्धो और जैनो के उदय-काल मे धर्म को वरण करनेवाला व्यक्ति गृहस्थी छोड़ कर संन्यास ले लेता था। उस समय समझा यह जाता था कि गृहस्थ और राजा के कर्त्तव्य सदा धार्मिक नही हो सकते, न उनका धार्मिक होना अनिवार्य है। धर्म तो एक विशेष प्रकार की साधना है, जिसका सहारा परलोक के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए लिया जाता है। जब भक्ति का काल आया, तब भी धर्म जीवन-व्यापी कर्त्तव्य का स्थान न ले सका। जनक-जैसे योगी का आदर्श पुस्तको मे था, किन्तु, वह अपवाद समझा जाता था। उपेक्षा और अपवाद के अन्धकार से उस आदर्श का उद्धार गीता-रहस्य मे तिलकजी ने किया, किन्तु, वे उसका प्रयोग सामाजिक धरातल पर नही कर सके। ससार के अन्य देशो मे भी, किसी भी समय, किसी भी सत या सुधारक ने धर्म को समस्त जीवन और समाज के हर पहलू पर लागू करने का प्रयत्न किया था या नही, यह नही कहा जा सकता। विचार, कदाचित्, कइयो के मन मे उठे होगे, किन्तु, गाँधीजी का महत्त्व यह है कि उन्होने धर्म को जीवनव्यापी बनाने का दुस्साहसी प्रयोग केवल अपने वैयक्तिक जीवन में ही नही, अपने पास आये हुए समाज पर किया। अरविन्द और गाँधी मे यही भेद है। अरविन्द ने मानव-समाज की समस्याओ का यह निदान किया है कि समस्याएँ मनुष्य की बुद्धि से निकली है और इनका समाधान यह है कि मानव-समाज मानस के स्तर से उठ कर अतिमानस की अवस्था में पहुँच जाय। किन्तु, उनकी अतिमानस की कल्पना क्या है, यह समझने मे मनुष्य असमर्थ था। अत, अरविन्द और उनके शिष्यो ने अतिमानस की अवतारणा का दायित्व अपने ऊपर लेकर तपस्या आरभ कर दी। निदान तो गाँधीजी का भी बहुत-कुछ वही है, जो अरविन्द का है। किन्तु, समाधान में दोनो महात्माओ मे भेद है। अरविन्द का समाधान यह है कि श्रेष्ठ साधक तपस्यापूर्वक अतिमानसी शक्तियो का भूतल पर आह्वान करें, जिससे मनुष्य का वर्त्तमान स्पेसीज (योनि) बदल जाय। गाँधी जी प्रत्येक मनुष्य के भीतर धर्म की भावना जगा कर उसकी पीडाएँ दूर करना चाहते है।

गाँधीजी ने बार-बार कहा था कि मनुष्य का जन्म धर्म की साधना के लिए होता है और स्वय अपने जीवन का उद्देश्य भी वे धर्म की ही उपासना मानते थे। "मेरा उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु, मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म-पालन का मार्ग नही देखता·

इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है, क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यो से एकाकार होने की सभावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाय, यह सभव नही है। मनुष्य में जो क्रिया-शीलता है, वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यो से अलग होता है, उससे मेरा परिचय नही है।"

जीवन और समाज के धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) तत्त्वो के बीच बहुत दिनो से विभाजक रेखा चली आ रही थी। गाँधीजी ने इस रेखा को मिटा दिया। कबीर ने जैसे सहज मार्ग का आख्यान करते हुए कहा था, "जहँ-जहँ डोलूँ सो परिचर्या, जो-जो करूँ सो पूजा", उसी प्रकार, गाँधीजी ने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि धर्म किसी खास दिन, किसी लग्न-विशेष का कृत्य नही है, प्रत्युत, वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य में विद्यमान रह सकता है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम हो सकती है। शिक्षा, सस्कृति, कला, विज्ञान, व्यापार और उद्योग तथा सामाजिक आन्दोलन, गाँधीजी सबका अध्यात्मीकरण चाहते थे और इन क्षेत्रो में उन्होंने जो भी प्रयोग किये, उन सबमें उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट था। विवेकानन्द और अरविन्द के समान ही, वे भी मानते थे कि केवल आधिभौतिक विजयो और उपलब्धियो पर अवस्थित सभ्यता न तो शातिदायिनी हो सकती है, न उसमे स्थायित्व ही आ सकता है। शाति और स्थायित्व उसमे तब आयेगा, जब धर्म से वह पूर्णरूपेण व्याप्त हो जाय। जीवन धर्म से वियुक्त होने पर नीचे गिर जाता है और जब धर्म से उसका मेल होता है, वह ऊपर को उठने लगता है। अतएव, गाँधीजी जीवन के धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष तत्त्वो के बीच कोई भेद रहने देना नही चाहते थे।

योग और प्राणायाम, पूजा और होम, यज्ञ और तपस्या तथा ससार से अलग रहकर एकान्त साधना के द्वारा वैयक्तिक मुक्ति खोजने की परपरा सारे ससार में थी। कुछ लोग ऐसे भी हुए जिन्होंने काव्य और सगीत के माध्यम से अपने मोक्ष की खोज की। किन्तु, गाँधीजी से पूर्व किसी को भी यह नही सूझा था कि राजनैतिक आन्दोलन एव समाज-सेवा के कार्य भी वैयक्तिक मुक्ति के साधन हो सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा जनक के जीवन से अवश्य निकाली जा सकती थी। किन्तु, उस शिक्षा को अपने जीवन में चरितार्थ करनेवाला पुरुष नही आया था। लोकमान्य तिलक ने भी गीता-रहस्य में जनक-मार्ग को ही गीता का मार्ग बतलाया था। किन्तु, व्यवहार मे उस मार्ग को प्रत्यक्ष करने का काम गाँधीजी के लिए रुका हुआ था। जब उन्होंने अपना प्रयोग आरभ किया, ससार आश्चर्य से चकित रह गया।

गाँधीजी का यह प्रयोग भारतीय परपरा के फिर से जी उठने का स्वाभाविक परिणाम था। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द, लोकमान्य और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया था, उसे कार्य मे परिणत करनेवाले पुरुष गाँधीजी ही हो सकते थे। उनकी

मान्यता थी कि मुक्ति तो व्यक्ति की ही होती है, किन्तु, उसे खोजने का मार्ग कर्मन्यास अथवा वैराग्य नही है, प्रत्युत, सबकी मुक्ति के लिए श्रद्धापूर्वक कष्ट सहने से ही व्यक्ति अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। "मै सत्य का विनम्र सेवक हूँ। मै आत्म-ज्ञान प्राप्त करने को अधीर हूँ। मै इसी जीवन मे मोक्ष चाहता हूँ। मेरी राष्ट्र-सेवा मेरी आध्यात्मिक साधना है, जिसके द्वारा मै अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त करना चाहता हूँ। विश्व के नश्वर राज्य की मुझे कामना नही। मैं तो उस स्वर्ग-राज्य के लिए साधना मे लीन हूँ, जिसे मुक्ति कहते है। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए गुफा-सेवन की मुझे आवश्यकता नही दीखती। गुफा तो मेरे भीतर भी मौजूद है, यदि उसे मै जान पाऊँ। गुफावासी योगी भी हवाई महल की कल्पना मे फँस सकता है, किन्तु, राजमहल का वासी जनक ऐसी कल्पनाओ से मुक्त है। शरीर गुफा मे और मन ससार मे रहे तो गुफावासी को भी शाति नही मिल सकती। किन्तु, महलो के चाक-चिक्य के भीतर बसनेवाले जनक को ऐसी शाति प्राप्त हो सकती है, जिसे वे ही जानते है, जिन्हे शाति मिल चुकी है। मेरे लिए तो मोक्ष का मार्ग स्वदेश एव निखिल मानवता की सेवा का ही मार्ग है। मेरी यात्रा मोक्ष और सनातन शाति की ओर है। देश-भक्ति तो इस यात्रा का पथ है। इसलिए, मेरी दृष्टि मे राजनीति धर्म से भिन्न नही हो सकती। राजनीति को सदैव धर्म की अधीनता मे चलना चाहिए। धर्म-हीन राजनीति मृत्यु-पाश के समान है, क्योकि उससे आत्मा का हनन होता है।"[1]

चाणक्य और मैकियावेली-जैसे पडितो की राजनीति गाँधीजी की राजनीति नही है। चाणक्य और मैकियावेली उस राजनीति के व्याख्याता है, जिसमें छल-प्रपंच, मिथ्या-भाषण और दाँव-पेच, ये सभी दुर्गुण गुण समझे जाते है। राजनीति की शक्ति अत्यत व्यापक हो उठी है। प्रत्येक देश के असख्य मानवो का भाग्य आज राजनीति के हाथो निर्णीत हो रहा है और यह सारी-की-सारी राजनीति ईर्ष्या, द्वेष, छल-प्रपच और असत्य पर आधारित है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि अपने वैयक्तिक जीवन मे हम झूठ बोलें तो लोग हमारी आलोचना करते है, किन्तु, राजनीति मे राष्ट्रीय या अन्त-र्राष्ट्रीय मच से झूठ बोलनेवाले राजपुरुष का स्वागत तुमुल करतल-ध्वनि से किया जाता है। यह मनुष्यता के घोर पतन का दृष्टात है। जब तक राजनीति का यह रूप प्रचलित है, विश्वैकता की कल्पना कल्पना ही रहेगी और विज्ञान की शक्तियो का प्रयोग मनुष्य की हानि के लिए होता ही जायेगा। इसलिए, गाँधीजी ने धर्म को जीवन-व्यापक बना कर ससार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि राजनीति एव अर्थ-नीति भी धर्म एव आचरण-शास्त्र के ही अग है। राजनीति अर्थ और अधिकार-सचय का साधन नही, प्रत्युत, मानवता को ऊपर उठाने का मार्ग है। मनुष्यो के पारस्परिक सबधो को सुधार

---

१ यग इडिया, ३ अप्रैल, १९२४ ई०

कर उन्हें सुखी बनाने का साधन है। गाँधीजी की राजनीति छल-प्रपच का पर्याय न होकर मनुष्य के धर्माचरण का ही एक रूप है। वह अधिकारो के हथियाने को अपना मुख्य ध्येय नही मानती, प्रत्युत, उसका उद्देश्य मानवीय धरातल को उन्नत बनाना तथा मनुष्यों के बीच स्वतत्रता एव बन्धुत्व की भावना को उद्दीप्त करना है। राजनीति जीवन के मलिन प्रसगो की स्वामिनी एव सतो और सुधारको के व्यग्य की पात्री समझी जाती थी। किन्तु, गाँधीजी ने अपने प्रयोगो के द्वारा उसे मनुष्य को आध्यात्मिक गाभीर्य एव सामाजिक सामञ्जस्य तक ले जाने का साधन बनाने का प्रयास किया।

अहिंसा

अहिसा की शिक्षा भारत के लिए पुरानी चीज है। केवल बौद्ध और जैन धर्मो मे ही नही, अहिसा की महिमा उनसे पूर्व उपनिषदो में भी गायी गयी थी। अहिसा भारत की सभ्यता का सार है। वह हिन्दुओ का सनातन धर्म है। वह प्राग्वैदिक और आर्यों से पूर्व की उपलब्धि है। सच पूछिये तो अहिसा का उपदेश भारत मे इतने दिनो से दिया जा रहा है कि शेष विश्व भारत को अहिसा और निवृत्ति का देश ही मान बैठा है।

किन्तु, इतना होते हुए भी, वर्तमान जगत् में अहिसा के प्रवर्त्तक महात्मा गाँधी माने जाते हैं। अहिसा को लेकर गाँधीजी को ससार में जो सुयश प्राप्त हुआ, वह बुद्ध के सुयश से अधिक है, क्योकि बुद्ध ने, यद्यपि, अहिसा का पालन स्वय किया तथा शिष्यो से भी करवाया, किन्तु, सतो को अहिसा-व्रत के पालन मे वही कठिनाई नही होती, जो गृहस्थ को होती है। फिर यह बात भी है कि व्यक्ति के लिए अहिसा का पालन उतना दुस्साध्य नही होता, जितना समष्टि के लिए होता है। अहिसा परम धर्म के रूप में युगो से पूजित चली आ रही थी। किन्तु, गाँधीजी से पूर्व किसी ने भी, समष्टि के धरातल पर अथवा कोटि-जन-व्यापी महा आन्दोलनो के भीतर से, अहिसा का प्रयोग नही किया था। गाँधी जी ने यह प्रयोग किया और उनके प्रयोग से ससार के असख्य लोगो में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिसा की साधना सामूहिक कार्यो मे भी चल सकती है।

जिस प्रकार, अरविन्द ने मनुष्य की शक्तियो एव उसके स्वभाव को विकसित करके उसे अति-मनुष्य बनाने की कल्पना की है, कुछ वैसी ही कल्पना महात्मा गाँधी मे भी थी और उनका भी विचार था कि मनुष्य का वैयक्तिक एव सामूहिक उद्धार इस बात मे है कि वह अपने भीतर की पशुता को बिलकुल छोड कर उन गुणो की वृद्धि करे, जो उसे पशु से भिन्न करनेवाले हैं। उनका प्रयास मनुष्य की भूलो के प्रक्षालन का प्रयास था। उनका उद्देश्य मनुष्य को इस प्रकार रूपान्तरित कर देना था कि वह किसी भी बात मे पशुओ का भागीदार न रहे। और उनका यह क्रांतिकारी उद्देश्य अहिसा के प्रयोग मे जितना निखरा, उतना और कही नही। अहिसा, यह शब्द ही गाँधी-धर्म का निचोड है तथा हिंसा से पूरित विश्व मे यह एक शब्द गाँधीजी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व

करता है, उतना उनके और सारे उपदेश मिल कर भी नही कर पाते। और यह ठीक भी है, क्योकि, गाँधीजी की अहिंसा केवल अनाघात का ही पर्याय नही है, प्रत्युत, वह जीवो के प्रति आन्तरिक भक्ति और प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है।

यह अहिंसा सत्य का ही दूसरा रूप है। मनुष्य गलतियाँ इसलिए करता है कि वह अज्ञान की अवस्था मे है। अज्ञान से ज्ञान अथवा सत्य तक जाने के लिए विवेक चाहिए, तर्क और विचार चाहिए, तथा इसके लिए उस बुद्धि की भी आवश्यकता है जो पूर्वाग्रह से पीडित नही है, जो अन्धी होकर अपने ही पक्ष का प्रमाण खोजना नही चाहती, जो उस निष्कर्ष का भी स्वागत करने को तैयार है, जो उसके विपक्ष मे पडनेवाला है। ऐसी बुद्धि उसी व्यक्ति की हो सकती है, जो आत्म-शुद्धि और आत्म-विश्लेषण की योग्यता से युक्त है। जिसमें नैतिक बल का अभाव है, वह सत्य की उपब्धिल नही कर सकता। विचारो के स्वच्छ हो जाने पर सत्य का प्रेम प्रकट होता है। और जब विचार सत्यवादी हो जाते हैं, तब मनुष्य की वाणी और क्रिया भी सत्यवादिनी हो उठती है। जिस मनुष्य में निखिल मानवता के लिए हार्दिक प्रेम नही होगा, उसके विचार, वाणी और कार्य, सत्य से परिचालित नही होगे। मनुष्य सत्य इसलिए बोलता है कि अन्य मनुष्यो के प्रति उसमे आदर और प्रेम है। किसी से प्रेम भी करना तथा वाणी और क्रिया के द्वारा उसे धोखा भी देना, ये परस्पर विरोधी बाते हैं। जहाँ प्रेम है, सत्य वही निवास करता है तथा जहाँ प्रेम और सत्य रहते है, वहाँ क्रिया, निश्चित रूप से, अहिंसामयी हो जाती है।

गाँधीजी की अहिंसा क्रोधी, द्वेषी या असत्य-सेवी व्यक्ति की अहिंसा नही है। इसलिए, वे जीवन भर में एक बार भी उन लोगो से सहमत नही हो सके, जो अहिंसा को सिद्धात नही मान कर केवल नीति मानते थे। अहिंसा को गाँधीजी ने उपयोगिता के लोभ में आकर ग्रहण नही किया था, प्रत्युत, इस भाव से कि वह मनुष्य का एकमात्र धर्म है, जैसे हिंसा पशुओ का स्वाभाविक धर्म समझी जाती है। पशुओ की तरह, बात-बात पर, हूल मारना मनुष्य का धर्म नही हो सकता। उसकी गरिमा इस बात मे है कि वह अपने ऊपर ऊँची नैतिकता का नियत्रण स्वीकार करे, जिसका पशुओ को ज्ञान भी नही है। अगरेजो के विरुद्ध अपने सघर्ष मे वे पशु और मनुष्य के सघर्ष का रूपक देखते थे। "अँगरेज हमारे सघर्ष को बन्दूको के धरातल पर ले आना चाहते है, क्योकि बन्दूके उनके पास है, जिन्हें वे चला सकते है। किन्तु, हम तो उसी धरातल पर डट कर लड़ेंगे, जिस धरातल के शस्त्र हमारे पास है और अँगरेजो के पास नही है।"

गाँधीजी के अहिंसा के प्रयोग पर एक समय सारा ससार हँसता था और बडे-बड़े लोग यह कह कर शका से सिर हिलाया करते थे कि इतिहास मे कभी भी तो अहिंसक क्राति नही हुई। किन्तु, अहिंसा मे जो शक्ति छिपी है, उसे केवल गाँधीजी की दृष्टि देख सकती थी। "सच्ची अहिंसा भय नही, प्रेम से जन्म लेती है, निस्सहायता नही, सामर्थ्य

से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नही, द्वेष नही और निस्सहायता का भाव है, उसके समक्ष बड़ी-से-बड़ी शक्तियो को भी झुकना ही पड़ेगा।" चूंकि अहिंसा के पीछे द्वेष और दुर्भावना न होकर प्रतिपक्षी के प्रति भी प्रेम ही रहता है, इसलिए, गांधीजी का उपदेश था कि सत्याग्रहियो को इस भाव से सत्याग्रह नही करना चाहिए कि उन्हें प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना है, वरन्, इस भाव से कि प्रतिपक्षी के हृदय की कटुता हटा कर उसके भीतर सद्भावना को जन्म देना है। अहिंसा वह साधन है जिससे संघर्ष के दोनो पक्षो का कल्याण होता है, दोनो के भीतर ऊँची मानवता स्फुटित होती है।

गांधीजी की अहिंसा केवल हनन से विरति का नाम नही है। "अहिंसा हृदय की गहराई से आनी चाहिए, अतएव, यह आवश्यक है कि सत्याग्रही के मन मे घृणा, क्रोध और प्रतिकार की भावना न रहे। जो भीतर तो इन दुर्भावनाओ को छिपाये हुए है और बाहर, केवल भय के मारे, हिंसक प्रहार करने से घबराता है, वह सच्ची अहिंसा का पालक नही है। उसे तो दंभी और कायर समझना चाहिए।" अहिंसा, वास्तव में, शक्तिशाली और वीर का गुण है, कायरो का नही। गांधीजी ने कहा है, "मेरी अहिंसा अत्यंत क्रियाशील शक्ति है। उसमें कायरता तो क्या, दुर्बलता के लिए भी स्थान नहीं है।" यही नही, प्रत्युत, गांधीजी तो यह भी कहते है कि "जहाँ सारा चुनाव केवल कायरता और हिंसा के बीच सीमित हो, वहाँ मै हिंसा का समर्थन करूँगा।"[1]

अनेकांतवादी दृष्टिकोण

गांधीजी के वचन और प्रयोग से जो सिद्धान्त निकलता है, उसके अनुसार हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरो को शारीरिक कष्ट पहुँचाने में ही नही है। उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है। अपने मतवाद पर अहंकारपूर्वक अड़ जाना भी हिंसा ही है। भारत मे अहिंसा के सबसे बड़े प्रयोक्ता जैन मुनि हुए हैं, जिन्होंने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नही, प्रत्युत, विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया था। किसी भी बात पर यह मान कर अड़ जाना कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं, वह सबका सब झूठ और निराधार है, विचारो की सबसे भयानक हिंसा है। मनुष्यो को इस हिंसा के पाप से बचाने के लिए ही जैन मुनियों ने अनेकान्तवाद का सिद्धात निकाला था, जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने जाते हैं तथा हम जब जिस पक्ष को देखते है, तब हमें वही पक्ष सत्य जान पड़ता है। अनेकान्तवादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है, उसे यह शिक्षा देता है कि केवल तुम्ही ठीक हो, ऐसी बात नही है; शायद, वे लोग भी सत्य ही कह रहे हों जो तुम्हारा विरोध करते हैं। यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रति-

---

१. धीरेन्द्रमोहन दत्त-कृत 'फिलासाफी आव् गाँधी' से।

ष्ठित करता है, ससार मे जो अनेक मतवाद फैले हुए है, उनके भीतर सामजस्य को जन्म देता है, तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है, उनसे विचारको के मस्तिष्क को मुक्त रखता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शनो मे सोया हुआ था। भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बाते भूल चुके थे, वैसे ही, अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धांत भी उनकी आँखो से ओझल हो गया था। किन्तु, नवोत्थान के क्रम मे जैसे हमारे अनेक अन्य प्राचीन सत्यो ने दुबारा जन्म लिया, वैसे ही, गाँधीजी में आकर अनेकान्तवाद ने भी नव जीवन प्राप्त किया। सपूर्ण सत्य क्या है, इसे जानना बडा ही कठिन है। तात्त्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है, वह उसी की बातें बोलता है। इसीलिए, सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की सबसे बडी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नही होता, न वह यही हठ करता है कि मै जो कुछ कह रहा हूँ, वही सत्य है। अपने ऊपर एक प्रकार का विरल सदेह, विरोधी और प्रतिपक्षी के मतो के लिए एक प्रकार की श्रद्धा तथा यह भाव कि, कदाचित्, प्रतिपक्षी का मत ही ठीक हो, ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण है।

गाँधीजी पर ये सभी लक्षण घटित होते है, क्योकि उनकी अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी। और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हे समझौतावादी एव विरोधियो के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। जब गाँधीजी "भारत छोडो" आन्दोलन की योजना बना रहे थे, सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर ने उनसे पूछा कि "आपके इस कार्य से युद्ध मे बाधा पडेगी और अमरीकी जनता को आपका यह आन्दोलन पसद नही आयेगा। अजब नही कि लोग आपको मित्र-राष्ट्रो का शत्रु समझने लगे।" गाँधीजी यह सुनते ही घबरा उठे। उन्होने कहा, "फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेडने से रोक दे। मै तो, मुख्यत, समझौतावादी मनुष्य हूँ, क्योकि मुझे कभी भी यह नही लगता कि मै ठीक राह पर हूँ।"[1]

चूँकि अनेकान्तवाद से परस्पर-विरोधी बातो के बीच सामजस्य आता है तथा विरोधियो के प्रति भी आदर की वृद्धि होती है, इसलिए गाँधीजी को यह वाद अत्यन्त प्रिय था। उन्होने लिखा है, "मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु, मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमे गलती देखते है। पहले मै अपने को सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था। किन्तु, अब मै मानता हूँ कि कि अपनी-अपनी जगह हम दोनो ठीक है। कई अधो ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टात अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धात ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा

१ लुई फिशर-कृत 'ए वीक विद गाँधी' से

ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में है। आज मैं विरोधियो को प्यार करता हूँ, क्योकि अब मैं अपने को विरोधियो की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तो का ही परिणाम है।"[1]

सत्य के किसी एक पक्ष पर अड जाना तथा वाद-विवाद मे आँखें लाल करके बोलने लगना, ये लक्षण छोटे लोगो के ही होते है जो, कदाचित्, सत्य की राह पर अभी आये ही नही है। सत्य के मार्ग पर आया हुआ मनुष्य हठी नही होता। गाँधीजी हठी नही थे। ईसामसीह भी हठी नही थे। गाँधीजी के समान ईसामसीह भी अनेकान्तवाद के प्रेमी रहे होगे, क्योकि उन्होने भी कहा था, "मेरे पिता के यहाँ अनेक मकान है। मै किसी भी मकान को तोडने नही आया, प्रत्युत, सबकी रक्षा और पूर्णता मेरा उद्देश्य है।" जब तक ससार के विचारक और शासक स्याद्वादी भाषा का प्रयोग नही सीखते, तब तक न तो ससार के धर्मों मे एकता होगी, न विश्व के विचार और मतवाद एक होगे। सह-अस्तित्व, सह-जीवन और पचशील, इन सबका आधार अनेकान्तवाद ही हो सकता है।

गाँधी और अरविन्द

गाँधीजी के नाम के साथ महात्मा की उपाधि पहले-पहल रवीन्द्रनाथ ने लगायी थी। रवि बाबू धर्म के पुरुष तो थे, किन्तु, वैराग्य से उन्हें विरक्ति थी। यही दृष्टिकोण नवोत्थान के सभी हिन्दू नेताओ का था। नवोत्थान से प्रवृत्तिमार्गी दर्शन को उत्तेजना मिली थी एव धर्म की इस नयी व्याख्या मे इस बात पर जोर नही था कि ससार असार है, इसलिए, हमे अपनी वैयक्तिक मुक्ति की खोज के लिए जगलो मे भाग जाना चाहिए एव कामिनी और कचन का परित्याग करके प्राणायाम और समाधि में लीन हो जाना चाहिए। इसके विपरीत, जनता मे यह भाव जगाया जा रहा था कि जीवन सत्य है एव जीवन के क्षेत्र मे जो नाना कर्त्तव्य हमारे सामने आते है, उन्हें सम्यक् विधि से सम्पन्न करके ही हम अपनी मुक्ति भी खोज सकते है। हाँ, 'त्येन त्यक्तेन भुजीथा.' वाला औपनिषदिक सदेश फिर से सजीव हो उठा था जिसके परिणामस्वरूप, सस्कृति के नेता यह कह रहे थे कि भारत की कृच्छ्र वैराग्य-साधना और यूरोप का उद्दाम भोगवाद, ये दोनो ही अतिवादी दृष्टिकोण है। उचित यह है कि हम दोनो के बीच कोई समन्वय स्थापित करें और मध्यम-मार्ग का सहारा ले।

यह तर्क के धरातल की बात थी। व्यावहारिक जीवन मे तो यही दिखलायी पडा था कि ब्राह्म-समाजियो मे से अधिकाश लोग, जन्मना धनिक-वर्ग के होने के कारण, त्याग करने पर भी त्याग के कष्टो को नही जान सके। परमहस रामकृष्ण ने सुखो को

---

१ हरिजन, २१ जुलाई, १९४६ ई०

त्याग दिया और दयानन्द सन्यास के प्राचीन आदर्श पर ही चलते रहे। हाँ, विवेकानन्द ने सन्यास का नया आदर्श अवश्य स्थापित किया, जिसमें सन्यासी कौमार्य और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी बहुत-कुछ गृहस्थो के ही समान थे, क्योकि वे ध्यान और समाधि मे थोडा ही समय लगाते थे, उनका बाकी काम ससार की सेवा करना था जो परोपकारी गृहस्थ भी करते रहते थे। महर्षि अरविन्द में आकर सन्यास ने एक और परिवर्त्तन स्वीकार किया, जिससे गैरिक वसन की अनिवार्यता जाती रही और बाल-बच्चों से अलग भागना धर्म-साधना के लिए अनावश्यक हो गया। खास करके विवेकानन्द के सन्यासी सन्यास लेकर भी समाज से भिन्न नही होते। वे अपनी गृहस्थी छोड कर सब की गृहस्थी को आसन बनाते है। वे एक राह से ससार छोड कर दूसरी राह से ससार मे लौट आते है।

स्पष्ट ही, नवीन हिन्दुत्व किसी लग्न-विशेष अथवा दिन-विशेष का धर्म नही रह कर मनुष्य के दिन-दिन, क्षण-क्षण का धर्म होना चाह रहा था। धर्म-साधना अलग और जीवन-साधना अलग, इसमे विरोधाभास था एव अभिनव हिन्दुत्व इस विरोध को तोड़ कर ससार और धर्म को एकाकार कर देना चाहता था। इसी प्रयास ने उसने गृहवासी ब्राह्म-समाजियो और आर्य-समाजियो मे किंचित् त्याग की वृत्ति जगायी थी। एव इसी प्रयास मे उसने विवेकानन्द के सन्यासियो को गार्हस्थ्य के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। अरविन्द-आश्रम में जो सन्यासी और गृहस्थ साथ होकर एक ही साधना में प्रवृत्त हुए, उसके पीछे भी अभिनव हिन्दुत्व का यही प्रभाव काम कर रहा था एव इसी प्रेरणा से गाँधी जी ने समाज-सेवा एव उच्च नैतिक आचरण को धर्म का एकमात्र आधार मान लिया एव सन्यासी और गृहस्थ का भेद मिटा कर उन्होने यह घोषणा की कि धर्म मे वैरागी के लिए एक और गृहस्थ के लिए दूसरा मार्ग नही है। अरविन्द और गाँधी मे उद्देश्य की समानता है। केवल उनके साधनो मे ही भेद है। और साधन-भेद से ही उनके उद्देश्य विभिन्न दिखायी देते है। दोनो का मूल उद्देश्य मानव-स्वभाव को निर्मल बना कर आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सुखद और पवित्र विश्व का निर्माण करना है। हाँ, अरविन्द यह कहते है कि नया विश्व अस्तित्व में तब आयेगा, जब मनुष्य मानस की स्थिति से उठ कर अतिमानस की स्थिति मे पहुँचेगा। इसके विपरीत, गाँधीजी का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने आपको सुधार ले, तो पृथ्वी स्वयमेव स्वर्ग बन जायगी।

विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी जिस ध्येय को लेकर चले, उसका सामाजिक रूप यह है कि धर्म को चन्दन, कठी, माला, पूजा, होम और मदिर तक ही सीमित नही रहना चाहिए। उसे समग्र जीवन को अपनी गोद में उठा लेना है। धर्म की स्थापना संन्यासी और जीवन की साधना गृहस्थ करे, यह उचित स्थिति नही है। आदर्श समाज वह होगा, जिसके सन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी सन्यासी होगे अथवा दोनो के बीच कोई भेद नही रहेगा। धर्म को जीवन-व्यापी बनाने का यह उद्देश्य प्राचीन काल में भी झलका था, जिसके प्रमाण जनक हुए है। मध्यकालीन भारत मे भी वीर-शैव-

सम्प्रदाय इसी उद्देश्य को लेकर चला था, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन्यास का आदर्श इस सम्प्रदाय के गृहस्थो का भी आदर्श हो गया ।

नारी और वैराग्य

गाँधीजी के प्रयोगो मे धर्म को जीवन-व्यापी बनाने की साधना ने और भी प्रगति की। गाँधीजी वैरागी के वैरागी और गृहहस्थ के गृस्थ थे । रवि बाबू ने लिखा है कि गाँधीजी स्वय वैरागी है, किन्तु, गृहस्थो के आनन्द मे वे बाधा डालना नही चाहते । वे स्वय निर्धन और दरिद्र है, किन्तु, सबको "सुखी एव सपन्न बनाने की दिशा में वे सबसे अधिक क्रियाशील है । वे घोर रूप से क्रातिकारी है, किन्तु, क्राति के पक्ष में वे जिन शक्तियो को जाग्रत करते है, उन्हे अपने नियत्रण मे भी रखते है । वे एक साथ प्रतिमापूजक और प्रतिमाभजक भी है । मूत्तियो को यथास्थान रखते हुए वे आराधको को उच्च स्तर पर ले जाकर उन्हे प्रतिमाओ के दर्शन करने की शिक्षा देते है । वे वर्णाश्रम के विश्वासी है, किन्तु, जाति-प्रथा को चूर्ण किये जा रहे है । काम-भावना को वे भी मनुष्य की नैतिक प्रगति का बाधक मानते है, किन्तु, टाल्सटाय की भाँति वे सौन्दर्य और नारी को सदेह मे नही देखते । उनकी मान्यता है कि नारियो के लिए आदर और कोमलता का भाव पुरुष-चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है । गाँधीजी की सबसे बडी विशेषता यह है कि जो सुधार वे दूसरो को सिखाते है, उन सुधारो की कीमत पहले वे आप चुका देते है । गाँधी जी मे सभी महान् गुण है, किन्तु, उनका व्यक्तित्व उनके गुणो से भी अधिक महान् है ।"

किन्तु, इतना होते हुए भी, गाँधीजी की याद हमारे मनो मे उन लोगो की याद जगा देती है, जो जीवन के आनन्द को मनुष्य का शत्रु समझते थे, जो नारी को तप शक्ति की भक्षणी कहते थे और जो यह मानते थे कि शरीर की पुष्टि से आत्मा की दुर्बलता मे वृद्धि होती है ।[1] उनका सारा दृष्टिकोण सदाचार-सेवी और पवित्रतावादी था, तथा वे काव्य, सगीत, चित्र और मूर्त्ति-कलाओ मे से भी केवल उसे ही ग्रहण करते थे, जो सुन्दर होने के अलावे शिव और सत्य भी था । केवल सौंदर्य और आनन्द उनके दर्शन में ऊँचा तो क्या, उचित स्थान भी नही प्राप्त कर सके ।

किन्तु, यहाँ यह याद रखना होगा कि पवित्रतावाद और सदाचार-प्रियता गाँधीजी की वहक नही थी, बल्कि, ये सिद्धात उनके जीवन-दर्शन से निकले थे । सत्य और अहिंसा

---

१ आत्मा जैसे-जैसे पाप से मुक्ति पाती है, शरीर वैसे-ही-वैसे, नीरोग होता जाता है । किन्तु, नीरोग शरीर का अर्थ यहाँ शक्तिशाली शरीर नही है । शक्तिशाली आत्मा का वास दुर्बल शरीर मे ही होता है । आत्मा की शक्ति, ज्यो-ज्यो, बढती है, शरीर का बल, त्यो-त्यो, घटता जाता है । इसलिए, पूर्ण रूप से नीरोग शरीर दुर्बल और क्षीण हो सकता है । शक्तिशाली शरीर मे तो, प्राय, रोग ही बसते है । रोग न भी हो, तब भी बली शरीर को रोग की छूत आसानी से लग जाती है । किन्तु, नीरोग शरीर को रोगो की छूत नहीं लगती । (नवजीवन, ५ जून, १९२४ ई०)

उनके दर्शन के आधारभूत सिद्धात है, किन्तु, सत्य और अहिंसा का पालन सभी लोग नही कर सकते। इनका सम्यक् पालन करने के लिए षड्विकारो का शमन आवश्यक है। षड्विकारो मे भी गाँधीजी काम को अत्यन्त प्रवल मानते थे, क्योकि लोभ और क्रोध तव तक जीते नही जा सकते, जब तक काम वश मे न आ जाय। उन्होने लिखा है कि "ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ जननेन्द्रिय की क्रियाओं का शारीरिक नियत्रण माना जाता है। किन्तु, इस सकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को कुरूप तथा उसकी साधना को असंभव बना डाला है। जब तक सभी इद्रियाँ नियत्रित न हो जायँ, तव तक जननेन्द्रिय को नियत्रित रखना दुस्साध्य कर्म है। इद्रियाँ तो परस्पर मिली हुई है एव वे एक-दूसरे पर निर्भर भी करती है। अपने निचले धरातल पर मन भी इद्रिय ही है। मन पर अधिकार पाये विना यदि हठ-योग से अथवा और किसी प्रकार से जननेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त भी हो जाय तो उस नियत्रण को मै अनुपयोगी और निस्सार कहूँगा। वायु का नियत्रण जितना कठिन है, मन का नियत्रण उससे भी कठोर है। किन्तु, परमात्मा के प्रति आस्था रहने से मन भी वश मे आ जाता है।"[१]

काम-विजय के लिए गाँधीजी ने जिह्वा-विजय को सोपान् कहा है।[२] और जिह्वा पर नियत्रण कैसे किया जाय, इस उद्देश्य से परिचालित होकर वे जीवन भर भोजन के विषय मे भिन्न-भिन्न प्रयोग करते रहे। प्रश्न उठता है कि क्या गाँधीजी का प्रयोग अथवा उनका विश्वास गलत था ? क्या आनन्द की उपेक्षा, सचमुच ही, जीवन के साथ अत्याचार है ? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते है और दोनो के दोनो भारतीय साधना के इतिहास में विद्यमान है। बौद्धो और जैनो ने सदियो तक ब्रह्मचर्य और कृच्छ्र साधना पर जोर दिया। किन्तु, पाँचवी सदी के बाद, उनके सयम का बाँध टूट गया एव बुद्ध-मार्ग से ही वज्रयान आदि सम्प्रदायो का जन्म हो गया। यह और कुछ नही, ब्रह्मचर्य की सुदीर्घ साधना के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया थी कि साधु-महात्मा भी खुल कर नारी को अपनी मुद्रा मानने लगे एव मैथुन को उन्होने योग-सिद्ध का सोपान घोषित कर दिया। तब सहजयान आया। उसने भी यही सिद्धात रखा कि चित्तरत्न के क्षुब्ध होने से सिद्धि मे

१ दे० वोस-कृत 'सेलेक्शन्स फ्राम गाँधी'

२ मेरा अनुभव है कि जिसे जिह्वा पर नियत्रण प्राप्त नही है, वह पाशविक वासनाओ पर नियत्रण नही पा सकेगा। जिह्वा को जीतना कोई आसान काम नही है। लेकिन, वासना-विजय जिह्वा-विजय के साथ बँधी हुई है। जिह्वा-विजय का एक उपाय मसालो का त्याग है। इससे भी बडा उपाय यह हो सकता है कि हम बराबर मन को समझाते रहे कि भोजन का उद्देश्य शरीर को कायम रखना है, भाँति-भाँति के स्वाद लेना नही। वायु को हम शरीर-धारण के लिए ही लेते है, स्वाद के निमित्त नही। पानी हम केवल प्यास बुझाने को पीते है। तो फिर भोजन भी क्षुधा-तृप्ति के भाव से ही किया जाना चाहिए।

(नवजीवन, ५ जून, १९२४ ई०)

बाधा पडती है, अतएव, इद्रियो के साथ जबर्दस्ती मत करो। यह सिद्धात बहुत-कुछ वैसा ही दीखता है जैसा कि आज के मनोवैज्ञानिक लोग कहते है।

किन्तु, गाँधीजी इस मार्ग को नही मानते। उनका भाव यह दीखता है कि यदि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर आना है तो उसे इद्रिय-निग्रह करना ही होगा, क्योकि इद्रियो से भिन्न मनुष्य कुछ है ही नही। इन्द्रियाँ खुल कर हरियाली चरती फिरे और मनुष्य का मन धर्म के मार्ग पर आरूढ रहे, यह कल्पना ही परस्पर-विरोधी है। मनुष्य के सामने दो से अधिक विकल्प नही है। या तो वह इन्द्रियो की दासता स्वीकार कर ले और जिधर-जिधर इन्द्रियाँ जाने को कहे, उधर-उधर भागता फिरे। अथवा इन्द्रियो को वश में लाकर वह धर्म के पालन मे तत्पर हो। इद्रियो की उच्छृंखलता पशु-धर्म है और जो भी व्यक्ति इन्द्रियो को अनियन्त्रित रखने का पक्षपाती है, उसे यह भी मानना चाहिए कि मनुष्य पशु से भिन्न नही है, न पशु से अधिक दूर भागने की उसे चेष्टा ही करनी चाहिए। किन्तु, जो लोग यह मानते है कि मनुष्य पशु से भिन्न प्राणी है, उन्हें इद्रिय-निग्रह को माने विना चारा नही है, क्योकि इन्द्रियो को नियत्रण मे रख कर ही मनुष्य पशुता से दूर जा सकता है। इन्द्रियो का उद्दाम नृत्य पशुता का प्रमाण है। इन्द्रियो को घाट मे बाँधकर चलाना ही मनुष्यता है, मनुष्य की सस्कृति है।

नर-नारी का पारस्परिक सवध सदा से विवाद का विषय रहा है। सच पूछिये तो नारी गृहस्थ-जीवन का प्रतीक है। इसलिए, जब-जब प्रवृत्ति का उत्थान हुआ, नारी और गृहस्थ, दोनो की पद-मर्यादा में वृद्धि हुई। किन्तु, अपने देश में तो वैदिक काल को छोड कर, प्राय, सदैव निवृत्ति का ही बोलवाला रहा। अतएव, नारी की मर्यादा यहाँ सदैव दबी रही। समाज में प्रतिष्ठा उनकी थी जो वैयक्तिक मुक्ति के लिए वैराग्य ले लेते थे। नारी वैरागियो के किसी काम की चीज नही थी। अतएव, सभी सत उसे पाप की खान बताते गये। बुद्ध और महावीर ने भिक्षुणी होने का अधिकार देकर नारियो को नरो के समकक्ष अवश्य माना, किन्तु, जिस कारण नारी पाप की खान मानी जाती थी, उसका विलाप भी दोनो धर्मो में मिलता है। नारियो को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर बुद्ध ने विलाप किया—"आनन्द! जो धर्म मैंने चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलनेवाला था, किन्तु, अब वह केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योकि नारियो को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।" और हुआ भी यही। बुद्ध के पाँच सौ वर्ष बाद ही, महायान सम्प्रदाय निकला (यद्यपि इसका दायित्व केवल भिक्षुणियो पर नही था) और बौद्ध-मत धीरे-धीरे हिन्दुत्व के अक में लौटने लगा।

ठीक इसी समय, जैनो में दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिसके आचार्यो ने मुनि-धर्म मे यह सशोधन उपस्थित कर दिया कि नारियो का भिक्षुणी होना व्यर्थ है, क्योकि पुरुष-योनि मे जनमे विना उन्हें मुक्ति नही मिलेगी। कबीर आदि सतो ने विवाह करके यह दिखलाना अवश्य चाहा था कि गृहस्थ-जीवन धर्म-साधना का बाधक नही है, न नारी

धर्म का शत्रु है। किन्तु, निवृत्ति-भाव कबीर मे भी था। विवाह करके अपना पश्चात्ताप उन्होने भी लिखा है।

इसके विपरित, पाश्चात्य जगत् मे जनमे हुए उदार विचारो का यह परिणाम हुआ कि नारी अपनी स्वाधीनता के लिए सघर्ष करने लगी और नारी के जागते ही पुरुष इस ग्लानि से भर गया कि सपूर्ण इतिहास में नारी पर वह अत्याचार ही करता आया है। स्वतत्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता है। नारी जब तक यह स्वाधीनता नही प्राप्त करती, उसका यह दावा झूठा है कि वह स्वतत्र है। किन्तु, पुरुष यह नही चाहता कि नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र हो। पुरुष का कामुक सस्कार इस बात को बर्दाश्त नही कर सकता कि नारियाँ खेतो मे जायँ,कारखानो मे काम करे और, इस प्रकार, अपने रग को मद्धिम एव अपनी चमडी को खुरदुरी बना लें। इसलिए, पुरुष कहता है, "मेरी महीने भर की कमाई तुम्हारे चरणो पर अर्पित है। तुम जिस तरह चाहो, इसे खर्च करो। खेतो और कारखानो मे जाने की तुम्हें आवश्यकता क्या है?" और प्रत्येक देश मे नारी इस उत्कोच को सहर्ष स्वीकार कर रही है। वह मग्न है यह प्रशस्ति सुन कर कि नारी रूप है, नारी सुधा और चाँदनी है, नारी पुरुष के गले में मन्दार की माला है, उसकी बाँहो मे झूलती हुई जूही की लडी है।

कवियो और दार्शनिको ने भी नारी को एक उत्कोच यह कह कर दिया है कि वह पुरुष की प्रेरणा का उत्स है, नारी का प्रेम पाकर मनुष्य बडे-बडे काम कर डालता है। यह नारी-समस्या का समाधान नही है। नारियाँ यह सुन कर प्रसन्न क्यो होती है कि वे पुरुषो के प्रेरणा-स्रोत है, उनकी शक्ति और प्रताप के केन्द्र है। क्या नारियो का सारा जीवन केवल पुरुषो को प्रेरित करने के लिए है? क्या उनका अपना कोई ध्येय नही हो सकता? क्या नरो के समान नारियो को अपने व्यक्तित्व का स्वतत्र विकास नही करना है? और यदि उनका जन्म पुरुष में प्रेरणा भरने को है तो क्या वे आत्म-विकास के लिए पुरुषो से वैसी ही प्रेरणा पाने का दावा नही कर सकती? ये प्रश्न है, जिनका समाधान नारियो को खोजना चाहिए। किन्तु, सदियो के कुसस्कारो के कारण नारियो का ध्यान इस ओर नही जा रहा है। युद्ध रोकने और वस्तुओ का उत्पादन बढ़ाने के कामो में नारियो की दिलचस्पी नही दीखती। वे पुष्प-प्रदर्शनी आयोजित करती है और बन-ठन कर समाज मे सुरभि बिखेर कर अपने अस्तित्व की सार्थकता को समाप्त मान लेती हैं।

हमारा विचार है कि नर-नारी के सबधो पर जैसा निश्चित निदान गाँधीजी और मार्क्स ने दिया है, वैसा और कोई विचारक नही दे सका। ये दोनो नेता नर-नारी को सहज एव समान दृष्टि से देखते है और यह मानते है कि जिस क्षेत्र में एक की विजय है, उसमें दूसरे को भी विजय मिल सकती है। खेत और कल-कारखाने, ये दोनो के क्षेत्र है। ज्ञान और विज्ञान, इन पर भी दोनो का समान अधिकार है। प्रकृति ने नर और नारी

की रचना एक ही तत्त्व से की है। अतएव, एक के लिए जो सहज और सभाव्य है, वह दूसरे के लिए भी असंभव नही हो सकता। हाँ, मातृत्व एक ऐसा गुण अवश्य है, जिसके कारण नारी नर से भी श्रेष्ठ हो जाती है।

गाँधी और मार्क्स में फर्क यह है कि भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स को अपने समाधान पर पहुँचने में कठिनाई नहीं हुई। नर-नारी के बीच जिन कारणो से प्राचीन सत और सुधारक भय की स्थिति देखते थे, उन कारणो को मार्क्सवादी मानते ही नहीं। इसलिए, विवाह उनकी दृष्टि मे अनिवार्य सस्था नही है, न ब्रह्मचर्य, पातिव्रत अथवा एकपत्नीव्रत को ही वे जीवन का कोई दुर्लभ गुण मानते है।[१] और, स्पष्ट ही, इन परपरागत मूल्यो से यदि हम आँखें मूंद लें तो मार्क्सवादी समाधान नर-नारी-समस्या का पूरा समाधान है।

किन्तु, गाँधीजी इन मूल्यो से आँखें नही मूँद सकते। यदि वे आँखें मूंद लें तो उनका सारा दर्शन, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की उनकी सारी कल्पना, क्षण भर में, ढह पड़ेगी। मनुष्य के सुधार का मार्ग सत्य और अहिंसा का मार्ग है और सत्य एव अहिंसा का सम्यक् पालन काम को नियत्रित किये बिना नही हो सकता। गाँधीजी के भीतर प्राचीन परपरा के सत और आधुनिक विचारक, दोनो विद्यमान् है। विचारक का कहना है कि नर और नारी के सबध को स्वाभाविकता प्रदान करो। सत को भय है कि स्वाभाविकता के प्रचलित अर्थ से तो दोनो काम के दास हो जायँगे और दोनों में सत्य एव अहिंसा की भावना दुर्बल पड जायगी। इसलिए, गाँधीजी मध्य मार्ग पर आते हैं। उनका कहना है कि नर और नारी, दोनो का अस्तित्व एक-दूसरे से स्वतंत्र है और दोनो अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने को जन्म लेते है। यदि रूप, सौंदर्य तथा आधिभौतिक सुखो के लोभ में आकर वे एक दूसरे से मिलते है, तो यह ऊँचा मिलन नही है।[२] व्याकुलता तो दोनो में आत्म-विकास के लिए ही होनी चाहिए, जिसका साधन समाज-सेवा और

---

१. साम्यवादी क्रान्ति के आरभ में सेक्स को जो स्वतत्रता प्राप्त हो गयी थी, अब वह काफी कमजोर है। पातिव्रत और एकपत्नीव्रत पर जो हमले औद्योगिक सभ्यता की ओर से होते है, वे तो ससार में सर्वत्र हो रहे हैं। किन्तु, रूस में भी अब काम बधन में है। मर्यादाहीन काम को प्रश्रय अब रूसवाले भी नही देते।

२. कहते है, जब कोई युवक और युवती आपस में सदिग्ध सबंध जोड बैठते थे, तब गाँधीजी, उसका इलाज करने को, युवती का माथा मुँडवा देते थे और दोनो को दो विभिन्न दिशाओ में काम पर भेज देते थे। युवती के माथे के बाल उतरवा देने में, शायद, उनका यह भाव था कि प्रेमी इस नारी को देखे और समझे कि वह प्रेम-पात्री रह गयी है या नही। साज-शृगार, प्रसाधन और बनाव, इन्हें वे नारी के व्यक्तित्व को छिपानेवाला आवरण समझते थे। उनकी इच्छा थी कि पुरुष नारी के उस मूल-व्यक्तित्व को प्यार करना सीखे जो प्रसाधनों के नीचे है, जो यौवन और जरा से अलिप्त और अप्रभावित रहता है।—लेखक

स्वार्थ-त्याग है। हाँ, विचारो में एकता अथवा उद्देश्यो मे समानता होने के कारण, वे यदि एक दूसरे के समीप आना चाहे तो विवाह भी कर सकते हैं। किन्तु, विवाह के उपरान्त वाल-बच्चे उत्पन्न करना कोई ऊँचा ध्येय नही है। एक तो इससे जन-सख्या मे अनुचित वृद्धि होती है। दूसरे, वाल-बच्चे की वृद्धि से समाज-सेवी की सेवा की योग्यता न्यून पड जाती है। अतएव, नर-नारी को या तो विवाह ही नही करना चाहिए अथवा करना अनिवार्य हो तो दोनो का आनन्द बौद्धिक मिलन अथवा आध्यात्मिक समीपता का आनन्द होना चाहिए। बस, इतनी-सी शर्त लगा कर गाँधीजी नर-नारी को स्वतत्र छोड देते हैं और उन्हे परस्पर समकक्ष भी मानते हैं।[1]

गाँधीजी प्रत्येक कर्म का मूल्य इस कसौटी पर आँकते हैं कि उससे मुक्ति मे सहायता मिलती है या नही। विवाह मुक्ति में सहायक नही है, इसलिए, वे विवाह को अनावश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मुक्ति से दूर रहने के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा मुक्ति से और अधिक दूर होने से कारण वह विवाह करता है। नर-नारी, दोनो समान हैं और दोनो को चाहिए कि वे अपने मोक्ष के लिए साधना करे। बहुत प्राचीन काल से लोग जो यह कहते आये थे कि नर और नारी परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, उस सिद्धात का गाँधीजी और मार्क्स, दोनो ने, प्रयोगो द्वारा खडन कर दिया है।

धर्म की अनुभूति

राजनीति गाँधीजी को लील तो नही सकी, किन्तु, उसने उनके असली रूप पर कुछ झीना परदा अवश्य डाल दिया जो उनके मोक्ष-लाभ के बाद से, शनै:-शनै, उठ रहा है। राष्ट्रो को स्वाधीन करनेवाले अथवा नये राज्य स्थापित करनेवाले महापुरुषो की पक्ति में बैठा कर हम गाँधीजी को ठीक-ठीक नही समझ सकते। राजनीति का पात्र अत्यन्त छोटा होता है। उसमें सागर क्या कभी आ सकता है? गाँधीजी राजनीति के पुरुष नही थे। वे धर्म के नेता, मनुष्य के उद्धारक और नये मूल्यो के सस्थापक थे। उनके वास्तविक रूप के विषय मे दूसरो को कोई भ्रम रहा हो तो हो सकता है, गाँधीजी को स्वय कोई भ्रम नही था। बहुत-से राजनीतिज्ञ हुए हैं जो धर्म के परिधान मे छिप कर चलते थे। गाँधीजी शुद्ध धार्मिक मनुष्य थे, जिन्हे राजनीति के वेश मे रहना पडा।

किन्तु, गाँधीजी का धर्म क्या था, इसे हम उसी आसानी से नही समझ सकते, जिस आसानी से कुछ अन्य धर्माचार्यो का धर्म हमारी समझ मे आ जाता है। उनका धर्म किसी गुरु-मुख से लिया हुआ धर्म नही था, न उन्होने सम्प्रदाय-विशेष के धर्म को अपना धर्म माना था। यहाँ तक कि प्राचीन धर्म-ग्रथो का भी प्राचीन अर्थ वे ज्यो-का-त्यो ग्रहण न कर सके।

---

१ गाँधीजी प्रत्येक नर को अर्द्धनारीश्वर और प्रत्येक नारी को अर्द्धनारेश्वरी बनाना चाहते थे, ऐसा हमारा अनुमान है। इसीलिए, उनके नर चरखा कातते हैं और उनकी नारियाँ फावडे चलाने को केवल पुरुष का कार्य नही मानती। —लेखक

"मैं धर्म की किसी भी ऐसी व्याख्या को मानने से इनकार करता हूँ जो, महाविद्वानो की होने पर भी, नैतिक भावना और बुद्धि के विरुद्ध है।" "मेरा धर्म हिन्दू-धर्म नही, बल्कि, वह धर्म है जो हिन्दुत्व से भी आगे जाता है, जो हिंदुत्व के भीतर के सत्यो पर आधारित है, जो क्षण-क्षण पवित्रता प्रदान करनेवाला है, जो आत्मा को तब तक बेचैन रखता है, जब तक कि वह परमात्मा से एकाकार न हो जाय। किसी को भी इस धोखे में नही रहना चाहिए कि सस्कृत में जो-कुछ लिखा है एव शास्त्रो में जो-कुछ मुद्रित है, उसे आँख मूँद कर मानना ही धर्म है। नैतिकता के मूल-सिद्धांत और सुनियोजित बुद्धि के जो विरुद्ध है, उसे नही मानना ही धर्म है, चाहे वह कितना भी प्राचीन क्यो न हो।"

सास्कृतिक नवोत्थान के साथ भारत में बुद्धिवाद की जो लहर उठी, उसे गाँधीजी ने सर्वतोभावेन ग्रहण किया। किन्तु, उनका बुद्धिवाद उन्हें यह समझाने में असमर्थ रहा कि जो-कुछ दृश्य है, वही सत्य है तथा अदृश्य और अगोचर की ओर विवेकशील मनुष्य को ध्यान ही नही देना चाहिए। प्रत्युत, उन्होंने अगोचर और अदृश्य को अपनी प्रेरणा का मूल-स्रोत माना तथा, सभी कठोर परीक्षाओ के अवसर पर, अपनी आत्मा के भीतर वे इसी अगोचर और अदृश्य की आवाज सुनकर शाति पाते रहे।

गाँधीजी के सभी धार्मिक विचार उनके निजी अनुभवो से निकले थे, इसलिए, उनकी भाषा मे वही बेधकता और सचाई मिलती है, जो उपनिषदो मे दिखायी देती है, जो बुद्ध और ईसा तथा परमहस रामकृष्ण के उद्‌गारो मे भरी हुई है। पुस्तकीय और तर्क-सम्मत ज्ञान में सचाई की वह आग नही होती जो अनुभव-जनित ज्ञान में होती है। गाँधीजी ने धार्मिक सत्यो को खोजा नहीं, अपने जीवन में उनकी अनुभूति की थी। इसलिए, उनके विचारों मे कही-कही वह विरोधाभास भी है, जो उपनिषदो मे मिलता है। उदाहरण के लिए सुस्पष्ट शब्दो में यह बताना बडा कठिन है कि गाँधीजी द्वैतवादी या अद्वैतवादी थे अथवा उनकी भक्ति साकार या निराकार पर थी। वे अपने को वैष्णव कहते थे और राम नाम के जप तथा कीर्त्तन मे उनका बडा विश्वास था। यहाँ तक कि, अन्त में आकर, उनका विश्वास हो गया था कि रामधुन से पाप तो क्या, शारीरिक रोग भी छूट जाते हैं। परा-काष्ठा यह हुई कि हत्यारे की गोलियाँ खाकर जब वे गिरे, तब भी उसके मुख से "हे राम", ये दो शब्द अनायास ही निकल पडे। बल्कि अनायास तो इसे कहना ही नही चाहिए। जनम-जनम मुनि जतन कराही, अन्त राम कहि आवत नाही।[1] किन्तु, अन्त में भी उनके मुख से अपने आराध्य के नाम का निकल सकना, यही बतलाता है कि जीवन भर वे किस तैयारी मे रहे थे। गाँधीजी का जीवन महान् था, किन्तु, उनकी मृत्यु उससे भी महान् निकली। ईसा जब शूली पर चढाये गये, तब वे लोग भी अपना हृदय टटोलने को बाध्य हुए जो जीवन भर उनकी उपेक्षा करते आये थे। कुछ ऐसी ही बात गाँधीजी के साथ भी हुई है।

---

१. तुलसीदास

उनका सारा जीवन ही ईश्वर के प्रति उनकी गहन आस्था की अभिव्यक्ति था। यदि इसमें कही कुछ कोर-कसर रह गयी थी, तो उसे उनकी मृत्यु ने पूरा कर दिया।

किन्तु, जिस राम का नाम गाँधीजी आजीवन जपते रहे तथा जिसका नाम लेते हुए उन्होंने अपने प्राण त्यागे, वह राम कौन था, यह विवाद का विषय है। "मेरे राम, हमारी प्रार्थनाओं के राम ऐतिहासिक राम नही है। वे दशरथ के पुत्र और अयोध्या के राजा नही है। वे तो सनातन हैं, वे अजन्मा है, वे अद्वितीय हैं। मैं उन्ही की पूजा करता हूँ। उन्ही से सहायता और वरदान माँगता हूँ। वे सबके है। इसलिए, मैं यह समझ नही पाता कि कोई मुसलमान या अन्य व्यक्ति उनका नाम लेने पर आपत्ति क्यो करता है। ईश्वर को वह राम न माने, यह सभव है, किन्तु, राम की जगह वह अल्लाह या खुदा का नाम तो ले ही सकता है।"[1] यह गाँधीजी के राम का एक पक्ष है।

उनके राम-विषयक विश्वास का दूसरा पक्ष तब सामने आया, जब एक जिज्ञासु ने उनसे यह प्रश्न किया कि "कहने को तो आप यह कहते है कि आपके राम दाशरथि राम नही हैं। फिर ऐसा क्यो है कि आपकी प्रार्थना मे सीता-राम और राजा राम शब्द बार-बार आते है?" इस प्रश्न के उत्तर मे गाँधीजी ने हरिजन में एक टिप्पणी लिखी कि "यह ठीक हैं कि रामधुन के क्रम में सीताराम और राजा राम शब्द बार-बार आते हैं, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि राम से अधिक शक्तिशाली उनका नाम है।[2] हिन्दू धर्म तो महा सिन्धु के समान है, जिसमें असख्य बहुमूल्य मोती भरे पडे है। इस धर्म मे ईश्वर के अनेक नाम है। हजारो लोग, असदिग्ध रूप से, राम और कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है तथा यह विश्वास करते है कि वे ईश्वर के अवतार थे। इतिहास, कल्पना और सत्य, हिन्दुत्व में सब मिलकर एकाकार हो गये हैं। इनमे से किसी एक को तोड कर अलग करना दु साध्य कर्म है। ईश्वर के जितने भी नाम और रूप कहे गये है, मैंने निराकार एव सर्वव्यापी राम को उन सबका प्रतीक मान लिया है। इसलिए, राम को सीतापति अथवा दशरथपुत्र, जो चाहो, कहो, मेरे लिए तो वह सर्वशक्तिमान् तत्त्व है, जिसका नाम यदि हृदय में अंकित हो जाय तो मानसिक, नैतिक और शारीरिक कष्ट क्षण मे दूर हो जाते है।"[3]

राम को निराकार मानते हुए भी, गाँधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे। शाकर मत का शून्यवाद और ज्ञान-मार्ग उन्हें पसद नही था। शकर के विपरीत, गाँधीजी का प्रपत्ति और शरणागति मे अटल विश्वास था, एव शुद्ध अन्त करण से वे अपने को सब तरह से, निस्साहाय मान कर केवल निराकार राम की कृपा के भरोसे जीते थे। ये सभी लक्षण द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विश्वासी वैष्णव भक्तो मे देखे जाते है एव, सिद्धातत. देखा जाय तो,

१ हरिजन, २८ अप्रैल, १९४६ ई०
२ करौं कहाँ लगि नाम बडाई ? राम न सकहिं नाम गुन गाई। —तुलसीदास
३ हरिजन, २ जून, १९४६ ई०

गाँधीजी इसी प्रकार के भक्त थे। किन्तु, कही-कही उन्होने अद्वैतवादी होने का भी दावा किया है। "मै अद्वैतवादी हूँ तथा मै द्वैतवाद का भी समर्थन करता हूँ। ससार क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है, अतएव, यह असत्य है, इसका स्थायी अस्तित्व नही है। किन्तु ससार मे कोई ऐसा भी तत्त्व है जो परिवर्तित नही होता। इसलिए, ससार को सत्य भी कह सकते है। विश्व सत्य भी है और असत्य भी, यह मानने मे मुझे कोई आपत्ति नही दीखती। अतएव, कोई मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहे तो कह सकता है। किन्तु, मेरा स्याद्वाद भी पडितो का नही होकर मेरा अपना ही है।"[1]

परमात्मा ने सृष्टि बनायी या नही, इस सनातन प्रश्न पर भी उनके विचार अनेकान्तवादी थे। "मै उसे रचयिता भी मानता हूँ और रचना से तटस्थ भी। जैनो के मच से मै ईश्वर की तटस्थता का समर्थन करता हूँ और रामानुज के मच से उसकी रचयित्री शक्ति का। वास्तव मे, हम अज्ञेय को ज्ञेय बनाने का प्रयास कर रहे है, इसलिए, हमारी वाणी तुतलाने लगती है, निश्चित रूप से कुछ कहने मे वह असमर्थ हो जाती है और हम परस्पर-विरोधी बाते भी बोलने लगते है।"[2]

परमात्मा को सर्वात्मवादी साधक फूलो, नदियो, पहाडो, लताओ और समुद्रो इत्यादि में झिलमिलाते देखता है। रहस्यवादी अपनी समाधि मे अदृश्य वास्तविकता का स्पर्श पाता है और साकारोपासक भक्त पत्थर की प्रतिमाओ मे भी ईश्वर की प्रत्यक्ष मूर्ति के दर्शन करता है। किन्तु, गाँधीजी ने परमात्मा के दर्शन सदाचार में किये। "ईश्वर वह अपरिभाषेय पदार्थ है, जिसका अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु, जिसे हम जान नही सकते। मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, नैतिकता और सदाचार है। वह जीवन और प्रकाश का उत्स है, किन्तु, वह इनसे भी परे है। ईश्वर आत्मा की आवाज है। वह नास्तिको की नास्तिकता भी है। किन्तु, वाणी और तर्क की पहुँच के वह परे है। जो उसका स्पर्श चाहता है, उसके लिए वह साकार है। जो श्रद्धावान् और विश्वासी है, उनके लिए वह केवल अस्तित्व मात्र है।"

भक्ति और रहस्यवाद के प्रति इस युग की श्रद्धा नही रह गयी है। यद्यपि लोग बुद्धि को अपूर्ण कहने लगे है, किन्तु, प्रत्येक वस्तु की परीक्षा बुद्धि से ही करते है, क्योकि मनुष्य के पास अभी और कोई उपाय नही है। और बुद्धि रहस्यवाद एव भक्ति को समझ नही पाती, वह उन्हें मन्द उन्माद की स्थिति कहकर छुट्टी ले लेती है। ऐसे शकालु युग के लिए गाँधीजी का सदेश है कि ईश्वर सदाचार का स्वरूप है; तुम नैतिक धर्म का पालन करो, भगवान तुम्हे, आप-से-आप, प्राप्त हो जायगा। "जो अपने जीवन मे प्रमाण खोजता है, उसे अपने भीतर श्रद्धा और जीवित धर्म का पालन करना चाहिए। किन्तु, श्रद्धा और

१. यग इण्डिया, २१ जनवरी, १९२६ ई०
२. यग इण्डिया, २१ जुलाई, १९४६ ई०
३. यग इण्डिया, ३ मार्च, १९२५ ई०

विश्वास भी वाह्य प्रमाणो से सिद्ध नही किये जा सकते। अतएव, ऐसे व्यक्ति को सृष्टि के नैतिक शासन मे विश्वास करना चाहिए, सत्य और प्रेम के नियमो मे आस्था रखनी चाहिए। जो ईश्वर केवल बुद्धि को सतुष्ट करता है, वह ईश्वर नही है। ईश्वर का ईश्वरत्व भक्त के हृदय पर शासन करने तथा उसे परिवर्त्तित करने मे है। अपने भक्त के क्षुद्र-से-क्षुद्र कार्यों में भी उसे अपना रूप दिखलाना ही चाहिए।"

गाँधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे और नाम-कीर्तन मे उनका अटल विश्वास था।[१] किन्तु, धर्म की अभिव्यक्ति वे केवल नाम-कीर्तन और ध्यान को ही नही मानते थे। भक्त है तो नाम-कीर्तन करेगा ही, परमात्मा का ध्यान धरेगा ही। किन्तु, ये साधन अधिक महत्त्व नही रखते। गाँधी-मत मे धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। जो सदाचारी नही है, वह गाँधी-मत से धार्मिक भी नही माना जा सकता। "धर्म कहते है जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करने को। ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ है प्रेम, सत्य और विवेक को हृदय पर शासन करने देना तथा स्वार्थपरता, दुरिच्छा, अज्ञान और अविवेक तथा काम और क्रोध को दूर करना। धर्म का वास्तविक निचोड नैतिकता के पालन में है। धर्म और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न हैं। फिर भी, बोये गये बीज के लिए जल जो महत्त्व रखता है, नैतिकता के लिए धर्म का वही महत्त्व है। किन्तु, नैतिकता के विकास से भी धर्म की वृद्धि होती है। अपने भीतर मै जितनी ही पवित्रता लाता हूँ, ईश्वर मुझे उतना ही समीप मालूम होता है।"

सदाचार के समान ही, गाँधीजी प्रार्थना मे पूरे अस्तित्व से विश्वास करते थे। उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था, कृष्णार्पण और आत्म-निवेदन के भाव से पूर्ण था। "प्रार्थना धर्म का निचोड है। प्रार्थना याचना नही है। यह तो आत्मा की आकाक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्बलताओ की स्वीकृति है, हृदय के भीतर चलनेवाले अनुसधानो का नाम है। यह आत्म-शुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमत्रण देना है। यह मनुष्यो के दु ख मे भागीदार बनने की भी तैयारी है।"[२]

---

१ मनुष्य चाहे जिस रोग से भी ग्रस्त हो गया हो, हृदय के भीतर से वह राम का नाम ले तो उसके सभी रोग छूट जायँगे। (हरिजन, ३ मार्च, १९४६ ई०)

आप किसी सिद्धान्तवादी से बातें नही कर रहे हैं, किन्तु, उससे जिसने, जो कुछ वह कहता है, उसका जीवन के प्रत्येक क्षण मे अनुभव किया है। अब तो, स्थिति यह है कि जीवन का प्रवाह भले ही रुक जाय, प्रार्थना और जप का प्रवाह नही रुक सकता। यह तो आत्मा की सुनिश्चित आवश्यकता है। (हरिजन, २५ मई, १९३५ ई०)

२ प्रार्थना श्रवणो या शब्दो की कसरत नही है। यह अर्थहीन मत्रो का पारायण भी नही है। राम-नाम का जाप चाहे जितना भी करो, यदि उससे आत्मा आन्दोलित नही होती, तो वह व्यर्थ है। प्रार्थना में नि शब्द हृदय का होना अच्छा है, किन्तु, हृदयहीन शब्दो का होना खराब है। भूखा मनुष्य जैसे भोजन से जी भर कर

वस्तुत , गाँधी-धर्म न तो कोई एक धर्म है, न वह विश्व मे प्रचलित धर्मो से भिन्न है। सभी धर्म जहाँ से उत्पन्न होते है, गाँधीजी उस उत्स के आमने-सामने खडे थे। और सभी धर्म मनुष्य को जहाँ ले जाना चाहते है, गाँधीजी उस मजिल के भी पास थे। वस्तुत , गाँधी-धर्म वह धर्म है, जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता मे वृद्धि होती है। अच्छा *गाँधी-मार्गी अच्छा हिन्दू भी है तथा अच्छा मुसलमान भी।* ईसाई धर्म-प्रचारको को लक्ष्य करके एक बार गाँधीजी ने कहा था,"तुम हमे नया धर्म सिखाने को इतने आतुर क्यो हो ? हमे अच्छा हिन्दू बनाओ, अच्छे नर-नारी बनाओ, यही यथेष्ट है। नाम के परिवर्त्तन से हृदय तो परिवर्त्तित नही होगा। शब्दो के बदले यदि जीवन बोलना आरभ कर दे तो वह श्रेष्ठ है।"

गाँधीजी ने जैसे बुनियादी शिक्षा की योजना निकाली, वैसे ही, उनका धर्म भी बुनियादी धर्म था। बुनियादी धर्म में आध्यात्मिक स्वीकृति होती है, बौद्धिक समर्थन नही। उसमे हार्दिक भक्ति के कारण एकरूपता आती है, अनुष्ठानो की एकता के कारण नही। बुनियादी धर्म वह है जिसमे सभी धर्मो के मूल है, जहाँ से सभी नदियो को पानी जा रहा है।

आनन्द लेता है, भूखी आत्मा, उसी प्रकार, प्रार्थना से सतोष प्राप्त करती है। (यग इण्डिया, २३ जनवरी, १९३० ई०)

प्रकरण १४

विश्वदर्शन के प्रवर्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन

जिस सास्कृतिक नवोत्थान के सत परमहस रामकृष्ण, कवि रवीन्द्रनाथ और कर्मयोगी महात्मा गाँधी हुए, उसके अप्रतिम दार्शनिक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन है। भारत के मनीषियो का लक्षण रहा है कि वे जब भी भारतीय दर्शन को नया रूप देना अथवा उसकी नयी व्याख्या करना चाहते है, तब वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते है। प्रस्थानत्रयी मे भारतवर्ष की श्रेष्ठतम दार्शनिक अनुभूतियाँ सचित है। और ये अनुभूतियाँ केवल पुस्तको मे ही सीमित नही है, उनका सार भारतवासियो के रक्त मे मिश्रित है, उनके स्वभाव में समाया हुआ है, उनके विचारो और भावों के मूल मे प्रतिष्ठित है। धर्म यहाँ वह है जो सतो के जीवन मे दिखलायी पड़ता है, जैसा कि रामकृष्ण और गाँधी के जीवन मे वह, अभी हाल मे, दिखलायी पड़ा था। किन्तु, दर्शन हमारा गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र मे है। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने प्राचीन दर्शनाचार्यो के समान गीता और प्रमुख उपनिषदो की व्याख्या लिखी है। ब्रह्मसूत्र की स्वतत्र व्याख्या, यद्यपि, वे नही लिख पाये है[1], किन्तु, ब्रह्म-सूत्र के शाकर भाष्य की व्याख्या से उनके सभी ग्रथ ओत-प्रोत है। अतएव, प्रस्थानत्रयी की व्याख्या का कार्य उन्होंने एक प्रकार से पूरा कर दिया है और भारतीय विचारो के इतिहास में वे उस सरणी में गिने जा सकते है, जो शकर और रामानुज की सरणी है।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म सन् १८८८ ई० मे हुआ था। उनके माता-पिता धर्म-सेवी और ईश्वर-भक्त थे। राधाकृष्णनजी की सारी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म-प्रचारक स्कूलो और कालेजो मे हुई। आरभ में वे लूथर मिशन हाई स्कूल, तिरुपति में पढते थे। फिर वे वेल्लोर के उरही कालेज में गये, और अन्त मे, क्रिश्चियन कालेज, मद्रास मे उन्होंने अपनी ऊँची शिक्षा समाप्त की। अतएव, कहा जा सकता है कि उनका बचपन और छात्र-जीवन ऐसे वातावरण मे बीता जो धर्म का वातावरण था तथा जहाँ अदृश्य शक्ति के अस्तित्व की बात विवाद नही, विश्वास की चीज थी। इन्ही कारणो से श्री राधाकृष्णन को दर्शन की उपलब्धि विज्ञान या इतिहास के द्वारा नही होकर धर्म के द्वारा हुई और इन्ही कारणो से वे आधिभौतिक कोलाहल से भरे हुए काल में भी आत्मा का स्वर बन कर विश्व के समक्ष आये।

---

१ इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने यानी सन् १९५६ ई० के कोई चार वर्ष बाद डाक्टर राधाकृष्णन ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या भी प्रकाशित कर दी।

राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, गाँधी, तिलक और अरविन्द के समान, जो रामकृष्ण को छोड़कर सबों में होते थे सांस्कृतिक जागरण के नेता हैं। भारतीय संस्कृति और हिन्दुत्व को जितनी ज़रूरत यूरोप से जानने की थी, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों से अधिक थी। अतएव राममोहन, केशवचन्द्र, एनी बेसेण्ट, विवेकानन्द और अरविन्द के द्वारा जब-जब हिन्दुत्व की ओर से जो-जो तर्क दिये गये थे, उनके श्रोता, मुख्यतः, यूरोपीय विद्वान् अथवा अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासी थे। रामकृष्ण, दयानन्द और तिलक तथा गाँधी, इनके प्रधान श्रोता, भारतवासी अवश्य थे, परन्तु, उनके संदेश भी शिक्षित वर्ग के विचारकों के पास पहुँचे। यह बहुत बड़ा था। किन्तु, बुद्धि-विश्वास के क्षेत्र में उसने भी बहुत काम किया, अधूरा रहा था। यूरोप के प्राच्य-विद्या-विशारदों की भारत के अतीत के विषय में जो उद्भावनाएँ थीं, उनके परिणाम-स्वरूप, भारत का अतीत प्रकाश में आया था और उसी प्रेरणा से, भारतवासी भी अपने प्राचीन काल के प्रति गौरव अनुभव करने लगे थे। किन्तु, यूरोप के मन में भारत की वर्तमान अवस्था का वृत्तांत अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था, न यूरोपवालों को यही ज्ञात हो पाया था कि यूरोपीय विचारों की कसौटी पर भारतीय धर्म और दर्शन कहाँ तक खरे उतरते हैं। यह कार्य श्री राधाकृष्णन ने पूरा किया और भारत के अनिर्वच अध्ययन करने के क्रम में, उन्होंने पाश्चात्य जगत् को भी विशिष्ट प्रकाश प्रदान कर दी। इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन का जन्म भी राधाकृष्णन के ग्रंथों से हुआ, और उन्हीं के ग्रंथों से प्रत्येक देश के विचारकों में यह भाव जाग्रत हुआ कि विश्व-दर्शन भी एक असंभव नहीं, संभव कार्य है।'

---

१. एक शताब्दी से भी कुछ कम वर्ष हुए होंगे, कि पूर्व और पश्चिम के बीच व्यापार और राज्य-विस्तार को छोड़कर एकता का कोई भाव नहीं था। किन्तु, तब से एक प्रमुख परिवर्तन आया है जिसकी गति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। पूर्व विश्व अब यह मानने लगा है कि उसके अपने मूल्यों की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि पूर्व भी पश्चिमी विज्ञान पर अधिकार प्राप्त करे। यही नहीं, प्रत्युत, विज्ञान के पीछे जो दार्शनिक मुद्रा छिपी है, उसे आत्मसात् करने से पूर्व का दृष्टिकोण भी अधिक उन्नत होगा। और पश्चिमी विश्व के भीतर यह भावना जगी है कि पूर्व के पास जो आध्यात्मिक पहुँच है, उसे ठीक से समझ लेने पर, पश्चिमी जगत् की प्रतियोगिता की अनवस्थिति से मुक्ति मिल सकती है तथा उसे वह आन्तरिक शांति प्राप्त हो सकती है, जिसका वह दावा तो करता है, किन्तु, जो उसे प्राप्त नहीं हो सकी है।... आज तक प्रायः विश्व के ऊपर विश्व की अनुकूलता और अन्तर्वर्तिनी शक्तियों को ग्रहण करने में असमर्थ रहने के कारण, संपूर्ण विश्व के अनेक दरिद्र रहा है। किन्तु, अब यह अवस्था समाप्त हो रही है और लोग प्रत्येक संस्कृति की विशिष्टताओं को ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। मैं इस परिस्थिति को लाने का श्रेय अंशतः राधाकृष्णन को देता हूँ।

—[illegible] 'हीरक-जयन्ती पर अर्पित ग्रंथ 'राधाकृष्णन' की भूमिका से

मिशनरियों की आलोचनाओं से ठेस

विचारो की जननी शका है और दर्शन सात्विक सदेह से जन्म लेता है। प्रचलित मतो के विषय में जब शका उठने लगती है, तभी विचारको को सोचने की उत्तेजना मिलती है। दर्शन की मुद्रा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य मे शका करने का साहस हो। राधाकृष्णन ईश्वर-भक्त माता-पिता के पुत्र थे और हिन्दुत्व के प्रति उनमे आरभ से ही श्रद्धा का भाव था। किन्तु, हिन्दुत्व पर दार्शनिक ढग से विचार करने को वे इसलिए बाध्य हुए कि स्कूलो और कालेजो मे ईसाई धर्म-प्रचारको ने उनकी धार्मिक श्रद्धा को ठेस पहुँचायी एव हिन्दुत्व के विषय मे उनके मन मे शका डाल दी। श्री राधाकृष्णन ने अपनी "खंडित आत्म-कथा" मे स्वय लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारक सस्थाओ के शिक्षको ने मुझे श्रद्धाहीन बना कर जिज्ञासा की उस प्राथमिक अवस्था में डाल दिया जहाँ से सभी दर्शनो का जन्म होता है। वे लोग दर्शन के शिक्षक, व्याख्याता और टीकाकार थे। वे रह-रह कर ईसाई विचार और जीवन-पद्धति की भी दुहाई देते थे। किन्तु, सही अर्थ में, वे सत्य के प्रेमी या अन्वेषक नही थे। भारतीय विचारधारा की कड़ी आलोचनाएँ करके उन्होने मेरी श्रद्धा को विचलित कर दिया और परपरा के उन स्तभो को हिला डाला, जिनका मै सहारा लिये हुए था।[1]

श्रद्धा के विचलित होते ही श्री राधाकृष्णन की शका जाग्रत हो गयी और उन्होने देखा कि "यद्यपि, हिन्दुत्व विचारो की स्वतत्रता एव मन के अनुशासन के सिद्धातो को तर्क से सिद्ध किये हुए है, तथा यद्यपि, उसकी अन्तर्दर्शिनी दृष्टि मूल ध्येय और विचारो के ढाँचे हमें आज भी पसद हैं, तथापि, उसने अपने सुदीर्घ जीवन में अनेक रूढियों एव मन-गढत सिद्धातो की रचना कर डाली है, जिनसे आत्मा के जीवन का मुक्त प्रसार असंभव हो गया है। इसके सिवा, हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं, जब ससार भर के विचार हमें उत्तराधिकार के रूप मे आप-से-आप प्राप्त हो गये है। भाँति-भाँति के दर्शनो और धर्मों का ऐतिहासिक ज्ञान हमारे भीतर सचित हो गया है। हम देखते हैं कि हमसे पूर्व असख्य लोगों ने सृष्टि एवं परोक्ष सत्ता के विषय मे वे ही प्रश्न उठाये है, जो हममे उठते है और उनमें से प्रत्येक इन प्रश्नो के उन्ही उत्तरो को अन्तिम मनता है, जो स्वय मुझे सूझे है। अनुमानो की इस असंख्यता को देखते हुए, यदि हम ईमानदार हो तो, हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सत्य केवल वही है जो हमे दिखायी देता है तथा बाकी लोग असत्य कह रहे हैं। इन अत्यन्त विरोधी अनुमानो का सामना करते ही, हम या तो परंपरा से जा चिपकते हैं अथवा फिर शकावादी बन जाते है। ऐसे ही विचारो ने हिन्दू-धर्म का आलोचनात्मक अध्ययन करने को मुझे बाध्य कर दिया।"[2]

---

१ फ्रैगमेंट्स आव् ए कन्फेशन २ वही

२ मैं भी हिन्दुत्व का अभिमानी था और मेरा यह अभिमान स्वामी विवेकानन्द के

और हिन्दू-धर्म का विधिवत् अध्ययन करते-करते श्री राधाकृष्णन भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे जिस पर विवेकानन्द, गाँधी, रवीन्द्र और अरविन्द पहुँचे थे। भारतीय धर्म गर्हित नहीं, पुनीत है। धर्म मनुष्य का शत्रु नहीं, मित्र है। धर्म को जो अपयश प्राप्त हुआ वह इस कारण नहीं कि धर्म मे बुराई है प्रत्युत, इस कारण कि बुरे मनुष्यो ने धर्म का दुष्प्रयोग किया है। वस्तुतः, यूरोप की आधिभौतिकता मनुष्य के सम्पूर्ण कल्याण का मार्ग नहीं है। कल्याणमय वह तभी हो सकती है जब उसके साथ धर्म का संयोग हो। "भारतीय ज्ञान केवल भारतीय राष्ट्र के ही पुनरुत्थान के लिए आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य-जाति मात्र के पुनः शिक्षण के लिए भी जरूरी है।"[1]

यह राधाकृष्णन की विचारधारा का एक पक्ष है। किन्तु, वे भारतीय समाज के सुधारक मात्र नहीं हैं। सच पूछिये तो भारतीय सुधारक राममोहन, केशवचंद्र, दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक ही हुए हैं। गांधी और अरविन्द तथा रवीन्द्रनाथ का ध्येय भारतीय समाज से अधिक मानव-जाति का सुधार अथवा रूपान्तरण था। विश्ववाद की जो भावना गाँधीजी के कर्मयोग, अरविन्द की साधना और रवीन्द्र के काव्य में प्रतिफलित हुई, राधाकृष्णन ने उसका सम्पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया है। और इस दर्शन की रचना करने मे उन्हें गाँधी, रवीन्द्र और अरविन्द की अनुभूतियों से सहायता भी यथेष्ट मिली है।

गाँधीजी के सदृश राधाकृष्णन भी जीवन के कुछ क्षेत्रो को धार्मिक और कुछ को धर्म-निरपेक्ष नहीं मानते। धर्म का प्रवेश वे जीवन के प्रत्येक कार्य में चाहते हैं। इसी प्रकार, जैसे अरविन्द का यह विश्वास था कि मनुष्य का कल्याण आत्मा के धरातल पर आसीन होने में है, मानस से परे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त करने में है, वैसे ही, राधाकृष्णन भी आत्मा के जीवन[2] को मनुष्य का काम्य बताते हैं एवं ज्ञान से आगे बढ़

कर्तृत्व और उद्‌गारो से और भी प्रदीप्त हो उठा था। मिशनरी स्कूलो और कालेजों में हिन्दुत्व के प्रति जो बर्ताव किया जाता था, उससे मेरा यह अभिमान तिलमिला उठा। मैं यह बात मानने को तैयार नहीं था कि जिन हिन्दू योगियों और उपदेष्टाओ ने भारत की प्राचीन संस्कृति को हमारे लिए जुगा रखा है और जिनकी साधना का परिणाम हमारा समस्त ज्ञान है, स्वयं वे ही अधार्मिक व्यक्ति थे। (माई सर्च फार ट्रूथ)

१ ईसाई आलोचको की चुनौती से ही विचलित होकर मैं हिन्दुत्व का विधिवत् अध्ययन करके यह पता लगाने को प्रस्तुत हुआ हूँ कि हमारे धर्म का कितना अंश मृत और कितना आज भी जीवित है। (माई सर्च फार ट्रूथ)

२. मार्क्स और उनके अनुयायी जिन ध्येयो को प्राप्त करना चाहते हैं, जिन दुःसदायी घृणा का शमन चाहते है, उसके लिए भी, हमें आध्यात्मिक जागरण की आवश्यकता है। अभिनव विश्व मे एकता लाने और गति भरने के लिए यह आवश्यक है कि इस विश्व की आध्यात्मिक प्रेरणा सुगंभीर हो। आध्यात्मिकता के आधार पर ही हम सामाजिक कार्यक्रमो को पूरा कर सकते हैं। (रिलीजन एण्ड सोसाइटी)

कर सम्यक् ज्ञान अथवा सहज ज्ञान के उपयोग को उसका श्रेष्ठ साधन कहते हैं। और जिस विश्ववाद के स्वप्न हमें रवीन्द्र की रचनाओ मे मँडलाते मिलते हैं, उन स्वप्नो को दार्शनिक आकार दे कर राधाकृष्णन ने विश्ववाद की कल्पना को स्थायी बना दिया है।

पूर्व और पश्चिम का मिलन

रवीन्द्रनाथ के विषय मे यह, प्राय , कहा जाता है कि वे केवल भारतीय सस्कृति की उपज नही थे, प्रत्युत, उनकी उत्पत्ति के पीछे यूरोपीय ज्ञानधारा का भी हाथ था। किन्तु, यह उक्ति रवि बाबू पर जितनी लागू है, उससे अधिक वह श्री राधाकृष्णन पर लागू की जा सकती है। उनका आविर्भाव भारतीय विचारधारा के व्याख्याता के रूप में हुआ, किन्तु, पाश्चात्य विचारधारा का भी उन्होने थोड़ा आख्यान नही किया है। वस्तुत., उनके उद्‌भव के पीछे पूर्वी और पश्चिमी, दोनो विश्वो की दार्शनिकता का हाथ रहा है। उन्होंने भारत की व्याख्या यूरोप के सामने और यूरोप का आख्यान भारत के समक्ष किया है। किन्तु, इतने से ही उनकी महत्ता की इतिश्री नही हो जाती। इससे आगे बढ़ कर उन्होंने यूरोप और भारत अथवा पूर्व एव पश्चिम की विचारधाराओ के बीच एक समन्वय का सधान किया है, एक सामजस्य का पता लगाया है एव दोनो विश्वो की विचार-धाराओ को उन्होंने पास-पास ला दिया है।

विश्व की दार्शनिक विचारधारा को उन्होने एक नया मोड दिया है, ससार के चिंतको को उन्होंने एक नयी उत्तेजना दी है कि पश्चिम जिस उच्च दर्शन का अभिमान करता है, पूर्वी जगत् के पास भी वैसा दर्शन विद्यमान है और विश्व का कल्याण एक ऐसे सामासिक दर्शन को खड़ा करने मे है,जिसमें पूर्वी और पश्चिमी, दोनो ही दर्शनो के श्रेष्ठ तत्व समन्वित हो। ससार के कोलाहल में उन्होंने सास्कृतिक समन्वय की माधुरी का सचार किया है जिससे विश्व-दर्शन की उत्पत्ति दिनो-दिन सभव होती जा रही है। विज्ञान के चलते ससार सिकुड कर छोटा हो गया है। एक देश का ज्ञान दूसरे देश के लोगो तक अनायास पहुँच रहा है। विचारो की टकराहट से एक नयी चेतना उत्पन्न हुई है कि मनुष्य-जाति एक है, वह एक समान आचरण करती हुई एक ही दिशा की ओर जा रही है। आदमी पूर्व का हो या पश्चिम का, उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ एक हैं, उसकी आत्मिक आवश्यकताएँ परस्पर समान है। देशो की दीवारे खीच कर हम मनुष्य को मनुष्य से अलग नही रख सकते। प्रत्येक देश के मनुष्य की जिज्ञासा इन दीवारो से ऊपर उठ कर एक ही दिशा की ओर प्रभावित हो रही है। "सभी मनुष्यो की मनोदशाएँ और रीतियाँ अब एक ही मानव-चेतना के अग हैं। मनुष्य का दर्शक मनुष्य है। क्षितिज पर एक नये मानवतावाद का उदय हो चुका है। इस बार वह भेदभाव से ऊपर उठ कर समग्र मानव-जाति का आलिंगन करेगा।"[1] हमे ऐसे आदर्शो एव ऐसी सस्थाओ को

---

१ ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट

अस्तित्व में लाना है, जिनके भीतर से विश्वात्मा अपनी अभिव्यक्ति कर सके। उनका ध्येय विश्व-जीवन को एक नये साँचे में ढालना, मनुष्य को जीने का एक नया ढग सिखाना है एव इस कार्य मे वे पूर्वी धर्मो, विशेषत, हिन्दू-धर्म और बौद्ध मत के कुछ अमर सत्यो का वडा महत्त्व मानते हैं।

आधुनिक भारत राजनैतिक एव सास्कृतिक, दोनो ही दृष्टियो से पूर्व और पश्चिम का युद्ध-क्षेत्र रहा है। राधाकृष्णन का जन्म इसी सघर्ष से हुआ। कुछ लोग इस जागरण को अतीत का पुनरुज्जीवन (रिवाइवल) कह कर इसकी महत्ता को कम करते हैं। किन्तु, यह अतीत का पुनरुज्जीवन मात्र नही था। "देखना यह है कि अतीत को खीच कर वर्तमान की भूमि पर लानेवाले लोग कौन थे ? ये वे लोग थे, जिन्होंने ऊँची शिक्षा पायी थी, जो अँगरेजी के विश्वविद्यालयो से तेजस्वी होकर निकले थे। इन्ही पाश्चात्य ढग के पडितो ने अतीत की नयी व्याख्या करके उसे वर्तमान के अनुरूप बनाया। अतएव, भारत मे अतीत ने वर्तमानको अपना विरोधी नही माना, न उसने उस पर अपना आधिपत्य ही जमाना चाहा। सास्कृतिक जागरण के क्रम मे भारत के अतीत ने भारत के वर्तमान के साथ सभी क्षेत्रो में समन्वय स्थापित कर लिया। वस्तुत, अतीत और वर्तमान के वीच का यह समन्वय भारत मे पूर्व और पश्चिम का ही समन्वय था। इस समन्वय की अभिव्यक्ति कला, साहित्य आदि मे होती आ रही थी। किन्तु, दर्शन के स्तर पर इस समन्वय को मूर्त्तिमान रूप श्री राधाकृष्णन ने प्रदान किया।"[1]

राधाकृष्णन अतीत की उपेक्षा नही सिखाते। परपराएँ एक पीढी से दूसरी पीढी को बाँधनेवाली कडियाँ होती है। प्रगति उन्ही विचारो के भीतर से जन्म लेती है, जिन्हें वह कुचलती-सी जान पडती है। जीवन की यात्रा अतीत को त्याग कर नही होती। जीवन तो अतीत को मान कर ही चलता है। जीवन अतीत को ले कर भविष्य की चादर बुनता है और, इसी बुनावट के क्रम मे, अतीत का पुनर्जन्म होता रहता है। मुख्य वात यह है कि हम याद भी रखे और नयी रचना भी करते जायें। उपेक्षा न तो पूर्व की करनी है, न पश्चिम की, न तो वर्तमान की करती है, न अतीत की। अतीत से विलकुल छिन्न होना किसी के लिए भी सभव नही होता, न कोई लौट कर अतीत मे पहुँच ही सकता है। पूर्वी जगत् मे पश्चिम का आगमन वापस जाने को नही, वल्कि, यहाँ ठहरने को हुआ है। इसी प्रकार, पूर्व ने पश्चिम को जो आध्यात्मिक उत्तेजना दी है, वह भी वहाँ की सस्कृति को अनुप्राणित करनेवाली है। राधाकृष्णन का सदेश है कि मनुष्य का भावी कल्याण इसमें है कि वह अतीत और वर्त्तमान तथा पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय का पता लगाये तथा सामजस्य स्थापित करे। जब तक एक देश के लोग दूसरे देश के लोगो से नही मिल सकते थे, तब तक देश-देश में जातीय दर्शन रचे जाते

१ पी० टी० राजू ('द फिलासाफी आव् सर्वपल्ली राधाकृष्णन' में)

का थोड़ा-बहुत औचित्य था। किन्तु, अब जब विचारो के आदान-प्रदान में कोई बाधा नही रह गयी है, तब राष्ट्रीय दर्शनो का औचित्य क्या हो सकता है ? मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक आवश्यकता यदि एक है तो उसका दर्शन भी एक होना चाहिए। और श्री राधाकृष्णन ने अब तक जो कुछ भी लिखा है, वह इसी विश्व-दर्शन का आख्यान है।

राधाकृष्णन का जन्म-काल भारत मे पूर्व और पश्चिम के विवाद का काल था, किन्तु, राधाकृष्णन इस विवाद मे किसी के भी पक्षपाती नही हुए। विश्व-मानव की समस्याओ का हाल उन्होने केवल पुस्तको से नही जाना, बल्कि, अपने विश्व-भ्रमण के क्रम में वे उनसे सीधा परिचय प्राप्त करते गये। अन्ततोगत्वा, वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि दोष यूरोप का नही, प्रत्युत, उस दृष्टिकोण का है, जिसकी अधीनता मे आकर मनुष्य शरीर के सुख को अपना सर्वस्व मान बैठता है। दोष उस विचारधारा का है, जिसने मनुष्य को अपनी आत्मा की भूमि से उखाड कर अलग कर दिया है। अतएव, मनुष्य को आत्मा की ओर उन्मुख करने का कार्य उनका सबसे प्रिय कार्य हो उठा।

दर्शन की उत्पत्ति जीवन से

राधाकृष्णन दर्शन को केवल मानसिक व्यायाम का साधन नही मानते। उनका विश्वास है कि दर्शन भी मनुष्य की समकालीन आवश्यकता से जन्म लेता है और उसका उद्देश्य मनुष्यो की जिज्ञासा का समाधान खोजना तथा उन्हे सतुष्ट करना है। इसीलिए, राधाकृष्णन ने जो कुछ लिखा है, वह केवल बुद्धि की तुष्टि के लिए नही है, प्रत्युत, उससे समकालीन समस्याओ का समाधान भी प्राप्त होता है। वे एक साथ दार्शनिक, कवि और सुधारक है। इसीलिए, उनके लेखो से जीवन को गति मिलती है, मन को प्रेरणा एवं धार्मिक भावो को स्फूर्ति प्राप्त होती है। उनका दर्शन तर्क से निकल कर तर्क मे ही विलीन नही होता, प्रत्युत, वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश करता है। वे सोद्देश्य दार्शनिक है एव उनका उद्देश्य मनुष्य मात्र को शाति प्रदान करना है। "जो लाखो लाख मनुष्य धार्मिक दृष्टि से विस्थापित हो गये है और शरणार्थी की भाँति कला, विज्ञान, फासिस्टवाद, नाजीवाद अथवा मानवतावाद एव साम्यवाद के अस्थायी शिविरो मे आश्रय खोज रहे है, उनके भीतर आध्यात्मिक मूल्यो के प्रति आस्था जगाना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा है। रोग-मुक्ति का प्रथम सोपान विचारो की उस विशृखलता को ठीक से समझना है जिसमे करोडो मानव फँसे हुए है। शका और नास्तिकता की प्रवृत्ति को सबसे बडी उत्तेजना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वृद्धि से मिली है, टेकनालाजी (उद्योग-विज्ञान) पर आधारित सभ्यता से मिली है। मनुष्य की सामाजिक चेतना जाग्रत हो गयी है और वह बाह्याचारो से ग्रसित कृत्रिम धर्म का विरोध कर रही है।"

विज्ञान पर विचार

राधाकृष्णन ने विज्ञान का अनादर नही किया है, किन्तु, उसके जो दोष हैं उनकी उन्होंने खुल कर भर्त्सना की है। मनुष्य का ध्यान ईश्वर, आत्मा और धर्म से हटाने में विज्ञान ने क्या अवदान दिया है, इसे दिखलाते हुए वे कहते हैं कि वायलाजी (जीव-विज्ञान) का आध्यात्मिक प्रभाव यह हुआ है कि मनुष्य किसी भी कार्य मे अपने को स्वाधीन नही मानता। उसका विश्वास है कि प्राकृतिक नियमो की अधीनता मे जैसे अन्य जीव चलते हैं, मनुष्य भी उसी प्रकार चलता है। परिस्थितियाँ जैसी होगी, मनुष्य के कार्य भी वैसे ही होते जायँगे। अग्नि से जैसे और जीव तप्त होते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी तप्त होना पडेगा। वासनाएँ जैसे अन्य जीवो को अपना दास वना लेती हैं, मनुष्य के आगे भी उसके सिवा और कोई चारा नही है। इसी प्रकार, मनोविज्ञान ने मनुष्य को यह शिक्षा दी है कि सज्ञान अवस्था मे भी वह स्वाधीन नही है। ऊपर ज्ञान और चेतना की जैसी भी रौशनी फैली हुई हो, मानव-मन में पशुता के आवेग ज्यो-के-त्यो वर्त्तमान हैं और मनुष्य के सारे कार्य इन्ही अवेगो से परिचालित होते हैं। मनुष्य वातावरण का वन्दी है। उसमें कोई ऐसी शक्ति नही है, जिससे वह वातावरण का अवरोध या उससे अपनी रक्षा कर सके। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर निर्मित अभिनव नीति-शास्त्र का भी कहना है कि सनातन या नित्य कहलाने योग्य कोई नैतिक मूल्य नही है। नैतिक मूल्य भी वादलो के समान क्षणभगुर होते हैं और जो परिस्थितियाँ उनमें परिवर्त्तन लाती हैं, उन पर हमारा कोई अधिकार नही है। तथा अभिनव तत्त्वज्ञान की मान्यता है कि जो वस्तु इन्द्रियो के द्वारा अथवा वैज्ञानिक साधनो के माध्यम से देखी या परखी नही जा सकती, वह सत्य नही मानी जानी चाहिए। जिस तत्त्वज्ञान में विचार आत्मा और परमात्मा को ले कर चलता है, उसे अभिनव तत्त्वज्ञानी अटकल या अनुमान कहते हैं। कविता और उपन्यास की भाँति धर्म और तत्त्वज्ञान भी विद्या के अग अवश्य हैं, किन्तु, वे केवल भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उनसे ज्ञान की तृषा शान्त नही होती। यही नही, विज्ञान यह भी कहता है कि एक दिन विश्व की गति समाप्त हो जायगी और सब कुछ निर्जीव हो जायगा।

विज्ञान ने आधिभौतिक सुखो मे तो काफी वृद्धि की, किन्तु, मनुष्य के मन को उसने विषण्ण वना डाला। आत्मा, परमात्मा एव सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को अविचारणीय वता कर उसने मनुष्य को, मानो, यह शिक्षा दी है कि तुम्हारा काम जनमना, वढना, कमाना और खर्च करना, सन्तान उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर इस विश्वास को ले कर मर जाना है कि मनुष्य-शरीर भी प्रकृति-परिचालित यत्र है और इस यत्र की आवश्यकताओ की पूर्त्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का और कोई ध्येय नही है।

इतना सदोष होते हुए भी, विज्ञान सार्वभौम तत्त्व है। जैसे देश-देश मे अनेक धर्म एक-दूसरे से आगे निकल जाने को वेचैन हैं, वैसी प्रतियोगिता विज्ञान में नही है। वैज्ञानिक

अनुसंधान या आविष्कार चाहे जिस किसी देश मे होता हो, सारे विश्व के वैज्ञानिक उसे अपने क्षेत्र की प्रगति मानते है। भौगोलिक दृष्टि से भी विज्ञान सार्वभौम विद्या है, क्योकि इसका प्रचार सारे विश्व मे है। प्रकृति चूँकि एक है, इसलिए, विज्ञान भी एक ही हो सकता है। सार्वभौम मानव-जाति का आविर्भाव हो, यह विज्ञान की भी सामाजिक अभिलाषा है। यही नही, प्रत्युत, विज्ञान की सारी शक्तियो के विषय मे राधाकृष्णन बडे ही उत्साह से बोलते है। "कृषि और उद्योग मे वैज्ञानिक साधनो के प्रयोग से जीवन मे अद्‌भुत क्रांति उपस्थित हो गयी है। यदि हम चाहे तो अब ससार से क्षुधा, अभाव, दरिद्रता, रोग और अशिक्षा को निकाल बाहर करने मे सफल हो सकते है। किन्तु, ये दुर्गुण ससार मे यदि आज भी वर्त्तमान है तो इसका कारण यह है कि हम अन्यायपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक एव अन्तर्राष्ट्रीय सबधो को कायम रखने के लिए वैज्ञानिक शक्तियो का दुरुपयोग कर रहे है। गलती विज्ञान और टेकनालॉजी मे नही, मनुष्य के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे है। गलती की असली जगह मनुष्य का औद्योगिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, उसका शक्ति, सुविधा और विलासिता का सिद्धान्त है।"

राधाकृष्णन इस बात को भी नजर-अन्दाज नही करते कि आज का औसत वैज्ञानिक औसत धार्मिक व्यक्ति से अधिक ईमानदार है। यही नही, प्रत्युत, आधुनिक विश्व मे समाज की प्रगति के, प्राय , सारे कार्य ऐसे ही लोगो के नेतृत्व मे पूरे किये गये है, जिनकी दृष्टि धार्मिक रही हो या नही, किन्तु, वह वैज्ञानिक अवश्य थी।

राधाकृष्णन मानते है कि धार्मिकता आज भी हमारी बाधा नही हो सकती। किन्तु, मनुष्य जैसे विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है, वैसे ही, उसने धर्म का भी दुरुपयोग ही किया है, क्योकि आज की दुनिया में हम सब-के-सब नास्तिक है। हमारा ईश्वरीय सत्ता में विश्वास, हमारी पूजा और प्रार्थना, ये सब कृत्रिम आचार है। जब हम पूजा करते होते है, तब भी हमारा ध्यान पूजा मे नही होकर कही और होता है। हमारा प्रत्येक कर्म इस बात की गवाही देता है कि हम ईश्वर मे विश्वास नही करते। हम परमात्मा के सामने नही झुक कर ससार के सामने झुकते है। दुनिया मे ऐसी कोई चीज नही है, जो ईश्वर की अपेक्षा हमे अधिक पसन्द न हो। राधाकृष्णन कहते है कि यदि हम धार्मिक होने का दावा करते है, तो धर्म को हमे अपने जीवन मे उतारना चाहिए। यदि जीवन धर्ममय नही है, तो फिर धर्म निर्जीव सिद्धान्त मात्र रह जाता है।

धर्म जीवन से एकाकार हो

ऐसा क्यो हो रहा है ? पहली बात तो यह है कि धर्म को हमने गभीरता से ग्रहण नही किया। उसकी अनिवार्यता मे हमारा विश्वास नही है। जिन्होने धर्म को गभीरता से ग्रहण किया भी है, उनका व्यक्तित्व फटा हुआ है और इसी विभक्त व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब वे समग्र विश्व मे देखते है। वे ससार को दो भागो में बाँटते है। विश्व-जीवन

का एक भाग वह है जो ईश्वरमय है, जिसमें सभी जीव एक है, जिसके अणु-अणु में धर्म का वास है। किन्तु, जो व्यवसाय और जीविका का ससार है, उसे वे ईश्वर से विच्छिन्न मान कर चलते है तथा यह समझते है कि इस व्यवसायी विश्व में अशान्ति और सघर्ष, विरोध और दुराव तथा छल और प्रपच, सभी क्षम्य है। ऐसे लोग, वस्तुत, पलायनवादी कहे जायेंगे। वे व्यवसाय की दुनिया मे जब थक जाते है, तभी, केवल विश्राम पाने को धर्म की दुनिया में आते है और अपनी वैयक्तिक साधना और अनुमान को धर्म का सपूर्ण रूप मान कर सतुष्ट हो जाते है।

राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन का ऐसा विभाजन नही चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म सपूर्ण जीवन की पद्धति है, वह नश्वर में अविनश्वर तथा अचिर में चिर का अनुसन्धान है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नही हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की उपस्थिति में करें और शेष कार्यों के समय उसे भुला दे। धर्म ज्ञान और विश्वास से अधिक कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करते है, तो हमारे आचरण में इस विश्वास का प्रमाण मिलना ही चाहिए।

विज्ञान के प्रति कटु हुए बिना राधाकृष्णन मनुष्य को इस योग्य बनाना चाहते है कि वह विज्ञान का उपयोग सर्वजन-कल्याण के लिए कर सके। किन्तु, उनका मत है कि जब तक मनुष्य आत्मा को नही पहचानता एव धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर प्रतिष्ठित नही करता, तब तक उसमे विज्ञान के कल्याणकारी उपयोग की योग्यता नही आयेगी।

विज्ञान को छोडे या न छोडे, मनुष्य के आगे यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि वैज्ञानिक साधनो के प्रयोग से आदर्श व्यक्ति और आदर्श समाज का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। राधाकृष्णन का निश्चित उत्तर है कि यह कार्य मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियो को जगाये बिना सम्पन्न नही किया जा सकता। "हमारे विचारो की प्रेरणा ईश्वरीय होनी चाहिए। हमारे सकल्पो का आरंभ ईश्वरीय इच्छा में होना चाहिए। हमारी भावनाओ को ईश्वरीय आनन्द से एकाकार होना चाहिए। सत्य, शिव और सुन्दर से समन्वित जिस व्यक्तित्व को हम ईश्वर का नाम देते आये है, उसका अधिक-से-अधिक सामीप्य प्राप्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। अपने-आपको ईश्वरीय सत्ता के स्तर तक ले जाना, यह मनुष्य का श्रेष्ठतम ध्येय है।"

अरविन्द के प्रसंग में

जिस प्रकार, अरविन्द ने मानव-जाति के अति-मानव-जाति मे रूपातरण को मनुष्यो की सारी समस्याओ का समाधान माना है, उसी प्रकार, राधाकृष्णन भी वैज्ञानिक मनुष्य के भीतर धार्मिक मनुष्य को जगा कर ससार मे समृद्धि, सौख्य और शांति लाना चाहते हैं। "ईश्वरीय सत्ता के समीप अथवा शान्ति और सामजस्य की स्थिति तक विरले

ही लोग पहुँचे हैं। किन्तु, ये लोग उस उच्चता के साक्षी है जहाँ तक मानवता गमन कर सकती है तथा ये ही लोग सकेत देते हैं कि मनुष्य को कौन रूप लेना चाहिए। ये आध्यात्मिक व्यक्ति मनुष्य की उस नयी जाति का पूर्वाभास दे गये है, जिसका उदय और आविर्भाव अवश्यम्भावी है। जो उपलब्धि कुछ थोडे व्यक्तियो के लिए सभव है, वह सब के लिए सभव होनी चाहिए। यह ध्रुव है कि, कभी-न-कभी, समग्र मानव-जाति उस ध्येय को प्राप्त करेगी। आज तक हम व्यक्तियो को ईश्वर का अवतार मानते आये है। किन्तु, ईश्वरावतार की अनुभूति जब व्यक्ति मे नही होकर, सारे समूह मे होने लगेगी, तभी नयी मानवता का आविर्भाव होगा, तभी आज की मानवता किसी उज्ज्वलतर मानवता में रूपातरित होगी, तभी मनुष्य मात्र का पुनर्जन्म होगा और तभी ससार की नवीन रचना सभव होगी। आध्यात्मिक मनुष्य का आविर्भाव विश्व का अगला सौभाग्य है। यही आध्यात्मिक आदर्श हमारे भीतर रचनात्मक शक्तियो का रक्षण करेगा, निष्प्राण बुद्धि से हमें रक्षा और त्राण देगा तथा हमारी वासनाओ को रचनात्मक रूप दे कर मन, आचरण और आत्मा से हमे एक बना कर विश्व-बन्धुत्व को सभव बनायेगा।"

अरविन्द का विश्लेषण यह है कि आदि मे केवल भूत या द्रव्य था। उससे जीव की उत्पत्ति हुई और जीव से मस्तिष्क उत्पन्न हुआ। मनुष्य अभी मस्तिष्क के धरातल पर है, किन्तु, यह उसके विकास का अन्तिम सोपान नही है। उसे मानस के स्तर से उठ कर अति-मानस की अवस्था मे पहुँचना चाहिए। कुछ इसी प्रकार का विश्लेषण श्री राधाकृष्णन का भी है। वे भी कहते है कि "लाखो वर्ष के विकास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह मानने का साहस नही होता कि मस्तिष्कधारी जीव अर्थात् चिन्तक-मनुष्य के आविर्भाव के साथ विकास की प्रक्रिया समाप्त हो गयी। उपनिषदो का कथन है कि अभी और भी सोपान है, जिन पर मनुष्य को अपना पाँव रखना है। जानवरो मे जो चालाकी की प्रवृत्ति थी, वही बढ कर मनुष्यो की पूर्व-दर्शिनी दृष्टि हो गयी। अब मनुष्य की आत्म-चेतना को विकसित होकर व्यापक दृष्टि अथवा ज्योतिर्मयी विशाल चेतना में रूपातरित होना है। बुद्धि मे जो द्वन्द्व और अशान्ति है, उससे आगे बढकर हमें सपूर्ण सत्य को अधिकृत करना है। सेंट पाल के अनुसार, आत्मा का श्रेष्ठतम फल आनन्द है। हम इसी आनन्द की स्थिति में पहुँचनेवाले है। आज के बौद्धिक मनुष्य और आगामी आध्यात्मिक मनुष्य मे वही भेद होगा, जो पशुओ और आज के मनुष्यो मे है अथवा जो भेद पौधो और पशुओ के बीच देखा जा सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। हम जो थे, उसी से हमारा आज का रूप विकसित हुआ है। पूर्वजो ने जो कुछ भी अनुभव किया, जो भी सकल्प या आचरण किया, उन सब का परिणाम आज का मनुष्य है। यदि वर्तमान मनुष्य के विचार और भाव सकुचित रहते है, तो उसके विकास में बाधा पडेगी। इसके विपरीत, यदि हम अपने अहं की सकीर्णता का त्याग करते है, अपना हृदय सब के लिए उन्मुक्त करते है, अपने भीतर के

आनन्द और प्रेम को उमड कर दूसरो को भिगोने देते है, तो इससे हमारे विकास की प्रक्रिया तेज हो जायगी। आध्यात्मिक जीवन मानव-जीवन की अस्वीकृति में नही, वरन्, उसकी पूर्णता मे है।"[1]

नीत्से, इकबाल और अरविन्द जिस अगले मनुष्य को अतिमानव कहते है, उसे राधाकृष्णन केवल आध्यात्मिक मनुष्य मानते है और इस प्रसग में वे अरविन्द से अधिक गांधीजी के समीप पड़ते हैं। वे यह मानते है कि षड्विकारो से बच कर धर्म की राह पर चलने की जो शिक्षा परपरा ने दी है, मनुष्य की प्रगति और उद्धार की वही राह है। विकारो के बंधन से मुक्त होकर धर्म के मार्ग पर चलना, इसे ही वे आध्यात्मिक धर्म कहते हैं। मनुष्य को धर्म का ज्ञान नही है, ऐसा वे नही मानते। उनके विलाप का कारण यह है कि मनुष्य धर्म को समझ कर भी उसका आचरण नही कर रहा है। "क्या हम सदैव, इसी प्रकार, ऊँचे ध्येयो को सामने रख कर नीच कर्म करते जायेंगे ? क्या हमारा यही भाग्य है कि हमारा व्यक्तित्व विभक्त रह जाय ? हम सार्वभौम मानवीय सस्कृति के आदर्शो को सामने रखते हुए ऐसी गर्हित नीतियो का पालन क्योकरते है, जिनसे सार्वभौम बर्बरता का प्रचार होता है ? मनुष्य जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है, उससे तो यही दीखता है कि विनाश से वह बच नही सकेगा। उसके सामने केवल दो विकल्प हैं। या तो उसे परिवर्तित होना है अथवा वह विनष्ट हो जायगा। मनुष्य का वर्तमान रूप विकास की लिखावट का अन्तिम शब्द नही है। यदि वह परिवर्तित नही होता, यदि वह नये विश्व से सामंजस्य बिठाने के लिए अपनी सस्थाओ तथा अपने-आप को नही बदलता, तो वह विनष्ट हो जायगा और उसके स्थान पर किसी ऐसी जाति (योनि या स्पेसीज) के जीव उत्पन्न हो जायेंगे, जिनमें शरीर की अपेक्षा आत्मा प्रधान होगी। यदि मनुष्य वह कार्य नही कर सकता, जिसकी उससे अपेक्षा है, तो इस कार्य के करनेवाले अन्य योनि के जीव उत्पन्न होकर रहेगें[2]।"

आत्मा का धर्म

राधाकृष्णन के दर्शन का सारा लक्ष्य मनुष्य को यह विश्वास दिलाना है कि वह केवल शरीर नही, आत्मा भी है, प्रत्युत, शरीर की सबसे बडी सार्थकता वे यह मानते हैं कि उसकी क्रियाओ और चेष्टाओ के द्वारा अभिव्यक्ति आत्मा की हो। अतएव, धर्म उनके दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बन गया है। किन्तु, राधाकृष्णन का उद्देश्य मनुष्य को उस धर्म की शिक्षा देना नही है, जो धर्म-ग्रन्थो मे आख्यात है अथवा जिसे ले कर सप्रदाय खडा किया जाता है अथवा जो धर्मगुरु-विशेष के उद्गारो से सीमित होता है। वेद, कुरान, बाइबिल, जेन्दावेस्ता और त्रिपिटको में जो अलग-अलग धार्मिक पथ बताये गये हैं, उनमें

---

१ फ्रैगमेन्ट्स आव ए कनफेशन

२ हिबर्ट जर्नल, १९३६ ई०

से कोई भी पथ राधाकृष्णन का प्रतिपाद्य नही है। वे उस धर्म पर जोर देते हैं जो इन सभी धर्मों के मूल मे निहित है, जिसे लेकर सच्चे ईसाई, सच्चे हिन्दू और सच्चे मुसलमान, परस्पर विवाद नही करके, धार्मिकता के एक ध्येय के सामने, एक समान अवनत हो जाते हैं। थियोसाफी जिन गुणो को ऊपर उठा कर सभी धर्मों को एक करना चाहती थी, वे गुण राधाकृष्णन द्वारा आख्यात धर्म मे विद्यमान हैं। रामकृष्ण और अरविन्द ने धर्मों की जिस एकता की अनुभूति की थी, वह राधाकृष्णन के दर्शन में अनेक तर्कों से प्रतिपादित की गयी है। अपनी पसन्द के इस धर्म को राधाकृष्णन आत्मा का धर्म कहते हैं।

यह आत्मा का धर्म क्या है? प्रत्येक धर्म मे सत्य का शोध करते-करते हमे जब और कुछ नही सूझता, तब हम बाइबिल या कुरान अथवा गीता या वेद से एक वाक्य उठा कर कह बैठते है कि हम जो कहना चाहते हैं, उसका प्रमाण यह है। यह ढंग प्रमाणवादी धर्म का है, जिसके उज्ज्वलतम उदाहरण ईसाई मत और इस्लाम हैं। धर्म-ग्रन्थो से प्रमाण उद्धृत करके सत्य को जबर्दस्ती मनवाने की प्रवृत्ति हिन्दुत्व और बौद्ध मत में भी है, किन्तु, हिन्दुत्व में इस प्रवृत्ति का प्राबल्य नही है। अनेक वादो, मत-मतान्तरो एवं पथो का जन्मदाता होने के कारण, हिन्दुत्व प्रमाणो पर कम भरोसा करता है। वह, मुख्यत, मुक्तचितको का धर्म है। इसीलिए, हिन्दुत्व राधाकृष्णन की आत्मा के धर्म की कल्पना से मिलता-जुलता है। आत्मा के धर्म की आवश्यकता, कदाचित्, इस कारण अनुभूत हुई कि पैगम्बरो और धर्म-प्रवर्त्तको की प्रत्येक उक्ति को स्वत प्रमाण मान कर चलने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित होती है। जैसे इतिहास, विज्ञान आदि विद्याओ मे कोई भी बात इसलिए सत्य नही मानी जाती कि किसी महाविद्वान् ने उसे कहा है, उसी प्रकार, धर्म में भी कोई बात केवल इसीलिए सत्य नही मानी जानी चाहिए कि वह वेद, कुरान या बाइबिल मे लिखी हुई है। धर्म का भी एक पक्ष बुद्धि और विचार का विषय है तथा जो बात बुद्धि में नही आती हो, उसे नही मानना ही धर्म है। अन्धा होकर किसी प्राचीन विचार से चिपके रहने की अपेक्षा शकालु होकर धार्मिक सत्यो का शोध करने को राधाकृष्णन धार्मिकता का अधिक श्रेष्ठ रूप मानते हैं। उन्होने कई स्थानो पर बुद्ध के इस वचन को दुहराया है कि मेरे वचनो को इसलिए मत मानो कि उन्हे मैंने कहा है, बल्कि, इसलिए कि वे तुम्हारी बुद्धि से भी मान्य हैं।

इससे यह प्रश्न उठता है कि तब धार्मिक सप्रदाय जो यह दावा करते हैं कि उनके धर्म ईश्वर के द्वारा आख्यात या प्रदत्त हैं तथा उनके धर्म-ग्रथ ईश्वर ने बनाये हैं, वह बात सत्य है या नही। राधाकृष्णन यह नही कहते कि धर्म ईश्वर की देन नही हैं अथवा धर्म-ग्रथो का परोक्ष सत्ता से कोई सबध नही है। निदिध्यासन और समाधि में जाकर ही मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है और ऐसे ही व्यक्तियो की अनुभूतियाँ धर्म-ग्रथों का आधार हैं। अतएव, धर्म ग्रथो के भीतर ईश्वरीय अनुभूति अवश्य है, क्योकि समाधि की अवस्था

में केवल मनुष्य ही ईश्वर तक नही पहुँचता, वरन्, ईश्वर भी मनुष्य के पास पहुँच जाता है। इन अनुभूतियो को सामने रखे तो सभी धर्म सत्य है, प्रत्युत, सभी धर्म एक ही धर्म है और इसी धर्म को राधाकृष्णन आत्मा का धर्म कहते है। इसी प्रकार, इन अनुभूतियो के द्वारा जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वही सनातन दर्शन या 'पिरेनियल फिलासाफी' है। यह दर्शन भी किसी एक धर्म की पूँजी नही होकर सभी धर्मों में व्याप्त है और राधाकृष्णन इसी दर्शन को ऊपर उठाना चाहते है।

वाह्य आचार और अनुष्ठान, ये निचले स्तर की क्रियाएँ है। ऊँचा धर्म आचारो और अनुष्ठानो मे नही वसता। वह मन की एकाग्रता और समाधि मे जगता है। वह उस आन्तरिक एकान्त मे चमकता है, जहाँ हम ईश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करते है। धर्म की भापा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नही, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति की भापा होती है। वुद्धि का प्रत्येक क्षेत्र शका का क्षेत्र है। वुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वय को काटनेवाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किन्तु, प्रत्येक मनुष्य को, कही-न-कही, पहुँच कर अपने-आपका विश्वास करना ही पडता है। हम जव भी ऊँची मानसिक स्थिति मे होते है, हमे लगता है, मानो, हम अपने से किसी वडी सत्ता के सपर्क मे आ गये हों, मानो, यह सत्ता ही सवसे वडी वास्तविकता हो। मनुष्य के इस आन्तरिक प्रसार को राधाकृष्णन धर्म का सवसे वडा लक्षण मानते है।

इनटुइशन या संबुद्धि

किन्तु, धर्म के द्वारा वे मनुष्य के भीतर जो अनुभूति जगाना चाहते है, मनुष्य को जिस लोक मे ले जाना चाहते है, उसका साधन वुद्धि नही, सहज या सम्यक् ज्ञान है। सामान्य अर्थ मे दर्शन वुद्धि पर आश्रित विद्या है, अतएव, राधाकृष्णन दर्शन को भी अपूर्ण मानते है। "दर्शन हमे गन्तव्य देश के द्वार तक ले जाता है, किन्तु, उस देश में वह हमारा प्रवेश नही करा सकता। उसके लिए तो आध्यात्मिक दृष्टि अथवा अनुभूति का सहारा लेना होगा। ससार के अन्धकार मे हम अबोध वच्चो के समान भटक रहे है। हमें अपनी प्रकृति का ज्ञान नही है। हम मिथ्या भय और मिथ्या आशा से परिचालित हो रहे है। इसीलिए, उस प्रकाश की आवश्यकता बहुत वढ जाती है, जो हमे वासनाओ के तिमिर से मुक्त कर सके, जो हमें सत्य का दर्शन करा सके।"[1] सत्य का वास वुद्धि के धरातल से परे, वडी गहराई मे है। इस गहराई तक हम केवल निदिध्यासन और समाधि के द्वारा ही पहुँच सकते है।

भौतिकवादियो के यहाँ तर्क और वुद्धि का जितना आदर है, राधाकृष्णन सवुद्धि या सम्यक् ज्ञान का उतना ही आदर करते है। किन्तु, यह सवुद्धि या सम्यक् ज्ञान क्या है,

---

१. इडियन फिलासाफी, भाग १

इसे लेकर काफी विवाद रहा है। अवश्य ही, राधाकृष्णन इसका प्रयोग उस शक्ति के अर्थ मे करते है, जिससे योगियो को अलौकिक बातो का ज्ञान होता है, जिससे उपनिषद के ऋषियो को सृष्टि के गूढ रहस्यो का पता चला था, जिससे कवियो और कलाकारो को जड मे छिपे हुए चेतन के सौदर्य का साक्षात्कार होता है, जिससे विज्ञानवेत्ता आविष्कार और द्रष्टा-पुरुष महत् सत्य के दर्शन करते है।

तर्कों का सहारा लिये बिना भी मनुष्य एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जो सत्य है। पशु बिना सोचे-समझे आसन्न सकट को भाँप जाते है, यह उनकी सहज प्रवृत्ति या इसटिक्ट है। पैगम्बरो पर सत्य अनायास प्रकट हो जाता है, जिसे दैवी प्रत्यक्षीकरण या रिवीलिशन कहते है। इसी प्रकार, प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक शक्ति होती है जो उसे तर्कों के बिना ही सत्य का ज्ञान करा देती है। राधाकृष्णन इस सत्य के विश्वासी है एव उनका विचार है कि इस शक्ति को जाग्रत किये बिना मनुष्य उन दोषो से उद्धार नही पा सकता, जो बुद्धि के दोष है। इस सहज ज्ञान को सुस्पष्ट करने के लिए उन्होने बहुत लिखा है। किन्तु, वह इतना सुस्पष्ट अब भी नही है कि सभी बुद्धिवादी उसे स्वीकार कर ले। वस्तुत, सबुद्धि या सहज-बुद्धि सामान्य बुद्धि का अतिक्रमण करनेवाली शक्ति है, अतएव, उसकी व्याप्तियाँ बुद्धि की भाषा से ठीक से समझी भी नही जा सकती।

सहज-बुद्धि मे बुद्धि का विरोध नही है, प्रत्युत, वह बुद्धि के समस्त गुणो को लेती हुई भी बुद्धि से आगे तक जाती है।[१] इसलिए, राधाकृष्णन ने उसका नाम 'सम्यक् ज्ञान' रखा है। "सहज ज्ञान विचारो से मुक्त नही, प्रत्युत, उन पर प्रबलता से आधारित होता है। वस्तुत, हमारे सोचने की प्रक्रिया मे सम्यक् चिन्तन की प्रक्रिया सम्मिलित रहती है। यह विचार की प्रक्रिया के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलनेवाली शक्ति है, किन्तु, विचार वस्तु के बाहरी रूप तक ही पहुँच पाते है, जब कि सम्यक् ज्ञान की शक्ति उसके भीतर की वास्तविकता को देख लेती है। सम्यक् ज्ञान का स्फुरण बहुत काल के अध्ययन, मनन, विश्लेषण और निदिध्यासन के परिणामस्वरूप होता है, अतएव, उसका रूप सश्लिष्ट होता है तथा वह बुद्धि के उस रूप से श्रेष्ठ होता है, जिसका कार्य केवल विश्लेषण करना है। पूर्ण और अश के बीच जो सबध है, वही सबध ज्ञान और सम्यक् ज्ञान के बीच रहता है।"[२]

कोई शतरज खेल रहा हो या गणित की समस्या सुलझा रहा हो, किन्तु, जहाँ भी विचारो मे केन्द्रित गति काम करती है, वहाँ विचारो का मार्ग-प्रदर्शन सम्यक् ज्ञान ही

---

१ यद्यपि सहज ज्ञान बुद्धि के परे है, किन्तु, उससे बुद्धि का विरोध नही होता। इसका नाम सम्यक् ज्ञान या पूर्ण ज्ञान है। विचारपूर्वक प्रगति करनेवाला ज्ञान तैयारी मात्र है, जिससे हमे सम्यक् अनुभूति प्राप्त करनी है। (आयडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ)

२ स्पिरिट ऑव् मैन

करता है। अनुभूतियों और आविष्कारों के क्षण केवल तर्क के नियम से नहीं चलते। आविष्कर्ताओं के भीतर विचारों के इतने गहरे आन्दोलन चलते होते हैं कि वे तर्क के नियन्त्रण में नहीं रखे जा सकते। हम आविष्कार तो सम्यक् ज्ञान के बल पर करते हैं; हाँ, उसे प्रमाणित करने के समय हमें तर्क से काम लेना पड़ता है।'[1]

सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि ध्यान-चिन्तन से होती है, एक ही विषय पर निरन्तर ध्यान लगाये रहने से होती है। 'मेडिटेशन (Brooding) सोचने की उस प्रक्रिया का नाम है, जिसमें मनुष्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा समग्र अस्तित्व से सोचता होता है। सम्यक् चिन्तन संश्लिष्ट चिन्तन है, पूर्ण चिन्तन है। यह चिन्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें सभी इन्द्रियाँ, संपूर्ण बुद्धि, मन, चेतना, अवचेतन, सारा अस्तित्व विचारों से संचालित रहता है। शरीर का कोई अवयव नहीं है, जो मन या आत्मा के नियंत्रण से परे हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सारा व्यक्तित्व एक है। उसके अवयव मन और चित्त उस एक ही व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। बुद्धि से जो विचार तैयार होता है, उस विचार को मनुष्य के अन्तर्मन के भीतर पहुँचना चाहिए, जिससे चित्त के चेतन और अचेतन, दोनों ही अंश, उस विचार से अनुप्राणित हो सकें। इच्छा और विचार, दोनों जो मनुष्य के मन में मिल जाता है। मानव-मनोविज्ञान का यही परिवर्तन मनुष्य के व्यक्तित्व का सही रूपान्तर, रूपान्तरण कहलाता है। रचना मनुष्य की वह मानसिक प्रक्रिया है, जिससे वह अपनी अपरिचित एवं विशुद्ध आत्मा को जानने में समर्थ होता है।'[2]

अध्यात्मवाद के समस्त दर्शन का ध्येय मानव-स्वभाव में आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित महत्त्व देना है। मनुष्य की रचना में हम इच्छा, जीवन और मस्तिष्क को अनुभव पाते हैं किन्तु, मनुष्य इनमें से कोई भी वस्तु नहीं है। वह इन तीनों के योग से भी आगे की चीज है। जब तक मनुष्य के भीतर यह चेतना जागृत नहीं होती कि वह और कुछ न हो, वह आत्मा है, तब तक संसार की समस्याओं का पक्का समाधान हो नहीं सकेगा।

निवृत्ति और हिन्दू-धर्म

हिन्दुत्व के विषय में पाश्चात्य जगत् के विद्वान् यह कहते हैं कि उसमें निवृत्ति की प्रधानता है। किन्तु, राधाकृष्णन इस आरोप को नहीं मानते। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ केवल सन्यास और वैराग्य से ही नहीं आ सकतीं। उन्हें प्राप्त करने का मार्ग विश्लेषण का भी मार्ग है। जिन लोगों ने वैराग्य-भावना, धन और संपत्ति त्याग की महत्ता है, उसी के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। वर्षों की एकान्त साधना के बाद बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, किन्तु बुद्ध का शेष जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में ही व्यतीत हुआ। महायान-धर्म का जो सिद्धांत

१. आइडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ   २. ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट

ही है कि मुक्त पुरुष म भी दु खी मानवता के लिए दया का भाव शेष रहता है। गाँधीजी धर्म के मनुष्य थे, किन्तु, विश्व को छोड कर उन्होने अपनी मुक्ति अन्यत्र नही खोजी। सेवा की क्रियात्मक भावना आध्यात्मिक जीवन का ही अश है।"

राधाकृष्णन ने गाँधीजी के सिद्धान्तो और उनके प्रयोगो की काफी प्रशसा की है। वे गीता की भी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या का समर्थन करते हैं। गीता केवल सिद्धान्तो का आख्यान न करके व्यावहारिक धर्म को प्रधानता देती है। गीता के अनुसार, मनुष्य के सामाजिक और नागरिक कर्त्तव्य ही धर्म के क्रिया-क्षेत्र हैं, धर्म-कार्य के वास्तविक अवसर हैं। धर्म वह है जिससे सासारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक उन्नति, दोनो ही प्राप्त होते है। प्राणिना साक्षात् अभ्युदयनि श्रेयस्हेतु य स धर्म । गीता की शिक्षा वह रहस्यवाद नही है, जिसका सवध मनुष्य के केवल आन्तरिक जीवन से होता है। जीवन के कर्त्तव्यो और सवघो को माया या निस्सार मानने के वदले, गीता उन्हे ऐसे अवसरो के रूप मे स्वीकार करती है, जिनका उपयोग करके हम आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।[1]

किन्तु, कदाचित्, वे गाँधीजी के सदृश यह नही मानते कि मुक्ति का एक-मात्र मार्ग विश्व-सेवा का मार्ग है। विश्व-सेवा का महत्त्व राधाकृष्णन इसलिए स्वीकार करते हैं कि विश्व अभी दु खी, त्रस्त एव शका तथा कोलाहल से पूर्ण है और, अपने वर्त्तमान रूप मे, वह आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल नही है। अतएव, संपूर्ण विश्व को धर्म से एकाकार करने के लिए हमे सेवा-कार्य मे सलग्न रहना चाहिए। किन्तु, यह क्षणस्थायी कार्य नही है। विश्व यदि ब्रह्म की लीला है तो इसे पवित्र आनन्द से समन्वित रखने के लिए धार्मिक व्यक्ति को भी कार्य-निरत रहना ही चाहिए। "यद्यपि मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वर के साथ एकत्व की अनुभूति है, फिर भी, यह सत्य है कि सामाजिक और सास्कृतिक जीवन के कुछ ढाँचे मनुष्य के वैयक्तिक विकास के मार्ग मे अधिक वाधाएँ उपस्थित करते हैं। अतएव, हमारा कर्त्तव्य है कि हम सामाजिक सगठनो को ऐसा रूप देने तथा उस रूप को कायम रखने का प्रयास करें, जिससे सच्चे अर्थो मे मानवीय जीवन के विकास मे, कम-से-कम, वाधा पडती हो। सामाजिक जीवन के जिन प्रलोभनो मे आ कर मनुष्य अधा और अज्ञानी वन जाता है, दायित्वहीन और क्रूर वन जाता है, उन्हे दूर करके हम व्यक्ति की सच्ची उन्नति का द्वार खोलते हैं। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या वर्ण का हो, ईश्वर की सतान है एव ईश्वर ने अपनी कल्पना के अनुसार उसकी रचना की है। अतएव, मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यन्त पवित्र वस्तु है। व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपना विकास अपने स्वभावानुसार करता जाय। किन्तु, उस अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी सलग्न है। हम समाज मे राजनीति और कानून की

१. राधाकृष्णन-कृत "द भगवद्गीता"

जो पद्धति चलाते हैं, उस पद्धति में व्यक्ति के अधिकार की रक्षा और कर्त्तव्य के पालन का पूरा अवकाश रहना चाहिए। हमारे समाज का ढाँचा ऐसा होना चाहिए, जिससे मानवीय आदर्शों की उपलब्धि मे सभी व्यक्तियो को सुविधा एव सुयोग प्राप्त हो।"[१]

राधाकृष्णन धर्म को निष्क्रियता से सबद्ध नही मानते। धर्म की वास्तविक शिक्षा निष्क्रियता नही, प्रत्युत, विश्व को सुन्दर एव शिव बनाने का अथक प्रयास है। धर्म के विषय में समाज में जो उपेक्षा और उदासीनता आ गयी है, उसका कारण, सामान्यत, यह समझा जाता है कि धर्म-साधना मे लगे हुए लोगो ने जीवन का अनादर कर दिया। राधाकृष्णन कहते हैं कि यह अनादर इसलिए नही हुआ कि लोग धर्माराधन में लगे हुए थे, प्रत्युत, इसलिए कि वे धर्म के तत्त्व को छोड कर उसके बाह्य उपचार मे जा फँसे थे।"

व्यष्टि-समष्टि

व्यक्ति और समाज के बीच राधाकृष्णन ने विलक्षण सामजस्य का सधान किया है। व्यक्ति का ध्येय परमात्मा से एकाकार होना है, किन्तु, इस ध्येय की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को ऐसा समाज चाहिए, जिसमे इस ध्येय का उचित मूल्य समझा जा सके और जो वैयक्तिक मुक्ति खोजनेवालो को अनुकूलता प्रदान कर सके। प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य है और समाज में उसे अन्य व्यक्तियो से मिलकर काम करना है। किन्तु, समाज मे रहता हुआ भी प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति है। उसकी अपनी भावनाएँ और आकाक्षाएँ होती हैं। उसकी अपनी प्रवृत्ति और अपने आदर्श होते हैं। उसके अस्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक वह जिससे वह समाज के साथ व्यवहार करता है। दूसरा वह जो उसके एकात का पक्ष है, जिसमें वह अपनी गहराइयो से बातें करता है। इसी एकात जीवन में ऐसे सपने होते हैं, जो समाज को ज्ञात नही होते, ऐसे विचार होते है, जिनकी भाषा नही मिलती और ऐसी शान्ति होती है, जिसे कोई भग नही कर सकता। भारतीय चिन्तको का उपदेश है कि तुम आत्मवत बनो। आत्मवत बनना अपने-आप में स्थिर होने का नाम है, समूह की धारा मे विलीन होने से अपने-आपको बचाने का नाम है। यह उन लोगो की सगति से बचा रहना है, जो "आत्महता" है, जिन्होने अपनी आत्माओ को निहत या आहत कर रखा है, जो विश्व के प्रपच में आसक्त होकर अपने-आप से दूर हो गये हैं। बाहर कही कोई दुर्लभ पदार्थ नही है कि धर्म के वृक्ष पर चढ कर हम उसे प्राप्त कर ले। धर्म प्राप्त करना नहीं, केवल होना है। आध्यात्मिक जीवन कोई प्रश्न नही है, जिसका हमें हल सोचना है। यह तो वास्तविकता है, जिसका हमें अनुभव करना है। प्रकाश के धरातल पर अभिनव जन्म ग्रहण करना, यही आध्यात्मिक अनुभूति है।"

---

१ फ्रैगमेंट्स आव् ए कन्फेशन

रहस्यवाद

राधाकृष्णन ने जिस आध्यात्मिक धर्म को मनुष्य के लिए विहित वताया है, उसका साधन वे रहस्यवाद को मानते है और, इस प्रक्रिया मे, वे वुद्धि से ऊपर सहज वुद्धि के प्रयोग को अनिवार्य कहते है। जीवन मे धार्मिकता का उदय होने से मनन, ध्यान और निदिध्यासन के अभ्यास से, बुद्धि सयोजित होकर सहज या सम्यक् वुद्धि वन जाती है और तव उसी के प्रसाद-स्वरूप मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। परमात्मा का ज्ञान केवल वुद्धि से नही होता। यह तभी प्राप्त होता है जव मनुष्य की वुद्धि और कल्पना, हृदय और सकल्प, सक्षेप मे, उसका सारा अस्तित्व क्रियाशील हो उठता है। ईश्वर आन्तरिक अनुभूति मे प्रत्यक्ष होता है। वाहर हम जिस शक्ति से अन्य वस्तुओ को (आवजर्वेशन) देखते है, उससे ईश्वर देखा नही जा सकता। आत्मज्ञान या ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य को तव होता है, जव वह अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा में विलीन कर देता है, जव वह सयम और अनुशासन से अपने जीवन को पूर्ण रूप से शुद्ध वना डालता है।[1]

चूंकि रहस्यवादी अनुभूति का साधन ज्ञान नही, परम या सम्यक् ज्ञान है, इसलिए, आज के वुद्धिवादी रहस्यवाद को शका से देखते हैं। रहस्यवादी सतो को फ्रायड ने वौद्धिक पागल (इनटेलेक्चुअल क्रिटीन) कहा है। दूसरे अनेक बुद्धिवादियो का कहना है कि रहस्यवाद सुनहले भावावेश मे वस्तुओ को धूमिलता से देखने की प्रवृत्ति है। यह मानव मस्तिष्क के परस्पर-विरोधी विश्वासो को सही वताने का वहाना है। यह विचारो की विशृखलताओ को गौरव प्रदान करने का उपाय है। राधाकृष्णन कहते है कि वुद्धिवादियो ने जो इतनी वाते कही है, रहस्यवाद उनमें से एक भी नही है। यह तो केवल इस भाव की स्वीकृति है कि सृष्टि के भीतर रहस्यात्मकता विद्यमान है। वुद्धि के साधनो से भी तो अव तक यही विदित हुआ है कि सारी सृष्टि रहस्ययुक्त है। फिर रहस्यवाद निन्दनीय कैसे हो जाता है? यदि मनुष्य उतना ही होता जितना वाहर से वह दिखायी देता है, तो रहस्य की कोई वात ही नही होती। यदि विश्व उतना ही होता, जितना इद्रियो और बुद्धि के साधनो से समझा जाता है तो रहस्य की कोई वात नही थी।

किन्तु, स्थिति यही समाप्त नही हो जाती। विज्ञान के स्पर्श से परे और वुद्धि की पहुँच से दूर भी एक वास्तविकता है जो परिवर्त्तित नही होती। अपनी वौद्धिक चेतना के भीतर से हम अपने-आपको नहीं देख सकते। इस चेतना से हम वही तक देख पाते है, जहाँ तक परिवर्त्तन का क्रम चलता है। हम क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहे है, वुद्धि इसे देख लेती है। किन्तु, हमारे समस्त परिवर्त्तन के नीचे एक और तत्त्व है जो सनातन है, जो परिवर्त्तित नही होता। यह अचरज का विषय है और इसमे आश्चर्यमग्न होने

१ रिप्लाइ टू क्रिटिक्स

की शक्ति ही, किसी और नाम के अभाव में, रहस्यवादी शक्ति कहला रही है। जो इस रहस्य से अपरिचित है, रहस्यवाद को वह समझ नही पायेगा।

इसीलिए, रहस्यवाद प्रकृतिवादी सिद्धातो को नही मानता, क्योकि, ये सिद्धात ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। इसीलिए, रहस्यवाद मूढ-धर्मों (डागमेटिक धर्म के अर्थ मे) के विरुद्ध है, क्योकि ये धर्म दावा करते है कि सृष्टि के सभी रहस्य उन्हें ज्ञात है। "धर्म का आरभ ही इस चेतना से होता है कि हमारा जीवन केवल हमारा ही नही है। इसे आधार देनेवाला जीवन कोई और है,जो हमारे सीमित जीवन से कही विस्तृत और महान् है। धर्म मनुष्य के इसी बृहत जीवन के अनुसधान की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में धर्म किसी भी पथ, किसी भी सम्प्रदाय या धर्म-शास्त्र को सत्य का अन्तिम उद्घोष नही मान सकता।"[1]

प्राकृतिक विज्ञान और डागमेटिक धर्म, दोनो ही रहस्यवादी को अग्राह्य होगे, क्योकि दोनो ही रहस्यो का उन्मूलन कर देते है। और जोश मे आकर वैज्ञानिक भी वैसा ही दुराग्रह दिखला सकता है, जैसा दुराग्रह धर्मवाले दिखाते है। जो अविश्लिष्ट है, जो अपरिचित और अज्ञात है, उसके समक्ष चकित होने की योग्यता यदि धर्म मे नही रही तो धर्म भी तुच्छ है। रहस्यवादी व्यक्ति धर्म के विशेषज्ञ होते है, क्योकि उनका प्रयास ईश्वर को अपने सामने देखने के लिए है। बर्गो (Bergson) ने जिसे 'मुक्त धर्म' कहा है, वह यही रहस्यवादी धर्म है, जो ईश्वर की वैयक्तिक अनुभूति पर सबसे अधिक जोर देता है, जो रचयित्री शक्ति से सीधा सम्पर्क स्थापित करने को सबसे श्रेष्ठ धर्म बताता है। मुक्त धर्म के विपरीत, मुद्रित अथवा सीमित धर्म वे है, जिनमें अनुभूति की जगह आज्ञा की प्रधानता चलती है, जिनमें चिंतन के बदले प्रमाण का महत्त्व समझा जाता है। वास्तव मे, ऐसे धर्म उन बच्चो के लिए है जो जीवन से डरे हुए है, जिनके प्रबोध के लिए आप्त वाक्यो की उपयोगिता है। "मानवता अपनी उन्नति के भार से ही कुचली जा कर अधमरी हो रही है। इसका त्राण उस मुक्त धर्म के वरण करने मे है, जिसके सहारे हम अध्यात्म के स्रोत मे प्रवेश पाकर अपनी आत्मा का अवगाहन कर सकते है।"

जिस मानवीय विकास का अगला कदम अरविन्द अतिमानस की भूमि को मानते है, उसकी प्रक्रिया का अगला सोपान, राधाकृष्णन के अनुसार, रहस्यवाद है। इस स्थल पर यदि गाँधी, अरविन्द और राधाकृष्णन की तुलना करें तो गाँधी का मत यह होगा कि मनष्य के आचार को सुधारो, जिससे वह विकास की दिशा मे और आगे बढे। अरविन्द का उपदेश होगा कि मनुष्य को अति-मनुष्य में रूपातरित करो। और राधाकृष्णन कहेंगे कि मनुष्य को शरीर के प्रलोभन से मुक्त करके आत्मा की ओर उन्मुख करो, उसे अपनी गहराइयो के साथ एकाकार होने दो।

---

१ ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट

प्रवृत्ति-निवृत्ति

हिन्दू धर्म, स्वभावत, निवृत्तिवादी है और अन्य धर्म, स्वभावत., प्रवृत्तिवादी है, इस मत को भी राधाकृष्णन नही मानते। उनका विचार है कि हिन्दुत्व मे उतनी ही निवृत्ति है जितनी अन्य धर्मो मे देखी जा सकती है। वस्तुत, सभी धर्म अति सासारिकता का विरोध करते आये है। जब तक मनुष्यो पर धर्म का प्रभाव रहा, समाज मे अशिक्षा और अन्धविश्वासो के रहते हुए भी, आज की अपेक्षा अधिक शाति और सद्भाव था। किन्तु, ज्यो-ज्यो ज्ञान की वृद्धि हुई और धर्म का अनादर बढा, त्यो-त्यो, समाज मे अशाति की भी वृद्धि होती गयी। हाल मे, पश्चिमी जगत् ने विज्ञान और तकनीक मे जो आश्चर्य-जनक उन्नति की है, समाज और राजनीति में जो प्रगति की है, उससे वहाँ का धर्म प्रवृत्तिमार्गी कहा जाने लगा है। किन्तु, सभ्यता है क्या? अथवा क्या पाश्चात्य सभ्यता ही सभ्यता का एक-मात्र मानदड है? क्या पश्चिम की उन्नति और पूर्व का पतन धर्म के कारण हुआ है? क्या पश्चिम और पूर्व के लोग अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे धर्म के पथ-प्रदर्शन में चल रहे है? रोगो और वासनाओ की जो लीला पश्चिम में चल रही है, वह क्या धर्म की देन है? और क्या तीन-चार सौ साल पहले पश्चिम और पूर्व के धर्मो मे वही भेद था, जो आज दिखायी दे रहा है? बात यह है कि कार्यकारी मनुष्य (एक्जेक्यूटिव मैन) वैचारिक (रेफ्लेक्टिव) मनुष्य से बहुत आगे निकल गया है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन के आध्यात्मिक मूल्य और उसकी गहनता मे वृद्धि लायी जाय। ससार को आदर्श नही, आदर्शो को काम मे लाने का उत्साह चाहिए। विश्ववाद का आदर्श काफी पुराना है। वह ससार के कार्यक्रम (एजेण्डा) मे बहुत दिनो से पडा हुआ है। पर, वह आत्मा कहाँ है जो शरीर को सजीव करे? स्वय धर्म को पुनर्जन्म लेना है। यदि विश्व भर के मनुष्य एक होकर आगे नही बढते, तो पृथ्वी पर दूसरा तिमिराच्छन्न युग छा कर रहेगा।"[१]

विवेकानन्द और तिलकजी इस बात से चिंतित थे कि धर्म कही भारतवासियो को निष्क्रिय न बना डाले। अतएव, उन्होने बार-बार यह बतलाने की चेष्टा की कि हिन्दुत्व निवृत्तिवादी नही है, न धर्म से सासारिक कर्मो का विरोध ही होता है। यह चिन्ता राधाकृष्णन में भी प्रत्यक्ष है। किन्तु, वे सत्य के दूसरे पक्ष को भी नहीं भूले। धर्म का वास्तविक गुण यह है कि वह मनुष्य को सासारिकता मे विलीन होने से बचाता है। यदि धर्म अपने इस स्वभाव को छोड दे तो आधिभौतिक शक्तियाँ उसका गला घोट डालेगी। "धर्म ने ससार के साथ समझौता कर लिया, यह बुरा हुआ। धर्म बहुत अधिक प्रवृत्तिमार्गी हो गया है। पहले जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धर्म से सेवित था, किन्तु,

---

१ ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट

२. भविष्य तो अज्ञात है, किन्तु, अतीत यह चेतावनी देता है कि ससार अन्त मे उन्ही

आगे चल कर धर्म ने विभाजन स्वीकार कर लिया। "मै आत्मा की मुक्ति का साधन हूँ और राजनीति समाज की मुक्ति का दूत, यह मान कर धर्म राजनीति से अलग हो गया। इस प्रकार, धर्म ने सभ्यता को उसके सबसे बडे शत्रु के हवाले कर दिया है।"[1] कल्याण का मार्ग यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रवेश हो। राजनीति चाहे कितनी भी मलिन हो, किन्तु, आज के युग मे अधिक-से-अधिक मनुष्यो से सबंध बनाये रखने का काम वही कर रही है। अतएव, इस युग मे राजनीति धर्म की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन बन सकती है। वस्तुत, राजनीति के भीतर जब तक धर्म की स्थापना नही होगी, ससार को धार्मिक मूल्यो के लाभ दिखायी नही देंगे।"[2]

सभ्यता का शाप

मनुष्य का सारा विश्वास इस बात पर केन्द्रित हो गया है कि सत्य वह है,जो प्रमाणित किया जा सके। जो चीज थाही नही जा सकती, जो चीज गणित के भीतर जाँची नही जा सकती, वह असत्य है। हमारी आत्मा की गहराई से जो अस्पष्ट आवाज आती है, उसे लोग अवैज्ञानिक कल्पना का नाम देते है। धर्म को वे कविता की एक किस्म कहते है (सतायना), धर्म को वे पौराणिक अन्धविश्वास कहते है (क्रोसे) तथा धर्म को वे पतनशील समाज का नशा बतलाते है (लेनिन)। इनकी दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन छल है, प्रवचना और स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति अपना पैगम्बर आप बन रहा है। परिणाम यह है कि कोई भी किसी दूसरे की बात समझ नही पाता। हम जिस दुनिया मे जी रहे है, वह बुद्धिवादी पैगम्बरो की दुनिया है, वह स्वार्थ में डूबे हुए व्यक्तियो की दुनिया है, वह ऐसी दुनिया है जिसमें औद्योगिकता और पूँजीवाद से निकली हुई एक भयानक आर्थिक पद्धति राज कर रही है, जिसमें तकनीकी सफलताओ और बाहरी जीतो की धूम है, जिसमें शारीरिक सुविधाओ और पाशविक विलासिता की सामग्रियो की बाढ है, जहाँ सार्वजनिक जीवन मे भी अनियत्रित लिप्सा का अनन्त साम्राज्य है,जहाँ पाशविकता और रक्तपात का सहारा लेकर तानाशाही फैल रही है, जहाँ नास्तिकता का आदर तथा धर्म और आत्मा की उपेक्षा सबसे बडा आचार है, जहाँ कोई भी चीज स्थिर नही है, जहाँ कोई भी विचार दृढता नही रखता और जहाँ मनुष्य के पास भरोसा नाम की कोई भी चीज शेष नही है। जिन्दगी कार्नीवाल या सरकस का ऐसा रूप ले रही है, जिसका न

की शरण जाता है जो अ-ससारी है, जो लोक मे रहकर भी उसमे आसक्त नही होते। (ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट)

१. वही

२ विश्वबधुत्व के आदर्श को माननेवाले धर्म की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए जितना सफल माध्यम राजनीति हो सकती है, उतना और कुछ नही।
(एजुकेशन, पालिटिक्स एण्ड वार)

तो कोई ढाँचा दिखायी देता है, न कोई लय, न कोई ताल। मनुष्य के भीतर वसने वाले ईश्वरीय रूप की उपेक्षा करने से आदमी बीमार हो गया है, उसकी आत्मा रुग्ण हो गयी है। विचार और सकल्प को ताक पर रख कर अज्ञात लक्ष्य की ओर वढते जाना सतोषदायी कार्य नही कहा जा सकता। शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो जाने पर भी मनुष्य को शाति नही मिल सकती। तब भी कडुवाहट उसके मन को उद्वेलित करेगी, उसकी शाति को भग करेगी। प्रकृति इतनी पालतू तो बनायी नही जा सकती कि वह पग-पग पर मनुष्य की आज्ञा मे चले। जब तक पूर्णता के दर्शन नही होते, जब तक सनातनता की झाँकी नही मिलती, तब तक मन की शाति बहुत दूर की आशा रहेगी। सुखो की जननी सुरक्षा की भावना है और यह भावना प्रकृति पर मानवीय आधिपत्य से आनेवाली नही है। इसके लिए हमें वस्तुओं पर नही, अपने-आप पर स्वामित्व पाना होगा।[1]

---

१ द स्पिरिट ऑव् मैन

प्रकरण १५

मुस्लिम-नवोत्थान

इस्लाम का अन्तर्राष्ट्रीय रूप

हिन्दुत्व की तुलना मे इस्लाम अन्तर्राष्ट्रीय धर्म है, क्योकि मुसलमान कुछ-कुछ सारे ससार मे फैले हुए है और, सब के बीच, एक प्रकार की धार्मिक एकता का तार अनुस्यूत है। देशो के हिसाब से मुसलमानो की सबसे अधिक सख्या (लगभग ७ करोड) इन्डोनेशिया मे है। पाकिस्तान में उनकी सख्या ६ करोड ६० लाख और भारत में ४ करोड ३० लाख है। इस प्रकार, विभाजन के बाद भी, भारत तीसरा देश है जहाँ मुसलमानो की सख्या सर्वाधिक है। टर्की मे मुसलमान १ करोड ७० लाख, ईजिप्ट में १ करोड ६० लाख, ईरान मे १ करोड ३० लाख, अफगानिस्तान में १ करोड, ईराक में कोई ४५ लाख और सउदी अरब में कोई ३५ लाख हैं। किन्तु, उनकी सख्या इतनी ही नही है। मुसलमान चीन (२ करोड ५० लाख), श्याम (५ लाख), हिन्दचीन (४ लाख), श्रीलका (५ लाख), फिलीपाइन्स (३ लाख), सूडान (२० लाख), फासीसी गिनी (२० लाख), पुर्तगाली गिनी (२ लाख), पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका (१० लाख से कुछ कम) और मादागास्कर (७ लाख) में भी है। इसके सिवा, मुसलमान जहाँ-तहाँ यूरोप में भी हैं। यूगोस्लाविया में वे १५ लाख, अलबानिया मे ७॥ लाख, बुलगेरिया में ८ लाख, रूमानिया मे २ लाख, यूनान में १॥ लाख, फ्रांस में १॥ लाख तथा पोलैंड में १२ हजार है। इस प्रकार की उनकी छिटपुट आबादी ससार के और देशो में भी है।[1] अनुमान यह है कि सारे ससार में कोई तीस करोड़ मुसलमान बसते है।

अठारहवी सदी के बाद से जैसे एशिया पर यूरोप का आतक रहा है, कुछ वैसा ही आतक मध्यकालीन यूरोप पर एशिया का था और यह आतक हिन्दुओ, बौद्धो, कनफ्यूशियस-धर्मावलंबियो का नहीं, प्रत्युत, इस्लाम के धर्म-योद्धाओ का था। मगोल-जाति के इस्लाम में दीक्षित होते ही मुसलमानो की तलवार एक बार फिर चमक उठी और वे यूरोप की ओर बढने लगे। "१५वी सदी के अन्त मे पाश्चात्य सभ्यता पश्चिमी और केन्द्रीय यूरोप तक ही सीमित थी और वह तूरानी बर्बरो के साथ केवल रक्षापरक युद्ध लड रही थी एव उस युद्ध का भी कोई अनुकूल परिणाम दिखायी नही देता था। रूस मगोल-तातारो के पैरो के नीचे पडा था और तुर्क लोग दक्षिण-पूर्व से आगे बढकर यूरोप की छाती पर पाँव रखने की तैयारी मे थे। एशिया, उत्तरी अफ्रीका और पूर्वी यूरोप

---

१ द इस्लाम टु-डे—लेखक ए० जे० आरबेरी तथा मुस्लिम्स इन इंडिया (प्रकाशक सूचना-विभाग, भारत-सरकार)

को अपनी अधीनता में रखे हुए, तूरानी वर्वर-समूह इतना अजेय था कि यूरोपीय सभ्यता अपनी रक्षा के लिए दीवार से पीठ लगा कर जूझ रही थी।"[१]

किन्तु, इसी समय, यूरोप में रिनासाँ (नवोत्थान) की लहर उठी और ईसाई विद्वान् विज्ञान की ओर अग्रसर होने लगे। यह ऐसा समय था जब एशियाई देशो के लोग तो रूढियो और अन्धविश्वासो में अधिकाधिक जकडे जा रहे थे, किन्तु, यूरोप के लोग इन कुसस्कारो से छूटने लगे थे। पूर्व में तो धर्म के नाम पर अन्धविश्वासो का अन्धकार छाया हुआ था, किन्तु, पश्चिमी क्षितिज पर विज्ञान का बाल-सूर्य उदय ले रहा था। स्पष्ट ही, पासा पलटने का समय आ गया था। एशिया की इस्लामी तलवार ने यूरोप को शारीरिक बल से दबोच रखा था। अब यूरोप बुद्धि के बल से अपनी पराजय का बदला चुकानेवाला था। रिनासाँ के फलस्वरूप, यूरोप में ज्ञान की नयी जागृति उठी और लगभग इसी समय कोलम्बस ने अमरीका तथा वास्को डि गामा ने भारत के समुद्री मार्ग का पता लगा लिया। यही से यूरोप के विश्व-नेतृत्व का श्रीगणेश होता है।

विज्ञान ने यूरोप के भीतर ज्ञान के अद्भुत चक्षु खोल दिये एवं कोलम्बस तथा गामा के अनुसधानो ने उसे समुद्र का सम्राट् बना दिया। यूरोप के लोग व्यापार के लिए सारे ससार में फैलने लगे और सारे ससार का धन निचुड कर धीरे-धीरे यूरोप पहुँचने लगा। धन से सुविधा बढती है और जीवन की सुविधाओ से ज्ञान-विज्ञान, शक्ति और सस्कार, सब की वृद्धि होती है। यूरोप में भी इन सभी गुणो की वृद्धि हुई और उसी परिमाण में एशिया के ये गुण छीजते गये। नतीजा यह हुआ कि इस्लाम की चमकती तलवार भोथी पड गयी और बडे-बडे वीर और सुलतान यह समझ ही न सके कि यूरोप की इस बढती का मुकाबला कैसे किया जाय। जिसके आतक से यूरोप सदियो पीड़ित रहा, उसी के हाथ की तलवार को ज्ञान और वाणिज्य से कुंठित करके उसने, मानो, इस सत्य को फिर से प्रमाणित कर दिया कि बल उसीके पास होता है, जो बुद्धि का स्वामी है तथा जातियाँ जैसे सस्कारो में जीती है, उनके कर्त्तव्य भी वैसे ही हो जाते है।

उन्नीसवी सदी के आते-आते, यूरोप और इस्लामी राज्यो का कोई मुकाबला नहीं रह गया। कहाँ इस्लाम के एशियाई राज्य, जो अन्धविश्वासो में डूबे हुए और विलासिता में विभोर थे! और कहाँ यूरोप का वह रूप जो औद्योगिक क्राति और रिनासाँ के प्रभाव से, पूर्णत, जागरूक और चैतन्य था, जिसके हाथ में विज्ञान ने नयी-नयी शक्तियाँ धर दी थी, जो आविष्कारो और अनुसधानो के द्वारा प्रकृति के तमाम रहस्यो को उधेड़ कर देख रहा था तथा जिसके भीतर यह भावना जग रही थी कि एशिया के लोग असभ्यता की अवस्था में है तथा यूरोप सब से ऊँचे मानवो का देश है! परिणाम वही हुआ जिसकी आशा की जा सकती थी। एक-एक करके सभी इस्लामी देश यूरोप की अधीनता में

१ The New World of Islam by Stoddard.

चले गये। इग्लैण्ड ने भारत और ईजिप्ट को जीत लिया। रूस कौकेशस के पार जा कर मध्य एशिया का स्वामी बन बैठा। फ्रास ने उत्तरी अफीका को अधिकृत किया। हालैण्ड ने इण्डोनेशिया को दास बनाया एव इस्लाम के द्वारा अधिकृत और भी सारे भू-भाग किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति की राजनैतिक अथवा आर्थिक अधीनता में चले गये। इस्लाम के प्रति यूरोप का यह द्रोह-भाव प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में होनेवाली सधि-वार्त्ता में और भी प्रत्यक्ष हुआ जब सन्धि के शर्तनामे के अनुसार टर्की का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया और ससार मे कोई भी ऐसा इस्लामी राज्य नही रह गया, जो अपने को स्वाधीन कह सके।

यूरोप के एशिया मे आगमन के समय, भारत में हिन्दुओ का जैसा हाल था, सारे ससार में मुसलमानो की उससे अच्छी स्थिति नही थी। सच पूछिये तो यूरोप के उत्थान के समय सारा एशिया सोया हुआ था। हिन्दुओ की वह गरिमा शेष हो चुकी थी जिसके कारण उन्होने दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, कला-कौशल और कारीगरी मे उतनी उन्नति की थी। चीनियो में वह कार्यशीलता और उत्साह नही रह गया था, जिसके कारण प्राचीन विश्व मे उन्होने अनेक वस्तुओ (कागज, बारूद, चीनी बनाने की कला आदि) का आविष्कार किया था। यदि भारतवासियो और चीनियो में पहले वाली जिज्ञासा बनी रही होती, तो वास्को डि गामा के भारत आने से पहले ही भारत अथवा चीन के लोग यूरोप पहुँच गये होते।

और इस्लाम भी अपने मूल रूप से हट कर बहुत विकृत हो गया था। "जैसे मुसलमानो की अन्य शक्तियाँ छीज चुकी थी, वैसे ही, उनका धर्म भी विकृत हो गया था। हजरत मोहम्मद के कठोर एकेश्वरवाद पर अन्ध-विश्वास एव रहस्यवाद की मोटी परतें जम चुकी थी। जनता मूढ हो चुकी थी। अब वह मस्जिद जाने को भी उत्सुक नही थी। उसकी जगह अब वह जादू, मन्तर, सगुन और इस्तखारे मे ज्यादा यकीन रखने लगी थी। वह चमत्कार दिखानेवाले फकीरो को अपना धर्म-गुरु मानती थी एव पीरो और औलियो की कब्रो की पूजा करने की ओर उसका अत्यधिक झुकाव था। कुरान के नैतिक नियम तो विद्यमान थे, किन्तु, अब या तो उनकी उपेक्षा की जा रही थी अथवा अवज्ञा। शराब और अफीम का प्रचार, प्राय, हर एक घर मे था। वेश्यावृत्ति का प्रचलन बेतरह बढ गया था। मक्का और मदीना-जैसे पवित्र नगरो मे भी दुराचार के अड्डे फैल गये थे। नबी ने जिस तीर्थ-यात्रा को जीवन का परम धर्म बतलाया था, वही अब पापाचार का साधन बन गयी। सक्षेप में, इस्लाम के भीतर से उसकी रूह निकल चुकी थी। जो बच गया था, वह प्राणहीन छिलका मात्र था, अन्ध-विश्वासो और रूढियो का कचरा मात्र था। ऐसे समय, यदि मोहम्मद पृथ्वी पर आये होते, तो निश्चय ही, वे अपने अनुयायियो को बुतपरस्त काफिर के सिवा कुछ और नही समझते।"[1]

१ The New World of Islam by Stoddard

वहाबी आन्दोलन

किन्तु, जब अन्धकार सघन हो रहा था और इस्लामी जनता मूल-धर्म से अलग हट कर रूढियो और अन्ध-विश्वासो मे जकडी जा रही थी, ठीक उसी समय, इस्लाम का प्राचीन तेज बाहर निकला और इस्लाम के जन्म-स्थान, अरब के रेगिस्तान में, एक धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिससे रूढियो और कुरीतियो को झाड़ गिराने मे इस्लाम को बहुत बडी सहायता मिली। इतिहास मे यह आन्दोलन वहाबी आन्दोलन के नाम से विख्यात है।

वहाबी आन्दोलन के प्रवर्तक मुहम्मद इब्न-अब्दुल वहाब थे। जिनका जन्म सन् १७०० ई० के करीब अरब-देश के नज्द प्रात में हुआ था। स्टोडार्ड ने लिखा है कि इस्लाम के इस विश्वव्यापी पतन के काल मे भी, नज्द ही ऐसा प्रात था जहाँ लोग पूर्ण रूप से पतित नही हुए थे तथा जहाँ अब भी धर्म का दीपक झिलमिला रहा था। अब्दुल वहाब बचपन से ही विचारशील थे। उन्होने बचपन में ही हज की यात्रा की थी तथा मदीने मे काफी साल रहकर उन्होने इस्लाम के मौलिक साहित्य का अध्ययन भी किया था। इस्लाम का गभीर अध्ययन करते-करते उनका ध्यान तत्कालीन इस्लाम के पतन पर गया और रूढियो, अन्ध-विश्वासो एव कुरीतियो के विरुद्ध उनके भीतर सात्विक क्रोध के भाव भर गये। सन् १७४० ई० तक उन्होने खुल कर अपने मतो का प्रचार नही किया, किन्तु, उसके बाद, अपने पिता की मृत्यु होते ही उनके भीतर से सुधार की धारा फूट पड़ी। "जीवन के भीतरी और बाहरी विलासो की उन्होने कड़े शब्दो में निन्दा प्रारम्भ की। पीरो, औलियो तथा अन्य मानवो की पूजा एवं उनकी कब्रो की आराधना के खिलाफ उन्होने युद्ध-घोषणा कर दी। तसव्वुफ और सूफी-मत की आलोचना वे इसलिए करने लगे कि सूफी इस्लाम के नियमो का उल्लघन करते थे। फकीरो एवं साधुओ की पूजा को वे घृणित पाप बताने लगे। उलमाओ के द्वारा कुरान की की जाने वाली व्याख्याओ को उन्होने अमान्य बताया और लोगो से यह कहा कि कुरान का अर्थ तुम्हे सुन्नत के प्रसग मे समझना चाहिए और पडितों के मतवाद के फेरे मे नही पडना चाहिए। कुरान का, कल्पना से जो अर्थ लगाया जाता था, उसे उन्होने बिल्कुल रोक दिया एव परपरा से जो अर्थ मान्य समझा जाता था, उसे ही उन्होने प्रामाणिक ठहराया। बदलती हुई परिस्थितियो के साथ अपने को बदल कर युगानुरूप बनाने के लिए इस्लाम ने जो भी प्रयास किये थे, उन्हे वहाब ने एक-बारगी काट दिया और समाज को उन्होने लौटा कर उस स्थान पर ले जाना चाहा जो इस्लाम की आरभिक पवित्रता का स्थान था।"[1]

टर्की के सुलतान मुराद ने तम्बाकू पीने पर रोक लगा रखी थी। एक दूसरे सुलतान ने काफी पीने की मनाही कर रखी थी। ये धार्मिक नही, राजकीय फरमान थे। अब्दुल

---

१ Modern Movements in Islam by Julius Germanus

वहाव ने रोको की जो धार्मिक सूची तैयार की, उसमें तम्बाकू और काफी ही नही, वल्कि, संगीत, रेशम, सोना, चाँदी और हीरे भी आ गये क्योकि ये सामग्रियाँ भी विलासिता की थी। वुजुर्गों की कब्रो की कौन कहे, हजरत मोहम्मद की कब्र पर जा कर पूजा करने को भी उन्होने शिर्क करार दिया।[1] सूदखोरी इस्लाम मे पाप समझी जाती थी, किन्तु, इस पाप से फायदा उठानेवाले लोगो की कमी नही थी। अब्दुल वहाव इस पाप पर अग्नि के वेग से टूटे और, इस प्रकार, धार्मिक जनता के साथ-साथ वे निर्धन मुसलमानो के भी श्रद्धा-भाजन हो उठे।

सारी गरीव जनता अब्दुल वहाव की पूजा करने लगी। किन्तु, अमीरो का वर्ग भीतर-भीतर उनसे जलने लगा। उलमा और मुल्ले तो सदा धनवानो का साथ देते रहे हैं। जव उन्होने देखा कि धनिक वर्ग वहाव के विरुद्ध है, तव उलमाओ ने वहाव को काफिर वताना शुरू किया। किन्तु, वहाव कव चूकनेवाले थे? जनता तो उनके साथ थी। उन्होने भी उलमाओ को काफिर घोषित कर दिया और उनके विरुद्ध धर्म-युद्ध की घोषणा कर दी।

किन्तु, इन विरोधो के वावजूद उन्होने अपने धार्मिक आचरण मे कभी भी शिथिलता नही आने दी। वे केवल उपदेष्टा नही थे। वे जो कुछ वोलते थे, वही करते भी थे। कुरान की सारी आज्ञाएँ उन्हे मान्य थी। वे अपने को खुदा का वन्दा मात्र मानते थे और यह कहना कभी नही भूलते थे कि "मेरी वातो पर भी सोच-समझ कर ही विश्वास करो। मै भी इसान हूँ और मेरी वातें भी गलत हो सकती है।"

अब्दुल वहाव के आन्दोलन का उद्देश्य इस्लाम के उस रूप को वापस लाना था जिसकी रचना हजरत मोहम्मद ने की थी और जिसका विकास आरभ के चार खलीफो ने किया था। आरभिक इस्लाम ईश्वर के सिवा और किसी की पूजा नही करता था। उसमें वैराग्य-वृत्ति का अभाव था। उसमे सामाजिक कुरीतियाँ नही थी, न उसमें मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद था। अब्दुल वहाव चाहते थे कि नवी और आरभ के खलीफो के वाद से इस्लाम में जो रूढियाँ वनती आयी है एवं, समय-समय पर, इस्लाम के सिद्धान्तो की जो युगानुरूप नयी-नयी व्याख्याएँ की गयी है, वे सारी अमान्य कर दी जायँ और इस्लाम का वही रूप सर्व-प्रचलित किया जाय, जिसका प्रवर्त्तन नवी ने किया था।

यह अतीत की ओर चलने का सकेत था। यह इस्लाम को घसीट कर फिर से सातवी सदी में ले जाने का आग्रह था। वहावी आन्दोलन की इस प्रवृत्ति पर खीज कर लार्ड क्रोमर ने लिखा है कि "इस्लाम सुधारो का विरोधी है, यानी सुधरा हुआ इस्लाम,

---

१ आगे चल कर वहावियो ने मोहम्मद साहव की कब्र को भी तोड डाला और उसमें सदियो से जो चढावे चढे थे, उन्हे लूट लिया। कावे की जरी कालीन भी वे लूट ले गये। तीर्थ-यात्रियो को तो वे इस कदर लूटने लगे कि थोडे दिनो के लिए हज की यात्रा ही वन्द हो गयी थी।

इस्लाम नही, कोई और चीज है।"[१] इस्लाम के सबध मे फ्रासीसी दार्शनिक रेनान (Renan) के भी, प्राय, ऐसे ही विचार है। किन्तु, यह दोष सिर्फ इस्लाम मे ही नही है। और भी धर्म है जो इस दोष से पीडित है। बात यह है कि कला-कौशल, इतिहास, दर्शन और विज्ञान की उन्नति का मार्ग यह समझा जाता है कि लोग गलत बातो को छोड कर सही बातो मे विश्वास करे। किन्तु, धर्म के मामले मे उन्नति का मार्ग कुछ और हो जाता है। जनता की मूढ धारणा यह होती है कि इतिहास, दर्शन और विज्ञान में गलतियाँ हो सकती हैं, जिन्हे छोडकर सही बातो को अपना लेना ठीक है। किन्तु, धर्म का सच्चा रूप तो वही हो सकता है, जिसका आख्यान उसके मूल-प्रवर्त्तक ने किया है। परिणामत, रिनासाँ, नवोत्थान या धार्मिक जागरण के समय लोग आँख मूँद कर पीछे की ओर चलने लगते है। हिन्दुत्व के जागरण के क्रम में भी यही हुआ। यहाँ भी राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने (विशेषत स्वामीजी ने) जनता से कहा कि धर्म तुम्हारा वह है, जिसका आख्यान वेदो ने किया है, वह नही जिसका वर्णन शास्त्रो और पुराणो मे मिलता है। कुछ यही भाव इस्लामी सुधारको में भी रहा है। अब्दुल वहाब से बहुत पूर्व, प्राय, चौदहवी सदी मे अरब मे इब्ने-तिमैया नाम के सुधारक हुए थे। उनका भी यही भाव था और सारी जिन्दगी वे लोगो को इस बात के लिए सजा दिलवाते रहे कि उन्होने इस्लाम के परपरागत नियमो का उल्लघन किया था।

यहाँ भारत में अकबर के धार्मिक सुधारो के विरुद्ध शेख अहमद सरहिन्दी ने जो आन्दोलन चलाया था, उसका आगे आनेवाले वहाबी आन्दोलन से खासा मेल था। फर्क केवल यह रहा कि वहाब साहब के कुछ सुधार गरीबो के हक मे अच्छे और अमीरो के हक मे खराब थे। इस लक्षण को छोड दे तो शेख अहमद सरहिन्दी, इब्ने तिमैया, औरंजेब, वहाब, हाली और इकबाल ने इस्लाम के लिए जो कुछ किया, वह लगभग एक ही प्रकार का कार्य था।

जब से नज्द के सऊद-खान्दान के सरदार मोहम्मद अब्दुल वहाब के शिष्य हुए, वहाबियो का जोर बहुत अधिक बढ गया और वे धर्म के साथ राजनैतिक प्रभुता का गठ- बन्धन करके सारे ससार के मुसलमानो को एक छत्र के नीचे लाने का स्वप्न देखने लगे।

अब्दुल वहाब की मृत्यु (सन् १७८७ ई०) के बाद, सऊद वहाबी-सम्प्रदाय के नेता हुए। प्रतिष्ठा मे उनका राज्य अबूबक्र और हजरत उमर की खिलाफत की याद दिलाने लगा, क्योकि मुसलमान उन्हे अपना धार्मिक गुरु भी मानते थे तथा राजनैतिक नेता भी। सऊद का देहान्त सन् १८१४ ई० मे हुआ। किन्तु, तब तक वहाब-सम्प्रदाय शक्ति और

१ "Islam cannot be reformed, that is to say, reformed Islam is no longer Islam, it is something else" (Modern Egypt (vii) by Lord Cromer)

धार्मिक प्रतिष्ठा मे इतना उन्नत हो चुका था कि लोग उसे प्राचीन खिलाफत का सहज उत्तराधिकारी मानने लगे थे।

चूँकि वहाबी लोग सऊद-राज्य को खिलाफत का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे, इसलिए, टर्की के सुलतान से उनका विरोध हो गया, क्योकि खिलाफत का ओहदा अभी टर्की के ही सुलतान के पास था। टर्की का सुलतान जानता था कि वहाबियो मे जो धार्मिक उन्माद है, उसके सामने कोई भी मुस्लिम देश घुटने टेक सकता है। अतएव, सुलतान ने अल्बानिया के मोहम्मद अली से सन्धि की और यूरोपीय बन्दूको के सहारे उसने वहाबियो को मिट्टी चूमने को लाचार कर दिया।

किन्तु, यह वहाबियो की सामरिक पराजय मात्र थी। आध्यात्मिक दृष्टि से वे तब भी मुसलमानो के धार्मिक नेता बने रहे। इस्लाम को प्राचीन गरिमा पर फिर से प्रतिष्ठित करने का स्वप्न वहाबी लोग, हमेशा, मुसलमानो मे फैलाते रहे और मक्का मे हज करने को जो भी मुसलमान जाते, उनके जरिये वहाबियो का यह सदेश आसानी से विश्व के कोने-कोने मे पहुँचता रहा।

भारत में वहाबी आन्दोलन

मक्का जानेवाले हाजियो के द्वारा ही इस आन्दोलन का सदेश अरब से भारत पहुँचा। अरब, सीरिया, मिश्र और ईरान मे इस्लाम जिस दुरवस्था मे जा फँसा था, भारत मे उसकी उससे अच्छी अवस्था नही थी। हिन्दू-समाज से जो लोग निकल कर इस्लाम मे दीक्षित हुए थे, वे अपने साथ हिन्दुओ की बहुत-सी तथाकथित कुरीतियाँ भी ले गये थे। सत पीर और पज पीर की पूजा मुसलामानो मे भी थी, जो हिन्दुओ के सत्यनारायण-पूजन की याद दिलाती थी। मूर्त्ति-पूजक में हिन्दुओ के समान भारत के मुसलमान भी कब्रो की पूजा करते थे, वहाँ मिन्नते माँगते और चढावा चढाते थे। गाँवो में मुस्लिम जनता भी चेचक से बचने के लिए शीतला माता की पूजा करती थी एव सुख-वृद्धि के लोभ से अनेक देवी-देवताओ को पूजती थी। हिन्दुओ का सगुन-विचार, सधवा स्त्रियो का सिंदूर लगाना तथा नथ और शख की चूडी पहनना एव दहेज और श्राद्ध, ये सारे आचार, हिन्दुओ के समान, मुसलमानो मे भी प्रचलित हो गये थे (तथा अब भी प्रचलित है)। यही नही, हिन्दुओ की जाति-प्रथा भी मुसलमानो में घुसी और वे भी शरीफ और रजील जातो मे बँट गये। सक्षेप में, उलमा और मुल्ला तथा मुट्ठी भर जागरूक मुसलमान चाहे जैसे भी रहते हो, किन्तु, मुस्लिम जन-साधारण के रस्म-रिवाज, अधिकतर, वे ही थे जो उनके पडोसी हिन्दुओ मे फैले हुए थे। यह हमारी सामासिक सस्कृति की सामग्री थी, जिसे दोनो जातियो के लोग प्यार से देखते थे। यह ठीक है कि शेख अहमद सरहिन्दी तथा उसके उत्तराधिकारियो ने इन कुरीतियो के खिलाफ मुस्लिम जनता में काफी उत्तेजना फैलायी थी। किन्तु, ये आदते तब भी चलती रहीं। मगर,

अब अरब के वहाबी आन्दोलन से प्रेरणा ले कर भारत के उलमा भी इस्लाम को उन कुरीतियो से मुक्त करने के काम मे लग गये। यद्यपि, इस बात का उन्हे तनिक भी ज्ञान नही था कि सुधारो के जरिये वे मुसलमानो को हिन्दू-समाज से अलग कर रहे है।[१]

सन् १८०४ ई० के लगभग हाजी शरीयत उल्लाह ने बहादुरपुर (जिला फरीदपुर, बगाल) मे किसान-आन्दोलन का आरभ किया। उनके अनुयायी फरायजी कहलाते थे। इन लोगो ने इस्लाम पर पडे हुए हिन्दू-प्रभावो को गर्हित बतलाया और जनता से कहा कि इन प्रभावो से निकल कर उस मार्ग पर आओ जो शुद्ध कुरान का मार्ग है। उन्होने यह भी कहा कि भारत पर अब मुसलमानो का राज्य नही है, अतएव, यह देश दारुल-हरब (शत्रु-देश) हो गया है। इसलिए, मुसलमानो को चाहिए कि वे इस देश मे जुम्मे की नमाज पढना छोड दे। जो लोग इस उपदेश को मानने पर आमदा हुए, वे बेजुम्मा कहलाने लगे। शरीयत-उल्लाह की मृत्यु के बाद, उनके बेटे दुधू मियाँ ने उनके उपदेश को जोर-शोर से फैलाया तथा दूधू मियाँ के समय मे पूर्वी बगाल मे बेजुम्मा-सप्रदाय की सख्या काफी बडी हो गयी।

परन्तु, भारत मे वहाबी आन्दोलन के सब से प्रभावशाली नेता रायबरेली के सैयद अहमद हुए। सन् १८२२ ई० मे उन्होने मक्का की तीर्थ-यात्रा की और वही वे वहाबी आन्दोलन के मूल-प्रवर्त्तको के सपर्क मे आये। वही उन्होने यह प्रभाव भी ग्रहण किया कि विलासिता और आराम-तलबी इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध है एव यूरोपीय जातियाँ इस्लाम से शत्रुता रखती है। सैयद अहमद ने भारत मे भी सारे देश की यात्रा की और अपने धर्म-बन्धुओ को बताया कि उनका धर्म कितना रूढिपूर्ण हो गया है तथा कैसे वे रूढियो को छोड कर धर्म के वास्तविक मार्ग पर आ सकते है। कुरान और हदीस मे जिनका उल्लेख नही है, उन रीति-रस्मो, आचारो और विश्वासो को उन्होने इस्लाम-विरोधी माना एव कुरान और हदीस की नयी व्याख्याओ को भी उन्होने गलत कहा। उनके भाषणो के भीतर से इस्लाम की आरभिक पवित्रता और गरिमा, दर्पण की भाँति, चमक उठी एव जनता उन्हे बडे ही आदर से देखने लगी। उनके उपदेश भी मुल्लो और अमीरो के विरुद्ध पडने लगे और इन दोनो वर्गो के लोगो ने सैयद अहमद का भी वैसा ही विरोध किया, जैसा विरोध उन्होने नज्द मे अब्दुल वहाब का किया था। किन्तु, इन विरोधो से भारत के वहाबी नही दबे। ज्यो-ज्यो, अमीर-उमरा और उलमा उनका विरोध करते थे, त्यो-त्यो, जन-साधारण और अधिक उनके साथ होता जाता था। किन्तु, अन्ततोगत्वा, वहाबियो पर ब्रिटिश सरकार की शनि-दृष्टि पड गयी। सैयद अहमद ने भी एलान किया था कि भारत पर मुसलमानो का राज्य नही रहने के कारण यह देश

१, Lower class Islam emerged from the reform purer, but more communalist —W C Smith (Modern Islam in India).

दारुल-हरब हो गया है और यहाँ के मुसलमानों को भी जिहाद का धर्म-सिद्ध अधिकार है। किन्तु, धर्म के भीतर से यह राजनीति झाँक रही थी, इसलिए, वहाबियों की अँगरेजों से ठन गयी और अँगरेज उनका दमन करने लगे, यहाँ तक कि थोड़े ही दिनों में भारत का वहाबी-आन्दोलन बिलकुल ठंढा पड गया।

भारत में सांप्रदायिकता के इतिहास की खोज करते-करते लोग वहाबी-आन्दोलन को भी उसका एक कारण मान लेते हैं। किन्तु, वहाबी-आन्दोलन, ठीक-ठीक, साम्प्रदायिक नहीं था। यह ठीक है कि भारत को दारुल-हरब बता कर वहाबियों ने सभी मुसलमानों को संगठित होकर इस्लाम की रक्षा के लिए तैयार होने का उपदेश दिया। किन्तु, यह बात हिन्दू-विरोधी नहीं कही जा सकती। धर्म-युद्ध का औचित्य भी यह नहीं था कि भारत में हिन्दू बसते थे, बल्कि, यह कि इस देश पर अँगरेजों का राज्य था। सिक्खों और बंगाल के जमींदारों के खिलाफ भी वहाबियों के संघर्ष का कारण आर्थिक था, धार्मिक नहीं। 'कलकत्ते के पास सन् १८३१ ई० में किसानों ने जो विद्रोह किया, उसमें उन्होंने पूरी निष्पक्षता के साथ हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही जातियों के जमींदारों पर धावा किया।" "किसी भी इलाके में वहाबियों के पहुँच जाने से ऐसे सभी वर्गों को खतरा रहता है जिनके पास संपत्ति है। पिछले पचास वर्षों से ऐसा हर एक मुल्ला वहाबियों के खिलाफ चिल्लाता रहा है, जिसके पास मस्जिद की बाड़ी में दस एकड भी जमीन है। पिछली आधी सदी में मुल्लाओं ने सैकड़ो फतवे देकर वहाबियों की निन्दा की है।"[1]

धार्मिक सहानुभूति के होते हुए भी अमीर मुसलमानों ने वहाबियों का विरोध किया। सैयद अहमद का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, किन्तु, व्यवहार में वहाबी आन्दोलन का आर्थिक पक्ष प्रधान हो गया एवं सांप्रदायिकता उसमें से कपूर के समान उड गयी। और आर्थिक संघर्ष के क्रम में भी इस आन्दोलन ने निचले तबकों के मुसलमानों को निचले तबकों के हिन्दुओं के खिलाफ नहीं उभारा, न उन्हें परस्पर एक होने को कहा। इस आन्दोलन के सचालकों ने, धर्म के नाम पर, गरीब मुसलमानों को अमीर मुसलमानों के साथ एकता स्थापित करने की भी सलाह नहीं दी। हाँ, यह कहा जा सकता है कि धार्मिक चिंतन की प्रक्रिया में इस आन्दोलन ने सांप्रदायिकता के उभरने की गुंजाइश छोड दी और बहुत-से मुसलमानों के मन को इसने इस प्रकार हिला दिया कि आगामी साम्प्रदायिक आन्दोलनों का प्रभाव उन पर पड सकता था।

इस्लाम और अंगरेजी राज

इस्लाम और ईसाई धर्मों में जो समानता है, उसका विवरण अध्याय के आरंभ में दिया जा चुका है। धर्म में जब कुरीतियाँ बढ़ जाती हैं, तब सुधारकों का जन्म होता

1 स्मिथ-कृत 'माडर्न इस्लाम इन इंडिया'

है। अरब के अब्दुल वहाब ऐसे ही सुधारक थे। किन्तु, भारत में वहावी-आंदोलन इसलिए भी लोकप्रिय हुआ कि यहाँ के इस्लाम में जो कुरीतियाँ आ गयी थी, उन्हे लेकर ईसाई धर्म-प्रचारक, हिन्दुत्व के साथ-साथ, इस्लाम की भी खिल्ली उडा रहे थे। और जैसे राममोहन राय, केशवचद्र सेन और स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म-प्रचारको का मुँह बन्द करने के लिए हिन्दुत्व के सपूर्ण नही, वल्कि, खडित रूप का समर्थन किया, उसी प्रकार, मुस्लिम सुधारको ने भी ईसाइयो से मोर्चा लेने को जिस इस्लाम का रूप प्रसिद्ध किया, वह परपरागत इस्लाम नही था, वल्कि, उस पर यूरोपीय वुद्धिवाद और मानवतावाद का पूरा प्रभाव था। इस्लाम की आलोचना भी ईसाई प्रचारक यही कह कर कर रहे थे कि यह धर्म मानवतावादी नही है, इस धर्म मे पर्दे का रिवाज है; यह धर्म स्त्रियो का आदर नही करता है और एक पति को कई पत्नियाँ रखने का अधिकार देता है; यह धर्म धर्म के नाम पर युद्ध करने को जायज वतलाता है, जो स्वय भारी अधर्म है तथा इस धर्म में वहुत-सी ऐसी वाते है, जो वुद्धिवाद की कसौटी पर खरी नही उतरती है।

यह आलोचना धर्म की कोई वड़ी आलोचना नही थी, किन्तु, ईसाई लोग इस स्थिति में थे कि वे ऐसी आलोचना भी जोर से कर सके। ईसाइयो की श्रेष्ठता हिन्दू और मुसलमान इसलिए तो माननेवाले थे नही कि इस्लाम या हिन्दुत्व ईसाइयत से हीन धर्म था। हाँ, यह वात जरूर थी कि ईसाई लोग साफ-सुथरे, पढे-लिखे, साहसी और विचार-वान् थे। साथ ही, वे शासक-जाति के सदस्य थे और इस जाति ने वैज्ञानिक साधनो के कारण अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी थी। भारत जो यूरोप को देखकर चौका, उसका कारण यह नही था कि यूरोप के पास कोई गभीर जीवन-दर्शन था, वल्कि, इस कारण कि वह साम्राज्यवादी था, औद्योगिक था और उसकी मनोवैज्ञानिकता श्रेष्ठ थी।

कल्पना कीजिये कि जब यूरोप मे औद्योगिक क्राति नही हुई थी, उस समय यदि यूरोप के किसान ईसाइयत का प्रचार करने के लिए भारत आते तो यहाँ के किसानो पर उनका क्या प्रभाव पडता। किन्तु, अब वह वात नहीं थी। ईसाइयत खुद जैसा भी धर्म रही हो, किन्तु, उसके अनुयायी सभ्यता में बहुत बढे-चढे थे और भारतवालो से वे धन, विद्या, शक्ति और साधन में, सहज ही, ऊँचे हो गये थे। इसलिए, ईसाइयत का रोव और प्रताप भी वढा-चढा था।

भारत में ईसाइयो ने अधिकतर हिन्दुओ को ही ईसाई वनाया, मुसलमान शिकार उन्हें वहुत कम मिले। इसका एक कारण तो यह था कि इस्लाम में छोटे और निर्धन लोगो पर भी धार्मिक अत्याचार नही था, जिससे गरीव मुसलमानो को अपना धर्म वदलने की जरूरत नही हुई। दूसरे, इस्लाम और ईसाइयत के वीच यूरोप मे जो सुदीर्घ संघर्ष रहा था, उसके सस्कार ने भी मुसलमानों को सतर्क रखा। तीसरी वात यह थी कि जैसे ब्राह्म-समाजियो ने हिन्दुत्व के भीतर से ईसाइयत से मिलते-जुलते एक नवीन धर्म की सृष्टि करके पढे-लिखे हिन्दुओ को ईसाई होने से वचाने की कोशिश की, उसी प्रकार,

इस्लाम के सुधारकों ने पुस्तकें रच कर तथा व्याख्यानों के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया कि इस्लाम और ईसाइयत, प्राय., एक ही धर्म है, उनमें कोई बड़ा भेद नहीं है। इसके सिवा, एक कारण यह भी रहा कि मुसलमान अँगरेजी शिक्षा से बिदके हुए थे और अँगरेजी खान-पान, पोशाक, विद्या और संस्कार, सब को वे अधार्मिक मानते थे।

अँगरेज और अँगरेजियत से प्रेम

यूरोपीय विचाधारा, अँगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कार, इनके प्रभाव हिन्दुत्व और इस्लाम पर भिन्न-भिन्न रूपों में पड़े। अँगरेजी भाषा का स्वागत पहले हिन्दुओं ने किया। अँगरेजी संस्कार भी पहले उन्होंने ही ग्रहण किया। किन्तु, इसके बाद ही, वे अँगरेजों के विरोधी हो गये और अँगरेजी शिक्षा-दीक्षा तथा सारे अँगरेजी संस्कारों से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव और विकास हुआ। मुसलमानों को, स्वभावत ही, अँगरेज जाति, अँगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कारों से घृणा थी। अतएव, आरंभ में, वे उनसे बचने की कोशिश करते रहे। मगर, जब वे अँगरेज, अँगरेजी और अँगरेजियत की ओर झुके तो फिर ऐसे झुके कि उनमें से बहुतों ने भारत को भुला ही दिया और वे अँगरेजों के परम राज-भक्त होने में ही अपना और अपने धर्म एवं समाज का कल्याण देखने लगे। यह परस्पर-विरोधी बात है। किन्तु, यह घटना भी अकारण नहीं घटी।

बात यह हुई कि अँगरेजों ने भारत का शासन मुसलमानों के हाथ से छीना था, अतएव, उनकी शंका भी सबसे अधिक मुसलमानों पर ही थी। बाद में, जब वहाबी-आन्दोलन उठा और सैयद के नेतृत्व में मुसलमान अँगरेजों के विरुद्ध संगठित होने तथा भारत को शत्रु-देश (दारुल-हरब) कहने लगे, तब अँगरेजों की शंका और भी पुष्ट हो गयी एवं उन्हें विश्वास हो गया कि इस्लाम राज्य-विरोधी धर्म है और सारे-के-सारे मुसलमान अँगरेजी शासन के खिलाफ हैं। दमन के चक्र द्वारा वहाबी-आन्दोलन तो दबा दिया गया, किन्तु, उसके विद्रोही संस्कार मुस्लिम जनता के हृदय में बने रहे। सन् सत्तावन के गदर के पीछे कुछ वहाबी संस्कारों का भी हाथ था, ऐसा तत्कालीन अँगरेज शासकों और लेखकों का मत था। फिर, गदर के मुख्य अपराधी भी मुसलमान ही माने गये और गदर के बाद कई वर्षों तक मुसलमान सरकार की शनि-दृष्टि के शिकार बने रहे। एक तो अँगरेजी नहीं जानने के कारण योंही मुसलमानों को नौकरियाँ नहीं मिलती थीं, अब उनका सारा संप्रदाय ही बागी करार दे दिया गया। अतएव, वे शासन से अलग रखे जाने लगे और सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रभाव घटने लगा।

दूसरी ओर, हिन्दू पढ़-लिखकर काफी तैयार हो चुके थे। सरकारी नौकरियों में उनकी अधिकता थी। शिक्षा-संस्थाओं में उनका प्राधान्य था। वे नये भारत के नामी लेखक, विचारक, नेता और पत्रकार थे। उनके भीतर देश को स्वाधीन करने की उमंग जग चुकी थी और सारा-का-सारा राष्ट्रीय आन्दोलन उनके हाथ में था। ऐसी

स्थिति मे, मुसलमानो की अवस्था, सचमुच, वेपनाह थी। अँगरेज उन्हें अपना दुश्मन समझते थे और कल के गुलाम हिन्दू आज प्रत्येक क्षेत्र मे उनसे आगे निकले जा रहे थे। यूरोपीय विचारो के प्रचार से अव तो यह कोई सोच ही नही सकता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हुआ तो वहादुरशाह के खानदान के किसी शहजादे को खोजकर भारतवासी उसे अपना वादशाह चुनेगे। सव की माँग यही थी कि भारत को प्रजातत्र के ध्येय की ओर वढना चाहिए और प्रजातत्र मे सत्ता उनके हाथ में होती है जिनका, देश मे, वहुमत होता है। मुसलमान, दोनो ओर से, अपने को समाप्त समझने लगे।

यह भारत मे इस्लाम के भविष्य की रक्षा की घडी थी। यह वह समय था जव मुसलमानो को यह चुनाव करना था कि किस राह पर पाँव धरें कि हमारा भविष्य कल्याणमय रहे। इतिहास की शिक्षा यह थी कि जिसने तुम्हे अपदस्थ किया है, तुम भी उसे अपदस्थ करो। वहावी-आन्दोलन का सकेत था कि यूरोपीय सस्कारो से इस्लाम की रक्षा की जानी चाहिए। और गदर की भी शिक्षा यही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू मुसलमानो को धोखा नही देगे। किन्तु, इतिहास की इन शिक्षाओ के वावजूद, मुसलमान अपनी हिम्मत हार वैठे और सारी सभावनाओ के विपरीत, उन्होने यह तय किया कि अँगरेजी पढकर अँगरेजो के यहाँ नौकरियाँ प्राप्त की जायें और राष्ट्रीय आदोलन से पीठ फेर कर अँगरेजो के प्रति राजभक्ति का सवूत दिया जाय। पहला प्रस्ताव तो समयानुसार उचित ही था, क्योकि सभी भारतवासी वही कर रहे थे। किन्तु, दूसरा प्रस्ताव भविष्य के लिए अमगलकारी सिद्ध हुआ।

सर सैयद अहमद खाँ

भारत में राजभक्त मुसलमानो के नेता सर सैयद अहमद खाँ हुए, जिनका जन्म दिल्ली के एक सैयद-घराने मे सन् १८१७ ई० में हुआ था। सच पूछिये तो जैसे राममोहन राय ने आरभ मे ही हिन्दुओ को अँगरेजी पढने की सलाह दी थी, वैसे ही, दिल्ली के मुसलमान भी आरभ मे अँगरेजी की ओर काफी झुके थे। जकाउल्लाह खाँ दिल्ली के ही थे, जिन्होने आरभ मे ही, अँगरेजी पढ़कर गणित और विज्ञान की दरजनो पुस्तकें उर्दू में लिखी। असल में, इस काल के मुसलमान भी अँगरेजी की महिमा को भलीभाँति समझ गये थे और वे चाहते थे कि अँगरेजी में उपलब्ध नवीन ज्ञान उर्दू के द्वारा भारत में फैला दिया जाय। किन्तु, जकाउल्लाह-जैसे विद्वानो का काम गदर होते ही समाप्त हो गया। उसके वाद, मुसलमानो के भीतर जिस भावना ने घर कर लिया, वह अँगरेजी भाषा की विरोधिनी थी। हाँ, गदर के वाद भी, कई व्यक्तियो मे जकाउल्लाह के तरीको की याद वनी रही और वे मुसलमानो मे अँगरेजी का प्रचार करने के लिए छोटे-मोटे उद्योग करते रहे।

कलकत्ते के खानवहादुर लतीफ ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होने सन् १८६३ ई० मे मोहमडन लिटरेरी सोसाइटी की स्थापना की, जिसके तत्त्वावधान मे ऊँचे तवके के मुसलमान सामाजिक,

राजनैतिक और धार्मिक विषयों पर अँगरेजी ढग से विचार-विनिमय किया करते थे। गदर के बाद, मुसलमानो में जो पस्ती आयी, उसका असर नवाब लतीफ पर स्पष्ट था, क्योंकि वे समझते थे कि अँगरेजी सल्तनत इतनी मजबूत है कि वह उखाडी नही जा सकती तथा अँगरेजी भाषा मे इतने लाभ है कि उसकी उपेक्षा भी आत्मघातिनी होगी। लतीफ साहब के उद्योग से उस मदरसे में अँगरेजी का प्रवेश हुआ, जिसे लार्ड हेस्टिंग्स ने खोला था। उन्हीके उद्योग से मुसलमान लडकों के लिए अनेक स्कूल खोले गये और मुस्लिम-जनता अँगरेजी पढनेवाले मुसलमान छात्रों की सहायता भी करने लगी। यह आन्दोलन अत्यन्त छोटा और सकीर्ण था, किन्तु, बीज-रूप में यही राज-भक्ति के उस बृहत् आन्दोलन का जनक हुआ, जो आगे चलकर फैलनेवाला था। इसी आन्दोलन के नेताओं ने मुल्लाओ से फतवा लेकर मुसलमानो में यह घोषणा करवायी कि भारत दारुल-हरब नही, दारुल-इस्लाम है और जो लोग जुम्मे के दिन सामूहिक नमाज नही पढते, वे धर्म-विरुद्ध काम करते हैं, क्योंकि अँगरेज बहादुर किसी के धर्म में कोई दखल देना नही चाहते।

स्पष्ट ही, जिन कारणो ने सर सैयद को राज-भक्ति की ओर प्रेरित किया, उन्ही कारणो से लतीफ भी राज-भक्ति की ओर गये होगे। किन्तु, लतीफ ने जिस बीज का वपन मात्र किया था, वह सर सैयद के समय बढ कर काफी बडा वृक्ष बन गया। सर सैयद बडे ही कर्मठ पुरुष थे। बाधाएँ उनका मार्ग नही रोक सकती थी। उनकी लगन, उनका अध्यवसाय और उनका अडिग विश्वास बेजोड था। किन्तु, उनकी सफलता का रहस्य इतना ही नही था। मुख्य बात तो यह थी कि सारी मुस्लिम-जनता ही एक प्रकार की मानसिक पस्ती में थी और जो समाधान सर सैयद को सूझा था, वह जनता को भी पसन्द था। मुसलमानों को एक ओर तो कुपित शासन से भय था, दूसरी ओर, हिन्दुओ के बहुमत पर उन्हें आशंका थी। यह भी था कि हिन्दू मुसलमानो से नाराज नही थे, किन्तु, अँगरेजो का मुसलमानो पर कोप स्पष्ट था। निदान, मुसलमानो ने कुपित शासन को प्रसन्न करने का मार्ग चुना, यद्यपि, उस समय उन्हें यह अदेशा भी नही था कि यह मार्ग आगे चल कर उन्हे अपने देशवासियो में बदनाम करेगा।

२१ साल की उम्र मे सर सैयद सरकारी नौकरी मे दाखिल हुए। उनकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर थी और गदर के पूर्व तक उन्होंने साहित्य लिखा भी खूब। उस समय तक उनकी रचनाओं में जो विचार व्यक्त हुए, वे राज-भक्ति के विचार नही थे, प्रत्युत, उनकी थोडी-बहुत समता वहाबी विचारधारा से ही समझी जाती थी। लेकिन, गदर के बाद, अँगरेजो ने मुसलमानो पर जो अत्याचार आरभ किये, उनसे वे बिलकुल घबरा गये और कहते है कि भारत में मुसलमानो का कोई भविष्य नही देख कर एक बार उनके मन मे यह भाव भी जगा था कि भारत से भाग कर वे मिश्र में जा बसे। किन्तु, दूसरे ही क्षण, उन्होने अपने आपको सँभाला और यह सकल्प करके वे भारत मे ही रह गये कि चाहे जैसे भी हो, अपने धर्म-बन्धुओ को ऊपर उठाने मे सारा जीवन लगा दूंगा।

मुसलमानो की उन्नति के उन्हे दो उपाय दिखायी पडे। एक तो यह कि मुस्लिम जनता में अँगरेजी भाषा और अँगरेजी शासन के प्रति जो विरोध का भाव है, वह बिलकुल दूर कर दिया जाय। दूसरा यह कि अँगरेजी शासन के मन मे मुसलमानो पर जगी हुई शका निर्मूल कर दी जाय। मुस्लिम जनता को यह समझते देर नही लगी कि अँगरेजी राज में सब से सुखी लोग वे हैं जो अँगरेजी के जानकार हैं, क्योकि ये ही लोग अब शासन के अधिकारी और कर्मचारी थे तथा वाणिज्य-व्यवसाय मे भी ये ही प्रगति कर रहे थे। अँगरेजो की शका मिटाने के लिए उन्होने लेख और किताबे लिखी, जिनमे उन्होने यह सिद्ध किया कि गदर के मुख्य अपराधी मुसलमान नही थे, और थे भी तो, उन्होनें आवेश में आ कर गलती की थी, जिसके लिए सरकार से उन्हे क्षमा मिलनी चाहिए[1]।

एक दूसरी किताब लिख कर उन्होने उन मुसलमानो की गिनती गौरव से करवायी जिन्होनें गदर के समय अँगरेजो का साथ दिया था[2]। यही नही, वहावियो की ओर से भी उन्होने यही दलील दी कि वे अँगरेजो के विरोधी नही, सिर्फ सिक्खो के शत्रु थे। मुसलमान विद्रोही है, इस बात का खडन उन्होने बार-बार किया और बार-बार कहा कि इस्लाम आजादी का तरफदार नही हो सकता। अँगरेज मुसलमानो को शका की दृष्टि से नही देखे, बस इतना उद्देश्य था, जिसकी प्राप्ति के लिए वे आजीवन उद्योग करते रहे।

अलीगढ में मोहमडन ऐंग्लो-ओरियंटल कॉलेज (जो सन् १८७५ ई० मे खुला और सन् १९२० ई० मे मुस्लिम-यूनिवर्सिटी में परिणत हो गया) की स्थापना करते हुए उन्होने उसके उद्देश्यो मे जहाँ यह बात रखी कि "मुसलमान अपने धर्म की रक्षा करते हुए अँगरेजी पढ सकें", वहाँ उसी घोषणा-पत्र में वे यह कहना नही भूले कि "इस सस्था का उद्देश्य मुसलमानो को ब्रिटिश सरकार की सुयोग्य प्रजा बनने के योग्य बनाना है[3]।" असल में, सर सैयद ने मध्यवर्गीय मुसलमानो की राज-भक्ति बटोर कर अँगरेजो के चरणो में डाल दी और, बदले मे, उन्हे अँगरेजो का प्रिय पात्र बना दिया।

धर्म के क्षेत्र मे भी सर सैयद बहुत बडे सुधारक थे। जवानी मे उन पर वहावी विचारो का जो प्रभाव पडा था वह टिक नही सका और, अन्त मे जा कर, उन्होने यह निर्णय किया कि इस्लाम को अपनी पुरानी परतें तोड कर युगानुरूप बनना ही चाहिए। कुरान शरीफ की उन्होने जो टीका लिखी है वह बहुत अशो मे बुद्धिवादी है। बुद्धिवाद और प्राकृतिकता (रीजन और नेचर), इन दो कसौटियो पर जो बातें खरी उतरे, उन्हे ही मानने का उनका उपदेश था। कुरान और हदीस मे जो चमत्कारपूर्ण अलौकिक

---

१ असबाबे-बगावते-हिन्द, सन् १८५९ ई०

२ द लायल मोहमडन्स आव् इडिया, १८६०-६१ ई०

३ "To make the Mussalmans of India worthy and useful subjects of the British Crown" (माडर्न इस्लाम में उद्धृत)

बातें हैं, उनके संबंध में सर सैयद का मत था कि या तो वे अलंकार की भाषा में कही ग
हैं जिनका बुद्धिगम्य अर्थ लेना चाहिए अथवा उनका अर्थ, आज के मुसलमानों की सम
न आने से, उन्हें निर्विवाद छोड़ देना चाहिए।

वे पर्दे के विरोधी और स्त्री-शिक्षा के जबर्दस्त हामी थे। स्त्री-शिक्षा में कुरान क
बाधा वे नहीं मानते थे। उनका यह भी दावा था कि कुरान जिहाद (धर्म-युद्ध) औ
गुलामी-प्रथा के औचित्य को नहीं स्वीकार करता है। वस्तुत, इस्लाम का साक्षात्का
उन्होंने यूरोपीय विचारधारा की पृष्ठ-भूमि पर किया था और यूरोप एव ईसाइयत
जो भी अच्छी बातें हैं, उन्हें वे इस्लाम के अनुकूल बताते थे। वे अनेक अर्थों में नवीन यु
के नये मनुष्य थे और इस्लाम को प्राचीनता से संलग्न करने वाली कोई भी कड़ी उन्
पसन्द नहीं थी। यूरोप के सामने वे मुसलमान होने के कारण दबने को तैयार नहीं थे।
अत, उन्होंने यह दावा रखा कि यूरोपीय कसौटी पर कसने से भी इस्लाम उत्तम धर्म
सिद्ध होता है।

खान-पान, रहन-सहन, संगति और संस्कार में भी, अँगरेजी ढंग उन्हें बहुत पसन्द था और जो भी नवयुवक अँगरेजियत अपनाता, उसकी वे प्रशंसा करते थे। संक्षेप में, सर सैयद ने केवल अँगरेजी शासन को ही स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत, वे चाहते थे कि मुसलमान खुले दिल से अँगरेजियत को भी कबूल कर लें। नयी रौशनी के प्रति अपनी इस रुझान के कारण उन्हें प्राचीनता के पिष्ट-पेषकों की निन्दा भी सहनी पड़ी[1]। उनके दल को लोग 'नेचरी' (अँगरेजी के नेचर शब्द से) तथा उन्हें अँगरेजों का भक्त कहा करते थे।

सर सैयद धर्म में अप्राकृतिक नियंत्रण को नहीं मानते थे। इसलिए, ईसाइयत के एक पत्नीव्रत वाले विश्वास को उन्होंने गलत कहा और यह दलील पेश की कि चूँकि मनुष्य

---

१ सर सैयद के आलोचकों में अकबर इलाहाबादी बड़े ही प्रमुख हुए हैं। वे सर सैयद की अँगरेज-भक्ति के ही विरोधी नहीं, उनके सामाजिक सुधारों के भी द्रोही थे। उनके कितने ही शेर सर सैयद को लक्ष्य करके लिखित दीखते हैं। यथा,

ईमान बेचने को तो तैयार हैं हम भी,
लेकिन, खरीद हो जो अलीगढ़ के भाव से।

× × ×

हजार शेख ने डाढ़ी बढ़ायी सन की-सी,
मगर, वो बात कहाँ मालवी मदन की-सी?
तालीमे-दुख्तराँ से ये उम्मीद है जरूर,
नाचे दुल्हन खुशी से खुद अपनी बरात में।

× × ×

तुम अँगरेजीदाँ हो, वो अँगरेजदाँ है।

का स्वभाव एकाधिक-त्रियागामी है, इसलिए, इस्लाम यदि चार पत्नियाँ रखने की आज्ञा देता है, तो यह कोई अप्राकृतिक बात नही है।

सर सैयद ने जिस इस्लाम की व्याख्या पेश की, वह प्राकृतिक नियमो के अनुसार एवं वैज्ञानिक प्रगति के सर्वथा अनुकूल था तथा मानवतावाद, बुद्धिवाद एवं यूरोप की प्रगतिशील विचारधारा से उसका अधिक विरोध नही था।

सर सैयद के राजनैतिक सिद्धान्त उनके राज-भक्तिवाले सिद्धान्त के नीचे दबे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था और उस समय अँगरेजो की उस पर अकृपा नही थी। फिर भी, आरंभ से ही सर सैयद मुसलमानो को यह सलाह देते रहे कि कांग्रेस में उनका जाना ठीक नही है। सन् १८८७ ई० के २८ दिसम्बर को कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हो रहा था और उस वर्ष उसके सभापति भी एक मुसलमान सज्जन थे। ठीक उसी दिन, लखनऊ मे सर सैयद ने भाषण दिया कि मुसलमानो को राज-भक्ति के पथ पर आरूढ रह कर, अधिक-से-अधिक, सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करते रहना चाहिए। मुसलमानो का कांग्रेस मे सम्मिलित होना हरगिज ठीक नही है। "यदि तुमने अपने ऊपर शका करने का अवसर नही दिया तो सरकार तुम्हारी सारी तकलीफें दूर कर देगी।" कर्नल ग्राहम को उन्होने एक पत्र लिखा था कि "तथाकथित राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ मैंने एक भारी जिम्मेदारी उठायी है और अभी-अभी 'इंडियन युनाइटेड पैट्रियाटिक एसोसियेशन' की स्थापना की है।"[1] यही नही, जब यूनान और टर्की में युद्ध आरभ हुआ और "पहले इस्लाम तब और कुछ" (पान-इस्लामिज्म) की भावना भारत में फैलने लगी, तब सर सैयद ने, प्राय, मृत्यु-शय्या पर से लेख लिख कर भारत के मुसलमानो को चेतावनी दी कि बाहर की बातो का असर वे अपने मन पर न आने दें। इसी लेख में उन्होने यह भी कहा कि टर्की का सुलतान विश्व भर के मुसलमानो का खलीफा नही है तथा, कारणवश, यदि अँगरेज टर्की से लडाई भी लड़ते हो, तब भी, भारत के मुसलमानो को अँगरेजो के प्रति राज-भक्त रहना ही चाहिए।

सर सैयद में साम्प्रदायिकता थी या नही, यह सदिग्ध विषय है। वैसे, वे उन्नीसवी सदी के उन भारतीय महापुरुषो मे थे जो इन क्षुद्र भावनाओ से बहुत ऊँचे थे, जो अपने-अपने धर्म पर आरूढ रहते हुए भी एक दूसरे के प्रेमी और विश्वासी थे। राममोहन राय, केशवचद्र, विवेकानन्द, रानाडे, गोखले या सर सैयद, इनमें से, शायद, कोई भी व्यक्ति साम्प्रदायिक नही था। ये सब लोग हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और विभिन्न जातियों के बीच प्रेम और सद्भाव रखने के पक्षपाती थे। असल मे, तब तक भारत छोटे लोगों का देश हो नही था। यहाँ के नेता और विद्वान् पडोसी के धर्म या नीति की निन्दा करने में सकोच का अनुभव करते थे। और यही हाल यहाँ की जनता का भी था।

---

१. माडर्न इस्लाम इन इडिया

स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर सर सैयद ने जो श्रद्धाजलि अर्पित की, वह उनके हृदय की विशालता की द्योतक थी। अलीगढ कालेज स्थापित करने के समय उन्होने हिन्दुओ से भी सहायता ग्रहण की थी। वे सामाजिक क्षेत्र मे हिन्दुओ और मुसलमानो का पूरा मिलन चाहते थे। सरकारी क्षेत्रों मे मुसलमानो को आगे वढाने का काम वे अवश्य कर रहे थे, किन्तु, यह केवल अपने धर्म-वन्धुओ की सेवा थी। उनका ध्येय यह नही था कि मुसलमान हिन्दुओ से विलकुल अलग हो जायँ।

किन्तु, जिस राज-भक्ति के द्वारा वे मुसलमानो का कल्याण खोज रहे थे, उसीसे आगे चलकर सांप्रदायिकता की नयी डालें फूट निकली। उदाहरण के लिए, यह दलील कि यदि अँगरेज भारत से हटेंगे तो यहाँ हिंदुओ और मुसलमानो के वीच झगडे शुरू हो जायँगे, सवसे पहले उन्ही को सूझी थी। सर सैयद के प्रयत्नो से जव सरकार और मुस्लिम-समाज के वीच का तनाव कुछ कम हुआ, तव, राष्ट्रीयता के वातावरण में, मुसलमानो की भी राज-भक्ति कुछ शिथिल पडने लगी। ऐसे समय, राज-भक्ति के हिलते हुए पाये को मजवूत करने के लिए सर सैयद ने मुसलमानो को हिन्दू-आतक का भी भय दिखाया। मुसलमानो का तव तक कोई अलग संगठन नही था और सर सैयद भी चाहते थे कि मुसलमान शिक्षा-सस्कृति से आगे वढकर राजनीति मे न पडें। किन्तु, गुलाम देश में राजनीति की प्रेरणा से कोई विरला ही वच पाता है। आखिर को मुसलमान भी राजनीति की दिशा में इधर-उधर जाने लगे। ऐसे समय सन् १८८९ ई० में सर सैयद ने अपर इडिया मोहमडन डिफेंस एसोसियेशन की स्थापना की। अनुमान यह होता है कि यह संस्था सर सैयद ने मुसलमानो को काग्रेस में जाने से रोकने के लिए वनायी होगी।

वाज-वाज वातो में सर सैयद के विचार वडे ही प्रगतिशील थे। यूरोपीय ज्ञान के वे प्रेमी तो थे, लेकिन, उनका यह भी विचार था कि यह ज्ञान यदि केवल अँगरेजी के द्वारा दिया गया तो वह जनता मे नही पहुँचेगा। अतएव, सन् १८६७ ई० मे उन्होने उर्दू-यूनिवर्सिटी खोलने की एक योजना तैयार की और उसे सरकार के पास भेजा। लेकिन, वह योजना अस्वीकृत कर दी गयी।

सर-सैयद गवर्नर-जनरल की काउसिल के भी सदस्य हुए थे। दुर्भाग्यवश, राज-भक्ति के जोश में आकर वहाँ भी उन्होने हिन्दुओ और मुसलमानो के लिए अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्र वनाने की सलाह दी। यह, स्पष्ट ही, साम्प्रदायिक कृत्य था, जिसके जहर का अन्दाजा सर सैयद को नही रहा होगा। और तो और, सन् १८५८ ई० में सर सैयद ने अँगरेजो को इसलिए भी फटकारा था कि सेना में अँगरेजो ने हिन्दू और मुस्लिम रेजिमेंट अलग-अलग क्यो नही रखे कि हिन्दू वागियो को मुस्लिम और मुस्लिम वागियो को हिन्दू सेना तवाह कर देती। क्यो उन्होने हिन्दुओ और मुसलमानो को एक ही रेजिमेंट में रखकर उन्हें दोस्त वनने का मौका दिया?

अचरज की बात है कि एक भारतवासी के मुख से ऐसी बात निकली। यह तो 'बाँटो और राज करो' की नीति का सुझाव था। यह ठीक उसी एकता पर चोट थी जिसे सभव बनाने को हिन्दू और मुसलमान, दोनो बेकरार रहे हैं। किन्तु, इस घबराहट का भी कारण था। यह, शायद, उन दिनो की बात है जब सर सैयद भारत छोड कर मिश्र चले जाने के भाव से भयभीत रहे होगे और उस भय से बचने की राह उन्हे एक ही दिखलायी पडी, जो राज-भक्ति की राह थी, जो ऐसी-ऐसी विचित्र बाते बोलने की राह थी, जिन्हे सुनकर अँगरेज भी दुविधा में पड जायँ।

सर सैयद के सहयोगी

सर सैयद ने मुसलमानो के बीच जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया, उसकी अनुकूल व्याख्या करके उसे आगे बढानेवाले कुछ और लोग भी निकल आये। चिराग अली ऐसे ही विद्वान् थे। उनके लेख सर सैयद के अखबार तहजीबुल-एखलाक में अक्सर छपते थे। विशेषत, उनकी चोट ईसाई धर्म-प्रचारको पर थी जो आये दिन इस्लाम की निन्दा करते रहते थे। चिराग अली के बहुत-से निबध अँगरेजी मे भी थे। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि इस्लाम शाति-प्रिय धर्म है, धर्म-युद्ध या जिहाद की अनुमति कुरान नही देता, स्वय नबी ने भी जितनी लडाइयाँ लडी, आत्म-रक्षा के निमित्त लड़ी और किसी को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना उन्हें मजूर नही था। एक पुस्तक[1] मे उन्होने यह भी दिखलाया था कि यूरोप की उन्नति का कारण यह है कि वहाँ के लोग समाज के मामले मे धर्म की दुहाई नही देते हैं। भारत मे भी धर्म का सबध सामाजिक आचारो से नही रहना चाहिए। यह अत्यन्त क्रान्तिकारी उद्‌गार था, क्योकि इस्लाम केवल वैयक्तिक धर्म नही है। वह अपने अनुयायियो के सारे जीवन के सामाजिक कर्त्तव्यो का भी दर्शन उपस्थित करता है। फिर भी, चिराग अली का मत था कि "धर्म के रूप में इस्लाम सामाजिक पद्धतियो से कोई सबध नही रखता। मुसलमानो की नीति और समाज-प्रणाली का उनके धर्म से कोई सरोकार नही है।" स्पष्ट ही, यह नव-युग का प्रभाव था। काश कि यह प्रभाव सब को स्वीकार हुआ होता! तब, शायद, भारत के टुकडे नही बनते और हिन्दुओ और मुसलमानो की राष्ट्रीय नीति एक हुई होती।

इस आन्दोलन के दूसरे समर्थक मुहसिनमुल्क सैयद मेहदी अली हुए। उन्होने सर सैयद की राज-भक्ति और उनके शिक्षा-विषयक सिद्धान्तो का व्यापक प्रचार किया। इस्लाम और कुरान की जो नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही थी, उनका उन्होने जोरदार समर्थन किया एव सन् १९०६ ई० में उन्होने, अँगरेजो को खुश करने के लिए, यह घोषणा की कि टर्की का सुलतान भारतीय मुसलमानो का खलीफा नही है। उसी वर्ष, वे आगा खाँ-शिष्ट-मडल के साथ वायसराय की सेवा मे इस प्रार्थना के साथ उपस्थित हुए

१. Proposed Reforms, by Chiragh Ali

कि भारतीय मुसलमानो के हितो की रक्षा करने के लिए मुस्लिम लीग की स्थापना करने की अनुमति दी जाय।

इस्लाम के नये व्याख्याताओ में प्रोफेसर सलाह् अलदीन खुदाबख्श का भी बडा नाम है। उनकी दो पुस्तकें, 'द स्पिरिट आव् इस्लाम' और 'थाट्स आन द प्रेजेन्ट सिचुएशन' उन दिनो (सन् १९१०-१२ ई०) बडे ही चाव से पढी गयी थी। उनका कहना था कि "जो धार्मिक और सामाजिक पद्धति हमे आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी, वह आज की अवस्था में भी बिना किसी मीन-मेष के मानी जानी चाहिए, ऐसा दावा करना छद्म का काम है। ठीक से समझने पर कुरान आध्यात्मिक मार्ग-प्रदर्शक मात्र है। वह कुछ आध्यात्मिक आदर्शों को हमारे सामने रखता है। जिन्दगी की बाकी बातो में मुसलमान अन्य लोगो के समान ही स्वतन्त्र है।"

खुदाबख्श ने यह भी लिखा है कि "एक ईश्वर में विश्वास और मोहम्मद को उसका दूत मानना" बस, इतना ही इस्लाम का सार है। बाकी सारी बाते ऐसी है जो बाहर से आयी है, जिनमें से अधिकाश रूढियाँ और परते है। ईसाइयत की खुदाबख्श भूरि-भूरि प्रशसा करते थे और, अक्सर, यह दिखलाने की चेष्टा करते थे कि ईसाइयत और इस्लाम में कोई भेद नही है। यह था उनका धार्मिक पक्ष जो बहुत-कुछ सर सैयद के धर्म का ही पर्याय था। सर सैयद के समान ही, वे कट्टर राज-भक्त भी थे एव कहते थे कि "राजद्रोह और अराजकता के दलन में हमे सरकार की, खुलकर, सहायता करनी चाहिए।" कोई आश्चर्य नही कि इग्लैंडवालो को खुदाबख्श की किताबें बहुत पसद आयी और वे उन्हे इस्लाम का प्रामाणिक आचार्य समझने लगे।

सर सैयद के एक अन्य सहयोगी जौनपुर के मौलाना करामत अली थे, जिनका बिहार, बगाल, उडीसा और असम में बडा प्रभाव था। इसी प्रकार, ढाका मदरसा के मुख्याचार्य मौलाना ओबेदुल्लाह्-अल-ओबेदी (सुहरावर्दी) सर सैयद के परम भक्त और सहयोगी थे। इस्लाम की नयी व्याख्या के वे बडे ही तेजस्वी समर्थक निकले और इस्लाम के जिस सशोधित रूप का प्रचार सर सैयद चाहते थे, उसका ओबेदी ने खूब प्रचार किया। सर सैयद के कहने से उन्होने भी यह फतवा दिया कि भारत दारुल-हरब नही होकर दारुल-अमन या दारुल-इस्लाम है तथा हर मुसलमान को यह हक हासिल है कि, धर्म-ग्रन्थो की आज्ञा के अनुसार, वह अपने धर्म का पालन कर सकता है।

अँगरेजी शिक्षा से प्रेम और अँगरेजी सरकार के प्रति अटल राज-भक्ति, ये सर सैयद के प्राणप्रिय सिद्धान्त थे एव इनका प्रचार उनके सभी शिष्यो और सहयोगियो ने बडे ही उत्साह से किया। यही नही, बल्कि, अलीगढ का मुस्लिम कालेज, ढाका विश्वविद्यालय (स्थापित १९२० ई०), कलकत्ते का इस्लामिया कालेज (स्थापित १९२१ ई०) तथा वैसी अन्य अनेक संस्थाएँ सर सैयद के दर्शन का केन्द्र बन गयी और वहाँ से पढकर निकलने वाले अधिकाश नौजवान सर सैयद के सिद्धान्तो के मूर्तिमान रूप बन गये।

मौलाना हाली

सर सैयद के सहयोगियो मे मौलाना अलताफ हुसेन हाली का अन्यतम स्थान है। हाली अँगरेजी कम जानते थे, किन्तु, फारसी और उर्दू के वे असाधारण विद्वान् थे। वे एक साथ कवि, इतिहासकार और सफल जीवनी-लेखक भी थे। ईसाइयो की आलोचना से चोट उन्हें भी लगी थी, अतएव, इस्लाम को युगानुकूल रूप देने का आन्दोलन उन्हे भी जी से पसन्द था। अलीगढ जिस इस्लामी आन्दोलन का केन्द्र बन गया था, उस आन्दोलन के हाली आजीवन समर्थक रहे एव इस आन्दोलन को लेकर उन्होने अनेक कविताएँ भी रची। इन कविताओ में मुसद्दस-नामक उनका काव्य बडा प्रसिद्ध हुआ। जातियों मे जब नया जीवन उत्पन्न होता है, तब उसकी सबसे अधिक मार्मिक अभिव्यक्ति काव्य मे होती है। मुसद्दस जाग्रत इस्लाम का ऐसा ही काव्य था। सर सैयद और उनके सहयोगियो ने भारतीय मुसलमानो के भीतर जो नयी जिन्दगी डाली थी, वह हाली के मुसद्दस में साकार हो उठी और जो विचार तत्कालीन मुस्लिम-विचारको के दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे, उन्हे हाली ने अपने काव्य के द्वारा सभी मुसलमानो के दिलो में उतार दिया। इस्लाम नये जमाने का साथ देने को तैयार हो, यह नारा था जो हाली के पूर्वज और समकालीन सुधारक चिल्ला-चिल्लाकर लगाते आये थे, किन्तु, सारी जनता उनका साथ देने को तैयार नही थी। हाली ने इसी उपदेश को काव्य के भीतर से प्रदान किया, अतएव, जनता उनके रग मे आसानी से रँग गयी।

किन्तु, हाली के साथ इस्लामी जागरण ने एक नया मोड भी पकड़ा। सर सैयद और अन्य सुधारको के समान हाली ने भी कहा कि मुस्लिम-समाज की अवस्था बिलकुल बिगड़ी हुई है, किन्तु, यह बात उन्होने इस्लाम की तुलना यूरोप के साथ करके नही कही। बल्कि, तुलना के लिए उन्होने इस्लाम की विगत गरिमा का बखान किया और मुसलमानो को ललकारा कि तुम कितनी ऊँचाई पर थे और अब किस गर्त में गिरे हुए हो। हिन्दू-नवोत्थान में भी ठीक यही बात हुई थी। राममोहन राय और केशवचद्र तथा रानाडे, ये ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से बहुत कुछ वैसे ही भीत थे, जैसे सर सैयद अहमद। इन सभी सुधारको ने अपने धर्म और इतिहास के खडित अथवा सशोधित रूपो को लेकर ही आलोचको का सामना किया। किन्तु, हाली का स्थान श्रीमती एनी बीसेट अथवा कुछ-कुछ विवेकानन्द के समान था, जिन्होने हिन्दुत्व की महिमा हिन्दुत्व के आधार पर ही बतलायी थी। नवोत्थान के काल मे मौलाना हाली पहले व्यक्ति है, जिन्होने मुसलमानों को अपने इतिहास की याद दिलायी और बदली हुई परिस्थिति मे भी उन्हें मस्तक उठाकर चलने की प्रेरणा प्रदान की।

हाली के समकालीन उपन्यास-लेखक मौलाना नजीर अहमद ने भी नवोत्थान की सेवा की। किन्तु, उनके भीतर प्रगति का किंचित् विरोध भी ध्वनित हुआ। जैसे अँगरेजी पढे-लिखे हिन्दू नौजवानो पर हिन्दुओ के यहाँ नास्तिकता का आरोप था, वैसे ही,

अँगरेजीदाँ मुस्लिम नौजवान भी शका की दृष्टि से देखे जाते थे। नजीर अहमद के उपन्यासो में इस शकालु दृष्टि के प्रमाण मिलते है। असल में, नजीर अहमद के भीतर से मुस्लिम-समाज का वह अश बोल रहा था जो प्राचीनता के मोह से अभी नही छूटा था तथा जो अँगरेजी शिक्षा-दीक्षा और संस्कार को अभी थोडी-बहुत शका से देख रहा था। उपन्यास लिखने के सिवा, नजीर अहमद ने कुरान का उर्दू में सफल अनुवाद भी किया।

मौलाना शिबली नौमानी

हिन्दू-नवोत्थान का क्रम यह रहा कि हिन्दू पहले तो ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के सामने काँप उठे। फिर, उन्होने अपने अतीत का ध्यान करके आलोचको से मोर्चा लिया। और, अन्त मे, वे अपनी प्राचीन गरिमा पर इतने आसक्त हो उठे कि, मन-ही-मन, वे यूरोप को अपने से हीन समझने लगे। इस्लामी नवोत्थान का भी बहुत-कुछ यही क्रम रहा है। सर सैयद और उनके सहयोगी यूरोप के सामने सास्कृतिक पराजय को मान कर चले थे। हाली ने इससे आगे बढकर मुसलमानो को अपने इतिहास का ध्यान कराया और मौलाना शिबली ने हाली के इस काम को बहुत आगे बढा दिया। सच पूछिये तो हाली सर सैयद और मौलाना शिबली के बीच की कडी थे।

सर सैयद ने यूरोप को इस्लाम से श्रेष्ठ माना था और इसीलिए उनका आग्रह था कि मुसलमान यूरोप के गुणो को स्वीकार करे और इस्लाम को वह रूप दे जो यूरोप की कसौटी पर खरा उतरता हो। मौलाना शिबली ने इस्लाम की जाँच इस्लाम की ही कसौटी पर की और यह बताया कि हमे बाहर से कुछ नही लेना है। इस्लाम की अपनी विरासत ही इतनी बड़ी है कि उसके उद्धार से मुसलमानो का सब कुछ दुरुस्त हो जायगा। सर सैयद इस्लाम को मोड कर उसे नव-युग का वाहन बनाना चाहते थे। शिबली का उद्देश्य इस्लाम का संशोधन नही, पुनरुद्धार था। सर सैयद मुसलमानो को अपने प्राचीन इतिहास से छिन्न करके उन्हें नयी कौम का रूप देना चाहते थे, जिसकी भाषा अँगरेजी और भाव यूरोपीय होते। शिबली को सर सैयद की यह पद्धति बिलकुल नापसन्द थी और उन्होने सर सैयद पर यह आरोप लगाया कि वे इस्लाम के पूरे इतिहास से अनभिज्ञ हैं।

शमशुल-उलमा मोहम्मद शिबली नौमानी का जन्म सन् १८५७ ई० में और मृत्यु सन् १९१४ ई० मे हुई। उर्दू-साहित्य मे उनका स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। वे धर्म के प्रबल व्याख्याता, दर्शन के श्रेष्ठ आचार्य, इतिहास के प्रवीण लेखक और चरित-लेखन मे अत्यन्त दक्ष थे। वे कवि भी उच्च कोटि के हुए है और उर्दू मे आलोचना-साहित्य के तो वे जन्मदाता ही समझे जाते है। बचपन में उनका विचार कट्टरता की ओर था, इसीलिए, वहाबी आन्दोलन का उन्होने खण्डन किया था। उन्होने मदीना जाकर इस्लाम का विधिवत् अध्ययन किया और सर सैयद के सपर्क में आने के बाद वे अलीगढ कालेज मे अरबी और फारसी के प्राध्यापक भी बनाये गये, जिस पद पर उन्होने

कोई सोलह वर्ष तक काम किया। अलीगढ में ही उन्होने यूरोप की विचारधारा का परिचय पाया और यूरोप के कितने ही गुणो का उन्होने सत्कार भी किया। किन्तु, बुद्धि को श्रद्धा की अपेक्षा श्रेष्ठ उन्होने कभी नही माना, न उन्होने अधार्मिक ज्ञान की कभी श्रेष्ठता स्वीकार की। वे इस्लाम के खडित या सशोधित रूप के समर्थक नही थे। उन्हे सारा-का-सारा इस्लाम हृदय से स्वीकार था।

'बुद्धि उपयोगी है, यह जीवन सत्य है; ससार की उपेक्षा सिखानेवाला धर्म धर्म नही है'; इन बातो को सर सैयद के समान शिबली भी कबूल करते थे। किन्तु, बुद्धि के फेरे मे पडकर धर्म की अलौकिक बातो का खण्डन करने को वे तैयार नही थे। फिर भी, जिन महापुरुषो की जीवनियाँ उन्होने लिखी, उनमें अमानवीय चमत्कारो को उन्होने स्थान नही दिया, यहाँ तक कि उनकी पुस्तक के नबी भी मनुष्य के सिवा और कुछ नही है। जिहाद की उन्होने निन्दा की। पर्दा-प्रथा को उन्होने जायज कहा, और साथ ही, स्त्री-शिक्षा को भी उन्होने अनिवार्य बतलाया। लोग सत्य ही कहते है कि शिबली वह सेतु है, जिस पर प्राचीन इस्लाम नवीन इस्लाम से आलिगन करता है।

अलीगढवालो की तुलना मे शिबली पिछडे हुए मुसलमान थे। किन्तु, तब भी उलमाओ को वे भयानक दिखायी दिये और उलमाओ ने सदैव उनका विरोध किया। कुछ लोगो का यह भी कहना है कि सर सैयद के द्वारा प्रवर्तित प्रगति को शिबली ने पीछे की ओर मोडा। किन्तु, कई बातो में कट्टर होते हुए भी, इस्लाम के जागरण को फैलाने के श्रेय से वे वचित नही किये जा सकते। हाली ने मुसलमानो के भीतर अपने प्राचीन इतिहास में अभिरुचि जगायी थी। मौलाना शिबली ने इस्लाम के सपूर्ण इतिहास को मुसलमानो के आगे खोल कर धर दिया। हाली और शिबली ने वह जमीन तैयार की, जिसमें आगे चलकर इकबाल की कविता लहलहानेवाली थी। शिबली के ग्रन्थो को पढकर ही मुसलमानो को अपनी अतीत गरिमा का ज्ञान हुआ और उनके भीतर यह तृषा उत्पन्न हुई कि, किसी प्रकार, वह गरिमा हमे फिर से प्राप्त हो जाय। सच पूछिये तो इकबाल के काव्य उन्ही वृक्षो के फल है, जिन्हें हाली और शिबली ने उगाया था।

मौलाना शिबली का उद्देश्य इस्लाम की गरिमा का केवल मौखिक बखान नही था, प्रत्युत, इस्लाम के प्राचीन अमर सत्यो को वे दुबारा प्रचलित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होने नये लेखको का दल तैयार किया और उन्हे प्रोत्साहन देने को आजमगढ में दारुल-मुसन्निफीन नामक एक सास्कृतिक सस्था भी स्थापित की, जिसका प्रचलित नाम अब शिबली एकेडेमी हो गया है।

स्वाभिमान का उदय

हाली और शिबली ने इस्लामी नवोत्थान का वह पक्ष पूर्ण कर दिया जो प्रत्येक नवोत्थान मे, कभी-न-कभी, विकसित होता ही है। सर सैयद ने यह बतलाया था कि

यूरोपीय सस्कृति की तुलना मे इस्लाम हीन है। अतएव, उसे यूरोप के गुण ग्रहण करने चाहिए। हाली और शिबली ने यह इजाफा किया कि यूरोप की ओर जाने की कोई खास जरूरत नही है। इस्लाम का अपना ही इतिहास इतना प्रोज्ज्वल है कि उसके उद्धार मात्र से मुसलमानो की हालत बिलकुल ठीक हो जायगी। किन्तु, विज्ञान और बुद्धिवाद, ये दो यूरोपीय तत्त्व ऐसे थे, जिनकी उपयोगिता से मुँह मोडना कठिन था। अतएव, आगे के विचारको ने यह कहना आरभ किया कि इस्लाम को यूरोप से विज्ञान और बुद्धिवाद की भी शिक्षा नही लेनी है। ये दो तत्त्व भी इस्लाम मे, पहले से ही, विद्यमान है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि लोग इस दृष्टि से इस्लाम के इतिहास और धर्म-ग्रन्थो का अवलोकन करें। यह बहुत-कुछ वैसी ही बात थी, जैसे आर्यसमाजियो का यह कहना कि ससार मे जितनी भी विद्याएँ प्रचलित है, वेदो मे उन सब का भडार है।

ऐसे लेखको मे मौलाना अमीर अली प्रमुख थे। सन् १८९१ ई० में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक स्पिरिट ऑव इस्लाम प्रकाशित हुई, जिसमे उन्होने इस्लाम की नयी व्याख्या की और यह बतलाना चाहा कि इस्लाम को ईसाइयत या यूरोप से कुछ भी लेना नही है। यूरोप के पास जो भी गुण है, वे इस्लाम मे पहले से ही मौजूद है। ईसाई धर्म-प्रचारको ने भारतीय धर्मों की जो, कस के, निन्दा की थी, अब भारत के विद्वान उसका जवाब दे रहे थे तथा हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो धर्मों की ओर से यह कहा जा रहा था कि हम यूरोप और ईसाइयत, दोनो से श्रेष्ठ है।

सर सैयद ने नबी का जो जीवन-चरित प्रकाशित किया था, उसमें उनकी चिन्ता यह थी कि कैसे नबी उन गुणो से अलग करके दिखलाये जायँ, जिनके कारण यूरोपवाले उनकी आलोचना करते थे। अमीर अली ने यह दिखलाया कि नबी और इस्लाम की जिन बातो की आलोचना की जाती है, वे बातें बिलकुल सीधी-सादी, स्वाभाविक और बुद्धिगम्य है। सर सैयद ने केवल यह सिद्ध करना चाहा था कि यूरोपीय दृष्टि से भी इस्लाम आदरणीय धर्म है। अमीर अली ने यह आशा प्रकट की कि इस्लाम को ठीक से समझ लेने पर ईसाई जनता भी इस्लाम को कबूल कर सकती है।

इस्लाम के मध्यकालीन इतिहास मे हजरत मोहम्मद का रूप नबी का रूप था। उसमे उनके चमत्कारो और अलौकिक शक्तियो पर जोर दिया गया था। सर सैयद ने अलौकिक पक्ष को छोड कर नबी के मानवीय गुणो पर जोर दिया। किन्तु, अमीर अली ने पैगम्बर साहब को इस ढग से चित्रित किया कि वे मनुष्य भी समझे जायँ और उनके व्यक्तित्व पर वह भक्ति भी बनी रहे, जो मध्यकाल मे प्रचलित थी। अमीर के पैगम्बर भी मनुष्य ही है, किन्तु, वे कोमल है, विचारवान् है, उदार और दयालु है तथा उनमें वे सभी गुण मौजूद है, जो आज की दृष्टि से ऊँची मानवता के लक्षण माने जाते है।

अमीर अली की पुस्तक मे इस्लाम की शातिप्रियता पर जोर दिया गया है। उसम यह बताया गया है कि इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितनी भी लडाइयाँ लडी, वे मुसलमानो

पर जबर्दस्ती थोपी गयी थी। अमीर अली की व्याख्या के अनुसार, इस्लाम असहनशील नही है। वह स्त्रियो का आदर करता है। उसमें प्रजातन्त्र का समर्थन है। उसमें वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद है। ईसाई धर्म-प्रचारको ने कहा था कि इस्लाम में स्त्रियो की स्थिति अनादर-युक्त है। सर सैयद का जवाब था कि यह इल्जाम गलत है। किन्तु, अमीर अली ने बतलाया कि कैसे इस्लाम के उदय के पूर्व अरब मे औरतें पतित अवस्था मे थी और कैसे इस्लाम ने उन्हे ऊपर उठा दिया।

कुछ युगो मे इस्लाम की हालत बहुत बिगड गयी थी। इसकी टीका करते हुए अमीर अली ने बतलाया कि यह इस्लाम का दोप नही था। प्रत्येक धर्म मे काल पाकर विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी विकृतियाँ ईसाइयत मे भी उत्पन्न हुई थी। और कई युगो मे कई देशो के ईसाई इतने पतित हो गये थे कि उन्हें ईसाई कहना ईसाइयत का अपमान करना है।

अमीर अली ने इस्लाम का जो चित्र खीचा, वह संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्म का चित्र था। उसके प्रवर्तक ससार के संपूर्ण इतिहास के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे और मुसलमान ससार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य। ईसाइयों ने इस्लाम की निन्दा करके मुसलमानो मे आत्म-हीनता का भाव जगाना चाहा था। परन्तु, प्रतिक्रिया ऐसे जोर की हुई कि मुसलमान अपने को ईसाइयो से भी श्रेष्ठ समझने लगे और ठीक यही भाव हिन्दुओ के भीतर भी जाग्रत हुआ।

इस्लाम की प्रशसा करते-करते लोग भारत और एशिया मात्र की प्रशसा करने लगे और, युगो बाद, उन्हे यह सत्य दिखलायी पडा कि जब यूरोप असभ्य था, तब सभ्यता की शिक्षा उसने अरब और ईरान से ही पायी थी।[1] इसी मनोदशा में मुसलमान चिन्तक यह भी याद करने लगे कि स्वय भारतीय सभ्यता ने इस्लाम से बहुत कुछ सीखा है।

---

१. यह दावा गलत नही था, क्योकि अरब मे भारत और यूनान से जो ज्ञान पहुँच था, वही यूरोप को स्पेन के माध्यम से मिला जहाँ मुसलमानो का राज्य था औ इसी ज्ञान से यूरोप मे रिनासाँ की लहर उठी थी।

प्रकरण १६

सर मोहम्मद इकबाल

नवोत्थान के कवि

रवीन्द्र और इकबाल, दोनो भारतीय नवोत्थान के कवि है, एक हिन्दू-नवोत्थान के और दूसरे मुस्लिम-नवोत्थान के। शुद्ध भारतीय नवोत्थान-जैसा कोई आन्दोलन भारत मे नही उठा, जिससे अनुमान होता है कि हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियाँ मिल कर कभी बिलकुल एक नही हुई। राजनीति के मुख से झूठ बोली जा सकती है। तर्क और दर्शन भी सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर सकते है। यहाँ तक कि इतिहास की मिथ्या व्याख्याओ से भी असत्य की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु, कवि की लेखनी असत्य का समर्थन नही कर सकती। कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज के भीतर से आती है। समाज निराकार प्रतिमा है, जिसकी धड़कन कवि के कलेजे में उठती है, जिसकी शकाएँ और विश्वास कवि के मुख से उद्गीर्ण होते है। अतएव, रवीन्द्र और इकबाल को सामासिक सस्कृति की उससे अधिक अनुभूति नही हुई जो, सचमुच, अस्तित्व मे थी, जिसकी अनुभूति केवल राजनीतिज्ञो को ही नही, इस देश की जनता को भी रही है।

हेथाय आर्य हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे हलो लीन।

सामासिक सस्कृति के पक्ष में रवि बाबू ने इतना ही लिखा है अथवा उन्होने और जो कुछ लिखा है, उसकी दिशा यही है। बाकी, उनकी सारी रचनाओ की पृष्ठभूमि वह सास्कृतिक आन्दोलन है, जिसके नेता राममोहन राय, केशवचद्र सेन अथवा रामकृष्ण हुए है।

इसी प्रकार, 'नया शिवाला', 'तरानए-हिन्द' और 'तस्वीरे-दर्द', ये ही कुछ कविताएँ है, जिनमें इकबाल सामासिक सस्कृति के पक्ष में बोलते है।[1] बाकी उनकी सारी रचनाएँ इस्लामी जागरण से ओतप्रोत है।

और इसके सिवा और होता भी क्या ? जब तक यूरोपवाले भारत नही आये थे, हिन्दू और मुसलमान कभी तो एक-दूसरे के प्रेमी और कभी एक-दूसरे से अप्रसन्न होकर जी रहे थे। किन्तु, यह शत्रुता उभरती कम थी। बादशाह मुसलमान होते थे। हिन्दू रियाया बन कर जी रहे थे। शासको की भाषा, शासको का रहन-सहन और लिबास

---

१. इस तरह के भाव रवि बाबू की कविताओ में अगणित जगहो पर आये है।

हिन्दुओ ने अपना लिया था और हिन्दुओ की बहुत-सी बाते मुस्लिम-समाज मे प्रविष्ट हो गयी थी। फिर भी, सामासिकता अभी पुष्ट नही हुई थी। ऐसा नही हो पाया था कि हिन्दू और मुसलमान, अपनी-अपनी विशिष्टताओ को भूल कर, किसी ऐसी विशिष्टता की ओर देख पाते, जो समान रूप से दोनो की चीज थी। इतने में, ईसाई धर्म और यूरोपीय विचार भारत मे आ धमके और उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनो पर चोटें करनी शुरू कर दी। यदि सम्राट् अकबर की परपरा टूट न गयी होती, तो सभव था कि हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही, यूरोप को एक ही जवाब देते। किन्तु, उस परपरा के दाने बिखर चुके थे और सामासिकता की तलवार बडी ही पतली और कुन्द पड गयी थी। इस पतली सामासिक सस्कृति को लेकर यूरोप का सामना करने की हिम्मत और सूझ न तो किसी मुसलमान को हुई, न हिन्दू को। निदान, एक तो वेद और उपनिषद् लेकर दौडा, दूसरा कुरान और हदीस उठा कर। सन् सत्तावन के गदर के अनुकरण पर सस्कृतियो को भी एक होकर उठना था। किन्तु, राजनीति के समान तेजी और फुर्ती सस्कृति मे नही होती है। राजनीति में रातो-रात लोग दुश्मन या दोस्त बन जाते है, किन्तु, इस दोस्ती या दुश्मनी का सास्कृतिक रूप, वर्षो नही, सदियो मे पुष्ट होता है। निदान, यूरोप के मुकाबले में सास्कृतिक मोर्चे पर पहुँचते-पहुँचते हिन्दू और मुसलमान दो हो गये। विस्मय की बात है कि आक्रामक तो एक था, किन्तु, जो आक्रमण के लक्ष्य थे वे दो शिविरो में बँटे हुए थे और उससे भी अधिक ग्लानि का विषय यह है कि इन दो शिविरो में कोई सलाह-मशविरा नही चलता था।

इकबाल और रवीन्द्र भारतीय सस्कृति की इन्ही दो धाराओ के कवि हुए है और प्रत्येक ने उस धारा का बडा ही विलक्षण आख्यान किया है, जिससे उसका जन्म हुआ था। हिन्दुत्व के कवि होने के कारण, रवीन्द्रनाथ कोमल, अहिंसक और परलोक के प्रेमी है। और इस्लाम के कवि होने के कारण, इकबाल दर्पशाली तथा आवेशयुक्त है एव वे इहलौकिकता को बढावा देते है। दार्शनिक और, कदाचित्, रहस्यवादी भी दोनो ही कवि है। किन्तु, इकबाल ने गद्य और पद्य मे ईरानी तसव्वुफ पर कठिन प्रहार भी किये है, जिससे यह अनुमान होता है कि रहस्यवाद की प्रेरणा उनमे उनकी इच्छा के विरुद्ध आयी थी।

इकबाल की कविताओ से, आरभ मे, भारत की सामासिक सस्कृति को बल मिला था, किन्तु, आगे चल कर उन्होंने बहुत-सी ऐसी चीजे भी लिखी जिनसे हमारी एकता को व्याघात पहुँचा। 'नया शिवाला' और 'तस्वीरे-दर्द' लिखने वाला कवि राष्ट्रीयता से भाग क्यो खडा हुआ, इस प्रश्न पर सोचते-सोचते अनेक विचारक अपना माथा थाम कर बैठ जाते हैं। किन्तु, इसमें विस्मय की कोई बात नही है। सन्त हो या सुधारक, कवि हो या अवतार, वह उन परिस्थितियो से भाग नही सकता, जिनमे उसका जन्म या विकास होता है। कवि अपने भाव आकाश से लाता है, ऐसा बेवकूफ लोग ही कहा करते है। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है। अतएव, उसके सारे भाव समाज के भाव होते हैं।

उसकी सारी शकाएँ समाज की शकाएँ होती है तथा उसके सभी उत्तर भी समाज को ही लक्ष्य करके दिये जाते है।

समाज के हृदय मे अनेक भाव ऊँघते रहते है, अनेक आशाएँ कुलबुलाती रहती है, अनेक उमगे अपनी राह टटोलती रहती हैं। किन्तु, समाज को इन स्वप्नो, इन आशाओ और इन उमगो का हमेशा प्रत्यक्ष ज्ञान नही रहता, न ये भावनाएँ राजनीतिज्ञो एव समाज-शास्त्रियो को दिखलायी देती हैं। किन्तु, कवि इन अदृश्य भावनाओ को सुन लेता है। यही उसकी विशेषता होती है। इसलिए, वह समाज के विकास का अनिवार्य यत्र समझा जाता है। जिस समाज मे कवि उत्पन्न नही होते, वह अधो का समाज होता है, वह बहरे लोगो का समाज होता है, जो अपनी धमनी की आवाज नही सुन पाता। प्रत्येक समाज अपने कवि के आगमन की राह देखता है, क्योकि कवि ही वह यन्त्र है,जिससे समय के ताप की ऊँचाई अथवा निचाई मापी जाती है। जब तक कवि जन्म नही लेता, तब तक समाज को यह पता नही चलता कि उसकी चेतना किस दिशा में और किस स्तर तक विकसित हुई है। *सौभाग्यशाली है वह समाज जिसे ठीक समय पर अपना कवि प्राप्त हो जाता है* और सौभाग्यशाली है वह कवि जिसका समाज अधा या बहरा नही होता। आधुनिक मुस्लिम-समाज को अपना प्रतिनिधि-कवि ठीक समय पर प्राप्त हो गया और चूँकि वह बहरा समाज नही था, इसलिए, उसने अपने कवि से लाभ भी तुरत उठा लिये।

सर सैयद के समय से भारतीय इस्लाम के भीतर जो आन्दोलन चल रहे थे, वे इस बात की दलील थे कि इस्लाम, शीघ्र ही, किसी महाकवि को जन्म देनेवाला है। कविता पर हाथ तो मौलाना हाली ने भी डाला, किन्तु, वे इकबाल की पृष्ठभूमि तैयार करके रह गये, यद्यपि, यह सत्य है कि हाली के हुए बिना इकबाल का होना असभव था।[1]

---

१ उदाहरणार्थ, इस्लाम की गरिमा का पहला आख्यान 'मुसद्दस' में हुआ और इस बात की ओर भी कविता में पहला सकेत हाली का ही मिलता है कि भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व की सगति से विकृति उत्पन्न हुई है। यथा,

वो दीने-हेजाजी का बेबाक बेड़ा, निशाँ जिसका अक्साये-आलम मे पहुँचा,
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठटका, न कुलजम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातो समुन्दर, वो डूबा दहाने मे गगा के आकर।
वो दी जिससे तौहीद फैला जहाँ में, हुआ जलवागर हक जमीं-आसमाँ में,
रहा शिर्क बाकी न वहमो-जमाँ मे, वो बदला गया आके हिन्दोस्ताँ मे।
(मुसद्दस)

हाली कहते है, इस्लाम का बेडा गगा मे आकर डूब गया। इस्लाम का रूप हिन्दुस्तानमे आकर बदल गया। इसी भाव को इकबालने और भी मार्मिकता तथा तीखेपन से कहा है। 'जवाबे-शिकवा' मे इकबाल ने ईश्वर के मुख मे मुसलमानो को अनेक फटकारें सुनवायी हैं जिनमें एक यह भी है कि सस्कृति के क्षेत्र मे मुसलमान हिन्दू बन गये है, भारतीय प्रतिमा (प्रेमिका) के फेरे मे पड कर वे ब्राह्मण हो गये हैं।

इकबाल को अपने पूर्व-पुरुषो से जो प्रेरणाएँ मिली, वे ये थी कि इस्लाम दुरवस्था में है और उसके पुनरुद्धार के लिए बहुत बडे प्रयास और बहुत बड़ी कुरबानी की जरूरत है। उद्धार के रास्ते दो बताये गये थे। एक तो यह कि मुसलमान यूरोप से विज्ञान और बुद्धिवाद को ग्रहण करें एव पारलौकिक चिंताओ को छोड कर इसी लोक मे विजयी होने के लिए साहस और शूरता से काम ले। और दूसरा यह कि इन गुणो को पाने के लिए मुसलमानो को यूरोप की ओर देखने की आवश्यकता नही है। इस्लाम का अपना इतिहास ही इतना समृद्ध है कि उसमे से ये सारी शिक्षाएँ निकाली जा सकती है। इस पिछली बात को प्रमाणित करने के लिए मौलाना शिबली ने इस्लाम के सारे गरिमायुक्त इतिहास को उर्दू मे बिखेर दिया था और जिस युग या समाज ने इकबाल को जन्म दिया, वह इस इतिहास को पढ कर, भीतर-ही-भीतर, गौरव और जोश से भरा हुआ था। इस पृष्ठभूमि पर देखने से इकबाल के सिद्धान्त काफी स्वाभाविक हो जाते है और तब यह भी आश्चर्य नही होता कि उन्होने खुदी की अहकारयुक्त फिलासाफी क्यो निकाली और क्यो उन्होने रहस्यवाद का तिरस्कार किया।

सर मोहम्मद इकबाल का जन्म सन् १८७३ ई० में और मृत्यु सन् १९३८ ई० मे हुई। वे स्यालकोट (पजाब) के रहनेवाले थे। लाहौर से उन्होने एम० ए० पास किया था और केम्ब्रिज में उन्होनें दर्शन का अध्ययन किया तथा म्युनिख से उन्होने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उनके डाक्टरेट का विषय ईरानी रहस्यवाद था। १९०८ ई० में वे भारत लौटे और लाहौर मे उन्होने अपनी बैरिस्टरी आरभ की। किन्तु, समय उनका कविता और दर्शन में ही जाता रहा। सन् १९२२ ई० मे उन्हें सरकार की ओर से 'सर' का खिताब मिला एव सन् १९३० ई० में वे मुस्लिम-लीग के सभापति चुने गये। सन् १९२८-२९ ई० में मद्रास में उन्होने इस्लाम पर छह व्याख्यान दिये थे। उन व्याख्यानो से प्रभावित होकर लार्ड इरविन ने उन्हें धर्म और दर्शन पर व्याख्यान देने को आक्सफोर्ड भिजवाया। ये व्याख्यान ही उनके गद्य-लेख है। बाकी उन्होने जो कुछ कहा, कविताओ मे ही कहा। इकबाल राउण्ड-टेबिल-कान्फ्रेंस में भी मुसलमानो का प्रतिनिधित्व करने को बुलाये गये थे।

राष्ट्रीयता का स्वर

आरभ में इकबाल भी उर्दू के अन्य कवियो के समान गजले लिखा करते थे और कभी-कभी मुशायरो में भी जाते थे। इस्लाम की जागृति पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी,

---

वजे मे तुम हो निसारी तो तमद्दुन मे हनूद,
ये मुसल्मॉ है, जिन्हें देख के शरमाये यहूद।

.. .. ..

बुते-हिन्दी की मुहब्बत मे बरहमन भी हुए। (जवाबे-शिकवा)

किन्तु, तब तक उनके विचारो मे राष्ट्रीयता भी भरपूर थी। वे हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और भारतीय स्वतत्रता के समर्थक थे। तब तक मुसलमानो मे यह भाव जोर से नही फैला था कि इस्लाम की उन्नति और भारत की स्वतत्रता परस्पर-विरोधी बातें है। उनका 'तरानए-हिन्द' (सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा) और 'नया शिवाला' (सच कह दूँ अय बिरहमन, गर तू बुरा न माने) उन्ही दिनो की रचनाएँ है। बल्कि, उनके 'बाँगे-दरा' की अधिकाश कविताएँ उनके उन्ही दिनो की यादगार हैं, जब वे विचारो की एकागिता में नही पडे थे।[१]

बाँगे-दरा के भाव हाली के मुसद्दस की अपेक्षा अधिक भारतीय है। हाली ने अपने पूरे काव्य मे इस्लाम ही इस्लाम लिखा है। इकबाल के 'बाँगे-दरा' का द्वार अधिक विशाल है। उसमें इस्लाम के साथ सिक्ख-मत और हिन्दुत्व के भी भाव झलक मारते है। 'नानक' और 'राम' शीर्षक से लिखी हुई दो कविताएँ 'बाँगे-दरा' के कवि की राष्ट्रीयता के प्रमाण है। वैसे, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दृष्टि से विचार करें, तब भी, 'बाँगे-दरा' राष्ट्रीय काव्य ठहरता है। उसके भीतर ऐसी-ऐसी पक्तियाँ भरी पडी हैं जो किसी ऐसे हृदय से निकल ही नही सकती थी जिसमे राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैनी न रही हो। 'तरानए-हिन्द' को बाद देकर देखें, तब भी 'नया शिवाला' के भाव बडे ही तेजस्वी और पवित्र दीखते है। ये भाव उस बेचैन कवि के है जो हिन्दुओ और मुसलमानो से यह कहना चाहता है कि मन्दिर और मस्जिद को लेकर तुम अलग क्यो होते हो? तुम्हारा आधार तो वह मिट्टी है जिस पर ये दोनो इमारतें खडी है। यह मिट्टी मन्दिर और मस्जिद, दोनो से बढ कर पाक और पवित्र है।

मिट्टी की मूरतों में समझा है तू, खुदा है।
खाके-वतन का मुझको हर जर्रा देवता है।

---

१. इकबाल उन दिनो भी इस्लाम के सबध मे कविताएँ लिखा करते थे। उन्ही कविताओ से आकृष्ट होकर 'अजुमने-हिमायते-इस्लाम' नामक सस्था ने उन्हें अपने यहाँ बुला कर उनका सम्मान किया था। किन्तु, वहाँ भी इकबाल ने अपने भाषण में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की आवश्यकता बतलायी थी। इसी प्रकार, 'सर सैयद की लोहे-तुरबत' पर उन्होने जो कविता लिखी, उसमें उनका असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट है।

वा न करना फिरकाबन्दी के लिए अपनी जुबाँ,
छिपके है बैठा हुआ हगाम-ए महशर यहाँ।
वस्ल के सामान पैदा हो तेरी तहरीर से,
देख, कोई दिल न दुख जाये तेरी तकरीर से।
महफिले-नौ में पुरानी दास्तानो को न छेड,
रग पर जो अब न आएँ उन फिसानो को न छेड।
(शेरो-शायरी से)

वा=खोलना, वस्ल=मेल-मिलाप।

इकबाल के मैदान में आने के समय तक, अँगरेज 'बाँटो और राज्य करो' की नीति पर खुलकर अमल करने लग गये थे और यह बात प्रत्यक्ष हो गयी थी कि यदि हिन्दू और मुसलमान आपस मे नही मिले तो अँगरेज उन पर राज करते ही जायँगे। और इधर हिन्दू और मुसलमान थे जो आपस मे मिल कर एक होने का नाम नही लेते थे। इस स्थिति से देशभक्त कवियो को जो चोट लगती थी, वह चोट इकबाल को भी लगी थी।

रुलाता है तेरा नज्जारा अय हिन्दोस्ताँ मुझको,
कि इबरतखेज है तेरा फिसाना सब फिसानों में।
दिया रोना मुझे ऐसा कि सब कुछ दे दिया गोया,
लिखा कल्के-अजल ने मुझको तेरे नौहख्वानों में।
निशाने-बर्गे-गुल तक भी न छोड़ इस बाग में गुलचीं,
तेरी किस्मत से रज्म-आराइयाँ है बागबानो में।
छिपा कर आस्तीं में बिजलियाँ रक्खी है गरदूँ ने,
अनादिल बाग के गाफिल न बैठें आशियानों में।
वतन की फिक्र कर नादाँ, मुसीबत आनेवाली है,
तेरी बर्बादियो के मशविरे है आसमानो में।

(तस्वीरे-दर्द ; बाँगे-दरा)

इस कविता में इकबाल आगे चल कर हिन्दू-मुस्लिम-एकता को सभव बनाने की प्रतिज्ञा करते है और कहते है,

हुवैदा आज अपने जख्मे-पिनहाँ करके छोड़ूँगा,
लहू रो-रो के गुलशन को परीशाँ करके छोड़ूँगा।
जलाना है मुझे हर शमए-दिल को सोजे-पिनहाँ से,
तेरी तारीक रातो में चिरागाँ करके छोड़ूँगा।
पिरोना एक ही तस्बीह में इन बिखरे दानो को,
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ूँगा।

काश कि इकबाल की यह प्रतिज्ञा पूरी हुई होती ! काश कि जिस अन्धकार में भारतीय एकता के लिए सघर्ष चल रहा था, उसमे इकबाल अपनी इस लौ को तेज किये रहते ! किन्तु, वह नही हुआ। क्यो नही हुआ, यह बात या तो इतिहास से स्पष्ट है अथवा अब तक वह लिखी नही गयी है। यह कैसे सभव हुआ कि एक महाकवि की शिखा ने अपनी दिशा बदल दी ? यह कैसे सभव हुआ कि इकबाल इस राष्ट्रीयता को छोड कर केवल मुस्लिम-राष्ट्रीयता के स्वप्न को आकार देने लगे ?

मुस्लिम-राष्ट्रीयता के भाव

कारण, शायद, यह था कि राष्ट्रीयता के विरुद्ध मुस्लिम-समाज मे अनेक तर्क फैले हुए थे। सर सैयद का यह उपदेश जीवित था कि मुसलमानो का कल्याण सरकार के साथ और काग्रेस से अलग रहने मे है। किन्तु, इकबाल सर सैयद की अपेक्षा कही बडे मनुष्य थे। वे सरकार की भक्ति करने की ओर नही लपके। बल्कि, भारत से बाहर इस्लामी देशो के साथ ब्रिटेन का जो बुरा बर्ताव था, इकबाल ने उसे भी सहन नही किया। सर सैयद की नीति पर चलने से न तो हिन्दू स्वाधीन होते, न मुसलमान। और इकबाल स्वाधीनता के प्रेमी थे। इसीलिए, यह बात समझ मे नही आती है कि स्वाधीनतावादी होते हुए भी उन्होने अपनी पहली आग को बुझने क्यो दिया और क्यो वे ऐसी बातें बोलने लगे, जिनसे मुसलमानो में वीरता और निर्भयता तो जरूर जगी, किन्तु, उन्हें यह पता नही चला कि इस वीरता को लेकर वे क्या करें। वीरता और निर्भयता का सबसे बडा उपयोग आजादी की लडाई को तेज करने में था, किन्तु, आजादी की लडाई को सफल बनाने से मुसलमान डरते थे। सभवत, यह भय इकबाल के भीतर भी पहुँचा और उन्होने प्रजा-सत्ता पर एक फब्ती कस दी, जिसके पीछे जर्मन दार्शनिक नीत्से की प्रति-ध्वनि सुनायी देती है।

इस राज़ को इक मर्दे-फिरंगी ने किया फाश,
हर चंद कि दाना इसे खोला नहीं करते।
जमहूरियत इक तर्जे-हुकूमत है कि जिसमें,
बन्दो को गिना करते हैं, तोला नहीं करते। (बाले-जिबरील)

जब इकबाल का मन भारतीय राष्ट्रीयता से बिदक गया, उनकी कल्पना एक भिन्न दिशा मे मँडराने लगी। वे तन-मन से इस्लाम के उद्धार मे लग गये। चूँकि भारतीय प्रजातन्त्र में मुसलमानो के प्रमुख सत्ताधारी होने की सभावना नही थी, इकबाल ने प्रजा-तंत्र को नकार दिया। चूँकि मुसलमान सारे विश्व में फैले हुए थे, इसलिए, उन्होने एक ऐसी राष्ट्रीयता की कल्पना कर ली, जिसका आधार देश नही, धर्म था। और इससे भी आगे बढ़ कर उन्होने इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म, मुसलमान को सर्वश्रेष्ठ मानव और इस्लामी बन्धुत्व को राष्ट्रीयता का श्रेष्ठतम रूप मान लिया।[1] इकबाल के पूर्व, सर सैयद, हाली,

---

१. A free and independent Muslim fraternity, having the KABA its centre and knit together by love of ALLAH and devotion to Prophet, such is IQBAL'S ideal ("असरारे-खुदी" के अँगरेजी अनुवाद 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से)। 'रमूजे-बेखुदी' में इकबाल ने इस भाव का पूरा विकास किया है, यथा,

The Community
A circle is, whose great circumference

शिवली और अमीर अली ने इस्लाम के संवध में जो कुछ कहा था, उसका निचोड़ इकबाल की कविता में प्रविष्ट हो गया एव पिछले समस्त आन्दोलनों का दर्शन इकबाल के काव्य से, आप-से-आप, तैयार हो गया।[1] इकबाल के इस मत-परिवर्तन से सभी प्रगतिशील लोग कराह उठे।[2]

भारतीय इस्लाम के जागरण मे इकबाल का जो योगदान है, वह अतुल और अपरिमेय है। मुसलमानो की सबसे बड़ी सेवा इकबाल ने यह की कि उनके हृदय में जो भाव अस्पष्ट थे, उन्हें इकबाल ने सुस्पष्ट बना दिया। मुसलमान बेचैन जरूर थे, किन्तु, उन्हें इसका पता नही था कि वे चाहते क्या है। इकबाल ने उनके दिलों में एक कामना भर दी, उन्हे एक ख्वाहिश दे दी। जब इस्लाम अपने गौरव के काल में था, तब उस से मुसलमानो को साहस और आत्मगौरव की प्रेरणा मिलती थी। इस्लाम उन्हें वाधाओं और विपत्तियो को कुचल कर आगे बढने की प्रेरणा देता था। इकबाल जिस युग में जनमे, वह अपरिमित अवसरो का काल था। आज मौके बहुत ज्यादा हो गये है, किन्तु, उनसे फायदा उठाने में सघर्ष भी अत्यधिक करना पड़ता है। इकबाल ने चाहा कि इस संघर्ष में पडने की प्रेरणा धर्म से मिलनी चाहिए और, तदनुसार, उन्होंने इस्लाम के साहसी एवं सघर्षशील रूप को ताजा कर दिया और मुसलमानों के सामने शूरत्व के आदर्श को चमका कर रख दिया।

इकबाल का जीवन-दर्शन

कहते है, यूरोप में रहते-रहते इकबाल ने अपना जीवन-दर्शन तैयार कर लिया था और जब वे स्वदेश लौटे, तब उसी दर्शन के आधार पर उन्होंने भारतीय मुसलमानो में

Centres on Mecca's valley, and by force
And virtue of that same relationship
Stands our Community unshakable.

('रमूजे-वेखुदी' के अँगरेजी अनुवाद, 'मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' से)

१. He supplied, more or less, respectable intellectual basis for a movement which is, in reality, more emotional than rational.

("मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' की भूमिका)

२. "इकबाल-जैसे परिष्कृत मस्तिष्क और विशाल हृदयवाले राष्ट्र-कवि को एकाएक सम्प्रदायवाद के दलदल में फँसते देख लोग कराह उठें :—

हिन्दी होने पर नाज जिसे कल तक था, हिजाजी बन बैठा,
अपनी महफिल का रिन्द पुराना आज नमाजी बन बैठा।
महफिल में छुपा है कैसे-हजी, दीवाना कोई सहरा में नही,
पैगामे-जुनूं जो लाता था, इकबाल वो अब दुनिया में नही।
ऐ मुतरिब ! तेरे तरानों में अगली-सी अब वो बात नही,
वो ताजगीये-तखयील नही, वेसाख्तगीये-जज्बात नही।"

—आनन्दनारायण 'मुल्ला' (शेरो-शायरी से)

नव जीवन भरना आरंभ किया। यूरोप में उन्होंने तीन बातें देखी। एक तो यह कि वहाँ के लोग जीवनी-शक्ति से उच्छल और बडे ही क्रियाशील है। भारतवासियो के समान, हाथ-पर-हाथ घर कर बैठे रहना उनका स्वभाव नही है। धर्म, दर्शन, विचार, परिस्थिति, जहाँ भी कोई बाधा उन्हे दिखायी पड़ती है, वे उस बाधा को निर्मूल कर देते हैं। वे सतत आगे बढने को उद्यत रहते है और इसलिए सतत क्रियाशील भी। यूरोप मे क्रियाशीलता को इकबाल ने जीवन के पर्याय के रूप मे देखा। यूरोप में इकबाल को दूसरी प्रमुख बात यह दिखायी पडी कि वहाँ के लोगो के सामने अवसरो का ढेर लगा हुआ है और वे उनका उपयोग करके जीवन का ऐसा आनन्द उठा रहे है, जिसकी कल्पना भी भारत या एशिया-वासी नही कर सकते। एक अवसर से फायदा उठा कर लोग उससे आगे बढ जाते है और फिर आगे का अवसर हथिया कर उससे भी आगे चले जाते है। इससे यूरोप मे जीवन निरन्तर कार्य और निरन्तर प्रगति का रूप ले लेता है। तीसरी बात यूरोप के विपक्ष मे थी। यूरोप मे वैज्ञानिक साधन बहुत है और सुख-भोग के रास्ते और साधन भी अनन्त। फिर भी, वहाँ व्यक्ति का हृदय खोखला और उसकी आत्मा रिक्त रहती है, फिर भी, वहाँ व्यक्तियो और राष्ट्रो के बीच छीना-झपटी के दाँव-पेंच चलते रहते है। यह बात इकबाल को बहुत भयानक लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँच कर भारत लौटे कि आँख मूँद कर यूरोप की नकल करने से एशिया का भी विनाश होगा।

इन अनुभवो का इकबाल के काव्य पर गहरा असर पडा। क्रियाशीलता उनकी कविता की साँस बन गयी। वे जब तक जिये, मनुष्य को कर्मठ बनने की प्रेरणा देते रहे, उसे बाधाओ को कुचल कर असभव लक्ष्यो को प्राप्त करने को उत्तेजित करते रहे।[1] उनका सिद्धांत यह हो गया कि जीवन सतत क्रियाशीलता का नाम है।[2] प्रगति जीवन का सबसे बडा तत्त्व है। कर्म से बढकर और कोई दर्शन नही हो सकता तथा सारी सृष्टि क्रिया और केवल क्रिया से चालित है एव जहाँ अकर्मण्यता और अगति का वास है, वहाँ मृत्यु बसती है। खतरो से घबराने को इकबाल ने सबसे बडी पराजय समझा और नौजवानो

---

१ सितारो से आगे जहाँ और भी है,
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।
कनाअत न कर आलमे-रगो-बू पर,
चमन और भी, आशियाँ और भी है।
तू शाही है, परवाज है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी है। (बाले-जिबरील)

२. जुलामे-बहूर मे खोकर सँभल जा,
तडप जा, पेच खा-खाकर बदल जा।
नही साहिल तेरी किस्मत में अय मौज,
उमडकर जिस तरफ चाहे, निकल जा। (बाले-जिबरील)

को उन्होने चुन-चुन कर खतरो से खम ठोक कर भिडने को उत्साहित किया।[1] जवानी उत्साह, निर्भयता और कर्मठता को कहते हैं। बुढापा उदासी, असमर्थता और कायरता का नाम है। अतएव, इकबाल ने यौवन को वार्द्धक्य का गुरु बनाना चाहा[2]। अब तक धर्म की शिक्षा यह रही थी कि मनुष्य झझटो से दूर रह कर जीवन के पारलौकिक तत्त्वो पर विचार करे। इकबाल ने धर्म के इस पक्ष की निन्दा की और वैराग्य तथा समाधि, दोनो को हीन बताया।[3]

इकबाल का यह प्रवृत्ति-मार्ग इस्लाम का पुराना मार्ग था। निवृत्ति या जीवन-त्याग की आदतें सूफियो ने डाली थी। अतएव, इकबाल सूफी-दर्शन के विरुद्ध हो गये। उन्होने इस बात को बार-बार दुहराया है कि जीवन ध्यान और समाधि नही, बल्कि, भोग और आनन्द का विषय है। इकबाल की सबसे बडी देन यह है कि ऊँघते हुए भारतीयो को उन्होने कर्मठता की ओर प्रेरित किया और वीरतापूर्वक यह उद्घोष किया कि कर्मठता से पुण्य नही बढता है, वह स्वय भारी पुण्य है, यहाँ तक कि अकर्मण्य मुसलमान से कर्मठ काफिर भी श्रेष्ठ है।[4] उन्होने यह भी लिखा कि मुल्ला तो काफिर उसे बताते हैं जो ईश्वर को नही मानता है। किन्तु, मैं काफिर उसे कहता हूँ जो खुद से इन्कार करता है, जो जीवन के आनन्द से मुँह फेरता है, जो सघर्ष और कर्मठता से दूर है।

इकबाल की कविताओ का उद्देश्य मुसलमानो में प्रवृत्ति की लहर उठाना था, उन्हें झकझोर कर कर्म के पथ पर आरूढ करना था, उनमे निर्भयता और मर्दानगी जगानी थी। आरम्भिक इस्लाम प्रवृत्ति-मार्गी धर्म था। उसमे जीवन से भाग कर ध्यान और समाधि में समा जाने की प्रेरणा नही थी। इस्लाम जीवन के सात्विक भोग की शिक्षा देनेवाला धर्म था। ध्यान और समाधि की बढती इस्लाम मे सूफियो ने की। और सूफियो ने

---

१ खतरपसन्द तबीयत को सोजगार नही,
वो गुलिस्ताँ कि जहाँ घात मे न हो सैयाद।
मुझे सजा के लिए भी नही पसन्द वो आग
कि जिसका शोला न हो तुन्दो-सरकशो-बेबाक।

२ खिरद को गुलामी से आजाद कर,
जवानो को बूढो का उस्ताद कर। (बाले-जिबरील)

३ तेरी निगाह मे है मोजजात की दुनिया,
मेरी निगाह में है हादसात की दुनिया।
(सूफी से, बाले-जिबरील)

४ A KAFIR before his idol with wakeful heart is better than the religious man asleep in the harem. (जावेदनामा)

ही मुसलमानो को सन्यास एवं वैराग्य की भी शिक्षा दी। अतएव, इकबाल सूफियों की इस प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध हो गये।[1]

कहते हैं, इकबाल ने अपना दर्शन नीत्से और वर्गों की पुस्तको के आधार पर तैयार किया था। नीत्से भी अफलातून के शांतिमय विचारों के विरुद्ध था। उसने भी बौद्ध मत और ईसाइयत की इसलिए निन्दा की है कि ये धर्म मनुष्य को अहिंसक और कमजोर बनाते हैं, कि ऐसे धर्मों से मनुष्य का पौरुष नष्ट होता है एवं धरती पर महामानव के अवतार की संभावना दूर जा पडती है। नीत्से का कहना था कि जब कमजोर लोग मजबूत लोगो के गुलाम हो जाते हैं, तब ये कमजोर लोग ही इस आशा से ईसाइयत-जैसे धर्म का आविष्कार करते है कि उनके आविष्कार के प्रभाव मे आकर शासक भी कमजोर हो जायें। नीत्से प्रजातंत्र का भी द्रोही था और कहा करता था कि दस गधो के जमा होने से एक घोड़े का दिमाग तैयार नहीं हो सकता। नीत्से ने युद्ध की भी प्रशंसा की है तथा प्राणियो में जो शक्तिमान् हैं, उन्हे कमजोरो को खाकर आगे बढने के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

नीत्से के समान, इकबाल भी जीव-दया और अहिंसा सिखानेवाले दर्शनो के विरुद्ध हो गये और इस्लाम में उन्होने जो संशोधन किया, उससे जिहाद की कल्पना सार्थक दीखने लगी।[2] उन्होने एक बात पकड़ी और उस पर वे आग्रहपूर्वक अड़ गये। "मनुष्य में

---

१. 'असरारे-खुदी' मे प्लेटो के निवृत्ति-मार्ग की निन्दा करते हुए इकबाल कहते हैं, "प्लेटो कहता है कि जीवन का एकमात्र रहस्य मृत्यु है और दीपक का सुयश इसमें है कि वह शीघ्र बुझ जाय। प्लेटो के प्यालो मे जो शराब है, उसे पीकर हमें नीद आने लगती है तथा कर्म का दृश्य-जगत् हमारे हाथो से छूट जाता है। प्लेटो मनुष्य के वेश में बकरी और भेड़ है। उसने जिस लोक का चित्रण किया है वह अफीम के नशे से बेहोश है। प्लेटो ने अपने पंख तो खोले और वह आकाश की ओर उड़ा भी, किन्तु, वहाँ से लौट कर वह अपने नीड़ में नहीं आ सका।"

'असरारे-खुदी' मे ही एक कविता इस्लामी साहित्य के सुधार को लक्ष्य करके लिखी गयी है जिसमे सूफियों और सौदर्यवादियों पर गहरी चोट है। 'यह कवि तुम्हें विचारो के समुद्र में गर्क करता है और कर्म के विश्व से तुम्हे अपरिचित बना देता है। हमारी (इस्लाम की) आग को इसी की सांसो ने बुझा दिया। इसी की बुलबुल ने गा-गाकर हमारे हृदयों मे विष बोया। इसके गुलादो के ढेर मे सांप छिपा है। उसकी चमकती हुई शराब से सावधान रहो।" लोगों का ख्याल है कि यह चोट ईरान के सूफी कवि हाफिज पर है। (उद्धरण "असरारे-खुदी" के अँगरेजी अनुवाद "सिक्रेट्स ऑव् द सेल्फ" से)।

२. 'रमूजे-बेखुदी' में तीर तलवार से कहता है कि "तुम मे जो आग है, वह परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का तेज है। तुम्हारी छाया मे स्वर्ग विजेताओ की प्रतीक्षा करता है।" उसी पुस्तक की एक दूसरी कविता मे इकबाल कहते हैं तलवार धर्म की तेजस्विता के लिए जीती है। वह जब भी म्यान से बाहर निकलती है, केवल धर्म की रक्षा करने के लिए।" (रमूजे-बेखुदी के 'द मिस्ट्रीज ऑव् सेल्फलेसनेस' नामक अँगरेजी अनुवाद से)

जीवन का जो केन्द्र-विंदु है, वही उसकी खुदी या व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व मनुष्य के भीतर की संघर्ष या तनाव की स्थिति को कहते हैं। जब तक मनुष्य के भीतर तनाव की हालत मौजूद है, जब तक संघर्ष करने की उसकी योग्यता शेष है, तभी तक उसका व्यक्तित्व भी कायम है। तनाव के ढीला होते ही शिथिलता आरंभ हो जाती है। चूंकि तनाव की स्थिति मनुष्य की सबसे बड़ी प्राप्ति है, उसे चाहिए कि आखिरी दम तक अपने भीतर शैथिल्य को न आने दे। जो भी बातें तनाव और संघर्ष को तेज करती हैं, वे ही हमें अमरता प्रदान करनेवाली हैं। व्यक्तित्व की इसी प्रकार की कल्पना से जीवन के मूल्य उत्पन्न होते हैं, उसीसे पाप और पुण्य का भी निर्धारण होता है। पुण्य वह है, जिससे व्यक्तित्व की दृढता बढ़ती है। पाप वह है, जिससे उसका ह्रास होता है। कला, धर्म और आचार, सब की परीक्षा इसी व्यक्तित्व की कसौटी पर की जानी चाहिए। अफलातून की मैंने जो आलोचना की है, वह, असल में, उन सभी धर्मों और दार्शनिक सिद्धातो की आलोचना है, जो जीवन नही, मृत्यु को मानव-जीवन का आदर्श बतलाते हैं। जीवन की सबसे बड़ी बाधा भूत (मैटर) है और ये धर्म मैटर को जीत कर उसे आत्मसात् करने के बदले मनुष्य को उससे भाग खड़े होने की शिक्षा देते हैं।"

"बौद्ध धर्म, ईरानी रहस्यवाद और उनके समान अन्य सारी आचार-पद्धतियाँ हमारे उद्देश्य के प्रतिकूल हैं। उनसे हमारा काम नही चलेगा। फिर भी, उनका थोड़ा-बहुत उपयोग हो सकता है, जैसे काम से थके मनुष्य के लिए कभी-कभी अफीम और नशे की भी जरूरत होती है। ऐसे दर्शन, ऐसे विचार और ऐसे कार्य जीवन की धूप में रात की अँधियाली रचते हैं।"[1]

खुदी का सिद्धान्त

इसीसे मिलता-जुलता इकवाल का 'खुदी' विषयक सिद्धात है, जिसे लेकर विद्वानों मे काफी माथा-पच्ची रही है और जिसके कारण मुल्लाओ ने इकवाल का विरोध भी किया था। खुदी से कुछ लोग आत्मा या रूह का अर्थ लेते हैं। अब तक के सभी धर्मो ने आत्मा का गुण विनय और निर्मलता को बताया था, किन्तु, लोग यह देख कर विस्मित रह गये कि इकवाल इसका प्रयोग अबाध वीरता और अहंकार के अर्थ मे करते हैं।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है ?

किन्तु, इकवाल की खुदी आत्मा नही, मनुष्य के व्यक्तित्व का पर्याय है। इकवाल आत्मा और शरीर को दो नहीं, एक मानते हैं। अतएव, जो गुण शरीर का है, वही आत्मा का भी होना चाहिए, अथवा जो गुण आत्मा का है, वही शरीर मे भी आना चाहिए।

---

१. 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ की' भूमिका मे उद्धृत इकवाल का मत।

अपनी खुदी की फिलासाफी की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श जीवन को स्वीकार करना है, उसे ठुकराना नहीं। और इस आदर्श की प्राप्ति वह व्यक्तित्व के विकास द्वारा करता है। व्यक्तित्व औरों से भिन्न तथा अपने-आपके अधिक-से-अधिक अनुरूप होने को कहते हैं। सबसे अधिक निराला व्यक्तित्व ईश्वर का है। इसलिए, कुरान की आज्ञा है कि अपने भीतर उन गुणों का विकास करो, जो ईश्वरीय हैं। अतएव, मनुष्य जब ईश्वर के समान बनने की कोशिश करता है, तभी उसका व्यक्तित्व औरों के व्यक्तित्व से अधिक भिन्न होने लगता है। खुदी इस व्यक्तित्व के विकास का चरम विन्दु है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य केवल अपने समान आप रह जाता है। ईश्वर के जो अधिक-से-अधिक समीप है, मनुष्यों में वही अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ और महान् है। और ऐसा नहीं होता कि एक दिन वह ईश्वर में समा जाता है, प्रत्युत, यह कि, काल पाकर, वही ईश्वर को अपने भीतर लीन कर लेता है। सच्चे मनुष्य में केवल भूत (मैटर) ही नहीं समाते, उसके भीतर ईश्वर भी विलीन हो जाता है।[1] जीवन का लक्षण है कि वह प्रत्येक बाधा को आत्मसात् करके आगे बढ़ता जाता है। जीवन का दूसरा लक्षण यह है कि वह रोज अपने भीतर नयी-नयी इच्छाएँ और नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न करता है और उन्हें प्राप्त करके फिर नयी कामना लेकर नये लक्ष्य की ओर बढ जाता है। जीवन की सब से बड़ी बाधा प्रकृति है, किन्तु, प्रकृति भी बुरी नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसीकी बाधा के कारण जीवन की अन्तर्हित शक्तियों को प्रत्यक्ष करने का व्यक्ति को अवसर मिलता है।"

खुदी और प्रेम का समन्वय करते हुए इकबाल ने लिखा है कि "खुदी की दृढ़ता इश्क से आती है। इस शब्द का प्रयोग मैंने व्यापक अर्थ में किया है। यहाँ इसका अर्थ दूसरों को आत्मलीन या आत्मसात् करना है। इसका सब से ऊँचा रूप मूल्यों और आदर्शों का निर्माण तथा उन्हें प्राप्त करने का प्रयास है। प्रेम के कारण प्रेमी और प्रेमिका, दोनों अनूठे, दोनों औरों से भिन्न हो जाते हैं। अतएव, जो सब से अनूठा व्यक्तित्व (अर्थात् ईश्वर) है, उसकी अनुभूति का प्रयास प्रेमी के व्यक्तित्व को भी अनूठा बना देता है। किन्तु, प्रेम यदि व्यक्तित्व को बढ़ाता है, तो सवाल (याचना)

---

१ काफिर की यह पहचान कि आफाक में गुम है,
मोमिन की यह पहचान कि गुम इसमें हैं आफाक।
(आफाक=दुनिया)
जँचते नहीं कुंजश्को-हमाम इसकी नजर में,
जिबरीलो-सराफील का सैयाद है मोमिन।
(जिबरील-सराफील, दो देवदूतों के नाम) (बाले-जिबरील)

२. जीवन अन्वेषण के बीच है। उसका जन्म अज्ञात इच्छाओं के भीतर से होता है। अपने हृदय में कामनाओं को जिलाये रखो, अन्यथा तुम जिस मिट्टी से निर्मित हुए हो, वह कब्र बन जायगी। (असरारे-खुदी)

उसे कमजोर भी करता है।[1] जो बेटा बाप के धन पर जीना चाहता है, वह सवाली है, याचक है। ऐसे ही, वे सभी लोग है जो दूसरो के विचारो पर जीवित रहना चाहते हैं। अतएव, व्यक्तित्व की रक्षा और विकास का उपाय यह है कि हम याचना करना छोड दे।"[2]

इकबाल खुदी के तीन नियम मानते है। पहला यह कि साधक धर्म की आज्ञा माने। दूसरा यह कि वह अपने ऊपर नियन्त्रण रखे जो खुदी या आत्मचेतना का सबसे बडा प्रमाण है तथा तीसरा यह कि वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि (नायब या वाइस-रिजेंट) बन कर रहे या राज करे।"[3]

महामानव की कल्पना

इकबाल जिसे ईश्वर का वाइस-रिजेट अथवा प्रतिनिधि या नायब कहते हैं, वह नीत्से के 'सुपरमैन' का अरबी अनुवाद है। नीत्से ने ईश्वर का नाम नही लिया, इतना फर्क अवश्य दीखता है। किन्तु, बाकी बातो मे नीत्से के सुपरमैन और इकबाल के वाइस-रिजेट मे कोई भेद नही है।[4] इकबाल कहते है, "यह नियाबते-इलाही (Divine

---

१. "ईश्वर उसे प्यार करता है, जो अपनी जीविका आप कमाता है। उस व्यक्ति को धिक्कार है जो अपनी रोटी दूसरो की मेज से पाता है। वह मनुष्य धन्य है जो धूप में प्यास से जलने पर भी, खिजर से एक प्याला पानी नही माँगता। भीख में मिला हुआ समुद्र भी ज्वालोदधि है। अपने हाथो से सचित थोडी-सी शबनम भी उससे श्रेष्ठ और सुस्वादु होती है।" (असरारे-खुदी)

२ 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से

३ "जो भी सूरज और सितारो पर हुक्म चलाने का अभिलाषी है, उसे पहले खुद धर्म का हुक्म मानना चाहिए। तारे भी अपने लक्ष्य की ओर, किसी धर्म के सामने मस्तक नत किये हुए, चलते हैं।"
"जो अपने ऊपर हुक्म चलाने की योग्यता से हीन है, वह दूसरो के हुक्म मे रहेगा।"
"यदि तुम अपने ऊँट को वस मे रख सके, तो सारा ससार तुम्हारे वस मे हो जायगा।"
(सिक्रेट्स आव् द सेल्फ)

४ नीत्से की कल्पना की भाषा यह है। "मै तुम्हे महामानव के विषय मे समझाता हूँ। मनुष्य वह चीज है जिससे मनुष्य को आगे जाना है। मनुष्य की सीमा पार करने के लिए तुमने क्या किया है? सभी जीवो ने अपने से आगे के जीव तैयार किये और तुम भाटे के वेग में बहकर पीछे जाना चाहते हो। तुम्हे पीछे हटकर पशु बन जाना पसद है, किन्तु, तुम मनुष्य से आगे बढकर महामनुष्य नही बनोगे? बन्दर मनुष्य के आगे क्या है? केवल हँसी की चीज, केवल ग्लानि का पात्र। जो स्थिति बन्दर की मनुष्य के आगे है, वही स्थिति मनुष्य की महामनुष्य के सामने होगी। तुम कीट से बढकर मनुष्य हुए हो। किन्तु, अभी भी तुम में कीटो की सख्या कम नही है। एक समय तुम मर्कट थे और आज भी मनुष्यो मे मर्कटता मर्कटो से भी अधिक है।"

Viceregency) पृथ्वी पर मनुष्य के विकास का तीसरा और अन्तिम सोपान है। नायब पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि है। वह खुदी की पूर्णतम प्रतिमा और मानवता की मजिल है। हममें जो मानसिक अशाति और विरोध है, वह नायब मे जाकर अपना समाधान पा लेती है। उसमें उच्च-से-उच्च शक्तियाँ, उच्च-से-उच्च ज्ञान से मिलकर एकाकार रहती है। उसके जीवन, विचार और कर्म मे, बुद्धि और सहज-बुद्धि में, विरोध नही रहता। मानवता के वृक्ष का वह अन्तिम फल होगा एव मनुष्यता ने आज तक विकास की जो वेदनाएँ सही हैं, वे नायब के अवतार के साथ सार्थक हो जायँगी। मनुष्यो का सच्चा शासक नायब ही होगा, क्योकि उसका शासन धरती पर परमात्मा का शासन होगा। वह विकास का अन्तिम बिंदु होगा। विकास के क्रम में हम ज्यो-ज्यो आगे बढते है, त्यो-त्यो हम नायब के समीप होते जाते हैं। और उसके पास पहुँचने की कोशिश मे हम अपने-आपको ऊपर उठाते जाते हैं। मनुष्य के शरीर और मन का सम्यक् विकास वह शर्त है, जिसके बिना नायब का जन्म नही होगा। आज तो वह सिर्फ कल्पना है, विचार और आदर्श है। किन्तु, मानवता का विकास होते-होते मनुष्यो की ऐसी जाति उत्पन्न होगी, जिसके सदस्य बहुत-कुछ अनूठे व्यक्तित्ववाले होगे और ऐसे ही माता-पिता से नायब उत्पन्न होगा। इस प्रकार, पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य का अर्थ यह है कि यहाँ जो प्रजातन्त्र कायम होगा, उसके सदस्य अनूठे व्यक्तित्ववाले होगे, जिनका मुखिया वह व्यक्ति होगा, जिसका व्यक्तित्व सबसे अनूठा, सबसे भिन्न होगा। इस आदर्श जाति की झाँकी नीत्से ने भी देखी थी, किन्तु, नास्तिक और अमीरो का पक्षपाती होने के कारण उसने अपनी कल्पना को कुरूप बना दिया।"[1]

आज की भाषा मे, नीत्से की कल्पना का महामानव फासिस्ट कहा जायगा, किन्तु, इकबाल की कल्पना का महामानव किसी-न-किसी प्रकार का प्रजातन्त्री मनुष्य है। हाँ, इतना इजाफा हम और कर सकते है कि वह मुसलमान होगा, क्योकि पाश्चात्य ढग की प्रजा-सत्ता इकबाल को पसद नही थी। उन्होने लिखा है कि "यूरोप का प्रजातन्त्र

" इस पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है। अपने सकल्प को जगाकर तुम भी कहो कि पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है।

" . . . मनुष्य लक्ष्य नही, सेतु है। उसका सबसे प्यारा गुण यह है कि वह ऊपर जा रहा है और नीचे आ रहा है . मै उन्हे प्यार करता हूँ, जो नीचे जा रहे हैं, जो पृथ्वी को कुर्बानी चढा रहे है कि महामानब की पृथ्वी अस्तित्व में आये। मै उन्हें प्यार करता हूँ जो ज्ञान के लिए जीते है, जिससे महामानव का अवतार हो। महामानव के अवतार की कामना, यही उनकी अधोयात्रा है। मै उसे प्यार करता हूँ जो श्रम कर रहा है, आविष्कार कर रहा है, जिससे महामानव का भवन तैयार हो जिससे महामानव के लिए धरती, पशु और पौधे तैयार हो।"

(नीत्से-कृत 'दज स्पेक जरथुस्त्र' से)

१. 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से

यूरोपीय समाज के आर्थिक उद्धार के क्रम में प्रकट हुआ। इसीलिए, उसके भीतर समाजवादी और अराजकतावादी आन्दोलनो का आतक व्याप्त है। किन्तु, नीत्से इस झुण्ड-शासन से घृणा करता है और जन-साधारण के ऊपर कोई भरोसा या विश्वास नही रख कर वह समस्त उच्च सस्कृति का ध्येय महामानवो की एक खास जाति का उद्भव और विकास बताता है। किन्तु, क्या जन-साधारण, सचमुच ही, इतना अपदार्थ है ? इस्लामी प्रजातत्र का जन्म आर्थिक अवसरो के विकास से नही हुआ। इस्लाम में प्रजा-सत्ता या जमहूरियत केवल आध्यात्मिक सिद्धात है, जिसका आधार यह भाव है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त सभावनाएँ छिपी हुई हं, जिनका विकास चरित्र-विशेष के पालन से किया जा सकता है। इन्ही साधारण व्यक्तियो में से इस्लाम ने अद्भुत मनुष्य तैयार किये थे, जिनका जीवन और जिनकी शक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ थी। इस दृष्टि से क्या इस्लाम का आरभिक प्रजातत्र नीत्से के प्रजातत्र-विरोधी मतो के खंडन की दलील नही है ?"[1]

कवि जैसे सस्कारो मे पलता है, उसकी भावना भी वैसी ही हो जाती है। इकबाल को पढते हुए, कदम-कदम पर यह अनुभव होने लगता है कि यूरोपीय राष्ट्रो से इस्लाम का सघर्ष, इग्लैण्ड द्वारा टर्की की कुसेवा और ईसाइयो द्वारा इस्लाम की आलोचना इकबाल को बराबर याद रही। इसीलिए, वे मौका मिलते ही, यूरोपीय सभ्यता पर डक मार बैठते है।[2] यह भी अनुमान होता है कि सर सैयद, हाली, चिराग अली, अमीर अली और सबसे बढकर मौलाना शिवली ने मुसलमानो मे, अपने धर्म और इतिहास के प्रति, जो गौरव जगाया था, उसका सस्कार इकबाल मे अत्यन्त प्रवल था। इसीलिए, वे इस्लाम के सिवा और किसी धर्म की प्रशसा करने मे असमर्थ रहे।[3] साथ ही, भारत मे चूंकि प्रजासत्ता मुसलमानो को पूरी अनुकूल नही दीखती थी, इसलिए, उन्होने राष्ट्रीयता और प्रजासत्ता, दोनो मे अपना विश्वास खो दिया। खिसकते-खिसकते वे एक ऐसी जगह जा पहुँचे, जहाँ देश, राज्य, इतिहास तथा शासन की एकता और एक साथ जीने-मरने और सघर्ष करने की वातो का राष्ट्रीयता के साथ कोई सबध नही था। किन्तु,

---

१ 'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से।

२ तेरी हरीफ है या रव, सियासते-अफरग,
मगर, है इसके पुजारी फकत अमीरो-रईस।
वनाया एक ही इवलीस आग से तू ने,
वनाये खाक से उसने दो सद हजार इवलीस।

× × ×

तुम्हारी तहजीव अपने खजर से आप ही खुदकुशी करेगी।
जो शाखे-नाजुक पै आशियाना वनेगा, नापायदार होगा।

३ "मेरे वाद और कोई पैगम्बर नही होगा, यह ईश्वरीय आज्ञा है।"
"मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर मे अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य-जाति मे हमसे आगे और कोई नही है।" (रमूजे-वेखुदी)

राष्ट्रीय भाव इकबाल मुसलमानो मे भरना जरूर चाहते थे। अतएव, उन्होने उपदेश दिया कि विश्व भर में फैले हुए मुसलमान राष्ट्रीयता के एकसूत्र में आवद्ध किये जा सकते है।[1]

किन्तु, तफसील में आने पर यह कल्पना उन्हे भी कठिन जान पडी। अतएव, उन्होने सोचा कि "अभी तो यही सभव है कि प्रत्येक मुस्लिम राष्ट्र अपने भीतर डूबकर विचार करे, अपना सारा ध्यान अपने आप पर केन्द्रित करे। फिर, जब ये सब-के-सब, सुदृढ और बलवान हो जायँ, तब उन्हे लेकर प्रजातन्त्रो का एक सम्मिलित परिवार खडा किया जा सकता है। सच्ची और प्राणवती एकता किसी पर ऊपर से लादी नही जा सकती। इसके लिए आवश्यक होगा कि प्रत्येक प्रजातन्त्र की स्वाधीनता बरकरार रहने दी जाय। उनके आपसी तनाव और प्रजातीय (रेसियल) द्वद्व परस्पर सामजस्य में लाये जायँ और उन सब के बीच एकता का वह भाव प्रतिष्ठित रहे, जो समान आध्यात्मिक उमगो से प्रवाहित होती है। मुझे तो ऐसा दीखता है, मानो, परमेश्वर धीरे-धीरे हम सब को यह बता रहे है कि इस्लाम राष्ट्रीयता नही है, वह साम्राज्यवाद भी नहीं है। असल में, वह राष्ट्रो का समह है जो देशगत सीमाओ को केवल नाम और सुविधा के लिए ही अगीकार करता है, अपने सदस्यो के सामाजिक क्षितिजो को सीमित करने को नही।"[2]

विफलता-बोध की पीड़ा

यही मनोदशा थी, जिसने उन्हें बाँगे-दरा के वातावरण से बाहर निकाल दिया। यही वह मुद्रा थी जिसमें इकबाल इस्लाम को भारत से बाहर ले जाने को अपना श्रेष्ठ सुकर्म समझने लगे। और यही वह पीडा थी, जिसने उनके भीतर पाकिस्तान की कल्पना प्रस्फुटित की। सयोग की बात कि जब वे सन् १९३० ई० में मुस्लिम लीग के सभापति हुए, तब अखिल भारतीय मच से सबसे पहले उन्ही के मुख से पाकिस्तान शब्द निकला और उन्होने ही पाकिस्तान प्राप्त करने का दर्शन भी तैयार किया। फलत, हिन्दुओ

---

१. "हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नही है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले में महदूद नही है। हमारी सुराही की मिट्टी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर, हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान में है, न सीरिया और रूम में। इस्लाम को छोडकर हम किसी भी पितृ-देश मे विश्वास नही करते।"
"जानते हो कि मोहम्मद अपनी जन्मभूमि मक्का को छोडकर मदीना क्यो भाग गये? हिजरत मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन मे स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है, सकीर्णता को छोडकर विशालता में पहुँचना। शबनम को छोडकर समुद्र पर विजय पाना।" (रमूजे-बेखुदी)

२. रिकान्स्ट्रक्शन आव् रिलीजियस थाट इन इस्लाम

से अलग होकर मुसलमानी राज बसाने की माँग करने मे मुसलमानो को जो संकोच होता था, वह जाता रहा।[१]

'माडर्न इस्लाम इन इडिया' के लेखक ने एक स्थान पर इकबाल को विफलता-बोध (फ्रस्ट्रेशन) का कवि कहा है और ऊपर के सदर्भ मे उनकी निराशा प्रत्यक्ष है भी। खिलाफत के टूट जाने पर भी, इकबाल इस आशा मे रहे कि फिर कोई खिलाफत तैयार हो सकती है, जिसके अधीन ससार के तीस करोड मुसलमान एक धर्म-सूत्र मे आवद्ध रहेंगे। किन्तु, यह नही हुआ। तुर्को का साम्राज्य खडित हो गया। खिलाफत अदृश्य हो गयी। टर्की ने अपने को धर्म-राज्य मानना छोड़ दिया और अरवी राज्य टूट कर कई स्वाधीन एव अर्द्ध-स्वाधीन राज्यो मे वँट गया। यह इस्लाम के विघटन का दृश्य था, जिसे इकवाल वर्दास्त नही कर सके। अतएव, इस्लाम का विश्व-राज्य स्थापित करने को छोड़कर उन्हे मुसलमानो की उन्नति का और कोई उपाय पसद नही आया।

कोई-कोई लेखक इकवाल पर यह आरोप भी लगाते है कि उन्होंने लोगो की क्रिया-शक्ति को उभार कर उसे चचल तो कर दिया, किन्तु, वे यह वताना भूल गये कि इस क्रिया-शक्ति का उपयोग किस ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाय। यही कारण है कि हर तरह के आदमी उनका नाम लेकर उछलने लगे और प्रत्येक प्रकार के कर्मठ आन्दोलन को उनसे समर्थन मिलने लगा। यहाँ विचारणीय यह है कि पाकिस्तान का नाम लेकर इकवाल ने भारतीय मुसलमानो को किसी भ्रम मे नही रखा। किन्तु, यह नाम उन्होंने काव्य में नही, राजनीति के मच से लिया था। कवि के लिए तफसील में जाकर नक्शा वनाना समव नही होता। वह तो वादल है जो केवल वरस जाता है। यह कैसे समव है कि वादल वरसे भी और अपने पानी को एक खेत में तो जाने दे, किन्तु, वाकी खेतो मे जाने से उसे रोक रखे ? कवि 'डायनिमो' है जो शक्ति क्षरित करता है। उस शक्तिका उपयोग किस उद्देश्य के लिए किया जाय, इसका निर्धारण करने वाले लोग और होते है।

दलितों के कवि

इकवाल दलित जाति के कवि थे। इसलिए, उनमें वेचैनी का होना स्वाभाविक था। और चूँकि इस जाति के दलन का सवसे वडा कारण उसकी निश्चेष्टता थी, इसलिए, इकवाल ने सवसे अधिक जोर भी कर्मण्यता पर ही दिया।[२] सुकर्म की प्रशंसा

---

१. पिछले युद्ध के दिनो मे आरवेरी ने 'इस्लाम टुडे' नामक एक पुस्तक निकाली, जिसमे सर हसन सुहरावर्दी का एक लेख है। इस लेख में भी लेखक ने कहा है कि पाकिस्तान की माँग भारत के विभाजन की माँग नही है। वह विभाजन की माँग तो थी ही, मगर, आरभ में, शर्म से अच्छे लोग वैसा नही कहते थे।

२ खुदा तुझे किसी तूफाँ से आशना कर दे,
कि तेरे वह्र की मौजो में इज्तराव नही।

तो सभी करते हैं। इकवाल ने अकर्मण्य की अपेक्षा उस व्यक्ति को भी श्रेष्ठ समझा जो, और नही तो, गलतियाँ ही करता रहता है।[१] धर्म के वाह्य आडम्बरो की निन्दा तो सब दिन से होती आयी थी। इकवाल की विशेपता यह है कि उन्होंने आडम्बरो को पुण्य की विकृति नही, सीधे पाप कहा। उनका ध्यान मुसलमानो की गरीवी पर था।[२] उनका ध्यान ससार की पूँजीवादी व्यवस्था पर था, जिसके अधीन अमीर गरीव को लूटते रहते हैं।[३] ऐसी अवस्था मे, धर्म यदि गरीवो को सतुष्ट रहने को कहे, दु खो को उनके अपने कर्मो का फल वता कर उन्हें निश्चेष्ट रहने का उपदेश दे, तो धर्म मनुष्य की प्रगति का वाधक वन जाता है। अतएव, इकवाल ने असतोप और बेचैनी को पौरुप का लक्षण वताया, क्योंकि जो सतुष्ट है, उसकी क्रिया ढीली और प्रयत्न शिथिल पड जाते है।[४]

इकवाल ने अनवरत कर्म, निरन्तर सघर्प और सतत निर्भय प्रयास का जो दर्शन तैयार किया, वह केवल मुसलमानो ही नही, हिन्दुओ तथा अन्य जातियो के लोगो के भी फायदे की चीज थी। किन्तु, चूँकि उन्होंने कर्म की दिशा का सकेत नही किया, न यही वताया कि हिंसा, उत्पात और व्यर्थ की हलचल कर्म नही, कुकर्म है,[५] इसलिए, राजनीतिज्ञो

तुझे किताव से मुमकिन नही फिराग कि तू,
कितावख्वाँ है, मगर, साहवे-किताव नही।
(तालवे-इल्म ; वाले-जिवरील)

१ तू समझता नही अय जाहिदे-नादाँ इसको,
रश्के-सद सिज्दा है, एक लगजिशे शैतानिये-दिल। (वाँगे-दरा)

२ वो फाकाकश कि मौत से डरता नही जरा,
रूहे-मुहम्मद इसके वदन से निकाल दो।
वुतखाने के दरवाजे पै सोता है वरहमन,
तकदीर को रोता है, मुसलमाँ तहे-मेहराव। (वाले-जिवरील)

३ उठठो, मेरी दुनिया के गरीवो को जगा दो,
काखे-उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
जिस खेत से दहकाँ को मयस्सर न हो रोजी,
उस खेत के हर खोसये-गन्दुम को जला दो। (वाले-जिवरील)

× × ×

४. है वही तेरे जमाने का इमामे वरहक,
जो तुझे हाजिरो-मौजूदा से वेजार करे।
मौत के आइने में तुझको दिखा कर रुखे-दोस्त,
जिन्दगी तेरे लिए और भी दुश्वार करे।
दे के एहसासे-जयाँ तेरा लहू गरमा दे,
फक्र की शान चढा कर तुझे तलवार करे। (वाले-जिवरील)

५. उदाहरण के लिए, नीचे की पक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जिनके भाव हिंसा और उत्पात के समर्थक होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकते :—

एव आन्दोलनकारियो को यह अवसर मिल गया कि वे इकवाल की प्रतिष्ठा और उनके दर्शन का मनमाना उपयोग करें। इसीलिए, अक्सर, इस बात पर दृष्टि चली जाती है कि, हो-न-हो, इकबाल के कर्मवादी दर्शन और मुस्लिम लीग की सन् १९४६ ई० वाली सीधी कार्रवाई के बीच कारण-कार्य का सबध आन बैठा था।

यूरोप पर शंका

मुसलमानो को कर्मनिष्ठ बनाने के साथ-साथ, इकबाल उन्हे यह उपदेश भी देते गये कि यूरोप का अन्धानुकरण बुरा है[1]। यूरोप के पास सभी गुण ऐसे नही है, जिनसे मुसलमानो का कल्याण हो सकता हो। अँगरेजी पढे-लिखे यूरोपीकृत युवको के लिए उनके पास अच्छे शब्द नही थे। उनकी दृष्टि में ऐसे सभी लोग उधार ली हुई साँस पर जीने की कोशिश करनेवाले थे। टर्की ने यूरोप की नकल इतनी दूर तक की कि उसके पास इस्लाम की विरासत नाम मात्र को ही रह गयी। इस स्थिति की इकबाल पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और उन्होने एक कविता मे लिखा, "तुर्को के रबाब में कोई नया सुर नही है। वे जिसे नया समझ रहे है, वह यूरोप का पुराना लिबास है।" इकबाल का विचार था कि यूरोप का एक पाँव कब्र में लटक चुका है। यह आशा व्यर्थ है कि वह एशिया की रक्षा कर सकेगा।

जिन मूल्यो को लेकर यूरोप खडा है, उनके प्रति आलोचना के भाव गाँधी, रवीन्द्र और राधाकृष्णन् मे भी मिलते है। सच पूछिये तो एशिया की आत्मा ही उन मूल्यो में से कइयो के विरुद्ध है। ताकत जितनी बड़ी चीज हो, किन्तु, वह दया और प्रेम से बढकर

हमामो-कबूतर का भूखा नही मै,
कि है जिन्दगी बाज की जाहिदाना।
झपटना, पलटना, पलट कर झपटना,
लहू गर्म रखने का है इक बहाना।
(शाही · वाले-जिबरील)

जो कबूतर पर झपटने में मजा है ऐ पिसर,
वह मजा, शायद, कबूतर के लहू मे भी नही।
(नसीहत : बाले-जिबरील)

सोचा भी है अय, मर्दे-मुसल्माँ कभी तू ने,
क्या चीज है फौलाद की शमशीर जिगरदार ?
इस बैत का यह मिसरये-अव्वल है कि जिसमें,
पोशीदा चले आते है तौहीद के असरार। (बाले-जिबरील)

१ वह आँख कि है सुरमये-अफरग से रौशन,
पुरकारो-सखुनसाज है, नमनाक नही है।
योरप की गुलामी पै रजामन्द हुआ तू,
मुझको तो गिला तुझ से है, योरप से नही है। (बाले-जिबरील)

नही है। बुद्धि जितनी भी वडी शक्ति हो, अनुभूति से वह हीन ही होती है। और ऐसा कहने से बुद्धि या शक्ति का अनादर नही होता। एशियावासी तो सिर्फ यह चेतावनी दे रहे हैं कि ताकत और बौद्धिकता की चकाचौंध मे आदमी कही प्रेम और अनुभूति की महत्ता से दूर न चला जाय। यह दृष्टिकोण इकवाल मे भी वहुत स्पष्ट है। दया, माया, अहिंसा और सहिष्णुता को तो उन्होंने महत्त्व नही दिया है, किन्तु, प्रेम की महिमा से वे भलीभाँति परिचित हैं तथा दिमाग के मुकावले वे वरावर दिल का साथ देते हैं[1]।

इकवाल तर्क और वुद्धि की अपेक्षा प्रेम और अनुभूति को वहुत वडा स्थान देते हैं। यूरोप से उनकी विरक्ति और उदासी का एक कारण यह भी था कि यूरोप मे ज्ञान, वुद्धि, तर्क और भौतिक शक्तियाँ वहुत काफी हैं। फिर भी, वहाँ के लोग गरीबो को लूटने मे आनन्द लेते हैं। फिर भी, यूरोप मे व्यक्ति-व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र के वीच सशय और छल-प्रपच का राज है। फिर भी, यूरोप का धनी और सुशिक्षित वर्ग भीतर से खोखला और अशात है। इकवाल ने इन सब का कारण यह समझा कि यूरोपवालो ने धर्म की अवज्ञा कर दी है और अन्तरात्मा की आवाज को सुनना छोड दिया है। प्रेम और अनुभूति की महत्ता वे भूल वैठे हैं। जव तक ये गुण वापस नही लाये जाते, मनुष्यता का कल्याण असभव है। पूँजीवादी व्यवस्था के वे खिलाफ थे। इकवाल व्यक्ति का उत्थान चाहते थे, किन्तु, पूँजीवाद के अन्दर व्यक्ति को वढने की राह नही मिलती, वह मशीन के पुरजे का अग वन जाता है। यूरोप की शक्ति उन्हे प्रेमहीन होने के कारण निन्द्य लगी। यूरोप का ज्ञान उन्हे आत्मा-रहित होने के कारण छूँछा दीख पड़ा।

भावात्मक समाजवाद

वाले-जिवरील मे दो-एक ऐसी भी कविताएँ हैं, जिनसे इकवाल का, समाजवाद के प्रति, अटल विश्वास प्रकट होता है। 'आस्पेक्ट्स आव् इकवाल' नामक पुस्तक की भूमिका मे तासीर नामक लेखक ने इकवाल का यह उद्धरण दिया है कि "यदि मै किसी मुस्लिम-राज्य का डिक्टेटर होता तो सवसे पहला काम यह करता कि उसे समाजवादी राज्य वना डालता।" रूस के वारे में उनका ख्याल था कि वह, अज्ञात रूप से, परमात्मा ही काम कर रहा है। उसकी नास्तिकता इस कारण है कि क्राति के पहले वहाँ का ईसाई-सगठन भ्रष्ट हो गया था। इकवाल को आशा थी कि, काल पाकर, धर्म रूस में वापस आयेगा और रूसी लोग मुसलमान हो जायँगे।

किन्तु, साथ ही यह वात भी है कि 'पयामे-मशरिक' नामक अपने फारसी काव्य में उन्होंने लेनिन को कैसर के साथ नरक की अग्नि मे जलता दिखलाया है और वाले-जिवरील मे उन्होने लेनिन को परमात्मा के मुख से उपदेश दिलवाये है।

१. जो अक्ल का गुलाम हो, वो दिल न कर कवूल। (वाले-जिवरील)

किसी ने सत्य ही कहा है कि इकबाल का समाजवाद भावात्मक था, बुद्धि से इस विषय को समझने की उन्होने कभी कोशिश नही की। उनकी कविताओ से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि धर्म और समाज, दोनो दो तत्त्व है और अच्छे समाज को दोनो के कुछ-कुछ अश चाहिए। समाजवाद मे जो धार्मिकता है तथा धर्म का जो सामाजिक पक्ष है, उस पर उनकी दृष्टि कभी गयी ही नही।

पान-इस्लामी राष्ट्रीयता

इकबाल ने जिस राष्ट्रीयता का आख्यान किया, वह भारत की राष्ट्रीयता नही, भारतीय मुसलमानो की भी राष्ट्रीयता नही, विश्व भर के मुसलमानो की राष्ट्रीयता थी। राष्ट्रीयता के इस रूप को ज्ञापित करने के लिए अँगरेजी में "पान-इस्लाम" शब्द चलता है, जिसका आशय यह है कि सारे ससार में मुसलमानो के भीतर एक प्रकार की प्रगाढ एकता का भाव है। यही भाव मुसलमानो को यह मानने की प्रेरणा देता है कि वे और कुछ होने के पहले मुसलमान ह । यही भाव मुसलमानो को उन देशो मे अप्रसन्न रखता है, जिन देशो मे मुसलमानो का राज्य नही है अथवा जिन देशो में वे अल्पसख्यक है। देशो की सीमाओ के भीतर मुसलमानो का केवल शरीर रहता है। मन से वे समस्त विश्व के मुसलमानो के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करते है। इसीलिए, भारत तथा कुछ अन्य देशो मे (जैसे एक समय चीन मे) बहुमत उनके प्रति क्षुब्ध रहा है।[1] स्वदेश और इस्लाम, दोनो के प्रति सात्विक भक्ति का निर्वाह मुसलमानो मे तभी सभव है, जब वह देश किसी भी इस्लामी देश के विरुद्ध नही हो। जहाँ इस प्रकार का विरोध उत्पन्न हुआ कि अल्पसख्यक मुसलमानो के भीतर एक प्रकार की भावात्मक पीडा आरभ हो जाती है, एक प्रकार का द्वद्व शुरू हो जाता है, जिसका इलाज निकालने मे मुसलमान आज तक असमर्थ रहे है।

फिर भी, यह पान-इस्लामी भाव कुछ इकबाल की ही अथवा भारतीय मुसलमानो की ही विशेषता नही है। यह भाव, प्राय, सभी मुसलमानी देशो का है और सच पूछिये तो हजरत मोहम्मद के अनुयायियो के बीच सगठन और एकता की प्रमुखता, आरभ से ही, मानी जाती रही है। मुसलमान भी आपस मे झगडते है, किन्तु, जभी किसी काफिर का सामना हुआ कि उनके आपसी झगड़े अपनी जगह पर छूट जाते है और दुश्मन के मुकाबले मे, वे सब-के-सब, अनायास, एक हो जाते है। मुसलमान-मुसलमान मे जैसी एकता होती है, वैसी एकता हिन्दू-हिन्दू अथवा ईसाई-ईसाई के बीच नही हो पाती। अपने अनुयायियो पर जैसा कठिन नियत्रण इस्लाम का है, वैसा और किसी धर्म का नही।

---

१ गद्दारे-वतन इसको बताते है बरहमन,
अँगरेज समझता है मुसलमाँ को गदागर। (इकबाल)

मागी-धर्म को इस्लाम ने दुनिया से नेस्त-नाबूद कर दिया। ईसाई और हिन्दू-धर्म के अनुयायियो मे से भी वहुतो को उसने फोड कर अपना बना लिया। किन्तु, यही बात मुसलमानो के बारे में नही कही जा सकती। वहुत कम ऐसे मुसलमान होगे, जो अपना धर्म छोडकर अन्य धर्मों में गये होगे।

इस्लामी एकता के कारण

इस्लामी धर्म मे, मुसलमानो के बीच एकता रखने की जो शिक्षा है, उसके सिवा भी दो कारण और हैं जिनसे विश्व भर के मुसलमानो की एकता मे वृद्धि हुई है। पहली बात तो यह है कि हजरत मोहम्मद के बाद से, इस्लाम एक ही खलीफे के अन्दर, एक ही अनुशासन में रहने का अभ्यासी रहा। पहले खिलाफत मक्के मे थी और बाद को बगदाद मे। जब मगोलो ने बगदाद को तहस-नहस कर दिया, तब कुछ दिनो के लिए मुसलमानो के ऊपर से खिलाफत की छाया जाती रही। किन्तु, उसके बाद ही, टर्की के सुलतानो ने खलीफा की उपाधि धारण कर ली और समस्त विश्व के कट्टर मुसलमान उन्हें अपना धर्म-गुरु मानने लगे, यद्यपि, अरबो में टर्की के खलीफाओं के प्रति सच्ची भक्ति कभी नही हुई। अब तो, खैर, टर्की ने खिलाफत को उठा दिया है, किन्तु, सदियो तक खिलाफत के जरिये मुसलमानो में एकता का जो भाव पुष्ट होता रहा, वह आज भी जीवित है।

एकता का दूसरा प्रधान कारण हज है। प्रत्येक मुसलमान की यह कामना रहती है कि वह मरने के पहले, कम-से-कम एक बार, मक्के की यात्रा अवश्य कर ले। मक्के की यात्रा करने मात्र से व्यक्ति हाजी कहलाने लगता है और समाज मे उसकी इज्जत बढ जाती है। प्रति वर्ष, प्राय, लाखो लोग मक्के मे एकत्र होते हैं। वे विश्व के प्रत्येक कोने से आते हैं और, मिलने-जुलने के क्रम में, वे प्रत्येक देश की इस्लामी समस्याओ पर विचार करते हैं। इस तीर्थ-यात्रा से विश्व का इस्लामी सम्मेलन, आप-से-आप, सगठित हो जाता है और, आप-से-आप, लोग एक-दूसरे की कठिनाइयो से परिचित हो जाते हैं। इस यात्रा का बडा भारी राजनैतिक महत्त्व है, क्योकि खिलाफत के टूट जाने के बाद, वही एक साधन है, जिससे मुसलमान अपनी एकता कायम रखे हुए हैं।

भारत में, भ्रमवश, कभी-कभी लोग यह मान बैठते हैं कि मुसलमानो मे जो 'पान-इस्लामी' राष्ट्रीयता है, वह उनके हिन्दुओ के प्रति द्वेष के कारण है। किन्तु, यह बात गलत है। पान-इस्लामी एकता भारत से निकल कर बाहर नही गयी है, अपितु, वह बाहर से ही भारत मे आयी है। हिन्दुओ की अपेक्षा यूरोपवालो की यह शका कही अधिक सत्य है कि मुस्लिम देशो की आपसी एकता इस कारण बढी है कि वे सब देश यूरोपीय साम्राज्यवाद से आतकित और पीडित रहे हैं। वहाबी आन्दोलन के उत्थान का एक कारण तो यह था कि इस्लाम मे बहुत से बाहरी प्रभाव आ गये थे, जो मौलिक

इस्लाम की दृष्टि से इस्लाम के दोष थे और उन्हे दूर करना आवश्यक था। किन्तु, उससे भी जबर्दस्त कारण यह था कि इस्लामी देश यूरोप की अधीनता में चले गये थे या जा रहे थे, अतएव, यूरोप के साथ तुलना करने पर, मुसलमानो को अपने धार्मिक दोष स्पष्ट दिखायी दिये। इसीसे वहाबी आन्दोलन मुस्लिम राज्यो के राजनैतिक एवं मुस्लिम शासको के धार्मिक पतन के विरुद्ध पवित्रतावादी आन्दोलन बन कर खड़ा हुआ। जब भारत मे सिपाही-विद्रोह हुआ, तब तक तो अल्जीरिया पर फ्रास का और कौकेसस पार के मुस्लिम-राज्यो पर रूस का अधिकार स्थापित हो चुका था और सारे भारत पर अँगरेज छा चुके थे। इस स्थिति से ससार भर के मुसलमानो में यह आतक फैल गया कि इस्लाम यूरोप की प्रभुता के नीचे आ रहा है। परिणाम यह हुआ कि ससार भर के मुसलमानो मे एक प्रकार की एकता और पारस्परिक सहानुभूति बढ़ने लगी एवं पान-इस्लामी आन्दोलन का रुख यूरोप-विरोधी होने लगा।

इस आन्दोलन की यह प्रवृत्ति तब से आज तक बरकरार रही है, जिसके अनेक उदाहरण हम इकबाल की कविताओ मे देख चुके हैं। यूरोपीय आतक के कारण, मुसलमानो मे एकता ही सुदृढ नही हुई, बल्कि, वे बगावत पर भी उतर आये एव सन् १८७० ई० के आस-पास, ससार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के मुसलमान, एक साथ छिट-फुट विद्रोह कर उठे। अलजीरिया में कबायलों ने बगावत की, उत्तरी अफरीका में मुल्ले जिहाद का प्रचार करने लगे तथा सूडान मे मेहदी-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो तब तक चलता रहा जब तक लार्ड किचनर ने खारतूम पर कब्जा नही किया। अफगानिस्तान मे भी धार्मिक जोश सामरिक रूप लेने लगा और भारत में वहाबियो ने क्राति मचा दी। मध्य एशिया में भी मुसलमानो में बगावत फैल गयी एव चीन के तुर्किस्तान और उनान, दोनो ही प्रातो के मुसलमान बागी हो उठे, जिन्हें दबाने में चीनी सरकार को काफी कठिनाई हुई।

ईस्ट-इडीज द्वीप-समूह मे हालैण्ड के खिलाफ आन्दोलन आरभ हुआ जो अभी हाल मे आकर समाप्त हुआ है, जब वहाँ के लोग स्वाधीन हो गये। यह ठीक है कि इन विभिन्न देशीय आन्दोलनो मे पारस्परिक सहयोग नही था, न वे किसी एक व्यक्ति या सस्था के नेतृत्व में उठे थे, किन्तु, इस्लाम पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद के भीतर से जो विपत्ति आयी थी, उसका अनुभव सभी मुसलमानो ने किया और उनकी एकता एव सहानुभूति इतनी प्रबल हो उठी कि बिना किसी विश्व-नेतृत्व के प्रत्येक देश मे वे, आप-से-आप, यूरोप के द्रोही बन बैठे।

इस्लामी देशो मे जब जागृति की पहली लहर उठी, तब सभी देशो के मुसलमान यह मानते थे कि यूरोप और ईसाइयत से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि मुसलमान दोनो की अच्छी बातो को मान ले। किन्तु, शीघ्र ही, सभी देशो के मुसलमानो मे यह भाव फैल गया कि इस्लाम को यूरोप से कुछ भी लेना नही है। विज्ञान और बुद्धिवाद

की सारी अच्छाइयाँ इस्लाम में मौजूद हैं। यह पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का सास्कृतिक पक्ष था। यह आन्दोलन यूरोप और ईसाइयत का कैसा विरोधी है, यह पान-इस्लामी आन्दोलन के प्रबल उन्नायक जमालुद्दीन अफगानी (ईरान, मृत्यु सन् १८९६ ई०) के निम्नलिखित विचारो से जाना जा सकता है—

"ईसाई ससार राष्ट्रीयता और प्रजातीयता (रेसियलिज्म) की दृष्टि से आपस में काफी बँटा हुआ है, किन्तु, पूर्वी जगत्, विशेषत, इस्लाम से शत्रुता करने में सभी एक हैं एव वे सभी मुस्लिम-राज्यो को विनष्ट कर देना चाहते हैं।

"ईसाइयो और मुसलमानो के बीच जो युद्ध (क्रुसेड) चला था, वह अभी तक जारी है। ईसाई दुनिया अभी भी अपने दिलो मे इस्लाम से घृणा करती है। इसके प्रमाण अनेक हैं। ईसाइयो ने जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून चलाया है, उसमें मुस्लिम-राज्यो का वह स्थान नही है जो ईसाई राज्यो का है।

"प्रत्येक देश की ईसाई जनता इस्लाम से नफरत करती है। और उसका नतीजा यह है कि सभी देशो में इस्लाम को मटियामेट करने के काम जिद के साथ किये जा रहे है।

"ईसाई संसार मे मुसलमानो की हर आरजू, हर उमग की हँसी उडायी जाती है। अपने देश मे ईसाई जिस चीज को राष्ट्रीयता और देशभक्ति कहते हैं, इस्लामी देशो में उसी चीज का नाम वे धर्मोन्माद बताते हैं।

"इन सब बातो से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि अपने धर्म और सभ्यता को तथा अपने आपको विनाश से बचाने के लिए संसार भर के मुसलमानो को आपस में एक होकर उठना ही चाहिए। हाँ, इस अभियान मे सफल होने के लिए मुसलमानो को यह भी चाहिए कि पश्चिम में उन्नति के जो तरीके तथा ताकत के जो भेद हैं, उन्हें वे (मुसलमान) सीख लें[1]।"

पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का मूलाधार धर्म है, यह बात मौलाना मोहम्मद अली के भी निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। "पश्चिम मे शासन-विज्ञान का सारा सिद्धांत यह है कि मनुष्यो के विभाजन का स्वाभाविक आधार प्रजातीयता और भूगोल है। किन्तु, पूर्वी देशो मे ये विचार सत्य से दूर माने जाते है। पूर्वी देशो में मनुष्यो का विभाजन धर्म के आधार पर समझा जाता है। पूर्व में इकाई का रूप राष्ट्र या राज्य नही, मिल्लत (धर्मबन्धुता) है। यूरोपवाले समझते हैं कि यह मध्यकालीन प्रवृत्ति है, जिससे होकर गुजरे बिना इस्लाम को आधुनिकता की प्राप्ति नही होगी। ये कितने गलत विचार हैं? यूरोपवाले यह समझते ही नही कि मुसलमान धर्म को किस दृष्टि से देखते है। वे यह भूल जाते हैं कि इस्लाम केवल धर्म ही नही, वह सामाजिक सगठन, सस्कृति और राष्ट्रीयता का भी एक रूप है। इस्लामी बन्धुत्व, देश-भक्ति के ही समान

---

१ 'द न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम'—लेखक:-स्टोडार्ड

है, यद्यपि, दोनो मे एक भेद है कि देश-भक्ति के समान यह धर्म-बन्धुत्व, कानून, रीति-रिवाज, प्रजाति, देश या इतिहास की समानता से उद्भूत नही होता, बल्कि, जैसा कि हम मानते है, वह सीधे परमेश्वर की देन है[२]।"

---

२ वही

प्रकरण १७

भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान

नवोत्थान के क्रम में भारतीय मुसलमानों के भीतर जो विभिन्न भाव उदित हुए, उनकी दिशा एक नहीं थी। नवोत्थान की एक शिक्षा यह थी कि इस्लाम पीड़ित, विपन्न और हतप्रभ है, अतएव, यूरोपीय गुणों का अनुकरण करके हमें उसका उद्धार करना चाहिए। नवोत्थान की ही दूसरी शिक्षा यह थी कि अपने उद्धार के लिए हमें परमुखापेक्षी होने अथवा दूसरों का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है अपितु, इस्लाम के इतिहास से ही हमें हर तरह की प्रेरणा मिल सकती है। नवोत्थान की तीसरी शिक्षा यह थी कि यूरोप इस्लाम का शत्रु है एवं जहाँ-जहाँ यूरोपीय प्रभाव काम कर रहा हो, वहाँ मुसलमानों को सावधान रहना चाहिए। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान ऐसे प्रत्येक प्रभाव को सदेह से देखने लगे जो पहले यूनान से और अब यूरोप से आकर इस्लाम को प्रभावित कर रहा था और नवोत्थान से ही प्रेरित मुसलमान सामासिक संस्कृति के उन अंशों को दूर करने लगे, जिन्हें वे इस्लाम पर हिन्दुत्व का प्रभाव समझते थे। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान विश्व-इस्लाम की रक्षा करने को आतुर होने लगे और इसी प्रेरणा से उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन का भी साथ दिया।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी और न हिन्दू-नवोत्थान के ही इससे भिन्न परिणाम निकले थे। खोज करने पर यह बात, आसानी से, जानी जा सकती है कि जिस प्रकार, मुस्लिम राष्ट्रीयता (साम्प्रदायिकता का एक पक्ष) की धारा मुस्लिम नवोत्थान से फूटी है, उसी प्रकार, हिन्दू-राष्ट्रीयता (सांप्रदायिकता का दूसरा पक्ष) की धारा हिन्दू-नवोत्थान से निःसृत हुई जिसके आरम्भिक रूप स्वामी दयानन्द के धार्मिक आन्दोलन एवं बंकिम बाबू और डी० एल० राय के उपन्यासों और नाटकों में मौजूद थे। नवोत्थान जातियों का ध्यान अतीत की ओर ले जाता है। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि जातियों के जो अमर तत्व होते हैं उनका दुबारा जन्म हो जाता है; दूसरा यह कि जातियाँ इतिहास के मिथ्या-संस्कारों से भी जा चिपकती हैं, जो केवल प्राचीनता का मोह (रिवाइव-लिज्म) है। नवोत्थान के क्रम में जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम के धार्मिक एवं दार्शनिक तत्व फिर से जी उठे, उसी प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अपने-अपने पौराणिक संस्कारों की भी वृद्धि हुई जो उन्हें एक-दूसरे से अलग ले जाने की चेष्टा करते रहे हैं।

जब भारत के सामने, अँगरेजों को हटा कर अपनी स्वतंत्र सरकार कायम करने का स्वप्न प्रकट हुआ, तब मुस्लिम-नवोत्थान से प्रेरित शक्तियाँ दो धाराओं में विभक्त हो गयीं। एक धारा वह थी जो सब कुछ से आँख बन्द करके अँगरेजों को भारत से बाहर

निकाल देने को बेचैन थी। दूसरी धारा वह थी जो इस सशय से ग्रसित थी कि अँगरेज गये तो हमारा क्या होगा। इस दूसरी धारा में केवल मुसलमान ही नही, बहुत-से हिन्दू लोग भी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन का एक लक्षण यह था कि उसमे निहित-स्वार्थवाले धनी-मानी लोग कम पडे। किन्तु, धनियो का सारा वर्ग निश्चेष्ट नही था। बहुत-से ऐसे भी धनी थे जो हिन्दू-सभा के साथ थे। अँगरेज हिन्दू-सभा से नही चिढते थे, क्योकि हिन्दू-सभा साम्प्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने के काम आ सकती थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि राष्ट्रीयतावादी धारा में हिन्दू अधिक, मुसलमान कम आये। इसके विपरीत, जिस धारा में शंका थी, भय था, दुविधा और सदेह था, प्राय, अधिकाश मुसलमान उसीके किनारे बैठे रह गये और यही बडा दल, सकट आने पर, भारत-विरोधी हो गया और उसीके दवाव से भारत का विभाजन भी हुआ। अब तो इस दल के लोग भी अपने कृत्य पर पछताते है, किन्तु, उस समय उनकी आँखे अधी हो गयी थी।

एकता की राह

कुछ तो नवोत्थानी सस्कार के चलते और कुछ अँगरेजो की चाल से वे, सचमुच ही, हिन्दू-बहुमत से शकालु और भीत हो उठे थे, एवं उनके तथाकथित लीगी नेताओ ने उन्हें जिस तरफ चलने को कहा, उस तरफ वे आँख मूंद कर चले गये। भारत-विभाजन से ऐसा दीखता है, मानो, शका, द्विधा और अधकार की यह धारा जीत गयी है। किन्तु, जीत अभी मानी नही जा सकती। पाकिस्तान में हिन्दू और हिन्दुस्तान में मुसलमान अभी भी मौजूद है और भारत की जो हिन्दू-मुस्लिम समस्या थी वह अब भी वर्तमान है, यद्यपि, अब वह एक नही, दो देशो में है। और यह भी स्पष्ट दीखता है कि आज भी इस समस्या का समाधान न तो मुस्लिम लीगी नीति से पाया जा सकता है, न उस नीति से जिस पर हिन्दू-सभा, जन-सघ अथवा हिन्दू साम्प्रदायिक सस्थाएँ चल रही है।

हमारे जानते हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आज भी वही समाधान है जो काग्रेस ने निकाला था, जो राष्ट्रीय मुसलमानो को सूझा था। यह समाधान है मुसलमानो के भीतर इस भाव को पुष्ट करना कि भारत उनका देश है और भारत के लिए उन्हें उसी प्रकार जीना और मरना चाहिए जिस प्रकार अन्य देशो के लोग अपने देश के लिए जीने और मरने में आगा-पीछा नही करते है। यह समाधान है मुसलमानो के हृदय की उस शका को निर्मूल कर देना, जिससे वे हिन्दुओ के बहुमत से भय खाते है।

इस समाधान का, स्वभावत ही, एक दूसरा पक्ष भी है जिसका सबध हिन्दुओ से है। जब तक हम अपने इतिहास के दग्ध अश को नही भूलते, हम मुसलमानो को सहज दृष्टि से देखने में असमर्थ रहेंगे। गजनी, गोरी, औरंगजेब और जिन्ना के भूत जब तक जीते हैं, हिन्दुओ का हृदय साफ नही होगा। गजनी, गोरी, औरगजेब और जिन्ना ही नहीं,

अकबर, दाराशिकोह, बहादुरशाह अजमल खाँ, अंसारी और आजाद भी मुसलमान ही थे। अजमल खाँ, असारी और आजाद की क्षणस्थायी पराजय के सारे कारण मुसलमान ही नही, हिन्दू भी है। जब चिराग की लौ पतली हो तब जोर की हवा नही चलनी चाहिए। असारी और आजाद की विजय बहुमत की सहिष्णुता से होगी, हिन्दुओ की उदारता और सपूर्ण न्याय-बुद्धि से होगी। भारत की धार्मिक एव प्रजातीय एकता की समस्या ऐसी नही है, जिसका समाधान वीरता, जोश और निर्भयता से ढूँढा जा सके। यह बडा ही नाजुक काम है। इसमें मौन हमारी जितनी सहायता करेगा, उतनी मुखरता नही। इसमे धीरज और शान्ति से देश का जितना भला होगा, उतना आवेश और अशाति से नही। कोई एक निर्णय करके उस पर अड जाने से एकता का प्रश्न नही हल होगा। हमे, कदम-कदम पर, समझौते और सामजस्य की खोज करनी है। और यह काम आनन-फानन भी नही होगा। पीढी-दर-पीढी, हमें अभी बहुत दिनो तक शाति बरतनी है, सद्भाव निभाना है, अमृत बोते जाना है, जिससे हिन्दू और मुसलमान, पारस्परिक भिन्नता को भूल कर, एक हो जायँ।

अंगरेजों की भेद-नीति

मुसलमानो को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने के बहुत सारे काम अँगरेजो ने किये। गदर के बाद उनकी नीति यह थी कि "हम इस विश्वास से आँख नहीं मूँद सकते कि मुस्लिम-जाति, मूलत., हमारी शत्रु है। अतएव, हमे हिन्दुओ को खुश करके उन्हे अपने पक्ष मे रखने की नीति अपनानी चाहिए।"[1] गदर के बाद ही, बम्बई के गवर्नर ने कहा था कि "रोमनो की नीति 'बाँटो और राज करो' की नीति थी। वह नीति अब हमें भी बरतनी है।"[2] यह नीति काम मे आयी और जैसा कि ग्राहम ने लिखा है, "गदर के बाद, मुसलमानो पर बादल छा गया। उन दिनो की सारी क्रूरताओ और सभी अत्याचारो की जवाबदेही उन्ही पर थोप दी गयी।"[3] भारत मे साम्प्रदायिकता का यही आरभ था। और राज्य ने जब एक बार उसे प्रश्रय दिया, तब वह स्वय भी बढने लगी।

इसी स्थिति से घबरा कर सर सैयद ने मुसलमानो को राज-भक्ति का पाठ पढाना आरभ किया और इस कार्य मे उन्हे सफलता भी बहुत अधिक मिली। सन् १८७० ई० तक आते-आते अँगरेजो को यह विश्वास हो गया कि अब मुसलमान हमारा साथ नही छोड़ेंगे। किन्तु, उस समय तक सरकार को यह विश्वास हो चला था कि शिक्षित हिन्दू

१. लार्ड एलेनबरी द्वारा प्रेषित डिस्पैच मे से, दे० पटलेकर-लिखित 'द फ्यूचर आव् इस्लाम इन इंडिया', जिल्द १, पृ० ८७४
२. एल्फिस्टन की मिनट ता० १४-५-१८५९ ई०
३. 'लाइफ एण्ड वर्क आव् सर सैयद अहमद खाँ'

वर्ग धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की ओर जा रहा है। अतएव, सरकार की नीति मे अब दूसरा परिवर्तन हुआ और वह हिन्दुओ को छोडकर मुसलमानो की ओर झुकने लगी। अब अच्छे-अच्छे ओहदे मुसलमानो को दिये जाने लगे और हिन्दू अपनी योग्यता के भरोसे छोड दिये गये। हिन्दुओ मे ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय भाव वढता गया, त्यो-त्यो अँगरेज मुसलमानो की राज-भक्ति को सुदृढ रखने के लिए उन्हे अधिक-से-अधिक ओहदे देते गये कि तराजू के दोनो पलडे ठीक रहे। सर जान स्ट्राची ने लिखा है कि "अगल-बगल इन दो विरोधी धर्मो का अस्तित्व भारत मे हमारी राजनैतिक स्थिति के पक्ष मे सबसे बडा कारण है। मुसलमानो मे जो उच्च वर्ग के लोग है, उनसे हमारी शक्ति वढती है, दुर्बलता नही। यह वर्ग सख्या मे तो अल्प है, किन्तु, उसके हित हमारे हितो से एकाकार है।"[१]

हिन्दू-नवोत्थान के क्रम में वगाल और महाराष्ट्र के नेता तथा श्रीमती एनी वीसेंट एव स्वामी दयानन्द हिन्दुत्व के सवध मे जो अद्भुत प्रचार कर रहे थे, उसका प्रभाव मुसलमानो पर आतककारी हुआ हो तो कोई आश्चर्य की वात नही। हिन्दुओ की राष्ट्रीय उन्नति देख कर सर सैयद खुश नही थे, इसका उल्लेख उनके प्रसंग में किया जा चुका है, यद्यपि, इसका कारण यह था कि वे राजभक्त थे और सरकार-विरोधी आदोलन उन्हे पसन्द नही था। हिन्दू-नवोत्थान-विषयक प्रचार मुसलमानो का विरोधी नही था, वह केवल हिन्दुत्व के पक्ष का आन्दोलन था, ठीक उसी प्रकार, जैसे सन् १९२० ई० का खिलाफत आन्दोलन हिन्दू-विरोधी नही था। फिर भी, जैसे, खिलाफत का साथ देने के लिए हिन्दू भाइयो ने काग्रेस का पीछे मजाक उडाया, उस प्रकार की प्रवृत्ति उन्नीसवी सदी के अत में मुसलमानो मे भी उदित हुई थी।

तब सन् १९०५ ई० मे लार्ड कर्जन ने वगाल का, साम्प्रदायिकता के आधार पर, विभाजन कर दिया। यह शैतानियत से भरी हुई चाल थी। पहले वगाल और फिर सारा देश कर्जन के इस कृत्य से क्षुब्ध और आन्दोलित हो उठा एव अँगरेजो के मुस्लिम-भक्त इस वात से प्रसन्न हो उठे कि अब अँगरेजों और हिन्दुओ की असली खटपट शुरू हो गयी। इस आन्दोलन में मुसलमानो ने हिन्दुओ का साथ नहीं दिया, परिणामतः, इस आन्दोलन की भाव-धारा शुद्ध हिन्दू भाव-धारा होती गयी। इसी आन्दोलन के क्रम मे, देश ने स्वदेशी का व्रत लिया, जिसकी टीका अँगरेजो ने यह की कि स्वदेशी वनाने और वेचनेवाले लोग तो हिन्दू है, अतएव, इस आन्दोलन से लाभ भी हिन्दुओ को ही होगे। यह भी एक कारण हुआ कि मुसलमान प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को सन्देह से देखने लगे।

मुस्लिम लीग

लेकिन, स्वदेशी आन्दोलन के वाद, सरकार निश्चित रूप से सांप्रदायिकता को

१. 'इडिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस'

बढावा देने की राह् पर आ गयी और इस गर्हित कर्म में पहले उसे जो थोडा-बहुत सकोच होता था, उसे भी उसने अब ताक पर धर दिया। सन् १९०६ ई० में वायसराय ने कुछ मुसलमानो को मुस्लिम लीग नामक सस्था स्थापित करने की अनुमति दी[1] तथा मिंटो-मोर्ले रिफार्म में उसने मुसलमानो के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र बनाने का एलान कर दिया। मिंटो-मोर्ले-रिफार्म की घोषणा के साथ यह बात स्पष्ट हो गयी कि मुसलमान अब आसानी से राष्ट्रीयता की राह् पर नही आयेंगे और उनकी सहायता और सहयोग से अँगरेज भारत में अपनी सत्ता बनाये रहेंगे।

आरंभ में, मुस्लिम लीग की नीति वही थी जो आदि-अवस्था में कांग्रेस की रही थी। फर्क यह् था कि कांग्रेस शुरू से ही जो माँगें करती आ रही थी वह सभी भारतवासियो के लिए, केवल हिन्दुओ या मुसलमानो के लिए नही। किन्तु, मुस्लिम लीग के प्रस्ताव 'नौकरियो में मुसलमानो के वाजिब हिस्सो, काउन्सिल में मुसलमानो के उचित प्रतिनिधित्व' एव, अत में, ब्रिटेन पर भक्ति दिखाने के लिए किये जाते थे। किन्तु, सभी मुसलमानो, विशेषत, निर्धन वर्ग को अँगरेजो के लिए भक्ति नही थी, न वे हिन्दुओ से घृणा करते थे। घृणा का दर्शन तो बुद्धिजीवियो के धरातल पर तैयार किया जा रहा था। जन-साधारण को अभी तक उस दर्शन से कोई सरोकार नही था। परिणामत:, हम देखते है कि मुस्लिम-लीग में उन दिनो कोई दम नही था। स्वतन्त्रता-प्रेमी, साहसी और जागरूक मुस्लिम नौजवान लीग को अँगरेजो की हाँ में हाँ भरनेवालो की सख्या समझते थे और जिस व्यक्ति के पास दौलत या ओहदा नही था, वह अपने लिए लीग को व्यर्थ समझता था।

मिस्टर जिन्ना लीग मे सन् १९१३ ई० में आये। उसके पूर्व वे कांग्रेस में थे। किन्तु, उनके आने से भी कोई बात नही बदली। लीग में ऐसे-ऐसे दकियानूस लोग भरे थे कि मिस्टर जिन्ना को भी उन्होने भयानक क्रातिकारी समझा एव लीग में उनके आगमन से राजभक्तो का सप्रदाय घबरा उठा। अँगरेज बहुत चाहते थे कि लीग के भीतर क्रातिकारी विचार तो न आने पाये, किन्तु, उसका सुयश अवश्य बढे। अँगरेजो की पहली आशा तो पूरी होती गयी, किन्तु, दूसरी आशा पूरी हुई या नही, यह सुनिश्चित भाषा मे नही कहा जा सकता। सन १९३१ ई० की गोल-मेज कांफ्रेंस के समय मुस्लिम लीग अँगरेजों की दृष्टि में भी भारतीय मुसलमानो की प्रतिनिधि संस्था नहीं थी, न उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई मुसलमान इग्लैंड बुलाया गया था। मिस्टर जिन्ना कांफ्रेंस में अपनी वैयक्तिक प्रसिद्धि के कारण बुलाये गये थे, क्योकि दूसरी कांफ्रेंस में जब उनका नाम छूट गया तब सरकार ने इसका यही कारण विज्ञापित किया था कि मिस्टर जिन्ना किसी का प्रतिनिधित्व नही करते हैं।

---

१. कहते है, वायसराय की प्रेरणा से ही यह सस्था कायम हुई थी। (दे० माडर्न इस्लाम इन इडिया)

एकता की तरंग

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनो में, भारत मे आजादी की माँग जोर से की जाने लगी। श्रीमती एनी बीसेंट और लोकमान्य तिलक ने होमरूल आन्दोलन के द्वारा देश मे काफी जागृति उत्पन्न कर दी। इस युद्ध मे टर्की मित्रराष्ट्रो के विरुद्ध लड रहा था। अतएव, इसकी प्रतिक्रिया भारतीय मुसलमानो पर अँगरेजो के प्रतिकूल हुई और अँगरेज भारत में जो चाल चल रहे थे, वह तत्काल मद्धिम पड गयी। राजभक्त रोकते रह गये, किन्तु, मुसलमान आजादी की लडाई मे हिन्दुओ का साथ देने को आगे बढने लगे। इस भावना की फसल सन् १९२० ई० मे गाँधीजी ने काटी तथा खिलाफत और भारतीय स्वराज्य, इन दोनो उद्देश्यो को लेकर हिन्दू और मुसलमान एक हो गये एव दोनो ने मिलकर सरकार से असहयोग का एलान कर दिया। सन् १८५७ ई० के गदर के वाद, यह दूसरा अवसर था, जब हिन्दू और मुसलमान, कधे-से-कधा भिडा कर, एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हुए थे। किन्तु, असहयोग-आन्दोलन चौरीचौरा की दुर्घटना के कारण अचानक अवरुद्ध हो गया। आन्दोलन के सहसा अवरुद्ध हो जाने की प्रतिक्रिया हिन्दुओ में बहुत कुछ वैसी ही हुई जैसी युद्ध की ओर पाँव बढाते हुए सिपाही पर अचानक वापस हो जाने की आज्ञा से हो सकती है। किन्तु, सरकार और राजभक्त मुसलमानों ने बाकी मुसलमानों के कान मे यह व्याख्या भर दी कि हिन्दू कभी भी मुस्लिम हितो के लिए अँगरेजो से नही लडेंगे। साधारणत, ऐसी कानाफूसी का असर कौम पर नही हो सकता, किन्तु, इसके बाद देश में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घटी, उनकी पृष्ठ-भूमि पर यह कानाफूसी भी सच मानी जाने लगी।

साम्प्रदायिकता का विस्फोट

असहयोग-आन्दोलन के बाद, देश में हिन्दू-मुस्लिम दगो की बाढ आ गयी। सन् १९२४ ई० में मोपला-विद्रोह हुआ जिसका प्रधान कारण आर्थिक था, किन्तु, हिन्दुओ पर उस विद्रोह में जो अत्याचार हुए उनसे यह घटना हिन्दू-मुस्लिम-कलह का नमूना बन गयी। हिन्दू हिन्दुओ को बचाने को दौडे। मुसलमान यह कहते दौड़े कि मोपले भी माँ-बाप-हीन नही है। स्मिथ ने सत्य ही लिखा है कि "जब बशीर अहमद को ठगता है तब अहमद सोचता है कि बशीर ठग है। किन्तु, जब मोतीलाल अहमद को धोखा देता है, तब अहमद समझने लगता है कि हिन्दू धोखेबाज है।"[1] और यह कहावत हिन्दुओ पर भी लागू होती है। मोपला-गदर के बाद से देश मे कही-न-कही आग लगती ही रही और इस अगलगी को राजभक्त मुसलमान तथा अँगरेज, मजे से, तापते रहे। धीरे-धीरे देश साम्प्रदायिकता के भयानक चक्र मे फँस गया। काग्रेस की ओर से बडी-

१. 'माडर्न इस्लाम इन इडिया'

बड़ी कोशिशें हुईं कि किसी प्रकार मुसलमानो से समझौता हो जाय। किन्तु, अँगरेज जिन लोगो को मुस्लिम-समाज के नेता बनाये हुए थे, वे कब चाहते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्पन्न हो ?

अँगरेज भारत मे राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए साम्प्रदायिकता का पोषण किस प्रकार करते थे, इस विषय की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने का सरकारी ढग यह है कि सरकार सभी अथवा अधिक-से-अधिक प्रश्नो पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करती है तथा आग्रहपूर्वक यह सकेत देती है कि और लोग भी प्रश्नो पर ठीक इसी प्रकार से विचार करें। सांप्रदायिकता फैलाने का मुख्य राजनैतिक साधन *अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रो की रचना है, जिससे कि एक जनता अपने को अन्य से* भिन्न समझती है तथा साम्प्रदायिक भाषण सुन कर एव साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधियो का निर्वाचन करते-करते वह पूर्ण रूप से साम्प्रदायिक बन जाती है। फिर तो वह अधिकारो और सुधारो की माँग भी साम्प्रदायिक दृष्टि से ही करने लगती है।[1]

साम्प्रदायिकता को उभारने के कुछ और भी तरीके थे। उदाहरण के लिए, जो लोग तआस्सुब के प्रेमी और प्रचारक थे, उन्हे सरकार प्यार करती थी, ओहदे और खिताब देती थी, तरक्की और ऊँची तनख्वाहे देती थी। किन्तु, जो लोग हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और उसके लिए खटनेवाले थे, वे सरकार के शत्रु समझे जाते थे एव उनकी वाजिब जगह जेल हुआ करती थी। राउण्ड टेबिल कार्फ्रेस में सरकार ने चुन-चुन कर उन्हीं मुसलमानो को बुलाया जो साम्प्रदायिकता से भरे हुए थे। उन दिनो राष्ट्रीय मुसलमानों में बड़े-से-बड़े लोग मौजूद थे। लेकिन, सरकार ने उन्हे तृणवत् नगण्य समझा।

हिन्दू साम्प्रदायिकता से बरी थे, यह कहने का हिन्दुओ को कोई अधिकार नही है। किन्तु, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि राष्ट्रीय एकता में हृदय से विश्वास करने वाले अपार हिन्दुओ के सामने मुट्ठी भर साम्प्रदायिक हिन्दुओ की कोई बिसात नही थी। मगर, साम्प्रदायिकता सक्रामक रोग है। जब एक जाति, भयानक रूप से, साम्प्रदायिक हो उठती है, तब दूसरी जाति भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने लगती है और उसके भी भाव शुद्ध नही रह पाते। अच्छे-से-अच्छे हिन्दू को भी यदि वर्षों तक यह समझाया जाय कि मुसलमान तुम से घृणा करते है, तो इस जहरीले आघात से वह अविचलित नही रह सकता। हिन्दुओ मे साम्प्रदायिकता की वृद्धि इसी प्रकार हुई है। और जब हिन्दुओ में साम्प्रदायिकता दिखायी पडी, तब मुसलमानो की साम्प्रदायिकता और भी बढ गयी एवं दोनो जातियो के बहुत-से लोग परस्पर शत्रु हो उठे।

सन् १९३० ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन मे भी साम्प्रदायिकता बहुत कमजोर पड गयी थी और हिन्दुओ के साथ मिल कर मुसलमान इस जोर से उठे थे कि लगता था, इस तूफान

---

१. वही

मे सरकार और उसके पिट्ठू राजभक्त-हिन्दू और राजभक्त-मुसलमान, दोनों, पत्तों के समान उड जायेंगे। किन्तु, सरकार वहादुर (?) ने इस आदोलन को भी दबा डाला। सत्याग्रह के वाद से लेकर सन् १९३७ ई० तक, देश मे साप्रदायिक दगे कम हुए। बल्कि, सन १९३७ ई० के चुनाव मे तो मुस्लिम जनता ने यह स्पष्ट वतला दिया कि मुस्लिम लीग मुसलमानो की प्रतिनिधि-सस्था नही है।[1] हाँ, चुनाव के कुछ महीने वाद, जव कई प्रातो में काग्रेस की सरकारे वन गयी, तव उस मौके से मुस्लिम लीग ने वहुत लाभ उठाया, और अत मे, वह मुसलमानो को इस वहकावे का शिकार वनाने मे समर्थ हो गयी कि हिन्दुओ के वहुमत-राज से मुसलमानो का संपूर्ण विनाश हो जायगा।

द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने पर, जव वार-वार यह सभव दीखने लगा कि स्वराज्य अव आ रहा है, तव वार-वार अँगरेजो ने घोपणाओ और वक्तव्यों के द्वारा हिन्दुओ पर यह प्रभाव डाला कि हम तो यहाँ इसलिए वने हुए हैं कि मुसलमान हमें चाहते है। इससे साप्रदायिक तनाव और वढ गया एव हिन्दुओ के हृदय पर इस कल्पना से चोट लगी कि मुसलमान ही है जो हमे गुलाम वनाये हुए है। अँगरेजो ने जो विपवृक्ष लगाया था, वह वढ कर तव तैयार हुआ जव अँगरेजो की विदाई की घड़ी नजदीक आ गयी। परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य के आगमन के समय, भारत में हिन्दुओ और मुसलमानो की लाशें विछ गयी।

मुस्लिम-लीग की वढ़ती

मुस्लिम-लीग आरामतलव अमीरों की सस्था थी। उसके सदस्यो ने भी कोई वलिदान नही किया, न जनता ही उससे प्रेम करती थी। फिर भी, इस सस्था ने मुसलमानों को आग में झोकने का रास्ता निकाल दिया। यह आश्चर्य की वात है। उसके सवसे वडे मददगार अँगरेज थे और अँगरेजो ने ठान लिया था कि यदि हमे जाना ही होगा तो हम हिन्दुओ और मुसलमानो को एक दूसरे की जान का दुश्मन वना के जायेंगे। यह काम उन्होंने लीगवालो के मेल से कर दिखाया।

लेकिन, कारण केवल इतना ही नही था। इसमें कुछ दोप भाग्य का भी था। प्रोफेसर हुमायूँ कवीर ने लिखा है कि मुस्लिम-लीग की अचानक वढती का एक कारण यह भी था कि मुस्लिम-समाज के अधिकाश राष्ट्रीय और उदार नेता, प्राय., थोड़े ही दिनो में चल वसे।[2] मौलाना मोहम्मद अली काग्रेस को छोड चुके थे, किन्तु, भारत में अँगरेजी शासन के वे प्रवल विरोधी थे। वे यदि जीवित रहते तो मिस्टर जिन्ना को आगे आने का मौका नही मिलता। गोलमेज-कार्फ्रेंस में मौलाना मोहम्मद अली ने अँगरेजो से

१. सन् १९३७ ई० के साधारण चुनाव मे ७३,१९,४४५ मुस्लिम वोट गिराये गये थे जिनमे से मुस्लिम लीग को केवल ३,२१,७७२ वोट मिले थे जो कुल वोट का केवल ४४ प्रतिशत था।

२. मुस्लिम पालिटिक्स

गरज कर कहा था, "यदि तुम हमें आजादी नही देते, तो तुम्हे मेरी कब्र के लिए जमीन इग्लैंड मे देनी पडेगी।" भगवान ने उनकी बात सुन ली। अँगरेज आजादी तो देना नही चाहते थे। भगवान ने तत्क्षण मौलाना को अपने पास बुला लिया। काग्रेस के दो मुख्य स्तभ, हकीम अजमल खाँ और डाक्टर असारी थे। ये भी असमय ही उठ गये। उदार विचार के मुसलमानो में सर मोहम्मद शफी और सर फजली हुसेन का भी बडा नाम था। देश के दुर्भाग्य से वे भी जाते रहे। इस प्रकार, मैदान को खाली देख कर मिस्टर जिन्ना इग्लैंड से लौट आये[1] और, धीरे-धीरे, वे मुसलमानो के एकछत्र नेता बन बैठे।

हकीम अजमल खाँ और डाक्टर असारी तो चल बसे थे, किन्तु, काग्रेस मे तब भी मौलाना अबुल कलाम आजाद मौजूद थे और काग्रेस-सगठन में उनका वह स्थान था जो केवल महात्मा गाँधी के ही नीचे था। इस्लामी दर्शन और इस्लामी साहित्य की दृष्टि से देखें तो मौलाना आजाद का स्थान बिलकुल बेजोड था। उनके समान शुद्ध मुसलमान और इस्लाम का प्रबल व्याख्याता बीसवी सदी मे कोई और हुआ है या नही, इसका निर्णय आसानी से नही किया जा सकता। केवल इस्लाम ही नही, अँगरेजी के माध्यम से उन्होने समस्त विश्व की सस्कृति, धर्म और इतिहास को समझा था। उनकी जिह्वा और लेखनी, दोनो में सरस्वती का वास था एव हजारो की भीड को अपनी मुट्ठी में कर लेना उनके लिए सरल कार्य था। साम्प्रदायिकता के तूफान के बीच, वे पर्वत के समान अचल और अडिग रहे एव जब जिन्ना के नेतृत्व मे करीब-करीब सारा मुस्लिम-समाज कांग्रेस-विरोधी हो रहा था, तब काग्रेस ने भारतीय स्वाधीनता-सग्राम की आखिरी लडाई इसी महापुरुष के नेतृत्व में लडी। उन दिनो, महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद और जवाहरलाल, ये ही तीन व्यक्ति भारतीय राजनीति के बृहत्रयी समझे जाते थे।

किन्तु, जानकार यह मानते है कि मौलाना साहब की शक्ति, प्रतिष्ठा, प्रताप और व्यक्तित्व का पूरा उपयोग मुसलमानो के बीच राष्ट्रीयता की धारा को पुष्ट बनाने के लिए नही किया जा सका। मौलाना, प्रधानत , विद्या और विचार के प्रेमी थे। पुस्तकें छोड कर गाँव-गाँव भटकने का काम उनसे कभी नही हुआ। हाँ, समिति और विचार-विमर्श के अवसरो पर उनके ठोस विचारो ने राष्ट्रीयता की अवश्य सहायता की। मौलाना स्वय दर्शन-पक्ष थे। उनका क्रिया-पक्ष बननेवाला मुसलमान उन्हें नही मिला। यही कारण है कि जब राष्ट्रीयतावादी बडे-बडे मुस्लिम नेता उठ गये और जिन्ना साहब ने गेंद लेकर मैदान में प्रवेश किया, तब बहुत कुछ वह मैदान जिन्ना को खाली मिल गया।

काग्रेस मुस्लिम-सपर्क बढाने की कोशिश में जब आगे बढी, तब तक काफी देर हो चुकी थी और जिन्ना साहब ने काग्रेस की उस प्रवृत्ति का भी भयानक विरोध किया। किन्तु, फिर भी, यह कहना एकदम गलत है कि काग्रेस ने सारी लडाइयाँ केवल हिन्दुओ को लेकर

१. एक समय जिन्ना भारत से निराश होकर बैरिस्टरी करने को इग्लैंड जा बसे थे।

लडी। काग्रेस केवल हिन्दुओ की सस्था न तो पहले थी, न अब है। विशेषत., जब-जब सघर्ष हुआ, काग्रेसवालो मे मुसलमानो की संख्या काफी वृद्धि पर आ गयी। सन् १९२० ई० के आन्दोलन में तो मुस्लिम लीगवाले भी कांग्रेस के साथ थे। इसी प्रकार, नमक-सत्याग्रह के दिनो मे बहुत काफी मुसलमान आजादी के लिए जेल गये थे। यही नही, बल्कि, सन् १९४२ के विद्रोह में भी काफी विद्रोही मुसलमान थे। और जब सन् १९४६-४७ ई० में देश मे भयानक साप्रदायिक दगे हुए, तब दगो की आग बुझानेवालो में भी केवल हिन्दू ही नही, बहुत-से मुसलमान भी थे।

भारत का विभाजन हो जाने के कारण, ऐसा दीखता है, मानों, सारे-के-सारे हिन्दू और मुसलमान उन दिनो आपस मे बँट गये थे तथा मुसलमानो मे राष्ट्रीयता थी ही नहीं। किन्तु, यह निष्कर्ष ठीक नहीं है। भारत का विभाजन क्षणस्थायी आवेगो के कारण हुआ और उससे यह सिद्ध नही होता कि मुसलमानो मे राष्ट्रीयता नही है। सच्ची बात यह है कि जैसे हमारी सामासिक सस्कृति की चादर अभी तक पतली और महीन है, वैसे ही मुसलमानो की राष्ट्रीयता और हिन्दुओ का मुस्लिम-प्रेम भी कुछ-कुछ क्षीण रहा है। किन्तु, राष्ट्रीय भाव मुसलमानो के भीतर है, इससे इन्कार नही किया जा सकता।

राष्ट्रवादी मुसलमान

नवोत्थान से प्रेरित मुस्लिम-समाज में अनेक प्रकार के भाव जाग्रत हुए थे, किन्तु, इनमें से अधिक भाव ऐसे ही थे, जिनसे स्वतंत्रता के सघर्ष को प्रेरणा मिलती थी। कुछ मुसलमान तो आजादी की लड़ाई मे इसलिए आये कि वे धर्म को नही मानते थे। किन्तु, बहुत-से ऐसे भी थे जिन्हे धर्म अत्यन्त प्रिय था, किन्तु, धर्म को जो राष्ट्रीयता और स्वतत्रता का बाधक नही समझते थे। इस्लाम समता और स्वतत्रता का धर्म है, इस विचार को माननेवाले उलमाओ ने आजादी की लडाई का खुल कर साथ दिया और उनकी नीति का दूसरे मुसलमानो पर भी अनुकूल प्रभाव पडा एवं वे भी आजादी की लड़ाई मे धर्म से ही प्रेरित होकर आये। बहुत-से मुसलमान ऐसे थे जिन्हें पान-इस्लामी दर्शन से प्रेम था। भारतीय स्वतंत्रता का एक पक्ष ऐसा भी था, जिससे यूरोप का विरोध होता था तथा इस्लामी समाज के एक अश (भारतीय) पर से गुलामी की जजीर टूटती थी। मुस्लिम लीग की नीति ऐसे मुसलमानो को भी रोक नही सकी एव इन लोगो ने भी खुलकर कांग्रेस का साथ दिया। फिर कुछ लोग ऐसे भी थे जो यह नही मानते थे कि काग्रेस केवल हिन्दुओ की सस्था है, क्योकि उसमें काफी मुसलमान, सिक्ख और ईसाई लोग भी थे। अत, ऐसे मुसलमान इसलिए कांग्रेस में आ गये कि उनमें सत्कर्म की प्रेरणा थी और सत्कर्म का एकमात्र क्षेत्र-काग्रेस के हाथ में था।

साहित्य के अन्य रूपो से अधिक, कविता मानव समाज के अन्तर्द्वन्द्वो का अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब होती है। मुस्लिम-समाज के पान-इस्लामी अन्तर्द्वन्द्व इकबाल की

कविताओ मे खूब प्रतिफलित हुए है। किन्तु, भारतीय राष्ट्रीयता के संवेग भी मुस्लिम कवियो की रचनाओ मे कम नही है। भेद यह है कि इकबाल के द्वारा चित्रित द्वन्द्व तीखे, धुँधले और गोल-मटोल है एव उनकी शिक्षा यह है कि मुसलमानो को विश्व-इस्लाम का एक राज्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु, इस कल्पना में जो अव्यावहारिकता है, उससे कोई भी मुसलमान अपरिचित नही है। अतएव इकबाल की शिक्षा बाजो को दिल्ली से कराची पहुँचा देने के बाद खत्म हो जाती है। बाजो की आगे की उडान सिर्फ हवा मे डैने फटकारने के समान है। इसके विपरीत, मुस्लिम राष्ट्रीय कवियो की कविताओ मे जो भाव उतरे है, वे हिन्दुओ और मुसलमानो को एक करनेवाले भाव है। वे मुसलमानो के हृदय से बहुमत के आतक को निकाल फेंकनेवाले भाव है। ये भाव अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट है जो मुसलमानो से केवल यह कहते है कि भारतवर्ष तुम्हारा देश है तथा इसके लिए जीना और मरना तुम्हारा धर्म होना चाहिए।

मुस्लिम कवियों की राष्ट्रीयता

मुसलमानो के भीतर भारतीय राष्ट्रीयता के जो भाव लहरा रहे थे, उर्दू-कविता में वे, विशेषत , अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, जोश मलीहाबादी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाब अकबराबादी की रचनाओ में व्यक्त हुए। सबसे बढकर जोश ने अपने खडे होने के लिए वह जगह चुनी जो इकबाल के ठीक विरुद्ध पडती थी।[1] विरुद्ध इस अर्थ में कि इकबाल ने धर्म का भय दिखाकर मुसलमानो को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने की कोशिश की थी। जोश ने कहा, यदि धर्म बाधक है तो धर्म को छोड दो[1] लेकिन, आजादी की कोशिश छोड़ी नही जा सकती। इकबाल मुसलमानो का ध्यान भारत से हटा कर मक्के की ओर ले गये थे ; जोश ने भारत को मुसलमानो का परम आराध्य बताया।[2] 'इस्लाम खतरे में' का नारा इतनी बार उठा था और धर्म की बाते भारतीय स्वातन्त्र्य-सग्राम में इतनी बार बाधक होकर आयी थी कि नौजवान

---

१. तेरे झूठे कुफ्रो-ईमाँ को मिटा डालूँगा मै,
हड्डियाँ इस कुफ्रो-ईमाँ की चबा डालूँगा मै।
डाल दूँगा तर्जे-नौ अजमेर और प्रयाग मे,
झोक दूँगा कुफ्रो-ईमाँ को दहकती आग में।

(हुब्बे-वतन और मुसलमान)

२. तेरे लब पर है इराको-शामो-मिस्रो-रूमो-चीन,
लेकिन, अपने ही वतन के नाम से वाकिफ नही।
सब से पहले मर्द बन हिन्दोस्ताँ के वास्ते,
हिन्द जाग उठे तो फिर सारे जहाँ के वास्ते।

(बेटे के नाम खत)

अब धर्म से ही घबराने लगे थे। जोश ऐसे नौजवानो के सबसे बड़े प्रतिनिधि हुए। उन्होने धर्म की खिल्ली उडानी शुरू की। पवित्रतावादी विचारो और पुरोहितो (शेख, वाइज, सूफी) का मजाक तो उर्दू कविता में बहुत दिनो से उडाया जा रहा है, जोश की विशेषता यह है कि उन्होने धर्म की निन्दा इसलिए की कि आदमी को आदमी के समीप लाने के बदले धर्म उन्हे एक-दूसरे से दूर ले जाता है। उससे भी बडा कारण, शायद, यह था कि धर्म के नाम पर कुछ लोग मुसलमानो को बहकाये हुए थे। इस स्थिति से जोश मे जो क्रोध जगा, उसे उन्होने यह कह कर उतारा कि धर्म सबसे तुच्छ वस्तु है।[१]

कुछ राष्ट्रीय हिन्दुओ और मुसलमानो की स्थिति यह रही कि अपने सामाजिक विचारो का धर्म से मेल नही देख कर, वे धर्म के आत्मिक बधन से निकल गये। जोश ऐसे मुसलमानो और हिन्दुओ के सफल प्रतिनिधि कवि है। भारतीय एकता की समस्या का उनका समाधान यह है कि सभी धर्म उन्मूलित कर दिये जाय, समाज मे पूरी आर्थिक समता स्थापित कर दी जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता को लिये हुए समाज की सेवा करे।

स्पष्ट ही, जोश का समाधान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित समाधान है। मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है एव रूस मे धर्म तिरस्कृत हो गया है। अतएव, जो भारतवासी राष्ट्रीयता को अपना ईमान बना चुके थे, उन्होने जब यह देखा कि धर्म राष्ट्रीयता मे बाधा डाल रहा है, तब उन्हे भी मार्क्स का सहारा पसन्द आ गया और उन्होने भी मन से धर्म को त्याज्य मान लिया। जोश इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है। मुस्लिम-समाज में साम्प्रदायिकता की जो घटा छायी रही, वह जोश की दृष्टि को कभी भी मन्द नहीं बना सकी। उन पर पान-इस्लामी भावनाओ का भी कोई प्रभाव नही पड़ा। वे शुद्ध अन्त करण से राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और भारत के तरफदार रहे है।[२]

उर्दू मे जो काम जोश ने किया, बँगला में ठीक वही तो नही, किन्तु, कुछ वैसे ही काम काजी नजरुल इस्लाम ने किये। नजरुल भारतीय विद्रोह की पहली वाणी होकर आये। जोश ने उत्तर भारत मे जब क्राति का शख फूँका, उसके पूर्व ही, बगाल मे नजरुल की अग्नि-वीणा के स्वर प्रदाह फैला चुके थे। नजरुल ने एकता-एकता की चीख कम मचायी है। धर्माध लोगो पर उन्होने प्रहार भी कम ही किये ह। ईश्वर और देवताओ का मजाक तो उन्होने भी उडाया है, किन्तु, वह केवल क्राति के जोश में आकर। सौम्य मुद्रा मे आने पर वे धर्म से अधिक दूर नही दीखते। उनकी शिक्षा-दीक्षा हिन्दू-सस्कारो से पूर्ण थी, अतएव, कविताओ मे वे हिन्दू आख्यानो, हिन्दू अलकारो और चित्रो तथा

---

१ इस तरह इन्सान और शिद्दत करे इन्सान पर,
तुफ है तेरे दीन पर, लानत तेरे ईमान पर। (मकतले-कानपुर)

२ अब उनके पाकिस्तान जा बसने से इस वाक्य का अर्थ आसानी से समझने योग्य नही रहा।

हिन्दू परंपराओं को ही लेकर चले। यह ठीक वैसा ही हुआ जैसे उर्दू के हिन्दू कवि अरब और ईरान की परपराओ को लेकर अपनी बात कहते हैं। उर्दू में अनेक कवि हुए है जो भारतीय राष्ट्रीयता और इस्लाम के उत्थान मे कोई विरोध नही देखते थे। ऐसे दो-एक भाव नजरुल मे भी मिलते हैं[1], किन्तु, उनसे साम्प्रदायिकता नही आती। वे तो केवल मुसलमानों को अपने अतीत की याद दिला कर जगाना चाहते हैं।

सांप्रदायिक दंगो से जैसे देश की राष्ट्रीय जनता दुखी थी, उसी प्रकार, हमारे राष्ट्रीय कवि भी दुःखी रहे। यह दुःख जोश और नजरुल, दोनो में प्रत्यक्ष मिलता है। फर्क यह है कि नजरुल दंगों में देश की शारीरिक जागृति का रूपक देखते हैं और समझते हैं कि इसके बाद देश का मन भी जगेगा।[2] हलाहल जब निकल चुका है, तब कभी अमृत भी बाहर आयेगा। भगवान करे कि कवि की यह वाणी अब भी सफल हो जाय।

जमील मजहरी धर्म के बन्धन को स्वीकार करते है, किन्तु, उनका इस्लाम उनकी राष्ट्रीयता का बाधक नही है। उलटे, वे मुसलमानो को मुसलमान रहते हुए भी, दूर से आँखें फिरा कर हिमालय की उपासना करने का संदेश देते है।[3] उर्दू भाषा पर विदेशीपन

---

१. बाजिछे दामामा, बाँध रे अमामा, सिर ऊँच करि मुसलमान।
दावत एसेछे नया जमानार भाँगा केल्लाय उड़े निशान। (नजरुल)
(दमामा बज रहा है। ओ मुसलमानो! मस्तक ऊँचा करके अमामा बाँधो। नये जमाने का निमंत्रण आ चुका है। तुम्हें अपने टूटे किले पर पताका फहरानी है।)

२. मा भै! मा भै। एतो दिने बूझि जागिलो भारते प्राण,
सजीव होइया उठियाछे आज श्मशान-गोरस्थान।
खालेद आबार धरियाछे असि, अर्जुन छोड़े बाण,
जेगेछे भारत, धरियाछे लाठी हिन्दू-मुसलमान।
उठिबे अमृत, देरी नाई आर, उठियाछे हलाहल।
(नजरुल-कृत सचिता से)

(डरो मत! डरो मत! बहुत दिनो के बाद भारत में प्राण आया है। श्मशान और कब्र-स्थान, दोनो सजीव हो उठे हैं। खालेद ने फिर तलवार पकड़ी है, अर्जुन फिर बाण छोड़ रहा है। भारत जग उठा है और हिन्दू तथा मुसलमान लाठी लेकर खड़े हैं। अमृत भी आयेगा। अब विलम्ब नही है। हलाहल तो ऊपर आ चुका है।)

३. बिरादराने नौजवाँ, बढे चलो, बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशाँ, बढे चलो, बढे चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो।
जो मजहब आके टोक दे तो उसकी कैद तोड दो।
जवाँ हो दर से जग लो, सलामे-मौजे-गंग लो,
नजर फिरा लो दूर से, बुला रही है दूर से,
हिमालया की चोटियाँ, बढे चलो, बढे चलो। (जमील मजहरी)

का जो इलजाम है, उसे भी जमील सत्य मानते है एव उनका विचार है कि उर्दू भाषा भी 'भारत माता की बेटी है, अतएव, उसके आभूषण भी भारतीय होने चाहिए।[1]

सागर निजामी, वैसे तो मस्ती और सौदर्य के कवि है, किन्तु, राष्ट्रीयता के भाव उनमे बडे ही जोर से लहराते है। जमील और जोश के समान, वे भी भारत को अपनी जन्म-भूमि मानते है एव उसके लिए मर मिटने को अपना कर्त्तव्य समझते है[2]। प्रमाण ढूंढा जाय तो अख्तर शीरानी और सीमाव की भी कविताओ में राष्ट्रीयता के निश्छल भाव सुस्पष्ट है।[3] वे भी हिन्दुस्तान को गुलामी से रिहा कराने के लिए अपना मस्तक कटाने को तैयार है।

मुस्लिम कवियो की नवीनतम पीढी ऐसी आयी है जिस पर मार्क्स का अधिक प्रभाव है, जो अर्थशास्त्र को कला की दृष्टि से देखना चाहती है, जिसका एकता का समाधान बिलकुल वही है जो जोश का समाधान था।[4] ये कवि गाय, बाजा, धर्म, ईमान, इनमें से किसी की भी चर्चा नही करते अथवा करते भी है तो मनुष्यो की मध्यकालीन आदतो का मजाक उडाने के लिए। इनका मानसिक क्षितिज खूब विस्तीर्ण एव हृदय बडा ही उदार है।

---

१ कीजै न जमील उर्दू का सिंगार, अब ईरानी तलमीहो से,
पहनेगी बिदेसी गहने क्यो यह बेटी भारत-माता की ? (जमील मजहरी)

२ तेरी हस्ती हिमालय की चोटी बनी, माहो-खुर्शीद की उस पै बिन्दी लगी,
रौशनी शर्क से गर्व तक हो गयी, सिजदे में झुक गयी अजमते-जिन्दगी।
अजमते-जिन्दगी की कसम है हमे, तेरी इज्जत पै सर तक कटा देंगे हम।
आँख उठा के जो देखा किसी ने तुझे, छावनी अपनी लाशो से छा देंगे हम।
(सागर निजामी)

३ वतन और कौम की सौ जान से खिदमत करेगा यह,
खुदा की और खुदा के हुक्म की इज्जत करेगा यह।
वतन की जगे-आजादी मे जिसने सर कटाया है,
ये उस शैदाये-मिल्लत बाप का पुरजोश बेटा है।
वतन के नाम पर इक रोज यह तलवार उठायेगा,
वतन के दुश्मनो को कुजे-तुरबत मे सुलायेगा।
(मेरा नन्हाँ जवाँ होगा, अख्तर शीरानी)
वतन मे मुझको जीना है, वतन में मुझको मरना है,
वतन पर जिन्दगी को एक दिन कुरबान करना है। (सीमाब अकबराबादी)

४ कलेजा फुंक रहा है और जुबाँ कहने से आरी है,
बताऊँ क्या तुम्हे, क्या चीज यह सरमायेदारी है ?
यह अपने हाथ मे तहजीब का फानूस लेती है,
मगर, मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है। (मजाज)
एक शहन्शाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम गरीबो की मुहब्बत का उडाया है मजाक।
(ताजमहल ; साहिर लुधियानवी)

उपसंहार

भारत के मूल-निवासी कौन हैं, यह बड़ा ही पेचीदा सवाल है। पश्चिम के बहुतेरे विद्वान यह मान कर चले हैं कि आदि-मानव का जन्म भारत में नहीं हुआ और इस देश में जो भी लोग बसे, वे बाहर से आकर बसे। उनके मतानुसार नीग्रिटो, औष्ट्रिक, द्राविड़ और आर्य, सभी वंशों के लोग यहाँ बाहर से ही आये थे। हमारी स्थापना यह है कि जैसे, साधारणत, यह माना जाता है कि आदि-मानव अफ्रीका, मध्य-एशिया अथवा चीन में उत्पन्न हुआ होगा, उसी प्रकार, यह मानने का भी उचित आधार है कि आदि-मानव की उत्पत्ति दक्षिण भारत में अथवा शिवालिक पर्वत के पास हुई होगी। नीग्रिटो और औष्ट्रिक लोग बाहर से यहाँ आये थे अथवा इसी देश से निकल कर वे बाहर गये, यह संदिग्ध विषय है। उसी प्रकार, यह बात भी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि द्रविड़ो के आदिपूर्वज बाहर से ही आये थे। बहुत अधिक संभावना यह है कि द्रविड़ इस देश के मूल-निवासी हैं और जिसे हम भारत का सनातन धर्म कहते हैं, उसका मूल द्रविड़ो के गहनतम प्राचीन इतिहास में है। जब आर्य आये, उन्होंने यहाँ की संस्कृति में अपने उद्दाम आशावाद का पुट डाला। किन्तु, उपनिषदों का काल आते-आते आर्य स्वयं ही इस देश की सनातन परपरा में डूब गये और उनके प्रवृत्तिमार्गी विचारों पर भारत की सनातन निवृत्तिवादी भावना का पूरा रंग चढ़ गया।

ऋग्वेद के आशावाद और जैन तथा बौद्ध मतों की निवृत्ति-भावना में स्पष्ट विरोध है। इस दृष्टि से देखने पर जैन एवं बौद्ध साधनाएँ आर्यों के भारतीयकरण की प्रक्रिया दिखायी देती है। भारत की सनातन परंपरा लोक को निस्सार और परलोक को सत्य मानने की परंपरा थी। ऋग्वेदकालीन आर्यों की दृष्टि में लोक सत्य था। आर्य जीवन के प्रति उत्साहशील थे। इसीलिए, उनका प्रेम यज्ञ पर था। यज्ञ में हिंसा होती थी, इसलिए, बुद्ध ने यज्ञ और वैदिक धर्म का विरोध किया, यह मान्यता सत्य होने पर भी स्थूल समझी जानी चाहिए। बौद्ध मत के उत्थान का सूक्ष्म कारण यह था कि भारत की निवृत्तिमार्गी भावना वैदिक मत के आशावाद को दबा कर ऊपर आना चाहती थी और, अन्त तक, वह ऊपर आ भी गयी।

जैन मत बौद्ध मत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने अपने लिए जो मार्ग चुना, वह बिलकुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना में से निकला था। और योग, कृच्छ्राचार एव तपस्या की परपरा भी जैन साधना से ही निकली। इस प्रकार, जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहाँ दूसरी ओर वह शैव-मार्ग का भी आदि स्रोत है। ऋषभदेव और शिव के व्यक्तित्व में जो समानता है, वह भी यही इंगित करती है कि जैन और शैव साधनाएँ किसी समय एक ही उत्स से फूटी होंगी।

लेकिन, बुद्ध का चलाया हुआ आन्दोलन क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। जैन साधना का झुकाव धर्म और अध्यात्म की ओर अधिक, सामाजिक परिवर्त्तनों की ओर बहुत कम था। इसीलिए, जैन सम्प्रदाय कभी अलग सम्प्रदाय नही बना। वह सदैव हिन्दुत्व के भीतर समाया रहा और सभी जैन हिन्दू ही रहे। किन्तु, बौद्ध मत वर्णाश्रम-धर्म और जाति-प्रथा को बराबर झकझोरता रहा। इसी झकझोर के कारण ब्राह्मण बौद्धो के शत्रु बन गये और, बदले में, बौद्ध धर्म ने बहुत-से हिन्दुओं के मन मे वैदिक धर्म और वर्णाश्रम-पद्धति के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर दी। वेद, ब्राह्मण और जाति-प्रथा से चिढे हुए ये लोग ही भारत में इस्लाम के आगमन के बाद आसानी से मुसलमान बनाये जा सके, क्योकि कट्टर हिन्दुत्व के केन्द्र से वे पहले ही दूर चले गये थे।

हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रभाव की कहानी डाक्टर ताराचन्द और प्रोफेसर हुमायून कबिर ने बहुत बढा-चढा कर लिखी है। किन्तु, यह ठीक नहीं है। कबीर से पहले भारत के धर्म अथवा साहित्य पर इस्लाम का कोई प्रभाव पडा था, यह बात किसी भी तर्क अथवा प्रमाण से सिद्ध नही की जा सकती। हिन्दुत्व पर इस्लाम का यत्किंचित् प्रभाव कबीर के बाद से पडने लगा। लेकिन, हिन्दुत्व पर इस्लाम ने जो प्रभाव डाला, उससे अधिक प्रभाव उसने हिन्दुत्व से स्वय ग्रहण किया है।

ससार के इतिहास में इस बात के बहुत अधिक प्रमाण मिलते है कि किसी सुसंस्कृत देश को जीत कर जब कोई विजेता जाति वहाँ बस जाती है, तब वह वहाँ की संस्कृति को ही अपनी सस्कृति बना लेती है। मुसलमान इस नियम के अपवाद नही थे। पठानो के समय एक ओर जहाँ हिन्दुओ के दलन के उदाहरण मिलते है, वहाँ दूसरी ओर हम यह भी देखते है कि मुस्लिम कवि और लेखक भारतीय भाषाओ मे अपना साहित्य तैयार कर रहे हैं। अमीर खुसरो, कबीरदास, मलिक मोहम्मद जायसी, कुतबन, मझन, ये सभी कवि मुसलमान थे। किन्तु, उन्होने अपने उद्गार भारतीय भाषाओ में लिखे। हाँ, खुसरो ने अपना मुख्य साहित्य फारसी मे लिखा। लेकिन, भारतीय मुसलमानो को खुसरो के ही उदाहरण से यह ज्ञात हुआ कि मुस्लिम-साहित्य की भाषा भारतीय भाषा भी हो सकती है। यह परपरा मोगलो के समय में भी खूब बढी। रहीम, रसखान, रसनिधि, रसलीन, शेख, मुबारक और ताज, हिन्दी के ये सभी रससिद्ध कवि मुसलमान थे। स्वय अकबर और शाहजहाँ भी हिन्दी में काव्य रचते थे। यही नही, भारतीय शब्दो पर भक्ति औरगजेब की भी थी। उसके बेटे ने उसके पास जब दो आम भेजे और अनुरोध किया कि इनके नाम रख दीजिये, तब औरगजेब ने उनमें से एक का नाम "सुधाफल" और दूसरे का "रसना-विलास" रखा था। शाही खान्दान के युवराजो के कभी-कभी दो नाम रखे जाते थे। शाहजहाँ ने औरगजेब के दो नाम रखे थे। मुसलमानो के लिए वह औरगजेब था, किन्तु, हिन्दुओ में उसका नाम नवरगबिहारी भी चलता था। भूषण ने अनेक स्थलो पर औरंगजेब को नवरग कहा है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की इस धारा को सबसे अधिक शक्ति सम्राट अकबर से प्राप्त हुई। किन्तु, अकबर के धार्मिक और सामाजिक सुधारो से मुसलमान नाराज हो गये। उन्होने समझा, अकबर इस्लाम की धारा को हिन्दुत्व के महासमुद्र में विलीन कर रहा है। मुसलमानो के इस रोष का प्रतिनिधि शेख अहमद सरहिन्दी हुआ जिसने अकबर को काफिर बताया और मुसलमानो को यह उपदेश दिया कि हिन्दुत्व के जो भी प्रभाव तुम पर पडे हो, उन्हे पोछ कर फेक दो। पृथकता की जिस भावना की बाढ ने सन् १९४७ ई में आकर भारत के दो टुकडे बना दिये, उस भावना का जोरदार प्रचार शेख अहमद सरहिन्दी ने आरभ किया था। बदकिस्मती की बडी बात यह हुई कि औरगजेब का गुरु शेख सैफुद्दीन इसी शेख अहमद सरहिन्दी का पौत्र था। अतएव, शेख सरहिन्दी के दर्शन को कार्य का रूप देने का बीडा औरगजेब ने उठाया और प्रेम के बदले घृणा का प्रचार करके उसने मोगल-राज्य की नीव ही उखाड दी।

हिन्दुत्व और इस्लाम ने एक-दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु, यह प्रभाव सतह के नीचे नही पहुँच सका। औसत हिन्दू का लक्षण यह है कि मानसिक धरातल पर वह अत्यत उदार होता है, किन्तु, आचरण के स्तर पर उसकी सकीर्णता भी भयानक होती है। इसके प्रतिकूल, सामाजिक आचारो में मुसलमानो की उदारता उदाहरणीय है, किन्तु, मानसिक धरातल पर मुसलमान कट्टर होते हैं। अन्य धर्मो को अपने ही धर्म के समान पवित्र मानने मे हिन्दुओ को कठिनाई नही होती। किन्तु, औसत मुसलमान यह सोच ही नही सकता कि अन्य धर्म भी इस्लाम के ही समान पवित्र है। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि हिन्दुओ ने सामाजिक आचरण मे मुसलमानो की उदारता का अनुकरण नही किया, न मुसलमानो ने हिन्दुओ से यह सीखने का प्रयास किया कि हमे दूसरे धर्मो का भी उतना ही सम्मान करना चाहिए, जितना सम्मान हम अपने धर्म का करते हैं। यदि मुसलमानो ने यह शिक्षा ली होती तो अकबर का वे विरोध नही करते, न औरगजेब के समय मे फिर से मदिरो का नाश हुआ होता।

भारत मे जब यूरोप का आगमन हुआ, तब ईसाइयत, बुद्धिवाद और विज्ञान से सामना हिन्दुत्व का भी पडा और इस्लाम का भी। इस टक्कर में आक्रान्ता एक था, किन्तु, आक्रान्त दो थे। फिर भी, हिन्दुओ और मुसलमानो ने यूरोप का सास्कृतिक मुकाबला एक हो कर नही किया। ईसाइयत और बुद्धिवाद से लडने के क्रम में हिन्दू वेदो और उपनिषदो की ओर भागे तथा मुसलमान कुरान और हदीस की ओर। नतीजा यह हुआ कि दोनो धर्मो की वे बाते बहुत प्रमुख हो गयी जो उन्हें अलग करनेवाली थी, और वे लक्षण उपेक्षित हो गये जो उन्हे परस्पर समीप ला रहे थे। उन्नीसवी सदी के नवजागरण से प्रेरित हो कर हिन्दू और मुसलमान जागे तो सही, लेकिन, अलग-अलग शिविरो मे। नवजागरण ने उन्हें एक करने के बदले परस्पर कुछ और दूर कर दिया। नवजागरण के आरभिक हिन्दू लेखक और कवि इस बात से खुश थे कि आखिर को मुसलमानी राज्य भी समाप्त

हो गया। और नवजागरण के मुस्लिम लेखक और कवि इस बात का रोना रो रहे थे कि भारत में इस्लाम के पतन का कारण यह है कि उसने इस देश में आकर हिन्दुत्व से प्रभाव ग्रहण किया है।

स्वतंत्रता-संघर्ष के क्रम मे भारत के भीतर सामाजिक और राजनैतिक तनाव इस कदर वढ गया कि उसके कारण भारत का विभाजन करना पड़ा। किन्तु, विभाजन के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम-समस्या मौजूद है। इस समस्या का समाधान कैसे निकलेगा, यह बताना आसान नही है। कबीर, अकबर और गाँधीजी का हाल हम देख चुके है। आज इस समस्या पर सबसे अधिक ध्यान पण्डित जवाहरलाल नेहरू का है। अकबर ने मुस्लिम-आतंक से पीडित हिन्दुओ का पक्ष जिस वीरता से लिया था, जवाहरलालजी उसी वीरता के साथ मुसलमानो का पक्ष ले रहे हैं। किन्तु, अकबर की उदारता से जैसे मुसलमान चिढ़ उठे थे, वैसे ही, पडितजी की उदारता बहुत-से हिन्दुओ की दृष्टि में गलत समझी जा रही है। इतिहास से शिक्षा लेने को न तो हिन्दू तैयार है, न मुसलमान। दोनो के दोनों भलीभाँति जानते हैं कि भारत छोड कर उनकी और कोई गति नही है। दोनो के दोनो यह भी जानते हैं कि एकता को सुदृढ किये विना वे शान्ति और निश्चिन्तता की जिन्दगी नही विता सकते। फिर भी एकता की कीमत चुकाने को कोई भी तैयार नही है।

सरकारो का मुख्य काम वर्त्तमान को सँभालना है। उनकी पहली जिम्मेदारी अमन और शान्ति की है। और समाज में शान्ति रखने का काम वे कर भी रही हैं। किन्तु, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का समाधान केवल शान्ति की व्यवस्था से पाया नही जा सकता। असल मे, नाव जहाँ जाकर अटक गयी है, सरकारो की वाँहें वहाँ तक पहुँच नही सकती। वहाँ केवल वे लोग जा सकते हैं जो संत और सुधी है, विचारक और कलाकार है। जो लोग जनता की भावनाओ को मोडने का काम करते है, जो लोग जनता में नया विश्वास और नयी प्रेरणाएँ जगा सकते है, वे यदि इस महान कार्य में हाथ लगायें तो, कई पीढियो तक काम करने के वाद, वह चट्टान तोडी जा सकती है जो एकता की धारा को आज रोके हुए है।

वह चट्टान क्या है? जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है, मानसिक धरातल पर औसत हिन्दू उदार होता है। प्रत्येक धर्म को अपने ही धर्म के समान उदार समझने में उसे कोई कठिनाई नही होती। किन्तु, सामाजिक आचार उसके सदोष हैं। मानसिक धरातल पर हिन्दू यह विश्वास करता है कि सारी सृष्टि एक ही ब्रह्म का स्वरूप है। किन्तु, आचार के धरातल पर वह मनुष्य-मनुष्य मे भयानक भेद मानता है। वह समझता है कि कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जिनके साथ वैठ कर खाने-पीने से धर्म भ्रष्ट नही होता; किन्तु, वहुत-से लोग ऐसे भी है जिनके साथ खाने-पीने से धर्म नष्ट होता है और जात चली जाती है। यही नही, सवर्ण हिन्दू वहुत-से हिन्दुओ को भी अछूत मानता है और यह विश्वास करता है कि अछूत में से कुछ के छूने से कच्ची रसोई अखाद्य हो जाती है और कुछ के छूने

से पक्की रसोई भी दूषित हो जाती है ; कुछ के स्पर्श से चमडी दूषित होती है और कुछ के छूने से हड्डी तक अपवित्र हो जाती है।

हिन्दुओ ने मुसलमानो को अछूत समझा और मुसलमान अपने पड़ोसी के इस अत्याचार को इस भाव से सहते रहे कि यही हिन्दुओ का धर्म है। हिन्दू किसी मुस्लिम मित्र को अपने चौके मे ले जाय, यह बात आज भी अपार साहस की बात समझी जाती है। हिन्दुओ के यहाँ मुसलमान जिन बरतनो मे खाते थे, हिन्दू अपने मुसलमान अतिथि के सामने ही उन बरतनो की शुद्धि करवाते थे अथवा उन्हे तोड़ डालते थे। और मुसलमान इन अत्याचारो को केवल इसलिए सहते रहे कि उनमें सामाजिक शील का प्राचुर्य होता है, वे सामाजिक मिलन-जुलन में अपने मित्र का दिल दुखाना नही चाहते है। लेकिन, बाहर से सह लेने पर भी मुसलमानो का अन्तर्मन हिन्दुओ के ऐसे दुःशील व्यवहारो से कितना मर्माहत होता होगा, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है।

यदि हिन्दुओ ने मुसलमानो को अछूत नही समझा होता, यदि हिन्दुओ ने मुसलमानो के साथ वही समानता बरती होती जिसे वे अपने सवर्ण धर्म-बन्धुओं के साथ बरता करते है, तो इसमें कोई सन्देह नही कि आज हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का रूप कुछ और होता और दोनो जातियो के लोग, धर्म के धरातल पर अलग रहते हुए भी, समाज और संस्कृति के धरातल पर एक हो गये होते। इसलिए, हमारा, विचार है कि जब तक हिन्दू छुआछूत की प्रथा मे विश्वास करता रहेगा, तब तक उसे यह नैतिक साहस ही नही होगा कि वह अपने मुस्लिम या ईसाई दोस्त को अपने घर ले जा सके और उसके साथ इज्जत का व्यवहार कर सके। और इसीलिए, जब तक हिन्दू नही सुधरता, किसी दूसरे के सुधर जाने से हिन्दू-मुस्लिम-एकता नही बढेगी। यह देश हिन्दुओ का है। हिन्दू यहाँ बहुत बड़ी बहुसख्या मे बसते है। अतएव, वे यदि दुःशील व्यवहार को धर्म समझते रहे, तो इसकी प्रतिक्रिया अल्पसख्यको मे जगेगी ही और वे एकता की ओर बढने में त्रास, आशका, अपमान और सदेह से बाधित होते रहेंगे। इसलिए, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की पहली शर्त यह है कि हिन्दू छुआछूत की भावना का सर्वथा त्याग कर दे।

हिन्दुओ का सामाजिक चरित्र जितना कट्टर है, उतना ही कठोर मुसलमानों का मानसिक विश्वास है। कट्टरता मुसलमानो के आचार में नही, उसके धार्मिक विश्वास होती है। शताब्दियो से मुसलमान अपने धर्मगुरुओ से यह सुनता आया है कि जो देश इस्लामी कानूनो के अनुसार नही चलता हो, उसे दारुल-हरब समझो, शत्रुओं का देश समझो और ऐसे देश मे प्रच्छन्न विद्रोही बन कर निवास करो। आज भारत में ऐसे मुसलमान है या नही जो इस देश को दारुल-हरब समझते है, यह बताना आसान नही है। शायद, थोडी-बहुत सख्या में वे आज भी होगे। किन्तु, उन्नीसवी सदी मे अगरेजी शासन के खिलाफ यह नारा भारत में भी लगाया गया था। उदारता और बुद्धिवाद ने जैसे हिन्दुओ की छुआछूतवाली भावना को काफी कमजोर कर दिया है, वैसे ही, उसका

प्रभाव मुसलमानो के भी मन पर पडा है और वे भी दारुल-हरबवाले सिद्धान्त के खोखलेपन को थोडा-बहुत समझ रहे है। किन्तु, धर्म और स्वदेश-प्रेम के बीच एकता बिठाने मे मुसलमानो को कठिनाई केवल भारतवर्ष मे ही नही, कुछ अन्य देशो मे भी हुई है और उस कठिनाई के निशान अभी भी बहुत-कुछ शेष है। अतएव, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दूसरी शर्त यह है कि भारत के मुसलमान अपनी धर्म-भक्ति और स्वदेश-प्रेम के बीच सामजस्य बिठाये और इस आशका को निर्मूल कर दे कि उनकी स्वदेश-भक्ति और धर्म-भक्ति के बीच पूरी एकता नही है। अमीर खुसरो ने कहा था कि खुद नबी की आज्ञा है कि तुम्हारा स्वदेश-प्रेम तुम्हारी धर्म-भक्ति में शामिल रहेगा। खुसरो की इस उक्ति की सचाई कई देशो के मुसलमानो मे प्रत्यक्ष देखी गयी है। भारत के मुसलमान के आगे भी वही राह है।

किन्तु, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या से भी बड़ी एक और समस्या है, जो पिछले पाँच-सात वर्षों से दिखायी देने लगी है। गोल-मटोल ढग पर इस समस्या का रूप यह है कि क्या भारत एक रह पायेगा ? यह प्रश्न इसलिए पूछा जा रहा है कि भारत मे उच्छेदकारी शक्तियाँ सिर उठा रही है और लोग अपने छोटे स्वार्थो के सामने बडे स्वार्थो की कीमत घटाने की तैयारी मे लग गये है।

भाषा को लेकर देश के भीतर भयानक द्वन्द्व है। प्रान्तीय धरातल पर इस द्वन्द्व के प्रमाण असम और पजाब मे देखे गये है। किन्तु, राष्ट्रीय धरातल पर यह द्वन्द्व हिन्दी और अग्रेजी के बीच है।

इसी प्रकार, प्रान्तीयता, जात-पाँत, गोत्रवाद, दलबन्दी और केन्द्रीय नियत्रण के विरुद्ध बेचैनी और मन्द विद्रोह के भाव सारे देश में दिखायी दे रहे है। इन विच्छेदकारी शक्तियो पर ध्यान कुछ विदेशियो का भी गया है। मिस्टर एस० एस० हरीसन नामक अमरीकी लेखक ने अपनी सनसनीखेज पुस्तक "इडिया, द मोस्ट डेंजरस डिकेड" में इन सारी शक्तियो पर बडी ही योग्यता से विचार किया है और कहा है कि "सारी प्रवृत्तियाँ यही बतलाती है कि स्वाधीनता का बचना मुहाल है और इस भयानक दशक में सब से अहम सवाल यह हो उठा है कि भारतीय राज्य नामक कोई चीज आखिर बचेगी भी या नही।" हरीसन का यह भी विचार है कि यदि भारतीय राज्य विघटित हो गया, तो सारा देश क्षेत्रीय राज्यो मे बँट जायगा और तब इस सारे उप-महादेश का नियत्रण साम्यवादी करेंगे। एक अन्य लेखक ने (सोल आव् इडिया के लेखक रीनकोर्टने) यह कल्पना लडायी है कि यदि किसी प्रश्न पर भारत की एकता टूट गयी तो उत्तर भारत मे पूंजीवाद और दक्षिण भारत मे साम्यवाद का बोलबाला होगा, जैसे कोरिया मे हुआ है।

ये प्रश्न बड़े भयानक है और कोई भी भारतीय इन सवालो को सुन कर विचलित हुए बिना नही रह सकता। शायद, इन प्रश्नो पर तटस्थतापूर्वक विचार भी विदेशी लोग ही कर सकते है। हम भारतीयो में से हर एक भारत को एक रखना चाहता है।

गलत काम हम जरूर करते है, लेकिन, गलतियाँ करने के बाद हमें शर्म भी होती है। हम पश्चात्ताप भी करते है। पता नही, आगे चलकर विजय पश्चात्ताप की होगी अथवा उन सकीर्ण भावनाओ की जो हमसे देश का अहित करवाती है। किन्तु, अभी तो यह ठीक है कि सारे भारत की जनता एक रहना चाहती है। तब भी, हम भारतवासी, सचमुच ही, बडे सकट मे गिरफ्तार है। पिछले सौ वर्षों से हम यह सोचते आ रहे थे कि जब भारत स्वाधीन होगा, हम भारत की ही किसी भाषा को अपनी अन्तरप्रान्तीय भाषा बनायेंगे। वह भाषा भारत की एकता को पुष्ट बनायेगी, क्योकि अगरेजी सीखने की अपेक्षा किसी भारतीय भाषा का सीखना अधिक सुगम कार्य होगा। हर प्रान्त अपनी भाषा में चलेगा और सभी प्रान्तो के आपसी व्यवहार की भाषा हिन्दी होगी। इसी हिन्दी के जरिये हम अखिल भारतीय नेता तैयार करेंगे और इसी हिन्दी के जरिये हमारा राष्ट्रीय मच भी विस्तृत होगा। किन्तु, अब सन् १९६२ ई० मे आकर देश अलसा रहा है और लोग यह सोचने लगे हैं कि अगरेजी ही भली है, क्योकि वह तटस्थ भाषा है।

तटस्थ होने पर भी अगरजी भली नही हो सकती। मुख्य कारण यह है कि हिन्दी सिखाने की कोशिश बहुत कम की गयी और अब देश को आलस्य पकड रहा है। आलस्य पहले आया और देश ने अगरेजी की तटस्थता का बहाना बाद को पकडा है। किन्तु, यह तो है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित नही करके हम ससार के सामने यह बात स्वीकार कर रहे है कि हमारा राष्ट्रीय जोश ठढा हो रहा है। और राष्ट्रीयता की गर्मी घटी तो राष्ट्रीय एकता की शक्ति आप-से-आप क्षीण होगी। हिन्दी वह बैरोमीटर है, जिसमे हम अपनी राष्ट्रीय भावना का उतार और चढाव प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

भारत की एकता और भारत की स्वतत्रता एक ही तस्वीर के दो पहलू है। अगर एकता खिडकी हो कर चली गयी, तो स्वतत्रता सदर दरवाजा खोल कर भाग जायेगी। इसलिए, सभी भारतवासियो का पहला कर्त्तव्य यह है कि वे प्राणपन से अपनी राष्ट्रीय एकता की रक्षा करें। हिन्दुस्तान हिन्दी से कही महान् है। वह अपनी समस्त भाषाओ से भी बड़ा और विशाल है। एकता की रक्षा के लिए यदि हमे अपमान सहना पडे, तो उसे सह लेना चाहिए। एकता की रक्षा के लिए यदि हमें अन्याय सहना पडे, तो हम अन्याय को भी सहेंगे। यह सब इसलिए सहना है कि भारत की एकता जब पुष्ट और बलवती हो जायगी, तब हमारा अपमान कोई नही करेगा, तब देश का एक भाग किसी दूसरे भाग के साथ अन्याय करना भी भूल जायेगा। हमे यह याद रखना है कि हम गरीब है और गरीबो के पारिवारिक झगडे कुरूप हुआ करते है। जब हमारी गरीबी दूर हो जायगी, हमारे झगडे भी खत्म हो जायँगे अथवा वे अगर बने रहे, तब भी, उनमें आजकी-सी कटुता नही रहेगी।

एकता की रक्षा के साथ-साथ हमारा दूसरा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम भारत के उस रूप को उभारने की कोशिश करे, जिसे प्रत्यक्ष करने को वह स्वाधीन हुआ है। स्वाधीनता

केवल रोटी का पर्याय नही है। स्वाधीनता केवल कल-कारखाने स्थापित करने की योग्यता नही है। स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आत्मा की वह स्वतत्रता, मानस की वह निर्वंधता है, जिसके कारण राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूप से अभिव्यक्त करता है। जिसके सामने रोटी नही है, उस व्यक्ति या समाज के आगे दर्शन परोसना निर्दयता का काम है। भारत कगाल है। भारत अभावो से ग्रस्त हो कर आज भी तडप रहा है। उसके शिक्षित नवयुवको को रोजगार नही मिलते। उसके गाँव पशुओं की जिन्दगी विता रहे है। और सबसे भयानक वात तो यह है कि भारत मे जनसंख्या बेतहाशा वढ़ती जा रही है। ये सारे रोग तभी घटेगे जब देश का आधिभौतिक विकास होगा। इसलिए, कल-कारखानो की महिमा पूरी तरह से गायी नही जा सकती। बहुत वडी अमीरी का स्वप्न भारत नही देखता। किन्तु, जो न्यूनतम आवश्यकताएँ है, उनकी पूर्त्ति रातो-रात हो जाय, यह सब की अभिलाषा है।

किन्तु, आधिभौतिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति मात्र से भारत का आन्तरिक व्यक्तित्व नही उभरता और आधिभौतिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति के हित मे यदि भारत के आन्तरिक व्यक्तित्व का दलन आवश्यक समझा गया, तो वैसी योजना का भारतीय जनता साथ नही देगी। भारत वह देश नही है, जो समृद्धि के लोभ में अपने व्यक्तित्व का त्याग करे। भारत वह देश नही है, जो वैज्ञानिक सभ्यता की दीक्षा लेने के बदले अपना इतिहास नीलाम करने को तैयार हो।

भारत कोई नया देश नही है। जिस भाषा में उसकी संस्कृति का विकास हुआ, वह ससार की सबसे प्राचीन भाषा है। जो ग्रन्थ भारतीय सभ्यता का आदि-ग्रन्थ समझा जाता है, वही समग्र मानवता का भी प्राचीनतम ग्रन्थ है। विदेशियो के द्वारा वार-बार पद-दलित होने पर भी भारत अपनी सस्कृति से मुँह मोडने को तैयार नही हुआ। अब जो वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता आ रही है, वह भी भारत से उसके अतीत का प्रेम नही छीन सकेगी। सत्य केवल वही नही है, जो पिछले दो सौ वर्षों मे विकसित हुआ है। उस ज्ञान का भी बहुत-सा अश सत्य है, जिसका विकास पिछले छह हजार वर्षों मे हुआ है। भारत को वह नवीन सत्य भी चाहिए, जो शारीरिक समृद्धि को सभव बनाता है, और प्राचीन काल का वह सत्य भी जो शारीरिक समृद्धि के लिए आत्मा के हनन को पाप समझता है।

ये वाते अनेक देशो मे बोली जा रही है, किन्तु, उन देशो की जनता उन्हे कहाँ तक यथार्थ समझती है, यह आसानी से समझा नही जा सकता। किन्तु, भारतीय जनता के समक्ष ये ही वाते यथार्थ है। इस देश की जनता को आज भी जितनी तडप स्वच्छ, शुद्ध और न्यायप्रिय शासन के लिए है, उतनी तडप सुख और समृद्धि के लिए नही है। स्वराज्य के वाद से भी भारतीय जनता ने जितनी दिलचस्पी सास्कृतिक कार्यों में ली है, उतनी वह विविध योजनाओ मे नही ले सकी। भारत के प्रधान मत्री ने वार-वार कहा कि जहाँ

भी कोई कारखाना खुलता हो, वह स्थान हमारे लिए तीर्थ है। किन्तु, जनता तीर्थ आज भी काशी, द्वारका, रामेश्वरम् और जगन्नाथपुरी को ही समझती है। और जनता को यह जानने की भी इच्छा बहुत कम है कि जवाहरलाल देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए क्या कर रहे हैं। इससे अधिक जनता यह जानना चाहती है कि पंडितजी आस्तिक हैं या नास्तिक तथा परलोक के बारे में उनकी मान्यता क्या है।

जब से विज्ञान का उदय हुआ, ससार के अधिकाश देशो मे अतीत और वर्त्तमान के बीच सग्राम-सा छिड़ गया और अधिकाश देशो मे आज अतीत पराजित और वर्त्तमान सत्तासीन है। केवल भारत ही एक देश है जहाँ अतीत आज भी युद्ध कर रहा है। यह सग्राम भारत मे पिछले डेढ सौ वर्षों से चल रहा है। लेकिन, भारत का अतीत आज भी न तो दुर्बल है, न क्लान्त। भारत का अतीत हमेशा वर्त्तमान को अपनी बाँहो मे समेट कर भविष्य की ओर बढ़ने का आदी रहा है। आज भी वह अपने सनातन धर्म की राह पर है। रामकृष्ण और विवेकानन्द, तिलक और अरविन्द, ये सभी महापुरुष अतीत के पक्षधर थे, जो वर्त्तमान को समेट कर भविष्य की ओर बढ़ने की शिक्षा दे गये हैं। महात्मा गाँधी सबसे पहले अतीत की आवाज थे। आचार्य विनोबा भावे अतीत की ऐनक से वर्त्तमान और भविष्य को देख रहे हैं। स्वय रवीन्द्रनाथ नवीन होते हुए भी प्राचीनता के सबसे बड़े प्रतीक थे। अपनी पहली अमरीकी यात्रा में उन्होने अपने आतिथेयो से कहा था, "अफसोस की बात यह है कि तुम यह भी नही जानते कि तुम दु खी हो।" और अपनी एक अन्य अमरीकी यात्रा मे उन्होने यह कहा था कि "पश्चिमी सभ्यता की आत्मा मशीन से बनी है। यह मशीन बराबर चलती रहती है और बराबर अपनी गति को कायम रखने के लिए वह मनुष्यो का उपयोग ईंधन के रूप मे करती है।'"

भारत के मन को नवीन बनाने की दिशा मे सबसे अधिक काम पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया है। जब उनकी राजनैतिक सफलताओ की कहानी धुँधली पड जायगी, तब भी, आगे का इतिहासकार यह बराबर लिखेगा कि भारत के मन को झकझोर कर उसे नवीन बनाने की जितनी तड़प जवाहरलाल मे थी, उतनी किसी और नेता में नहीं थी। किन्तु, सुस्थिर क्षणो मे अतीत की महिमा का ध्यान जवाहरलालजी को भी होता है और वे भी यह महसूस करते है कि भारत का अतीत यदि नष्ट हो गया, तो भारत का कोई भी गुण शेष नही रहेगा। "मै अक्सर यह सोच कर हैरान रह जाता हूँ कि हमारी जाति कही बुद्ध, महाभारत, रामायण, गीता और उपनिषदो को भूल जाय तो उसका क्या हश्र होगा? हमारी जड़ें उखड़ जायेंगी, हम अपनी उन सारी बुनियादी खूबियो को खो

१. टैगोर एण्ड अमेरिका, लेखक—जे० एल० डीस।

देंगे, जो युगो से हमारे साथ चली आ रही हैं और जिनके कारण दुनिया में हमारी हैसियत बनी हुई है। तब भारत भारत न रह सकेगा।"[1]

राममोहन राय से ले कर विवेकानन्द, गाँधी, विनोबा, राधाकृष्णन और जवाहर-लाल तक हमारे सभी नेता और चिंतक जिस एक बात पर जोर देते आये हैं वह यह है कि भारत की सफलता इस बात में है कि वह पुरातन और नवीन के बीच समन्वय का सधान करे। पश्चिमी ज्ञान का जो श्रेष्ठ अश है, उसका सामजस्य हम अपने प्राचीन ज्ञान से बिठाना चाहते हैं। एक हाथ मे धर्म का कमल और दूसरे मे विज्ञान की मशाल, यही वह कल्पना है जिसे चरितार्थ करके भारत अपने ध्येय मे सफल हो सकता है। और यही वह कल्पना है जिसकी ओर सारा ससार किसी रहस्यात्मक आशा से भारत की ओर देख रहा है। पश्चिम ने विज्ञान को पा कर जिस चीज को खो दिया, भारत अगर विज्ञान के साथ उस वस्तु को भी कायम रख सके, तो इससे कल्याण केवल भारत का ही नही, सारे ससार का हो सकता है। ससार आज भी भारत के अतीत का प्रेमी है, उसके वर्त्तमान का नही। ससार आज भी जनक, बुद्ध, अशोक और गाँधी की वन्दना करता है। जवाहर-लाल ससार को इसलिए प्यारे नही हैं कि वे दरिद्र, अशिक्षित, आलसी और असमर्थ देश के नेता हैं, बल्कि, इसलिए कि वे बुद्ध, अशोक और गाँधी के उत्तराधिकारी बन कर खडे हुए हैं। भारत की वैदेशिक नीति वही हो सकती थी, जिसकी परिभाषा जवाहरलाल ने तैयार की है। युद्ध और शान्ति के प्रश्नो पर भारत का इतिहास वही कुछ बोल सकता था, जो जवाहरलाल के मुख से सुनायी दे रहा है। तो भारत अपने ध्येय को किस मार्ग से प्राप्त कर सकता है? मार्ग एक नही, अनेक हैं। असल मे, मार्ग उतने ही हैं जितने भारत-वर्ष मे मनुष्य बसते हैं। गाँधी-मार्ग कहने को ही एक सुनिश्चित मार्ग है। अन्यथा, जब तक भारत का प्रत्येक व्यक्ति यह नही समझता कि उसके अपने वैयक्तिक चरित्र से ही सारे राष्ट्र का चरित्र बनता या उन्नत होता है, तब तक भारत उस ध्येय को प्राप्त नही कर सकता, जिसे प्राप्त करने को वह स्वाधीन हुआ है। हर आदमी अगर अपने घर के पास की जमीन को बुहार दे, तो सारा गाँव स्वच्छ हो जायगा। हर हिन्दुस्तानी यदि अपने चरित्र को ऊँचा उठा दे तो सारे भारत का चरित्र उन्नत हो जायगा। भारत की उन्नति का वही मार्ग है, जिसे गाँधीजी बता गये हैं।

लेकिन, गाँधीजी यह भी बता गये हैं कि भारत अपनी बात तब तक नही बोल सकेगा, जब तक वह अगरेजी मे शिक्षा ग्रहण करता और अगरेजी में ही काम करता है। सन् १९२० ई० मे जब गाँधीजी की प्रेरणा से राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना हुई, उस समय कई विषयो के पाठ्यग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध नही थे। गाँधीजी ने कहा, "शिक्षक बिना ग्रन्थ के पढायें।" जब तक अगरेजी की नाव हमारे घाट पर बँधी है, हम अपनी भाषाओ की

---

१ भारत आज और कल, लेखक—जवाहरलाल नेहरू

उपेक्षा करते ही जायेंगे। भारत के आध्यात्मिक उद्धार का रास्ता यह है कि अगरेजी का अवलव छोड कर हम अपनी भाषाओ में कूद पडें।

अगरेजी यदि भारत की शिक्षा और शासन का माध्यम वनी रही, तो इसमें कोई सन्देह नही कि भारत भारत नही हो कर इग्लैण्ड और अमेरिका का सास्कृतिक उप-निवेश वना रहेगा। भारत भारत वने, इसकी पहली शर्त यह है कि वह स्कूलो, कालेजो और शासन के दफ्तरो से अगरेजी को एकवारगी विदा कर दे। यदि यह काम देश के लिए कठिन है तो फिर भी यह कठिन होगा कि भारत अपनी उन अनुभूतियो को अभिव्यक्त कर सके जिन्हे उसने पिछले छह हजार वर्षों में अर्जित किया है अथवा ससार के समक्ष वह अपने उन गुणो का प्रकाश करे, जो उसके व्यक्तित्व की विशेषताएँ है।

ज्ञान की भाषा के रूप में अगरेजी इस देश मे हमेशा रखी जा सकती है, क्योकि वाह्य विश्व की ओर वह हमारे वातायन का काम देती है, नली वन कर वह विश्वज्ञान को हमारी भाषाओ के जलाशयो में पहुँचाती है और सभ्यता की धारा के साथ हमें मिलाये रहती है। किन्तु, शिक्षा और शासन के माध्यम-पद पर से उसे हटाये बिना हम अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास नही कर सकेंगे। इस महत् कार्य में जो भी विलव होता है, वह इस देश के आध्यात्मिक उद्धार के कार्य मे विलव है। यदि अगरेजी इस देश की राजभाषा वनी रही, तो भारत अपने मूल से छिन्न हो कर नकली इगलिस्तान वन जायगा। अपने प्राचीन सत्य से वह दूर चला जायगा और उसके पास वे साधन नही रहेंगे, जिनसे वह प्राचीन और नवीन सत्यो के वीच समन्वय कर सके।

ससार भारत से जिस चीज की आशा लगाये हुए है, राममोहन से लेकर गांधी और जवाहरलाल तक सभी नेता जिस कल्पना का पोषण करते आये है, और भारत का निकटवर्ती तथा दूरवर्ती इतिहास जिस लक्ष्य की ओर वढता आया है, उसकी सिद्धि और प्राप्ति का केवल एक मार्ग है कि भारत तुरत अगरेजी को छोडकर अपनी भाषाओ मे आ जाय।

कुछ भारत-हितैषी अगरेज और अमरीकी विद्वान् भारतवासियो को यह सलाह दे रहे है कि तुम्हारा कल्याण इस मे है कि तुम अगरेजी में वने रहो नही तो तुम्हारी एकता टूट जायगी। ऐसे परामर्श, शायद, इसलिए दिये जाते है कि उनसे भारत की ऊपरी एकता भी वचती है और इग्लैण्ड तथा अमेरिका के लोग भारत के मन और भावना का नियत्रण भी कर सकते है। किन्तु, जिस वात पर से अगरेजी के भक्तो का ध्यान हट गया है, वह यह है कि भारत मे सव कुछ खत्म नही हुआ है। अभी वहुत-सी वाते उभरने के क्रम मे है। देह के धरातल की क्रान्ति, शायद, खत्म हो गयी, किन्तु, मन, विचार और भावना के धरातल पर अभी कितनी ही चीजें धुंधुआ रही है। असली क्रान्ति भारत मे तो वस अव शुरू हुई है। सन् १९४७ ई० मे अगरेज जव भारत से जाने लगे, तव सत्ता और अधिकार उन्होने उन हिन्दुस्तानियो को सौंपा, जो अगरेजी जानते थे। अगरेज

अभी भी भारत मे काफी व्यापार कर रहे है और अगरेजी जाननेवाले भूरे साहबो से उनकी साँठ-गाँठ भी खूब है। किन्तु, इस वर्ग के खिलाफ जनता में भारी असतोष है। जनता और कुछ पाने के पहले अपनी भाषाएँ पाना चाहती है। कल्याण का मार्ग यह है कि अगरेजी मे शासन चलानेवाले लोग यह मान लें कि यह देश, मुख्यत, उस जनता का है जिसके बच्चे अच्छी अगरेजी नही सीख सकने के कारण सत्ता, अधिकार और अच्छे पदो पर नही जा सकते। यदि स्वेच्छया उन्होने जनता के साथ न्याय नही किया तो एक दिन वह भी आनेवाला है जब जनता अगरेजी और अगरेजियत मे फँसे साहबो की गद्दी छीन लेगी।

प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति, अपने-आप मे पूर्ण होती है। उसके सभी अश, उसके सभी पहलू एक दूसरे पर अवलबित और सब-के-सब किसी एक केन्द्र से सलग्न होते है। सस्कृतियाँ जब बदलती है, तब खान-पान, रहन-सहन, पोशाक और परिच्छद भले ही बदल जायँ, किन्तु, मन उनका नही बदलता, सोचने की पद्धति उनकी नही बदलती और जीवन को देखनेवाला दृष्टिकोण उनका एक रहता है। विशेषत., भारत-जैसे प्राचीन देश को यदि कोई दबा कर उसे अमेरिका या यूरोप बनाना चाहेगा तो इस दबाव का परिणाम अच्छा नही निकलेगा। कल्याण इसमे है कि शासक उस दिशा को पहचान ले, जिस दिशा का सकेत भारत के दूर और सन्निकट इतिहास से मिलता है। राममोहन, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, रवीन्द्र और गाँधी को उस दिशा का पूरा ज्ञान था। इसीलिए, जनता ने उन्हे अपना उद्धारक समझा, इसीलिए, भारत के इतिहास ने उनका साथ दिया। भारत ने अपनी स्वतत्रता की लड़ाई उसी दिशा की ओर मुँह करके लडी थी। इसीलिए, उसकी विजय हुई। अब यदि हम उस दिशा की ओर से मुँह फेर कर केवल सुविधा के लिए अपनी भाषाओ को छोड देंगे, केवल समृद्धि के लोभ में आकर अमेरिका और इगलैण्ड की नकल करेंगे, तो निश्चय ही भारत का रहा-सहा व्यक्तित्व भी विनष्ट हो जायगा, जो नाना सघर्षो मे भी अब तक शेष रहा है।

यदि जनसख्या की वृद्धि रोकी जा सकी और कल-कारखानो की योजनाएँ सफल होती रही, तो रोटी भारत को भी मिल जायगी, इसमें सदेह की गुजाइश हमें नही दीखती। किन्तु, यदि भारत का इतिहास सत्य है तो, गरीबी पर लगाम लगते ही, इस देश मे एक विचारधारा प्रकट होनेवाली है, जो यह बतायेगी कि मनुष्य का कल्याण इसमें नही है कि उसकी आवश्यकताएँ अनन्त हो, बल्कि, इसमे कि उसकी जरूरतें थोडी हो, सर्वोत्तम समाज वह नही है जिसका लक्ष्य समुचित समृद्धि की उपलब्धि है, बल्कि, वह जो वाजिब गरीबी को अपना ध्येय मानती है। जरूरत की सारी चीजे मनुष्य को तुरन्त चाहिए, लेकिन, फालतू जरूरत या जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नही चाहिए। भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की नवीन सस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिए स्वेच्छया अमीरी का त्याग कर सकता हो। व्यापार पर

पहरा देने के लिए सारी रात टेलीफोन सुननेवाला सेठ, धन-सचय की चिन्ता में खाद्य सामग्रियों और दवाइयो में मिलावट करनेवाला सौदागर, अनावश्यक चिंताओ और व्यर्थ की दौडधूप से थके शरीर को शराब से सीचनेवाला अमीर और हर औरत से मुहब्बत बढ़ाने की लालसा से पागल बूढा या नौजवान, ये सब-के-सब उस सभ्यता के स्वाभाविक परिणाम है, जो विज्ञान की सहायता से उत्पन्न हुई है। विज्ञान को अगीकार करके भी भारत अगर इन दोषो से बचना चाहता हो तो उसका सबसे बडा उपाय यह है कि वह अपना ध्यान उचित प्रकार की निर्धनता पर केन्द्रित करे। सतोषी नौकरो को मालिक की बहुत ज्यादा खुशामद नही करनी पडती। विज्ञान भी हमारे वश में तभी रहेगा जब हम यह मान कर चलें कि विज्ञान से हमे अपनी वाजिब जरूरतो की पूर्त्ति मे सहायता लेनी है। जो जरूरते टाली जा सकती है उन्हे टाल देना ही श्रेष्ठ है बनिस्बत इसके कि उन नकली जरूरतो को पूरा करने के लिए हम विज्ञान की खुशामद करें अथवा उसकी दासता स्वीकार कर लें।

अनुक्रमणिका

(अ)

अंगकोर २१०;—में भारतीय कला, ४११

अगद गुरु . ३९९

असारी डाक्टर ७२६

अइहोवा : ४११

अकबर : २६५, ३०९, ३१०, ३२८, ३३६, ३४०, ३४३, ३४३ पा० टि०, ३४४, ३४७, ३४८ पा० टि०, ३५०, ३९०, ४१७, ४५४, ४५७, ४५९, ४६४, ४६५, ४६६, ४७६, ६७९, ६९९, ७२६, ७३९,७४१—इस्लाम का पक्का विश्वासी ३८८;—और ईसाइयत, ४९४—और औरंगजेब, ३९५-९६,—और चित्रकला, ४१२, ४१५,—और सामासिक संस्कृति, ४६३;—और स्थापत्य, ४२६,—का एकता-संबंधी प्रयास और उसकी विफलता, ३८५-९६;—का हिन्दी सोरठा, ३४४ पा० टि०;—की उदारता, ३३७,—के पूर्व भारत में ईरानी चित्र-शैली, ४१४,—के शासन-काल वाली असुविधा हिन्दुओं को अंगरेजी शासन-काल में भी, ३९१,—के समय में फारसी राजभाषा, ४४४,—द्वारा अपनी नाव समुद्र में भेजने के लिए पुर्तगालियो से परवाना, ४८६,—द्वारा कुरान की कला-संबंधी मुमानियत का खंडन, ४१३,—द्वारा जैन धर्म की सहायता, १४३,—द्वारा धर्म-परिवर्तन करनेवालो से घृणा, ३८८,—पर हिन्दू-प्रभाव, ४७४;

अकबर इलाहाबादी · २६७, ४५९, ४६५, ६८८, ७३४

अकबरनामा . ४१५

अख्तर शीरानी ७३७

अगस्त्य ४४, २०८;—का दक्षिण से संबंध, ४१-४३,—व्याकरण ४२

अगहन माहात्म्य . ४६५

अजायबुलहिन्द · ४६२

अजितकेसकंबल · १५८,—का जड़वाद, ११८-१९

अथर्ववेद : ३१, ३५, ३८, १०२, ३३६, ६०१

अद्भुत-कोष · ९३

अद्भुत-रामायण ८६

अध्यात्म-रामायण · ८५, ३७६

अनंगदर्पण : ४३३ पा० टि०

अनर्घराघव · ८५

अनवार-सुहेली ४१५

'अनहैपी इंडिया' : २०३

अनाथनाथ वसु · कृत 'एजुकेशन इन मॉडर्न इंडिया', ५११

अनामक जातक : १६८

अनासक्ति-योग . १८८

अनीस · ३४६, ४५९, ४६०

अनुलोम · ५४,—और प्रतिलोम का जाति-वर्द्धन में योगदान, ५६,—और प्रति-लोम से उत्पन्न संतानो के नाम, ५९

अप्पय दीक्षित : ४६

अफलातून : १९८, २००, २९४, २९६, ७०८, ७०९;—पर भारतीय प्रभाव, १९६-१९८

अफीफ : ३२०

अबुल अरा : २९२-९३

अबुल फजल : ४१४,४१५,—तौहीदे-इलाही के संबंध मे अकबर का समर्थक, ३८७

अब्द-अल-समद (ईरानी चित्रकार) · ४१४

अब्दुर्रहमान हिन्दी के प्रथम कवि, ४३१

अब्दुल वहाब . ६७७-७९, ६८१, ६८३

अब्दुल हक . ४६१, ४६२

अब्दुल हकीम . के अनुसार सूफी-मत के विश्वास, ३००;—कृत 'इकबाल ऐंड ए थिंकर', २९७

अब्दुल हहन : ४५३

अब्दुल्ला एराकी · ४६२

अब्दुस-सफरी . को अकबर का पत्र, ३८६
अभिधर्मकोश' . ३५४
अमरदास . तीसरे गुरु, ३६६
'अमरुकशतक' · ४२६
अमीर अली · ६६६, ६६७, ७०५, ७१३
'अमृतबाजार पत्रिका ५७१
अम्बट्ठसुत्त . १२६
अम्बष्ट माणवक १२६
अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी २६२, २६३, ३४४ पा० टि०, ३४५, ४५८ पा० टि०;—कृत' हिन्दी पर फारसी का प्रभाव', ४४७ पा० टि०
अम्बेडकर ५२,—के अनुसार आर्यो का रग दासो से भिन्न नही, ५१,—के अनुसार शूद्र भी द्विजत्व के अधिकारी थे, ५५
अयोध्याप्रसाद गोयलीय : ४५३,४५३ पा० टि०
अरविन्द, महर्षि · ६५ पा० टि०, ५६५, ५६३, ६१६-२६, ६२८ पा० टि०, ६२६, ६३०, ६३१, ६३२, ६३४, ६३६, ६६१, ६६२, ६६३,७४६,—और अतिमानव का स्वप्न, ६२५,—और गांधी जी, ६३८-४०,—और रामकृष्ण, ६१७-१८,—और सश्लिष्ट योग, ६२५-२६,—की अतिमानस की कल्पना, ६१६-२०,—के प्रसग मे राधाकृष्णन ६६०-६२,—पर विवेकानन्द और रामकृष्ण का प्रभाव, ६१७-१८
अरस्तू की दासो की कल्पना, ५५
'अरेवियन नाइट्स' ४२८,—पर भारतीय प्रभाव, २००
अर्जुन (चित्रकार) ४०८
अर्जुनदेव, गुरु, · ३६६, ४०१;—पर अत्याचार, ४००
'अर्थशास्त्र' ४१,—में सन्यासियो और सन्यास की प्रेरणा देनेवालो के लिए दण्ड-व्यवस्था, १६५ पा० टि०
'अर्ध-कथानक' ३१५ पा० टि०
'अर्ली हिस्ट्री आव् वैष्णविज्म इन साउथ इडिया' · ३६६ पा० टि०, ३७० पा० टि०
अल-असारी : २००
अल-किन्दी : २००
अल-नदाम २००
अलबूकर्क ४८७
अलबेरुनी : १६६, २००, ३०६, ३१३, ३१६
अली आदिलशाह . ४५६
अली इलाहिया-सप्रदाय, ४७५
अलूरा ४६२
अलेक्जेंडर हैमिल्टन ५१७
'अल्लोपनिषद' १०४, ३८६
अविनाशचन्द्र दत्त ऋग्वेद के रचना-काल पर, २६,—वर्ण-व्यवस्था पर, ५३,—शूद्रो के उद्गम पर, ५४
अवेस्ता ११;—का ऋग्वेद से साम्य, ३२
अशअरी ३५५
अशोक ४१, ४४, १५०, १७२, १८८, १६७, २००, ३६३, ७४६,—के अभिलेख, ३०,—के समय तक बौद्ध धर्म १८ निकायो मे विभक्त, १७५
अश्वघोष ७६, १५६ पा० टि०, १८०, २११, ५२०, ६१५,
'अष्टयाम' ४२३, ४६५
'अष्टाध्यायी' · १०४
असग ३५३;—कृत 'प्रज्ञापारमिता', २२८
'असबावे-बगावते-हिन्द' ६८७ पा० टि०
'असरारे-खुदी' ७०४ पा०टि०, ७०८पा० टि०, ७१० पा० टि०, ७११ पा० टि०
अहमद, (हिन्दी कवि) · ३४६
अहिंसा ४८, १३०, २४६, ६३४-३६;—और अकबर, ३८७-८८,—और क्षत्रिय जाति, १२८-२६,—और भगवान् कृष्ण, १२५,—और मुसलमान, ४७५-७६;—का चरम उत्कर्ष जैन धर्म के अनेकान्तवाद मे, १३५-३७,—का प्रचार पूर्वी भारत में बुद्ध के पूर्व, १२७;—की परपरा, १२४-२६,—के प्रतिपादन के लिए बौद्ध-

साहित्य मे पौराणिक कथाओ का उपयोग, १६८-६६,–जैन धर्माचरण मे १३५-३६, १३८,–द्रविडों की देन, ४८,–प्राग्वैदिक चीज, ५८, बीज वेदो में भी, १२५,–बुद्ध के पूर्व, मुख्यत, तपस्वियो का धर्म, १२६

(आ)

आइन्स्टीन ६२६
'आईने-अकबरी' ,४१४, ४६५
आगम ३६१, ३६८-६६, ३७७,–जैन और बौद्ध धर्मों का प्रेरक, ३८,–प्राग्वैदिक विधान, ३५,–से ही निगम का उद्भव, ३६
आगरकर ५५५, ५५७,–और रानाडे तथा तिलक, ५५३-५५
आगस्ट कामटे पर बौद्ध प्रभाव, ५२१
आतिश (उर्दू कवि) . ४६४, पा० टि०
आत्मा . ११७, १३४, १६४,–इस्लाम मे, २८४,–जैन धर्म मे, १३४-३५,–के विषय में बुद्ध और उपनिषत्कारो की भिन्न-भिन्न भावनाएँ, १५४-५५,–बौद्ध धर्म मे, १५५-५८
आत्मीय सभा ५४५-४६
आत्रेय वरदराज ४५
आदित्य (हिन्दू पडित) ३३६
आदि-ब्राह्म-समाज ५४६
'आदि-रामायण' . का परिवर्धन, ८४
'आधुनिक हिन्दी कवि' ४४० पा० टि०
'आन द स्टडी आव् इडियन आर्ट' . आनन्द-कुमार स्वामी-कृत, ४१६ पा० टि०
आनन्द (बुद्ध के शिष्य) १६२, १६५, १६६, १७४, ६४२
आनन्दकुमार स्वामी ४०७,४१६,४२१,–बौद्ध धर्म के निर्वाण और आत्म-तत्त्व पर, १५७,–हिन्दू-चित्रकला पर, ४१८
आनन्दतीर्थ ३६४, ३८२
आनन्दनारायण मुल्ला ७०५ पा० टि०
'आनन्द-भाष्य' . ३७६, ३७७
'आनन्द-रामायण' ८६
'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' ६१;–के दास अरस्तू के दास से भिन्न, ५५
आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र : ४५
आबरू . की कविता, ४३७
आबिद हुसेन का भाषा-सबधी भ्रम, ४७८-७६;–कृत 'भारत की राष्ट्रीय सस्कृति' में हिन्दुत्व पर इस्लामी प्रभाव की चर्चा, ३४६
'आबेहयात' . ४६० पा० टि०
आयगार, कृष्ण स्वामी . ४१
आयगार, श्री पी० टी० श्रीनिवास के अनुसार प्राचीन आर्यो को दक्षिण का ज्ञान, १६, १७
'आयडियलिस्ट व्यू आव् लाइफ' : ६६५ पा० टि०, ६६६
आयोनिया . ३२१,–से यूनान नाम निकला, १६६
आर० सी० मजुमदार . २१० पा० टि०
आरबेरी · कृत 'द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेस-नेस', ३६५ पा० टि०
'आरिजिन एण्ड स्प्रेड आव् द तमिल्स', २० पा० टि०
आर्थर वैले . २१३
आर्य · ४, ५, ६, ७, ८, ६, ११, १३, १४, १५, १६, २७, ३४, ३६, ७५, ७६, ८७, ८६, ६०, ६१, ६५, ६६, ६७, १७१, १६५-६६, २८०, ३५०, ५२२, ६०१, ६२१ पा० टि०,–और द्राविड भाषाएँ, ४३-४७,–और द्राविड लोगों के बीच भेद का आधार भाषा, १५,–और द्राविड स्वभाव, ४७-५०;–दर्शन का विकास, ११५,–दर्शन धार्मिक कवियो द्वारा विकसित, ११५,–धर्म, १४६,–धर्म और जरथुस्त्र-मत, २६४,–नाम, २०-२१, ६३,–परिवार की सारी उत्तर भारतीय भाषाएँ, ४४३,–प्रकृति-पूजक, ६६,–प्रवृत्ति-मार्गी, ४७-५०,–भाषा, ७, १६, २६;–शब्द का अगरेजी मे सर्वप्रथम प्रयोग मैक्समूलर द्वारा, २१,–शब्द की व्युत्पत्ति, २०,–सभ्यता, ८, १४;–

सभ्यता सामी-क्षेत्र में, २६,—साहित्य, ७६,—आर्यो का द्राविड़ो से सबंध, ४०-४३;—का द्राविड़ो से साम्य, १२,—का मूल-स्थान, २२-२७,—की ईरानी और भारतीय शाखाओ मे भेद, ३२,—की एशियाई और यूरोपीय शाखाओं की बोलियाँ अलग-अलग क्यों, २३;—की जातीय शुद्धता अक्षुण्ण नही, ६०-६१,—की द्रविड़ो से भिन्नता, १६२;—की कई बाते पोथियो तक सीमित और आर्येतर जातियो की बातें प्रचलित, ६५;—की भावुकता, ७०;—के निवास-स्थान के तीन नाम, २२;—के आगमन के बाद के देवता, ३७;—के भारत-आगमन का काल, २४,—ने अपनी सस्कृति लादी नही, ६४
आर्यभट्ट · २०१, २०२
आर्य-समाज . ३६८, ५५६-६७, ५६६, ५७१, ५७२,— हिन्दुत्व का आक्रामक रूप, ५६०-६१;—इस्लाम का सस्कृत में अनुवाद, ३६८,—की विशेषता, ५६४-६५;—और निजाम-सरकार, ५६७,—और शिक्षा, ५६६, की सीमाएँ, ५७५-७७;—की स्थापना, ५६३,—हिन्दुत्व का स्वाभिमान, ५५९-६०;—हिन्दुत्व की वीर भुजा, ५६६-६७
'आर्यासप्तशती' . ४२६, ४३१
आलकाट · ५६६, ५७१
आलम ३३५, ३३८, ३४६, ४२४, ४३०, ४३१-३२, ४५५, ४६३
'आलवक सुत्त' · १६७ पा० टि०
आलवार संत ३४८, ३४९, ३६९, ३७०-७२, ३७३, ३७६, ३८१, ३८२, ४४१, ४४२,—की परंपरा, ३५८-६०,—निम्न जातियो से, ३७०,—आलवार सतो के मुक्त सस्कार रामानुज द्वारा वर्णाश्रम-धर्म में बद्ध, ३७५
आलार कालाम १३२ पा० टि०
'आवर ओरियंटल हेरिटेज' २०१ पा० टि०, ३१५ पा० टि०, ४२५ पा० टि०
'आवर हेरिटेज' : ३४८, ३५४ पा० टि०
'आश्वलायन-गृह्य-सूत्र' ७२
'आश्वलायन-श्रौत-सूत्र' · ४५
'आस्पेक्ट्स आव् इकबाल' ७१८

(इ)

'इंडिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस' ७२७ पा० टि०
'इडो-एशियन कलचर' (जनवरी, १९५४) ६ पा० टि०, १३ पा० टि०
'इंडिया, द मोस्ट डैंजरस डिकेड' · ७४३
'इनफ्लुएंसेज आव् इस्लाम आन् इडियन कलचर' : ३४७
इकबाल . २६२, २६६ पा० टि०, ३०० ६२५, ६६२, ६७६, ६९५, ६९८ ७२३, ७३४,—इस्लाम के बारे में २८१;—इस्लाम के मूल-रूप के उपासक ३८६,—और पान-इस्लामी राष्ट्रीयता ७१९-२०,—का खुदी का सिद्धान्त, ७०९-११,—का जीवन-दर्शन, ७०५-६,—की भावात्मक समाजवाद की कल्पना, ७१८-१९,—की महामानव की कल्पना, ७११-१४,—कृत 'बाले-जिबरील', २६१ पा० टि०,—दलितो के कवि, ७१५-१७,—द्वारा औरंगजेब की प्रशंसा, ३९५,—द्वारा पाकिस्तान की कल्पना, ३९५,—में राष्ट्रीयता का स्वर, ७०१-३
इग्नोन फिडेल . ४९०
'इतिहास प्रवेश' २२ पा० टि०, ३८६ पा० टि०, ४०९ पा० टि०, ४५२ पा० टि०
इत्सिंग २०५, २०८, २११
इशा अल्लाह खाँ · २६२
इन्द्रभूति कृत 'ज्ञानसिद्धि', २३६
इन्द्रसिंह चक्रवर्ती : ४००
इब्न-बतूता ३२०, ३२१, ४७३
इब्न-सीना · २९३
इब्ने-तैमिया · ३८८, ६७९

इब्राहीम (हजरत) ५२२
इब्राहीम आदिलशाह ४५३, ४५४, ४७६
इम्पेडोकल्स १९६
इलियट १९४,—पर भारतीय प्रभाव, ५२०
इलियट, चार्ल्स कृत 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म', पा० टि० ३४,—तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव के विषय म, २९८
इस्माइलिया सप्रदाय ४७५
इस्लाम · ८६, ९२, ९६, १२२, ५२६, ५२७,५३७,५३९,५६४,५८९,६१७, ६६३, ६८२, ६९१, ६९९, ७०४, ७०५, ७१३, ७१४, ७१५, ७१७, ७२१, ७२४,—अर्थात् शान्ति में प्रवेश, २७८,—ईश्वरवादी या एकेश्वरवादी, अद्वैतवादी नही, ३५१,—और अगरेजी राज, ६८२-८४;—और ईरान, ३३, २६६;—और अद्वैतवाद में भेद, ३५१-५२;—और भक्ति-आन्दोलन, ३६३, ३६५-८४,४३४,—और भारत, २६१-४८२;—और भारत की भाषाएँ, ४४३-४५,—और मूर्त्ति-पूजा, २८५, ४१३;—तथा कलाएँ, २८५, ४१३,—और रामानुज, ३७३,—और वीर शैव, ३६०-६२;—और शकराचार्य, ३५१-५४,—का आरभिक रूप २६८-७१,—का कट्टरपन ३५८;—का क्षिप्र प्रसार, २५१, २६५-६८, २७१, ३१२-१४,—का नेतृत्व तुर्कों के हाथ म, २७६;—का प्रभाव और भक्तो का वहुरियावाद, ४४१-४३;—का प्रभाव और भारत मे मुक्त चिंतन, ३६३-६४;—का प्रभाव कला और शिल्प पर, ४०७-२७,—का प्रभाव भक्ति-आन्दोलन पर ३७८, ३७९, ४३४,—का प्रभाव धार्मिक जागरण पर ३६३;—का प्रभाव भारतीय राजनीति पर, ३६२-६३;—का प्रभाव सिक्ख-धर्म पर, २८७, ३९७-९८,—का प्रभाव राममोहन पर, ५००;—का प्रभाव, भारतीय साहित्य के भावुकता-पक्ष पर ४३०-३१, का लक्ष्य व्यक्ति नहीं, समाज, २८५-८६,—का सम्वन्ध यहूदी-धर्म से, ५२२;—का स्वरूप-परिवर्तन, २७३-७६,—का हिन्दुत्व पर प्रभाव, ३४७-६४,—की आलोचना 'सत्यार्थ-प्रकाश' मे, ५६०,—के कुछ मनोरजक पहलू, २७६-७८,—के पूर्व का अरव, २६७-६८,—के प्रति विवेकानन्द का दृष्टिकोण, ६०४-०५,—के प्रसार के लिए वौद्ध धर्म से उत्पन्न सम्प्रदायों द्वारा मिट्टी तैयार, २५१-५३,—के भीतर विद्रोह, २८९-९४,—के मूल-ग्रन्थ, २७८;—के मूल-रूप से सूफी मत का भेद, ३०१-०२;—के सर्वोत्तम संत सूफी, ४७६;—के हिन्दुत्व पर प्रभाव का अतिरजन, ३४७-५१,—को परिस्थितियो ने राजनैतिक रूप दिया, २६९,—द्वारा सभी धर्मों का आदर, २८२,—और नाथ-पंथी २५२-५३,—पर हठयोग का प्रभाव, ३६३;—पर हिन्दू-धर्म का प्रभाव, ३२४;—परिस्थितिवश राजनीति में, २८७;—प्रेम और अहिंसा का धर्म, २७९,—में आत्मा, २८४,—में ईश्वर की कल्पना, २८९;—में कर्मफल, २८४,—में नरक, २८३,—में मरणोपरान्त जीवन, २८२-८४;—मे सूफी प्रभाव से परिवर्त्तन, ३२४,—में स्वर्ग, २८३;—मोगल-काल में हिन्दू-प्रभाव से उदार, ४१३;
'इस्लाम टुडे' : ७१५ पा० टि०

(ई)

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर . ५८६
ईसा मसीह · ८६, १७९, १९५, २८०, २८१, २८५, ३५४, ५२२, ५२३, ५२९ पा० टि० ५५०, ५५९, ६३८, ६४६;—और बुद्ध, ५२४-२५;—का

एशियाई रूप, ५३४-३५,—की आराधना भी प्रियतम-रूप में, २६६
ईसाइयत : ८६, १२२, १८२, २५४, २६७, २७१, २६७, ३०१, ३५१, ४६१, ५३७, ५३६, ५४१, ५७८, ५८१, ५८६, ५६५, ६१७, ६६३, ६८२, ६६१, ६६६, ७०८, ७२०,—और इस्लाम को जरथुस्त्र-धर्म की देन, ३३,—और तसव्वुफ, १६८;—और दिग्भ्रमित हिन्दू युवक, ५२६-३३,—और ब्राह्म समाज, ५४८-५०,—और बौद्ध धर्म, ५२४-२५,—और भारतीय जनता, ५२२-३५,—और राममोहन, ५४१, ५४३,—का प्रचार भारत में, ४८६, ४६३-६५, ५३२-३३;—का प्रभाव अकबर पर,३८६,—का भारत मे प्रचार पुर्तगाल का एक लक्ष्य, ४८६;—की अगरेजी-प्रचार से अपेक्षा, ५३०,—की आलोचना 'सत्यार्थ-प्रकाश' मे, ५६०,—की इस्लाम से दुश्मनी, ४८७,—के ग्रन्थ और बौद्ध जातक, १६८,—के प्रचार के मार्ग में रुकावटे, ५३२-३३,—पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, १६५;—पर बौद्ध-हिन्दू प्रभाव, २६७ पा० टि०,—बनाम हिन्दुत्व, ३७६, ५२६-२८,—भारत मे तीसरी सदी मे ही आयी, ४८८,—भारत में यूरोपीय रूप में आयी, ५३४,—मे ईश्वर,१२३,—मे मादन-भाव,४४१,—से इस्लाम का मतभेद, २८०-८१;—से भारतीयो का वैर पुर्तगाल की नीति के कारण प्रारभ, ४२८,—से हिन्दुत्व की टक्कर, ३७६
ईसाई-धर्म-प्रचारक और अगरेजी,४६६,—और भारत, ५१५,—और भारतीय भाषाएँ, ४६४-६५,—के प्रति अगरेज शासको का रुख, ५२५, ५२७;—के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य, ५१७-१८
'ईसा-पुराण' . ४६४
ईस्ट इडिया कपनी की स्थापना, ४६१, ४६७,—और फारसी, ४६६,—से राज्य छिना ४६३
'ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट' ६६६, ६५५ पा० टि०, ६७० पा० टि०, ६७१ पा० टि०, ६७२ पा० टि०

(उ)

'उत्तर-पुराण' . १६६
'उत्तर भारत की सत-परपरा' (परशुराम चतुर्वेदी-कृत) २२६ पा० टि०, २३७ पा० टि०, ३०२ पा० टि०, ३६८ पा० टि०, ४०० पा० टि०
'उत्तर रामचरित' : ८५,—मे चित्रकला, ४०८
उत्सवानन्द . ५४६
उदयनाचार्य २०२
उद्योतकर २५४
'उपनिषद्' . ६६, ६७, ७५, ७६, १०१, १२८, १२६, १३०, १४७, १४६, १५४, १६०, १६३, १७१, १७२, १८१, १८२, १८३, १८६, १८८, १८६, १६०, १६५, २४५, २४६, ३३६, ३५२, ३५८, ३६६, ३७३, ३६१, ५१८, ५२०, ५२१, ५२३, ५२८, ५३६, ५४६, ५४८, ५५२, ५६४, ५७१, ५७२, ५६१, ५६२, ५६६, ६०८, ६१०, ६१२, ६३१, ६४६, ६५१, ६६१, ६६५, ६६६, ७४०,—और अद्वैत, ३७०,—और कर्मफलवाद, ११३,—और जैन धर्म, १५७;—और ताओ-धर्म, २१२,—और नियोप्लेटोनिज्म, २६४,—और प्लाटिनस का दर्शन, १६८,—और बौद्ध तथा जैन धर्म, ११६,—और बौद्धधर्म, २५५,—और भक्ति-भावना, ७७-७८,—और भारतीयोकी निवृत्ति, ४६-५०, ११७;—और वैष्णव-धर्म, ७७-७८;—का अर्थ, १०५;—उपनिषदो का प्रभाव, ११७-१८,—का यूनान पर प्रभाव,१६७,—का विरोधाभास और अद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा

विशिष्टाद्वैतवाद के वीज ११२,—की विशेषताएँ, १११-१४;—की शापेनहार द्वारा प्रशसा, ५१५-१६,—के प्रणेता, ११३-१४, ११६,—के भेद, १०३,—मे निर्वाण,१५६,—मे ब्राह्मणो की उच्चता को चुनौती, १२४,—मे वैदिक धर्म की अपूर्णता का सकेत, १२०, १२३;—में शून्यवाद, ३५३,—मे सृष्टि, १११;—मे स्याद्वाद के वीज, १४४
उमर खैय्याम २६२
उमेशचन्द्र सरकार ५५१
उर्दू ७, ३०, ३१५, ३४४, ३५०, ४३७, ४७८, ४६४,—इस्लामी भावनाओ की भाषा, ४६६,—का जन्म दक्खिन मे क्यो, ४५३-५६,—का जन्म ४५०-७०;—का वर्त्तमान रूप सस्कृत शब्दो के वहिष्कार की नीति का फल, ४५६-६१,—की कविता का प्रेरणा-स्रोत ईरान और अरव क्यो, २६२,—के आरभिक कवि, ४५३,—हिन्दी से निकली, ४६१-६२, ४६४-६६,—हिन्दू-मुस्लिम एकता की भाषा, ४५३ उर्दू-हिंदी-भेद की जिम्मेदारी उर्दू कवियो पर, ४६२
उस्मान २६६, २७५, २८८, ३४१, ३४२, ३४४, ३८२, ४३०, ४५५

(ऋ)

'ऋग्वेद' ८, २५, २६, ३५, ३७, ४०, ४३, ४४, ५१, ५४, ६६, ६७, ७६, ८२, ८३, ८४, १०६, ४०७,—और जेन्दावेस्ता, २८,—का रचना-काल, २९-३०,—ऋग्वेद-सहिता ३८, ७३८
'ऋतुसहार' ५१६, ५१८
ऋषभदेव ३६, १३१, १४२,—अनेकान्तवाद के प्रवर्तक, १२६,—अवतारो मे शामिल, १३०, १३३,—लिपियो के आविष्कारक, ४४,—वेद-पूर्व की अहिंसा-परपरा मे, १३०-३१;—और शिव की कल्पना, ७३८

(ए)

एटियोकस १६७
एकजेनोफेन . १६६
एकनाथ . ५५७
'एजुकेशन, पालिटिक्स एण्ड वार' ६७२ पा० टि०
ए० जे० आरवेरी ६७४ पा० टि०
एडविन आर्नाल्ड . ५२०
'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' · १६ पा० टि०
एनी वीसेंट ५६८, ५६९-७०, ५७७, ५९३, ६२६, ६५२;—की भारत-भक्ति, ५७०-७१,—द्वारा अखण्ड हिन्दुत्व का समर्थन, ५७१-७२,—राजनीति मे, ५७२-७३
'ए पेजेट आव् एशिया' (सौडर्स-कृत) : ३८८ पा० टि०
एफ० एच० डेविस-कृत 'द पर्सियन मिस्टिक्स' २९५ पा० टि०
एवी दुवोय ५१५,—का धर्म-प्रचार की विफलता पर विलाप, ५२७
एमर्सन · ५१६, ५७६, ६२६
एमहर्स्ट, लॉर्ड ५०१
एलफिंस्टन ५४२, ७२६ पा० टि०;—द्वारा शिक्षा का माध्यम देश-भाषाओ को वनाने पर जोर, ५०८-११,—वनाम मेकाले, ५११
'ए वीक विद गाँधी' ६३७ पा० टि०
'एशिया एण्ड वेस्टर्न डोमिनेंस' . ५०३ पा० टि०
एशियाटिक सोसाइटी : ५१६
'ए स्केच आव् द हिस्टरी आव् इडिया' : ५०४ पा० टि०
'ए हिस्ट्री आव् उर्दू लिटरेचर' ४५३ पा० टि०, ४५८ पा० टि०, ४६४ पा० टि०
'ए हिस्ट्री आव् द माडर्न एज' : ४९० पा० टि०
'ए हिस्ट्री आव् साउथ इडिया' (नीलकठ शास्त्री-कृत) ४१ पा० टि०

(ऐ)

ऐडम : ५११;—की शिक्षा-संबंधी रिपोर्ट, ४६८

'ऐतरेय ब्राह्मण' . ५५, १०३,—के देवता, १०६

'ऐयारे-दानिश' : ४१५

'ऐसप्स फेबुल्स' : २००

(ओ)

ओन्दाल : ८१, ४४१

ओमेले : ४६७

'ओरायन' : २६

(औ)

'औपनिखत' : ५१५

औरंगजेब : ३११, ३२३ पा० टि०, ३४३, ३४४, ३४७, ३६०, ३६१, ३६२, ४५५, ४६०, ४६२, ५२६, ६७६, ७२५;—और अकबर, ३६५-६६;—और गुरु गोविन्दसिंह, ४०२-३;—और गुरु तेग बहादुर, ४०१;—और मोगल-कला, ४१६;—और सिक्ख, ४०१-३,—और हिन्दू-मुस्लिम एकता का ह्रास तथा उर्दू में से संस्कृत शब्दों का बहिष्कार, ४५६-५७;—की धर्मांधता और भारत की एकता, ३६४-६६;—की सेना में हिन्दू, ३३७;—द्वारा सूफियों पर अत्याचार, ३०२;—द्वारा हिन्दी-शब्दों की सुन्दरता की पहचान, ४६२-६३;—में पाकिस्तान का पूर्वाभ्यास, ३६३

औष्ट्रिक : ४, ६, ७, ८, ६, १६, ५६, ५७, ७१, ७६, ६६, १७१, ७३८;—का आगमन और भारतीय संस्कृति को योगदान, ६-११;—का फैलाव ६-१०;—की देन सर्प-पूजा, भूत-पिशाचादि, ६६;—दे० आग्नेय भी

(क)

'कंट्रिब्यूशन आव् साउथ इंडिया टु इंडियन कलचर' (कृष्णस्वामी आयंगार-कृत) ४१ पा० टि०

कंबन-कृत 'तमिल रामायण' . ८६

'कठोपनिषद्' : १०५. १२३, १६०

'कथासरित्सागर' : २०६

'कन्नड—इंगलिश-डिक्शनरी'—३६१पा०टि०

'कन्नड़ी तोरावे रामायण' : ८६

कन्फ्यूसियस : १२०, १५१ पा० टि०, ५६६.—का धर्म, २१२-१५;—बनाम बौद्ध धर्म, २१२-१४

कन्हपा : के पद, ३८३ पा० टि०

कपिल मुनि : १३१;—का सांख्य, १३२

कबिर (हुमायून) : की गलत स्थापनाएँ, ४३०-३१;—कृत 'आवर हेरिटेज' में तसव्वुफ पर विचार, २६८;—द्वारा शंकर पर इस्लामी प्रभाव का प्रतिपादन, ३५४

कबीर : ६४, १८४, १८५, १६५, २६६, ३२४, ३२८-३०, ३३१, ३३३, ३३८, ३३६, ३४२, ३४४, ३४६, ३५६, ३५६, ३६०, ३६३, ३६४, ३६५, ३६८, ३६६, ३७७, ३७८, ३७६, ३८४, ३८५, ३६७, ४३०, ४३५, ४३७, ४३६ पा० टि०, ४४०, ४४५, ४५१, ४५२ पा० टि०, ४५३, ४५५, ४५६, ५२८, ५३६, ५३६, ५५१, ५५७, ५६१, ५८३, ५६२, ६३२, ६४२, ६४३, ७३६, ७४०;—और इस्लाम ३७६-८०, ४३४;—और रामानन्द, ३७७;—और सहजयान, २४०-४१;—का बहुरियावाद, ४४१-४२;—का मृत्यु-प्रेम. ४३६-४०;—के निर्गुण-प्रेम का कारण, ३७८;—के राम, ३७७, ३७८;—तुलसी की दृष्टि में, ३४१;—द्वारा धर्म के भीतर संसार प्रतिष्ठित, २४०-४१;—प्रवृत्ति-मार्गी, २४०-४१;—वाली धारा सिद्धों की धारा का विकास मात्र, ३८४,—वाले रहस्यवाद की परंपरा पर सूफी प्रभाव नहीं, ३८३,—कबीर-पंथ को बिहार में बौद्ध धर्म से सहारा, २५१

कमाल उद्दीन बेहजाद : ४१४, ४७३

'करटक-दमनक-कथा' : १६६, ३२७

कर्मफलवाद १५२, २६४,—इस्लाम मे, २८४,—उपनिषदो मे, ११३, ११६, ११७,—और बौद्ध धर्म, १६३-६४,—की पुष्टि ऋत के सिद्धान्त से, ११५
'कर्मयोग-शास्त्र' . ६०६, ६१०
'कलीला व दमना' ३२७, १६६
'कल्पसूत्र' २६, १०४
कल्हण २७३
'कविता-कौमुदी' . ४५३ पा० टि०, ४६२ पा० टि०
'कश्मीरी रामायण' १७१
कश्यप मातग चीन जाने वाला प्रथम भारतीय यात्री, २१०
काँगडा-कलम चित्रकला की, ४१७-१८
काग-सग-हुई १६८
'काँग्रेस का इतिहास' ५५५ पा० टि०, ५७३,—की १६३७ की सरकार, ४७८
काणे कृत 'धर्म-शास्त्रो का इतिहास' मे अनुलोम-प्रतिलोम से उत्पन्न जातियो की गणना, ५६,—के अनुसार ईसा से ५०० वर्ष पूर्व मूर्त्ति-पूजन,—शूद्रो के उद्गम पर, ५४
काण्ट २६२ पा० टि०
कात्यायन १२८
कादिर, 'हिन्दी कवि' ३३८
कादिरिया सूफी-सप्रदाय ३०२
काम-योग २३३
'कामसूत्र' मे चित्रकला का उल्लेख, ४०८
कामिनी-कुमार ४२६ पा० टि०
कारलाइल ५०४, ५१६
कालचक्रयान २१८, २३०
काला पहाड ३१२
'कालिका-पुराण' ६३
कालिदास : १७०, १८६, १६०, १६४, १६५, २११, ३४२, ३५१, ४२७, ५१६,—द्वारा कृष्ण का उल्लेख, ७६
काल्डवेल, डाक्टर १६
'काव्य-मीमासा' १०२
किटेल . ३६१,—की कन्नड-इगलिश डिक्शनरी मे तमिल-भडार से निकले सस्कृत शब्द, ४४ और ४४ पा० टि०
'किताब सिन्दबाद' . २००
'किताबुल बुद' १६६
'किताबुल हिंद' २६७
किपलिंग . ५६१
'किरातार्जुनीयम्' . ४६
किशनगढ चित्र-शैली ४१७
कीथ, आर्थर २०
'कीर्त्तिलता' ३३६
कुभनदास ३४२, ३७८
कुतबन ३३४, ३३५, ३४१, ३४४, ३८२, ३४६, ४३०, ७३८
कुबला खाँ बौद्ध था, २१४
कुमारजीव २११, २१२
कुमार दास ४६
कुमारपाल १४२, १४३
कुमारिल भट्ट २१, ४६, २३६, २४५, २४७, २५४
'कुरल' १४५
'कुरान' २६५, २६६, २७६, २८२, २८३, २८५, २८६, २६७, ३२०, ३३७, ३४०, ३५२, ३५७, ३६३, ३६८, ४४५, ४४६, ५५२, ६६२, ६६३, ६७६, ६७७, ६८१, ६८७, ६८८, ६६१, ६६६, ७४०,—और गीता, २८४, ३५७,—और चित्रकला, ४१३,—की शिक्षा, २८०-८२,—मे भी खुदा और वदेके बीच प्रेम-सम्बन्ध, २६६
कुलपति ४५१, ४५२ पा० टि०
कुलशेखर . ४६, ३७१, ३७६
कुली कुतुब शाह ४५६
कुल्लक भट्ट ३६४
'कुवातुल-इस्लाम' ४२६
'कूर्म-पुराण' ७०, ७१ पा० टि०,,—मे भक्ति के प्रमाण, ३६५
'कृत्तिवासी रामायण' १७१
कृष्ण ३४, ५६, ७७, ७८, ८०, ८४, ८५, १०७, १२३, १२६, १२६, १४७, १६१, २०७, २३४, ३५१, ३५६, ३५७, ३६६, ३७६, ४३३, ४३८, ४४१, ४४२, ५६५, ५७२, ६१२, ६४७,—ऐतिहासिक पुरुष, ७८,—

और अहिंसा, १२५;—और सास्कृतिक समन्वय, ३८;—का काल, ८४;—का वाणासुर से युद्ध, ७३,—का बौद्धीकरण, १६८;—की कथा एकता में सहायक, ६७;—की स्तुति श्लीगल द्वारा, ५१८;—के रसिक रूप का प्रारंभ, ७८-७९;—जैन भी माने गये, १२५;—द्वारा वर्णव्यवस्था की सराहना, ५६;—भक्ति-काव्य मे मुसलमानों का योगदान, ३४६,—सज्ञा की प्राचीनता, ७८-७९
कृष्ण द्वैपायन · २४
कृष्णमिश्र २४९
'कृष्ण यजुर्वेद' ४५
कृष्णाचार्य . २४५
'केन' · १०३, १०५
केलकर ५५५
'केवट्टमुत्त' : १६७
केशवचन्द्र सेन ३७९, ४४०, ५४८-५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५७, ५५८, ५५९, ५६२, ५६३, ५७५, ५७७, ५८०, ५८४, ५८६, ५८७, ५९२, ६२९, ६५२, ६५४, ६८३, ६८९, ६९३, ६९८,—द्वारा ईसा के पश्चिमी रूप की आलोचना, ४३४;—द्वारा ब्राह्म समाज को ईसाइयत का रूप प्रदान करना, ५४४
केशवदास ४१५, ४२३, ४३०, ४३३, ४४४, ४४५
कैडी, कैप्टेन . ५१०
कैरी ५२७
कोनो, स्टेन . २९
'कोर्ट पैंटर्स आव् द ग्रैंड मोगल्स' (आर्नाल्ड और विनोयन-कृत) ४१४ पा० टि०
कोलब्रुक · ५१
कोसम्बी धर्मानन्द १७२, २५५,—कृत 'भगवान बुद्ध' ७२,—कृत 'भारतीय मस्कृति और अहिंसा', २४८ पा० टि०;—शिव-पूजा पर मत७२;—कृष्ण के श्रृंगारिक रूप पर, ७९
कौटिल्य १६५ पा० टि०
क्याव मिंट २१४
'क्राइस्ट, द मेसेंजर' ४३४ पा० टि०
क्रोसे . ६७२
क्लिमेंट · १९८
क्लेन : २८६
क्षितिमोहन सेन ८९, ९०, १२९, २९७ पा० टि०, ४८१,—कृत 'मिडिवल मिस्टिसिज्म आव् इडिया' में भक्ति आर्य-पूर्व तत्त्व चित्रित, ३८२,—कृत 'सस्कृति-सगम', ६०, ७०, ७५,—जातिप्रथा पर, ५८,—शिव की पूजा पर, ७०-७१ और ७१ पा० टि०
क्षेमेन्द्र : १७०

(ख)

'खंडित आत्मकथा' . ६५२
'खंडित भारत' : ४७५
खड़ी बोली ३४५, ४५५, ४६०,—इमी देश की भाषा, ४५३,—का गद्य, ४६४-६९,—के ईरानीकरण से उर्दू उद्भूत, ४५५,—के सृजन में खुसरो का योगदान, ३२५,—में काव्य-रचना ब्रज भाषादि से पूर्व, ४५३,—में साहित्य-रचना, ४५०-५३
'खण्डहरो का वैभव' मुनिकान्त सागर-कृत १३० पा० टि०
खान बहादुर लतीफ . ६८५
खिलाफत ३१६,—का अत, २८९
खुसरो, अमीर १९, २६४, २६५, ३३५, ३३८, ३४४, ३४५, ४००, ४५३, ४६३, ७३९, ७४०, ४६४ पा० टि०, की भारत-भक्ति, ३२५-२७,—भारत का प्रथम राष्ट्रीय मुसलमान, ३२५,—मे खडी बोली की सभावनाएँ, ४५०-५१
खुसवन्तसिंह-कृत 'द सिक्ख' . ४०५
'खेट-कौतुक-जातकम्' (रहीम-प्रणीत) ३४५
खोजा-सप्रदाय . ४७५, ४८०
'खोतानी-रामायण' . १६८, १७१

(ग)

गग ३४५, ४४७, ४६५, ४६६
गगू ४५४-५५
गगू सोइयाँ ४०२ पा० टि०
गजनी २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, ३०२, ३०८, ३०९, ३१३, ३१४, ४५०, ७२५, —इस्लाम का सेवक नही, २७६-७७, २७३, —का आक्रमण और हिन्दू-मस्लिम सम्बन्ध, २७३, —का वश-ठिकाना, २७४, —की चढाई, ३०४०५, —की सेना मे हिन्दू, २७८
गजाली २९२, २९३, ३५५, —इस्लाम के व्यास, २९१, —तसब्वुफ के जन्म-दाता, २९०-९१, —पर्दा पर, ४७६-७७
गणेश ७३-७५, १९१, २०८, —का पूजन वौद्ध धर्म और विदेशो मे भी, ७४, ७५, —की पूजा, ५५५, —गाजी हो गये, २५३
गागुली ५३३
गांधी जी १८२, १८४, १८८, ३१३ पा० टि०, ३२८, ३३२, ३४७, ३९०, ३९५ पा० टि०, ५५६, ५७३, ५८७, ६०३, ६०७, ६२३, ६२७-५०, ६५४, ६६७, ६७०, ७१७, —७४१, ७४६, ७४८, ७४९, —आधुनिक हिन्दुत्व के सब से वडे प्रतिनिधि, १४३, —और अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ६३६-६३८, —और अरविन्द, ६३८-४०; —और तिलक, ६१४-१५, —और धर्म की अनुभूति, ६४५-५०, —और वुद्ध, १५३, —और भारतीय नस्कृति, ६२७, —और मार्क्स मे भेद, १७९, —और हिन्दी, ४६९, ७४७, —की अहिंसा, ६३५-३६, —के सच्चे पूर्व-पुरुप शान्तिदेव, १७९, —पर जैन प्रभाव, १४३, १४५, १७९
'गाथा' . पारसियो का धर्म-ग्रन्थ, ३३
'गाथा-सप्तशती' ४६, ८० पा० टि०, ४२९, ४३१
गालिव ४४०, ४५९
गान्धार कला, . ४२४, —का प्रभाव अजन्ता पर, ४१०; —का विकास, १९७
गिल्व एच० ए० आर० . २६९, २७०
'गीत गोविन्द' . ८० पा० टि०, १४८ पा० टि०, ३८२
'गीता' ३८, १४७, १६०, १६२, १८०, १९२, १९५, ३५७, ३६६, ३६८, ३७१, ३७३, ४१८, ५६५, ६६७, ५७१, ५७२, ५७७, ५९७, ६०९, ६१०, ६१२, ६५१, ६६३, —और कुरान, २८४, ३५७, —और प्रवृत्ति १८८, २४१, ५३९, —और वौद्ध धर्म, १८६-८८, —और भक्ति, ३५९, ३६५, ३६८-६९, ४४१, —को लोक-मान्य तिलकद्वारा नयी दिशा, ३५३, —वुद्ध—पूर्व रचना, १८६ पा० टि०, —मे निगम-आगम का मेल, ३६९; —मे भारत की समस्त धार्मिक धाराओ का समन्वय, १९७, —मे वर्ण-व्यवस्था की सराहना, ५६—भगवदगीता, ८५, ४४२, ५१६, ५१८, ५२०, ७४६
'गीता-भाष्य' ६११
'गीता-रहस्य' ६१२, ६१४ पा० टि०, ६३२
गुणभद्र १६९
गुणरत्न १३२
गुणवर्मा २०७
गुणाढ्य ४६
गुलवदन बेगम ३११
गुहा, वी० एस० की पुस्तक 'रेस अफी-निटीज आव् इडिया', २०
गुह्य-समाज २३०; —द्वारा वौद्ध धर्म में विकार, २२८-२९
'गृह्य सूत्र' ४१, १०४, —उपनिषत्काल में, ११६, —मे द्राविड भाषा के मुहाविरो के निशान, ४५, —वैखानस सप्रदाय का, ४४
गेटे ५२०, —के 'फाउस्ट' पर भारतीय प्रभाव, ५१८
गोकुल जाट का औरगजेव के खिलाफ विद्रोह, ३९४
गोकुलनाथ ४६५

गोखले . ५५२, ५५९, ६२८ पा० टि० ६८९, —और तिलक, ५५५
गोडसे : ३९०, ३९६
गोरखनाथ : २३८, २५१, २५२, ३२९ पा० टि०, —के पद, ३८३ पा० टि० ;— गोरखपथी ग्रथ, ४६५
गोरी, शहावउद्दीन ५८,२७७,३०२,४५०, ७२५, —इस्लाम का प्रतिनिधि नही, २७३, २७६, —का आक्रमण और हिन्दू-मुस्लिम सम्वन्ध, २७३
गोवर्धनाचार्य . ४२९, ४३५
गोविन्दचन्द्र दत्त . ४९९ पा० टि०
गोविन्द राय . ५८१
गोविन्द सिंह, गुरु ९४, ३९९-४००, ४०१, ४०४, ५६०, —का कवि-रूप, ४०३-४०४, — की मृत्य सोते समय एक पठान के हाथो, ४०३, — द्वारा गुरु-परपरा का अन्त, ३९९, — परशुराम के अवतार, ४०३, —मे सिक्ख-धर्म के सैनिकीकरण की पूर्णता, ४०१-४०४
'गोविन्द रामायण' ४००
गोविन्दाचार्य . १८१, —शकर के गुरु, ३५२
गौडपादाचार्य, १८१, १८२, २३६, २५४, २५५, ३५२
'ग्रथ साहिव' ३९९-४००
ग्राण्ट चार्ल्स ५०९, ५११, —अगरेजी के समर्थक, ५०८
ग्रिम ५१६
ग्रियर्सन, डाक्टर १९
ग्वाल कवि . ४५१, ४५२ पा० टि०
'ग्लिम्पसेज आव् मेडिवल इडियन कलचर' ३२६ पा० टि०

(घ)

घनानन्द : ४२४, ४२७, ४३०, —से हिन्दी मे रोमानी-आदोलन प्रारभ, ४३४-३५
घोर-आगिरस १२५, १२६

(च)

चगेज खाँ ५४३; —का आक्रमण, २७४-७५, —द्वारा युद्ध मे बारूद का सर्वप्रथम प्रयोग, २७५; —बौद्ध, २१४; —मुसलमान नही, २७५ पा० टि०
'चडी चरित्र' ४००
'चडीदास' ३८४, —वैष्णव—सहजयान के महाकवि, २३५
'चडीमगल' : ४२८, ४२९, ४३०
चदवरदाई . ४४५, ४५०, ४५३, ४६३, —की धार्मिक उदारता, ४४५ पा० टि०
चद्रकीर्ति २३६, २४५
चकवस्त . ७३४
चतुर्वेदी, परशुराम · कृत 'उत्तर भारत की संत परपरा' मे वैष्णव धर्म के विकास पर, ७७
'चन्द छन्द वरनन की महिमा' ४६६
चन्द्रवली पाडेय, . २९१, —सूफी-मत पर, २९६-९७
चमनलाल १८६
चमूपति ५६७
चरक · १९९, २०२
'चरक सहिता' १९९
चरणदास ४८२
चाँदवीवी ४५४
चाणक्य ६३३
'चाणक्य-नीति' · १९९
'चातुर्याम-सवर-सवाद' १२६
चार्टर ऐक्ट १७९३ का और शिक्षा, ५०७, —१८१३ का, ५०१, —१८१३ का और शिक्षा, ५०७, —१८३३ का और शिक्षा, ५०७
चार्ल्स इलियट-कृत 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' ३४७
चार्ल्स विलकिन्स, . ५१६
चार्वाक १३१,५६१; —का दर्शन, १३२, —का पथ, १३८; —के अनुयायी, २३१, —वेदों के निंदक, १२३
चित्रकला . की काँगडा-कलम, ४१७-१८, —की पहाडी-कलम, ४१७-१८, —की मुस्लिम-कलम की विशेषताएँ, ४२०-२१, —की मोगल-शैली, ४१४-१६, —की राजपूत-कलम और मोगल-कलम का भेद, ४२२-२३, —की राजपूत-

कलम और रीति-काव्य, ४२३-२४,—की राजस्थानी कलम, ४१४, ४१६-१७;—की हिन्दू-कलम की विशेषताएँ, ४१८-२१,—मुस्लिम-आगमन के पूर्व ४०७-१२,—मुस्लिम-आगमन के बाद, ४१२-१४;—वैदिक काव्य मे, ४०७
चिराग अली · ६९१, ७१३
चिश्तिया सूफी सप्रदाय ३०२
चूल-मालुक्य-सुत्तन्त . १५०
चेजी, फ्रासीसी विद्वान् ५१७
चैतन्य ३६०, ३६४, ३८०, ३८२, ४४२, ५२८, ५३६, ५५९
'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ४६५
'चौरासी सिद्ध' २१७

(छ)

'छान्दोग्य-उपनिषद' : ५२, १०३, १०५, १२४, १२५, ३६७

(ज)

जकाउल्लाह खाँ ६८५
जगतराम (हिन्दी कवि) ३३८
जगन चित्रकार . ३३८
जनक . ८१, ९४, १२६, १२७-२९, १६२, १६५, ६१५, ६३१, ७४७,—और कबीर, २४१
'जफरनामा' ४००
जबुलतारीक २७५
जमाल (हिन्दी कवि) ३३८, ३४६
जमील मजहरी (उर्दू के कवि) . ७३४, ७३६, ७३७
जयचन्द्र विद्यालकार-कृत 'इतिहास प्रवेश' ७,८, ५८, १९४, ३०३,३०४,३०६, ३०९, ३१४, ३१६, ४५२,—मे मत ऋग्वेद के रचना-काल पर, २९-३०
जयदेव ३४२, ३७६
जयन्त भट्ट १९४ पा० टि०
'जय सोमनाथ' . ३०४, ३०५
जरथुस्त्र : ३३,५१२;—का काल,१२०,—जरथुस्त्र-धर्म, ३४, ३०१, ५२१, ५२२,—और आर्य-धर्म, २६४,—जरथुस्त्र-धर्म और तसव्वुफ, २९८;—का अकबर द्वारा आदर, ३८६,—का चीन मे लोप, २१४,—का इस्लाम द्वारा विरोध, २८०,—का सूफी-मत पर प्रभाव, २९७
जरहम-बिन-ताई,(अरबी के कवि): २६२
जलालउद्दीन रूमी : २७५, २९९, ३४६
'जवाबे शिकवा' . ७०० पा० टि०, ७०१ पा० टि०
जवाहरलाल नेहरू . २०४, २१०, २१४, ५९४, ६०३, ६०७, ७३२, ७४१, ७४६,७४७, ७४८,—बौद्ध धर्म द्वारा निवृत्ति केप्रचारपर,१८३;—भारतीय सस्कृति की पाचन-शक्ति पर, ९७
जहाँआरा : ३११
जहाँगीर : ३११, ३३८, ३३९, ३४०, ४०१, ४१४, ४६६, ४७३, ४७६,—और अगरेज, ४९१;—और ईसाइयत, ४९४,—और चित्रकला, ४१५,—और स्थापत्य, ४२६,—का अर्जुनदेव पर अत्याचार, ४००,—का ढीलापन और अकबर की नीति की असफलता, ३८९-९०,—के काल मे एकता की लौ, ३९१-९२
जातक-कथा ६६, १२९, १६८, १८०, २००, ४०७, ४१०,—बहुत कुछ पुराणो-जैसी, ८९
'जानकी-हरण' : ४६, ८५
जाफर खाँ : ४५५ पा० टि०
जायसी . २६५, ३०२, ३३४, ३३५, ३३८, ३४१, ३४२, ३४४, ३६८, ३८२, ३८४, ४३०, ४४५, ४५०, ५५५, ४५९, ४६४, ७३८, ७३९
'जायसी-ग्रन्थावली' . ३२५ पा० टि०
जॉर्ज रसल . ५२०
'जावेदनामा' ७०७ पा० टि०
जिन्ना · ३४८, ३९५, ७२५, ७३२
'जिबरील, वाले' . ७१० पा० टि०, ७१६ पा० टि०
जियाउद्दीन · का सुहरावर्दिया सूफी-सप्रदाय . ३०२

जियाउद्दीन बर्नी ३२०
जीनो (यूनानी दार्शनिक) १९६
जीव गोस्वामी · ८०
'जेन्दावेस्ता' · २३,४४७,५५२,५६९,६६२
—की भाषा ऋग्वेद के समान, २८
जेवियर, फ्रांसिस ४९३
जेबुन्निसा ३११, ३४४,—का हिन्दी दोहा. ३४४ पा० टि०
जैकोबी . ऋग्वेद के रचना-काल पर, २९
जैन धर्म ८६, १०६, १२१, १३२, १३३, १३७, १७६, १८२, २४७, ३१८, ५१५, ६०८, ७३८,—अन्ध विश्वास का विरोधी, १७२,—और अहिंसा, १३५–३७, ६३४;—और गाँधी जी, १७९,—और चित्रकला, ४११-१२,—और पुराण,१६७,१६८, और बौद्ध धर्म, १३८, १४०-४१,—और मूर्त्ति तथा स्थापत्य,१४६,४१६; और राम-चरित, १६८,—और वैदिक धर्म में बड़ा भेद नही, १३१;—का अनेकान्तवाद, १३५-३६,—का इतिहास, १४२-४३,—का जातीय बंधन कसने मे हाथ, ५८;—का त्रिरत्न, १३९-४०,—का प्रभाव अकबर पर, ३८६,—का प्रभाव एडोनाय पर,५१९,—मठो का प्रभाव पिछले मोगलो के समय मे समाप्त, १४३,—का प्रभाव पिथेगोरस के दर्शन पर, १९६;—का प्रभाव वैष्णव-धर्म पर, १८६, १८८;—का वैदिक धर्म पर प्रभाव, १४३-४६,—का हिन्दू-धर्म पर प्रभाव, १८२,—की अकबर द्वारा सहायता, १४३,—की अनुश्रुति, १२९,—की अहिंसा वेदो से निकली? १३०,—की दो शाखाएँ,१४२,—की प्राचीनता,१२९-३०,—की विशेषताएँ, १२९-३२;—के उदय का कारण, ४८, १२०-२१,—के पुराण, १६९,—के प्रमुख प्रमेय, १३३;—के बाहर न जाने और देश में टिके रहने का कारण, १४१,—के साधु और योगमार्ग, १६१,—गृहस्थो का भी धर्म, १४१,—और जीवन से पलायन २४१,—धर्माचरण में वैदिक धर्म के निकट, १४१,—पर उपनिषदो का प्रभाव,१५७,—पर शैवो का प्रहार, २४८-५१,—महजोदरो मे, १३०-३१,—मे आचरण के सिद्धान्त, १३८-४०,—मे मोक्ष, १३४-३५, १५६, १६६;—में योग की परपरा, ३९,—में साकारोपासना की खिड़की खुली, १७३,—मे सृष्टि, १४१,—में हर सिद्ध परमात्मा, १३५,—लिंग-पूजा का प्रेरक (?), ७२
जोगीमारा गुफा की चित्रकारी, ४०९
जोड, सी ई एम. द्वारा भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक रूप की प्रशसा, ९७
जोन स्टुअर्ट ५९०
जोन स्टुअर्ट ब्लेकी ५२०
जोनाथन डकन ४९९
जोन्स, विलियम · की भाषा-सम्बन्धी स्थापना, २५
जोरावरसिंह ४०२
जोश मलीहाबादी ३३२ पा० टि०, ७३६, ७३७
जोहन फिक्टे . ५१६
ज्ञानदेव · ५५७
ज्ञानसिंह २३६
ज्ञानेश्वर ७४, ६११
'ज्ञानेश्वरी' ६११
ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य, ४५३

(ट)

टक (आचार्य) ३७३
टर्वानियर ४९२
टामस कृत 'म्युचुअल इनफ्लुएंसेज आव् मोहमडन्स एण्ड हिंदुज इन इंडिया', ४७५
टामस मनरो द्वारा शिक्षा-सबधी जाँच,४९८
टामस स्टीफेंस भारत मे बसनेवाला पहला अंगरेज, ४९१
टॉल्सटॉय ६२८, ६२९

टीपू . और फ्रांस, ४९१
टेरी ४९४
'टैगोर एण्ड अमेरिका' ७४६ पा. टि.
'ट्रैवल्स विद ए डंकी' ५०४
टोडरसिंह : ३५०, ४६४
ट्रंप : द्वारा सिक्खो के धर्म ग्रथ का अगरेजी अनुवाद, ४०५

(ड)

डफ अलेक्जेंडर ५१२ ५२७,
डलहौजी की सिक्ख-विरोधी नीति, ४०५-०६
डाडवेल . ५०४;—द्वारा भारतीय समन्वय-भावना की प्रशंसा, ९७
डायसेन, डाक्टर १२९
डारविन, ४
डिजरेली . ५८८
डी० एल० राय ७२४
डी० एस० शर्मा-कृत 'द रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' ११७, ५५६ पा० टि०, ३७२
डुप्ले ४९१
डुराट, विल (दार्शनिक) : का मुस्लिम - आक्रमण पर मत , ३१५;—का ताज-महल पर मत, ४२७,—का अंगरेजो की भारत-विजय पर मत, ४९३
डेविड हेयर . ५००
डोरोथी फील्ड : ३९९
ड्राइडन ४९२
'ड्रेवेडियन एलेमेंट्स इन इंडियन कलचर' (गिलवर्ट स्लेटर) : १८ पा० टि०

(त)

तत्र-मार्ग · ७४, २१८, २२१-२२, २२४,—का दार्शनिक पक्ष, २१८;—का विकास महायानोत्तर सतो द्वारा, २२८;—का व्यावहारिक पक्ष, २२१-२२,—की साधना की परपरा, २२७-२८,—के बौद्ध धर्म में प्रवेश करने का कारण, २२८;—में गुह्यता वरतने का कारण, २२८,—मे वाममार्गी कार्यो का धार्मिक स्वरूप, १६६ पा० टि०;—सभी देवों की सहचरियो का जन्मदाता, २१८-१९
तत्त्व-बोधिनी सभा · ५४८
'तत्त्व-संग्रह' · २५४, २५५
तबरेज . ४१४
'तमिल-प्रवन्धम्' . ३८१
तसव्वुफ . २८९-३०२, ३२३, ३२७-२८, ३७८, ३८९, ३९७, ६७७;—का प्रभाव राममोहन पर, ५४१;—का भारतीयकरण ३३३-३५;—के प्रचार का कारण इस्लाम की थकावट, २९४;—के विकास में भारतीय प्रभाव, २९४-९९;—के विकास में यूनानी प्रभाव, २९४-९९
'तसव्वुफ' (चन्द्रवली पाडेय-कृत) : २९० पा० टि०
'तहजीबुल एखलाक' : ६९१
'तहफातुल-फिलसफा' २९१
तहमास्प (ईरानी बादशाह) : ३११, ४१४
'ताओ-ते-किङ्' : २१३
ताओ-धर्म : २१३
ताज, हिन्दी कवयित्री, : ३४६, ७३९
'ताजकशास्त्र' : ४८०
तानसेन : ३४६
ताराचन्द, डा० : ३४८ पा० टि०, ३५१, ३५२, ३५६, ३५७, ३६६, ७३६,—कृत 'हिस्ट्री आव् द फ्रीडम मूवमेंट', ३८९ पा० टि०;—के अनुसार आलवार संतों पर इस्लामी प्रभाव, ३५८;—के अनुसार सूफी-मत के पाँच उद्गम, २९७,—को निराकारोपासना मे इस्लामी प्रभाव दृष्टिगोचर, ३५५,—वीर शैवो पर मत, ३६१;—हिन्दुत्व पर इस्लामी प्रभाव के अतिरंजक, ३४७-४८
'तारीखे-तैमूरी' : ४१५
ताहा हुसेन : द्वारा तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव स्वीकृत, २९७ पा० टि०
तिरुमरइ : ३८१
तिलक लोकमान्य : २६, ५२३-२४, ५५९, ५६२, ६०९, ६१०, ६१२, ६१३, ६१५, ६२१, ६२९, ६३२, ६७१,

७४६, ७४६ ,—और गाँधी, परशुराम और राम, ५५५-५६, ६१४-१५,—और गीता, ३५३, ५३९,—और गोखले, ५५,—और रानाडे तथा आगरकर, ५५३-५५,—और शंकर, ३५३;—कृत 'ओरायन', २६,—द्वारा धर्म की परिभाषा, ८८;—भारतीय राष्ट्रीयता के जनक, ५५५-५६,—वेदो की रचना के काल पर, २९
तिलक (गजनी का एक सेनाधिकारी) · २७८
तिलोपा · २४३
तुकाराम ३६४, ५५७
तुर्क · ४, ८, २५, ५८, ९२, ९६, ९७, २७७, ३१२, ३३९, ३९८, ४५८ पा० टि०, ४७२,—तुर्कों का इस्लाम मे प्रवेश और उसका रूप-परिवर्तन, २७३-७४,—का मूल-ठिकाना, २७३;—के हाथ मे इस्लाम का नेतृत्व, २७६
तुलसी : १५३, १७७ पा० टि०, १८५, १९५, ३०६, ३३४, ३३६, ३३८, ३४० पा० टि०, ३४४, ३६४, ३७२, ३७७, ३७८, ३८०, ४२७, ४३०, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ५२८, ५३६, ५५१, ६४६ पा० टि०, ६४७ पा० टि०, ;—की असाप्रदायिकता, ३३९-४२,—की चौपाई, ३७५ पा० टि०,—के दोहे, ३७४ पा० टि०;—के भीतर सच्चा हिन्दू-धर्म, ३७९,—द्वारा अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग, ४४५-४७;—
'तहफतुल मुवाहिदीन' ५४१
तेगबहादुर गुरु ३९९,—का त्याग हिन्दुत्व के लिए, ४०१
तेजासिंह : ३९७ पा० टि०
'तेलुगु द्विपाद रामायण' : ८६, १७०-७१
'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' ८४, १०३, १०५,—मे तीन ही वर्ण, ५२,—तैत्तिरीय-सहिता, ७२
तैमूरलग · २७५, ४७३,—का आक्रमण, २७७-७८,—के वशज और कला, ४१३, ४२१
तैमूरी रिनासाँ · २७५
तोतापुरी, महात्मा ५८१
तोरूदत्त ४९९ पा० टि०
तौहीदे-इलाही . २८५-८८,—का विरोधी सरहिन्दी, ३८८-९०,—के विरुद्ध आदोलन और उसकी पराजय, ३८८-९१
'त्रिपिटक' १६८, ६६२
त्रिवेदी, पण्डित रामगोविन्द १०८ पा० टि०
'त्सा-पौ-त्सग-किंग' १६८

(थ)

'थॉट्स ऑन द प्रेजेन्ट सिचुएशन' ६९२
थामसन ५१२, ५४२
थियोसॉफिकल सोसाइटी . ५६८-७४;—का जन्म, ५६८-६९ थियोसाफी और दयानन्द, ५६३-६४,— धर्म की सजीवनी, ५७३-७४
थुरो . ५१९, ५२०, ६२८, ६२९
थॉरडॉन . ४९७

(द)

दडी २४९
'द इस्लाम टु डे' · ६७४ पा० टि०
'दक्खिनी हिन्दी' ४५३ पा० टि०, ४५६ पा० टि०
'दज स्पेक जरथुस्त्र' · ७१२ पा० टि०
'द नेशनल कलचर आव् इडिया' . ४७८ पा० टि०
'द न्यूयॉर्क हेराल्ड' ५९५
'द न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम' : ७२२ पा० टि०
'द पर्शियन मिस्टिक्स' · ३६३ पा० टि०
'द पोजीशन आव् वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन' (डाक्टर अल्तेकर-कृत) ४७५ पा० टि०
'द फिलासफी आव् सर्वपल्ली राधाकृष्णन' ६५६ पा० टि०
'द फ्यूचर आव् इडिया' स्वामी विवेकानन्द, १५ पा० टि०, २६६ पा० टि०
'द फ्यूचर आव् इस्लाम इन इडिया' ७२६ पा० टि०

'द सोल आव् इंडिया' . ५२१, ७४३
दवीर ४५९
'द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस' (आरबेरी-कृत) . ३९५ पा० टि०
दयानन्द १३९, ३१३ पा० टि०, ४६८, ४६९, ४८२, ५३९, ५५१, ५५७, ५५९-६७,५७७,५९३,६१६, ६२९, ६३०, ६३९, ६५२, ७४६, ७४७, ७४९ ,–और थियोसॉफी, ५६३-६४,–की दृष्टि मे ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज, ५५९,–द्वारा किसी धर्म के प्रति पक्षपात नही, ५६१-६२,–द्वारा वर्णाश्रम-धर्म की प्रशसा, ५६,–मुस्लिम-जनता के बीच समादृत, ५६०;–रामकृष्ण की दृष्टि में, ५७५,–विश्व-मानवता के नेता, ५६१-६२;–सुधारक कम, क्रान्तिकारी अधिक, ५६२-६३
दयाबाई ४८२
दयाराम . ४०२ पा० टि०
'दरबारे-अकबरी' ३११
'दरिया-ए-लताफत' . २६२
दर्द ४३६
'द लायल मोहमडन्स आव् इडिया' : ६८७ पा० टि०
'द वेस्टर्न इनफ्लुएंसेज आन् बेगाली लिटरेचर' (प्रियरजन सेन - कृत) ४२९ पा० टि०, ४४० पा० टि०
'दशम ग्रथ' ४००
'दशरथ-कथानम्' १६८
'दशरथ-जातक' १६८, १६९
'दशावतार-चरितम्' १७०
दसवन्त : ४१५
'द सिक्ख' . ४०५
'द स्पिरिट आव् इस्लाम' (अमीर अली-कृत) ६९२
'द स्पिरिट आव् मेन' : ६७३ पा० टि०
'दहमजलिस' : ४६६, ४६७;–उर्दू का प्राचीनतम गद्य-ग्रथ, ४६४
'द हिस्टॉरिकल रोल आव् इस्लाम' : २६१ पा० टि०
'द हिस्ट्री एण्ड कलचर आव् इंडियन पीपुल' : १२७ पा० टि०
दादू : १८४, १८५, ३३०, ३३१, ३३६, ३४१, ३४२, ३५६, ३५९, ३६३, ३६४, ३७८, ३८३, ४३०, ४५१, ४५२ पा० टि०, ५५७, ५६१
दामोदर भट्ट : ३३६
दाराशिकोह : २६५, ३०२, ३३६, ३३८, ३४८ पा० टि०, ३९५, ५१५, ७२६;–की मृत्यु जहर की जीत, ३९६;–को हिंदुओ का भी पूरा साहाय्य प्राप्त नही, ३९३;–पराजित पीयूष, ३९२-९३;–में अकबर के उदारतावादी विचार की पूर्णता, ३९०
'दास्ताने-हमजा' : ३२५
दिङ्नाग · २५४
दीक्षितर, श्रीरामचन्द्र : का द्रविड़ो के नाम-गाम पर विचार, १७;–का द्रविडों के मूल-स्थान को दक्षिण भारत से सम्बद्ध करना सब से युक्तिसगत मत, २०;–द्रविड़ो के स्थानान्तरण पर, १८-१९;–शिव के नाम पर, ७६
दीने-इलाही : ३८५-८८,–दे० तौहीदे-इलाही भी
'दीर्घनिकाय' : १२९, १५१, १६७
दुपरोन : ५१५, ५२१
दूलनदास . ४८२
देव : ४३०
'देवल-स्मृति' ३१३
देवासुर-सग्राम : का भूगोल, २७-२९;–के भारत से बाहर भी होने की सभावना, २७
'देवी-भागवत' · में भक्ति के प्रमाण, ३६५
देवेन्द्रनाथ ठाकुर · ४३९, ५५१, ५५८, ५६३, ५४८
'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' : ४६५
दौलतराम · ४६७, ४६८, ४६९
द्रविड़ : ४, ६, २३, २९, ७२, ७३, ८७, ९१, ९३, ९५, ९६, ९७, ६०१, ७३८,–कौन है, १५-२०;–निवृत्ति-मार्गी, ४७-५०;–शब्द भौगोलिक

अर्थ देने वाला, ११,—शैव-भावना तथा भक्तिवाद के प्रवर्तक, १४;—द्रविडो का आगमन, ११-१४;—का आर्यो से साम्य, १२;—का आर्यो से सम्बन्ध, ४०-४३,—का मूल-स्थान दक्षिण भारत को मानना सब से युक्तिसगत, १८,—का योग शास्त्र-पुराणो की रचना में, २१,—की आर्यो से भिन्नता, १९२,—की भाषा, १२, १३, १९, ४७, ४८;—के धर्म मे भक्ति की प्रधानता, ३६०;—को आर्य-सस्कृति की दीक्षा, पर, अब उस क्षेत्र में आर्यो से भी आगे, १२
'द्वन्द्वगीत' . ३३२ पा० टि०
द्वारकानाथ टैगोर ५४६

(ध)

धन्ना ३३०
धरनीदास . ३३०, ४८२
धर्मकीर्त्ति २०८, २५४
धर्मदास . ४०२ पा० टि०
'धर्मशास्त्रों का इतिहास' . ३६७ पा० टि०
'धर्मसूत्र' ३६, ३९, ४५, १०४,—बोधायन का, ४१
धीरेन्द्रमोहन दत्त ६३६ पा० टि०
'ध्वन्यालोक' ८० पा० टि०
नजरुल इस्लाम ७३५, ७३६
नजीर अकबराबादी ४५९,—के अधिकाश विषय भारतीय, ४६०
नजीर अहमद ६९३, ६९४
नदवी मौलाना २६३
'नया समाज' ४५८ पा० टि०
नरपति नाल्ह ४५०, ४५१
नरहरि ३३८, ३९१ पा० टि०
नरेन्द्रदेव कृत 'बौद्ध दर्शन', १२४
नरेन्द्रनाथ दत्त ५८९, ५९०, ५९१, दे० विवेकानन्द
'नल-चपू काव्य' . ४६
'नलोदय' . ४६
नवअफलातूनी मत १९८, २९७, ३५२, और तसव्वुफ, २९४-९५, २९८
'नवजीवन' पा० टि० ६४१
नवरग विहारी (औरगजेब का नाम) ७३९
नव-विधान-सभा ५५०
नवाव लतीफ ६८५, ६८६
नवीनचन्द्र राय ४६८
नवोत्थान और निवृत्ति का त्याग, ५३९-४०;—और भक्ति-आदोलन, ५५७-५८,—का स्वरूप ५३६-३८,—की रीढ वेदान्त, ५३८-३९;—के कवि, ६९८-७०१,—महाराष्ट्र में, ५५२-५८
नहपा ३२४, ३४२
नागरीदास ४५१, ४५२ पा० टि०
नागार्जुन १८३, २११, २४६, ३५४, ३५५,—का शकर पर प्रभाव, १८१, का शून्यवाद, १८०-८२, ३५३, द्वारा उपनिषद और बौद्ध धर्म के बीच समन्वय स्थापित, १८१
नाथ मुनि ३७२, ३८१,—द्वारा आलवार सतो के तमिल पदो का संपादन, ३७१
नानक ९२, १८४, ३३०, ३४२, ३५६, ३५९, ३६३, ३६४, ३७८, ३८३, ३९४, ३९७-९८, ३९९, ४५२ पा० टि०, ५३६, ५५९, ५८३, ५९२, ७०२,—और सहजयान, २४०-४१,—का माधुर्य-भाव, ४४२,—को हिन्दुओ के लिए हमदर्दी, ३९७-९८
नाभादास ३७७, ३७८, ४६५
नामदेव ३२९ पा० टि०, ३६४, ३८३,—और खडी बोली, ४५१
नायक जे० पी० ५१० पा० टि०
'नायधम्मकला' मे चित्रकला, ४०८
नायनार सत ३६०,—नायनार सतो से शिव-भक्ति का विकास, ३८१
'नारद-पाच-रात्र-सहिता' से राधा के उद्भव की सभावना, ८०
नारायणदासी सप्रदाय ४८२
'नासिकेतोपाख्यान' ४६५
निकोलसन कृत 'सेक्रेट आव् इस्लाम', २८१ पा० टि०
निकोलसन, आर० ए० कृत 'सेलेक्टेड

पोयम्स फ्रॉम द दीवान आव् शम्स-तबरेज', २९८ पा० टि०
निजामुद्दीन औलिया ३०२, ३२३, ३२५
नित्यानन्द प्रभु ८०
निम्बार्क ८१, १४५, २४८, ३४८, ३५२, ३५४, ३५५, ३६६, ३७१, ३८१, ३८२
निरजनी, रामप्रसाद और हिन्दी-गद्य, ४६६-६९
नीग्रो जाति ४, ६, ७, ९, १४, १६, ५६, ५७, ६६, ७१, ९१, ९६, १७१,—का भारत में आगमन और यहाँ की संस्कृति को उसकी देन, ९-८,—नीग्रिटो, ७३८
नीत्से (जर्मन दार्शनिक) १८३, ५२१, ६६२, ७०४, ७०८, ७११, पा० टि०, ७१२, ७१३;—की दृष्टि में 'मनुस्मृति', ५१६
'नीहार' ४४० पा० टि०
'नूहसिफ़' (खुसरो की कृति) ३२८
'नृसिंह तापनी उपनिषद्' १०५
नेमिनाथ १२५, १२९. १४२
नेवाज (हिन्दी कवि) ३४६
'नेशनल कलचर आव् इंडिया' ३२१ पा० टि०, ३८६ पा० टि०
'नैन-विलास' ३४४ पा० टि०
'नौरस' ४७९
'न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम' ६७५, ६७६

(प)

'पचतन्त्र' ८० पा० टि०, ८९, १९९, २००, २७२, ४१५
पडितराज जगन्नाथ ४६
पकुध कात्यायन का अकृततावाद, ११९
पट्टाभि सीतारमैया ५५५
पतजलि : १२८,—द्वारा वासुदेव का उल्लेख, ७८
'पद्म-चरित' १६८, १६९
'पद्म-पुराण' ७०, ८० पा० टि०, ३६५, ४६५, ४६८
पद्माकर ४३०, ४५० पा० टि०, ४५१
'पद्मावत' . ३३४
पनिक्कर के० एम० ५०३
'पयामे-मशरिक' ७१८
परमहस-समाज . ५५२
परमानन्द दास : ४३९
परमेनिडिज (यूनानी दार्शनिक) : १९६
पराजपे, एम० आर० . ४९८
परुलेकर . ७२६ पा० टि०
पर्सिवल कृत 'लैंड आव् द वेदाज', ५३०
पर्सी-ब्राउन . ४०८ पा० टि०, ४१०
पलटू साहब ३३२, ४८२
पाणिनि १६, ४२, ७२, १०४, १९६,—का काल, ३५,—द्वारा कृष्ण का उल्लेख, ७८
'पातजल-योग' ३७१
पान-इस्लाम ७१९-२२
'पारिजात हरण' ९४
पार्श्वनाथ : १२९, १३०, १३१, १४२, १४६, १६५, ५८४,—और वर्धमान महावीर द्वारा हिन्दुत्व में सुधार, १०१,—द्वारा अहिंसा का सदेश, १२६
पिथेगोरस : १२०, २९५, ५२४,—पर भारतीय प्रभाव, १९६
पिनकाट . द्वारा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की आलोचना, ४६९
'पिरेनियल फिलासाफी' : ६६४
पी० टी० राजू . ६५६ पा० टि०
पुराण ३५, ३८, ४५, ५२, ६७, ७३, ७४, ८८, १८९, २०५, २१०, ३३५, ३४१, ३४२, ४४५, ४९८, ५६२, ५६५,-५७२, ५७७, ५८७, ५९१;—और जैन धर्म, १६७, १६८,—और बौद्ध धर्म, ६६, ८९, १६६-७१, २४६-४८,—के निर्माण का काल, ७४,—में अहिंसा, १२६,—से आर्येतर जातियो के अस्तित्व की सूचना, ३६
पूरण कश्यप . का अक्रियावाद, ११८
'पूर्व मीमासा' . १३२;—में सृष्टिकर्त्ता, १२२
पूसिन १५५, १५७,—बौद्ध धर्म पर, १५८
पेरिप्लस . १९८
'पोठ्ठपादसुत्त' · १५१

पोदिइलें : में अगस्त्य-आश्रम, ४२
'प्रज्ञापारमिता' · १८०, २२८
'प्रतिमा नाटक', : ८५
'प्रबन्धम्' (तमिल,) : ३७२, ३७३, ३७५; भक्ति-आंदोलन का मूल-ग्रंथ, ३७१
'प्रबोध-चन्द्रोदय' : में बौद्धों और जैनों की भर्त्सना, २४९-५०
प्रस्थानत्रयी : ३७३, ३७५-७६, ६१०, ६११, ६५१
'प्रातिशाख्य' : १०४
प्रार्थना-समाज : ५५२;—का रूप, ५५६-५७,—दयानन्द की दृष्टि में, ५५९
'प्रि हिस्टारिक इंडिया' (दीक्षितर) : २० पा० टि०
'प्रेम-विलास' : ८०
प्लाटिनस : १९७. २९४, ३५२,—की भारतीय ब्राह्मण से मिलने की उत्कंठा, १९८
प्वायगइ आलवार : ३७१

(फ)

फकीरुद्दीन (हिन्दी कवि) : ३४६
फजल-बिन-यहिया . २६२
फजली : ४६५,४६६;—उर्दू का प्राचीनतम गद्य-लेखक, ४६५
'फतव-ए-जहाँदारी' · ३२०
फतेहसिंह (गुरुगोविन्द के पुत्र) : ४०२
फरकोहार : १५५, १५७;—का राधा के विषय में मत, ८१
फरगुसन . ४२६
फरिश्ता . २८१, ३०८, ४५५ पा० टि०; द्वारा अकबर की आलोचना, ३८७
फरीदुद्दीन अत्तार : २९९
फर्रुख (चित्रकार) : ४१४
'फाउस्ट' : पर भारतीय प्रभाव, ५१८
फाकेट : ५८८
फादर कामिल बुल्के : १६८ पा० टि०
फाहियान : २०७, २११
फिक्टे (दार्शनिक) . ५२०
'फिलासाफी आव् गांधी' : ६३६ पा० टि०
फुरर हैमेन्दोर्फ : १३ पा० टि०
फेबियन सोसाइटी : ५७०
फैजी : ३३६, ३८६
फ्रांज बाप : ५१६
फ्रायड : २३६. ६६९
'फ्रैगमेंट्स आव् ए कन्फेशन' : ६५३ पा० टि०, ६६२ पा० टि०, ६६८ पा० टि०

(ब)

'बंगला काव्य की भूमिका' (प्रो० कविर-कृत) : ४२८
बदायूनी : ३८७
बर्नार्ड शॉ : ५७०
बर्नियर : ४९२
बर्सो, (दार्शनिक) : २९२, ६७०
बलेनटाइन शिरोल : ५५५ पा० टि०
बसावन : ४१५
बहाउद्दीन नक्शबन्द : का नक्शबन्दिया सूफी-संप्रदाय, ३०२
बही-उद्दीन "सलीम" : उर्दू-हिन्दी-संबंध पर, ४६१
'बाइबिल : ४४६, ४९४, ५०८, ५१७, ५२३, ५२७, ५३४, ५४९, ६६२, ६६३ :—का फारसी अनुवाद अकबर की प्रेरणा से , ३८७;—पुरानी और नयी, ५२२;—में मनुष्य की उत्पत्ति ३
बाबर : २७४, २७५, २७६, ३०३ ३२०, ३४३ पा० टि०. ३८५, ३९४, ४१३, ४५०.४५६ :—और चित्रकला. ४१४; का वसीयतनामा. ३८५
'बाबरनामा' : ४१५
बाबूराम सक्सेना : ४५३, ४५८, ४६६; कृत 'दक्खिनी हिन्दी', ४५३ पा० टि०;—हिन्दी-गद्य पर. ४६४
'बाल रामायण' : ८५
'बाले-जिबरील' : ३०० पा० टि०, ७०४, ७०६ पा० टि०, ७०७ पा० टि०, ७१० पा० टि०, ७१८ पा० टि०,
बिट्ठलस्वामी : ३७८
बिट्ठलनाथ : ३८०, ४६५
बिहारी : ४२७, ४३७, ४४४ :—की सतसई ४२३;—की वाग्विभूति, ४३५

'बीजक' ३८४
बीरवल ३९३
'बीसलदेव-रासो' ४५०
'बुक आव् डिसिप्लिन' १६३
बुकेट, एस० सी० २८६ पा० टि०,—कृत 'कम्पैरेटिव रिलीजन', २८७ टि०, २९५ पा० टि०,—के अनुसार सूफियो के विश्वास, २९९
बुद्ध १७, ६४, ७४, ८१, ८३, ८७, १२२,१२३,१२४,१२५,१२९,१५३, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५७, १५८, १६०, १६४, १६६, १६७, १७४, १७५, १७७, १८०, १८२, १८३, १८४, १९२, २०७, २०८, २१७, २३१, २४२, २४६, २५४, २५५, २५७, २८५, ३५५, ३५९, ३६७, ४०९, ४८१, ५२०, ५३६, ५३८, ५३९, ५६१, ५८४, ६०५, ६४१, ६४२, ६४६, ६६३, ६६६, ७४६, ७४७,—और ईश्वर, १५३-५५,—और ईसा, ५२४-२५, और कृच्छ्र-साधना, ११८, १३०, १३९, २२८,—और गाँधी, १५३,—का जन्म पूर्वी भारत मे क्यो, १२६-२७,—का अर्थ, १७६,—का व्यक्तित्व, १६१-६३,—की पूजा अरब दुनिया मे, २६३,—की प्रारभिक तपस्या के जैन पद्धति की होने की सभावना, १३०,—की मूर्त्तियाँ जावा में, ४११,—की वदना, ३५२-५३,—के काल मे चित्रकला, ४०८, —नास्तिक या आस्तिक, १५३-५५,—पर उपनिषदो का प्रभाव, १५७,—विष्णु के अवतार, १३१, २४७,—सेंट वोसाफेत के रूप मे ईसाई सतो में शामिल, १९५,—से पहले का हिन्दुत्व, १०१-१९
बुद्धघोष १७०
'बुद्ध-चरित' १३२ पा० टि०, १५६ पा० टि०, ३१५
'बुद्ध-चर्य्या' (राहुल जी—कृत), १६७, १७५ पा० टि०, २२८ पा० टि०, २३० पा० टि०, २५४
बुद्धभद्र . २१२
बुर्हानुद्दीन जानिम ४५६
बुल्के, फादर कामिल राम-कथा पर, ८१ पा० टि०,—राम-कथा के विकास पर, ८४-८५
'बृहत्कथा' . ४६
'बृहदारण्यक' , १०६
'बृहदारण्यक-उपनिषद्' ; १२९, २९६
'बृहस्पति-आगम' , ९४
बेंटिक , की १८३५ की शिक्षा-सवन्धी घोषणा, ५०१
बेरलिन, हेनरी , २९३
बोथाम , ५०४
बोधा , ४२४, से हिन्दी में रोमानी आदोलन का प्रारभ, ४३५-३६
बोधायन , का धर्मसूत्र, ४१, वेदान्त के सर्वप्रथम ईश्वरवादी व्याख्याता, ३७३
'बोधिचर्यावतार' , १७७, १७८, २४५
बोरोबुदुर · २१०, ४२७,—बोरोबुदुर मदिर, २०६, ४१०-११
बौद्ध मत ३५, ८६, ९३, ९६, १२०, १४७-७३, १५०, २९९, ३०१, ३०७, ३१८, ३६८, ५१५, ५२२, ५३६, ६०८, ६१०, ६६३, ७०८, ७०९, ७३८;—अरब मे, २६३; —अशोक के समय तक १८ निकायो में विभक्त, १७५,—और अहिंसा, ६३४,—और आचार, १४८-५०,—और इस्लाम का प्रसार, २५१-५३, और ईसाइयत,१९५,२५७ पा०टि०; ५२४-२५,—और उपनिषद, ११६, २५५-५६,—और एशिया की एकता, ४१०,—और कला, ४०९, ४१०-११,—और गणेश-पूजा, ७४, ७५,—और गीता, १८६-८८,—और जैन धर्म, १३८, १४०-४१,—और जैन धर्म तथा वेदान्त, १४८;—और ताओ-धर्म, २१३,—और देवनागरी लिपि, १८६,—और निर्गुनियाँ सन्त-

परंपरा १८४;—और नियोप्लेटोनिज्म, २०४;—और पुराण १६६-७३,—और ब्राह्मसमाज, ५४१,—और ब्राह्मण २४४-४५, २४६ २४८—और यूनान, २९७ पा० टि०,—और राजपूतों की उत्पत्ति, २७३:—और लिंगपूजा की प्रेरणा ७२;—और बृहत्तर भारत १८५-८६,—और वेद-विरोधी आंदोलन, २४३-४५;—और वैदिक धर्म, १५० १७४-९३·—और समाज, २४२-५३;—और सहजयान २३४,—और सूफी-मत, २९७, २९८·—और हिन्दुत्व, १५८-६१, १७१-७३, १८७-८८, १९०;—का अव्याकृत, १६४·—का जावाई जनता पर प्रभाव, २०७;—का जातीय बंधन कसने में हाथ, ५८;—का ज्योतिष के प्रचार में योगदान, २०२;—का दर्शन शंकर के दर्शन का निकटतम पूर्वज, ३५२, ३५३, ३५४;—का पतन और राज्याश्रय, २१६-१७;—का प्रभाव आगस्ट कामटे पर, ५२१;—का प्रभाव पिथेगोरस के दर्शन पर, १९६;—का प्रभाव मुस्लिम चिन्तक अबुल अरा पर, २९२-९३;—का प्लाटिनस के दर्शन पर प्रभाव, १९८,—का मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण पर प्रभाव, १८८;—का रूप हिन्दुत्व ने ही अपनी कुरीतियों से लड़ने को लिया, १४७,—का लोप, २५३-५७;—का वज्रयान-रूप, २४२-४३;—का शून्यवाद और अद्वैत, ३७०;—का स्वरूप-परिवर्तन, २१६-४०;—की कमजोरियां १६४-६६;—की दार्शनिक विसंगतियां और उनका ह्रास २५५-५६;—की पृष्ठभूमि, १०१-११९, १४७-४८;—की वर्तमान लोकप्रियता, १५३,—के अनुयायियों से ब्राह्मणों का संघर्ष और देश की पराजय, ३०७-८, ३१४-१५;—के अव्याकृत विषय, १५०;—के उदय के कारण, १२०-२९,—के चार आर्य सत्य, १४८·—के बाहर जाने तथा देश में न टिकने का कारण १४१,—के बीज पूर्वी भारत में, १२६-२७;—के चीन में शिथिल होने का कारण, २१४,—कोरिया में, २१४,—चीन में २१२-१४ २१७:—जापान में २१५·तिब्बत में, २१४;—दक्षिण में, ४१;—पर पुराणों का आक्रमण २४६-४८,—पर मार की चढ़ाई, २३५-३९,—पर शाक्त प्रभाव, २१६-४०;—पर शैवों का प्रहार, २४८-५१,—बनाम कन्फ्यूशियस, २१२-१४;—बिहार में कबीर-पंथ में मिला २५१:—भारतीयों की निवृत्ति के लिए दायी नहीं ४९-५०;—मध्य एशिया में २११·—मध्यम-मार्गी, १४१;—में आत्मा और निर्वाण, १५५-५८, १६४, १६६ २५६;—में कर्म की महत्ता, १६३-६४;—में गुह्य-समाज द्वारा निवेशित तत्त्व २२८-२९·—में तंत्रवाद के प्रवेश का कारण, २२८;—में तुर्कों का प्रवेश २७४:—में परलोक और देवयोनि १५२-५३,—में पहली दरार, १७४,—में पुनर्जन्म, २५६,—में राम-कथा, १९९, ५६९·सुमात्रा में २०८

ब्रंटेनो : ५२०

ब्रहुई जाति · ७ १९,—की बोली द्राविड़ भाषा-समूह की १२;—से द्रविड़ों का सम्बन्ध, १३;—होल्डीच के मतानुसार मंगोल जाति के १८·—ब्रहुई भाषा १९

'ब्रह्मसूत्र' : ३७३, ६१०, ६५१ पा० टि०,—की रामानन्दी टीका ३७६:—

'ब्रह्माण्ड-पुराण' . २०५, २०९ पा० टि०

'ब्रह्मानिमन्तनिक सुत्तन्त' · १६८

ब्राउन, ई० जी० . कृत 'लिटररी हिस्ट्री आव् पर्सिया', २९८ पा० टि०

ब्राह्मसमाज · ३९८ ५४१-५७ ५६३ ५७१, ५७२, ५७७ ५८६, ५८७

५९१,—और ईसाइयत, ५४४, ५४८-५०,—का जन्म, ५४६-४७,—की सीमाएँ, ५७५-७७,—की स्थापना की पृष्ठभूमि,५४५-४६,—के ट्रस्ट का दस्तावेज, ५४७,—पर सूफी प्रभाव, ४३९-४०,—भारत का यूरोपीयकरण, ५५०,—के शरमाये शूरमा, ५५०-५१, ब्राह्मसमाजी, ५५२, ५५७, ६३९

ब्राह्मी लिपि उर्दू के अलावा सभी भारतीय भाषाओ की लिपियो की जननी, ३०,—ऋषभदेव की पुत्री के नाम पर, ४४,—कोरिया मे, २१४

बूलेवास्की . ५६३, ५६८-६९

भडारकर वृद्ध के जीवन-काल मे उत्तर-दक्षिण–सपर्क पर, १८,—राम के अवतारी रूप पर, ८४,—वैष्णव-धर्म के विकास पर, ७७,—शिव-पूजा पर, ७१-७२

भक्ति आर्यो से पूर्व का तत्व, ११७, ३६८,—का उद्भव ५०० ई०पू०, ११७,—का विकास और गीता, ३६८-६९,—की भारत मे प्राचीनता, ३६५-६८

भक्ति–आदोलन ३२४, ३४९, ३५९,—और इस्लाम,३६५-८४,—और जीवन मे आस्था, ४३८,—पर इस्लाम का तथाकथित प्रभाव,३८०,—पर इस्लाम का प्रभाव कबीर के माध्यम से, ४३४,—पर इस्लाम के प्रभाव का अतिरजन करनेवालो की भ्रान्ति, ३६९-७०,

'भक्तिरत्नाकर' ८०

भगवतशरण उपाध्याय १२८, १२९

भगवानदास ३११,३३८,

भगवान पुरोहित ५२०

'भट्टिकाव्य' . ८५

भट्टोजी दीक्षित ४६

'भागवत' . ४३, ७९, ८०, १३०, ३३६, ३५९, ३६०, ३६५, ३८२;—की रचना दक्षिण मे, ४५,—भक्ति-आदोलन का मूल-ग्रन्थ नही, ३७१,—मे भक्ति, ३३६, ४४१-३४२

'भारत आज और कल' (ले ज ला नेहरू) पा टि ७४७

'भारतीय सस्कृति और अहिंसा' ७२, २६८ पा० टि०

'भारतीय सस्कृति का विकास' ४९ पा० टि०

भारतेन्दु ४६९

भावमिश्र २०२

'भाषा-योग-वाशिष्ठ' और हिन्दी गद्य, ४६६-६९

'भाषा-वचनिका' ४६५

भास्कराचार्य २०२

भिखारीदास का भाषा-विषयक विचार ४४६-४७

भीखादास ४८२

भूषण ३४२, ३४३, ४०३, ७३९

भूसुक (शान्तिदेव) १७७

(म)

मक्खलि गोसाल का देववाद, ११८

मगलदेव शास्त्री ३९ पा० टि०, ४० पा० टि० ४५, ५३,—कृत 'भारतीय सस्कृति का विकास' के अनुसार वैदिक सस्कृति मे आर्यो का भी हाथ और आर्य-पूर्व लोगो का भी भाग, ३५,—भारतीय संस्कृति के परस्पर-विरोधी युग्मो पर, ३७;—वर्ण-व्यवस्था पर, ५१, ५३,;—वेदो पर, ३८

मझन ३३५, ३४१, ३४४, ४३०, ७३९

मत्रयान १८४, २१८, २३४

'मुडकोपनिषद' ११२ पा० टि०, १२३

'मआसिरे-आलमगीरी' ४६३

'मआसिरुल-उमरा' . ३११

मगन ठाकुर ३३४

मजाज (उर्दू कवि) ७३७

'मजमुअल बहरेन' · ३९२

मजुमदार, आर० सी० २०६

'मज्झिमनिकाय' १२६, १५०, १६८

मतिराम ४२३, ४४४

'मध्यकालीन धर्म-साधना' (हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत) २३८ पा० टि०, २४३ पा० टि०, २४५ पा० टि०, २५२
'मध्यकालीन भारतीय सस्कृति' (गौरीशकर हीराचन्द ओझा) . मे मायावाद पर, ११३ पा० टि०, ४२६ पा० टि०
मध्व १४५, २४८, ३४७, ३५२, ३५५, ३६४, ३६६, ३८१, ६११,—द्वैतवाद के प्रवर्तक, ११३
मधु सरस्वती . ३३६
मनरो देशी भाषा के समर्थक, ५०८
'मनसामगल' : ४२८, ४२९, ४३०
'मनुस्मृति' . ३६, ५२, ६०, २४७, ३१३, ५१८;—जातीय धधो पर, ५३,—नीत्से की दृष्टि मे बाइविल से श्रेष्ठ, ५१६,—ब्राह्मणो के कर्तव्य पर, ६३ ;—मे नारी का स्थान, ६२
मनूची (यूरोपीय यात्री) : ४८८
मनोहर मिश्र . ३३८
'मराठी भावार्थ रामायण' ८६
'मलयालम रामचरितम्' . ८६
मलूकदास . ३३०, ३३२, ३३३, ३७८, ४५१, ४५२ पा० टि०
मल्लिनाथ ४६,
मल्लिनाथ-सुत . ४६
महजोदरो : १२, १३, १८, २०, २८, २९, ५१७,—की सभ्यता, २५,—की सभ्यता पर द्राविड प्रभाव का अनुमान, १९,—मे जैन धर्म के निशान, १३०-३१,—में भक्ति के कुछ प्रमाण, ३६५;—मे शैव धर्म, १३१,—में योग के प्रमाण, ३९,
'महाऐतरेय उपनिषद' : ५२
महादेवी वर्मा . ४४०
'महानारायण उपनिषद' ७८
महापुरुषीय सप्रदाय . शकरदेव का, ३८०
महाभारत २९, ३६, ३८, ५२, ५३ पा० टि०, ५५, ७७, ८२, १४२, १६७, १८९, १९५, २०४, २०५, २०९, २१०, ३३६, ३८६, ३९३, ४१५, ४२८, ५७०, ६१५, ७४६—का मत वर्ण-भेद के विषय में ५१,—का यवद्वीप पर प्रभाव, २०६,—मे कृष्ण गोपीजनप्रिय, ७९,—मे पर्दा-प्रथा, ४७४,—में भक्ति का प्रमाण, ३५९, ३६५,—मे रामायण, ८३,—में विवाहो मे अधिक उदारता, ५९-६०,—हिन्दुत्व का रक्षक, १९०,
महायान ७४, १५९, १६५, १७३, १७७, १८०, १८३, १८४, १८७, १८९, २१७, २१८, २३०, २३२, २३८, ६४२, ६६६,—और गीता का भक्ति-मार्ग, १८८,—और चित्रकारी, ४१२,—का प्रभाव वैष्णव-धर्म पर, १७७ पा० टि०,—की उत्पत्ति, १७४-८०,—के देवता, १८०,,—के पीछे वैदिक धर्म के कुछ रूपो की प्रेरणा, २१८,—के बाद वाले सतो द्वारा तन्त्र-मार्ग का विकास, २२८,—के रूप में बौद्ध धर्म विदेशो में, १७९-८०,—चीन मे, २११,—नाम की सार्थकता, १७४;—बौद्धमत का गौरव-शिखर भी और गर्त भी १७६,—में मानवतावाद का उद्घोष, १७७-७९;—वज्रयान की उत्पत्ति मे सहायक, १७६
महावीर ' ८१, ८७, १२३, १२४, १२९, १३०, १३१, १४१, १४५, १५७, १८३, २४२, ३५५, ५८४, ६०५, ६४२,—का जन्म पूर्वी भारत में क्यो, १२६-२७,—का जीवन-परिचय, १४२;—क्षत्रिय-वश मे उत्पन्न और तत्सम्बन्धी कथा, १२८,
'महावीर-चरित' ८५
'महासिंहनादसुत्त' १२६
महेन्द्रकुमार १२५, १४१,—कृत' जैन-दर्शन" में स्याद्वाद की आलोचनाओ का उतर, १३७
'माडूक्योपनिषद्' १०५, १८१, २५४, ३५२, ३५३ पा० टि०
माइकेल मधुसूदन दत्त ४३१, ४९९ पा० टि०;—का धर्म-परिवर्तन, ३५१
'माई सर्च फार ट्रूथ' ६५४ पा० टि०

माघ : ४३५
'माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट' : ४८८, ४९० पा० टि०, ४९४ पा० टि०, ५१५ पा० टि०, ५१८ पा० टि०, ५२७ पा० टि०,
'माडर्न इजिप्ट' : ६७९ पा० टि०
'माडर्न इस्लाम इन इंडिया' : ६८२ पा० टि०, ६८९ पा० टि०, ७१५, ७२८ पा० टि०, ७२९ पा० टि०
'माडर्न मूवमेंट्स इन इस्लाम' · ६७७ पा० टि०
'माधव-दिग्विजय' . ९५
'माधो-विलास' : ४६५
'माध्यमकावतार' : २४५
'माध्यमिक कारिका' . १८१
'मानव-धर्म-शास्त्र' : ५१६
मानवेन्द्रनाथ राय : कृत 'द हिस्टॉरिकल रोल आव् इस्लाम,' २६१, २७१
'मानसोल्लास' . में चित्रकला, ४०८
मार्क्स ६२३, ६४५,—और गाँधी जी, १७९, ६४४;
'मालतीमाधव' . मे कापालिको के अत्याचार की कहानी, २३७
मालवीय (मदनमोहन) ३१३, पा० टि०
मालुक्य-पुत्त . १५०, १५१
मिण्टो (लार्ड) · ५०८
मिनेंडर . १९७
मियोयान एइसाइ . २१५
मिल ५०४, ५७१
'मिलिन्द-प्रश्न' . १५७, १९७
मिलटन ९२;—की कविता में भारत, ४९२
'मीमासा' (पूर्व और उत्तर) १३१
मीर ४३६,४४०, ४६०,—का शेर, १६
मीर सईद (ईरानी चित्रकार) . ४१४
मीरा . ८१, २०९, ३५९, ४३०, ४३४-३५, ४४१, ५३६
मुंशी प्रेमचन्द्र ३०६
'मकुन्द माला' ४६
मुगीस उद्दीन ३२०
मुनिकान्त सागर . १३० पा० टि०
मुबारक : ३३८, ३४२, ३४६, ४३०, ४३१-३२, ४६३, ७३९
मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी : ३३६
मुहम्मद-बिन-अलबेरुनी : भारतीय सस्कृति पर, २६४
मुहम्मद हुसेन आजाद . २६४, ३११, ४६०
मुहसिन-मुल्क सैयद मेहदी अली · ६९१
'मृगावती' . ३३४, ३३६
मैकॉले, लॉर्ड : २६२, ४९७, ५०९, ५११, ५२८, ५३० ;—और शिक्षा, ५०२ ;—की जीत, ५१४,—के भारतीय सहधर्मी, ५०८-९
'मेघदूत' . ४३५ ५१९,
मेगास्थनीज : ४१, १९७,—द्वारा कृष्ण का उल्लेख, ७८
'मेडिवल मिस्टिसिज्म आव् इंडिया' : (क्षितिमोहन सेन-कृत) ३८२, ३९७ पा० टि०
मैकियावेली : ६३३
मैक्समूलर · २१, ५१, १०४ पा० टि०, १९८, ५१६, ५१७-१८, ५७२, ५८७, ५८८ ;—ऋग्वेद के रचना-काल पर, २९ ;—द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रशसा, ९७-९८ ;—संस्कृत भाषा पर, ८
मोगल-कला ४१४-१६, ४२०-२३, ४२६-२७
मोतजली : २९०
मोतीचन्द्र, डाक्टर, : ४१०
मोहम्मद अब्दुल वहाब . ६७९
मोहम्मद अली : २८८ पा० टि०, ६८० ;—कृत 'रिलीजन आव् इस्लाम' २७९ पा० टि० २८६
मोहम्मद मासूम : तौहीदे - इलाही का विरोधी, ३९०
मोहम्मद शफी : ७३२
मोहम्मद हकीम . का अकबर की धार्मिक नीति के खिलाफ विद्रोह, ३८६
मौलाना अबुल कलाम आजाद : ७३२
मौलाना अमीर अली · ६९६

मौलाना ओबेद-उल्लाह-अल-ओबेदी सुहरावर्दी . ६९२
मौलाना करामत अली ६९२
मौलाना नजीर अहमद ६९३
मौलाना मुहम्मद काजी मुरादाबादी ३१२
मौलाना रूमी ३०२ पा० टि०, ३६३ पा० टि०
मौलाना शिबली नौमानी · ६९४-९५,७०१
मौलाना हाली ६९३-९४, ७००

(य)

'यग इडिया' ६३३ पा० टि०, ६४८ पा० टि०, ६५० पा० टि०
यगाना चगेजी ४३२
'यजुर्वेद' ३१, ३८, ७४, १०५
'यजुर्वेद-सहिता' ४५
यदुनाथ सरकार, ३१८, ३१९
याकुब्दी २६४
याज्ञवक्य १०३, १२७, १७९
'याजवल्क्य-स्मृति' . ३६, ३१३
यामुनाचार्य . ३७२, ३८१,३८२ ;—विशिष्टाद्वैतवाद के प्रथम विवेचक, ३७१
यास्क १०३, १०६, १०७
'युधिष्ठिर-विजय' ४६
युधिष्ठिर-सर्प-सवाद ६३-६४
युसुफ हुसेन, डा० ३२६ पा० टि०; ३४५
यूनान ५१, १०१, १९९, २००, २०१, ३५१, ३५३, ३५७, ४७९, ४८०, ५१५, ५१७, ५२४, ५६८, ६८९, ७२४,—और भारत, ४८५,—का प्रभाव तसव्वुफ के विकास में, २९४-९९,—के दर्शन पर भारतीय प्रभाव, १९६-९८, २९४-९५,—के दार्शनिको की पहचान पोशाक, १२१-२२,—को भारत की देन, २६४,—नाम की व्युत्पत्ति १९६,—से भारत का सपर्क सिकन्दर से पहले से ही, १९६
यूनिटेरियन सोसाइटी ५४६
यॅट्स ५२०
योग १३१, २९८, ३६३, ६२६,—का अर्थ, ६१५,—का आदि महजोदरो मे, ३९,—शब्द की व्युत्पत्ति, २१९; योग-दर्शन १३१, योगशास्त्र २१९-२१
'योग-वाशिष्ठ' ३३६, ३८६, ४१५
'योगिनी-तत्र' ३१
योगेशचन्द्र राय ८० पा० टि०

(र)

रगनाथ दिवाकर ३६१, ६२८ पा० टि०
रघुनाथाचार्य . ३७१
'रघुवश' ८५, १७०
रज्जब . ३३०, ३३१;—द्वारा प्रवृत्ति की सराहना, २४१
'रत्न-समुच्चय' १७७
रत्नस्वामी कृत 'इडिया फ्राम द डान', ४८६ पा० टि०
रबिया सूफी साधिका, ३००-१
रमाई पडित ४८१,—का 'शून्य-पुराण', २५२-५३,—की दृष्टि में इस्लाम धर्म का त्राता, २५२-५३
'रमूजे-बेखुदी' ३९५, ७०४ पा० टि०, ७०५ पा० टि०, ७०८ पा० टि०, ७१३ पा० टि०, ७१४ पा० टि०
'रमूजनामा' ४१५
रविषेणाचार्य ४६७
रवीन्द्रनाथ ठाकुर ४३१, ४४०, ५९३, ६०३, ६२९, ६३८, ६५५, ६९८, ६९९, ७१७, ७४६, ७४९,—का आदर्श मनुष्य, २३६,—द्वारा मृत्यु का मोहक रूप चित्रित, ४३९,—पर सूफी प्रभाव, ४३९
'रश्मिरथी' ५७४
रसखान ३३५, ३३८, ३४२, ३४४, ३४५-४६, ३८०, ४३०, ४३१, ४३३, ४४५, ४५०, ४५५, ४५९, ४६३, ७३९
रसनिधि ४३०, ४३७, ४५५, ७३९
"रसनाविलास" ४६३
रसल बर्ट्रेन्ड कृत मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक, २९२ पा० टि०

रसलीन ३३८, ३४२, ३४६, ४३०, ४३३, ४५५, ७३९
'रहतनामा' ३९७, ४०२
रहीम २६५, ३३५, ३३८, ३४०, ३४२, ३४४, ३५०, ४३०, ४३२, ४३३, ४४५, ४५०, ४५५, ४५९, ४६३, ७३९,—अपने धर्म पर दृढ रह कर भी भारतीय, ३४५,—
राजवली पाण्डेय २६१ पा० टि०
राजशेखर के मत मे वेद तीन, १०२
राजा लक्ष्मण सिंह ४६८
राजेन्द्रलाल मित्र . ५८
राघवानन्द ३७५
राधाकुमुद मुखर्जी, डा० ३
राधाकृष्णन्, डा० १८३, २५५, ३३३, ५२१, ६०३, ६५१, पा० टि०, ६५२ पा० टि०, ६५४-५७, ६६१-६८, ६७१, ७१७, ७४७,—अरविन्द के प्रसग मे, ६६० - ६२,—और रहस्यवाद, ६६९-७०,—कृत हिन्दू विउ आव् लाइफ, ६५ पा० टि०,—के अनुसार धर्म जीवन से एकाकार हो, ६५९-६०,—के अनुसार व्यष्टि-समष्टि, ६६८,—के विज्ञान पर विचार, ६५८-५९,—को मिशनरियो की आलोचनाओ से ठेस, ६५३-५५,—द्वारा स्याद्‌वाद की आलोचना, १३७;—बुद्ध पर, १६२,—बौद्ध धर्म के निर्वाण पर, १५७
रानाडे, महादेव गोविन्द ५५२-५३,५५५, ५५६, ५५७, ५५९, ५६०, ५६२, ५९३, ६८९,—और आगरकर तथा तिलक, ५५३-५५
राबलिसन २००, ५१८ पा० टि०
'राम-कथा' (गुणभद्र विरचित) १६९
'रामकथा' (फादर बुल्के विरचित) १६८ पा० टि०, १७१ पा० टि०
रामकृष्ण परमहस · ११२ पा० टि०, ३३३, ४८२, ५१८, ५७७-८८, ५९०, ५९१, ५९३, ६०४, ६०५, ६०७, ६२९, ६३२, ६३८, ६५२, ६६३, ६९८, ७४६;—और अरविन्द, ६१७-१८,—का वल पथ पर नही, अनुभूति पर, ५७९-८०,—की कचन से विरक्ति, ५८१-८२,—की कामिनी के प्रति अनासक्ति, ५८२-८४,—की मनीषियों द्वारा वदना, ५८७-८८,—की विनोद-प्रियता, ५८६-८७,—द्वारा सत-पद्धति से उपदेश, ५८४-८६;—धर्म की साकार प्रतिमा, ५८०-८१,—धर्म के जीते-जागते स्वरूप, ५७५-८८,—पडित नही, सन्त, ५७७-७८,—फिलासाफर नही, दार्शनिक, ५७८-७९;—हिन्दुत्व के पूरे प्रतिनिधि, ३७९, ५५१
'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ': ५८८ पा० टि०
रामचन्द्र शुक्ल ३२५ पा० टि०, ३३४,—कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ४५० पा० टि०
'रामचरित-मानस' ३३४, ३४१, ४६७,—मे अरबी-फारसी शब्दो का प्रयोग, ४४५-४६
'राम-जातक' १६८, १७१
रामतीर्थ ३३६
रामदास . ३९९, ५५७
रामनरेश त्रिपाठी ४५३
रामप्रसाद त्रिपाठी . ४५० पा० टि०
राममोहन राय (राजा) · १०४ पा० टि० ३१३ पा० टि०; ४३९, ५३९, ५४१-४७, ५४८, ५५२, ५५३, ५५६, ५५७, ५५८, ५६०, ५६२, ५७७, ५९३, ६०५, ६०९, ६१७, ६२९, ६३०, ६५४, ६५२, ६८३, ६८५, ६८९, ६९३, ६९८,—७४७, ७४९,—और अगरेजी शिक्षा, ५००-३,—और ईसाइयत, ५४३,—और कबीर, ३७९,—और शिक्षा, ५०९,—का उद्देश्य भारत को यूरोप बनाना नही, ५५०-५१,—का जीवन-वृत्त, ५४१-४२,—का योगदान सती-प्रथा के उन्मूलन मे, ५४२,—का विचार भोजन के बारे मे, ५४४ पा० टि०,—

की उदार दृष्टि,५४७;—द्वारा अगरेजी का पृष्ठपेषण, ५४२,—द्वारा ब्राह्म-समाज की स्थापना, ५४६-४७,—द्वारा विज्ञान और वेदान्त के मेल का प्रयास,५४५;—के सुधार-कार्य,५४२; द्वारा हिन्दू-धर्म को विश्व-धर्म का रूप प्रदान, ५४३-४४,—धार्मिक से अधिक सामाजिक और राजनैतिक नेता, ५४१,—पर इस्लामी प्रभाव, ५०१,—भारतीय विद्रोह के पिता, ५५५
रामानन्द १९५, ३४८, ३४९, ३५९, ३६०, ३६४, ३६५, ३७५-८०,—रामानन्दियो का दो दलो मे बँटना, ३७७,—द्वारा भक्ति दक्षिण से उत्तर मे लायी गयी, ३७६,—सामाजिक नेता भी, ३७६
रामानुजाचार्य १०५, १४५, १९५, २४८, ३४७, ३४८, ३५०, ३५२, ३५४, ३५५, ३५९, ३६०, ३६६, ३६९, ३७१, ३७२, ३८१, ३८२, ४४१, ४४२, ५३६, ५३९, ६११, ६४८, ६५१,—और इस्लाम, ३७३,—की प्रपत्ति, ३७०,—की भक्ति-आदोलन को देन, ३७२-७५,—तक भक्ति-आदोलन पर इस्लाम का कोई प्रभाव नही, ३७६;—द्वारा स्याद्वाद की आलोचना, १३७,—विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक, ११३
रामाबाई, पडिता ५५४
'रामायण' ३६, ४१, ४५, ८२, ८४, १५३, १७०, १८९, १९५, २०४, २०५, २१०, ३३६, ३७६, ३८६, ४२८, ५७०, ७४६,—का यवद्वीप की जनता पर प्रभाव, २०६;—की रचना बुद्ध से पूर्व, ८२-८३,—गोविन्द सिंह-रचित, ४००,—तीन कथाओ पर आधारित, ८३,—में बुद्ध का उल्लेख नही, ८३,—वाल्मीकि-रचित, १६९,—हिन्दुत्व का रक्षक, १९०
'राष्ट्रवीणा' ४५८ पा० टि०
'रासपचाध्यायी' ८० पा० टि०
राहुल साकृत्यायन . १६७ पा० टि०, १६८ पा० टि०, १७५ पा० टि०, २११, ३५८, ४३१, ४५३ पा० टि०, ४५८ पा० टि०, ,—कृत 'बुद्धचर्या' के अनुसार शकर बौद्ध धर्म के उच्छेदक नही, २५४,—बौद्ध धर्म के निर्वाण और और आत्मा पर, १५८,—स्याद्वाद के आलोचक, १३६
'रिकास्ट्रक्शन आव् रिलीजियस थॉट इन इस्लाम' ७१४ पा० टि०
रिचार्ड्स एफ० जे० : द्राविडो के मूल निवास-स्थान पर, १८
रिजले, हर्बर्ट १९
'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' ३७२ पा० टि०, ५५७ पा० टि०, ५६४, ५७१ पा० टि०
'रिपब्लिक' पर भारतीय प्रभाव, १९६-९७
'रिप्लाइ टू क्रिटिक्स' ६६९ पा० टि०
'रिलीजन आव् इस्लाम' २८४ पा० टि०
'रिलीजन आव् द सिक्खस' ३९९ पा० टि०
'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' ६५४ पा० टि०
रीनकोर्ट (सोल आव् इडिया के लेखक) ७४३
रूकर्ट ५१८
रूसो . शिक्षा पर, २९१, २९१ पा० टि०
रेमाण्ड ४९१
'रेस अफीनिटीज आव् द पीपुल्स आव् इडिया' २०
रैदास ३३०, ३८०
रोम्याँ रोलाँ ५८७, ६२९,—द्वारा समन्वय-भाव की प्रशसा, ९८

(ल)

'लकावतार-सूत्र' १६९, ३५३
लक्ष्मण शास्त्री जोशी कृत 'वैदिक सस्कृति का विकास', ४० पा० टि०,—जाति प्रथा पर, ५१, ५२, ५३
लक्ष्मण सिंह ४६९
लक्ष्मीवर वार्ष्णेय ५२९ पा० टि०
लल्लूलाल : ४६५, ४६८

'लाइट आव् एशिया' . ५२०
'लाइफ एण्ड टाइम्स आव् तिलक' . ५५५ पा० टि०
'लाइफ एण्ड वर्क आव् सर सैयद अहमद खाँ' ७२६ पा० टि०
'लाइफ डिवाइन' ६२० पा० टि०
लाओ-जे (चीनी दार्शनिक) १२०, २०८, २१२-१३
लाजपत राय २०३
लालदासी सम्प्रदाय ४८२
लाला हीरालाल ४६५
'लिंग-पुराण' . ७०
लियोनार्डो द विन्सी चित्र-कला पर, ४१९-२०
'लीलावती' ३३६
लुई फिशर ३३७ पा० टि०, ६३७
लेनिन ७१८, ६७२
'लैंड मार्क्स इन लोकमान्यस लाइफ' ५५३

(व)

वजीर खाँ ४०२
'वजे-इस्तलाहात' वही उद्दीन सलीम-कृत, ४६१
वज्रयान १८४, २१७, २१८, २२९-३०, २३१, २३६, २३८, २४३, २४६, २९७, ६४१,—और सहजयान में भेद नही, २३२,—और हिन्दी के निर्गुनियाँ कवि, २४३,—की उत्पत्ति वैपुल्य-निकाय और महायान से, १७६,—के माध्यम से बौद्ध धर्म जीवित, २४२-४३,—जाति-प्रथा का विरोधी, २४२-४३,—दार्शनिक चिंतन का फल नही, उसका दर्शन साधको के आचार का फल, २३२,—बनाम फ्रायड, २३६,—महायान का सब से बडा कलक, १७६,—शब्द की व्युत्पत्ति, २२९,—शास्त्र-विरोधी, २४२-४३
'वरवा-नायिका' . ४३३
वराहमिहिर . २००
वर्जिल ९२
वर्ड्स्वर्थ ५१९, ५२०, ५९०
'वर्ण-रत्नाकर' : ४५३
वली ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६१;—उर्दू के पहले शायर (?), ४५३
वल्लभाचार्य १४५, १९५, २४८, ३५२, ३५४, ३५५, ३५९, ३६०, ३६६, ३७८, ३८२, ४४१, ४५३, ५३६, ५९२, ६११,—की दयानन्द द्वारा आलोचना, ५६१,—वल्लभाचार्यी वैष्णव, ४८०
वसुबन्धु २४६,—का शकर पर प्रभाव, ३५३,—शकर के बौद्धिक पूर्वज, ३५४
वहाबी आन्दोलन . ३८९, ६७७-८०, ६७९, ६९४, ७२०, ७४२
'वाकयाते-बाबरी' ३४५
वाग्भट्ट २०२
वाचस्पति मिश्र . ४५, २०२, २३६, २४५, ३५४,—की 'भामती' टीका, २५४
वात्स्यायन ४०८
'वामन-पुराण' ७०, ७१ पा० टि०
वाम-मार्ग . ७३, २२६, २४३,—उलटी धारा की साधना, २२४-२७,—का दर्शन, २२४-२७,—में नीच जातियो की स्त्रियाँ ही क्यो, २३७
'वायु-पुराण' . ३६ पा० टि०;—में एकता के चिह्न, ६८;— मे भक्ति के प्रमाण, ३६५
वार्डन (भारतीय भाषाओ का विरोधी) ५०९, ५११
'वाल्डन' ५१९
वाल्तेयर द्वारा यजुर्वेद के अनुवाद का पारायण, ५१५
वाल्मीकि ८२, ८३, ८४, १६९, १९०, १९४, ४२७, ५९५
'वाल्मीकि-रामायण' ६९, ८६, २०५
वासव ३६१,—वीर शैव सम्प्रदाय के नेता, ३६०
वासुदेव (कवि) . ४६
वास्को-डि-गामा की यात्रा, ४८५-८६, ६७५, ६७६
'विचित्र नाटक' . ४००
विजय कृष्ण . ५८७

विज्जिका (कवयित्री) . ४६
विज्ञानेश्वर ३६४
विण्टरनिज ऋग्वेद के रचना-काल पर, २९
विद्यापति · १८५, ३३६, ३३९, ३४२, ३६४, ४३०, ४६३
विद्यासुंदर . ४२९ पा० टि०
विनोबा जी ७४६, ७४७,—द्वारा हिन्दू नाम की परिभाषा, ९५
विमलसूरि . १६८
विल डुराण्ट १५५,२००,२०१ पा० टि०, —कृत 'आवर ओरियंटल हेरिटेज', ४२५ पा० टि०, ४२७ पा० टि०,;—जात-पांत के भेद पर, ३१५
विल्सन . ५२७
विलियम जान्स . ५१६-१७
विवेकानन्द . ५३४, ५५७, ५८२, ५८६, ५९०, ५९१, ५९३-६०५, ६०९, ६१२, ६१६, ६१७, ६२१, ६२९, ६३०, ६३२, ६३९, ६५४, ६७१, ६८९, ७४६-८९, ६९३,—इस्लाम के प्रसार पर, २६५-६६ पा० टि०,—का इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण, ६०४-५,—का भारत पर अशेष ऋण, ६०६-७,—की कल्पना में भारत का भावी धर्म, ३३३,—कृत 'द मेसेज आव् इंडिया', ५२५ पा० टि०,—का धार्मिक एकता पर विचार, ६०५-६,—द्वारा आर्यों और द्रविड़ों के बीच भेद करनेवालों पर व्यंग्य, १५,—द्वारा गीता की प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या, ५३९,—द्वारा भारत को प्रवृत्ति का उपदेश, ५९७-९९,—द्वारा यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा, ५९५-९७,—नयी रोशनी के दिग्भ्रमित युवकों पर, ५३०;—हिन्दुत्व के पूरे प्रतिनिधि, ३७९
विश्वनाथ मिश्र ४३३, ४३५
विष्णुचित्त स्वामी ४५
'विष्णु धर्मोत्तर' में चित्रकला, ४०८
'विष्णु-पुराण' · ८०, १३०, २४७, ३०८,—और कृष्ण, ७९,—की विशिष्टाद्वैत-वादी व्याख्या दक्षिण में, ४५,—में भक्ति के प्रमाण, ३६५,—में राष्ट्रीयता, ६९
'विष्णु-स्मृति' ३६
विष्णुस्वामी ३५५, ३८२
'वीर-विनोद' (श्यामलदास-कृत) ३१० पा० टि०, ३११
बुह्लर १४६
'वृद्ध-स्मृति' ९३
वेद ८, १६, २०, २२, २८, ३५, ३६, ४८, ६२, ७४, ७६, १२०, १२१, १३१, १४७, १४९, १५०, १६०, १६१, १७२, १८८, १९०, १९३, १९५, २१०, २४२, २४६, ३२९, ३३५, ३४०, ३४१, ३६१, ३७०, ३७२, ३७७, ५१७, ५१८, ५४८, ५५२, ५६२, ५६३, ५६४, ५६९, ५७२, ६६२, ६६३, ६९९,—और उपनिषदों की विचारधारा, १०५-६;—और ब्राह्मणों में वैराग्य व संन्यास की बात नहीं, १०९-११०,—और भक्ति, ३६५, ३६६, ३८६,—की निंदा बुद्ध-महावीर के पूर्व, १२३,—में इस लोक और स्वर्ग का वर्णन, १०९,—में एक स्थान पर अहिंसक यज्ञ का प्रतिपादन, १४४,—में नरक और मोक्ष की कल्पना नहीं, ३८,—का वातावरण, १०२;—की नयी व्याख्या, ३६७,—के पुनरुज्जीवक, ४५,—के समय में चित्र का चलन, ४०७,—में परलोक की कल्पना नहीं, ११६;—में भी अहिंसा के बीज, १२५,—में यज्ञ का प्रतिपादन, ११०;—में राम-कथा के पात्र, ८१-८२,—में सीता, ८२,—में हमारी संस्कृति का मूल, ६१
वेदान्त : ३६, ३८, ११२, १३२, १५८, १६०, १८०, ३३३, ३७२, ३७४,

३७८, ३८४, ३८६, ३९७, ३९८, ५१६, ५८८, ६००, ६०४, ६०९, –और कबीर, ५३८-३९, –और बौद्ध तथा जैन धर्म, १४८, –और विज्ञान का मेल राममोहन द्वारा, ५४५, –और शकर, ५३८, –और सूफी-मत, २९८, –और हिन्दू-मुस्लिम-एकता, ३३२, –का ईश्वर, २८९, –का ब्रह्म, ३७३, –का तसव्वुफ पर प्रभाव, ३२८, –का प्रभाव गजाली पर, २९१, –का प्रभाव सिक्ख-धर्म पर, ३९८, –की ईश्वरवादी व्याख्या सर्व-प्रथम बोधायन द्वारा, ३७३, –भारत का चिरतन सत्य, ५३८-३९, –भारतीय नवोत्थान की रीढ, ५३८-३९, –हिन्दू-मुस्लिम-एकता का एक-मात्र मार्ग, ३२९
'वेदान्त-सूत्र' ३७३
'वेदार्थ सग्रह' ३७२, ३७३
वेवर ३५१
वैकुण्ठ मणि शुक्ल ४६५
'वैताल पचीसी' . ४६५
'वैदिक सस्कृति का विकास' लक्ष्मण शास्त्रीकृत, ३५ पा० टि०, ६१ पा० टि०, ११५, –जाति-भेद की बुराई के विषय में, ५४
'वैदिक सहिता' २२ ३९
व्यास, कृष्ण द्वैपायन ५३, ५९, ६३, १९०, ५९५, –सास्कृतिक समन्वय के समर्थक, ४०, –के अनुसार कर्म से जाति निर्धारित, ६४

(श)

'शकर-दिग्विजय' २५४
शकरदेव का महापुरुषीय सप्रदाय, ३०
शकराचार्य : ६७, ११३, १८३, १९४, १९५, २३६, २४५, २४६, २४७, ३४२, ३४८, ३४९, ३७०, ३७४, ३८१, ५३६, ५६४, ५८७, ६१०, ६११, –और तिलक, ३५३; –का महत्त्व, ३५३–५४, –का मायावाद, २४८, ३७२, –का शारीरक भाष्य, ४५; –के अद्वैत का खण्डन, ३७३, –के अद्वैत की पृष्ठभूमि नागार्जुन द्वारा तैयार, १८१, के अद्वैत से निराशा और वैष्णवाचार्यों का उदय, ३७१-७२, –के दर्शन का स्रोत वेदोपनिषद, ३५२-५३; –दक्षिण मे क्यो, ३५४-५५, –द्वारा स्याद्‌वाद की आलोचना, १३७, –पर इस्लाम के प्रभाव का प्रश्न, ३४८, ३५१-५४, ३६९, –प्रच्छन्न बौद्ध, २५५, –बौद्ध धर्म के उच्छेदक, २५४-५५
'शकुन्तला' नाटक ५१६, ५१८
'शतपथ ब्राह्मण' ३५, १०५, १०९, १२७, –के देवता, १०६, –मे तीन ही वर्ण, ५२
'शतरज के खिलाडी' (प्रेमचन्द) . ३०६
'शतरुद्रीय अध्याय' ७०
'शब्द-कल्पद्रुम-कोश' ९४
शम्भुचरण मल्लिक ५८१
'शाकर भाष्य' ६११, ६५१
शाक्त धर्म १७१, २१८, –का दर्शन, २२२-२४, –का प्रभाव बौद्ध धर्म पर, २१६-४०, –के दर्शन का सहजयान से मेल, २३२, –के विकास मे किरातो की देन, ३१, –शैव धर्म से निकट, २१९
शाद (उर्दू कवि) ४६०
शान्त रक्षित २०८, २१४, २५४, –द्वारा स्याद्‌वाद की आलोचना, १३७
शान्तिदेव १७८, २४५, –के ग्रथो मे महायान के उदात्त रूप का चित्रण, १७७-७९, –गाँधी जी के सच्चे पूर्व-पुरुष, १७९
शापेनहार ५१५-१६, ५२०, ५२१
शाम शास्त्री ५८
'शारीरक भाष्य' २५४, ३५४, –पर भामती टीका, ४५

शास्त्री, डाक्टर नीलकण्ठ · १२,–कृत 'ए हिस्ट्री आव् साउथ इंडिया' मे द्रविडो की उत्पत्ति पर, १० पा० टि०
शाह् अब्दुर्रहीम (सूफी सन्त) · ३२३ पा० टि०
शाह् गुलसन : ४५७
शाह् मीर (काश्मीर का नवाब) : ३१२
'शिक्षा-समुच्चय' (शान्तिदेव-कृत) : १७७
शिवली · ६९५, ६९६,–शिवली एकेडेमी, ६९५
शिव : ३०, ३६, ३९, ६६, ७३, ७६, ८०, ८६, १८०, १९१, २०७, २०८ २२७, ३५४, ३५९, ३६८, ३८१, ३८८,–असुरो के पक्षपाती, २८,–का प्रसाद वर्जित क्यो, ७०,–का भूतेशादि रूप, ७६,–का विवाह, ४१-४२;–का शक्ति से मिलन, २२६,–की पूजा मुनि-पत्नियो द्वारा, ७१;–की पूजा का समर्थन वेदो में नही, ६५,–के नाम, ७५-७६;–के पूजन का विकास द्रविडो और आग्नेयो द्वारा, ६६;–जगली जातियो के देवता, ७१-७२;–ब्राह्मण-युग मे रुद्र के साथ एकाकार, ११६
शिवनाथ शास्त्री : कृत 'हिस्ट्री आव् ब्राह्मो-समाज', ५४६ पा० टि०
'शिव-पुराण' . ७०,–में भक्ति के प्रमाण, ३६५
शिवप्रसाद सितारे-हिन्द . ४६८, ४६९
शिवाजी . ३४३, ३९४, ४०४, ५६०;–की असाम्प्रदायिकता, ३३७-३८;–शिवाजी-महोत्सव, ५५५
शीलर : ५२०
'शुक-सप्तति' · २००
'शुक्ल-यजुर्वेद' ४५
शूद्र · ३२, ३६, ५१, ५९, १२९, १४९, १८४, ३८०,–क्षत्रियो वाली शाखा से उद्भूत, ५२,–तुलसी की दृष्टि मे, ३४०,–पुरोहित के रूप में, ९०;–शूद्रो का स्थान ऋग्वेद-काल मे, ५२, ६३, ६४,–का स्थान पश्चिम के दासो से अच्छा, ५५
'शून्य-पुराण' . २५२-५३, ४८१
'शृंगार-रस-मडन' ४६५
शेक्सपियर · २००
शेख (हिन्दी कवि) : २५३, ३४६, ४३०, ४३१, ४५५, ४६३
शेख अब्दुल कादिर जिलानी · का कादिरिया सूफी-सम्प्रदाय, ३०२
शेख अहमद सरहिन्दी ३८८, ३८९, ३९०, ७४०
शेख फरीद · ३९७
शेख मोहम्मद मासूम ३९०
शेख सैफुद्दीन ३९०
शेख वाइज, सूफी ७३५
शेख सादी : २९९
शेख हमदानी . ३१९
शेरबास्की १८१
शेरशाह ३१०, ३२१, ३३३, ३३४, ३३८, ४१४
'शेरो-शायरी' ७०२ पा० टि०, ७०५ पा० टि०
'शेरो-सखुन' . ४५३ पा० टि०, ४५७, ४६० पा० टि०
शेली ५१९, ५९०
'शौनक प्रातिशाख्य' : १०४
श्यामलदास ३१० पा० टि०,–कृत 'वीर-विनोद', ३१०
श्रद्धानन्द फुल्लौरी · ४६८
श्री दीपकर श्री ज्ञान : २०८
श्रीधर : ३४३
'श्रीभाष्य' : में रामानुज के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा, ३७३
'श्रीरामकृष्ण लीलामृत' . ५७५ पा० टि०
श्रीहर्ष : २१६, ४३५
श्लीगल · ५१७, ५१९,–श्लीगल-बन्धुओ द्वारा यूरोप में भारतीय ज्ञान का प्रचार, ५१८
'श्वेताश्वतरोपनिषद' : ७०, ७२, ३५७

(स)

'सगम-साहित्य' . २१
सजय वेलठ्ठि . का अनिश्चिततावाद, ११९
सतराम ३१२, ३१३ पा० टि०,—सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व से अलग करने के प्रश्न पर, ४०५
सतायना (दार्शनिक) ६७२
सपूर्णानन्द गणेशपूजा पर, ७४-७५,—स्याद्वाद के आलोचक, १३७
'सस्कृति-सगम' ९१ पा० टि०
'सखुनदाने-फारस' २६४
'सत्यार्थ-प्रकाश' . ५५९, ५६१, ५६५ पा० टि०, ५६६, पा० टि०,—मे ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना, ५६०
सत्यापाढ हिरण्यकेशी ४५
सदल मिश्र ४६८, ४६९
सदानन्द २०५, २०७
सदासुखलाल . ४६७, ४६८, ४६९
सद्गुरु शिष्य ४५
'सद्धर्म-पुण्डरीक' १८०
'सप्तशती' (गाथा और आर्या) ४३५
समर्थ स्वामी रामदास ३७८
सरदार पटेल ४९७
सरमद ३०२, ३२३, ३९४
सरहपा ३२४, ३४२, ३५८,—के पद, ३८३ पा० टि०
सरहिन्दी, शेख अहमद ३९५, ३९६, ६७९, ६८०,—तौहीदे-इलाही का विरोधी, ३८८-९१
सलाह अलदीन खुदावख्श · ६९२
सहजयान . २१८, २३०-३२, ६४१,—और भक्ति में मादन भाव, ४४१-४२,—और वज्रयान मे भेद नही, २३२,—का दर्शन उसके साधको के आचरण का फल, २३२,—का प्रभाव परवर्ती सतो पर, २३९-४१,—का शाक्त-दर्शन से मेल, २३२;—के चक्र, २३२,—द्वारा काम और योग को एकाकार करने का प्रयास, २३३;—वैष्णव धर्म मे, २३३-३५
सहजोबाई ४८२
सागर निजामी ७३४
सायणाचार्य ४५, १०४ पा० टि०, १०६, ३६३;—द्वारा अनास का अर्थ, ११ पा० टि०
सावरकर . द्वारा हिन्दू नाम की परिभाषा, ९५
'साहित्य समीक्षा' (देवेन्द्रनाथ शर्मा-कृत) : २४३ पा० टि०
साहिर, उर्दू कवि ७३७
''सिंहली रामायण' : १७१
'सिंहासन वत्तीसी' ३३६
'सिक्खिज्म, इट्स आयडियल्स एंड इंस्टीट्यूशन्स' (तेजासिंह-कृत) : ३९७ पा० टि०, ३९९
'सिक्रेट्स आव् द सेल्फ' ३९६, ७०९ पा० टि०, ७११ पा० टि०, ७१२ पा० टि०, ७१३ पा० टि०
'सिन्दहिन्द' १९९
सिलवन लेवी : २०९
सिस्टर निवेदिता . ६०४
सीतल ४५१, ४५२ पा० टि०
'सीता-हरण' · ८२
सीमाव, उर्दू कवि ७३७
'सुख सागर' ४६७, ४६८
'सुखावटी-व्यूह' · १८०
'सुत्तनिपात' · ४१, १६७ पा० टि०, १७०
सुनीतिकुमार चटर्जी ६ पा० टि०, ८८, ४५८, ४६१, ४६३;—के द्वारा दास नाम का अर्थ ११ पा० टि०;—के अनुसार शिव-शक्ति-पूजा का उद्गम, ७२,—तमिल-सस्कृत-सबंध पर, ४४,—वैष्णव धर्म के विकास पर, ७७
सुन्दर दास ३३०, ३३१, ३३८, ३७८
सुब्रह्मण्यम् शास्त्री ५४५
सुभाषचन्द्र बोस . ५९३
सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त · ३५३, १८६ पा० टि०
सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य : ८९
सुश्रुत . १९९, २०२
सुहरावर्दिया सूफी-संप्रदाय . ३०२
सुहरावर्दी, सर हसन ७१५ पा० टि०

सूफी २९१ पा० टि०, २९४, ३२७, ३७७, ३८०, ५७४,–इस्लाम के सन्त, ४७६;–सूफियो का इस्लाम पर प्रभाव, ३५१-५२,–का प्रभाव और भक्तो का बहुरियावाद, ४४१-४३,–का प्रभाव वीर शैवो पर, ३६२,–का शत्रु औरगजेब, ३९४,–की गुरुपूजा सिद्धो से प्रभावित, ३५७-५८,–के भारतीय संप्रदाय, ३०२,–से इस्लाम को दर्शन प्राप्त, ३५३

सूफी मत २८९-३०२, ३७८, ३८२-८३, ३८४, ६७७, ७०७,–इस्लाम का निचोड,२९५-९६,–और नियोप्लेटोनिज्म, २९३,–और हिन्दू-मुस्लिम एकता,३२३-२५;–का प्रभाव अकबर पर, ३८५,–का प्रभाव तथा काव्य मे मृत्यु-प्रेम, ४३७-४०,–का प्रभाव नानक पर, ३९९,–का भारतीयकरण, ३३३-३५,–का मध्यकालीन सतो पर प्रभाव, ३५६,–का मूल-इस्लाम से भेद, ३०१-२;–के विश्वास, २९९-३०१,–पर भारतीय प्रभाव, ३६३,–में ईश्वर साकार भी, निराकार भी, ३००

सूरत मिश्र ४६५

सूरदास १७७ पा० टि०, १९५, ३३६, ३३९, ३४२, ३७८, ३८०, ३८४, ४३०, ४४४, ४४५, ५३६

सेट वोसाफेत १९५

सेनगुप्त शैलेन्द्र . ५९

सेनार्ट ३६७

'सेलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी' ६४१ पा० टि०

सेबास्चियन मानविक ३९२

सैफुद्दीन महमूद ३२५, ७४०,–द्वारा तौहीदे-इलाही का विरोध, ३९०

सैयद अली ७१३

सैयद अहमद खाँ (सर) ४७८, ६८१, ६८२, ६८४, ६८५, ६८९-९७, ७००, ७०४, ७२७,–के सहयोगी, ६९१-९२,–द्वारा दयानन्द का आदर, ५६०

सैयद आबिद हुसेन ३२१ पा० टि०

सैयद नूरुल्ला ५१० पा० टि०

'सोसाइटी एण्ड कलचर इन मोगल एज' (पी० एन० चोपरा-कृत) ४७६ पा० टि०

'सौतान्त्रिक' १७५, ३५४

सौदा ४७२

'स्कन्द-पुराण' ७०

'स्टडीज इन मुस्लिम एथिक्स' (डी० एम० डोनाल्डसन-कृत) ४७७ पा० टि०

स्टानले ५८८

स्टीवेंसन ५०४

स्टुअर्ट ५२६

स्टोडार्ड ७२२ पा० टि०

स्ट्रैची ७२७

'स्पिरिट आव् इस्लाम' ६९६

स्पेंसर ५७१

स्फोटायन . १०४

स्मिथ ६८२ पा० टि०;–भारतीय संस्कृति की पाचन-शक्ति पर, ९७

स्मिथ, इलियट १८

स्लेटर . १८

स्वामी निर्वेदानन्द ५८८ पा० टि०, ५८९

(ह)

हकीम अजमल खाँ ७३२

हक्सले . १५५, १५७, ५७१

हक्सले, जूलियन द्वारा प्रजातिवाद के सिद्धान्त की भर्त्सना, २१

हजारीप्रसाद द्विवेदी २५१,–कृत 'कबीर' २५२,–कृत 'मध्यकालीन धर्म-साधना', ८०,–कृष्ण के विषय में, ७९,–तान्त्रिको और योगियो की धक्कामार भाषा पर, २४४-४५,–बौद्धो की भर्त्सना करने में ब्राह्मणो के अतिवाद पर, २४८

'हदीस' २७९, २८५, २८६, ६८१, ६८७, ६९९, ७४०

'हनूमन्नाटक' ८५

हफीज जलधरी ४३२

हबीब . २६१ पा० टि०

हरकृष्ण राय : ३९९
हरगोविन्द सिंह, गुरु : ३९९, ४०१;—द्वारा सिक्ख धर्म को सैनिक मोड़, ४००-१
हरराय, गुरु : ३९९;—और औरंगजेब, ४०१
'हरिजन' : ६३० पा० टि०, ६३८ पा० टि०, ६४७ पा० टि०, ६४९ पा० टि०
हरिदास निरंजनी . १८४
हरिभद्र सूरि : १३२
'हरिवंश' : ७९, ८०, ८२, ३३८
हरि सिंह गौड १८२
हरीसन, एस० एस० ७४३
हर्डर . ५२०
हर्बर्ट स्पेंसर · ५९०
हाइड ईस्ट . ५००, ५०१
हाइने ५१९
हाजी इब्राहीम . ३३६
हाजी शरीयत उल्लाह : ६८१
हाफिज : २९९, ४३९, ७०८ पा० टि०
हारूँ-अल-रशीद . २००, २०३, २६२, २६३, २७१
हार्न : कृत 'बुक आव् डिसिप्लिन', १६३
हाल · ४६, ४३५;—कृत 'गाथा-सप्तशती', ४२९
हाली . ४६०, ६९४, ६९५, ६९६, ७१३; इस्लाम के मूल-रूप के उपासक, ३८९
हिटलर २१
'हितोपदेश' . ८९, १९९, २००
हिन्दी ७, २३, ४६-४७, १४५, ३२५, ३३८, ३७६, ३८३, ५०८, ५६४, ७४३, ७४४, ४४७;—उर्दू से नही निकली, ४६१-६२;—और ईसाई मिशनरी, ४९४-९५,—और मुसलमान ३३५;—का काव्य-साहित्य मुस्लिम-काल में सर्वोत्तम, ४३०-३१,—का गद्य उर्दू से नहीं जनमा, ४६४-६९;—का फारसी से साम्य नहीं, २३;—का राष्ट्रभाषा-रूप, ४६९-७०,—की परंपरा, ४६२-६४,—के कवियो की भाषा-नीति, ४४५-५७;—के गद्य का विकास, ४६४-६९;—के निर्गुनियाँ कवियो पर वज्रयानी प्रभाव, २४३;—के फारसी-मिश्रित रूप का प्रश्न कम्पनी-युग में, ४९५;—के मुसलमान कवि, ३४३-४६;—के शब्दों का उर्दू भाषा से बहिष्कार, ४५७-६१;—के संस्कृत-निष्ठ रूप की परंपरा, ४६२-६४;—के संस्कृतनिष्ठ रूप की रक्षा, ४४४;—के सूफी कवि, ३३४;—नाम भक्ति काल मे नही, ४४४;—में अरबी और फारसी के शब्द, ४४७-४९;—में पुर्तगाली भाषा के शब्द, ४८९;—में भक्ति-आंदोलन मे तीन तरह के कवि, ३८४;—मे शिक्षा, ५११-१२
'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' (अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी-कृत) : २६२, ४४५ पा० टि०, ४४७ पा० टि०, ४६१ पा० टि०
'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' : ३४७
हिन्दुत्व : १४७, २९७, ३०१, ५२६, ५७८, ५८९, ६१७, ६९९,—और बौद्ध धर्म, १५८-६१;—और सिक्ख-मत, ४०४-६;—का मुख्य गढ़ दक्षिण, ६७, ३५४-५५,—का मुसलमानो पर प्रभाव, ४७२-७५;—की समन्वय-शक्ति और बौद्ध धर्म, १७१-७३,—ईसाइयत से टक्कर, ३७९;—की उदारता, ३१७;—की वीर भुजा आर्य-समाज, ५६६-६७;—के रक्षक रामायण-महाभारत, १९०,—के समग्र रूप का समर्थन एनी बेसेंट द्वारा, ५७१-७२;—पर इस्लामी प्रभाव का अतिरंजन, ३४७-५१;—बनाम ईसाइ-यत ५२६-२८,—मन्दिरों का नहीं, जन-मानस का धर्म, २५३-५४;—में कंपन, ५२८-२९;—में रूढ़ियाँ बौद्ध धर्म मे उत्पन्न अव्यवस्था को रोकने के लिए, २५०-५१;—का हर परिवर्तन उसे मूल-रूप के निकट ले जाता है, ३८०;—रेजिमेंटेशन का विरोधी, ५३३,—विपद्ग्रस्त, ५३५, हिन्दू

धर्म : ९६, ३६१, ५२२, ५८९, ५९१, ६७१, ७२०;—अनेक विश्वासो का समूह, ८७,—और विवेकानन्द, ६०६; —का प्रभाव अकबर पर, ३८६;—का बौद्ध धर्म के निर्वाण पर प्रभाव, १५७;—को राममोहन द्वारा विश्व-धर्म का रूप प्रदान, ५४३-४४,—पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, १८२-८८;—मुस्लिम आक्रमण के समय, ३१०-११;
'हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड रिलीजन' : ५१५
'हिस्ट्री आव् उर्दू लिटरेचर' (सक्सेना-कृत): ४६२ पा० टि०
'हिस्ट्री आव् एजुकेशन इन इंडिया' ५१० पा० टि०
'हिस्ट्री आव् द फ्रीडम मूवमेंट' ३४८ पा० टि०, ३८९ पा० टि०
हीगेल : २९२, ५२०, ५९०
हुमायूँ कबिर . ७३६, ३३९,—कृत 'आवर हेरिटेज', २७६;—हिन्दुत्व पर इस्लामी प्रभाव के अतिरंजक, ३४८,—दे० कबिर, हुमायूँ भी
हेमचन्द्र . १४३,—में खड़ी बोली का रूप ४५१
हेलियो दोर द्वारा कृष्ण-पूजा, ७८
हेलेन पेट्रोवना ब्लेवास्की ५६८
हैवेल २०३
होम रूल . ५७२
होल्डीच, कर्नल १८
ह्यू-एन-साग ९५, २११, २७३, २७४
ह्वीटियर जे० जी० ५११